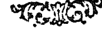
॥ श्रीः ॥

चौखम्बा सुरभारती ग्रन्थमाला

६३



शारदातनयविरचितं

# भावप्रकाशनम्

( उत्तरप्रदेश सरकार द्वारा पुरस्कृत )

हिन्दीभाष्यानुवादकारः

डॉ० मदन मोहन अग्रवाल

एम. ए., पी-एच. डी.

प्रवक्ता, संस्कृत-विभाग

बनस्थली विद्यापीठ, बनस्थली ( राज. )

प्राक्कथनलेखकः

डॉ० रसिक विहारी जोशी

एम. ए., पी-एच. डी., डी. लिट्. ( पेरिस )

प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग,

दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

पुरोवाक्लेखकः

डॉ० राम सुरेश त्रिपाठी

एम. ए., पी-एच. डी., डी. लिट्.

प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग,

अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़



चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

वाराणसी

प्रकाशक—

**चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन**

( भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक )

के० ३७ ११७, गोपालमन्दिर लेन

पोस्ट बाक्स नं० १२९

वाराणसी २२१००१



द्वितीय संस्करण १९८३

मूल्य १००–००

अन्य प्राप्तिस्थान—

**चौखम्बा विद्याभवन**

( भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक )

चौक ( बनारस स्टेट बैंक भवन के पीछे ),

पोस्ट बाक्स नं० ६९

वाराणसी २२१००१

दूरभाष : { ६३०७६ दुकान<br>५५३५७ निवास

मुद्रक—

**श्रीजी मुद्रणालय**

**वाराणसी**

THE

**CHAUKHAMBA SURBHARATI GRANTHAMALA**

**63**



# BHĀVAPRAKAŚANAM

## OF

# ŚĀRADATANAYA

**Edited with Hindi Translation, Introduction, Preface, Indexes and Critical Notes**

*By*

Madan Mohan Agrawal

**M. A., Ph. D.**

*Department of Sanskrit*

**Banasthali Vidyapith, Banasthali ( Raj. )**

*Foreword by*

**DR. RASIK VIHARI JOSHI**

*M. A., Ph. D. ( Banaras ), D Litt. ( Paris )*

Professor & Head of the Department of Sanskrit

**University of Delhi**

*Introduction by*

**DR. RAM SURESH TRIPATHI**

*M. A., Ph. D., D. Litt.*

Professor & Head of the Department of Sanskrit

**Aligarh Muslim University, Aligarh**



**CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN**

VARANASI

©CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN
*(Oriental Booksellers & Publishers)*
K. 37/117, Gopal Mandir Lane
Post Box No. 129
VARANASI 221001

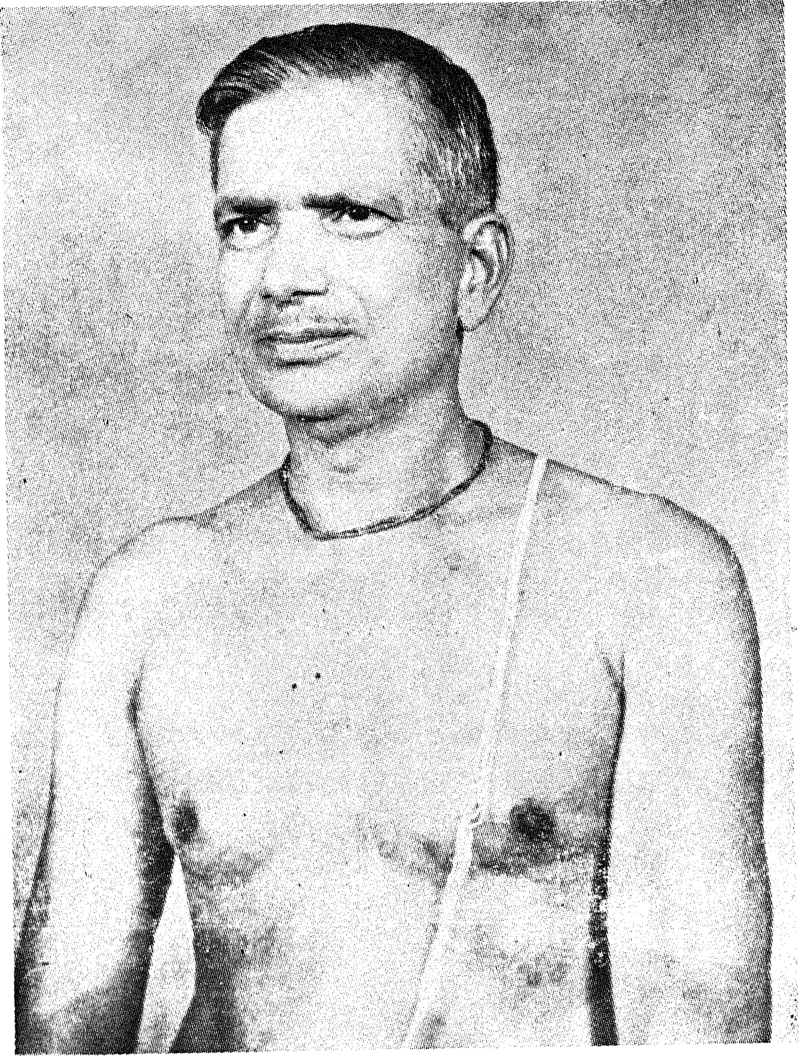
Second Edition
1983

*Also can be had of*
CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
*(Oriental Booksellers & Publishers)*
CHOWK ( Behind The Benares State Bank Building )
Post Box No. 69
VARANASI 221001

## समर्पणम्

पितृचरणानां श्रीहरिचरणदास-अग्रवालमहोदयानां

करकमलयोः सादरम्



आदरणीय पिताजी श्री हरिचरणदास जी अग्रवाल
(जन्म—जुलाई, सन् १९१९)

नानाशास्त्रनदीष्णं गुरुवर्यं रसिकविहारिणं नौमि ।
येषां कृपाम्बुना हृदि भावप्रकाशनं स्फुटितम् ॥१॥

वैयाकरणधुरीणं रामसुरेशाभिधं गुरुं वन्दे ।
येषां ज्ञानलवैर्वाऽहमबोधि शारदातनयम् ॥२॥

विद्वतल्लजमहमिह नौमि श्रीमन्नामवरं सिंहम् ।
येषां शास्त्रविमर्शो ज्ञपयतीव मादृशं मूढम् ॥३॥

रागद्वेषविहीनं श्रीहरिचरणाब्जगन्धसंतृप्तम् ।
वन्दे श्रीहरिचरणं पितरं भक्त्तं गुरोः कृपया ॥४॥

वैराग्यपूर्णहृदयेन भजन् गृहस्थो
रामप्रतापचरणौ हृदि यो दधाति ।
यः श्रीप्रियाचरणकंजकृपाकणेन
धन्यस्तमेव पितरं शिरसा नमामि ॥५॥

श्रीशारदातनयपादसरोरुहाणां
ध्यानेन यत्किमपि सारमबोधि बालः ।
तेनैव सम्प्रति गतं मम बोधमार्गं
भावप्रकाशनमहं विशदीकरोमि ॥६॥

भावप्रकाशनमिदं यदि पण्डितेषु
साहित्यशास्त्ररसिकेषु सुबोधितं स्यात् ।
साफल्यमेष्यति ममापि परिश्रमोऽयं
कारुः प्रसीदति परीक्षित एव शिल्पे ॥७॥

# प्राक्कथन

१८८५ ई. में 'विक्रमोर्वशीय' पर रगनाथ की संस्कृत टीका और १९०० ई. मे 'कर्पूरमंजरी' पर वासुदेव की संस्कृत टीका प्रकाशित हुई। इन दोनों टीकाओं में नाट्य के सम्बन्ध मे सर्वप्रथम शारदातनय के भावप्रकाशन से उद्धरण प्राप्त हुए। इन उद्धरणों ने संस्कृत के विद्वानों का ध्यान भावप्रकाशन के अन्वेषण की ओर आकर्षित किया। अन्वेषण करने पर नाट्यशास्त्रीय इस महत्त्वपूर्ण और अद्भुत ग्रन्थ की अनेक पाण्डुलिपियाँ स्थान-स्थान पर मिलीं और १९३० ई. मे श्री यदुगिरि यतिराज स्वामी और के. एस. रामास्वामी शास्त्री ने सभी उपलब्ध पाण्डुलिपियो के आधार पर गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज से भावप्रकाशन का प्रामाणिक सस्करण प्रकाशित किया। इस संस्करण की विस्तृत भूमिका ने संस्कृत काव्यशास्त्र और नाट्यशास्त्र के विद्वानों का पर्याप्त आकर्षण किया और स्थान-स्थान पर शारदातनय के भावप्रकाशन की चर्चा भी हुई। फिर भी आश्चर्य की बात है कि इसके प्रकाशन के बाद अड़तालीस वर्ष के काल में किसी भी भाषा मे इसका प्रामाणिक अनुवाद अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ। प्रस्तुत संस्करण भावप्रकाशन का पहला हिन्दी अनुवाद है। इस श्रमसाध्य तथा पाण्डित्यपूर्ण सस्करण के लिए मै साहित्यशास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान इसके सम्पादक डॉ. मदनमोहन अग्रवाल का हार्दिक अभिनन्दन करता हूँ।

शारदातनय का भावप्रकाशन संस्कृत नाट्य-शास्त्र की परम्परा का एक अद्वितीय रत्न है। यह असंदिग्ध है कि शारदातनय ने अपने पूर्ववर्ती वृद्धभरत, भरत, अभिनव गुप्त, भोज और मम्मट के ग्रन्थो का आमूलचूल सांगोपाग अध्ययन किया था। इन सभी आचार्यों का प्रभाव भावप्रकाशन पर स्पष्ट रूप से परिलक्षित है। शारदातनय ने नाट्योत्पत्ति के प्रसंग में व्यास के मत के, रसोत्पत्ति के प्रसग में वासुकि के मत के और रस के प्रसंग में नारद के मत के तथा योगमाला सहिता के उद्धरण स्थान-स्थान पर दिये है। इन आचार्यों और ग्रन्थों के अस्तित्व के निर्देश अन्यत्र कही प्राप्त नही होते। इस प्रसग में मै प्रोफेसर वी. राघवन के मत से पूर्णतया सहमत नही हूँ कि शारदातनय द्वारा उद्धृत ये आचार्य और ग्रन्थ काल्पनिक है। १२५० ई. के आसपास प्रणीत इस अनौखे ग्रन्थ पर संस्कृत की किसी भी टीका-टिप्पणी का प्रकाशित नही होना और इस ग्रन्थ का लोकप्रिय न होना—ये दोनो ही बातें भावप्रकाशन के महत्त्व के विषय मे सन्देह उत्पन्न करती है। इसका प्रधान कारण यह प्रतीत होता है कि शारदातनय ने धनजय की कारिकाएँ, भोज के शृंगार-प्रकाश से विषयवस्तु और कारिकाएँ, मम्मट के काव्यप्रकाश से शब्दार्थ-सम्बन्ध की सामग्री की पंक्तियाँ की पंक्तियाँ आनुपूर्वी के साथ अक्षरशः उद्धृत कर ली थी। साथ ही साथ संस्कृत की टीका-टिप्पणी का अभाव और प्राचीन अनुपलब्ध ग्रन्थो तथा आचार्यो के अप्रसिद्ध तथा

कठिन पारिभाषिक शब्दो के प्रयोग के कारण यह ग्रन्थ कुछ अश में सहसा बोधगम्य नही था और कुछ अंश मे पुनरावृत्ति मात्र था। तथापि यह सत्य है कि शारदातनय ने अभिनवभारती को, अनेक सस्कृत नाट्याचार्यों की परम्परा को तथा संगीत और नृत्य के सिद्धान्तो को पूर्ण रूप से हृदयङ्गम किया था। यह सर्वथा निश्चित है कि शारदातनय ने भरत, कोहल, अभिनवगुप्त, धनजय द्वारा सुरक्षित नाट्य-सामग्री का पूर्ण रूप से अध्ययन किया था और अपनी लोकोत्तर प्रतिभा के आधार पर उस काल मे प्रचलित संगीत की अन्यान्य शैलियो को भी शास्त्रीय ढग से अपने ग्रन्थ मे प्रतिष्ठित किया था। नाट्य-शास्त्र के प्राचीन आचार्यो द्वारा पूर्णरूप से प्रभावित होने पर भी शारदातनय की अपनी एक मौलिक दृष्टि सर्वत्र प्रधान थी। उनके ग्रन्थ में अनेक तत्त्व ऐसे प्राप्त होते है जिनका विवेचन करने वाले वे प्रथम आचार्य है। इस सन्दर्भ में भाव का लक्षण, विभाव, अनुभाव के भेद और संगीत के सम्बन्ध में सप्त-धातुओं से सप्त-स्वरों की उत्पत्ति की उद्भावना उनकी मौलिक कल्पना के उदाहरण के रूप मे प्रस्तुत किये जा सकते हैं। शारदातनय के ग्रन्थ का साक्षात् प्रभाव सगीतरत्नाकर पर शिङ्ग-भूपाल की सुधाकरी टीका तथा रसार्णवसुधाकर, कुमारस्वामी की प्रतापरुद्रीय पर रत्नापण टीका और कल्लिनाथ की सगीतरत्नाकर पर कलानिधि टीका मे संगीत और रस के प्रसग मे प्रभूत उदाहरणों से प्रमाणित होता है। रस-सिद्धान्त के सम्बन्ध मे शारदातनय ने सांख्य-दर्शन के आधार पर अपना मौलिक विचार प्रस्तुत किया है कि जब मन वाह्य वस्तुओ पर आश्रित होता है और रजोगुण में स्थित हो जाता है अथवा रजोगुण से हीन होकर सत्त्वगुण से युक्त हो जाता है, तब अहंकार का सयोग होने मे जो मन का विकार उत्पन्न होता है वही शृगार अथवा हास्य 'रस' कहलाता है। उपरूपकों के सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि शारदातनय ने उसके बीस भेदों की चर्चा की है जबकि शृगारप्रकाश, नाट्यदर्पण, साहित्यदर्पण आदि ग्रन्थो में बीस से कम ही भेद प्राप्त होते है। भावप्रकाशन मे प्राचीन नाट्य-रचनाओं से सकलित उदाहरण प्रसिद्ध तथा अप्रसिद्ध ग्रन्थों से लिये गये है। अनेक उदाहरण ऐसे ग्रन्थों से लिये गये है जिनके विषय में अभी तक कुछ भी ज्ञात नही है और ये ग्रन्थ अनुपलब्ध है। उदाहरण के लिए—कुसुमशेखरविजय, केलिरैवत आदि रखे जा सकते है। शारदातनय द्वारा उद्धृत ग्रन्थ यद्यपि अभी तक कही भी प्राप्त नही हुए और अभी तक यही मान्यता विद्वानों में प्रचलित है कि ये ग्रन्थ सम्भवत: शारदातनय के कल्पित ग्रन्थ हैं, तथापि यह सम्भावना समाप्त नही की जा सकती कि ये ग्रन्थ शारदातनय के पास किसी न किसी रूप में उपस्थित रहे है। इनका अन्वेषण काल्पनिक समझकर छोड़ देना सम्भवतः उचित नही होगा।

मुझे अत्यन्त प्रसन्नता है कि इस दुरूह तथा प्रौढ ग्रन्थ का प्रस्तुत सस्करण मे पहली वार हिन्दी अनुवाद किया गया है। यद्यपि इसके सम्पादक ने अन्त में विस्तृत टिप्पणियाँ देकर भावप्रकाशन के दुरूह पारिभाषिक शब्दों को समझाकर शारदातनय के हृदय को पाठक तक पहुँचाने का प्रशसनीय प्रयत्न किया है। तथापि हिन्दी अनुवाद मे यत्र-तत्र अनेक पारिभाषिक शब्द अभी भी व्याख्या-सापेक्ष रह गये है। प्रस्तुत संस्करण में भावप्रकाशन का मूल गायकबाड़ ओरियण्टल सीरीज में प्रकाशित संस्करण के मूल पर ही आधारित है। विस्तृत भूमिका में डॉ. अग्रवाल ने शारदातनय और

भावप्रकाशन पर पर्याप्त उपादेय प्रकाश डाला है। मैं इस विद्वतापूर्ण संस्करण तथा हिन्दी के प्रथम अनुवाद का हार्दिक स्वागत करता हूँ। मुझे पूर्ण विश्वास है कि यह सस्करण शारदातनय के मर्म को सस्कृत-नाट्य-परम्परा, सस्कृत-काव्यशास्त्र और संगीत में रुचि रखने वाले विद्वान पाठको तक पहुँचाने मे सहायक होगा और विद्वान-सहृदय पाठकों के लिए प्रिय सिद्ध होगा। इस श्रम-साध्य तथा पाण्डित्यपूर्ण सस्करण के लिए डॉ. मदनमोहन अग्रवाल बधाई के पात्र है। मै डॉ. मदनमोहन अग्रवाल को हार्दिक शुभाशीष देता हूँ।

३० अक्टूबर, १९७८
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, सस्कृत विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

**—रसिक विहारी जोशी**

# पुरोवाक्

शारदातनय का भावप्रकाशन अद्भुत ग्रन्थ है। शारदातनय ने शारदादेश की सम्पूर्ण संस्कृति को सहज रूप में अपना लिया था। उन्होंने अभिनवभारती का पर्याप्त मनन किया था। नाट्याचार्यों की परम्परागत विद्या का स्वयं अभ्यास किया था। गीत, नृत्य, संगीत के वे पारंगत थे। लोकजीवन में बहती हुई सांस्कृतिक धारा मे भी यथेष्ट अवगाहन किया था। पूर्ववर्त्ती महाकवियों के प्रबन्धों के वे मर्मज्ञ थे। देश-देशान्तर मे भ्रमणकर अपार ज्ञानराशि का संचय किया था। उन सबका समाहार भावप्रकाशन है।

भरत का नाट्यशास्त्र नृत्य और संगीत प्रधान है। उनके शिष्य कोहल ने लोकजीवन से सम्बन्ध रखनेवाली उन सभी कलाओं, गीतों और उपरूपकों का विश्लेपण किया जिनके केवल बीज भरत में मिलते है या जो बिलकुल अछूते रह गये है। सागरनन्दी, रामचन्द्र गुणचन्द्र आदि ने भरत और अभिनवगुप्त के आधार पर नाट्य-विद्या को सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया था। अनेक कश्मीरी चिन्तको ने नाट्यविद्या की विवृत्ति की थी, जिनके अव केवल नाम यत्र-तत्र सुरक्षित हैं। ऐसा जान पड़ता है कि शारदातनय के समक्ष नाट्यशास्त्र की अद्भुत परम्परावाली व्याख्या-पद्धति अवश्य उपलब्ध रही होगी। शारदातनय ने १२वी शताब्दी तक की नाट्यशास्त्रीय कश्मीरी परम्परा को भावप्रकाशन में बहुत कौशल के साथ उपनिबद्ध कर दिया है। १२वी शताब्दी तक आते-आते साहित्यशास्त्र में भी कश्मीर की प्रतिभा अपनी पराकाष्ठा तक की अविच्छिन्न धारा भावप्रकाशन की लहरियों में समाविष्ट है। नाट्यतत्त्व और काव्यतत्त्व दोनों एकत्र भावप्रकाशन में देखे जा सकते है। किन्तु शारदातनय को इतने से संतोष नही था, वे सगीत के परम मर्मज्ञ थे, अभिनवगुप्त की परम्परा को तो वे जानते ही थे, उस समय तक सगीत की पारसीक परम्परा से भी वे परिचित हो चुके थे जिनका विकास आगे चलकर संगीत-रत्नाकर मे दिखायी देता है। साथ ही सगीत की दाक्षिणात्य शैली से भी वे अवगत थे, इनके अतिरिक्त सगीत के उन तत्त्वों से वे परिचित थे, जो केवल अभी लोकजीवन मे थे। शास्त्र की ऊँचाई तक नही पहुँच सके थे। शारदातनय ने बहुत ही उदारता के साथ भावप्रकाशन मे इन सब को एक में गूथ दिया है।

१२वी शताब्दी तक आते-आते साहित्य के क्षेत्र में नायिका-भेद की चर्चा मुखरित हो चली थी, उसकी न तो नाट्यशास्त्र के विवेचक अनसुनी कर रहे थे और न काव्य-शास्त्र के अध्येता उसकी उपेक्षा कर सकते थे। शारदातनय ने भी साहित्य के इस पक्ष को भरत से आगे बढ़ा दिया। भरत ने धीरोदात्त आदि नायक-गुणों के आधार पर, वय

ने दो-चार नामों की वृद्धि की है—रुद्रट आदि ने साहित्य की दृष्टि से नायिका-भेद का विवेचन किया है, किन्तु शारदातनय के अपने समय तक की नायिका-भेद सम्बन्धी सभी अध्ययनो का साहित्य और नाट्य दोनो दृष्टियो से उल्लेख किया है ।

इस ग्रन्थ पर सस्कृत मे कोई टीका न होने से इसका विस्तार नही हो पाया । अनेक उद्धरणों मे आदिभरत जैसे नाटककारों, प्राचीनतर अनुपलब्ध नाटको और संगीत के नातिप्रसिद्ध पारिभाषिक शब्दों के व्यवहार के कारण यह ग्रन्थ सर्वसाधारण के सहजगम्य नही था । भावप्रकाशन की सकेतात्मक शैली मर्मज्ञ विद्वानों के लिए दुरूह है, अत्यन्त संक्षेप मे दिये हुए भट्टनायक आदि के रस-सिद्धान्त अब भी मीमांस्य हैं । अनेक वक्तव्यो का आदि अनुपलब्ध है, अनेक अप्रसिद्ध, अन्यत्र अनुपलब्ध ग्रन्थकारो के नाम अन्वेषण के विषय है ।

यह प्रसन्नता का विषय है कि ऐसे प्रौढ ग्रन्थ पर डॉ. मदन मोहन अग्रवाल का ध्यान गया है और उन्होने मनोयोगपूर्वक इसका पुन' सम्पादन किया है, साथ ही हिन्दी में अनुवाद देकर इसे सर्वसाधारण की पहुँच मे लाने की चेष्टा की है । विषम स्थलों पर उनकी टिप्पणियाँ ग्रन्थ के मर्म को समझने में सहायक है और विस्तृत भूमिका परम उपादेय है । आशा है काव्य, नाट्य, संगीत तथा लोक-संस्कृति के अध्येता इस महत्त्वपूर्ण सस्करण से अवश्य लाभान्वित होगे ।

२८ अक्टूबर, १९७८
प्रोफेसर एव अध्यक्ष, सस्कृत-विभाग,
अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय,
अलीगढ़

—**राम सुरेश त्रिपाठी**

# आमुख

लगभग तीन वर्ष पहले शारदातनय के 'भावप्रकाशन' पर कार्य करने का सुझाव और प्रेरणा मुझे आदरणीय गुरुवर डॉ. रसिक विहारी जी जोशी से प्राप्त हुई थी। जैसे-जैसे मैं इस ग्रन्थ को पढने लगा, अनेक समस्याएँ सामने आने लगी और सरलता से उसका समाधान नही मिलने के कारण मै हतोत्साहित हो जाता था। मै डॉ. रसिक विहारी जी जोशी, एम. ए., पी-एच. डी., डी. लिट्. (पेरिस), प्रोफेसर एव अध्यक्ष सस्कृत-विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली का अत्यन्त आभारी हूँ कि इन्होंने मुझे अनेक बार हतोत्साहित होने से बचाया और 'भावप्रकाशन' के सम्बन्ध मे दुरूह तथा जटिल शास्त्रीय समस्याओ को सुलझाने में सहायता दी। 'भावप्रकाशन' के अनेक दुरूह स्थलो को मैंने आपके पास बैठकर कई बार दीर्घकाल तक समझा और आपसे विचार-विमर्श करके संदिग्ध स्थलो का समाधान तथा प्रेरणा प्राप्त की। मुझे यह लिखने मे लेशमात्र भी संकोच नही है कि प्रस्तुत कार्य संस्कृत-जगत के सुप्रसिद्ध विद्वान तथा संस्कृत काव्यशास्त्र के पारगत पण्डित डॉ. रसिक विहारी जी जोशी की सहायता तथा स्नेह का ही परिणाम है। दीपावली के अवसर पर अत्यन्त व्यस्त रहते हुए भी उन्होंने मेरी प्रार्थना पर तत्काल प्राक्कथन लिखने का अनुग्रह किया है। उनके लिए कृतज्ञता ज्ञापन करने के लिए मेरे पास पर्याप्त शब्द नही हैं और कृतज्ञता ज्ञापन करके उनके प्रति मैं अपने हृदयस्थ आभार के भाव को कम करना नहीं चाहता।

इस अवसर पर मैं आदरणीय डॉ. रामसुरेश जी त्रिपाठी, एम. ए., पी-एच डी, डी. लिट्, प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, अलीगढ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़ का भी अत्यन्त आभारी हूँ, जिन्होंने पुरोवाक् लिखकर मुझे अपने अनुग्रह से बाँधा है और समय-समय पर अपने अमूल्य सुझाव देकर मुझे लाभान्वित किया है। हिन्दी जगत् में हिन्दी आलोचना के मूर्धन्य विद्वान एवं संस्कृत काव्यशास्त्र के मर्मज्ञ जानकार डॉ. नामवर सिंह को भी सादर धन्यवाद दिये बिना मै अपने कर्त्तव्य को अपूर्ण समझता हूँ। अनेक बार 'भावप्रकाशन' के दुरूह स्थलों की चर्चा के सम्बन्ध मे विषय की अस्पष्टता रहने पर डॉ. जोशी, मै और डॉ नामवर सिंह साथ-साथ विचार करने बैठे। उनके स्नेह और अनुग्रह से भी मैं अभिभूत हूँ। मेरी प्रिय पत्नी उषा, एम. ए. को भी मैं धन्यवाद देना चाहूँगा जिन्होंने इस पुस्तक की प्रेस कापी तथा प्रूफ-रीडिंग में मेरा हाथ बटाया।

प्रस्तुत संस्करण गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज, बडौदा में प्रकाशित सस्करण पर आधारित है। इस संस्करण से मुझे पर्याप्त सहायता मिली है। मैं इस संस्करण के विद्वान सम्पादक यदुगिरि यतिराज स्वामी और के. एस. रामास्वामी शास्त्री का सादर, साभार स्मरण करता हूँ। इस संस्करण को प्रकाशित करने के लिए भारत

सरकार के शिक्षा-कल्याण मत्रालय ने आंशिक वित्तीय सहायता प्रदान कर इसके प्रकाशन को सुलभ किया है। मैं शिक्षा-कल्याण मत्रालय के अधिकारियों को धन्यवाद देना अपना कर्त्तव्य समझता हूँ। ग्रन्थ के मुद्रण तथा साजसज्जा आदि में जैनसन्स प्रिन्टर्स के व्यवस्थापक श्री महेन्द्र जैन से मुझे हमेशा पूर्ण सहयोग मिला है। उसी का फल है कि यह ग्रन्थ बहुत कम समय में अच्छी साजसज्जा के साथ प्रकाशित हो सका है। मैं श्री जैन को भी धन्यवाद देता हूँ। नृत्तकरणों की मुद्राओं के चित्र श्री श्रीकिशन 'दक्ष' ने बनाये हैं। ये चित्र नाट्यशास्त्र और ताण्डवलक्षण के चौखम्बा संस्करण के आधार पर तैयार किये गये है। इस सस्करण से यदि मैं शारदातनय की बात कुछ अंश में भी विद्वान पाठको तक पहुँचाने में समर्थ हुआ तो मै अपना परिश्रम सार्थक मानूंगा।

दीपावली
३१ अक्टूबर, १९७८
वनस्थली विद्यापीठ, वनस्थली (राज.)

—मदन मोहन अग्रवाल

# विषय-सूची



## प्रथम अधिकार



## द्वितीय अधिकार

## तृतीय अधिकार



## चतुर्थ अधिकार

## पंचम अधिकार



## षष्ठ अधिकार



## सप्तम अधिकार

## अष्टम अधिकार



## नवम अधिकार

## दशम अधिकार

# भूमिका

## शारदातनय

**जन्मस्थान एवं जीवनवृत्त**—शारदातनय के जन्मस्थान के विषय में अधिक ज्ञात नहीं है। हाँ, उनके ग्रन्थ 'भावप्रकाशन' के प्रारम्भ में मंगलाचरण के पश्चात् उनकी जन्मभूमि की स्थिति का संकेत है। उनके अनुसार आर्यवर्त्त देश मे 'मेरूत्तर' नाम का एक महान जनपद था। उसके दक्षिण भाग मे 'माठरपूज्य' नाम का एक ग्राम था, जिममें एक हजार ब्राह्मण निवास करते थे। इसी ग्राम मे काश्यप-वंशोत्पन्न लक्ष्मण नाम का एक ब्राह्मण निवास करता था।[1] यह लक्ष्मण ही शारदातनय का प्रपितामह था। इस प्रकार अपनी पूर्वज-परम्परा का मूल-स्थान बताते हुए शारदातनय ने 'मेरूत्तर' नामक जनपद का उल्लेख किया है।

अब प्रश्न यह है कि आर्यावर्त्त देश मे स्थित 'मेरूत्तर' जनपद की स्थिति कहाँ है ? भाषा-वैज्ञानिक दृष्टिकोण से आर्यावर्त्त देश मे 'मेरूत्तर' जनपद को आधुनिक 'मेरठ' समझा जा सकता है।[2] चूँकि, भावप्रकाशन की समस्त पाण्डुलिपियाँ दक्षिण में ही उपलब्ध हुई है, इसलिए शारदातनय ने 'मेरूत्तर' के दक्षिण भाग में स्थित जिस 'माठरपूज्य' नामक ग्राम का उल्लेख किया है वह दक्षिण-प्रदेश का 'माटपूशि' नामक प्राचीन ग्राम हो सकता है, जिसके आधार पर 'माटपूशि' एक गोत्रसूचक उपनाम दक्षिण-भारत के कुछ ब्राह्मणों में प्रचलित हो गया है। 'मेरूत्तर' नामक जनपद तो निस्सन्देह वर्तमान 'उत्तरमेरू' नामक ग्राम है, जो मद्रास के निकट 'चेंगलपट' जिले से लगभग बीस मील की दूरी पर स्थित है, इसे 'उत्तरमेरूर' भी कहते है। प्राचीन 'मेरूत्तर' नाम का विपर्यास कालान्तर मे 'उत्तरमेरू' हो गया हो, तो कोई आश्चर्य नही। इस प्रकार, यह अधिक सम्भव हो सकता है कि शारदातनय का जन्म-स्थान दक्षिण-भारत में रहा होगा।[3]

शारदातनय का जन्म काश्यपगोत्रीय ब्राह्मण परिवार मे हुआ था। इनकी वंश-परम्परा में प्राचीनतम नाम 'लक्ष्मण' प्राप्त होता है, जो शारदातनय का प्रपितामह था। यह 'लक्ष्मण' अत्यन्त विद्वान था। उसने तीस यज्ञों को सम्पन्न कर भगवान विष्णु को प्रसन्न किया था और 'वेदभूषण' नामक एक वैदिक भाष्य तैयार किया था। उसका पुत्र श्रीकृष्ण (शारदातनय का पितामह) भी सम्पूर्ण वेदों और समस्त शास्त्रों का अध्येता था।[4] उसने पुत्र-प्राप्ति की कामना से वाराणसी में महादेव (शंकर) को प्रसन्न किया था। उनकी कृपा से श्रीकृष्ण ने भट्टगोपाल नामक सुन्दर पुत्र की प्राप्ति

---

१ **भावप्रकाशन**, गा. ओ. सी. नं. ४५, १९६८, पृष्ठ १, पंक्ति ११-१४।

२ *Journal of the Andhra Historical Research Society*, Vol. II, p. 132.

३ **भावप्रकाशन**, भूमिका, पृष्ठ १२।

४ **वही**, पृष्ठ १, पंक्ति १५-१८।

की थी। भट्टगोपाल को अष्टादश विद्याओं पर समान अधिकार प्राप्त था। उसने शारदादेवी की उपासना कर अत्यन्त गुणवान पुत्र-रत्न प्राप्त किया था। जिसका नाम शारदादेवी के ही नाम पर 'शारदातनय' (सरस्वती का पुत्र) रखा गया था।[१]

कुछ विद्वानों का कहना है कि मम्मट-प्रणीत 'काव्यप्रकाश' के टीकाकार भट्ट-गोपाल[२] और शारदातनय के पिता भट्टगोपाल—दोनो एक है। लेकिन दोनों को अभिन्न ठहराना युक्तियुक्त नही है, क्योकि मम्मट के पश्चात् किसी भी लेखक ने टीकाकार भट्टगोपाल को उद्धृत नहीं किया है। कुमारस्वामी ने, जिसका समय १५वी शताब्दी[३] निश्चित है, टीकाकार भट्टगोपाल को उद्धृत किया है।[४] इससे सिद्ध होता है कि टीकाकार भट्टगोपाल का समय १५वी शताब्दी का पूर्वार्द्ध है।[५] जब शारदातनय १२वी शताब्दी मे ही हो गये थे तो क्या उनके पिता उनसे परवर्त्तीकाल में हुए होगे ? अत: शारदातनय के पिता भट्टगोपाल के साथ टीकाकार भट्टगोपाल के साम्य की सम्भावना एक हास्यास्पद दुराग्रह ही कही जा सकती है।

शारदातनय के गुरु का नाम 'दिवाकर' था। यह दिवाकर नाट्य-वेद का पूर्ण ज्ञाता तथा किसी नाट्यशाला (रंगशाला) का प्रबन्धक था। उसने सदाशिव, शिव, पार्वती, वासुकि, वाग्देवी (सरस्वती), मुनि-नारद, अगस्त्य, व्यास, भरत तथा उनके शिष्यों (कोहलादि) के नाट्य-विषयक मत-मतान्तरों की सम्यक् शिक्षा शारदातनय को प्रदान की थी।[६] यह दिवाकर वही दिवाकर होगा, जिसका वर्णन 'मेघसन्देश' की टीका 'विद्युल्लता' के लेखक पूर्णसरस्वती द्वारा किया गया है, क्योकि विद्युल्लता में वर्णित दिवाकर की पक्तियो तथा 'भावप्रकाशन' मे उद्धृत पक्तियो में साम्य दृष्टि-गोचर होता है।[७] विद्युल्लता के अतिरिक्त अन्य किसी भी ग्रन्थ में दिवाकर का उल्लेख प्राप्त नही होता है।

**समय**—शारदातनय ने शृगार-प्रकाश एवं काव्य-प्रकाश के अनेक उद्धरणों को अपने ग्रन्थ 'भावप्रकाशन' मे उद्धृत किया है। इससे सिद्ध होता है कि उक्त दोनों ग्रन्थों के लेखक भोज एवं मम्मट के पश्चात् शारदातनय हुए है। भोज का काल ११वी शताब्दी का पूर्वार्द्ध[८] भाग तथा मम्मट का काल ११वी शताब्दी का उत्तरार्द्ध[९] भाग स्वीकार किया जाता है। अत. शारदातनय का स्थितिकाल निश्चिन रूप से इसके अनन्तर ही होना चाहिए।

---

१ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ २, पंक्ति १-५।

२ भट्टगोपाल कृत **काव्यप्रकाश की टीका**, प्रकाशन—त्रिवेन्द्रम् संस्कृत सीरीज।

३ *History of Sanskrit Poetics* by P. V. Kane, Delhi, 1961, pp. 416.

४ **प्रतापरुद्रीय**—कुमारस्वामी-कृत रत्नापण-टीका सहित, मद्रास, १९१४, पृष्ठ २५०।

५ *History of Sanskrit Poetics* by P. V. Kane, pp. 417.

६ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ २, पंक्ति १४-१६।

७ **विद्युल्लता**, श्री वाणी विलास सस्कृत सीरीज नं. १५, श्रीरगम्, पृष्ठ २८, ३०, ३३, ७२, ८३, ६५, १३९ तथा **भावप्रकाशन**, पृष्ठ ७३-७६।

८ *History of Sanskrit Poetics*, by P. V. Kane, pp. 260-261

९ **वही**, पृष्ठ २७४।

भावप्रकाशन में भोज के साथ-साथ सोमेश्वर नामक एक आचार्य का भी सन्दर्भ प्राप्त होता है,[1] किन्तु साहित्य-क्षेत्र में वर्णित 'सोमेश्वर' नामक चार लेखकों में से शारदातनय का परिचय किस सोमेश्वर से था—यह ज्ञात करना अत्यावश्यक है। ये चार सोमेश्वर इस प्रकार है—

(i) मानसोल्लास का लेखक सोमेश्वर।
(ii) संगीत-रत्नावली का लेखक सोमेश्वर।
(iii) काव्यादर्श का सोमेश्वर।
(iv) कीर्ति-कौमुदी एव सुरथोत्सव का लेखक सोमेश्वर।

उपर्युक्त चारों लेखको का काल-निर्धारण करने के पश्चात् ही इनमे से किसी एक सोमेश्वर को शारदातनय से सम्बद्ध किया जा सकता है।

(i) मानसोल्लास का लेखक सोमेश्वर 'अभिलषितार्थचिन्तामणि' का भी लेखक माना जाता है। मानसोल्लास की रचना ११३१ ई. में हुई थी।[2] इसके पिता चालुक्य-वंशीय विक्रमादित्य चतुर्थ थे।

(ii) द्वितीय सोमेश्वर 'सङ्गीत-रत्नावली' का लेखक है। इस ग्रन्थ की पाण्डु-लिपि के विषय में डॉ. ब्रूलर[3] ने तथा बड़ौदा सेन्ट्रल लाइब्रेरी की पत्रिका न. ८ ने सूचनाएँ दी है।[4] इस पत्रिका की सूचना के अनुसार यह सोमेश्वर (सोमराजदेव) गुजरात के चालुक्य-वशीय राजा अजयपाल का प्रतिहारी था। इस राजा का राज्य-काल ११७४-११७७ ई. था।

(iii) तृतीय सोमेश्वर द्वारा विरचित 'काव्यादर्श' मम्मट के काव्य-प्रकाश पर लिखी हुई एक टिप्पणी है। यह सोमेश्वर स्वयं को भारद्वाज गोत्रीय भट्टदेवक का पुत्र कहता है। सम्वत् १२८३=१२२७ ई. के काल में रचित इसके ग्रन्थ की एक पाण्डु-लिपि जैसलमेर भण्डार के कैटलॉग (विषय-सूची) मे प्राप्त हुई है।[5] इससे प्रतीत होता है कि यह सोमेश्वर पाण्डुलिपि की तिथि से लगभग पचास वर्ष पूर्व हुआ।

(iv) 'कीर्तिकौमुदी' एव 'सुरथोत्सव' के लेखक सोमेश्वर को गुजरात के राजा भीमदेव द्वितीय, राजा वीरधवल तथा राजा वीसलदेव का राज्याश्रय प्राप्त था।[6] इन राजाओं का काल ११७९ ई. से १२६२ ई. तक होने से यह सोमेश्वर भी इसी काल में हुआ था। इसके पिता का नाम कुमार था।

इस प्रकार उपर्युक्त चारों सोमेश्वर ११३१ से १२६२ ई. अर्थात् लगभग १३१ वर्ष तक के काल के अन्तर्गत राज्याश्रयों में उन्नत हुए थे। इन चारों में से जो

---

१ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ १२, पंक्ति २१ तथा पृष्ठ १९४, पंक्ति ६।

२ **प्रकाशन**, गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज नं० २८ की भूमिका, पृष्ठ ६।

३ A Catalogue of Sanskrit MSS in the Private Library of Gujrat Etc , pp. 4, 274.

४ Here Somarajdeva is mentioned as the author and he is identified as a Pratihari of the Chalukya King Ajayapal of Gujrat (1174-1177 A. D.).

५ **प्रकाशन**, गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज नं. २१, पृष्ठ ४८।

६ **सुरथोत्सव**, काव्यमाला सस्कृत सीरीज नं. ७३, बम्बई, १९०२, भूमिका, पृष्ठ ८-१६।

'सङ्गीत-रत्नावली' का प्रणेता है, वही 'सङ्गीत-रत्नाकर'[1] में उल्लिखित सोमेश्वर होगा, ऐसा प्रतीत होता है, क्योंकि शार्ङ्गदेव का काल १२१०-१२४७ ई.[2] है और यह सोमेश्वर ११७४-११७७ ई. में ही उन्नत हो गया था। श्री एम. आर. तैलंग इस सोमेश्वर को सोमदेवपरमर्दी के रूप में पदस्थ करते है।[3] किन्तु यह उचित नहीं है क्योंकि परमर्दी नामक व्यक्ति सोमेश्वर से भिन्न था। एक परमर्दी अथवा परमल नामक चन्देलवंशीय राजा का राज्यकाल ११६५-१२०३ ई. तक रहा। उसके मन्त्री वत्सराज की कृति 'रूपकाष्टक' में उसका वर्णन प्राप्त होता है।[4] शार्ङ्गदेव ने सोमेश्वर (सोमेश) के नाम से पहले जिस परमर्दी का उल्लेख किया है, वह सोमेश्वर से भिन्न यह दूसरा परमर्दी नामक विद्वान राजा है, ऐसा प्रतीत होता है। यही सम्भव भी होगा क्योंकि परमर्दी (११६५ ई.) शार्ङ्गदेव (१२१० ई.) से पूर्व हो चुका था।

भावप्रकाशन में उद्धृत सोमेश्वर के कथनोद्धरण संगीत-विषयों एवं भारती आदि वृत्तियों से सम्बन्धित हैं। अतः उपर्युक्त वर्णित चार सोमेश्वरों मे से अन्तिम दो (अर्थात् 'काव्यादर्श' के लेखक तथा 'कीर्तिकौमुदी' तथा 'सुरथोत्सव' के लेखक) को इस विचार-क्षेत्र से निष्कासित किया जा सकता है। क्योंकि काव्यादर्श, कीर्तिकौमुदी एवं सुरथोत्सव में संगीत-विषयक विवेचन उपलब्ध नही होता है। काव्यादर्श मे किंचित् वृत्ति-विषयक विचार तो दृष्टिगोचर होता है किन्तु जहाँ तक संगीत-विषयक तत्त्वों का प्रश्न है, कोई भी सामग्री प्राप्त नहीं होती है क्योंकि 'काव्यादर्श' 'काव्यप्रकाश' की टिप्पणी है और सर्वविदित है कि काव्य-प्रकाश संगीत-विषयक ग्रन्थ नही है, अपितु काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ है। अब शारदातनय द्वारा सन्दर्भित सोमेश्वर शेष दो मे से कौन-सा सोमेश्वर अभिप्रेत हो सकता है, यह निर्धारित करना है।

भावप्रकाशन में जब-जब सोमेश्वर का नाम उद्धृत किया गया है, तब-तब राजा भोज के साथ ही हुआ है।[5] अतः अधिक सम्भव है कि उपर्युक्त चार मे से प्रथम दो सोमेश्वर भी राजा रहे होंगे। किन्तु इन दोनो मे 'मानसोल्लास' का लेखक भी शारदातनय को अभीष्ट नहीं हो सकता, क्योकि 'मानसोल्लास' मे संगीत-विषयक सामग्री होते हुए भी भारती आदि वृत्तियों का कोई विवेचन नहीं है। अतः 'संगीत-रत्नाकर' में उल्लिखित 'संगीत-रत्नावली' का रचयिता सोमेश्वर, जिसका काल ११७४-११७७ ई. निर्धारित हो चुका है, शारदातनय द्वारा उद्धृत उद्धरणों से सम्बद्ध माना जा सकता है, क्योंकि संगीत-विषयक ग्रन्थो में संगीत-परक सामग्री के साथ-साथ भारती आदि वृत्तियों का विवेचन भी सामान्यतः उपलब्ध होता है, जैसा कि संगीत-

---

१ रुद्रटो नान्यभूपालो भोजभूवल्लभस्तथा।
परमर्दी च सोमेशो जगदेकमहीपतिः॥
—**संगीतरत्नाकर**, अड्यार संस्करण, वा. १, १।१८।

२ **वही**, भूमिका, पृष्ठ १०।

३ द्रष्टव्य—**'संगीतमकरन्द'** मे संगीत-लेखकों की सूची, गा. ओ. सी., नं. १६, पृष्ठ ५६।

४ **रूपकाष्टक**, गा. ओ. सी. नं. ८, भूमिका, पृष्ठ ९।

५ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ १२, पंक्ति २१; पृष्ठ १९४, पंक्ति ६।

रत्नाकर में उपलब्ध होता है। इस आधार पर शारदातनय १२०० से १२५० ई. तक उत्पन्न हो गये होंगे।

शिगभूपाल, कुमारस्वामी तथा कल्लिनाथ आदि के ग्रन्थो में अधिकांश स्थलों पर संगीत एवं रस के सम्बन्ध में भावप्रकाशन से उद्धरण उद्धृत किये गये है। शिगभूपाल का काल १३३० ई.[1] तथा कल्लिनाथ[2] एवं कुमारस्वामी का काल १५वी शताब्दी स्वीकार किया गया है। अतः इन परवर्त्ती ग्रन्थकारों के काल की निम्नतर सामान्य सीमा १३०० ई. स्वीकार की जा सकती है। इससे स्वतः सिद्ध हो जाता है कि इनके पूर्ववर्त्ती शारदातनय १३०० ई. से पूर्व ही अर्थात् १२००-१२५० ई. तक अवश्य उन्नत हो गये होंगे।

इस काल के विषय मे शका उठ सकती है कि शारदातनय अपनी विषय-सामग्री के लिए यत्र-तत्र कल्पलता (कल्पवल्ली)[3] नामक एक ग्रन्थ का आश्रय ग्रहण करते है और कल्पलता का काल १२वी शताब्दी से पश्चात् का है, अतः इस आधार पर भावप्रकाशन का प्रणयन कल्पलता से भी पश्चात् अर्थात् १२वी शताब्दी से अत्यन्त परवर्त्ती काल मे हुआ होगा। किन्तु ध्यातव्य रहे कि 'कल्पलता' नामक दो ग्रन्थ उपलब्ध हैं। एक के लेखक है अरिसिह और दूसरे के देवेश्वर[4]। परन्तु क्या यह सम्भव नही हो सकता कि शारदातनय द्वारा उद्धृत 'कल्पलता' इन दोनों के अतिरिक्त कोई अन्य ही रही हो, जिसकी रचना १२वी शताब्दी के पूर्व ही हो चुकी थी। क्योंकि 'कल्पलता' के सन्दर्भो द्वारा रस, भाव आदि कतिपय विषयों का जैसा प्रतिपादन शारदातनय ने किया है, वह अरिसिह तथा देवेश्वर द्वारा प्रणीत 'कल्पलता' में अभिलक्षित नही होता है। अरिसिंह की 'कल्पलता' में शब्द एवं अर्थ तीन प्रकार के वर्णित है, जबकि 'शारदातनय' द्वारा संकेतित 'कल्पलता' में चार प्रकार के शब्द-अर्थ कहे गये है। इस विषय में शारदातनय कहते है कि 'कल्पलता' में वर्णित चार प्रकार के शब्दार्थो को मम्मट तथा स्वय (शारदातनय) ने प्रदर्शित किया है।[5] इस कथन से 'कल्पलता' का काल मम्मट से भी पूर्ववर्त्ती सिद्ध होता है और मम्मट तो शारदातनय के पूर्ववर्त्ती है ही।

'रस-रत्न-दीपिका' के रचयिता अल्लराज द्वारा उद्धृत भावप्रकाशन के उल्लेखों के आधार पर भी शारदातनय का स्थितिकाल १२५० ई. ही निर्धारित होता है। अल्लराज ने स्वयं को हम्मीर का पुत्र बताया है। यह हम्मीर मेवाड़ का चौहान राजा हम्मीर प्रतीत होता है, जिसके विषय में जयचन्द्र सूरी द्वारा 'हम्मीर महाकाव्य' की रचना की गई है। इसके अनुसार हम्मीर का काल सम्वत् १३३९ अथवा १२८३ ई. था। अतः हम्मीर के पुत्र अल्लराज का स्थितिकाल १४वी शताब्दी के आरम्भ में निर्धारित किया जा सकता है। अल्लराज ने 'रस-रत्न-दीपिका' में अपने पूर्ववर्त्ती

---

१ *History of Sanskrit Poetics*, by P. V. Kane, pp. 430.

२ **संगीत-रत्नाकर**, भूमिका, पृष्ठ २०।

३ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ १३१, पंक्ति ४; पृष्ठ १७५, पंक्ति १८।

४ *History of Sanskrit Poetics*, S. K. De, Calcutta, 1960, Vol. I, pp. 259-260.

५ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ १७५, पंक्ति १८-२०।

ग्रन्थकारों के स्मरण के साथ-साथ भावप्रकाशन को भी समादृत किया है ।[1] अतः स्पष्ट है कि शारदातनय अल्लराज से पूर्ववर्त्ती रहे है । अल्लराज की 'रस-रत्न-दीपिका' का सन्दर्भ 'रस-तरंगिणी' मे प्राप्त होता है । इसके रचयिता भानुदत्त का काल १३०० से १३५० ई. के लगभग स्वीकार किया जा सकता है, तब अल्लराज का स्थितिकाल भानुदत्त से किंचित् पूर्व तथा शारदातनय का स्थितिकाल अल्लराज से किंचित् पूर्व स्वीकार करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि 'भावप्रकाशन' की रचना ११५० अथवा ११७५ ई. से १२५० ई. तक के अवान्तर काल मे अवश्य हो गई होगी। अतएव शारदातनय को उपर्युक्त अनेकानेक प्रमाणों के आधार पर निस्सन्देह रूप से १२५० ई. का आचार्य कहा जा सकता है ।[2]

**व्यक्तित्व**—शारदातनय के ग्रन्थ 'भावप्रकाशन' का सिहावलोकन करने पर उनके व्यक्तित्व का एक अपूर्व प्रतिरूप दृष्टिमार्ग के सामने सजीव हो उठता है । पूर्व-प्रचलित ग्रहणीय परम्पराओं को आत्मसात् कर लेने तथा अपने मौलिक विचारों से उन्हे अनुप्राणित कर देने की अपूर्व क्षमता के दर्शन उनके व्यक्तित्व में किये जा सकते हैं । उनका व्यक्तित्व ऐसा पारदर्शी भी था जिसका सहज प्रतिबिम्ब उनकी परवर्ती प्रतिभाओं को अक्षुण्ण रूप से आवेष्टित एव प्रतिभासित कर सका । और फिर क्यों न करता ? था तो वह शारदातनय (सरस्वती का पुत्र) । बाल्यावस्था मे ही शारदातनय ने पितृगृह मे समस्त वेद-वेदागों का ज्ञान प्राप्त कर लिया था । कदाचित् वे शारदादेवी की उपासना मे लग गये और देवी के चैत्रयात्रा-महोत्सव पर यज्ञ कर, प्रेक्षकों के साथ नृत्यशाला मे बैठी हुई देवी को प्रणाम कर, उन प्रेक्षकों के कहने पर वे उस देवी के पास बैठ गये । वहाँ भावाभिनयविज्ञ नटो के द्वारा पृथक्-पृथक् तीस प्रकार के भिन्न-भिन्न रूपकों का प्रयोग होते हुए देखकर उन्होंने देवी से नाट्य-वेद की ज्ञान-प्राप्ति के लिए प्रार्थना की ।[3] वही उनके हृदय मे तीस रूपकों की रूपरेखा स्थापित हो गई । ऐसे सरल साधक के व्यक्तित्व की भव्यता एवं गौरव का अनुमान लगाना दुःसाध्य नही है ।

शारदातनय कट्टर सम्प्रदायवादी नही थे । उनके पूर्वजों में से भी प्रपितामह लक्ष्मण 'विष्णु' के उपासक, पितामह श्रीकृष्ण शिव के भक्त, पिता भट्टगोपाल माँ सरस्वती के साधक थे । किसी एक देवी या देवता को इष्ट मानने से पूर्व शारदातनय की तर्क-बुद्धि इस सृष्टि का मूल-अन्वेषण करती हुई सांख्य-दर्शन तक पहुँच जाती है।[4] इसी दर्शन के सिद्धान्तों का अनुसरण करते हुए उन्होंने सहृदयों द्वारा किये जाने वाले नाट्य-रसों के आस्वादन-हेतु अत्यन्त रोचक उपमा को अपने ग्रन्थ में प्रस्तुत किया है तथा इसी सम्बन्ध में शिवागम के कुछ प्रारम्भिक कार्यों का भी उल्लेख किया है ।[5] नाट्य-रस का यह आस्वादन अथवा मनोरंजन उसी प्रकार का है, जिस प्रकार जीवात्मा

---

१ द्रष्टव्य—**'रस-रत्न-दीपिका'** की पाण्डुलिपि प्रति नं. ११३३०—बड़ौदा ओरियण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट के पुस्तकालय मे सुरक्षित ।

२ **भावप्रकाशन**, भूमिका, पृष्ठ ७२-७७ ।

३ **वही**, पृष्ठ २, पंक्ति ६-१३ ।

४ **वही**, पृष्ठ १८१, पंक्ति १६ ।

५ **वही**, पृष्ठ ५३, पंक्ति ३-६ ।

सांसारिक भोगों का मनोरंजन करता है। इस विषय मे अपने तर्कों को प्रस्तुत करते हुए प्रत्यभिज्ञा-दर्शन के तत्त्वों, यथा—राग, विद्या एवं कला आदि की भी व्याख्या शारदातनय प्रस्तुत करते है।[1] अतः उन्हे प्रत्यभिज्ञा सम्प्रदाय का अनुयायी कहा जा सकता है। उन्होने रस-भाव आदि नाट्य-विषयक तत्त्वों को दार्शनिक पृष्ठभूमि पर रखकर अपनी मौलिक दृष्टि से परखा है। इसीलिए उनके माध्यम से एक नाट्यविद्-दार्शनिक-व्यक्तित्व के दर्शन सहज ही में किये जा सकते है।

**रचनाएँ**—भावप्रकाशन के अतिरिक्त शारदातनय द्वारा रचित 'शारदीय' नामक एक अन्य ग्रन्थ का भी प्रमाण प्राप्त होता है।[2] 'भावप्रकाशन' नाट्य-परक है तथा 'शारदीय' सगीत-परक। यह सम्भव है कि 'शारदीय' उनकी प्रथम रचना हो, जिसका नाम उन्होंने अपने नाम 'शारदातनय' से ही रखा होगा। 'शारदीय' में संगीत के समस्त अंगों-उपांगों का सम्यक् रूप से वर्णन किया गया था।[3] किन्तु आज यह ग्रन्थ अप्राप्य है।

भावप्रकाशन में 'शब्द-शक्ति-विवेचन'[4] के प्रसंग में शारदातनय काव्यप्रकाशकार (मम्मट) की शैली से अत्यधिक प्रभावित हुए हैं। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि सम्भवतः उन्होंने काव्यप्रकाश पर कोई टीका भी लिखी होगी, जो 'शारदीय' की ही भाँति आज उपलब्ध नही है।

'भावप्रकाशन' अपने ढंग की एक अपूर्व अमर कृति है। नाट्य-शास्त्र एवं दशरूपक की वर्णन-शैली से प्रभावित होते हुए भी इस ग्रन्थ की आबद्ध शब्द-रचना में वैदिक शैली के दर्शन होते है। इस ग्रन्थ में व्याकरण सम्बन्धी नियमों का पूर्णतः पालन करने के लिए शारदातनय बाध्य नही हुए है। उन्होंने भाषा के प्रवाह एवं शैली की प्रभावोत्पादकता पर अपना ध्यान अधिक केन्द्रित किया है जिसके कारण उनकी शब्द-रचना में भले ही पुनरुक्ति-दोष आ गया हो किन्तु इसे दोष कहना भी अन्याय ही होगा। उन्होंने सम्पूर्ण ग्रन्थ में अधिकांशतः उन विभिन्न विचारों का आकलन एवं मौलिक समन्वय किया है जो भरत के नाट्य-शास्त्र से प्रारम्भ होकर भरत-शिष्य-परम्परा, दशरूपक, शृगार-प्रकाश एवं काव्य-प्रकाश का प्रभाव लेते हुए उन (शारदातनय) तक पहुँचे। अतः भरत से लेकर शारदातनय तक एक शृङ्खला आबद्ध है। इस शृङ्खला की कड़ियाँ तो स्वयमेव परस्पर समान बाह्याकार की है फिर उन सब का समवेत प्रस्तुतीकरण जब भावप्रकाशन के रूप में किया गया तो यत्र-तत्र पुनरावृत्ति के दर्शन कोई आश्चर्य नही है। शारदातनय ने ग्रन्थ के अन्त मे पुनरुक्ति-दोष का निवारण भी कर दिया है।[5] यह पुनरावर्त्तन की शैली धीरे-धीरे कुछ इस प्रकार से प्राकृतिक सी हो जाती है कि फिर वह सरल, सुबोध एवं सहज-ग्राह्य हो उठती है। व्याकरण-सम्बन्धी नियमों के पालन का जहाँ तक प्रश्न है, शारदातनय अपनी त्रुटियों के प्रति सचेत रहते हुए क्षमा-याचना करना नहीं भूले है।[6]

---

१ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ १८१, पंक्ति २०-२२, पृष्ठ १८२।
२ **वही**, पृष्ठ १९४, पक्ति ८।
३ **वही**, पृष्ठ १९४, पक्ति ९।
४ **वही**, षष्ठोध्यायः।
५ **वही**, पृष्ठ ३१३, पक्ति ६-१०।
६ **वही**, पृष्ठ २५५, पंक्ति १-४।

भावप्रकाशन का अस्तित्व विद्वानों को उस समय ज्ञात हुआ जब सन् १८८५ ई. में 'विक्रमोर्वशीय'[1] पर रगनाथ की तथा सन् १९०० ई. में 'कर्पूरमंजरी'[2] पर वासुदेव की टीकाएँ प्रकाशित हुई। सन् १८९३ ई. मे मद्रास में[3] इस ग्रन्थ के आधार-सूत्रो की एक अक्षरानुकूल सूची परिलक्षित हुई, उसी समय 'भावप्रकाशन' की पाण्डुलिपि की खोज की घोषणा हुई। मेलकोट के हिज होलीनेस यदुगिरि यतिराज स्वामी को इसकी पाण्डुलिपि प्राप्त हुई। इस पाण्डुलिपि मे से ग्रन्थ के कुछ भाग मद्रास गवर्नमेण्ट ओरियण्टल लाइब्रेरी के एक कैटलॉग में सन् १९१८ ई. मे प्रकाशित हुए।[4] कालान्तर में मद्रास-अनुसन्धान-सघ को इस ग्रन्थ की अनेक प्रतिलिपियाँ हस्तगत हुई। चीड़-पत्रों पर लिखी हुई एक प्राचीन पाण्डुलिपि जीर्णावस्था में दक्षिण मे ही प्राप्त हुई जो बड़ौदा पुस्तकालय[5] में सुरक्षित है।

कल्लिनाथ के 'कलानिधि' एवं कुमारस्वामी के 'रत्नापण' के प्रकाशन द्वारा भावप्रकाशन तथा शारदातनय के विषय मे अन्य विशेष महत्त्वपूर्ण तत्त्व जनसाधारण के सम्मुख उपस्थित हुए। शिगभूपाल के 'रसार्णवसुधाकर' एवं गोपेन्द्रतिप्पभूपाल के 'कामधेनु' मे उद्धृत किये गये भावप्रकाशन के उद्धरणो के माध्यम से शारदातनय साहित्य-क्षेत्र में उत्तरोत्तर लोकप्रियता को प्राप्त होते रहे।[6] उनके भावप्रकाशन मे रंगशाला की समस्त विद्याओ का सुबोध-निरूपण किया गया है। विविध विषयों का विस्तृत विवेचन व्यवस्था की अवहेलना नही करने पाया है। यही इस ग्रन्थ तथा उसके प्रणेता की सहज स्वाभाविक विशेषता रही है।

**भावप्रकाशन का प्रतिपाद्य विषय**

'भावप्रकाशन' आकार मे नाट्यशास्त्र जैसा विशाल ग्रन्थ है। सदाशिव, शिव, पार्वती, वासुकि, वाग्देवी (सरस्वती), नारद, अगस्त्य, व्यास, भरत एवं आञ्जनेय इत्यादि अनेक नाट्यवेत्ताओं के सिद्धान्तों का सार ग्रहण करके शारदातनय ने 'भावप्रकाशन' का प्रणयन किया है।[7] सम्पूर्ण प्रतिपाद्य सामग्री दस अधिकारों में विभक्त की गई है, जिसमें श्लोकबद्ध शैली के दर्शन होते है।

प्रथम-अधिकार में मंगलाचरण एव आत्मपरिचय-कथन के पश्चात् नाट्य के सर्वप्रमुख तत्त्व 'भाव' का निरूपण किया गया है। शारदातनय की दृष्टि से भावों का महत्त्व रस से भी पूर्व है। 'रस' काव्य की आत्मा है तब भाव तो उस रस का भी जीवनाधायक तत्त्व हुआ। रस रूपी साध्य की प्राप्ति के लिए भाव रूपी साधन सर्वथा अपेक्षित है। इसीलिए शारदातनय ने भावो को रस-प्रक्रिया के पूर्व ही वर्णित किया है। भले ही भरत ने रस-व्याख्या के पश्चात् भावों को रखा है। भाव की सत्ता के बिना रस की अभिव्यक्ति सम्भव नही है। अतः नाट्य का मूल तत्त्व 'भाव' ही है।

---

१ **विक्रमोर्वशीय**, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १८८५।

२ **कर्पूरमंजरी**, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९००।

३ Government Oriental MSS Library, Madras.

४ Vol. XXII, p. 8737.

५ MSS No. 7978 in the Library of the Oriental Research Institute of Baroda.

६ **भावप्रकाशन**, प्राक्कथन एवं भूमिका, पृष्ठ ६-९।

७ **वही**, पृष्ठ २, पंक्ति १६-२२।

'भाव' की इसी महत्ता के कारण शारदातनय ने ग्रन्थ का नाम भी 'भावप्रकाशन' रखा है जो सार्थक है। प्रथम-अधिकार मे भावों के विभिन्न भेद, यथा—विभाव, अनुभाव, स्थायीभाव, व्यभिचारीभाव एवं सात्त्विकभाव आदि तथा पुनः इन सभी के अवान्तर भेदों का विस्तृत प्रतिपादन किया गया है।

द्वितीय-अधिकार में भाव के पश्चात् नाट्य के सर्वाधिक विशेष तत्त्व 'रस' का प्रतिपादन किया गया है जिसमें भरत के रससूत्र पर आधृत विभिन्न मतो का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। भरत के अनुसार ही शारदातनय ने भी आठ रसो को स्वीकार किया है। शान्त-रस के विषय मे शारदातनय धनञ्जय के मत को स्वीकार करते हुए यह तो कहते है कि 'राम' के द्वारा कोई भी विभाव, अनुभाव एवं सात्त्विकभाव उत्पन्न न होने के कारण शान्त-रस का अभिनय रगमंच पर नही हो सकता[1] किन्तु फिर भी शारदातनय शान्त-रस के प्रति उतने कठोर नही है। धनञ्जय के विपरीत वे यह सोचने में उदारता प्रदर्शित करते है कि शान्त-रस नाट्य में नही प्रत्युत् काव्य में स्थान प्राप्त कर सकता है।[2] द्वितीय-अधिकार मे ही प्रसंगवश नाट्य, नृत्त एवं नृत्य का निर्वचन करते हुए वे लास्य एवं ताण्डव का भी निरूपण करते है।[3] रस-विवेचन के अन्तर्गत सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण श्रृङ्गार-रस के विषय मे शारदातनय भोज से प्रभावित हुए है। काव्य एवं रस के बीच वे व्यग्य-व्यञ्जक भाव सम्बन्ध को स्वीकार न कर भाव्य-भावक भाव और प्रतिपाद्य-प्रतिपादक भाव सम्बन्ध को स्वीकार करते है तथा रस एव सामाजिक के बीच भोक्तृ-भोग्य भाव सम्बन्ध को स्वीकार करते है।

तृतीय-अधिकार मे रस की उत्पत्ति तथा वाचिकादि भेद से शृंगारादि रसों के भेदों का निरूपण किया गया है। श्रृङ्गारादि रसों के विष्णु आदि देवताओ के देवत्व का कारण-निर्वचन किया गया है। समस्त रसो के स्थायीभाव, अनुभाव, विभाव आदि का भी विस्तार से प्रतिपादन हुआ है।

चतुर्थ-अधिकार में नायक-नायिका आदि का स्वरूप निरूपित है। श्रृङ्गार के स्थायीभाव रति के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए रति के वृद्धिकारक प्रेम आदि षड्गुणों का भी उल्लेख शारदातनय ने किया है। श्रृङ्गारोचित देश-काल-गुण-चेष्टा आदि का रोचक निरूपण भी प्रस्तुत किया है। तत्पश्चात् श्रृङ्गारोचित पात्रों के वर्णन-प्रसग मे नायक के भेद एव उनके लक्षणों को प्रस्तुत किया है। नायिकाभेद-प्रसंग के अवसर पर रुद्रट के मतानुसार ३८४ नायिका-भेदो का उल्लेख भी किया है।[4]

पंचम-अधिकार मे स्त्री के यौवन, कोप, चेष्टा आदि; वैशिक नायक, उनकी प्रकृति, व्यवहार एवं अवस्था आदि का विस्तृत वर्णन हुआ है। नायिकाओं का सत्त्व-भेद-कथन करते हुए उनके देवशीला, दैत्यशीला इत्यादि २२ भेदों का उल्लेख किया गया है।

षष्ठ-अधिकार मे शब्द-शक्ति-विवेचन प्रस्तुत किया गया है, जो विस्तृत होते हुए भी व्यवस्थित है। रस की सिद्धि के लिए व्यञ्जना-शक्ति अत्यन्त अपेक्षित है, अतः

---

१ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ ४७, पंक्ति ५-६।

२ **वही**, पृष्ठ १३५-१३६।

३ **वही**, पृष्ठ ४५, पक्ति १६ से पृष्ठ ४६, पंक्ति २० तक।

४ **वही**, पृष्ठ ६५, पक्ति ८-६।

व्यञ्जना तथा उसके साथ ही साथ अभिधा, लक्षणा एव तात्पर्या शक्तियों का निर्वचन भी प्रसंग से प्राप्त हो गया है। शक्तियों के आधार पर काव्य के उत्तम, मध्यम एवं अधम त्रिविध रूपों का प्रतिपादन भी शारदातनय ने किया है। इस अधिकार मे प्रसग-वश रस, रसाभास इत्यादि का भी कथन किया गया है।

सप्तम-अधिकार में सगीत-विषय का संगोपाग वर्णन हुआ है, जो कि रंगशाला का एक मुख्य एवं आवश्यक तत्त्व है। संगीत के विस्तृत क्षेत्र मे गायन, वादन, नृत्य, नाद, वर्ण, स्थान, श्रुति, धातु, गीति, रीति एवं छन्द आदि अनेकानेक विषयों का समावेश किया गया है। त्वक् आदि सप्त-धातुओं से स्वर-उत्पत्ति के वर्णन-प्रसग मे शरीर की धमनी-सख्या के आधार पर श्रुतियों की सख्या चौबीस मानी गई है।[1] इससे ज्ञात होता है कि शारदातनय आयुर्वेद के भी पूर्ण ज्ञाता थे।[2] इसके अतिरिक्त राग, मति, गति, लय, ताल, काल, अलंकार, गमक एवं आयाम आदि सगीत के विविध विषयों का पारिभाषिक निर्वचन भी उन्होने प्रस्तुत किया है। इसी अधिकार मे नाट्य-शरीर का रचना-विधान प्रस्तुत करते हुए कथावस्तु, अर्थ-प्रकृतियाँ, अवस्थाएँ, सन्धियाँ, सन्ध्यंग एवं अर्थोपक्षेपक इत्यादि भी शारदातनय ने विस्तार से निरूपित किये हैं।

अष्टम-अधिकार में तीस रूपकों का नामोल्लेख करके नाटक, प्रकरण आदि दशरूपकों का लक्षण एवं स्वरूप प्रतिपादित किया गया है। इस सन्दर्भ मे मातृगुप्त, हर्ष, सुबन्धु, कोहल तथा भोज इत्यादि प्रसिद्ध आचार्यो का मतोल्लेख भी शारदातनय ने किया है। नाटक आदि दशरूपकों के उदाहरण-स्वरूप जिन विभिन्न रूपकों के नाम शारदातनय ने उद्धृत किये है उनमें से अधिकांश आज अप्राप्य भी हैं।

नवम-अधिकार में नृत्य के बीस भेदों का वर्णन है। यह बीस नृत्य-भेद ही 'उपरूपक' कहे गये हैं। इसी अधिकार में नाटक के पात्रों के लिए उचित भाषा-नियमों का निर्देश किया गया है। इसके अनन्तर आख्यायिका, सर्गबन्ध, आश्वासबन्ध, संहिता, कोश एवं चम्पू इत्यादि के स्वरूप का निर्वचन किया गया है।

दशम-अधिकार में नाट्य-प्रयोग की विधि एव भेद इत्यादि का प्रतिपादन हुआ है। किन्तु इससे पूर्व शारदातनय ने इस अधिकार के प्रारम्भ में ही नाट्य की वैदिक उत्पत्ति का विस्तृत कथन किया है, जो भरत-नाट्यशास्त्र में प्रतिपादित नाट्योत्पत्ति की कथा से भिन्न है।[3] तत्पश्चात् विभिन्न नाट्यप्रयोक्ताओ का स्वरूप-निर्वचन किया है। शुद्ध एवं देशी प्रयोगो के उल्लेख प्रसंग में पुनः लास्य, ताण्डव नृत्तों का स्वरूप एवं विभागादि का निरूपण हुआ है। मार्गी प्रयोग मे ध्रुवा के स्वरूप, उपयोग एवं विभागों का विस्तारपूर्वक कथन किया गया है। इसके अनन्तर भारतवर्ष का स्वरूप एवं स्थिति निर्दिष्ट करते हुए यहाँ प्रचलित विभिन्न भाषा-भाषियों एवं उनकी नाट्योपयोगिता को प्रदर्शित किया गया है। अन्त में पुनरुक्ति-दोष का विवरण करते हुए शारदातनय ने अभिनवगुप्त की अनुयायिता स्वीकार की है।[4]

---

१ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ १८६, पंक्ति ५ से पृष्ठ १८७, पँक्ति ११ तक।

२ **वही**, पृष्ठ १८६, पक्ति १४।

३ **(क) भावप्रकाशन**, पृष्ठ २८४, पंक्ति ५ से पृष्ठ २८७, पक्ति ६ तक।
**(ख) नाट्यशास्त्र**, प्रथमोऽध्यायः।

४ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ २८७, पंक्ति १६ से पृष्ठ २९४, पंक्ति १९ तक; पृष्ठ २९५,

शारदातनय उपर्युक्त सम्पूर्ण प्रतिपाद्य विषय-सामग्री का समवेत रूप से कथन ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही कर देते है। जहाँ ग्रन्थ के दस अधिकारों में विभक्त नाट्यशास्त्र-विषयक सम्पूर्ण तत्त्वो की सामान्य रूपरेखा प्रस्तुत की गई है तथा प्रसंग से प्राप्त काव्यशास्त्र विषयक सामग्री का भी समावेश किया गया है। ग्रन्थ की यह प्रतिपाद्य विषय-सामग्री नाट्य-विषय की अभूतपूर्व विशद व्याख्या करने में सर्वथा सक्षम है।

**नाट्यशास्त्र की परम्परा में शारदातनय का योगदान**

नाट्यशास्त्र की परम्परा में शारदातनय का विशेष योगदान रहा है। इनके ग्रन्थ 'भावप्रकाशन' के अध्ययन के पश्चात् उनके अनेक मौलिक तत्त्वो का उद्‌घाटन होता है। नाट्यशास्त्र मे भावप्रकाशन का कितना व्यापक महत्त्व है, विषय की दृष्टि से उसकी कितनी उपादेयता है, नाट्यशास्त्र मे उसका क्या स्थान है, इत्यादि विविध विषयो के स्वरूप के दर्शन प्राप्त होते है। प्रामाणिकता एवं उपादेयता की दृष्टि से यह ग्रन्थ भरत के नाट्यशास्त्र से किसी प्रकार भी कम नही है। नाट्यकला के विषय मे यहाँ जो विस्तृत अभिव्यक्ति हुई है, वह अद्‌भुत ही है। इस ग्रन्थ में नाट्यकला के अतिरिक्त सगीत आदि अन्य ललित-कलाओ का भी वैविध्यपूर्ण वर्णन उपलब्ध होता है। भरत से लेकर शारदातनय तक के बीच के समय मे नाट्य, काव्य, संगीत, नृत्य आदि विषयो पर अनेक ग्रन्थो का प्रणयन हुआ, लेकिन किसी भी ग्रन्थ में नाट्यशास्त्र पंचमवेद जैसी चिन्तनधारा नहीं था, उपर्युक्त नाट्य आदि सभी कलाओं का समष्टि रूप एक ही स्थान पर नही था। यदि इन सभी का विलक्षण सामंजस्य कही सम्पादित हुआ तो वह है 'भावप्रकाशन' जिसकी सुनियोजित शैली वेदो का स्मरण कराती है। अत भावप्रकाशन को ही पंचमवेद का उत्तराधिकारी मान लिया जाय तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

शारदातनय का सर्वप्रथम योगदान 'नाट्योत्पत्ति' के विषय में रहा है। इसके लिए भावप्रकाशन में जो सुनियोजित परम्परा स्वीकार की गयी है, उसका अपना विशिष्ट महत्व है। चारों वेदो से क्रमशः सम्वाद, अभिनय, गीत एवं रस को ग्रहण करके नाट्योत्पत्ति की मान्यता तो भरत ने प्रतिपादित की थी। उसे समादृत करते हुए भी शारदातनय ने 'शिव' से नाट्य का आविष्कार स्वीकार किया है।[1] जबकि भरत एव अनेक परवर्त्ती आचार्यो ने नाट्य की उत्पत्ति ब्रह्मा से स्वीकार की है। इस विषय में शारदातनय ने अपनी नवनवोन्मेषशालिनी कल्पनाशक्ति का सुन्दर परिचय दिया है। ब्रह्मा से नाट्योत्पत्ति स्वीकार करने का सिद्धान्त तो केवल वैदिक पृष्ठभूमि पर ही आधृत है, लेकिन इसे शिव से सम्बद्ध स्वीकार करने से तो वैदिक एवं लौकिक दोनो ही भाव-भूमियो का अलंकरण हो उठता है। शिव-पार्वती का ताण्डव, लास्य नाट्य का पूर्वप्रचलित स्वरूप है। शिव के नटराज रूप से नाट्योत्पत्ति जितनी तार्किक एव शाश्वत सत्य सिद्ध है उतनी ब्रह्मा के रूप से नही।

भरत के अनुसार नहुष की प्रेरणा से भरत-पुत्र नाट्य प्रयोग को स्वर्ग से

---

पंक्ति २१ से पृष्ठ २६७, पंक्ति १६ तक; पृष्ठ ३०२, पंक्ति २ से पृष्ठ ३०३, पंक्ति १७ तक; पृष्ठ ३०६, पंक्ति ५ से पृष्ठ ३१२, पंक्ति १५ तक; पृष्ठ ३१३, पंक्ति ११-१४।

१ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ ५५-५७, २८४-२८५।

पृथ्वी पर लाये । लेकिन भावप्रकाशन मे भूमि पर नाट्यावतरण कराने का श्रेय 'मनु' को है[1] नहुष को नही । यह उचित भी प्रतीत होता है, क्योकि इस सृष्टि का आदि जन्मदाता 'मनु' को ही स्वीकार किया जाता है । यदि अपनी सृष्टि के लिए मनु ने नाट्य को भूलोक पर अवतरित करने का उद्योग किया हो, तो क्या आश्चर्य है ?

नाट्य एवं दर्शन को गुम्फित करने में शारदातनय का एक विशेष योगदान है। उन्होंने नाट्य-विषयक विभिन्न तत्त्वों को दार्शनिक पृष्ठभूमि के परिप्रेक्ष्य मे रखकर अपनी सजग दृष्टि के परखा है । नाट्य-प्रयोग आनन्द का प्रतीक होता हे क्योकि उसमे अभिनय, सगीत आदि अनेक सर्वलोकानुरंजिनी कलाओ का प्रयोग होता है जिनका अवलोकन एव अवगाहन करके सहृदय आत्मदर्शन में लीन होकर सच्चिदानन्द से अनुप्राणित हो उठता है । इसी चिन्तनधारा में डूबकर शारदातनय ने राग, विद्या एव कला आदि प्रत्यभिज्ञा-दर्शन के तत्त्वों को अपने ग्रंथ में प्रतिष्ठित किया है । नाट्य सम्बन्धी ऐसे गहन चिन्तन को अपने ग्रन्थ में महत्वपूर्ण स्थान देने लिए शारदातनय निस्सन्देह प्रशंसा के पात्र है । उनका दार्शनिक दृष्टिकोण उनके विलक्षण एवं अपूर्व व्यक्तित्व को मूर्तिमान कर देता है ।

नाट्य-परक सामग्री के साथ काव्य-शास्त्रीय विषयों का सम्मिश्रण करना शारदातनय की एक अन्य विशेपता है । उनकी सचेत दृष्टि काव्य-शास्त्रीय तत्त्वो को स्वाभाविक रूप से ग्रहण करती है । उन्होंने शब्दशक्तियों का विशद संयोजन अपने ग्रथ में प्रस्तुत किया है ।[2] यहाँ पर उन्होने प्राचीन आचार्यो की मान्यताओ का उपबृहण मात्र किया है । इस विषय मे उनका दृष्टिकोण प्राय समन्वयात्मक रहा है । उन पर अधिकतर मम्मट का प्रभाव जान पड़ता है । पुनः उन्होने शब्द और अर्थ के सम्बन्ध के विपय मे एक नवीन तथ्य प्रकट किया है,[3] उनके मत में शब्द और अर्थ का सम्बन्ध 'साहित्य' कहलाता है और यह 'शब्दार्थ-सम्बन्ध' बारह प्रकार का होता है जो कि चार-चार भेदो के साथ तीन भागों में विभाजित होता है; यथा—

(१) वृत्ति, विवक्षा, तात्पर्य तथा प्रविभाग ।

(२) व्यपेक्षा, सामर्थ्य, अन्वय तथा एकार्थीभाव ।

(३) दोषहान, गुणोपादान, अलकारयोग तथा रसावियोग ।

यह प्रकरण शारदातनय ने आचार्यभोज के 'शृंगार-प्रकाश' से ज्यों का त्यों ग्रहण किया लगता है । नाट्यशास्त्र एव काव्यशास्त्र विषयक सामग्री का ऐसा सजग-सयोग अन्यत्र मुखरित नही हुआ है ।

भावप्रकाशन का विवेचनात्मक अध्ययन करते हुए एक और नवीन तथ्य दृष्टि-गोचर होता है कि शारदातनय ने 'भाव-तत्त्व' को वह गरिमा-मण्डित स्थान प्राप्त कराया, जो उसे अब तक उपलब्ध नही हुआ था । यद्यपि 'रस' नाट्य का प्राण है तथापि उस रस की प्राप्ति का साधन 'भाव' है अत. साध्य 'रस' का कारणीभूत भाव ही है । भाव के बिना रसाभिव्यक्ति की कल्पना ही नहीं की जा सकती है । इसीलिए शारदातनय ने भावो को रस-प्रक्रिया से पूर्व रखा है । जबकि भरत ने रस को भाव से

---

१ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ २८७, पक्ति ८ ।

२ **वही**, षष्ठोऽधिकारः ।

३ **वही** ।

पूर्व वर्णित किया है । किन्तु भाव की स्थिति हृदय मे शाश्वत रूप से रहती है, अतः उसी के माध्यम से रसानुभूति सम्भव हो पाती है । इस तथ्य को नकारा नही जा सकता । कवि की जो मानसिक अवस्थाएँ नटों के माध्यम से सहृदय सामाजिक के अन्त.करण को अभिभूत कर देती है। वे 'भाव' कहलाती हैं। भरत ने भाव का विश्लेषण 'सवेदना' के आधार पर प्रस्तुत किया है । जबकि शारदातनय का भाव-विवेचन सुख-दु:ख की संवेदना के साथ-साथ सांख्योपचित दार्शनिक-धारा में भी प्रवाहमान हुआ है। केवल संवेदन आधार के द्वारा तो मनोवैज्ञानिक तत्त्व का दिग्दर्शन हो पाता है, किन्तु उसमें दार्शनिक चेतना का आस्वादन भारतीय आदर्श के गौरव को मण्डित कर देता है। सम्भवतः इसीलिए शारदातनय ने दार्शनिक दर्पण में भाव का प्रतिबिम्ब देखा होगा ।

यह निर्विवाद है कि 'भाव' की जितनी अधिक प्रधानता एव महत्ता शारदातनय ने प्रतिपादित की है, उतनी भरत एवं उनके परवर्त्ती आचार्यो मे से किसी ने नहीं की। नाट्य का प्रमुख तत्त्व 'रस' और उसका भी मूल 'भाव' है। अत. उसे नाट्य-तत्त्वों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्वीकार करना अतिशयोक्ति नही है । सम्भवतः इसी कारण शारदातनय भाव-वर्णन मे इतने अधिक तत्पर हुए होगे । यह तत्परता इतनी अधिक तीव्र हो उठी होगी कि उन्होने अपने ग्रथ का नामकरण भी 'भाव' के ही आधार पर करना अभीष्ट समझा होगा । यहाँ तक कि उन्होने भाव को ही सर्वाधिक प्रमुख तत्त्व स्वीकार करने के कारण ग्रथ का प्रथम अधिकार 'भाव-निर्णय' के रूप मे आरम्भ करना उचित समझा है । यदि भाव न हो तो वह स्थायी-भाव ही नही होता, जो रसत्व के पद पर प्रतिष्ठित होता है। वे विभावादि भी नहीं होते जो स्थायी-भाव को रस के प्रकर्ष तक पहुँचाने मे सहायक बनकर उपस्थित रहते है। भरत से पूर्व तथा परवर्त्ती विचारकों ने कभी भी भाव को रस, वस्तु, नेता आदि तत्त्वों से बढकर नही माना था। किन्तु शारदातनय को तो 'भाव' को लेकर ही ग्रथ का शुभारम्भ करना अभिप्रेय है। अत नाट्य-परम्परा मे उनकी यह भाव-विषयक सूक्ष्मावगाहिनी चिन्तनधारा सर्वथा मौलिक एव वैज्ञानिक दृष्टिकोण से भी मान्य है। उन्होंने भाव, अनुभावादि के सम्बन्ध में अनेक नवीन तथ्य प्रकट किये है; जैसे—उद्दीपन विभाव के आठ भेदों का वर्णन—ललित, ललिताभास, स्थिर, चित्र, रुक्ष, खर, निन्दित तथा विकृत । इनमें से श्रृंगार एवं हास्य के ललित एवं ललिताभास, वीर और अद्भुत के स्थिर एवं चित्र, रौद्र और करुण के खर और रुक्ष तथा भयानक का विकृत एव वीभत्स का निन्दित उद्दीपन विभाव है।[1] अनुभाव के उन्होंने चार विभाग किये है—मन-आरम्भानुभाव, वागारम्भानुभाव, गात्रारम्भानुभाव तथा बुद्धयारम्भानुभाव ।[2]

नाट्य में रस-पेशलता का सम्बन्ध भावात्मकता एवं अभिनयात्मकता से होता है। नाट्य-प्रयोग का प्रयोजन सहृदय को रसास्वादन कराना ही होता है। नाट्य-रस का यह आस्वादन अथवा मनोरजन उसी प्रकार का होता है जिस प्रकार जीवात्मा सासारिक भोगों का मनोरंजन करता है। रसास्वादन के विषय में शारदातनय ने एक मौलिक चिन्तन-धारा को प्रस्तुत किया है कि नाट्य-रस का आस्वादन भिन्न-भिन्न

---

१ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ ४-५ ।

२ **वही**, पृष्ठ ६ ।

रुचियों एवं प्रवृत्तियो के व्यक्ति भिन्न-भिन्न प्रकार से ही करते है । युवक व्यक्ति नाट्य-रस मे काम-भावना का अन्वेषण करता है । धनाभिलाषी अर्थ-लाभ को खोजता है । नीति-कुशल समीक्षा मे, शौर्यशाली शूरता मे, विद्वान पुरुष तात्त्विक एवं सात्त्विक बातो में सन्तोष प्राप्त करता है। इसी प्रकार वृद्ध धर्म के विवेचन मे; मूर्ख, बाला एव नारियाँ हास्य एव वेश-विन्यास आदि विषयों मे रस प्राप्त करते है ।[1]

रस के सम्बन्ध मे विशेष उल्लेखनीय है कि भरत की रस-दृष्टि नाट्योन्मुखी रही है । लेकिन परवर्त्ती आचार्यो की दृष्टि रस के प्रति धीरे-धीरे काव्योन्मुखी होती चली गई है । किन्तु शारदातनय ने दोनों दृष्टियों के महत्त्व को समझा है । इसीलिए उनकी सूक्ष्म-दृष्टि ने इन दोनो धाराओं का समन्वय करके रस को सुसज्जित किया है । उनके इस समन्वयात्मक दृष्टिकोण से उनके परवर्त्ती विद्वान प्रभावित हुए बिना नही रह सकते है ।

भरत के रस-निष्पत्ति सिद्धान्त के जो व्याख्याता भट्टलोल्लट, श्री शंकुक, भट्टनायक तथा अभिनवगुप्त आदि हुए हैं, उन सभी के दृष्टिकोण का शास्त्रीय विवेचन शारदातनय ने प्रस्तुत किया है । जिसमें यद्यपि मौलिकता तो नही है तथापि एक व्यवस्था है । विषय का विस्तार होने पर भी व्यवस्था का विद्यमान रहना एक महान गुण है । जो 'भाव-प्रकाशन' के अतिरिक्त अन्यत्र अधिक दृष्टिगोचर नही होता । यहाँ एक महत्त्वपूर्ण बात और है कि उन्होने रस का सर्वथा स्वतन्त्र रूप से वर्णन एवं महत्त्व स्थापित किया है । उसे किसी अन्य तत्त्व मे अन्तर्भूत करने की आवश्यकता उन्होंने नही समझी, उनके काव्य की प्रत्येक विधा में रस का उत्कर्ष आवश्यक रूप से होना चाहिए । रस ही तो काव्य का जीवन है ।

शारदातनय ने अपने ग्रन्थ मे रस के उस सिद्धान्त को ही प्रतिपादित किया है जो कि भरत एव कोहल आदि के द्वारा स्वीकार किया गया था तथा आनन्द-वर्धन, भट्टनायक, अभिनवगुप्त, भोज एव धनजय के द्वारा जिसका संशोधन किया गया था । शारदातनय की ही भाँति उनके परवर्त्ती आलोचक भी रस-सिद्धान्त के समर्थक थे । शारदातनय ने रस का सम्पूर्ण विवेचन नाट्य को दृष्टिपथ में रखकर तो किया ही है । साथ ही सम्पूर्ण काव्य-सृष्टि का रस-सिक्त पर्यालोचन भी किया है । उनके कथनो का महत्त्व परवर्त्ती साहित्य में इसलिए और भी बढ़ गया प्रतीत होता है कि उन्होने रस-सम्बन्धी मान्यताओं को प्रस्तुत करते समय वृद्ध-भरत, वासुकि, पद्मभू, नारद आदि अनेक आद्याचार्यों के मतो को उद्धृत किया है । जैसे—

(१) शारदातनय के कथनानुसार 'रस-सूत्र' मे व्यवस्थित 'रस-सिद्धान्त' आचार्य भरत के पूर्ववर्त्ती किसी आचार्य के नाट्यवेद से उदधृत किया गया है । इस सन्दर्भ में वे कहते है—

'एवं हि नाट्यवेदेऽस्मिन् भरतेनोच्यते रसः ।'[2]

यहाँ पर 'अस्मिन्' का अर्थ उपलब्ध नाट्यशास्त्र से ही है। अतः सिद्ध होता है कि आचार्य भरत से पूर्व ही रस-सिद्धान्त पल्लवित हो चुका था । इसी सन्दर्भ मे

---

१ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ २७७-२७८ ।

२ **वही**, पृष्ठ ३६, पंक्ति १३ ।

शारदातनय पुनः 'वृद्ध-भरत'[1] का रस-सिद्धान्त उद्धृत करते है। इससे तो यह सिद्ध होता है कि 'भरत से पूर्ववर्त्ती 'वृद्ध-भरत' तथा वृद्ध-भरत से पूर्ववर्त्ती किसी आचार्य ने 'रस' की उद्भावना प्रकट की है। हॉ, शारदातनय के अनुसार भरत व वृद्ध-भरत के पूर्ववर्त्ती किसी आचार्य के द्वारा ही रस-सिद्धान्त पल्लवित हुआ है। वह आचार्य 'वासुकि' हैं क्योंकि इसी सन्दर्भ मे एक प्रश्न उठता है कि 'क्या रस भावो से उत्पन्न होता है ?' इस प्रश्न के उत्तर मे शारदातनय 'वासुकि'[2] को उद्धृत करते है। पुन.,

"उत्पत्तिस्तु रसाना या पुरा वासुकिनोदिता।"[3]

(२) शारदातनय ने 'पद्मभू' की रस-सम्बन्धी मान्यता को शान्त-रस के प्रसग मे उद्धृत किया है। वे कहते है कि 'पद्मभू' 'शान्त-रस' को नवां-रस स्वीकार नही करते है, वे केवल आठ रस ही स्वीकार करते है,[4] क्योकि उनके मत मे 'शान्त-रस' मन की एक शान्त अवस्था है जो कि 'अहंकार' से नितान्त परे है, जबकि रसानुभूति 'अभिमानवृत्ति' से ही होती है तथा अभिनेता (नट) भी मन की शान्त अवस्था को रंगमंच पर प्रदर्शित नही कर सकता क्योकि यह विभाव और अनुभाव से रहित होती है और सभी विकारों से शून्य होती है।

(३) शारदातनय कहते है कि 'नारद' के अनुसार रस मनोविकार उपस्थित करते है और अहंकार तथा गुण विकारों की प्राप्ति के लिए मन की सहायता करते है तथा रसानुभूति कराते है। जब मन सत्त्व आदि गुणो के साथ सांसारिक वस्तुओ के सम्पर्क मे आता है तो एक विशेष प्रकार की अनुभूति कराता है, जो 'रस' कहलाती हैं। नारद 'शान्त-रस' को स्वीकार करते है, उनके अनुसार 'शान्त-रस' सासारिक सभी बाह्य-वस्तुओ से परे होकर सत्त्वोद्रेकता में अनुमति के योग्य होता है।[5]

इसी प्रकार, शारदातनय ने शृगार, हास्य, करुण, रौद्र, आदि रसों के अनेक विभाग करके रसास्वाद एवं रसाभास सम्बन्धी मतो की स्थापना मे भी नवीनता दिग्दर्शित की है।

नाट्य में रस का पोषण करने के लिए नाटकीय पात्रो की योजना की जाती है। शारदातनय ने पात्रों का वैविध्यपूर्ण चित्रण किया है। यद्यपि उन्होंने भी अभिनवगुप्त की भाँति सहृदय प्रेक्षक को रस का आश्रय माना है, नट (पात्र) को नही तथापि पात्रों की उपेक्षा नही की जा सकती क्योंकि किसी भी रस को सामाजिक के अन्तःकरण तक पहुँचाने के लिए पात्रों की परमावश्यकता है। भरत की भाँति शारदातनय ने भी पात्रों के चरित्र का विश्लेषण मनोवैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत किया है। उन्होने नायक-नायिका, उपनायक, विदूषक, विट, सखी, दूती आदि विभिन्न पात्रों को मानवप्रकृति की विविधता के आधार पर गति दी है। इस विषय मे वे भरत से प्रभावित हुए है। साथ ही अपनी मौलिक विचार-शक्ति का भी परिचय दिया है। जो परवर्त्ती आचार्यो को सदियों तक प्रभावित करती रही है। नायिका-वर्णन के प्रसंग में उन्होंने गणिका के

---

१ तथा भरतवृद्धेन कथितं गद्यमीदृशम्।—**भावप्रकाशन**, पृष्ठ ३६, पंक्ति १४।

२ इति वासुकिनाप्युक्तो भावेभ्यो रससम्भवः। —**भावप्रकाशन**, पृष्ठ ३७, पंक्ति १।

३ **वही**, पृष्ठ ४७, पंक्ति ११।

४ **वही**, पृष्ठ ४७।

५ **वही**, पृष्ठ ४७-४८।

प्रति विशेष सहानुभुति रखी है।[1] जो आज के समाज के लिए एक चुनौती है तथा उनकी उदार विचारधारा का एक ज्वलन्त उदाहरण है। अभी तक अधिकतर आचार्यों ने 'गणिका' की गणना कुछ हेय दृष्टि से की थी। किन्तु शारदातनय ने तो एक प्रकार से 'वेश्या' (अन्या) में 'स्वीया' से अधिक विशेषताओं का कथन किया है क्योकि 'स्वीया' केवल भोग की अभिलाषिणी ही होती है जबकि अन्या भोग के साथ-साथ धन की भी वाछा करती है। अन्या की इस अवस्था के लिए समाज ही तो दोषी है। वह भी नारी-सुलभ-अभिलाषाएँ लेकर ही इस संसार में जन्म लेती है। सम्भवतः यही दृष्टिकोण ध्यान मे रखते हुए शारदातनय ने तीन अवस्थायें—विरहोत्कण्ठिता, अभिसारिका एव विप्रलब्धा वर्णित की है। यह उनका सर्वथा मौलिक प्रयोग है, जो निस्सन्देह उपादेय एव ग्राह्य है।

नाटकीय-पात्रों में 'अभिनय' तत्त्व पुष्प मे सुगन्ध की भाँति स्वाभाविक रूप से विद्यमान रहता है। पात्रो की जो विभिन्न चेष्टाएँ होती हैं उनसे अभिनय को एक शक्ति प्राप्त होती है। आंगिक, वाचिक आदि अभिनयो के स्वरूप के विपय मे शारदातनय भरत से पूर्णत. सहमत दिखाई पड़ते है। पात्र अपने शील एव स्वभाव के अनुसार विविध अभिनयो का प्रदर्शन करते हुए भाव एव रस को पुष्ट करते है, साथ ही ब्रह्मानन्दसदृश आनन्दमय अनुभूति कराते हुए जीवन के बाह्याभ्यन्तर जगत् को शाश्वत सत्य से भर देते है।

पात्र योजना का विवेचन करते हुए ज्ञात होता है कि भरत की पात्र-योजना सर्वथा नाट्योन्मुखी थी। किन्तु धीरे-धीरे यह नाट्योन्मुखी दृष्टि रसोन्मेषी होती गई। शारदातनय ने अपने पूर्वकाल की परिवर्तित होती हुई परिस्थितियों को सूक्ष्म-निरीक्षण द्वारा समझा है। फलस्वरूप उन्होने अपने पात्र-विधान की कल्पना मे रसोत्कर्ष का विशेष ध्यान रखा है क्योंकि रस ही नाट्य है एवं नाट्य ही रस है। अतः नाट्य के प्रत्येक तत्त्व का परम उद्देश्य रस की चरम चर्वणा ही होना चाहिए। शारदातनय की इस विचारधारा के महत्त्व को शिंगभूपाल, भानुदत्तमिश्र, रूपगोस्वामी आदि अनेक विद्वानों ने समझा है।

इतिवृत्त-विवेचन के समय भी शारदातनय की गम्भीर प्रतिभा के दर्शन किये जाते है। पात्रो का अभिनय नाट्य के इतिवृत्त के आधार पर अभिनीत होता है। इतिवृत्त नाट्य का शरीर कहा जाता है। आत्मा के निवास के लिए शरीर की आवश्यता की भाँति नाट्य की आत्मा 'रस' को विद्यमान रहने के लिए इतिवृत्तरूपी नाट्य-शरीर की अपेक्षा रहती है। अतः इतिवृत्त की रचना भी नाट्य मे 'रस' की ही भाँति महत्त्वपूर्ण होती है। शारदातनय इस तथ्य से भलीभाँति परिचित दिखाई पड़ते हैं, तभी तो उन्होंने नाट्य-वस्तु का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है। फल-प्राप्ति के औचित्य को ध्यान में रखते हुए शारदातनय ने आधिकारिक एवं प्रासंगिक कथावस्तु का निर्देश किया है। इसी प्रसंग में उन्होंने भरत के मतानुसार ही पंच अर्थ-प्रकृतियों, पच अवस्थाओ एवं पंच सन्धियों का विस्तृत विवेचन निरूपित किया है। फल-प्राप्ति के हेतु किया गया नायक का पुरुषार्थ इन्हीं अर्थप्रकृतियों, अवस्थाओं, एव सन्धियों द्वारा प्रस्तुत होता चलता है अत. नाट्य-प्रयोग में इन तत्त्वों का विधान

---

१ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ ९५, पंक्ति २१; पृष्ठ ९६, पंक्ति १०।

अत्यन्त सुनियोजित होना चाहिए। शारदातनय ने चौसठ सन्ध्यंगों एवं इक्कीस सन्ध्यन्तरो का विशद वर्णन किया है, साथ ही नाट्य में उनकी उपादेयता भी स्वीकार की है। किन्तु उनका यह दृष्टिकोण भी रहा है कि इनमें से जो अंग कथावस्तु एवं रस के पोषक हों उनकी उसी अनुपात से नाट्य में सुयोजना कर लेनी चाहिए, शेष का अनावश्यक प्रवेश कर देने से कोई लाभ नहीं होता। इसी विचारधारा का अनुमोदन करने के कारण ही शारदातनयकृत वस्तु-विवेचन सैद्धान्तिक होने के साथ-साथ व्यावहारिक भी है।

शारदातनय द्वारा किये गये विविध निरूपणो की समीक्षा करते हुए उनकी एक पारदर्शिता की अनुभूति होती है और उसी से ज्ञात होता है कि शारदातनय रंगशाला की विद्याओं के धुरन्धर ज्ञाता थे। उन्होंने नाट्य की उपरंजक अन्य ललित कलाओं; यथा—संगीत, नृत्य, नृत्त आदि का भी भव्य विधान अपने ग्रन्थ में प्रस्तुत किया है। संगीत का नाट्य से स्वाभाविक सम्बन्ध है। गीत-वाद्य आदि की योजना के बिना नाट्य सर्वांग सुन्दर स्वीकार नहीं किया जा सकता। गीत तो नाट्य का प्राणाधायक तत्त्व है तथा बिना वाद्य-वृन्द के गीत भी रस है। अतः ये सभी एक-दूसरे की अपेक्षा रखते है। संगीत ही वह तत्त्व है जो नाट्य के अनुकूल रस की भावभीनी सृष्टि को सम्पूर्ण वातावरण में व्याप्त कर देता है। महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि शारदातनय ने संगीत जैसे सरस, सुकोमल, विषय को भी दार्शनिक दृष्टि से देखा है। यह उनका मौलिक एवं सफल प्रयास है। उनसे पूर्ववर्त्ती एवं परवर्त्ती ग्रन्थो मे संगीत को किसी ने भी दार्शनिक पृष्ठ-भूमि में नही देखा था। केवल संगीत एवं केवल नाट्य विषय पर अनेक ग्रन्थो का उपनयन होता रहा किन्तु नाट्य एवं संगीत का ऐसा सुखद संयोग कहीं भी दिग्दर्शित नही होता है। अतः निस्सन्देह शारदातनय की सराहना होनी चाहिए।

नाट्य में गीत-वाद्य आदि के अतिरिक्त नृत्य एव नृत्त का भी अपना अपूर्व महत्त्व है। इसीलिए शारदातनय ने नाट्य के उपकारक के रूप में नृत्य एवं नृत्त को स्वीकार किया है। उन्होंने ताण्डव एवं लास्य का सर्वांगीण निर्वचन किया है। ताण्डव एवं लास्य नाट्य के पूर्वरूप रहे है। शारदातनय ने नाट्य की उत्पत्ति भी शिव से स्वीकार की है।[1] अतः यह स्वाभाविक ही है कि उन्होने ताण्डव एवं लास्य का भेद-प्रभेदों सहित व्यवस्थित विवेचन प्रस्तुत किया है।

संगीत-तत्त्व की इस चर्चा के सन्दर्भ में एक और बात कहना भी अभीष्ट है कि यद्यपि भरत एवं उनके परवर्त्ती अनेक नाट्शास्त्रियों एवं संगीत-ग्रन्थकारों ने संगीत में स्वरों की स्थापना के लिए बाईस श्रुतियाँ स्वीकार की है, तथापि शारदातनय ने शरीर की चौबीस धमनियों के आधार पर श्रुतियों की संख्या भी चौबीस ही स्वीकार की है। उनके मत में त्वक् आदि[2] सप्त धातुओं से सप्त स्वर उत्पन्न होते है जो सभी नाभि से प्रारम्भ होकर २४ (चौबीस) धमनियों से सम्बन्धित होते हैं। जब प्राणादि पंचवायु को मन से संयमित किया जाता है तो धमनियों के संसर्ग से धातुओं में अग्नि प्रज्वलित होती है और अग्नि एवं धातु के सम्मिश्रण से 'नाद' उत्पन्न होता है।

---

१ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ ५५-५७, २८४-२८५।

२ त्वगसृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्लानि धातवः। —**वही**, पृष्ठ १८६, पंक्ति ८।

यही 'नाद' 'स्वर' कहलाता है । स्वरों के स्थान धातुओ के आधार पर स्थापित होत हैं । धमनियों के अनेक होने से 'ध्वनियाँ' अनेक होती है, यही 'ध्वनियाँ' 'श्रुति' कहलाती है और श्रुतियों की संख्या धमनियो की सख्या के आधार पर निर्धारित होती है ।[१] इस प्रकार शारदातनय ने अपनी मौलिक परिकल्पना का परिचय तो दिया ही है, साथ ही इससे उनके आयुर्वेद-विषयक ज्ञान का भी दिग्दर्शन स्वतः ही हो गया है ।

विभिन्न विषयों को लेकर उन्हें वर्णन करने की विधि जो शारदातनय ने अपनाई है, वह भी ध्यातव्य है । किसी भी विषय को लेकर उसका निरूपण करते समय शारदातनय पूर्व-परम्परा के आलोचकों के मतों को भी प्रस्तुत करने के लिए सदैव सजग रहते है । ऐसा करते हुए उन्होने बहुत ध्यानपूर्वक उन समस्त मतो के सूक्ष्म अन्तर को भी स्पष्ट कर दिया है । ऐसी उदार शैली को अपनाने के लिए शारदातनय प्रशंसा के पात्र है ।

शारदातनय ने भरत-निर्दिष्ट नाटक, प्रकरण आदि दस रूपको एव नाटिका का तो प्रतिपादन किया ही है, साथ ही बीस उपरूपकों का भी निरूपण किया है । उपरूपकों के वर्णन में शारदातनय ही सबसे अधिक सचेत प्रतीत हुए हैं । उनके द्वारा प्रतिपादित की गई उपरूपकों की संख्या सर्वाधिक है । उन्होने इन उपरूपकों को ही 'नृत्य-भेद' कहा है । ये उप-रूपक निम्नवत् हैं :

(१) **तोटक**—जहाँ देवता और मनुष्यों का सयोग रहता है तथा जिसके प्रत्येक अंक में विदूषक नही रहता है, वही 'तोटक' कहलाता है—यह 'हर्ष' का मत है । लेकिन अन्य विद्वान उक्त तोटक के अव्यापक लक्षण से सहमत नही है । नौ, आठ, सात या पाँच अंकों से युक्त, देवता और मनुष्यों के संयोग वाला 'तोटक' कहलाता है, ऐसा किसी एक आचार्य का मत है । कोई ऐसा कहते हैं कि दिव्य (देवता) और मनुष्य के संयोग वाला नाटकानुगामी 'तोटक' कहा जाता है । तोटक के उदाहरण हैं— 'मेनका-नहुष' (जिसमें नौ अंक हैं), 'मदलेखा' (जिसमें आठ अंक है) 'स्तम्भितरम्भकम' (जिसमे सात अक हैं) तथा 'विक्रमोर्वशीय' (जिसमें पाँच अंक है) ।[२] आचार्य भोज ने 'तोटक' को अपने द्वारा प्रतिपादित की गई उपरूपकों की सख्या (१४) में समाविष्ट नहीं किया है ।

(२) **नाटिका**—'नाटिका' नाटक तथा प्रकरण दोनों का संकीर्ण-रूप है । नाटिका का नायक प्रख्यात तथा धीरललित होता है । इसका अंगीरस 'शृंगार'-रस होता है और इसका वृत्त कवि-कल्पित होता है। इसमें कैशिकी-वृत्ति पाई जाती है जो अपने नर्म, स्फुञ्ज आदि से युक्त होती है । प्रधान-रूप से नायक की नायिका देवी होती है, इसी की भाँति नृपवशजा दूसरी नायिका भी होती है, किन्तु वह मुग्धा होती है । दोनों के प्रति नायक का मिश्रित प्रेम रहता है, प्रारम्भ में यह प्रेम नवीन होता है, धीरे-धीरे वह परिपक्व होता जाता है । लेकिन मुग्धा के समागम के विषय में नायक सदा महारानी के भय से शंकित रहता है—(फलतः उसकी राग-चेष्टा छिप-छिपकर चला करती है) । इसमें चार सन्धियाँ होती हैं—मुख, प्रतिमुख, गर्भ तथा उपसंहृति । अवमर्श सन्धि का इसमें लोप होगा । इसमें विट और पीठमर्द सहायक नही होते हैं ।

---

१ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ १८६-१८७ ।

२ **वही**, पृष्ठ २३८ ।

इसमें नायक का नर्म-सचिव विरूप या विदूषक होता है। यह नाटिका किसी नाटक-धर्म और उसके अविरोधी धर्म के आश्रित होती है। इसमें प्रायः स्त्री पात्रों की प्रधानता रहती है। यह देश, ऋतु-वर्णन आदि से सुशोभित होती है। इसमें चार अंक होते है। इसके विशेष उदाहरण 'रत्नावली' और 'प्रियदर्शिका' है।[1]

(३) **गोष्ठी**—गोष्ठी में कल्पित कथा होती है, एक अंक होता है, शिथिल शृंगार होता है और रूप-सौन्दर्य तथा लावण्य से युक्त पाँच, छः नायिकायें होती है। यह नौ या दस प्राकृत पुरुषों से अलंकृत (युक्त) होती है। इसमें गर्भ और विमर्श सन्धि नही होती है। यह उदात्त वचनों से रहित होती है। इसमें मृदुल कैशिकी वृत्ति पाई जाती है। शृंगार के अतिरिक्त यह अन्य रसों के आश्रित नहीं होती है, क्योंकि कन्दली (केली) हाथियों के समूह की आघात-पात्र नहीं होती है। गोपपति अर्थात् कृष्ण की विहार करती हुई बाल-गोष्ठी की यमलार्जुन आदि दानवों की वध-कृत जो चेष्टाएँ है, वह 'गोष्ठी' कहलाती है।[2]

(४) **सल्लापक**—सल्लापक की कथावस्तु इतिहास-प्रसिद्ध, कवि-कल्पित या मिश्र होती है। इसमें शृगार और हास्य रस नहीं होते हैं। इसके वीर तथा रौद्र-रस अंगीरस होते है तथा अन्य-रस अग-रस होते हैं। इसका नायक प्रायः शान्त-शत्रु और क्रोधी, पाखण्डी होता है। इसमें दैव तथा शत्रुजन्य कपट, युद्ध, नगरनिरोध और विद्रव होते है तथा सात्त्वती और आरभटी वृत्तियाँ पायी जाती है। इसमें तीन अंक होते है—द्वितीय अंक मे ताल-प्रचुरता होती है, तृतीय-अंक में कपट होता है और प्रथम अंक विद्रव-युक्त होता है। सल्लाप में प्रतिमुख सन्धि के अतिरिक्त अन्य चार सन्धियाँ होती हैं।[3]

(५) **शिल्पक**—शिल्पक में चार अंक होते हैं और चारों वृत्तियाँ होती है। यह हास्य-वर्जित रसों में युक्त होता है, इसका नायक ब्राह्मण होता है। हीनपुरुष उपनायक होता है। इसमें श्मशानादि का वर्णन होता है। इसमें (नायिका) पुनर्विवाहित कन्या या सचिव और ब्राह्मण से उत्पन्न कन्या होनी चाहिए; जैसे—माधव की मालती और कमल की कलावती। इसके सत्ताईस अंग होते है—उत्कण्ठा, अवहित्था, प्रयत्न, आशंसा, तर्क, संशय, ताप, उद्वेग, मूढ़ता, आलस्य, कम्पानुगति, विस्मय, साधन, उच्छ्वास, आतक, शून्यता, प्रलोभन, नाट्य, सम्फेट, आश्वास, सन्तोष, अतिशय, प्रमद, प्रमाद, युक्ति, प्रलोचना और प्रशस्ति।[4]

(६) **डोम्बी**—डोम्बी की भाणिका की तरह उदात्त नायिका होती है, इसमें एक अक होता है। इसमें प्रायः कैशिकी और भारती वृत्तियाँ होती है। इसके वीर और शृगार-रस होते हैं। इसमें सुन्दर नेपथ्य होता है। भाणिका के समान मन्दोत्साही-पुरुष नायिका होती है। इसके सात अंक होते हैं। विन्यास, उपन्यास, विबोध, साध्वस, अनुवृत्ति, संहार तथा समर्पण। डोम्बी में दस लास्यांगों का यथायोग प्रयोग होता है। इसका उदाहरण 'कामदत्ता' है।[5]

---

१ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ २४३-२४४।
२ **वही**, पृष्ठ २५६।
३ **वही**, पृष्ठ २५६।
४ **वही**, पृष्ठ २५७।
५ **वही**, पृष्ठ २५७-२५८।

विश्वनाथ ने शारदातनय के द्वारा कहे गये 'डोम्बी' के लक्षण एवं उदाहरण को 'भाणिका' नामक उपरूपक में उद्धृत किया है।[1] वे 'डोम्बी' उपरूपक को स्वीकार नही करते है, इसके स्थान पर 'विलासिका' नामक एक और अन्य उपरूपक को अपने द्वारा प्रतिपादित की गई उपरूपकों की संख्या (१८) में जोड़ते है। फलतः विश्वनाथ शारदातनय और आचार्य भोज के द्वारा कहे गये 'भाणिका' के लक्षण एवं उदाहरण के विषय में भी भिन्न हो जाते है।

(७) **श्रीगदित**—श्रीगदित मे विद्या के कारण प्रसिद्ध उदात्त नायक होता है। इसमें भारती-वृत्ति की अधिकता होती है और यह उदात्त वचनों से युक्त होता है। गर्भ और विमर्श सन्धियों से शून्य होता है। इसमे एक अक होता है और कही-कही इसमे विप्रलम्भ नामक (श्रृंगार) रस होता है। इसमे कुलागना सखियों के आगे अपने पति के शौर्य, धैर्य आदि गुणों का बखान करती है या फिर-फिर उसके गुणो की उलाहना करती है। इसमे विप्रलब्धा प्रिय-समागम की आशा से प्रिय के साथ भोग के उपयुक्त शृगार से सज्जित होकर चित्रलिखित-सी बैठी रहती है तथा इसमें उत्कण्ठिता या तो पाठ पढे या गीत गाये। इस प्रकार के श्रीगदित का उदाहरण है 'रामानन्द'।[2]

(८) **भाण**—भाण विष्णु, शंकर, सूर्य, भवानी (पार्वती), कार्त्तिकेय तथा प्रमथाधिप (शिव) की स्तुति से निबद्ध होता है। यह प्रायः उद्धतकरणों से युक्त, स्त्री-पात्रों से रहित होता है तथा शुद्ध वर्णनायुक्त होता है। गुणकीर्त्तन, गुण-प्रकाशन, गाथाओं से युक्त राजाओं की स्तुति से निबद्ध होता है। प्रायः गायन के साथ उदात्त उक्ति से युक्त तथा सहोक्ति से युक्त होता है। भाण कही-कहीं तीन, चार, पाँच विताल, सात परिछिन्न विश्राम तथा अर्थोद्ग्राहनिवारण सख्या से युक्त होता है। यह छैः प्रकार का होता है—शुद्ध, संकीर्ण, चित्र, उद्धत, ललित तथा ललितोद्धत। शारदातनय ने 'नन्दिमाली' नामक भाण की चर्चा की है। जिसका कि अन्तर्भाव 'भाण' के अन्तर्गत ही कर दिया गया है।[3] विश्वनाथ भाण को उपरूपक स्वीकार नही करते है। वे 'सट्टक' को उपरूपक स्वीकार करते हैं।

(९) **भाणिका**—प्रायः विष्णु के चरित से युक्त तथा स्वीकृत गाथा (छन्द), वर्ण और मात्राओ वाला भाण भी सुकुमारता के प्रयोग को दिखाने के कारण 'भाणिका' कहलाता है। यह (भाणिका) दिव्य चारीयों से रहित तथा ललित करणो से युक्त होती है। कहीं-कही इसमें बीच-बीच में ताल-सहित नृत्त होता है। यह रथ्या (गली) आदि से युक्त होती है। यह अर्थोद्ग्राह-निवारण, गायन, वसन्तोन्मत्त पात्रियों से युक्त, विश्रामों से रहित होती है। इसमें स्त्री-पात्र रहते हैं तथा ताल (संगीत) नही होता है। भाणिका मे नौ या दस वस्तुएँ नियम से होती हैं। पंचम स्थानों पर नवम आदि भग्न-ताल होता है। अन्य स्थानों पर उसका लय और ताल स्वेच्छा से किया जाता है। यह विविधवाक्य-विन्यास से युक्त होता है तथा सभ्यजन के उत्साह से युक्त

---

१ तुलना कीजिए—**साहित्यदर्पण**, पृष्ठ, ३०८-३१२ तथा **भावप्रकाशन**, पृष्ठ २५७-२५८।

२ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ २५८।

३ **वही**, पृष्ठ २५८-२६०।

होता है। भाणिका मे भाण की तरह ही लास्यांग तथा सन्धियाँ रहती है। भाणिका मे श्रृंगार-रस अगी-रस होता है, सुन्दर नेपथ्य होता है तथा सुन्दर नायिका होती है। इसमें गर्भ तथा अवमर्श के अतिरिक्त मुख, प्रतिमुख तथा निर्वहण—ये तीन सन्धियाँ पाई जाती है। यह अल्पवृत्त वाली होती है तथा इसमे विदूषक सहित पीठमर्द तथा विट पात्र होते है। यह पाचाली रीति से युक्त होती है। उदाहरणार्थ—'वीणावती'।[1]

(१०) **प्रस्थान**—प्रस्थान में कैशिकी वृत्ति होती है तथा हीन उपनायक होता है। यह सुरापान की केलिक्रीड़ा से युक्त होता है तथा इसमें लय, ताल आदि कलाएँ खूब होती हैं। इसमें दास आदि प्रकृति का नायक होता है तथा दो अक होते है। इसमे विट, चेट आदि नायक होते है। यह मुख तथा निर्वहण सन्धियों से युक्त होता है। उदाहरणार्थ—'श्रृंगार-तिलक'।[2]

(११) **काव्य**—काव्य मे हास्य तथा शृगार-रस होता है तथा सभी वृत्तियाँ पायी जाती है। यह भग्न ताल, द्विपदिका तथा खण्डमात्रा नामक गीतों से पूर्ण होता है। इसमे गर्भ तथा अवमर्श सन्धियाँ नहीं रहती है अन्य तीन सन्धियाँ रहती हैं। यह एक अंक-वाला होता है। इसमे कही-कही लास्य (नृत्य) पाया जाता है। यह विट, चेटी से युक्त होता है। इसकी नायिका कुलांगना होती है तथा नायक ललित और उदात्त प्रकृति का होता है। उदाहरणार्थ—'गौडविजय'। पुनः, काव्य में विप्र, अमात्य तथा वणिक्-उत्पन्न पुत्र व पुत्री नायक नायिका होते है। बीच-बीच में यह काव्य मुदित प्रमदा की भाषा व चेष्टाओं से युक्त होता है। या विट, चेट आदि की देश तथा भाषा से युक्त होता है। उदाहरणार्थ—'सुग्रीव-केलनम्'[3]। इस प्रकार काव्य दो प्रकार का होता है।

(१२) **प्रेक्षणक**—आचार्य भोज ने 'प्रेक्षणक' के दो भेद किये है—प्रेक्षणक और नर्तनक। लेकिन शारदातनय के अनुसार ये दोनों एक ही है। उन्होने शीर्षक में 'प्रेक्षणक' और लक्षण में 'नर्तनक' शब्द का प्रयोग किया है। उनके मत में—जब नर्तकी सुन्दर लय के साथ जिसके पदार्थ का अभिनय करती है, उसे 'नर्तनक' कहते हैं। पुनः नर्तनक उसे कहते हैं, जहाँ छलिक और समरथ्या से युक्त दो प्रकार का लास्य होता है और क्रमशः सुताल तथा चतुरश्र ताल का प्रवर्तन होता है। इसमें गर्भ और अवमर्श सन्धियों के अतिरिक्त अन्य तीन सन्धियाँ रहती हैं, तथा इसमें सभी वृत्तियाँ पाई जाती हैं। इसमें मागधी और शौरसेनी भाषा का प्रयोग होता है तथा यह रस और भाव से युक्त होता है। इसका नायक उत्तम तथा अधम प्रकृति का होता है। इसमें दो सन्धियाँ होती हैं। इसमें आरभटी और भारती वृत्तियाँ पाई जाती हैं कही-कही सात्त्वती वृत्ति भी पाई जाती है। उदाहरणार्थ—वालिवध और नृसिंह-विजय। पुनः, इसमें पूर्ण नेपथ्य पाठ या नान्दी का विधान किया जाता है। कही-कहीं इसमें गर्भ तथा अवमर्श सन्धियाँ रहती है, कहीं-कही चारों वृत्तियाँ पाई जाती हैं। कहीं नेपथ्य-वाक्य का प्रयोग होता है, इसमें सूत्रधार नहीं रहता। उदाहरणार्थ—त्रिपुरमर्दन।[4] साहित्य-दर्पणकार 'प्रेक्षणक' को 'प्रेंखण' कहते हैं।

---

१ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ २६२।
२ **वही**।
३ **वही**, पृष्ठ २६२-२६३।
४ **वही**, पृष्ठ २६३।

(१३, १४) **नाट्य-रासक और रासक**—वसन्त ऋतु को देखकर रागादि से स्त्रियों द्वारा राजाओं की चेष्टा का नृत्य किया जाता है, उसे 'नाट्य-रासक' कहते हैं।[1] जिसमें सोलह, बारह या आठ स्त्रियाँ पिण्डी बन्ध आदि की रचना द्वारा नृत्य करती है, उसको 'रासक' कहा जाता है। इसका नायक एक होता है; जैसे—गोपस्त्रियों के नायक हरि (श्रीकृष्ण)[2]।

(१५) **उल्लोप्यक**—जिसमे एक अक हो, जो अवमर्श-सन्धि से रहित हो और जिसमे निष्प्रवृत्ति-विधान हो तथा जिसमे शिल्पक (उपरूपक) के अंग हों और हास्य, शृंगार तथा करुण रस हों। उसे 'उल्लोप्यक' कहते है। यहाँ उज्ज्वल वेप की तरह चार उज्ज्वल नायक और नायिकाएँ होती है। उदाहरण के लिए—'देवी-महादेव' तथा 'उदात्तकुंजर'।[3] आचार्य भोज ने इस उपरूपक की चर्चा नही की है।

(१६) **हल्लीसक**—हल्लीसक मे सात, आठ, नौ या दस स्त्रियां रहती हैं। यह अनुदात्त उक्ति से युक्त होता है, इसमें एक अंक होता है तथा कैशिकी-वृत्ति पाई जाती है। इसमें मुख और विमर्श सन्धियाँ रहती है। इसमें गाने के साथ लास्य (नृत्य) यति, खण्ड, ताल, लय तथा विश्राम होते हैं। जैसे—'केलिरैवत'।[4] पुनः, इसमे एक या दो अंक होते है—प्रथम अंक गर्भ-सन्धि-रहित होता है तथा द्वितीय अंक मे मुख और अवमर्श सन्धियाँ रहती है और इसमें विप्र, क्षत्रिय या वेश्य-पुत्र. सचिव, सिद्ध, ललित, दक्षिण, प्रसिद्ध पाँच-छः नायक होते है।

(१७) **दुर्मल्लिका**—दुर्मल्लिका की प्रौढ़ व चतुर नायिका होती है। इसमें चार अंक होते हैं। गर्भ-सन्धि के अतिरिक्त चार सन्धियाँ होती है। प्रथम अंक तीन नाली (६ घड़ी) का और विट की क्रीड़ा से पूर्ण होता है। द्वितीय अंक पाँच नाली (१० घड़ी) का और विदूषक की क्रीड़ा से युक्त होता है। तृतीय अंक सात नाली (१४ घड़ी) का और पीठमर्द के विलास से युक्त होता है। चतुर्थ अंक दस नाली (२० घड़ी) का होता है। इसमे विटादि की तिगुनी क्रीड़ा होती है। जिसमें कोई दूती एकान्त में ग्राम्य (अश्लील) कथाओं द्वारा युवक तथा युवतियों के प्रेम का वर्णन और उनके चौर्यरत का प्रकाशन करती है। उसके विषय में सलाह करती है, नीच जाति की होने से धन माँगती है। धन के मिल जाने पर भी और अधिक धन चाहती है, उसको 'दुर्मल्लिका' नाम से जाना जाता है। इसी 'दुर्मल्लिका' को दूसरे कोई 'मत्त-ल्लिका' कहते हैं।[5]

(१८) **मल्लिका**—मल्लिका का सम्भोग-शृंगार अंगीरस होता है, इसमें कैशिकी वृत्ति पायी जाती है। यह एक या दो अंक वाली होती है तथा विदूषक और विट की क्रिया से युक्त होती है। यह गाथा (छन्द), द्विपदी (संगीत) तथा रथ्यावासक ताल से युक्त होती है। इसमे पहले अलक्ष्य कथा रहती है बाद में सलक्ष्य कथा। इसमें गर्भ और अवमर्श के अतिरिक्त तीन सन्धियाँ रहती है। जिसमें मणि-

---

१ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ २६४।
२ **वही**, पृष्ठ २६३-२६६।
३ **वही**, पृष्ठ २६६।
४ **वही**, पृष्ठ २६६-२६७।
५ **वही**, पृष्ठ २६७।

कुल्या (मणिनदी) में रहने वाले जल की तरह पूर्व वस्तु दिखाई नहीं पड़ती है, बाद में दिखाई पड़ती है, उस मणिकुल्या को 'मल्लिका' जानना चाहिए ।[1] विश्वनाथ इस उपरूपक को स्वीकार नही करते है । वे 'प्रकरणिका' नामक उपरूपक की कल्पना करते हैं।

(१९) **कल्पवल्ली**—'कल्पवल्ली' हास्य तथा शृंगार-रस और भाव से युक्त होती है । इसका उदात्त नायक होता है और पीठमर्द उपनायक होता है । इसमें वासकसज्जा (नायिका) तथा अभिसारिका नायिका होती है । यह द्विपदी, खण्ड-गीत, रथ्यावासकताल, तीन प्रकार के लय तथा दस प्रकार के लास्य (नृत्य) से युक्त होती है। इसमें मुख, प्रतिमुख तथा निर्वहण सन्धियाँ पाई जाती है । यह उदात्त वर्णन से उत्कृष्ट होती है । उदाहरण के लिए—'माणिक्यवल्लिका' ।[2] विश्वनाथ ने इस उपरूपक की कोई चर्चा नही की है ।

(२०) **पारिजातक**—पारिजात-लता एक अंक वाली होती है, तथा मुख और निर्वहण सन्धियों से युक्त होती है । यह वर्ण, मात्रा, खण्ड, ताल और गाथा (छन्द) से युक्त होती है । इसके वीर तथा शृगार-रस होते है तथा देवता और क्षत्रिय नायक होते है । इसकी कलहान्तरिता नायिका, उदात्तनायिका अथवा भोगिनी स्वीया-गणिका-नायिका होती है । यह तीन अपसार सहित चित्रकथा तथा गेय से युक्त होती है। कही-कही विदूषक की क्रीड़ा और मनोहर हास से युक्त होती है। जैसे—'गंगातरंगिका' ।[3] विश्वनाथ ने इस उपरूपक की कोई भी चर्चा नही की है ।

शारदातनय द्वारा किया गया नाट्य-प्रयोग के विविध प्रकारों का विवेचन परवर्ती युग के लिए सर्वथा स्पष्ट एवं ग्राह्य है। नाट्य-प्रयोग में अनेक नाट्य-प्रयोक्ताओं; यथा—सूत्रधार, नान्दी—पाठक, नट, शैलूष, पारि-पार्श्विक, कुशीलव आदि की आवश्यकता होती है । इन सभी का विस्तृत विवेचन जैसा भावप्रकाशन में हुआ है वैसा अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता है । नाट्य-प्रयोग के लिए विविध नाट्य-मण्डपों की आवश्यकता होती है । शारदातनय ने चतुरस्र आदि जिन नाट्य-मण्डपो का उल्लेख किया है, वह सब तो भरत के मतानुसार ही है लेकिन इनके अतिरिक्त शारदातनय ने 'वृत्त' नामक जिस नाट्य-मण्डप के विधान का निर्देश किया है वह नूतन कल्पना का द्योतक है ।

इस प्रकार शारदातनय का सम्पूर्ण नाट्य-विधान अनेक नवीनताओ से ओत-प्रोत है, जो भारतीय नाट्यशास्त्र के लिए अपूर्व देन सिद्ध हो सकता है। नाट्य-सम्बन्धी कोई भी ऐसा विषय शेष नही रहा है जिसका प्रतिपादन करना शारदातनय से रह गया हो। अपितु उन्होंने तो नाट्यपरक सामग्री के अतिरिक्त प्रसंगवश काव्य-शास्त्र, संगीतशास्त्र, आयुर्वेदशास्त्र एवं दर्शनशास्त्र विषयक सामग्री का भी आकलन एवं विवेचन प्रस्तुत किया है । उनका 'भावप्रकाशन' एक ऐसा ग्रन्थ है जो नाट्य के सैद्धान्तिक पक्ष के साथ व्यावहारिक पक्ष का भी वैज्ञानिक विवेचन प्रतिपादित करता है और इसीलिए वह आज के वैज्ञानिक युग मे नाट्यशास्त्रियों को सहज उपादेयता का सन्देश देता है ।

---

१ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ २६७-२६८ ।

२ **वही**, पृष्ठ २६८ ।

३ **वही**, पृष्ठ २६८ ।

इस प्रकार आचार्य शारदातनय एव उनके ग्रन्थ भावप्रकाशन मे भरत जैसी व्यापकता एवं गरिमा के सुभगदर्शन होते है। भावप्रकाशन में पूर्वकथित वस्तुओं का भी परिष्कृत रूप से प्रतिपादन हुआ है फिर मौलिक उद्भावनाओं का तो कहना ही क्या ? शारदातनय ने अपनी परिनिष्ठित भाषा शैली में एक गम्भीर वातावरण की सर्जना की है जिसमे आनन्दात्मक कवित्व के भी दर्शन होते चलते है। महान् से महान् आचार्यो की मान्यताओं का समावेश उन्होंने अपने ग्रन्थ में सहज ही मे कर लिया है। इससे उनके अपने व्यक्तित्व पर कोई आघात नहीं हुआ है, अपितु इससे यह स्पष्ट होता है कि उनमे साम्प्रदायिक पक्षपात लेशमात्र भी नहीं था। जहां जिसकी जो बात रुचे, उसे अपने ढंग से कह देना आपत्तिजनक नहीं होता और फिर उसको व्यवस्थित रूप देते हुए अपने मौलिक निर्णयों का प्रतिपादन करना तो और भी सुन्दर है। ऐसी ही अपूर्व सुन्दरता के दर्शन 'भावप्रकाशन' में किये जाते है जिससे शारदातनय 'आचार्यत्व' की प्रतिष्ठित पदवी पर सुशोभित हो उठने है।

भावप्रकाशन के विवेचनात्मक अध्ययन में शारदातनय की जिन अभूतपूर्व विशेषताओं का परिचय प्राप्त हुआ है, उनमे से प्रमुख है—वक्तव्य की अद्भुत गरिमा, सुस्पष्टता, विषयावगाहिता, गम्भीरता, प्रवाहात्मकता, समन्वयात्मकता, चेतना की नवीनता, सूक्ष्मरूपात्मकता, उपलब्धियो की प्रचुरता, दार्शनिक-शालीनता, गौरवान्वित प्रगल्भता, सर्वागीणता, परिनिष्ठता एव मौलिकता आदि। शारदातनय को वह युग प्राप्त था, जब विभिन्न सम्प्रदायों की विविध मान्यताएँ अव्यवस्थित सी हो रही थीं। उपर्युक्त वर्णित अपनी समस्त विशिष्टताओं के बल पर ही शारदातनय ने उन समस्त मान्यताओं की परिमार्जना अपने ग्रन्थ मे व्यवस्थित की, जिसने नाट्यशास्त्रीय परम्परा में 'भावप्रकाशन' के लिए अक्षुण्ण महत्त्व का सृजन किया। इस ग्रन्थ का विवेचन करते हुए शारदातनय के पारदर्शी व्यक्तित्व मे से उनके विविध रूपों के दर्शन किये जाते है, यथा—उनका प्रगल्भ आचार्यत्व, उनका सरस कवि-हृदय तथा उनका अद्भुत दार्शनिक रूप आदि।

**भावप्रकाशन में उद्धृत नाट्याचार्य**

**सदाशिव**—भारतीय पौराणिक परम्परा मे 'सदाशिव' का नाम सभी विद्याओं और सभी कलाओं के उद्गम-स्रोत के रूप में जाना जाता है। अतः शारदातनय[1] और शार्ङ्गदेव[2] ने अपनी उपजीव्य महाविभूतियों मे 'सदाशिव' का निर्देश सर्वप्रथम किया है। शारदातनय ने रस के स्वरूप एवं उत्पत्ति के प्रसग में सदाशिव के मत का भी उल्लेख किया है।[3] दशरूपककार धनजय ने 'सदाशिव' के मत की चर्चा की है।[4] अभिनव-भारती मे ब्रह्मा, भरत के साथ सदाशिव के मत की भी चर्चा है।[5] अस्तु प्रतीत होता है कि सदाशिव ने कोई नाट्य-ग्रन्थ लिखा होगा।

**ब्रह्मा, पद्मभू**—नाट्यशास्त्र के अनुसार ये सर्वपितामह ब्रह्मा हैं, जिन्होंने

१ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ २, पक्ति १६।

२ **संगीतरत्नाकर**, अ. स., पृष्ठ १२, १-१५।

३ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ १५२, पंक्ति १७।

४ **दशरूपक**—४, ३७-३८।

५ **अभिनवभारती**, पृष्ठ ६, गा. ओ. सी. नं ३६।

देवासुर संग्राम में थके हुए देवताओं के लिए नाट्य-वेद का आविष्कार मनोरंजनार्थ किया।[१] शारदातनय के अनुसार ब्रह्मा ने नाट्य-वेद भगवान शंकर के शिष्य नन्दिकेश्वर से पढा था।[२] शार्ङ्गदेव के अनुसार सप्तगीतों के प्रवर्त्तक[३] तथा शुष्काक्षरों के नियोजक ब्रह्मा[४] ही है। अतः ब्रह्मा भी किसी नाट्य-ग्रन्थ के रचयिता प्रतीत होते हैं।

शारदातनय ने शान्त-रस के प्रसंग में 'पद्मभू' के मत को उद्धृत किया है।[५] साथ ही इनका उल्लेख अभिनवगुप्त ने अपनी अभिनवभारती मे भी किया हैं। 'पद्मभू' सम्भवत. ब्रह्मा का ही पर्यायवाची है।

**वाग्देवी**—शारदातनय ने अपनी उपजीव्य महाविभूतियो मे 'वाग्देवी' का नामोल्लेख किया है।[६] भावप्रकाशन में इनका कोई उद्धरण नही मिलता। अस्तु इनके द्वारा नाट्य-ग्रन्थ लिखे जाने का अनुमान का कोई पुष्ट आधार नही प्राप्त होता।

**शिव, शंकर**—शारदातनय के अनुसार नाट्य वेद के आविष्कारक 'शिव' है, जिन्होने नन्दिकेश्वर को नाट्य-वेद पढ़ाया।[७] उन्होंने अपने 'भावप्रकाशन' मे एक स्थान पर 'शंकर' के मत का भी उल्लेख किया है।[८] सम्भव है, शारदातनय द्वारा प्रयुक्त 'शंकर' शब्द शिववाची हो। नाट्यशास्त्र के अनुसार भगवान शंकर ने अंगहारों की रचना की और तण्डु को शिक्षित किया। ब्रह्मा के द्वारा आविष्कृत नाट्य के पूर्वरंग को सुशोभित करने के लिए भगवान शंकर ने भरत को तण्डु के द्वारा नृत्य की शिक्षा दिलायी।[९] कहा जाता है कि 'शिव-पार्वती-संवाद' नामक कोई ग्रन्थ शिव-मत का प्रतिपादक था, जो आज अनुपलब्ध है। इससे प्रतीत होता है कि शिव ने नाट्य पर कोई ग्रन्थ अवश्य लिखा होगा।

**गौरी, पार्वती**—शारदातनय ने अपनी उपजीव्य महाविभूतियों में 'गौरी' और 'पार्वती' का नामोल्लेख किया है।[१०] भावप्रकाशन मे इनका कोई उद्धरण नही मिलता। 'गौरी' सम्भवतः 'पार्वती' का ही पर्यायवाची है। शार्ङ्गदेव के अनुसार पार्वती ने लास्य का आविष्कार किया और बाणसुर की पुत्री उषा को सिखाया। उषा से यह लास्य द्वारिका की स्त्रियों तक पहुँचा और तत्पश्चात लोक में प्रचलित हुआ।[११] नन्दिकेश्वर के 'भरतार्णव' मे पार्वती-मत का ग्रन्थ 'भरतार्थ-चन्द्रिका' बताया गया है।[१२] अतः हो सकता है कि पार्वती ने भी किसी नाट्य-ग्रन्थ की रचना की हो।

१ **नाट्यशास्त्र**, प्रथम अध्याय।
२ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ ५५-५, २८४-२८५।
३ **संगीतरत्नाकर**, अ. स., तालाध्याय, पृष्ठ २६।
४ **वही**, पृष्ठ १२६।
५ **भाव-प्रकाशन**, पृष्ठ ४७, पंक्ति १०।
६ **वही**, पृष्ठ २।
७ **वही**, पृष्ठ ५५-५७, २८४-२८५।
८ **वही**, पृष्ठ ५७, पक्ति १०।
९ **नाट्यशास्त्र**, चतुर्थाध्याय।
१० **भावप्रकाशन**, पृष्ठ २।
११ **संगीतरत्नाकर**, अ. स., नर्तनाध्याय, पृष्ठ ३।
१२ **भरतार्णव**, दशम अध्याय।

**नन्दिकेश्वर**—नन्दिकेश्वर का उल्लेख संगीत के ग्रन्थो में नन्दिन्, नन्दीश तथा नन्दिभरत के नाम से पाया जाता है। नन्दि के नाम से 'नन्दिभरत' नामक कृति मैसूर तथा कुर्ग की हस्तलिखित सूची में है। संगीत-सुधाकार रघुनाथ ने 'नन्दीश्वर-संहिता' नामक ग्रन्थ का उल्लेख किया है। मद्रास स्थित ग्रन्थ-सूची में नन्दिभरत के नाम से भरतार्थचन्द्रिका नामक ग्रन्थ उपलब्ध है। आचार्य अभिनवगुप्त ने 'तण्डु' शब्द नन्दी या नन्दिकेश्वर का ही नाम या पर्याय माना है। इससे स्पष्ट है कि नन्दी ही तण्डु थे, जिसने भरत को उस ताण्डव नृत्य का शिक्षण दिया था। जो उन्हें शिव से साक्षात् प्राप्त हुआ था।[1] अभिनवभारती में अभिनय[2] तथा पुष्कर-वाद्य[3] के सम्बन्ध में 'नन्दिमत' का उल्लेख हुआ है। अभिनव का कथन है कि नन्दिगत का ग्रहण उन्होंने आचार्य कीर्त्तिधर के अनुसरण पर किया है—

"यत्कीर्तिधरेण नन्दिकेश्वरमतमात्रागमित्वेन दर्शित तदस्माभिः साक्षान्न दृष्ट तत्प्रत्ययात्त लिख्यते संक्षेपतः।"[4]

शारदातनय ने नाट्य-वेद के निर्माण में नन्दिकेश्वर-ब्रह्मा-भरत—इस परम्परा का उल्लेख किया है।[5] संगीत-रत्नाकर मे वाद्याध्याय में नन्दिकेश्वर द्वारा प्रोक्त ४ हस्तपाटों का विवरण उपलब्ध है।[6] यह भी कल्पना की गयी है कि अभिनयदर्पण के रचयिता नन्दिकेश्वर से इनका व्यक्तित्व अभिन्न होगा। विद्वानो के अनुसार नन्दि का उपलब्ध ग्रन्थ 'अभिनयदर्पण' भरतार्णव नामक बृहत्-ग्रन्थ का संक्षिप्त रूपान्तर है। नन्दिकेश्वर के अन्य ग्रन्थों मे' नन्दिभरतोक्त संकरहस्ताध्याय' नामक ग्रन्थ हस्तलिखित रूप में अपूर्ण प्राप्त होता है। नाट्यशास्त्र के का. मा. संस्करण के अनुसार 'नाट्य-शास्त्र' नन्दि तथा भरत की संयुक्त रचना है।[7] मद्रास सरकार द्वारा प्रकाशित संस्कृत हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची में नन्दिकेश्वर के नाम से 'ताल-लक्षण' नामक ग्रन्थ का उल्लेख हुआ है। इन आधारों पर स्पष्ट है कि आचार्य नन्दिकेश्वर अनेक विषयों के ज्ञाता थे और उन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की थी।

**वासुकि**—शारदातनय ने रसोत्पत्ति के प्रसंग मे 'वासुकि' के मत को उद्धृत किया है।[8] इनके बारे में अन्यत्र कहीं कोई उल्लेख प्राप्त नही होता। 'संगीत-मकरन्द' में प्रयुक्त 'व्याल' सम्भवतः 'वासुकि' का पर्यायवाची हो क्योंकि 'वासुकि' एक प्रसिद्ध नाग है। अस्तु प्रतीत होता है कि वासुकि ने कोई नाट्य-ग्रन्थ लिखा होगा।

**नारद**—भरत के नाट्यशास्त्र में 'गान्धर्व' का विवेचन नारद-मत के अनुसार हुआ है।[9] महाभारत के शान्ति-पर्व में नारद को गान्धर्व-वेद का प्रवर्त्तक बताया गया

---

१ **अभिनवभारती**, भाग १, पृष्ठ ८८, गा. ओ. सी., ३६।

२ **वही**, पृष्ठ १६९।

३ **वही**, भाग ४, पृष्ठ ४१४, गा. ओ. सी. न. १४५।

४ **वही**, पृष्ठ १२०।

५ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ २८४-२८५।

६ **संगीतरत्नाकर**, अ. स., वाद्याध्याय, पृष्ठ ४०३।

७ **पुष्पिका**, ३६वाँ अध्याय।

८ **भावप्रकाशन**,, पृष्ठ ३७, ४७।

९ **नाट्यशास्त्र** ३१, ४८४।

है।[1] रामायण, हरिवंश-पुराण आदि में नारद का उल्लेख गान्धर्व-विशारद के रूप मे हुआ है। शारदातनय के भावप्रकाशन में 'रस' के प्रसंग में 'नारद' के मत को उद्धृत किया गया है।[2] इस प्रकार भरतादि प्राचीन ग्रन्थकारो के प्रामाण्य पर यह प्रबल अनुमान किया जा सकता है कि उनके समक्ष नारद का गान्धर्व-विषयक लक्षण-ग्रन्थ अवश्य उपलब्ध रहा है।

**व्यास**—शारदातनय ने नाट्योत्पत्ति के प्रसंग मे 'व्यास' के मत को उद्धृत किया है।[3] दशरूपककार धनंजय ने 'व्यास' से मत की चर्चा की है। अतः व्यास किसी नाट्य के भी रचयिता प्रतीत होते है।

**कुम्भोद्भव (अगस्त्य)**—शारदातनय ने अपनी उपजीव्य महाविभूतियों में 'कुम्भोद्भव' का नामाल्लेख किया है।[4] भावप्रकाशन में इनका कोई उद्धरण नही मिलता। नाट्यशास्त्र काशी-सस्करण के अनुसार 'अगस्त्य' ने आचार्य भरत से नाट्य-शास्त्र का श्रवण किया था। द्रविड़-भाषा का 'ताल-समुद्र' नामक एक ग्रन्थ अगस्त्य की रचना कहा जाता है। ताल के सम्बन्ध में इतना विस्तृत विवेचन और कहीं नही प्राप्त होता। अस्तु, अगस्त्य किसी नाट्य-ग्रन्थ के रचयिता प्रतीत होते हैं।

**द्रोहिणि**—शारदातनय के भावप्रकाशन में द्रोहिणि का नाट्य-सम्बन्धी उद्धरण प्राप्त होता है।[5] दशरूपककार धनंजय ने द्रोहिणि-मत का उल्लेख किया है। अतः प्रतीत होता है कि द्रोहिणि ने भी कोई नाट्य-ग्रन्थ लिखा होगा।

**आञ्जनेय (मारुति)**—शारदातनय ने भावप्रकाशन मे 'आञ्जनेय' के नाट्य सम्बन्धी विचार को उद्धृत किया है।[6] पुनः उन्होने 'मारुति' के नाम से नाट्य-सम्बन्धी विचार को प्रस्तुत किया है।[7] सम्भव है, शारदातनय द्वारा प्रयुक्त 'मारुति' शब्द आञ्जनेय-वाची हो। संगीत-रत्नाकर के टीकाकार कल्लिनाथ ने 'आञ्जनेय-मत' की चर्चा की है। सगीत-सुधाकार रघुनाथ ने आञ्जनेय-मत का उल्लेख किया है। मध्ययुगीन दामोदर पडित के 'संगीत-दर्पण' में रागरागिनी-वर्गीकरण के लिए आञ्जनेय-मत का 'हनुमान' के जन्म से उल्लेख हुआ है। आञ्जनेय के सिद्धान्तों का प्रति-पादक ग्रन्थ 'आञ्जनेय-संहिता' कहा जाता है, इसे ही कुछ लेखकों ने 'हनुमत्सहिता' कहा है। इसी का एक नाम 'भरत-रत्नाकर' भी कहा जाता है। इन आधारों पर स्पष्ट है कि आञ्जनेय ने किसी नाट्य-ग्रन्थ की रचना की थी।

**वृद्ध-भरत**—शारदातनय ने रस-सम्बन्धी मान्यताओं को प्रस्तुत करते समय 'वृद्ध-भरत' के मत को उद्धृत किया है।[8] उनके अनुसार नाट्यशास्त्र के दो संस्करण है—नाट्यवेद एवं नाट्यशास्त्र। नाट्य-वेद में बारह-हजार श्लोक है और नाट्य-

---

१ **महाभारत**, शान्तिपर्व, १६८, ५८।

२ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ ४७-४८।

३ **वही**, पृष्ठ ५५, २५१।

४ **वही**, पृष्ठ २।

५ **वही**, पृष्ठ २३९।

६ **वही**, पृष्ठ २५१।

७ **वही**, पृष्ठ ११४।

८ तथा भरतवृद्धेन कथितं गद्यमीदृशम्।—**भावप्रकाशन**, पृष्ठ ३६।

शास्त्र मे छ. हजार श्लोक है ।[1] शारदातनय का अभिप्राय है कि 'नाट्य-वेद' 'वृद्ध-भरत' की रचना है तथा नाट्यशास्त्र 'भरत' की रचना है। म. म. रामकृष्ण कवि का भी कथन है कि 'द्वादश-साहस्री-सहिता' जिसका कि नाम नाट्य-वेद था, 'वृद्ध-भरत' की रचना है और 'षट्-साहस्री-संहिता' आचार्य 'भरत' की रचना है ।[2] इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि वृद्ध-भरत ने नाट्य-वेद की रचना की थी ।

**भरत**—आचार्य भरत का व्यक्तित्व साहित्य में सर्वत्र व्याप्त है। नाट्य-शास्त्र के निर्माता के रूप मे उनका नाम विश्व-साहित्य मे अमर हो चुका है, लेकिन प्रश्न यह है कि 'भरत' एक थे या अनेक ? इस सम्बन्ध मे प्राचीन भारतीय साहित्य में अनेक सम्भावनाएँ दृष्टिगोचर होती हैं ।

नाट्यशास्त्र के अनुसार भरत ने ब्रह्मा से नाट्य-वेद की उपलब्धि की तथा अपने एक सौ पुत्रों को नाट्य-वेद की शिक्षा दी, जिसमें से अनेक ने नाट्यशास्त्र विषयक ग्रन्थों की रचनाएँ की थी। भरत के लिए प्रयुक्त एक वचनान्त (भरतम्) शव्द इसी के समर्थक हैं। नाट्यशास्त्र के ३६वें अध्याय मे 'भरत' शव्द का बहुवचनान्त प्रयोग (भरतानाम्) अभिनेता, सूत्राधार आदि के लिए भी हुआ है। इस प्रकार के प्रयोग से ही संभवत· परवर्त्ती आचार्यो में इस विचार का प्रसार हुआ हो कि भरत एक नहीं अनेक थे।

भावप्रकाशन मे 'भरत' एक व्यक्ति की अपेक्षा 'भरतादि' अर्थात् 'भरत' जाति का सकेत प्राप्त होता है। इस ग्रंथ में 'भरत' तथा उसके लिए प्रयुक्त सर्वनाम शव्द प्रायः बहुवचनान्त हैं। तृतीय एवं दशम अधिकारों में 'भरत' शब्द का बहुवचनान्त प्रयोग कम से कम पच्चीस बार हुआ है। इससे यह सिद्ध होता है कि प्राचीन आचार्यो के बीच ऐसी परम्परा विद्यमान थी, जो नाट्यशास्त्र के प्रणयन का श्रेय एक भरत को न देकर व्यास की तरह एक 'भरतादि' परम्परा को देना उचित समझती थी,[3] जिसका प्रभाव शारदातनय पर पड़ा है।

आचार्य अभिनवगुप्त के समय मे भी यही भावना व्याप्त थी कि नाट्यशास्त्र भरतादि-प्रणीत है। आचार्य अभिनवगुप्त ने इस भावना का खण्डन किया कि नाट्य-शास्त्र का प्रथम प्रणयन सदा-शिव, फिर ब्रह्मा तथा अन्त में 'भरत-मुनि' ने किया था। अतः इसके प्रणेता क्रमशः आचार्य सदाशिव, ब्रह्मा तथा भरत थे ।[4]

अस्तु ! नाट्यशास्त्र में 'भरत' शव्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में हुआ है, अतः यह प्रश्न अनिर्णीत सा ही रह जाता है कि नाट्यशास्त्रकार 'भरत' एक विशिष्ट व्यक्ति थे या उसके प्रणयन का श्रेय अनेक भरतों को दिया जा सकता है। इतना तो निश्चित प्रतीत होता है कि इस सभी भरतों के मध्य 'भरत' एक विशिष्ट व्यक्ति की सत्ता है, जिसे ही नाट्यशास्त्र के प्रणयन का श्रेय प्राप्त है।

---

१ एवं द्वादशसाहस्रैः श्लोकैरेकं तदर्धतः ।
षड्भिः श्लोकसहस्रैर्यो नाट्य-वेदस्य संग्रह. ।
भरतैर्नामतस्तेषां प्रख्यातो भरताह्वयः । —**भावप्रकाशन**, पृष्ठ २८७ ।

२ **नाट्यशास्त्र**; भूमिका, पृष्ठ १६; गा. ओ. सी. न. ३६वाँ ।

३ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ २०६, पंक्ति ५, २५५ पंक्ति १ ।

४ **अभिनवभारती**, पृष्ठ ९ ।

**कोहल**—नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय में भरत के शत-पुत्रों मे कोहल का मूर्धन्य स्थान है। नाट्यशास्त्र के अन्तिम अध्याय में कोहल को स्वय भरत ने यह सम्मान दिया है कि नाट्यशास्त्र के सम्बन्ध में शेष विचारों का वह कथन करेंगे।[1] कोहल ने सम्भवतः संगीत, नृत्य तथा अभिनय के सम्बन्ध में शास्त्र की रचना की थी। अभिनवगुप्त ने कोहल का प्रायः उल्लेख किया है और कोहल को उद्धृत भी किया है। इसके अतिरिक्त कोहल के विचारों का उल्लेख 'भावप्रकाशन'[2] और 'नाट्य-दर्पण'[3] में रूपकों की सख्या एवं अन्य प्रसगों में किया गया है। 'रसार्णवसुधाकर'[4] मे कोहल का उल्लेख भरत तथा दत्तिल के साथ नाट्य-शास्त्रकार के रूप मे पाया जाता है। प्रायः समकालीन 'रसरत्न प्रदीपिका' मे उनका निर्देश 'संगीत-शास्त्रकार' के रूप में हुआ है 'संगीत-रत्नाकर'[5] मे कोहल का नामोल्लेख प्राचीन सगीताचार्यो मे हुआ है। 'कुट्टनीमत'[6] में भरत के साथ ही कोहल का उल्लेख हुआ है। मतंग के 'बृहद्देशी' मे कोहल के संगीत विषयक उद्धरण अवतरित है। 'बाल-रामायण'[7] में कोहल नाट्याचार्य के रूप में प्रस्तुत हो नाट्य की प्रस्तावना प्रस्तुत करते है। इन सभी विवरणों से स्पष्ट है कि कोहल भरत मुनि की परम्परा के सर्वाधिक प्रशसित आचार्य एवं नाट्य-प्रयोक्ता रहे होंगे।

ऊपर जिन आचार्यो की चर्चा की गयी है, उनमें पौर्वापर्य्य सम्बन्ध किसी सीमा तक भले ही स्थापित किया जा सके, परन्तु उनके काल-निर्णय का कोई वैज्ञानिक उपाय अभी तक उपलब्ध नही है।

**हर्ष**—हर्ष नाट्यशास्त्र के वार्तिककार थे। अभिनवगुप्त ने अपनी अभिनवभारती में नाट्य-मंडप,[8] नाट्य और नृत्त का पारस्परिक भेद[9] और पूर्वरंग[10] आदि के सम्बन्ध में वार्तिककार हर्ष के मतों का विवरण उनके पद्यमय वार्तिकों के साथ प्रस्तुत किया है, यद्यपि इनमे बहुत से वार्तिक खण्डित और अस्पष्ट हैं। म. म. रामकृष्ण कवि ने नाट्यशास्त्र भाग २ की भूमिका मे अंगहारों पर खण्डित वार्तिक के अंश के प्राप्त हो जाने की सूचना भी दी है।[11] डा. राधवन का मत है

---

१ शेषमुत्तरतन्त्रेण कोहलः कथयिष्यति।—**नाट्यशास्त्र**, ३६। ६५।

२ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ २०४, २१०, २३६, २४५, २५१।

३ **नाट्यदर्पण**, पृष्ठ २३ (गा. ओ. सी.)।

४ **रसार्णवसुधाकर**, पृष्ठ १।५१।

५ **संगीतरत्नाकर**, पृष्ठ १२।

६ **कुट्टनीमत**, ८३।

७ **बाल-रामायण**, अक ३।१२।

८ वार्तिकक्रतुः—अन्तर्नेपथ्यगृह स्तम्भौ द्वो पीठकाश्च चत्वारः।—**अभिनवभारती**, भाग १, पृष्ठ ६७।

९ **अभिनवभारती**, भाग १, पृष्ठ १७२।

१० श्रीहर्षस्तु रंगशब्देन तौर्यत्रिक ब्रुवन—**अभिनवभारती**, भाग १, पृष्ठ २०९।

११ A large fragment of Vartika on Angaharas of about 2000 granthas recently acquired will be published as appendix-N. S. G. O. S., Vol. II, Intro., pp. XXIII.

कि वार्तिककार हर्ष ने सम्पूर्ण नाट्यशास्त्र पर भाष्य नहीं किया, छठे अध्याय के बाद इस वार्तिक का कोई अश उपलब्ध नही है।[1] लेकिन डा. राघवन की यह कल्पना स्वीकार्य नहीं है क्योकि एक तो समग्र वार्तिक ग्रन्थ उपलब्ध नही है, दूसरे भावप्रकाशन[2] में त्रोटक के प्रसंग मे तथा नाटकलक्षण-रत्नकोश[3] मे श्री हर्ष का नाट्यशास्त्र के आचार्य के रूप में विवरण मिलता है। डा. शकरन के मत मे वार्तिककार हर्ष और कन्नौज के बौद्ध-सम्राट-हर्षवर्धन एक ही व्यक्ति थे।[4] 'राजतरंगिणी' में हर्ष विक्रमादित्य के साथ मातृगुप्त का नाम लिखा गया है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि सम्भवत: यह हर्ष विक्रमादित्य ही नाट्य-वार्तिककार हो। मातृगुप्त के समकालीन होने पर इसका समय भी चतुर्थ शती का अन्त तथा पाँचवीं शती का प्रारम्भ माना जा सकता है।

**मातृगुप्त**—भारतीय साहित्य ग्रन्थो एवं टीकाओ मे मातृगुप्त का उल्लेख अनेक प्रसंगो मे प्राप्त होता है। अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती मे मातृगुप्त का मत वीणा-वादन के पुष्पनामक भेद के व्याख्यान प्रसंग में उद्धृत किया है। शारदातनय ने भावप्रकाशन में नाटक की कथावस्तु मे उत्पाद्य का महत्त्व बताते हुए 'मातृगुप्त' का मत प्रस्तुत किया है।[5] सागरनन्दी ने 'नाटकलक्षण-रत्नकोश' मे अनेक प्रसंगों में मातृगुप्त का मत उद्धृत किया है।[6] अभिज्ञानशाकुन्तल के टीकाकार राघवभट्ट ने अपनी 'अर्थद्योतनिका' टीका में सूत्रधार, नाटक-लक्षण, पताकास्थानक, कंचुकी आदि पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या के प्रसंग में मातृगुप्त के मूल पद्यात्मक उद्धरण प्रस्तुत किये है।[7] जिनसे उनको स्वतन्त्र नाट्य-ग्रन्थकार के रूप मे महत्ता प्रतिपादित होती है। आचार्य कुन्तक ने मातृगुप्त के काव्य की सुकुमारता तथा विचित्रता का उल्लेख किया है।[8] इससे ऐसा प्रतीत होता है कि मातृगुप्त उच्चकोटि के कवि भी थे। सुन्दरमिश्र ने अपने नाट्य-प्रदीप मे मातृगुप्त का 'नाट्यशास्त्र' के व्याख्याकार के रूप मे उल्लेख किया है। यहाँ ऐसा प्रतीत होता है कि मातृगुप्त ने 'नाट्यशास्त्र' के मत की स्थान-स्थान पर गद्य में व्याख्या की हो जिससे सुन्दरमिश्र ने इन्हें 'नाट्य-

---

१ *Journal of Oriental Research*, Madras, Vol. 6, 205.

२ तथैवत्रोटक भेदो नाटकस्येति हर्षवाक्। —**भावप्रकाशन**, पृष्ठ २३८।

३ श्री हर्ष—विक्रमनराधिप ……। **नाटक-लक्षण-रत्न-कोश**, पृष्ठ ३०६, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, १६७२।

४ '*Some Aspect of Literary Criticism in Sanskrit*', A. Sankaran, p. 13, Delhi, 1973.

५ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ २३४।

६ **नाटक-लक्षण-रत्नकोश**, पृष्ठ ७, १२, ३२, ४५, ४७, १७२।

७ **अ. शा. की टीका अर्थद्योतनिका**—तदुक्तंमातृगुप्ताचार्यैः—रसास्तु त्रिविधः, पृष्ठ ६, उक्तं च मातृगुप्ताचार्यैः—प्राक्प्रतीचीभुवोः—पृष्ठ ६, तल्लक्षणमुक्तं मातृगुप्ताचार्यै.—प्रख्यातवस्तुविषयं—पृष्ठ ७ आदि। दिल्ली संस्करण, १६६६।

८ यथा—मातृगुप्त-मायुराज-मजीरप्रभृतीनां सौकुमार्यवैचित्र्यसंवलित—परिष्पन्दस्यन्दीनिकाव्यानि सभवति—**वक्रोक्ति-जीवित**, पृष्ठ १५४, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, १६६७।

शास्त्र का व्याख्याकार समझ लिया होगा। इन तथ्यों के आधार पर यह स्पष्टतः कहा जा सकता है कि मातृगुप्त ने नाट्यशास्त्र पर कोई ग्रन्थ लिखा था और उनका समय ५वीं शती के आसपास माना जा सकता है।

**सुबन्धु**—शारदातनय ने भावप्रकाशन में नाटकों के स्वरूप के प्रसग मे सुबन्धु के मत को उद्धृत किया है।[1] अतः कहा जा सकता है कि सुबन्धु भी एक नाट्याचार्य थे। ये सुबन्धु कौन है, इसका पता नही चलता। यदि ये सुबन्धु 'वासवदत्ता' के रचयिता होंगे, तो इनका काल पाँचवी शताब्दी में ठहरता है।

**रुद्रट**—रुद्रट साहित्यशात्र के इतिहास में एक अत्यन्त प्रसिद्ध आचार्य हुए है। नाम से प्रतीत होता है कि ये कश्मीरी थे। इनके मत का उल्लेख धनिक, मम्मट, प्रतिहारेन्दुराज और राजशेखर आदि अनेक आचार्यो ने अपने ग्रन्थो में किया है। शारदातनय ने नायिका-भेद के प्रसंग मे रुद्रट के मत का उल्लेख किया है।[2] इनका काल नवी शताब्दी माना जाता है। इनके दो ग्रन्थ कहे जाते है—काव्यालंकार तथा शृंगारतिलक।

**शंकुक**—श्री शकुक 'रसशास्त्र' के व्याख्यान मे अनुमितिवादी आचार्य माने जाते है। शारदातनय ने 'रस-निष्पत्ति' के प्रसंग में शंकुक के मत का उल्लेख किया है।[3] अभिनवभारती में अध्याय ३ से २६ अध्याय तक शंकुक की टीका उद्धरण देकर उनकी आलोचना की गई है। अतः यह स्पष्ट है कि शंकुक ने समग्र नाटयशास्त्र पर व्याख्या लिखी थी। कल्हण की 'राजतंरगिणी' में कश्मीर के राजा अजितापीड़ के प्रसंग में एक श्लोक मिलता है, जिसमें कहा गया है कि इस राजा के लिए शंकुक नामक विद्वान ने 'भुवनाभ्युदय' नामक एक काव्य की रचना की थी। यदि ये शंकुक यही है, तो इनका काल अजितापीड़ का ही काल अर्थात् नवम शताब्दी का प्रारम्भ माना जाना चाहिए।

**भट्टनायक**—भट्टनायक 'रसशास्त्र' के व्याख्यान मे 'भुक्तिवादी' आचार्य माने जाते है। साधारणीकरण के मौलिक सिद्धान्त के उद्भावक भट्टनायक ही है। शारदातनय ने 'रस-निष्पत्ति' के प्रसंग में इनके मत का उल्लेख किया है।[4] अभिनवभारती में भट्टनायक का नाम लगभग छः स्थानों पर आया है। अतः यह स्पष्ट है कि भट्टनायक ने नाट्यशास्त्र पर व्याख्या लिखी थी। कुछ परवर्त्ती आचार्यो ने भट्टनायक का उल्लेख करते हुए यह भी कहा है कि इन्होने 'हृदय-दर्पण' नामक एक स्वतंत्र ग्रन्थ का निर्माण भी किया था। विद्वानों का अनुमान है कि ये आनन्दवर्धन के समकालीन तथा उन्हीं के आश्रयदाता कश्मीर के राजा अवन्तिवर्मा के ही यहाँ थे, जिसका काल नवम शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जा सकता है।

**अभिनवगुप्त**—आचार्य अभिनवगुप्त नाट्यशास्त्र तथा काव्यशास्त्र के इतिहास मे एक अत्यन्त प्रसिद्ध आचार्य हुए हैं। इन्होंने 'नाट्यशास्त्र' पर 'अभिनवभारती' तथा 'ध्वन्यालोक' पर 'ध्वन्यालोकलोचन' नामक टीकाएँ लिखी है। इन्होंने और भी

---

१ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ २३८, पंक्ति १५।

२ **वही**, पृष्ठ ९५।

३ **वही**, पृष्ठ ५०-५१।

४ **वही**, पृष्ठ ५२।

अनेक ग्रन्थ लिखे है। रस के सम्बन्ध मे लोल्लट, शकुक आदि के मतो का निराकरण करके इन्होंने 'रस' पर अपने मत की स्थापना सप्रमाण एव युक्तियुक्त रूप में की है। जो आज भी प्रमाण है। ये कश्मीर निवासी थे। इनका जीवन-काल उनके ग्रन्थों के आधार पर ९५० ई० से १०२५ ई० तक माना जाता है। शारदातनय ने भाव प्रकाशन में नाट्यशास्त्रीय तथा काव्यशास्त्रीय अनेक प्रसंगों में इनके मत को उद्धृत किया है।[1]

**भोज**—प्रसिद्ध विद्याव्यसनी धारानरेश भोज का समय ९९८ ई. से १०६२ ई. तक माना जाता है। इनका अलकार-शास्त्र-विषयक विशालग्रन्थ 'शृगार-प्रकाश' है, जिसमें छत्तीस प्रकाश है। 'सरस्वतीकण्ठाभरण' भी इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ है। व्याकरण एवं संगीत पर इनकी रचनाओ की चर्चा मिलती है। शार्ङ्गदेव ने इनका स्मरण किया है।[2] शारदातनय ने अपने भावप्रकाशन मे अनेक प्रसगों मे इनके मूल पद्यात्मक उद्धरण प्रस्तुत किये हैं।[3]

**मम्मट**—आचार्य मम्मट अलंकार-शास्त्र के क्षेत्र मे 'ध्वनिप्रस्थापनपरमाचार्य' कहलाते हैं। इनका सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'काव्य-प्रकाश' है, जिस पर अब तक लगभग ७५ टीकाएँ लिखी जा चुकी है। इनका समय ११वीं शताब्दी का मध्य-भाग माना जाता है। शारदातनय ने अपने भावप्रकाशन मे 'शब्द-शक्ति-विवेचन' में इनके मूल पद्यात्मक उद्धरण प्रस्तुत किये है।[4]

**सोमेश्वर**[5]

**गान्धर्व-निर्णय**[6]—यह संगीत-विषयक ग्रन्थ है। इसके लेखक कौन हैं, इसका पता नहीं चलता।

इस प्रकार, भावप्रकाशन में उद्धृत ज्ञाताज्ञात नाट्याचार्यो के उपर्युक्त विवरण से विशाल नाट्य-शास्त्रीय वाङ्मय का पता लगता है, साथ ही, भावप्रकाशन के क्षेत्र की व्यापकता ज्ञात होती है।

**भावप्रकाशन में उद्धृत नाट्य-रचनाएं**

भावप्रकाशन मे नाट्य-रचनाओ से संकलित उदाहरणो का क्षेत्र अतिव्यापक है। इसमें भास का स्वप्नवासवदत्त, शूद्रक का मृच्छकटिक, कालिदास के अभिज्ञान-शाकुन्तल, विक्रमोर्वशीय तथा मालविकाग्निमित्र, हर्ष के रत्नावली, प्रियदर्शिका तथा नागानन्द, भवभूति के महावीरचरित तथा मालतीमाधव, विशाखदत्त का मुद्राराक्षस, भट्टनारायण का वेणीसंहार, मुरारि का अनर्घराघव, राजशेखर के कर्पूर-मंजरी तथा बालरामायण तथा दिङ्नाग की कुन्दमाला, ये सभी प्रसिद्ध तथा उपलब्ध रचनाएँ है किन्तु इनके अतिरिक्त ऐसी नाट्य-रचनाओं से भी भावप्रकाशन में उदाहरण सकलित किये गये हैं जो अज्ञात, अप्रसिद्ध तथा अनुपलब्ध है। जैसे—

(१) **अमृतमन्थनम्**—(समवकार) शारदातनय के द्वारा 'अमृत-मन्थन' का

---

१ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ ८२, १६०, १९४, ३१३।

२ **सगीत-रत्नाकर**, अ. स., प्रथम अध्याय पृष्ठ १३।

३ **वही**, पृष्ठ १२, १५२, १९४, २१३, २१६, २१९, २४२, २४५।

४ **वही**, पृष्ठ १६०-१७५।

५ देखिये इसी भूमिका में दिया हुआ शारदातनय का समय।

६ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ २६६।

समवकार के रूप में उल्लेख किया गया है।[1] आचार्य भरत ने भी 'नाट्यशास्त्र' मे इसका समवकार के रूप मे उल्लेख किया है। इसके लिए ब्रह्मा ने स्वयं कहा कि यह मेरे द्वारा पहले रचा हुआ समवकार है जो धर्म और अर्थ को सिद्ध करने वाला है।[2] सम्प्रति यह अनुपलब्ध है।

(२) **इन्दुलेखा**—(वीथी) शारदातनय ने इसे 'वीथी' के उदाहरण मे उद्धृत किया है।[3] साथ ही इन्होंने 'वीथी' के चतुर्थ अंग 'त्रिगत' के निरूपण के प्रसंग में—

"त्रिगत त्विन्दुलेखायां वीथ्यां राज्ञाऽभिधीयते।
किन्नु कलहंसनादो मधुरो मधुपायिना नु झकारः।
हृदयगतवेदनायास्तस्या नु सनूपुरश्चरणः॥"

यह एक श्लोक उद्धृत किया है।[4] भोज के 'श्रृंगार-प्रकाश'[5] तथा रामचन्द्र गुणचन्द्र के 'नाट्य-दर्पण'[6] में भी यही श्लोक इसी नाम से उद्धृत किया गया है। किन्तु 'श्रृंगार-प्रकाश' और 'नाट्य-दर्पण' में 'हृदयगतवेदनायाः' के स्थान पर 'हृदयगत-देवतायाः' पाठ दिया गया है। इसके लेखक आदि का नाम अज्ञात है।

(३) **उदात्तकुजरम्**—(उल्लोप्यक) भावप्रकाशन में 'उदात्तकुजरम्' का उल्लोप्यक के रूप मे उल्लेख किया गया है।[7] इसके रचयिता आदि का नाम ज्ञात नही है।

(४) **कलिकेलि**—(प्रहसन) शारदातनय ने इसको 'प्रहसन' के उदाहरण रूप मे प्रस्तुत किया है।[8] इसके रचयिता का नाम अज्ञात है तथा ग्रन्थ भी अनुपलब्ध होने से इसके विषय मे अधिक बात कहना सम्भव नही है।

(५) **कामदत्ता**—(डोम्बी) शारदातनय ने इसे 'डोम्बी' के उदाहरण में उद्धृत किया है।[9] लेकिन सागरनन्दी[10] तथा अमृतानन्दयोगिन्[11] ने इसे 'भणिका' के उदाहरण में निर्दिष्ट किया है। सम्प्रति यह ग्रन्थ अप्राप्त है।

(६) **कुलपत्यंक**—शारदातनय ने 'प्रकरी' तथा 'विस्मय' नामक शिल्पक के अग के उदाहरण-प्रसंग मे इस अक के उदाहरण दिये है।[12] यह 'उदात्त-राघव' नामक नाटक का द्वितीय अक है। दशरूपकावलोककार धनिक ने तृतीय-प्रकाश की २५वीं

---

१ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ २५०, पक्ति ६।
२ **नाट्यशास्त्र**, चतुर्थाध्याय, २, ३।
३ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ २५१, पक्ति ६।
४ **वही**, पृष्ठ २३१, पंक्ति १३।
५ **श्रृंगार-प्रकाश**, द्वादश-प्रकाश, पृष्ठ ४६४, जोशियार द्वारा सम्पादित, १९६३।
६ **नाट्यदर्पण**, पृष्ठ २५७, दिल्ली, १९६१।
७ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ २६६ पंक्ति २०।
८ **वही**, पृष्ठ २४७, पक्ति १४।
९ **वही**, पृष्ठ २५७, पक्ति २०।
१० **नाटक-लक्षण-रत्नकोश**, पृष्ठ ३००।
११ **अलंकार-संग्रह**, ९वाँ, १२८-१३४, अड्यार संस्करण, १९४९।
१२ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ २०२ पंक्ति १, पृष्ठ २७९, पंक्ति १०।

कारिका की व्याख्या मे—'यथा छद्मना वालिवधो मायुराजेन उदात्तराघवे परित्यक्तः'[1] इस रूप में उदात्त-राघव का उल्लेख करते हुए उसे मायुराज की कृति बताया है। वक्रोक्तिजीवितकार आचार्य कुन्तक ने भी 'यथा उदात्त-राघवे कविना वैदग्ध्यवशेन मारीच-मृग-मारणाय प्रयातस्य लक्ष्मणस्य परित्राणार्थ सीतया कातरत्वेन रामः प्रेरित इत्युपनिबद्धम्'[2] इस रूप में 'उदात्त-राघव' का उल्लेख किया है। इन दोनो उल्लेखो से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इस 'उदात्त-राघव' के कवि ने रामचरित को उदात्त बनाने के लिए उसकी कथावस्तु मे नये परिवर्तन किये है। इसीलिए कुन्तक ने लिखा भी है कि—

"यथा-रामाभ्युदय–उदात्तराघव-वीरचरित–बालरामायण–कृत्यारावण–माया-पुष्पकप्रभृतयः। तेहि प्रबन्धप्रवरास्तेनैवकथामार्गेण निरर्गलरसासारगर्भसम्पदा प्रतिपदं प्रतिवाक्यं प्रतिप्रकरणं च प्रकाशमानाभिनव-भंगीप्राया रमणीयताभ्राजिष्णवो नवनवो-न्मीलितनायकगुणोत्कर्षास्तेषा हर्षातिरेकमनेकशोऽप्यास्वाद्यमानाः समुत्पादयन्ति सहृदयानाम्।"[3]

सागरनन्दी ने 'नाटकलक्षण-रत्नकोश' मे इस नाटक का अनेक बार उल्लेख किया है।[4] भोज के 'श्रृंगार-प्रकाश'[5] तथा 'सरस्वतीकण्ठाभरण'[6] मे, हेमचन्द्राचार्य के 'काव्यानुशासन'[7] की स्वोपज्ञवृत्ति में, रामचन्द्र गुणचन्द्र के 'नाट्यदर्पण'[8] मे, अमृता नन्दयोगिन् के 'अलंकार-सग्रह'[9] मे तथा विश्वनाथ के 'साहित्यदर्पण'[10] में भी इसके उद्धरण संकलित किये गये है। इससे यह नाटक अत्यन्त लोकप्रिय रहा प्रतीत होता है लेकिन सम्प्रति यह अनुपलब्ध है। राजशेखर के अनुसार मायुराज कलचुरिवश के कवि थे। ऐसा जल्हण-संग्रहीत 'सूक्ति-मुक्तावली' के निम्न लेख से प्रतीत होता है :

"राजशेखर—

मायुराज समो जातो नान्यः कलचुरिः कविः।
उदन्वतः समुत्तस्थुः कति वा तुहिनाशवः॥

—**जल्हण-संग्रहीत-सूक्तिमुक्तावली**, ८५।

इस प्रकार राजशेखर के इस उल्लेख से 'मायुराज' का समय ८वीं शती माना जा सकता है। मायुराज ने 'तापसवत्सराज' नामक नाटक की भी रचना की थी। यह नाटक सम्प्रति उपलब्ध होता है।

(७) **कुसुमशेखर**—(ईहामृग) शारदातनय ने इसे 'ईहामृग' के उदाहरण में

---

१ **दशरूपकावलोक**, पृष्ठ १६४, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, १९६२।

२ **वक्रोक्तिजीवित**, पृष्ठ ८९।

३ **वही**, पृष्ठ ४४८।

४ **नाटक-लक्षण-रत्नकोश**, पृष्ठ ९,२१,३०,३३,९३,९४,१७८,२९२ आदि।

५ **श्रृंगार-प्रकाश**, पृष्ठ ५८९-५९०।

६ **सरस्वतीकण्ठाभरण**, पृष्ठ १२६, गोहाटी, १९६९।

७ **काव्यानुशासन**, पृष्ठ १८२, काव्यमाला संस्करण नं० ७०, १९०१।

८ **नाट्यदर्पण**, पृष्ठ, ११९, १९८, ३६०।

९ **अलंकार-संग्रह**, ९·३४।

१० **साहित्यदर्पण**, पृष्ठ २८१, २९१-२९२, ३२७, निर्णयसागर, बम्बई, १९२२।

उद्धृत किया है ।[1] सागरनन्दी ने इसका नाम 'कुन्दशेखरविजय' लिखा है[2]—हो सकता है सागरनन्दी के नाटक-लक्षण-रत्नकोश की भविष्य में प्राप्त होने वाली किसी प्रति में 'कुमुमशेखरविजय' नाम प्राप्त हो जाये । इसके स्वरूप तथा रचयिता आदि के विषय में कुछ भी अधिक ज्ञात नही है ।

(८) **कृत्यारावणम्**—(नाटक) शारदातनय के 'भावप्रकाशन' मे 'कृत्यारावणम्' का 'पूर्ण-नाटक' के रूप मे उल्लेख मिलता है ।[3] इसके अतिरिक्त 'नाट्यदर्पण'[4] मे चौदह स्थान पर, 'अभिनवभारती'[5] मे ८ स्थान पर, 'शृंगार-प्रकाश'[6] में तीन स्थान पर, 'काव्यानुशासन'[7] में एक स्थान पर, 'नाटक-लक्षण-रत्नकोश'[8] में एक स्थान पर और 'साहित्यदर्पण'[9] मे भी एक स्थान पर इस नाटक का उल्लेख प्राप्त होता है । आचार्य कुन्तक के 'वक्रोक्ति-जीवित'[10] मे इसकी समीक्षा मिलती है। लेकिन आश्चर्य है, इतना प्रसिद्ध यह नाटक आज उपलब्ध नही हो रहा है ।

(९) **केलिरैवतम्**—(हल्लीसक) शारदातनय ने इसे 'हलसीसक' का उदाहरण बतलाया है।[11] सागरनन्दी[12], अमृतानन्दयोगिन्[13] तथा विश्वाथ[14] ने भी इसे 'हल्लीसक' का उदाहरण माना है । सम्प्रति यह ग्रन्थ अनुपलब्ध है ।

(१०) **गंगातरंगिका**—(पारिजातक) शारदातनय ने इसे 'पारिजातक' नामक उपरूपक के उदाहरण में उद्धृत किया है ।[15] इसके विषय में अन्य बातें ज्ञात नही है ।

(११) **गंगाभगीरथम्**—(उत्सृष्टिकांक) भावप्रकाशन में इस ग्रन्थ का रूपकों के अन्तर्गत 'उत्सृष्टिकाक' प्रभेद में उल्लेख किया गया है ।[16] इसके स्वरूप तथा रचयिता के विषय में अधिक ज्ञात नही है ।

---

१ **भाव-प्रकाशश**, पृष्ठ २५३ पंक्ति २१ ।

२ **नाटक-लक्षण-रत्नकोश**, पृष्ठ २७० ।

३ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ २३८, पक्ति १९ ।

४ **नाट्यदर्पण**, पृष्ठ १४२, १४३, १४७, १५०, १५४, १६७, १६८, १६९, १७३, १७४, १९३, १९५, २४७, २६७ ।

५ **अभिनवभारती**, अ. १८, पृष्ठ ४१०, अ. ५०, पृष्ठ १०४-१०५, अ. २२, पृष्ठ १७६, खण्ड २, पृष्ठ ४४४, ५२३, ५२४, खण्ड ३ पृष्ठ १३, ४० ।

६ **शृंगार-प्रकाश**, द्वादशप्रकाश, पृष्ठ ४९३, ५०१, ५०३ ।

७ **काव्यानुशासन**, पृष्ठ २७९ ।

८ **नाटक-लक्षण-रत्नकोश**, पृष्ठ २९४ ।

९ **साहित्यदर्पण**, पृष्ठ ३२९ ।

१० **वक्रोक्ति-जीवित**, पृष्ठ ४४७, ४४८ ।

११ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ २६०, पंक्ति ४ ।

१२ **नाटक-लक्षण-रत्नकोश**, पृष्ठ २९९ ।

१३ **अलंकार-संग्रह**, ९·१४६, १४८ ।

१४ **साहित्य-दर्पण**, पृष्ठ ३७० ।

१५ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ २६८, पंक्ति २४ ।

१६ **वही**, पृष्ठ २५२: पंक्ति १५ ।

(१२) **गौड़विजय**—(काव्य)—शारदातनय ने इस ग्रन्थ का उपरूपकों के अन्तर्गत काव्य 'प्रभेद' में उल्लेख किया है।[1] इसके लेखक आदि का नाम अज्ञात है।

(१३) **तरंगदत्ता**—(प्रकरण) भावप्रकाशन मे 'प्रकरण' के निरूपण प्रसंग में 'तरंग-दत्ता' प्रकरण का उल्लेख किया गया है।[2] धनिक के 'दशरूपकावलोक'[3] रामचन्द्र गुणचन्द्र के 'नाट्यदर्पण'[4] और विश्वनाथ के 'साहित्यदर्पण'[5] मे भी इसका उल्लेख पाया जाता है, लेकिन इसका कर्त्ता कौन है, इस विषय मे कोई पता नही चलता है और न यह ग्रन्थ मिलता है।

(१४) **तारकोद्धरणम्**—(डिम) शारदातनय के द्वारा उद्धृत इस रूपक का केवल नाम मात्र शेष है।[6] 'डिम' के प्रकार होने से इसका प्राचीन काल में अस्तित्व रहा होगा ऐसी प्रतीति दृढ होती है।

(१५) **त्रिपुरदाह**—(डिम) शारदातनय ने इसे 'डिम' के उदाहरण में उद्धृत किया है।[7] अमृतानन्दयोगिन्[8] ने भी इसे 'डिम' बतलाया है। इसके लिए शारदातनय ने कहा है कि 'त्रिपुरदाह' नामक रूपक को ब्रह्मा ने भरतों को पढ़ाया था और इसी रूपक का अभिनय करने के लिए आदेश दिया था, तत्पश्चात् भरतों ने ब्रह्मा के समक्ष इस रूपक का अभिनय प्रस्तुत किया था।[9] इससे प्रतीत होता है कि यह ब्रह्मा की रचना है। अस्तु, इसके विषय में और अधिक ज्ञात नही है।

(१६) **त्रिपुरमर्दनम्**—(प्रेक्षणक) शारदातनय ने 'त्रिपुरमर्दनम्' को प्रेक्षणक के उदाहरण रूप मे प्रस्तुत किया है।[10] इसके रचयिता का नाम अज्ञात है तथा ग्रन्थ भी अनुपलब्ध होने से इसके विषय में अधिक बात कहना सम्भव नहीं है।

(१७) **देवीपरिणय**—(नाटक) भावप्रकाशन में इस कृति को 'नाटक का उदाहरण बतलाया है।[11] अमृतानन्दयोगिन् ने भी इसे 'नाटक' कहा है।[12] इसमें नौ अंक है, यह अवश्य ज्ञात है, लेकिन इसका निर्माण किसने और कब किया इसका परिचय प्राप्त होना सम्भव नहीं है। ग्रन्थ के अलभ्य होने से उसकी कथावस्तु का भी पता नहीं चल सकता है।

(१८) **देवीमहादेवम्**—(उल्लोप्यक) शारदातनय ने इसे 'उल्लोप्यक' के उदा-

---

१ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ २६३, पंक्ति ४।

२ **वही**, पृष्ठ २४३, पक्ति १५।

३ **दशरूपकावलोक**, पृष्ठ १७०।

४ **नाट्यदर्पण**, पृष्ठ २०६, २१२।

५ **साहित्यदर्पण**, पृष्ठ ३५४।

६ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ २४८, पंक्ति ५।

७ **वही**, पृष्ठ २४८, पंक्ति ३।

८ **अलंकार-संग्रह**, खण्ड ६, पृष्ठ ७३-७७।

९ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ ३६।

१० **वही**, पृष्ठ २६३, पक्ति २१।

११ **वही**, पृष्ठ २३७, पक्ति २०।

१२ **अलंकार-संग्रह**, ६·५०।

हरण मे उद्धृत किया है।[1] नाटक-लक्षण-रत्नकोश[2] तथा साहित्यदर्पण[3] में भी इसे उल्लोप्यक का उदाहरण बताया गया है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि यह कृति भोज से लेकर विश्वनाथ के समय तक प्राप्य रही होगी।

(१९) **नलविक्रमम्**—(नाटक) शारदातनय ने 'भावप्रकाशन' मे इसे 'नाटक' के उदाहरण मे प्रस्तुत किया है।[4] इसमे आठ अंक है। यह अवश्य ज्ञात है, अन्य कुछ ज्ञात नही है।

(२०) **नृसिंहविजय**—(प्रेक्षणक) यह 'प्रेक्षणक' का उदाहरण है।[5] रचना सम्प्रति अनुपलब्ध है और रचयिता का नाम अज्ञात।

(२१) **पद्मावतीपरिणय**—(प्रकरण) शारदातनय ने 'प्रकरण' के पाँच विभाग करते हुए इस रचना को उदाहरण रूप में संकेतित किया है।[6] 'नाटक-लक्षण-रत्नकोश'[7] में भी इसका 'प्रकरण' के रूप में उल्लेख मिलता है। इसके रचयिता आदि के विषय में किसी प्रकार की जानकारी नही है।

(२२) **पाण्डवानन्दम्**—भावप्रकाशन में 'वीथी' के 'उद्घात्यक' नामक प्रथम अंग के उदाहरण में पाण्डवानन्द का 'का भूषा बलिनां क्षमा' इत्यादि एक श्लोक उद्धृत किया गया है।[8] 'वीथी' के प्रसंग में निर्दिष्ट होने से यह 'वीथी' है ऐसा अनुमान होता है। 'दशरूपकावलोक' में 'उद्घात्यक' के उदाहरण रूप में थोड़े से पाठ-भेद के साथ यही श्लोक उद्धृत किया गया है।[9] 'अभिनवभारती' मे भी यह श्लोक उद्धृत हुआ है।[10] नाट्यदर्पण में भी 'उद्घात्यक' के उदाहरण रूप में यह श्लोक उद्धृत किया गया है।[11] किन्तु इसका कर्त्ता कौन है। इस विषय मे कोई पता नहीं चलता है और न यह ग्रन्थ मिलता है।

(२३) **पुंसवनांक**—भावप्रकाशन में 'शत्रु-कृत-कपट' के उदाहरण प्रसंग में इस अंक का उदाहरण प्रस्तुत किया गया है।[12] यह 'छलितराम' नामक नाटक का अक है। कुन्तक के 'वक्रोक्ति-जीवित' में भी 'छलितराम' का उल्लेख पाया जाता है।[13] धनिक के 'दशरूपकावलोक'[14] मे तीन जगह पर, भोज के 'शृंगार-प्रकाश'[15] तथा

---

१ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ २६६, पंक्ति २०।
२ **नाटक-लक्षण-रत्नकोश**, पृष्ठ ३०५-३०६।
३ **साहित्यदर्पण**, पृष्ठ ३६६।
४ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ २२३, २३७।
५ **वही**, पृष्ठ २६३: पंक्ति १७।
६ **वही**, पृष्ठ २४३, पंक्ति १२।
७ **नाटक-लक्षण-रत्नकोश**, पृष्ठ २६३, २६४, २७३।
८ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ २३०, पंक्ति १०-१४।
९ **दशरूपकावलोक**, पृष्ठ १५४।
१० **अभिनवभारती**, अ. १८, पृष्ठ ४५४।
११ **नाट्यदर्पण**, पृष्ठ २६७।
१२ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ २५०, पक्ति २०।
१३ **वक्रोक्ति-जीवित**, पृष्ठ ४४७।
१४ **दशरूपकावलोक**, पृ० १४९, १५२, १५४।
१५ **शृंगार-प्रकाश**, ११वाँ प्रकाश।

सरस्वती-कण्ठाभरण[1] में, सागरनन्दी के 'नाटक-लक्षण-रत्नकोश' मे[2] रामचन्द्र गुणचन्द्र के 'नाट्य-दर्पण'[3] मे पाँच जगह पर तथा विश्वनाथ के 'साहित्यदर्पण'[4] में भी इसका उल्लेख पाया जाता है। लेकिन इसका कर्त्ता कौन था। इसका कुछ भी पता नही चलता है और न यह ग्रन्थ ही उपलब्ध होता है।

(२४) **मदलेखा**—(तोटक) शारदातनय ने इसे 'तोटक' के उदाहरण प्रसंग मे उद्धृत किया है।[5] अमृतानन्दयोगिन् ने भी इसका 'तोटक' के रूप मे उल्लेख किया है।[6] इसमें आठ अक है, इतना अवश्य ज्ञात है, इसके विषय मे और अधिक विवरण ज्ञात नही है।

(२५) **माणिक्यवल्लिका**—(कल्पवल्ली) शारदातनय ने इस रचना को 'कल्पवल्ली' के निदर्शन मे उद्धृत किया है।[7] यह रचना अप्राप्त होने के कारण इसके रचयिता आदि के विषय मे कुछ भी ज्ञात नही है।

(२६) **मारीचवंचितम्**—(नाटक) शारदातनय ने 'प्रवेशक' तथा 'नाटक' के उदाहरण प्रसंग में इस नाटक का उदाहरण दिया है।[8] अमृतानन्दयोगिन् ने इसे 'नाटक' रूप में उद्धृत किया है।[9] सागरनन्दी ने निर्वहण-सन्धि के उदाहरण प्रसंग मे इस नाटक का उदाहरण दिया है।[10] यह पाँच अंक का नाटक है। इसके रचयिता आदि के विषय में किसी प्रकार की जानकारी प्राप्त नही है।

(२७) **मेनकानहुषम्**—(तोटक) शारदातनय[11] तथा अमृतानन्दयोगिन्[12] इसे नौ अंक वाला 'तोटक' मानते हैं। सागरनन्दी[13] ने इसे 'तोटक' का उदाहरण बतलाया है। लेकिन इस तोटक का कर्त्ता कौन है इसके विषय मे कोई पता नही चलता है और न यह तोटक अब तक प्रकाशित ही हुआ है।

(२८) **रामानन्दम्**—(श्रीगदित) शारदातनय ने इस ग्रन्थ का उपरूपको के अन्तर्गत 'श्रीगदित' प्रभेद मे उल्लेख किया है।[14] पुनः इन्होने उत्पाद्य-कथावस्तु के उदाहरण प्रसंग मे इस नाटक का उदाहरण दिया है।[15] सागरनन्दी ने 'नाटक-लक्षण-

---

१ **सरस्वती-कण्ठाभरण**, पृष्ठ ३७७,६४५।
२ **नाटक-लक्षण-रत्नकोश** पृष्ठ ७०, ६७, १७६, २८७, २६७।
३ **नाट्यदर्पण**, पृष्ठ १६, ६, १७६, २६८, २६६, २८२।
४ **साहित्यदर्पण**, पृष्ठ ३६१।
५ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ २३८, पंक्ति १६२।
६ **अलंकार-संग्रह**, ६·१२१।
७ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ २६८, पंक्ति १२।
८ **वही**, पृष्ठ २१७, २२३।
९ **अलंकार-संग्रह**, ६-४८।
१० **नाटकलक्षण-रत्नकोश**, पृष्ठ ८६।
११ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ २३८, पंक्ति ११।
१२ **अलंकार-संग्रह**, ६-१२१।
१३ **नाटकलक्षण-रत्नकोश**, पृष्ठ २६२।
१४ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ २५८, पंक्ति १७।
१५ **वही**, पृष्ठ २३५, पंक्ति २।

रत्नकोश' में इसे दो स्थानो पर उद्धृत किया है।[1] इसके अतिरिक्त इसका उल्लेख सिंह-भूपाल[2] तथा विश्वनाथ[3] ने भी किया है। इसके विषय में अन्य विवरण अनुपलब्ध है।

(२९) **(शक्ति) रामानुजम्**—(उत्सृष्टिकांक) शारदातनय ने इसे 'उत्सृष्टिकांक' का उदाहरण बतलाया है।[4] पर आज तक इस ग्रन्थ की प्राप्ति नही हुई, न ही इसके रचयिता के बारे में कुछ ज्ञात हुआ।

(३०) **रामाभ्युदयम्**—(नाटक) शारदातनय ने 'निर्वहण-सन्धि', 'असत्प्रलाप' नामक वीथ्यंग तथा नाटक के उदाहरण प्रसग में इस नाटक को उद्धृत किया है।[5] ध्वन्यालोक,[6] वक्रोक्तिजीवित,[7] ध्वन्यालोकलोचन,[8] शृंगार-प्रकाश,[9] नाटक-लक्षण-रत्न-कोश[10], नाट्यदर्पण,[11] साहित्यदर्पण[12] आदि मे भी इस नाटक का उल्लेख पाया जाता है। ध्वन्यालोक-लोचन के उल्लेख से ही यह ज्ञात होता है कि इस नाटक के रचयिता 'यशोवर्मा' है।[13] क्षेमेन्द्र के 'सुवृत्ततिलक'[14] तथा वल्लभदेव संगृहीत 'सुभाषितावली'[15] में रामाभ्युदय के उद्धरण देकर इनके रचयिता का नाम यशोवर्मा बतलाया गया है। यशोवर्मा नाम के एक राजा कन्नौज में हुए है। उनका कश्मीरराज ललितादित्य से युद्ध हुआ था, और उस युद्ध में यशोवर्मा को पराजय का दु:ख देखना पड़ा। उनके इस युद्ध का वर्णन 'राज-तरंगिणी' मे किया गया है—

'कविवाक्पतिराजभवभूत्यादिसेवित.।
जितो ययौ यशोवर्मा तदगुणस्तुतिवन्दिताम्॥[16]

इस युद्ध में 'यशोवर्मा' को पराजित करने के बाद कश्मीर नरेश बड़े सम्मान के साथ यशोवर्मा को अपने राज्य में बुला ले गये थे। अभिनवगुप्त ने अपने ग्रन्थ 'तंत्रालोक' में इस घटना का वर्णन किया है।[17] इन यशोवर्मा के यहाँ विद्वानों का

---

१ **नाटक-लक्षण-रत्नकोश**, पृष्ठ ३९, ४०४।
२ **रसार्णवसुधाकर**, पृष्ठ १४९, १५४. १५९, **सागरिका**, खण्ड ८, १९६९।
३ **साहित्यदर्पण**, पृष्ठ २९३।
४ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ २५२, पंक्ति ७।
५ **वही**, पृष्ठ २१२, २३२, २३७।
६ **ध्वन्यालोक**, पृष्ठ ३३३, चौखम्बा प्र. वाराणसी, १९६५।
७ **वक्रोक्ति-जीवित**, पृष्ठ ४४८।
८ **ध्वन्यालोक-लोचन**, पृष्ठ ३६७।
९ **शृंगार-प्रकाश**, द्वादशप्रकाश।
१० **नाटक-लक्षण-रत्नकोश**, पृष्ठ २९६, २९७।
११ **नाट्यदर्पण**, पृष्ठ ७८, ८३, ९०, ९२, १०९, ११३, १८२।
१२ **साहित्यदर्पण**, पृष्ठ ३३०।
१३ **ध्वन्यालोकलोचन**, पृष्ठ ३६७।
१४ **सुवृत्ततिलक**, २·३९, ३·२१।
१५ **सुभाषितावली**, पृष्ठ ६०४।
१६ **राजतरंगिणी**, त० ४, १४४।
१७ **तंत्रालोक**, अ. २७।

समूह था। कवि वाक्पतिराज भवभूति आदि इन्ही की राजसभा में रहते थे। सम्भव है इन्ही यशोवर्मा ने इस 'रामाभ्युदय' नाटक की रचना की है। इस नाटक मे ६ अङ्क है। सम्प्रति यह अनुपलब्ध है।

(३१) **वकुलवीथी**—(वीथी) भावप्रकाशन[1] के अतिरिक्त नाटक-लक्षण-रत्न-कोश[2] मे इसको 'वीथी' के उदाहरण रूप मे प्रस्तुत किया गया है। यह रचना अप्राप्य होने के कारण इसके रचयिता आदि के विषय मे कुछ भी ज्ञात नही है।

(३२) **वालि-वध**—(प्रेक्षणक) शारदातनय ने इसे 'प्रेक्षणक' कहा है।[3] सागर-नन्दी[4], अमृतानन्दयोगिन्[5] तथा विश्वनाथ[6] ने भी इस कृति को 'प्रेक्षणक' का उदाहरण बतलाया है। इसके अतिरिक्त इसके विषय में अधिक ज्ञात नहीं है।

(३३) **वीणावती**—(भाणिका) भावप्रकाशन मे इस कृति को 'भाणिका' के उदाहरण रूप में उद्धृत किया गया है।[7] सागरनन्दी ने भी इसे 'भाणिका' बतलाया है।[8] इसके रचयिता तथा ग्रन्थ के विषय में अन्य बातें अज्ञात है।

(३४) **वृत्रोद्धरणम्**—(डिम) शारदातनय[9] ने तथा सागरनन्दी[10] ने इसका निदर्शन 'डिम' के उदाहरण-रूप मे किया है। लेकिन इसके कर्त्ता कौन थे इसका कुछ भी पता नही चलता है और न यह ग्रंथ ही उपलब्ध होता है।

(३५) **शृंगारतिलक**—(प्रस्थान) शारदातनय ने इसे 'प्रस्थान' के उदाहरण मे उद्धृत किया है।[11] नाटक-लक्षण-रत्नकोश[12], अलंकार-सग्रह[13] तथा साहित्य-दर्पण[14] में भी इसे 'प्रस्थान' का उदाहरण बताया गया है। इसका रचयिता कौन है, यह अज्ञात है।

(३६) **सागरकौमुदी**—(प्रहसन) शारदातनय के द्वारा 'सागर-कौमुदी' का 'प्रहसन' के रूप मे उल्लेख किया गया है।[15] सम्पत्ति यह रचना भी नहीं मिलती।

(३७) **सुग्रीवकेलनम्**—(काव्य) शारदातनय ने इस ग्रंथ का उपरूपकों के

---

१ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ २५१, पंक्ति ६।
२ **नाटक-लक्षण-रत्नकोश**, पृष्ठ २७७।
३ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ २६३, पंक्ति १७।
४ **नाटक-लक्षण-रत्नकोश**, पृष्ठ ३०३।
५ **अलंकार-संग्रह**, ६·१२५।
६ **साहित्यदर्पण**, पृष्ठ ३६७।
७ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ २६२, पंक्ति १७।
८ **नाटक-लक्षण-रत्नकोश**, पृष्ठ ३०२।
९ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ २४८ पंक्ति ४।
१० **नाटक-लक्षण-रत्नकोश**, पृष्ठ २६६।
११ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ २६२, पंक्ति २२।
१२ **नाटक-लक्षण-रत्नकोश**, पृष्ठ २९८।
१३ **अलंकार-संग्रह**, ६·१४३।
१४ **साहित्यदर्पण**, पृष्ठ ३६६।
१५ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ २४७, पंक्ति १३।

अन्तर्गत 'काव्य' प्रभेद में उल्लेख किया है ।[1] इसके स्वरूप तथा रचयिता के विषय मे अधिक ज्ञात नही है ।

(३८) **सैरन्ध्रिका**—(प्रहसन) शारदातनय के द्वारा 'सैरन्ध्रिका' का 'प्रहसन' के रूप में उल्लेख किया गया है ।[2] सम्पत्ति यह कृति भी अनुपलब्ध है ।

(३९) **स्तम्भितरम्भकम्**—(तोटक) शारदातनय ने इसे 'तोटक' के उदाहरण रूप में उद्धृत किया है ।[3] अलंकार-सग्रह[4] तथा 'साहित्य-दर्पण'[5] मे भी इसका 'तोटक' के उदाहरण रूप में उल्लेख किया गया है । इसमें सात अंक हैं । यह अवश्य ज्ञात है, अन्य विवरण अज्ञात है ।

१ **भावप्रकाशन**, पृष्ठ २६३, पंक्ति ८ ।

२ **वही**, पृष्ठ २४७, पंक्ति १३ ।

३ **वही**, पृष्ठ २३८, पंक्ति १२ ।

४ **अलंकार-संग्रह**.—९·१२१ ।

५ **साहित्यदर्पण**, पृष्ठ ३६५ ।

शारदातनयविरचितम्

# भावप्रकाशनम्

[ मूल और हिन्दी-अनुवाद ]

श्रीः

शारदातनयविरचितम्

# भावप्रकाशनम्

---

## प्रथमोऽधिकारः

१ प्रश्च्योतन्मदमन्थरभ्रमरिकाझङ्कारगीतं मुहुः
हेलाबृंहितवादनव्यतिकरं भावोल्लसत्प्रक्रियम् ।
नृत्यन्नस्तु सुखाय वः करिमुखः पुण्योपहारैश्चिरा—
दानन्दी नटभावितैरिव यथाभावैः स सामाजिकः ।।

२ वन्दे वृन्दावनचरं गोविन्दं गोपिकापतिम् ।
गाः पालयन्तं गायन्तं वेणुना षड्जवादिना ।।

३ अम्बिकारसिकापाङ्गमाविस्स्मितमुखाम्बुजम् ।
भजे भुजङ्गललितं महो वैयाघ्रचर्मिणम् ।।

४ नमामि मानसोल्लासभावनाफलदायिनीम् ।
शारदां शारदाम्भोजविशदामभयप्रदाम् ।।

---

१ चूते हुए मद से अलसायी हुई भ्रमरियों के झंकार-गीत[१] तथा बार-बार हेला[२]-भाव से पूर्ण गजनाद-वादन के व्याज से, अनेक प्रकार के भावो से उल्लसित क्रिया से युक्त नृत्यपरायण तथा नट[३] के द्वारा भावित[४] यथायोग्य भावो[५] से आनन्दित सामाजिक[६] की भाँति पवित्र उपहारो से चिरकाल तक आनन्दित गणेश आप लोगो को सुख दें ।

२ गौओ का पालन करते हुए, षड्ज[७]-स्वर से वंशी बजाते हुए, वृन्दावन मे विचरण करने वाले, गोपिकापति (राधापति) गोविन्द[८] की मैं वन्दना करता हूँ ।

३ पार्वती के रसिक-अपाग वाले, प्रफुल्लित मुख-कमल वाले, व्याघ्र-चर्म धारण किये हुए, सर्पो से सुशोभित पूज्य (शकर)[९] को मै भजता हूँ ।

४ मन मे उल्लास की भावना के अनुकूल फल देने वाली, शरद ऋतु के कमल की भाँति स्वच्छ, अभय प्रदान करने वाली शारदा[१०] को मै नमस्कार करता हूँ ।

५ आर्यावर्ताह्वये देशे स्फीतो जनपदो महान् ।
मेरूत्तर इति ख्यातस्तस्य दक्षिणभागतः ।।
ग्रामो माठरपूज्याख्यो द्विजसाहस्रसम्मितः ।
तत्र लक्ष्मणनामासीद्विप्रः काश्यपवंशजः ।।
६ त्रिंशता क्रतुभिर्विष्णुं तोषयामास वेदवित् ।
वेदानां भाष्यमकरोन्नाम्ना यो वेदभूषणम् ।।
तस्य श्रीकृष्णनामासीत्पुत्रः कृष्ण इवापरः ।
वेदानधीत्य निखिलान् शास्त्राण्यप्यखिलानि च ।।
स पुत्रार्थी महादेवं वाराणस्यामतोषयत् ।
तस्यासीद्भट्टगोपालनामा सूनुः सुलोचनः ।।
७ अष्टादशसु विद्यासु बहुशः स कृतश्रमः ।
उपास्य शारदां देवीं पुत्रं लेभे गुणोत्तरम् ।।
तमाह्वयत्पिता प्रीतः शारदातनयाख्यया ।
८ अधीतवेदवेदाङ्गो वर्धमानः पितुर्गृहे ।।
कदाचिच्छारदां देवीमुपासितुमुपाययौ ।
उपास्य सवनं तस्याश्चैत्रयात्रामहोत्सवे ।।
आसीनां नर्तनागारे तां देवीं प्रेक्षकैः सह ।
प्रणम्य तैरनुज्ञातस्तस्याः पार्श्वे उपाविशत् ।।

---

५ आर्यावर्त देश मे 'मेरुत्तर' नाम का एक महान् जनपद था, उसके दक्षिण भाग मे 'माठरपूज्य' नाम का एक ग्राम था, जिसमे एक हजार ब्राह्मण निवास करते थे। वही काश्यपवंशोत्पन्न 'लक्ष्मण' नाम का ब्राह्मण निवास करता था।

६ उस वेदविद् ब्राह्मण ने तीस यज्ञों को सम्पन्न कर भगवान विष्णु को प्रसन्न किया था और वेदो का भाष्य तैयार किया था, जिससे उनका नाम 'वेदभूषण' पड़ा था। उसके पुत्र का नाम श्रीकृष्ण था जो मानो दूसरा कृष्ण ही हो ऐसा प्रतीत होता था। उसने सम्पूर्ण वेदों तथा सभी शास्त्रों को पढकर, तदनन्तर पुत्र-प्राप्ति की कामना से वाराणसी में 'महादेव' (शंकर) को प्रसन्न किया था। फलत. उसका सुन्दर नेत्रों वाला 'भट्टगोपाल' नाम का पुत्र था।

७ उस भट्टगोपाल ने अठारह विद्याओ मे खूब श्रम किया था तथा शारदा देवी की उपासना कर गुणोत्तर पुत्र को प्राप्त किया था। उस पुत्र का नाम पिता ने स्नेह मे 'शारदातनय' रखा था।

८ शारदातनय ने वेद-वेदाग का अध्ययन किया। पिता के घर मे बढ़ते हुए कदाचित् वह शारदा देवी की उपासना में लग गया और शारदा के चैत्र-यात्रा-महोत्सव पर यज्ञ कर, प्रेक्षको के साथ नृत्यशाला मे बैठी हुई उस

त्रिंशत्प्रकारभिन्नानि रूपकाणि पृथक्पृथक् ।
नटैः प्रयुज्यमानानि भावाभिनयकोविदैः ।।
दृष्ट्वा स देवीं वरदां नाट्यवेदमयाचत ।
नाट्यशालापतिः कश्चिद्दिवाकर इति द्विजः ।।
तयैव नाट्यवेदस्य नियुक्तोऽध्यापने तदा ।।
९ प्रीतस्सोऽपि सदाशिवस्य शिवयोर्गौर्या मतं वासुके-
र्वाग्देव्या अपि नारदस्य च मुनेः कुम्भोद्भवव्यासयोः ।
शिष्याणां भरतस्य यानि च मतान्यध्याप्य तान्यञ्जना—
सूनोरप्यथ नाट्यवेदमखिलं सम्यक्तमध्यापयत् ।।
शारदातनयो देव्यास्तान्यधीत्य च सन्निधौ ।
आदाय सारमेतेभ्यो हितार्थं नाट्यवेदिनाम् ।।
भावप्रकाशनं नाम प्रबन्धमकरोत्तदा ।
१० एतस्मिन्प्रथमं भावस्तस्य भेदास्ततः परम् ।।
तदवान्तरभेदाश्च तत्तत्कार्येषु कौशलम् ।।
तत्साध्योऽर्थस्तथा तेषामुपकार्योपकारिता ।।
रसोपादानता तेषां चरस्थिरविभागतः ।
तद्दर्शनानि तद्दृष्टिः दृष्टिधर्माः पृथग्विधाः ।।

---

(शारदा) देवी को प्रणाम कर, उन प्रेक्षको के कहने पर वह (शारदातनय) उस देवी के पास बैठ गया। भावाभिनयविज्ञ नटो के द्वारा पृथक्-पृथक् तीस प्रकार के भिन्न-भिन्न रूपकों का प्रयोग होते हुए देखकर उस (शारदातनय) ने देवी सरस्वती से नाट्यवेद[११] की ज्ञान-प्राप्ति के लिए प्रार्थना की। तब सरस्वती ने ही किसी नाट्यशाला[१२] के स्वामी दिवाकर नाम के द्विज को नाट्य-वेद के अध्यापन के लिए नियुक्त कर दिया।

९ उस दिवाकर ने भी प्रेमपूर्वक सदाशिव, शिव, पार्वती, वासुकि, वाग्देवी (सरस्वती) मुनि नारद, अगस्त्य, व्यास, भरत के शिष्यो (कोहलादि) व आञ्जनेय के जो-जो मत थे उन-उन सभी मतो को पढ़ाकर सम्पूर्ण नाट्यवेद उस (शारदातनय) को भलीभाँति पढाया और तब शारदातनय ने देवी सरस्वती की सन्निधि मे उन मतों को पढ़कर, उनमे सार को ग्रहण कर नाट्यविदों के हित के लिए, 'भाव-प्रकाशन' नाम का ग्रन्थ तैयार किया।

**(ग्रन्थ का विषय-विवेचन)**

१० इस ग्रन्थ में सर्वप्रथम 'भाव' का विवेचन किया गया है, तदनन्तर उसके भेद, अवान्तर भेद, उन-उन के कार्यो में कुशलता, उनके साध्य-अर्थ तथा उनकी उपकार्योपकारिता, चर, स्थिर विभाग से उनकी रसोपादानता, उनके दर्शन, उनकी

परस्परस्य सामर्थ्यं साहचर्यात्क्वचित्क्वचित् ।
इतिभागतया भावा द्वादशैते ततो रसः ।।
तद्भेदा भेदभेदाश्च तेषां जन्म च नाम च ।
जनकत्वं च जन्यत्वं तेषामन्योन्यतः पृथक् ।।
प्रधानेतरभावश्च तेषामन्योन्यसङ्करः ।
तन्मेलनं च तत्सिद्धिर्विशेषः सङ्करोद्भवः ।।
तद्व्यङ्ग्यता वाच्यता च तन्मैत्री तद्विरोधिता ।
तत्कालनियमस्तत्तद्वर्णास्तद्दैवतानि च ।।
स्थायिसञ्चारिभेदाश्च तेषां तद्दृष्टयोऽपि च ।
इति विंशतिरुद्दिष्टाः प्रकारा रसगामिनः ।।
ततः शब्दार्थसम्बन्धस्तत्प्रकाराः पृथग्विधाः ।
तद्वृत्तयो रूपकाणि तद्भेदास्त्रिंशदात्मकाः ।।
११ एतैरर्थैः प्रबन्धोऽयं यथावत्कथ्यतेऽधुना ।
कथ्यन्ते येऽन्तरा भावास्तत्तदर्थानुषङ्गिणः ।।
तत्र तत्रैव विज्ञेयास्ते सूक्ष्मेक्षिकया बुधैः ।
उद्दिष्टानामिहार्थानां लक्षणप्रतिपादनम् ।।
यथाक्रमं भवेत्क्वापि यथौचित्यं क्वचिद्भवेत् ।

---

दृष्टि, पृथक्-पृथक् दृष्टिधर्म, कही-कही साहचर्य के कारण परस्पर की सामर्थ्य, इस विभाजन से ये १२ (बारह) भाव आदि कहे गये है। तदनन्तर रस, उनके भेद, भेदोपभेद, उनका जन्म और नाम, एक-दूसरे से पृथक् उनका जनकत्व और जन्यत्व भाव, प्रधान और गौण भाव, उनका अन्योन्य सकर-भाव, उनका मिश्रण, उनकी विशेष सिद्धि, संकरभाव का उद्भव, उनकी व्यंग्यता और वाच्यता, उनकी मैत्री और विरोधिता, उनका काल, नियम उन-उन के वर्ण और उनके देवता, उनके स्थायीभाव तथा सचारीभाव और उनकी दृष्टियाँ आदि रसानुगामियों ने बीस प्रकार से निर्दिष्ट की है। तत्पश्चात् शब्दार्थ-सम्बन्ध, उनके भिन्न-भिन्न प्रकार, उनकी वृत्तियाँ; रूपक, उनके तीम भेद आदि कहे गये है।

११ इन विपयों से सम्बन्धित यह ग्रन्थ अब यथावत् कहा जा रहा है। उन-उन विषयो के अनुकूल जो भाव यहाँ-वहाँ कहे जा रहे है, वे भाव विद्वानों को वहीं-वही सूक्ष्म दृष्टि से जान लेने चाहिए। इस ग्रन्थ मे निर्दिष्ट-विषयों (अर्थो) के लक्षण कहीं यथाक्रम और कही यथौचित्य से प्रतिपादित किये गये हैं।

१२ भावः स्याद्भावनं भूतिरथ भावयतीति वा ॥
१३ पदार्थो वा क्रिया सत्ता विकारो मानसोऽथवा ।
विभावाश्चानुभावाश्च स्थायिनो व्यभिचारिणः ॥
सात्त्विकाश्चेति कथ्यन्ते भावभेदाश्च पञ्चधा ।
१४ अर्थान्विभावयन्तीति विभावाः परिकीर्तिताः ॥
विभावितार्थानुभूतिरनुभाव इति स्मृतः ।
अवस्थिताश्चिरं चित्ते सम्बन्धाच्चानुबन्धिभिः ॥
वर्धिता ये रसात्मानः ते स्मृताः स्थायिनो बुधैः ।
अनवस्थितजन्मानो भूयोभूयः स्वभावतः ॥
स्थायिना रसनिष्पत्तौ चरन्तो व्यभिचारिणः ।
सत्त्वजा ये विकाराः स्युः स्वीयास्वीयविभागतः ॥
त एव सात्त्विका भावा इति विद्वद्भिरुच्यते ।

---

(भाव का सामान्य लक्षण)

१२ अनुकार्य राम आदि के सुख-दुख आदि भावो के द्वारा सामाजिक के हृदयस्थ भावो के भावन[१३] को 'भाव' कहते है । पुन भाव की व्युत्पत्ति दो प्रकार से की गयी है—'भूतिः भावयतीति वा' अर्थात् 'भवनमिति भूतिः (भू+क्तिन्)', 'भावयनीति वा'—तात्पर्य यह हुआ कि जो होता है वह भाव है अथवा जो भावित करता है वह भाव है ।[१४] पहले मे व्युत्पत्ति होती है भू धातु से 'होने' के अर्थ में—आशय होता है स्थिति—सत्ता, दूसरे मे व्युत्पत्ति होती है भू धातु से ही 'करने' के अर्थ में और आशय होता है व्याप्त करने वाला ।[१५]

(भाव के भेद)

१३ पदार्थ, क्रिया, सत्ता, विकार और मानस क्रमशः विभाव, अनुभाव, स्थायीभाव, व्यभिचारभाव तथा सात्त्विक-भाव कहे जाते है और ये पाँच भाव के भेद कहलाते है ।

(विभावादि भावों का सामान्य लक्षण)

१४ जो पदार्थो का ज्ञान कराते है उन्हें 'विभाव'[१६] कहते हैं । विभावित अर्थो की अनुभूनि 'अनुभाव'[१७] कही जाती है । जो चित्त मे चिरकाल तक अवस्थित रहते हैं, जो रसानुबन्धों (विभावानुभावसंचारी-भावो) के सहयोग से वृद्धि को प्राप्त होते है अर्थात् अभिव्यक्त हो उठते है, तथा जो रस-रूप है वे विद्वानों द्वारा 'स्थायी-भाव'[१८] कहे जाते है । जिनका स्वभावतः बार-बार अस्थायी जन्म होता है, जो स्थायीभाव के साथ रस-निष्पत्ति में विचरण करते है, वे 'व्यभिचारी-भाव'[१९] कहे जाते है । स्वीय और अस्वीय भेद से जो सत्त्व गुण से उत्पन्न विकार हैं, वे ही विद्वानों द्वारा 'सात्त्विक-भाव'[२०] कहे जाते है ।

१५ ललिता ललिताभासाःस्थिराश्चित्राः खरा इति ।।
रूक्षाश्च निन्दिताश्चैव विकृताश्चेति च क्रमात् ।
शृङ्गारादिरसानां ते विभावा नामभिः कृताः ।।
१६ ललिता ललिताभासा भावाः शृङ्गारहास्ययोः ।
स्थिराश्चित्रा विभावा ये ते वीराद्भुतयोः क्रमात् ।।
खरा रूक्षा विभावाः स्यू रौद्रस्य करुणस्य च ।
भयानकस्य विकृता बीभत्सस्य च निन्दिताः ।।
१७ एकेन वाऽथ द्वाभ्यां वा त्रिभिर्भावान्तरैरपि ।
संसृष्टाश्चेद्रसोत्कर्षे त एवोद्दीपनाः स्मृताः ।।
१८ ये मनोह्लादजननास्तत्तदिन्द्रियगोचराः ।
ललितास्ते विभावाः स्युः शृङ्गारोत्कर्षहेतवः ।।
१९ संसूचिताः श्रुता दृष्टाः स्मृता ये हासकारिणः ।
ते भावा ललिताभासा हास्यसम्पत्प्रकाशकाः ।।
२० श्रुता दृष्टाः स्मृता ध्याता भवन्ति स्थैर्यहेतवः ।
ते स्थिरा इति विज्ञेयाः वीराख्यरसपोषकाः ।।
२१ सदानुभूयमाना ये हृदि वैचित्र्यकारिणः ।
भावाश्चित्रा इति ज्ञेयास्तेऽद्भुतैश्वर्यभावकाः ।।

---

(शृंगारादि रसों के विभाव)

१५ शृंगारादि रसों के क्रमश ललित, ललिताभास, स्थिर, चित्र, खर, रूक्ष, निन्दित तथा विकृत नाम वाले विभाव कहलाते है।

१६ ललित और ललिताभास भाव क्रमश. शृंगार और हास्य-रस के विभाव है। स्थिर और चित्र-भाव क्रमश वीर और अद्भुत-रस के विभाव है। खर और रूक्ष विभाव रौद्र और करुण-रस के है। भयानक-रस का विकृत तथा बीभत्स-रस का निन्दित-विभाव है।

१७ रस के उत्कर्ष मे एक या दो या तीन भिन्न-भिन्न भावों से मिले हुए (संसृष्ट) वे ही (उपर्युक्त) भाव 'उद्दीपन-भाव'[२१] कहे जाते है।

(विभावों के क्रमशः लक्षण)

१८ शृंगार-रस के उत्कर्षाधायक जो भाव मन मे प्रसन्नता उत्पन्न करते है और जो तद्तद् इन्द्रियगोचर है, वे भाव 'ललित'[२२] विभाव कहलाते हैं।

१९ हास्य-रस के प्रकाशक जो हास्यकारी सूचित, श्रुत, दृष्ट तथा स्मृत भाव है, वे 'ललिताभास'[२३] विभाव कहलाते है।

२० वीर-रस के पोषक, स्थिरताधायक जो भाव श्रुत, दृष्ट, स्मृत तथा ध्याता हैं, वे 'स्थिर'[२४] विभाव समझने चाहिए।

२१ अद्भुत-रस के ऐश्वर्याधायक जो भाव हृदय में सदा विचित्रता के अनुभावक है, वे भाव 'चित्र'[२५] विभाव समझने चाहिए।

२२ स्वगोचरैश्च विषयैः क्लिश्यन्तेऽक्षाणि तत्क्षणात् ।
ते रूक्षा इति कथ्यन्ते करुणोत्पत्तिकारकाः ।।

२३ गृहीतमात्रा मनसः कातरोत्पादनक्षमाः ।
ये भावास्ते खराः ख्याता रौद्रोत्कर्षविवर्धनाः ।।

२४ अक्षीणि द्राङ्निमीलन्ति येभ्यो न स्पृहयान्ति च ।
ते भावा निन्दिताख्याः स्युर्बीभत्सोल्लासकारकाः ।।

२५ विषयास्त्विन्द्रियैः स्पृष्टा विकृतिं जनयन्ति ये ।
ते भावा विकृताः ख्याता भयानकविभावकाः ।।

२६ अत्रैवालम्बना भावाः कथ्यन्ते रसभूमयः ।
अनुद्दिष्टा अपि यथा रसानुभवसिद्धये ।।

२७ मधुरा सुकुमाराश्च रूपयौवनशालिनः ।
शृङ्गारालम्बना भावास्तन्वङ्ग्यस्तरुणादयः ।।

२८ व्यङ्गाश्च विकृताकाराः परचेष्टानुकारिणः ।
हास्यस्यालम्बना भावाः प्रायेण कुहकादयः ।।

२९ त्यागिनः सत्त्वसम्पन्नाः शूरा वीराः सविक्रमाः ।
वीरस्यालम्बना भावाः शस्त्रास्त्रक्षतिशोभिनः ।

---

२२ करुण-रस को उत्पन्न करने वाले जो भाव स्वगोचर-विषयो के द्वारा तत्काल आँखों को कष्ट पहुँचाते है, वे भाव 'रुक्ष'[२६] विभाव कहलाते है ।

२३ रौद्र-रस के उत्कर्षाधायक जो भाव ग्रहण करने मात्र से मन की कातरता उत्पन्न करने मे समर्थ होते है । वे भाव 'खर'[२७] विभाव कहलाते है ।

२४ वीभत्स-रस के उत्कर्षाधायक जो भाव आँखों को शीघ्र ही बन्द कर देते है तथा जिन भावों की स्पृहा नहीं होती, वे भाव 'निन्दित'[२८] कहे जाते है।

२५ भयानक-रस के विभावक जो भाव इन्द्रियों के द्वारा विषय के स्पर्श किये जाने मे विकार उत्पन्न करते है, वे भाव 'विकृत'[२९] कहे जाते हैं ।

(आलम्बन-भाव)

२६ रसानुभूति की सिद्धि के लिए नही कहे गये रस-भूमि 'आलम्बन-भाव'[३०] यही कहे जा रहे है ।

२७ मधुर, सुकुमार तथा रूपवान व यौवनशाली तन्वंगी तथा तरुणादि 'शृगार-रस' के आलम्बन-भाव है ।

२८ व्यंग्य तथा विकृत आकार वाले तथा दूसरो की चेष्टाओं का अनुकरण करने वाले प्रायः धूर्त तथा शठादि 'हास्य-रस' के आलम्बन-भाव है ।

२९ त्यागी, सतोगुणी, शूर, वीर, पराक्रमी तथा अस्त्र-शस्त्र के आघातों से सुशोभित-जन 'वीर-रस' के आलम्बन-भाव है ।

३० विचित्राकृतिवेषाश्च विचित्राचारविभ्रमाः ।
अद्भुतालम्बना भावा मायालीलाविलासिनः ।।

३१ बहुबाहा बहुमुखा भीमदष्ट्राः सिताङ्गकाः ।
रौद्रस्यालम्बना भावाः क्रूरोद्वृत्तशठादयः ।।

३२ कृशा विषण्णा मलिना रोगिणों दुःखिनस्तथा ।
करुणालम्बना भावा दारिद्र्योपहताश्च ये ।।

३३ निन्दिताकृतिवेषाश्च निन्द्याचाराङ्गरोगिणः ।
वीभत्सालम्बना भावास्ते पिशाचादयोऽपि च ।।

३४ महारण्यप्रविष्टाश्च महासङ्ग्रामचारिणः ।
भयानकालम्बनाः स्युर्गुरुराजापराधिनः ।।

३५ ललिताद्या विभावास्ते भावेष्वालम्बनेष्वमी ।
पुष्णन्ति स्थायिनो भावान्यथायोगं रसात्मना ।।

३६ अनुभावश्चतुर्धा स्यान्मनोवाक्कायबुद्धिभिः ।
मन आरम्भानुभावा भावाद्या दश योषिताम् ।।
वागारम्भानुभावाश्च द्वादशालापपूर्वकाः ।
गात्रारम्भानुभावाश्च लीलाद्या दश योषिताम् ।।

---

३० विचित्र-आकृति, विचित्र-वेष, विचित्र-आचार, विचित्र-विलास तथा मायावी लीलाओं को करने वाले 'अद्भुत-रस' के आलम्बन-भाव है ।

३१ बहु-भुजा वाले, बहुमुख वाले, भयानक दाँत वाले, श्वेतांग वाले, क्रूर, दुष्ट (अशिष्ट) शठादि 'रौद्र-रस' के आलम्बन-भाव है ।

३२ जो कमजोर, उदास, मलिन, रोगी, दुःखी तथा गरीबी के मारे है, वे 'करुण-रस' के आलम्बन-भाव है ।

३३ निन्दित-आकृति, निन्दित-वेष, निन्दित-आचार, निन्दित-अंग-रोगी तथा पिशाचादि 'बीभत्स-रस' के आलम्बन-भाव है ।

३४ महारण्य में प्रविष्ट, महान सग्राम मे गये हुए, अथवा गुरु तथा राजा के अपराधी लोग 'भयानक-रस' के आलम्बन-भाव है ।

३५ ललितादि वे विभाव, आलम्बन-भावों में ये (उपर्युक्त) भाव स्थायी-भावों को यथासंभव रस-रूप में पुष्ट करते हैं ।

(अनुभाव के भेद)

३६ मन, वाणी, शरीर तथा बुद्धि के भेद से अनुभाव चार प्रकार के होते है ।[११] युवतियों के दस भावादि 'मन-आरम्भानुभाव' है। बारह आलापादि 'वागारम्भानुभाव' है । युवतियों के दस लीलादि 'गात्रारम्भानुभाव' है । रीति, वृत्ति तथा

बुद्ध्यारम्भानुभावाश्च रीतिवृत्तिप्रवृत्तयः ।
अष्टौ तु सात्त्विका भावास्तेऽपि स्तम्भादयः स्मृताः ।।
निर्वेदाद्यास्त्रयस्त्रिंशद्भावास्ते व्यभिचारिणः ।
३७ यौवने सत्त्वजाः स्त्रीणामलङ्कारास्तु विंशतिः ।।
तत्र लीलादयो भावा यद्यपि स्युर्न सात्त्विकाः ।
छत्रिणां गतिवत्तेऽपि तल्लिङ्गत्वेन सात्त्विकाः ।।
३८ यत्सत्त्वपरिणामि स्याद्द्रव्यं तन्मन उच्यते ।
ईश्वरस्य च मुक्तानां तत्सङ्कल्पो भविष्यति ।।
संसारिणां मनस्त्वेन परिणम्य प्रवर्तते ।
तत्सत्त्वपरिणामित्वात्सत्त्वमित्युच्यते बुधैः ।।
३९ यद्रजःपरिणामि स्याद्द्रव्यं स प्राण उच्यते ।
ईश्वरस्य च मुक्तानां क्रियाहेतुः स ईरितः ।।
संसारिणां पुनरसौ प्राणाकारेण तिष्ठति ।
४० यत्तमःपरिणामि स्याद्द्रव्यं सा वागुदाहृता ।।
ईश्वरस्य च मुक्तानां सा वाग्भवति शोभना ।
संसारिणां परिणमेच्छब्दाकारेण सा पुनः ।।

---

प्रवृत्ति 'बुद्ध्यारम्भानुभाव' है। स्तम्भादि आठ सात्त्विक-भाव कहलाते है। निर्वेदादि तैंतीस व्यभिचारी भाव है।

३७ यौवनावस्था मे स्त्रियों के बीस सत्त्वज (स्वाभाविक) अलंकार माने जाते है। जिनमें लीलादि भाव यद्यपि सात्त्विक नही है लेकिन उस (सत्त्व) लिग के होने से वे सात्त्विक है; जैसे—'छतरीधारी लोग जा रहे है' इस प्रयोग में केवल एक व्यक्ति के पास छतरी है लेकिन छतरीधारी मे जो बहुवचन है उसकी संगति के लिए व्यक्ति को छोडकर समुदाय को छतरीधारी के रूप मे अपनाना पड़ता है। अतः लीलादि भाव भी सात्त्विक है।

३८ पुनः सत्त्व-परिणामी जो द्रव्य है वह 'मन' कहलाता है। ईश्वर और मुक्त जीवों का वह 'संकल्प' होगा। सांसारिकों का (सत्त्व) मन के रूप मे परिणत होकर प्रवृत्त होता है। वह सत्त्व-परिणामी होने से विद्वानों द्वारा सत्त्व कहलाता है।

३९ रज-परिणामी जो द्रव्य है वह 'प्राण' कहलाता है। ईश्वर और मुक्त जीवों का वह क्रियाओ का कारण कहा गया है और सांसारिकों मे यह 'प्राण-रूप' में स्थित रहता है।

४० तम-परिणामी जो द्रव्य है वह 'वाक्' कहा गया है। ईश्वर और मुक्त जीवो की वह सुन्दर वाणी होती है और वह सांसारिकों की वह (वाणी) शब्द के रूप मे परिणत होती है। क्रोधादि भावों के द्वारा जो कही जाती है वह अव्यभिचारी-

उक्ता क्रोधादिभिर्भावैस्तत्फलाव्यभिचारिणी ।
या मुक्तेश्वरवागुत्था सा वाणीत्युच्यते बुधैः ।।

४१ रविः सोमश्च वह्निश्च तस्य-तस्य यथाक्रमम् ।
अधिष्ठातार इत्येषा व्यवस्था योगिभिः कृता ।।
तत्तद्रूपमधिष्ठाय तिष्ठन्नात्मा च तन्मयः ।
एते मनःप्राणवाचो मुक्तानामीश्वरस्य च ।।
कार्योपकरणात्मत्वाद्देवा इत्येव कीर्तिताः ।
अन्तर्यामी स एव स्याद्यः प्राणमय उच्यते ।
जीवः शरीराधिष्ठाता तन्नियच्छन् स्वकर्मभिः ।
कर्ता भवति सर्वस्य शरीरेण सह स्वयम् ।।

४२ करणानि च जीवं च पृथिव्याद्याश्च देवताः ।
नियच्छन्नप्यधिष्ठाय कर्ता प्राणमयो भवेत् ।।
अयं नान्तर्गतस्तस्य कर्तुर्जीवस्य न कचित् ।
मनोमयस्तु जीवानां कर्मकारयिता भवेत् ।।
बुद्धिचित्ताहङ्कृतयः तस्य त्रिगुणसंभवाः ।
सर्वेषामपि जीवानां सर्वव्यापारहेतवः ।।
एतेभ्यः सर्वभावानां प्रभवः समुदाहृतः ।
आदित्यः सर्वसाक्षित्वान्मनो यत्तदधिष्ठितम् ।।

---

फल वाली होती है, जो ईश्वर और मुक्त जीवो से उत्पन्न है उसे विद्वान 'वाणी' कहते है ।

४१ रवि, सोम तथा वह्नि यथाक्रम मन, प्राण तथा वाक् के अधिष्ठाता है, ऐसी योगीजन व्यवस्था करते है । उस-उस रूप का आश्रय लेकर, स्थिर होते हुए आत्मा उस रूप से युक्त हो जाती है, ये मन, प्राण तथा वाक् मुक्त जीवों तथा ईश्वर के कार्यों के उपकरण (साधन) रूप होने से देवता कहे जाते हैं । अन्तर्यामी वही है जो प्राणमय कहलाता है, जीव शरीर का अधिष्ठाता है, वह अपने कर्मों से उस (शरीर) को नियन्त्रित करता हुआ सभी के शरीर के साथ स्वयं कर्ता होता है ।

४२ इन्द्रियो, जीव, पृथ्वी आदि (पृथ्वी, जल, तेज, वायु तथा आकाश) और देवताओं को नियंत्रित करता हुआ भी अधिष्ठित होकर वह कर्ता 'प्राणमय' होता है । यह (प्राणमय) न तो उस कर्ता के अन्तर्गत होता है न कही जीव के अन्तर्गत होता है । मनोमय जो होता है वह जीवो का कर्म कराने वाला होता है अर्थात् वह जीवों का प्रेरक होता है । उसके त्रिगुणात्मक बुद्धि, चित्त और

यत्संस्कारवशाद्वेत्ति सर्वं तत्तेन निर्मलम् ।
तादृगेव मनः सत्त्वं गुणैरस्पृष्टमुच्यते ॥

४३ तस्मादविकृतादाद्यः स्पन्दो भाव उदाहृतः ।
चित्तस्याविकृतिः सत्त्वं विकृतेः कारणे सति ॥
ततोऽल्पा विकृतिर्भावो बीजस्यादिविकारवत् ।
अतो मनोविकारस्य भावत्वं प्रकटीकृतम् ॥

४४ वाग्भिरङ्गैर्मुखरसैर्यस्सत्त्वाभिनयेन च ।
भावयन्बहिरन्तस्स्थानर्थान्भाव उदाहृतः ॥

४५ हेलाहेतुः स शृङ्गारो भावात्किञ्चित्प्रकर्षवान् ।
सग्रीवारेचको हावो नासाक्षिभ्रूविलासकृत् ॥

४६ स एव हावो हेला स्याल्ललिताभिनयात्मिका ।
नानाप्रकाराभिव्यक्तश्शृङ्गाराकारसूचिका ॥

४७ रूपोपभोगतारुण्यैर्योऽलङ्कारोऽङ्गसंश्रयः ।
सा शोभा सैव कांतिः स्यान्मन्मथाप्यायिता च्छविः ॥

---

अहकार सभी जीवो के सभी व्यापारो के हेतु है। इन्हीं से सभी भावो की उत्पत्ति कही गयी है। सूर्य के सर्वसाक्षी होने से मन सूर्य के द्वारा अधिष्ठित है। वह (मन) सस्कारवश जो कुछ जानता है वह सब उस (संस्कार) से निर्मल होता है। वैसा ही मन गुणो से रहित सत्त्व कहा जाता है।

**(मन-आरम्भानुभाव के लक्षण)**

४३ उस निर्विकारात्मक सत्त्व से होने वाला प्रथम स्पन्दन 'भाव'[३२] कहलाता है। विकृति के कारण के रहते हुए भी चित्त की अविकृति सत्त्व कहलाती है। तदनन्तर विकृति थोड़ी होती है और भाव बीज के प्रथम विकार की तरह होता है। अतः मन के विकार का भावरूप (भावत्व) प्रकट हो जाता है।

४४ (भरतमुनि के अनुसार) वाक् अंग तथा मुखराग से एव सात्त्विक अभिनय से अन्तर्बाह्य स्थानीय अर्थो को भावित करना 'भाव' कहलाता है।

४५ 'हेला' का कारण तथा 'भाव' से कुछ श्रेष्ठ, नायिका मे श्रृंगार का होना 'हाव'[३३] कहलाता है। यह 'हाव' ग्रीवारेचक सहित नासिका, नेत्र, भौह आदि मे विकार उत्पन्न करता है।

४६ वही 'हाव' जब सुन्दर अभिनय से युक्त हो तथा श्रृंगार-रस को प्रकट रूप मे विभिन्न प्रकार से अभिव्यक्ति करने लगे तो 'हेला'[३४] नामक भाव बन जायेगा।

४७ रूप, विलास तथा यौवन के कारण जब नायिका के अग सुशोभित हो उठते है तो उस अलंकार को 'शोभा'[३५] कहते है।

४८ कान्तिरेवोपभोगेन देशकालगुणादिभिः ।
उद्दीप्यमाना विस्तारं याता दीप्तिरिति स्मृता ।।

४९ सर्वावस्थासु चेष्टानां माधुर्यं मृदुकारिता ।

५० निस्साध्वसत्वं प्रागल्भ्यं प्रयोगेषु च सर्वतः ।।

५१ मानग्रहो दृढो यस्तु तद्धैर्यमिति कथ्यते ।

५२ औदार्यं प्रश्रयः प्रोक्तः सत्त्वावस्थानुगो बुधैः ।।
भावो हावश्च हेला च शोभा कान्तिः सदीप्तिका ।
प्रागल्भ्यं धैर्यमौदार्यं माधुर्यमिति सात्त्विकाः ।।

५३ लीला विलासो विच्छित्तिर्विभ्रमः किलिकिञ्चितम् ।
मोट्टायितं कुट्टमितं बिब्वोको ललितं तथा ।।
विहृतं चेति विज्ञेयाः शारीरा दश योषिताम् ।

५४ मनोमधुरवागङ्गचेष्टितैः प्रीतियोजितैः ।।
प्रियानुकरणं लीला सा स्यात्पुंसः स्त्रिया अपि ।

५५ प्रियसङ्गमकाले तु नेत्रभ्रूवक्त्रकर्मणाम् ।।
विशेषो यस्स विज्ञेयो विलासोऽङ्गक्रियादिषु ।

---

४८ काम-विलास से बढी हुई 'शोभा' को ही 'कान्ति'[३६] कहते हैं। कान्ति जब उपभोग से, देश, काल तथा गुणों के द्वारा उद्दीप्त होती हुई विस्तार को प्राप्त होती है तो वही 'दीप्ति' कही जाती है अर्थात् अतिविस्तीर्ण्य कान्ति को ही 'दीप्ति'[३७] कहते है।

४९ सभी अवस्थाओ में नायिका की चेष्टाओं में मृदुलता का होना 'माधुर्य'[३८] नामक भाव कहलाता है।

५० सभी ओर से प्रयोगो मे निर्भयता का नाम 'प्रागल्भ्य'[३९] है।

५१ मान-ग्रहण तथा दृढ़ता को 'धैर्य'[४०] कहा जाता है।

५२ सत्त्वावस्था का अनुगमन करने वाला प्रेम विद्वानों के द्वारा 'औदार्य'[४१] कहा गया है। इस प्रकार भाव, हाव, हेला, शोभा, कान्ति, दीप्ति, प्रागल्भ्य, धैर्य, औदार्य तथा माधुर्य ये स्त्रियो के दस सात्त्विक अलकार है। जो 'मन-आरम्भानुभाव' कहलाते है।

(स्त्रियों के गात्रारम्भानुभाव के लक्षण)

५३ लीला, विलास, विच्छिति, विभ्रम, किलिकिञ्चित, मोट्टायित, कुट्टमित, विब्बोक, ललित तथा विहृत स्त्रियों के ये दस 'शारीरिक-अनुभाव' हैं।

५४ नायक का नायिका के साथ अनुरागातिशय होने के कारण नायिका के मन, मधुरवाणी तथा अगो की चेष्टाओं के द्वारा प्रिय (नायक) के वाग्वेषचेष्टादि का शृंगारिक अनुकरण करना 'लीला'[४२] नामक भाव कहलाता है।

५५ प्रिय के समागम के समय नायिका की अंग चेष्टाओं में नेत्र, भ्रकुटी तथा मुख के व्यापारो की जो विशेषता पायी जाती है, वह 'विलास'[४३] है।

५६ स्वल्पोऽप्यनादरन्यासो माल्यादीनां स्वमण्डने ॥
यः परां जनयेत् शोभां सा विच्छित्तिरुदाहृता ।

५७ वागङ्गसत्त्वाभिनयभूषास्थानविपर्ययः ॥
त्वरया कल्पितोऽभीष्टदर्शने यः स विभ्रमः ।

५८ क्रोधाभिलाषहर्षादेः सङ्करः किलिकिञ्चितम् ॥

५९ प्रियस्तुतिकथालापलीलाहेलादिदर्शने ।
तद्भावभावनं मोट्टायितमित्युच्यते बुधैः ॥

६० सौख्योपचारैः सानन्दाधरकेशग्रहादिभिः ।
दुःखोपचारवत्कुप्येद्बहिः कुट्टमितं तु तत् ॥

६१ इष्टभावोपगमने तथाऽभीष्टस्य दर्शने ।
गर्वादथाभिमानाद्वा बिब्बोकोऽनादरक्रिया ॥

६२ सुकुमारोऽङ्गविन्यासः सभ्रूनेत्राधरक्रियः ।
अनुल्बणश्च मसृणः स्त्रीणां ललितमीरितम् ॥

---

५६ आभूषण धारण करते समय माला आदि का न्यून-मात्रा में प्रयोग जो दूसरी ही शोभा को उत्पन्न करे अर्थात् सौन्दर्य-वृद्धि करे, वह 'विच्छित्ति'[४४] कही गयी है ।

५७ कल्पित तथा अभीष्ट दर्शन के समय (हर्ष और अनुरागादि के कारण) जो शीघ्रतावश वाचिक आंगिक तथा सात्त्विक अभिनय एवं वेषभूषा के स्थान की विपरीतता होती है वह 'विभ्रम'[४५] है अर्थात् शीघ्रतावश भूषणादि का और की और जगह लगा देना 'विभ्रम' है ।

५८ नायिका मे एक साथ क्रोध, अभिलाषा तथा हर्षादि का सांकर्य पाया जाना 'किलकिञ्चित'[४६] कहलाता है ।

५९ प्रियतम की स्तुति, कथा, आलाप (संवाद), लीला, हेलादि के दर्शन के समय उस ही भाव से भावित होना अर्थात् प्रियतम के भाव तथा कामिनी के भाव की एकतानता विद्वानों द्वारा 'मोट्टायित'[४७] कहलाती है ।

६० रतिक्रीड़ा मे नायक के द्वारा अधर तथा केशग्रहणादि करने पर सुख मिलने तथा प्रसन्न होने पर भी जब नायिका दुःख मिलने के समान बाहर से क्रोध करे तो वह 'कुट्टमित'[४८] भाव कहलाता है ।

६१ जब नायिका गर्व तथा अभिमान के कारण इष्ट वस्तु की प्राप्ति तथा अभीष्ट के दर्शन के प्रति अनादर दिखाती है तो उसे 'विब्बोक'[४९] भाव कहते है ।

६२ भौह, नेत्र तथा अधर की चेष्टाओं के साथ अंगों का सुकुमारता, रमणीयता तथा कोमलता से रखना स्त्रियों का 'ललित'[५०] भाव कहा गया है ।

६३ स्वभावाद् व्रीडया वाऽपि प्राप्तकालमनुत्तरम् ।
विहृतं तदिति प्राहुर्मानेर्ष्याभ्यामथापि वा ।।
गात्रारम्भानुभावांस्तानिमान्पश्यन्ति सूरयः ।
६४ शोभा विलासो माधुर्यं गाम्भीर्य धैर्यमेव च ।।
ललितौदार्यतेजांसि सत्त्वभेदास्तु पौरुषाः ।
६५ दक्षता शौर्यमुत्साहो नीचे कुत्साऽधिके मुहुः ।।
स्पर्धाऽधिक्रियते यत्र सा शोभेति प्रकीर्तिता ।
६६ वृषयानं स्मितालापो विलास इति कथ्यते ।।
६७ माधुर्यं चेष्टितालापस्पर्शानां स्पृहणीयता ।
६८ शुभेऽशुभेऽर्थे तद्धैर्य व्यवसायादचालनम् ।।
६९ अविज्ञातेङ्गिताकारो भावो गाम्भीर्यमुच्यते ।
चेष्टितं यस्य शृङ्गारमयं तल्ललितं भवेत् ।।
७० प्रियालापस्मितोदारं दानमौदार्यमुच्यते ।

---

६३ जहाँ नायिका स्वभाव, लज्जा, मान तथा ईर्ष्या के कारण समय आने पर भी तदनुकूल वाक्य का प्रयोग नही कर पाती, वह 'विहृत'[५१] नामक भाव कहा जाता है। इन सभी गात्रारम्भानुभावो को विद्वान देखते है।

**(पुरुषों के गात्रारम्भानुभाव के लक्षण)**

६४ शोभा, विलास, माधुर्य, गाम्भीर्य, धैर्य, ललित, औदार्य तथा तेज—ये आठ पुरुष (नायक) के सात्त्विक गुण है।

६५ जहाँ नायक में दक्षता, शूरता तथा उत्साह पाया जावे तथा नीच व्यक्ति के प्रति घृणा एवं उच्च व्यक्ति के प्रति बार-बार स्पर्द्धा पायी जाती हो, वह 'शोभा'[५२] कहलाती है।

६६ जहाँ नायक की गति वृष के समान होती हो और वचन मुस्कराहट के साथ कहे जाते हो, उसको 'विलास'[५३] कहा जाता है।

६७ नायक की चेष्टा, आलाप (संवाद) तथा स्पर्श की चाहना करना 'माधुर्य'[५४] नामक भाव है।

६८ जब नायक शुभ तथा अशुभ सभी अर्थों में अर्थात् अच्छे या बुरे सभी कार्यों में अपने व्यवसाय (मार्ग) से विचलित नही होता हो तो उसे 'धैर्य'[५५] कहते है।

६९ नायक के अन्तर्बाह्य सभी हर्ष-शोकादि भावों का ज्ञान न होना 'गाम्भीर्य'[५६] कहा जाता है। शृंगारपरक चेष्टाओं का नायक में पाया जाना 'ललित'[५७] नामक भाव कहलाता है।

७० जहाँ नायक प्रिय वचनो के द्वारा तथा प्रसन्नता और उदारता के साथ दान देने को प्रस्तुत हो उसे 'औदार्य'[५८] कहा जाता है।

७१ अवमानासहत्वं यत्तत्तेजस्समुदाहृतम् ॥

७२ एते साधारणाः सत्त्वगात्रारम्भानुभावयोः ।
स्थैर्यं गाम्भीर्यमाचार्यैः चित्तारम्भावुदाहृतौ ॥
प्राचुर्यमेषां शृङ्गारे वीराद्भुतसमागमे ।
अन्यत्र तेषां संसर्गवशात्कार्यवशादपि ॥
भावास्तु विंशतिस्स्त्रैणाः शृङ्गारे क्वचिदद्भुते ।
क्रीडितं केलिरित्येतौ गात्रारम्भावुदाहृतौ ॥

७३ बाल्ययौवनकौमारसाधारणविहारभाक् ।
विशेषः क्रीडितं केलिः तदेव दयिताश्रयम् ॥

७४ गात्रारम्भानुभावत्वे द्वितयं कथ्यते बुधैः ।

७५ वागारम्भा इमे तेषामालापः प्रथमो भवेत् ॥
प्रलापश्च विलापोऽनुलापः संलाप एव च ।
अपलापश्च सन्देशोऽतिदेशश्चाष्टमस्स्मृतः ॥
निर्देश उपदेशश्चापदेशो व्यपदेशकः ।

७६ इदं वो भाग्यमित्यादि वाक्यमालाप इष्यते ॥

---

७१ जब नायक अपमान को सहन नही करे तो 'तेज'[५९] नामक भाव कहा जाता है।

७२ इस प्रकार सात्त्विक (मन-आरम्भानुभाव) तथा गात्रारम्भानुभाव के ये साधारण भेद है। आचार्य (भोज) ने चित्तारम्भानुभावो के अन्तर्गत स्थैर्य तथा गाम्भीर्य भावो को कहा है। इन (मन-आरम्भानुभाव तथा गात्रारम्भानुभाव) भावों की शृगार-रस मे, और वीर-रस तथा अद्भुत-रस के मिश्रण मे प्रचुरता पायी जाती है, अन्यत्र इन भावों की कार्यवश तथा संसर्गवश भी प्रचुरता पायी जाती है। इस प्रकार शृंगार-रस में, कही अद्भुत-रस मे स्त्रियो के बीस भाव है। पुनः (आचार्य भोज ने) गात्रारम्भानुभावों के अन्तर्गत 'क्रीड़ित' तथा 'केलि' भावों को कहा है।

७३ बाल्य, यौवन तथा कौमार-अवस्था की साधारण विहार वाली विशेष क्रीड़ाएँ 'क्रीड़ित' कहलाती है। वे ही क्रीड़ाएँ जब प्रिय के आश्रित होती हैं तो 'केलि' कहलाती है।

७४ इन दोनों भावों को विद्वान् (भोज) गात्रारम्भानुभाव कहते है।

(वागारम्भानुभाव)

७५ ये बारह वागारम्भानुभाव है—आलाप, प्रलाप, विलाप, अनुलाप, संलाप, अपलाप, संदेश, अतिदेश, निर्देश, उपदेश, अपदेश तथा व्यपदेश।

७६ 'यह तुम्हारा भाग्य है' इत्यादि वाक्य 'आलाप'[६०] कहे जाते है।

७७ प्रलापः स्यात्क्व यास्यामि गतिः केत्यादि यद्वचः ।
७८ विलापः स्यादात्मदुःखोद्भावनातत्परं वचः ॥
७९ बहुशोऽभिहितं वाक्यमनुलापो भवेदिह ।
८० उक्तिप्रत्युक्तिमद्वाक्यं सल्लाप इति कथ्यते ॥
पूर्वोक्तस्यान्यथावादो ह्यपलाप इतीरितः ।
सन्देशः स्यात्स्ववार्ताभिप्रेषणं विषयान्तरे ॥
अतिदेशस्तदुक्तं यत्तन्मदुक्तमितीरितम् ।
८१ एते वयं क्व वः कार्यमिति निर्देश इष्यते ॥
८२ उपदेशो गृहाण त्वं गच्छेत्यादिपरं वचः ।
अन्यार्थकथनं यत्तु सोऽपदेश इति स्मृतः ॥
८३ व्याजादात्माभिलाषोक्तिर्व्यपदेश इतीरितः ।
वागारम्भानुभावास्ते क्रमाद्द्वादश कीर्तिताः ॥
८४ बुद्ध्यारम्भानुभावेषु रीतिः प्रथममुच्यते ।
रीतिर्वचनविन्यासक्रमः साऽपि चतुर्विधा ॥
तत्र वैदर्भपाञ्चाललाटगौडविभागतः ।
सौराष्ट्री द्राविडी चेति रीतिद्वयमुदाहृतम् ॥

---

७७ 'कहाँ जाऊँ', 'क्या करूँ' इत्यादि जो वचन है, 'प्रलाप'[६१] है।

७८ आत्म-दुःखों को प्रकट करने वाले वचन 'विलाप'[६२] है।

७९ बार-बार कहा गया वाक्य 'अनुलाप'[६३] है।

८० उक्ति-प्रत्युक्ति वाले वाक्य अर्थात् 'कहना फिर उसका उत्तर देना' 'सल्लाप'[६४] कहा जाता है। पूर्वोक्त का अन्यथा कथन ही 'अपलाप'[६५] है। किसी भी विषय में अपना समाचार भेजना 'सन्देश'[६६] है। 'जो उसने कहा है वह मैंने कहा है' इस प्रकार का वचन 'अतिदेश'[६७] कहलाता है।

८१ 'ये हम, कहाँ तुम्हारा कार्य'—इस प्रकार के वचन 'निर्देश'[६८] कहे जाते हैं।

८२ 'लो तुम जाओ' इत्यादि दूसरों के वचन 'उपदेश'[६९] रूप में ग्रहण करने चाहिए। जो अन्यार्थ कथन है अर्थात् अन्य अर्थ को द्योतित करता हुआ जो कथन होता है वह 'अपदेश'[७०] कहलाता है।

८३ किसी बहाने से अपनी इच्छा को प्रकट कर देना ही 'व्यपदेश'[७१] कहा गया है। ये बारह वागारम्भानुभाव क्रमशः कहे गये।

(बुद्ध्यारम्भानुभाव)

८४ बुद्ध्यारम्भानुभावों मे 'रीति' प्रथम कही जाती है। वचन-विन्यास की पद्धति 'रीति'[७२] है। वह वैदर्भी, पाञ्चाली, लाटी तथा गौड़ी विभाग से चार प्रकार की होती है। दो और रीति कही गयी है—'सौराष्ट्री' तथा 'द्राविडी'।

८५ तत्तद्देशीयरचनारीतिस्तद्देशनामभाक् ।
समाससौकुमार्यादितारतम्यात्क्वचित्क्वचित् ॥
उपचारविशेषाच्च प्रासानुप्रासभेदतः ।
तथा सौराष्ट्रिकाभेदाद्द्राविडीभेदतोऽपि च ॥
प्रतिवचनं प्रतिपुरुषं तदवान्तरजातितः प्रतिप्रोति ।
आनन्त्यात्संक्षिप्य प्रोक्ता कविभिश्चतुर्विधेत्येषा ॥
तासु पञ्चोत्तरशतं विधाः प्रोक्ता मनीषिभिः ।
ग्रन्थविस्तरभीतेन मया ताभ्यो विरम्यते ॥
त एवाक्षरविन्यासास्ता एव पदपङ्क्तयः ।
पुंसि पुंसि विशेषेण कापि कापि सरस्वती ॥
तस्माच्चतुर्धा बोद्धव्या रीतिभेदप्रकल्पना ।
८६ वृत्तिश्चतुर्विधा ऋग्यजुस्सामाथर्वसम्भवा ॥
भारती सात्त्वती चैव कैशिक्यारभटीति च ।
औद्भटाः पञ्चमीमर्थवृत्तिं च प्रतिजानते ॥
अर्थवृत्तेरभावात्तु विश्रान्तां पञ्चमीं परे ।

---

८५ उस-उस देश की रचना-रीति, उस-उस देश के नाम से जानी जाती है। कही-कही समास, सुकुमारता आदि के तारतम्य से भी जानी जाती है। कही-कहीं उपचार-विशेष से, प्रास और अनुप्रास के भेद से तथा सौराष्ट्रीका व द्राविडी भेद से भी जानी जाती है और कही-कही प्रतिवचन से, प्रतिपुरुष से, उसके अवान्तर जाति-भेद से तथा प्रीति से भी 'रीति' जानी जाती हैं। इस प्रकार अनन्त भेद हो जाने से कविजनो द्वारा सक्षेप मे ये चार ही 'रीतियाँ' कही गयी है। विद्वानो द्वारा १०५ प्रकार की 'रीतियाँ' भी कही गयी है। ग्रन्थ-विस्तार के भय से मै उनसे रुक जाता हूँ। वे ही अक्षर-विन्यास, वे ही पद-पंक्तियाँ लेकिन प्रतिपुरुष में विशेषता से भिन्न-भिन्न रूप मे सरस्वती (वाणी) प्रस्फुटित होती है। इसलिए रीति-भेद की कल्पना चार प्रकार से ही जाननी चाहिए।

८६. ऋक्, यजुः, साम तथा अथर्व से उत्पन्न 'वृत्ति'[७३] चार प्रकार की कही गयी है। भारती[७४], सात्त्वती[७५], कैशिकी[७६] तथा आरभटी[७७]—ये चार वृत्तियाँ है। उद्भटाचार्य के मत मे पाँचवी 'अर्थवृत्ति' और स्वीकार की जाती है। लेकिन अन्य (भोज) अर्थवृत्ति के स्थान पर पाँचवी 'विश्रान्ता'[७८] वृत्ति को स्वीकार करते हैं।

८७ मधुकैटभासुराभ्यां नियुद्धमार्गेण युध्यतो विष्णोः ॥
८८ वृत्तित्रयं प्रसूतं भरतप्रोक्ता च भारतीत्यपरे ।
८९ अपरे तु नाट्यदर्शनसमये कमलोद्भवस्य वदनेभ्यः ॥
शृङ्गारादिचतुष्टयसहिता वृत्तीः समाचख्युः ।
९० दाक्षिणात्या तथाऽऽवन्त्या पौरस्त्या चौढ्रमागधी ॥
प्रवृत्तयश्चतस्रोऽपि वागारम्भाः स्युरेकदा ।
तद्व्यापारात्मिकाः प्रोक्ता वृत्तयश्च चतुर्विधाः ॥
९१ वाचिकं सात्त्विकं नृत्तमाहार्यं च तथाङ्गिकम् ।
यथाक्रमं नियमितं भारत्याद्यासु वृत्तिषु ॥
९२ शृङ्गारे कैशिकी वीरे सात्त्वत्यारभटी पुनः ।
रसे रौद्रे च बीभत्से वृत्तिः सर्वत्र भारती ॥
९३ देशभाषाक्रियाभेदलक्षणाः स्युः प्रवृत्तयः ।
लोकादेवावगम्यैता यथौचित्यं प्रयोजयेत् ॥

---

८७ (नाट्यशास्त्र मे प्राप्त प्राचीन कथा के अनुसार) विष्णु और मधु-कैटभ में द्वन्द्व-युद्ध हुआ और उसमें वाणी, अंग और मन के विभिन्न व्यापारों का जैसा प्रदर्शन हुआ उनसे ही चारो वृत्तियों का उद्भव हुआ ।[७९])

८८ (पुन नाट्यशास्त्र मे प्राप्त परम्परा के अनुसार नाट्यशास्त्र मे प्राप्त वाक्-प्रधान पुरुष-प्रयोज्य संस्कृत पाठ्य-युक्त) भरतों ने अपने नाम से 'भारती' वृत्ति प्रचलित की । (नाट्योत्पत्ति की कथा के प्रसंग मे यह भी उल्लेख मिलता है कि) भरत ने तीन वृत्तियो का प्रयोग तो स्वयं किया लेकिन कैशिकी के प्रयोग की प्रेरणा शिव के नृत्य से मिली ।

८९ अन्य ऐसा भी स्वीकार करते हैं कि नाट्य-दर्शन के समय (अर्थात् शिव-पार्वती का नृत्य देखते हुए) ब्रह्मा के चारों मुखो से शृंगारादि चतुष्टय (शृंगार, वीर, बीभत्स तथा रौद्र) सहित चारों वृत्तियाँ कही गयी ।

९० दाक्षिणात्या, आवन्त्या, पौरस्त्या तथा औड्रमागधी चारों प्रवृत्तियाँ[८०] भी एक ही काल में वागारम्भ कही गयी है । उनकी व्यापारात्मिका वृत्तियाँ चार प्रकार की कही गयी है ।

९१ भारती आदि वृत्तियो मे वाचिक, सात्त्विक, नृत्त, आहार्य तथा आंगिक व्यापार यथाक्रम निश्चित किये गये है ।

९२ कैशिकी का प्रयोग शृंगार-रस मे, सात्त्वती का वीर-रस में आरभटी का रौद्र तथा बीभत्स-रस मे किया जाता है । भारती वृत्ति का सभी रसों मे प्रयोग होता है ।

९३ देश तथा काल के अनुसार नायक की भिन्न-भिन्न भाषा, भिन्न-भिन्न वेष, भिन्न-भिन्न क्रिया 'प्रवृत्ति' कहलाती है ।[८१] इनका ज्ञान लोक से ही प्राप्त हो सकता है कि किस देश मे कैसी भाषा, कैसा वेष, कैसी क्रिया पायी जाती है । इसका ज्ञान प्राप्त कर (कवि) उनका तदनुरूप प्रयोग करे ।

९४ उक्तास्ता वृत्तयः साङ्गा भोजसोमेश्वरादिभिः ।
तस्मादासां स्वरूपं तु दिङ्मात्रं समुदाहृतम् ।।

९५ देश्याः प्रवृत्तयस्तत्तद्देश्यैर्ज्ञेया विचक्षणैः ।
क्रियाभेदा न शक्यन्ते ज्ञातुं वक्तुं च केनचित् ।।
तस्माद्यतः प्रवृत्तिर्वा क्रिया वा यत्र दृश्यते ।
तत्र तज्ज्ञैः सह ज्ञेयास्सर्वैः सर्वाः प्रवृत्तयः ।।
भाषा स्यात्सप्तधा देश्या विभाषाऽपिच सप्तधा ।
मागध्यवन्तिका प्राच्या शौरसेन्याच [न्यर्ध]मागधी ।।
पैंशाची दाक्षिणात्या च तत्तद्देशेषु भाष्यते ।
शकाराभीरचण्डालशबरद्रमिडान्ध्रजाः ।।
हीना वनेचराणां च तत्तज्जातिषु दृश्यते ।
देशभेदक्रियाभेदांस्तत्र तत्रोपलक्षयेत् ।।

९६ एतेऽनुभावाः कविभिर्निबन्धे योग्यकल्पिताः ।
अभिनेया नटैर्नाट्ये तत्तदर्थानुकूलतः ।।

९७ विभावः कारणं कार्यमनुभावः प्रकीर्तितः ।
हेतुकार्यात्मनोः सिद्धिस्तयोः संव्यवहारतः ।।

---

९४ भोज-सोमेश्वर आदि के द्वारा अंग सहित इन वृत्तियों को कह दिया गया है इसलिए इनका स्वरूप यहाँ दिङ्मात्र ही कहा गया है।

९५ उन-उन देशों की प्रवृत्तियाँ उन-उन देशों के विद्वानों से जाननी चाहिए लेकिन क्रिया-भेदों को न कोई जान सकता है और न कोई बता सकता है। इसलिए जहाँ जो प्रवृत्ति या क्रिया (चेष्टा) दिखायी जाती है वहाँ उनके ज्ञाताओ के साथ सभी (कविजनों) को सभी प्रवृत्तियाँ जाननी चाहिए। देश की भाषा सात प्रकार की होती है, विभाषा भी सात प्रकार की होती हैं। मागधी, आवन्तिका, प्राच्या, शौरसेनी, अर्धमागधी, पैशाची और दाक्षिणात्या उन-उन देशो में बोली जाती हैं। शकारी, आभीरी, चाण्डाली, शाबरी, द्राविड़ी, आन्ध्रजा तथा वनेचरों की हीन-भाषा उन-उन जातियों में देखी जाती है। देश के अनुसार क्रियाओं के भेदों को वहाँ-वहाँ देखना चाहिए।

९६ ये अनुभाव (मन-आरम्भ, गात्रारम्भ, वागारम्भ तथा बुद्धचारम्भ) कविजनो द्वारा निबन्ध में यथायोग्य कल्पित किये गये है। नाट्य में नटों को उस-उस अर्थ की अनुकूलता से अभिनय करना चाहिए।

९७ विभाग को कारण तथा अनुभाव को कार्य कहा जाता है। ये विभावानुभाव लौकिक रस के कारण तथा कार्य है तथा लोक-व्यवहार मे इनका प्रत्यक्ष रूप देखने के कारण ये व्यवहार-सिद्ध है।[८२]

९८ ज्ञायमानतया तत्र विभावो भावपोषकृत् ।
भावो हृदि स्थितो येनव्यज्यते चानुभाव्यते ।।
भ्रूविक्षेपकटाक्षादिर्विभावो हृदयं श्रितः ।
भावान् व्यनक्ति यः सोयमनुभाव इतीरितः ।।
रामाद्याश्रयदुःखादेरनुभूतेस्तदात्मता ।
सामाजिकस्य मनसो या स भाव इति स्मृतः ।
९९ एवं विभावानुभावभावाः प्रोक्ताः स्वरूपतः ।
अनुभावास्तु दृश्यन्ते बहवोऽन्ये रसोदये ।।
तत्र तत्राभिधीयन्ते तद्रसोत्कर्षहेतवः ।
१०० मनस्सत्त्वमधिष्ठाय तत्तदिन्द्रियगोचरान् ।
बुद्धिमाश्लिष्य विषयाननुभुङ्क्ते स्वभावतः ।
त्रिधा सत्त्वं भवेद्बुद्धिज्ञानानन्दविभेदतः ।।
तद्भावभावनात्मा स्यात्परदुःखादिसेवया ।
परस्य सुखदुःखादेरनुभावेन चेतसः ।
तद्भावभावनं येन भवेत्तदनुकूलतः ।
तत्सत्त्वं तेन निर्वृत्तास्सात्त्विका इत्युदीरिताः ।।

---

९८ 'विभाव'[८३] वह है जिसका ज्ञान हो सके। यह विभाव भाव (स्थायीभाव) को पुष्ट करने वाला है। जिससे हृदय में स्थित-भाव (स्थायी-भाव) चर्वित होता है और अनुभावित होता है। भ्रू-विक्षेप, कटाक्ष आदि विभाव हृदय के आश्रित होते हैं। जो भावों को व्यक्त करता है वह अनुभाव कहा जाता है। रामादि आश्रय के दुःखादि की अनुभूति के प्रति सामाजिक के मन की जो एकतानता है वह 'भाव'[८४] कही जाती है।

९९ इस प्रकार विभाव, अनुभाव तथा भाव स्वरूपतः कहे गये। रसोदय के समय अन्य बहुत से अनुभाव देखे जाते हैं, वे सभी (अनुभाव) वहाँ-वहाँ उन रसों के उत्कर्ष के हेतु कहे जाते है।

१०० मन सत्त्व का आश्रय लेकर, बुद्धि को आश्लिष्ट कर प्रत्येक इन्द्रियगोचर विषयों का स्वभावतः अनुभव करता है। सत्त्व बुद्धि, ज्ञान तथा आनन्द भेद से तीन प्रकार का होता है। दूसरे लोगो के दुःख आदि के सेवन से भावक के चित्त का परगत दुःखादि भाव से भावित होना 'सत्त्व' कहलाता है। अर्थात् दूसरे लोगों के सुख-दुख आदि के अनुभाव मे जब सामाजिक का अन्तःकरण उस ही भाव मे भावित हो जाय तथा अनुकूल व एकतान हो जाय उसे सत्त्व कहते है। मन का सत्त्व यही है कि जब वह दुःखी या हर्षित होता है तो अश्रु, रोमाञ्च आदि निकल पड़ते है। ये अश्रु-रोमाञ्चादि सत्त्व से निर्वृत्त

अनुभावत्वसामान्ये सत्यप्येषां पृथक्तया ।
लक्षणं सत्त्वजत्वाद्धि तेऽपि स्तम्भादयः स्मृताः ॥
स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्चः स्वरभेदश्च वेपथुः ।
वैवर्ण्यमश्रु प्रलय इत्यष्टौ सात्त्विका मताः ॥

१०१ स्तम्भो मदगदक्रोधभयविस्मयगर्वजः ।
तथा हर्षविषादादेर्जायते नीचमध्ययोः ।
सचेतनोऽपि निश्चेष्टो निष्प्रकम्पो जडाकृतिः ।
स्तब्धगात्रश्च शून्यश्च स्तम्भवानिति कथ्यते ॥

१०२ स्वेदः सम्पीडनक्रोधश्रमव्यायामभीतिभिः ॥
घर्महर्षज्वरग्लानिसुखलज्जादिभिर्भवेत् ॥
स्वेदापनयनेनैव व्यजनग्रहणेन च ।
तथा वाताभिलाषेण ह्यनुभावः प्रकाश्यते ॥

१०३ रोमाञ्चः क्रोधरुग्भीतिहर्षशीतादिभिर्भवेत् ।
तं चोत्सुकासकृद्गात्रसंस्पर्शैः पुलकैर्वदेत् ॥

१०४ स्वरभेदो गदमदक्रोधहर्षभयज्वरैः ।
तस्यानुभवाः कविभिर्वर्ण्यन्ते गद्गदादिभिः ॥
स्थानभ्रष्टैः स्वरैर्भूयः स्खलितैर्गद्गदैरपि ।

---

होते है। अतः सात्त्विक[८५] भाव कहलाते है। यद्यपि सात्त्विक भावों मे सामान्यत अनुभावत्व है, फिर भी सत्त्व से उत्पन्न होने के कारण इन सात्त्विक भावों के पृथक्-रूप से लक्षण किये गये है। स्तम्भादि ये सात्त्विक भाव हैं। ये सात्त्विक भाव आठ है—स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, स्वर-भेद, वेपथु वैवर्ण्य, अश्रु तथा प्रलय।

(सात्त्विक-भाव)

१०१ 'स्तम्भ' मद, रोग, क्रोध, भय, विस्मय, गर्व तथा हर्ष-विषाद आदि से नीच एवं मध्यम में उत्पन्न होता है। सचेतन भी निष्क्रिय, निष्कम्प, जड़-आकृति, शून्य तथा शरीर के कठोर हो जाने से 'स्तम्भ' लाभ वाला कहाता है।

१०२ 'स्वेद' संपीडन, क्रोध, श्रम, व्यायाम, भय, गर्मी, हर्ष, ज्वर, ग्लानि, सुख तथा लज्जा आदि से होता है। स्वेद के हटाने से, पंखा झलने से तथा वायु की अभिलाषा से स्वोदानुभाव प्रकाशित होता है।

१०३ 'रोमाञ्च' क्रोध, रोग, भय, हर्ष तथा शीत आदि से होता है। बार-बार शरीर के स्पर्श से तथा पुलकित होने से रोमाञ्च को जानना चाहिए।

१०४ 'स्वर-भेद' रोग, मद, क्रोध, हर्ष, भय तथा ज्वर से होता है। स्वरों के स्थान भ्रष्ट होने से, बार-बार स्वरों के स्खलित होने से, स्वरों के गद्-गद होने से तथा गद्-गद होने आदि से कविलोग 'स्वर-भेद' का अनुभव वर्णित करते हैं।

बाष्पो जृम्भाभयक्रोधशीतैरनिमिषेक्षणैः ।
जायते रोगशोकाभ्यां धूमाञ्जनविजृम्भणैः ।
वर्ण्यतेऽसौ मुहुर्बाष्पमोक्षणैर्नेत्रमार्जनैः ॥
१०६ वैवर्ण्यमातपक्रोधव्याधिशीतभयक्लमैः ।
अङ्गकार्श्याङ्गसौन्दर्यविप्लवाद्यैः स वर्ण्यते ॥
१०७ कम्पो गदभयस्पर्शहर्षरोषजरादिभिः ।
वेपनैः स्फुरणैः कम्पैस्स वर्ण्यः कविपुङ्गवैः ॥
१०८ प्रलयो मदनिद्रारुक्प्रहारैरुपजायते ।
स च दुःखाभिषङ्गाच्च निश्चेतनतयोच्यते ॥
१०९ एते विशेषतः काव्यबन्धास्तु रसपोषकाः ।
निर्वेदः प्रथमं ग्लानिः शङ्काऽसूया मदः श्रमः ॥
आलस्यदैन्यचिन्ताश्च व्रीडा मोहः स्मृतिर्धृतिः ।
हर्षश्चपलताऽऽवेगजाड्यौत्सुक्यविषादिताः ।
गर्वोऽमर्षोऽवहित्थश्च मतिर्निद्राप्यपस्मृतिः ।
सुप्तिः प्रबोधश्चोग्रत्वं व्याधिर्मरणमेव च ॥
त्रासोन्मादवितर्काश्च विज्ञेया व्यभिचारिणः ।

---

१०५ 'बाष्प' जभाँई, भय, क्रोध, शीत, निर्निमेष देखने, रोग, शोक, धूम (धूआँ), अञ्जन तथा विजृम्भण से उत्पन्न होता है। बार-बार आँसूओ के गिरने से तथा आँखों को पोछने से 'बाष्प' का अभिनय होता है।

१०६ 'वैवर्ण्य' गर्मी, क्रोध, व्याधि, शीत, भय तथा थकान से उत्पन्न होता है। शरीर को कृश करके, शरीर के सौन्दर्य को फीका करके वह वैवर्ण्य वर्णित किया जाता है।

१०७ 'कम्प' रोग, भय, स्पर्श, हर्ष, रोष तथा वृद्धावस्था से उत्पन्न होता है। काँपने, स्फुरित होने तथा थरथराहट से कविलोगों को उस 'कम्प' का वर्णन करना चाहिए।

१०८ 'प्रलय' मद, निद्रा, रोग, प्रहार से उत्पन्न होता है। दुःख के प्रसंग से तथा निश्चेष्टता से प्रलय का अभिनय होता है।

ये (सात्त्विक भाव) विशेषतः काव्य के अनुबन्ध हैं और रस के पोषक भी हैं।

(व्यभिचारी-भाव)

१०९ निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया, मद, श्रम, आलस्य, दैन्य, चिन्ता, व्रीडा, मोह, स्मृति, धृति, हर्ष, चपलता, आवेग, जड़ता, औत्सुक्य, विषाद, गर्व, अमर्ष, अवहित्था, मति, निद्रा, अपस्मृति, सुप्ति, प्रबोध, औग्र्य, व्याधि, मरण, त्रास, उन्माद तथा वितर्क—ये 33 (तैंतीस) व्यभिचारी-भाव हैं।

११० दारिद्र्यव्याधिदुःखेष्टवियोगपरवृद्धिभिः ॥
ईर्ष्यातत्त्वावबोधाभ्यां निर्वेदो नाम जायते ।
अन्तर्बाष्पोद्गमध्याननिश्वासाश्च मुहुर्मुहुः ॥
स्वात्मावमाननं दैन्यं गद्गदत्वं विवर्णता ।
अनुभावास्तु गदिता निर्वेदस्यैवमादयः ॥
स्त्रीनीचादिषु वर्ण्योऽयं रुदितश्वसितादिभिः ।
तत्त्वावबोधजो योगिष्वनुपादेयतां व्रजेत् ॥
१११ ग्लानिर्विरेकवमनजागरातिरताध्वभिः ।
उपवासमनस्तापक्षुत्पिपासादिभिर्भवेत् ॥
कम्पानुत्साहवैवर्ण्यस्वेदमन्दपदक्रमैः ।
क्षामवाक्याक्षिसञ्चारकार्श्याङ्गश्वसनादिभिः ॥
ग्लानिजाह्यनुभावास्ते कथिता ह्येवमादयः ।
११२ चौर्यादिग्रहपापादिकर्मक्ष्मापापराधजा ॥
शङ्का सन्देहरूपा स्यात्स्त्रीनीचप्रकृतिश्रिता ।
स्वात्मोत्था च परोत्थेति सा पुनर्द्विविधा भवेत् ॥

---

(निर्वेद)

११० 'निर्वेद, नामक व्यभिचारी-भाव दरिद्रता, व्याधि (रोग) दु.ख, प्रियजन के वियोग, दूसरे की वृद्धि, ईर्ष्या तथा तत्त्वज्ञान आदि विभावों से उत्पन्न होता है। बार-बार अन्दर-अन्दर ही आँसुओं का निकलना, ध्यान, नि.श्वास, अपने को धिक्कारना, दीनता, गद्-गद होना तथा विवर्णता आदि निर्वेद के अनुभाव कहे गये हैं। यह भाव स्त्री एवं नीच प्रकृति के लोगों के रुदन, लम्बी श्वाँस से अभिनेय है। योगियों मे 'तत्त्व-ज्ञान-जन्य' (निर्वेद) अनुपादेय है।

(ग्लानि)

१११ 'ग्लानि' नामक व्यभिचारी-भाव रेचन, वमन, जागरण, अतिशय कामभाव, मार्ग से थकावट, उपवास, मन का संताप, क्षुधा तथा पिपासा आदि विभावों मे उत्पन्न होता है। कम्पन, उत्साह, वैवर्ण्य, स्वेद, पद-विक्षेप की मन्दता, वचन में दुर्बलता, नेत्र-संचार, अंगों की तनुता तथा श्वास लेना आदि अनुभावों से अभिनेय है। इस प्रकार ये ग्लानि से उत्पन्न अनुभाव कहे जाते है।

(शंका)

११२ 'शंका' नामक व्यभिचारी-भाव चोरी आदि मे पकड़ाने, पापाचरण तथा राजा के अपराध आदि विभावों से उत्पन्न होता है। स्त्री तथा नीच प्रकृति के पात्रों के आश्रित रहने वाला यह भाव सन्देह-रूप अर्थात् 'सन्देहात्मक' होता है। यह भाव दो प्रकार का होता है—स्वात्मोत्था तथा परोत्था। स्वर-भेद, अश्रु,

स्वरभेदोऽश्रु वैवर्ण्यमास्यशोषोऽवकुण्ठनम् ।
पार्श्वावलोकनं जिह्वालेहनं चोरुकम्पनम् ॥
आकारसंवृतिरिति भावाः शङ्कानुभावकाः ।
आत्मोत्था तुपरिज्ञेया दीनदृष्टिविलोकनैः ॥
परोत्थात्वङ्गचेष्टाभिर्विज्ञेया भावकोविदैः ।
तारापुटभ्रूदृष्टीनां विकारानिङ्गितं विदुः ॥
आकाराः सत्त्वजा भावा इति विद्वद्भिरीरिताः ।
चेष्टाः स्युरङ्गप्रत्यङ्गजनितास्त्वनिमित्ततः ॥
११३ परस्य सौभाग्यैश्वर्यमेधालीलासमुच्छ्रयैः ।
असूया नाम सा दूरापराधान्वेषणादिभिः ॥
दोषप्रख्यापनमधोमुखता भ्रुकुटीकृतिः ।
अप्रदानं दृशोरीर्ष्यापरिवर्तितवक्त्रता ॥
अवज्ञेत्यनुभावाः स्युरसूयायामुदाहृताः ।
११४ मद्योपयोगादैश्वर्याद्विद्यया चापि जन्मत ॥
उत्तमस्त्रीपरिष्वङ्गान्मदः सम्पद्यते नृणाम् ।
मद्योपयोगजस्त्रेधा तरुणो मध्यमस्तथा ॥
अपकृष्टश्च तस्यैव करणं पञ्चधा भवेत् ।
ज्येष्ठा मध्या कनिष्ठेति तस्यैव प्रकृतिस्त्रिधा ॥

---

वैवर्ण्य, मुँह सूखना, सकुचित होना, बगल में देखना, जिह्वा चाटना, उरु-कम्पन तथा आकृति को ढँकना आदि शंका के अनुभाव है। दीन दृष्टि से देखने से 'आत्मोथा' शंका-भाव को जानना चाहिए। सहृदयों को अंग-चेष्टाओं से 'परोत्था' शंकाभाव को जानना चाहिए। पलकें, भ्रुकुटी तथा दृष्टि के विकार को 'इंगित' जानना चाहिए। सत्त्व से उत्पन्न सात्त्विक-भावों को विद्वान 'आकार' कहते है। अंग-प्रत्यग से अकारण किया गया व्यापार 'चेष्टा' है।

(असूया)

११३ 'असूया' नामक व्यभिचारी-भाव दूसरों के सौभाग्य, ऐश्वर्य, मेधा, लीला, उत्कर्ष तथा दूर के अपराधों के अन्वेषण आदि विभावों से उत्पन्न होता है। दोष-कथन, नीचे मुँह करना, भौहें चढाना, दृष्टि नही देना, ईर्ष्या के कारण मुँह फेर लेना तथा अवहेलना करना आदि 'असूया' के अनुभाव हैं।

(मद)

११४ मद्य के उपयोग, ऐश्वर्य, विद्या, जन्म तथा उत्तम स्त्री के आलिंगन से मनुष्यों में मद नामक व्यभिचारी-भाव सम्पादित होता है। मद्य के उपयोग से उत्पन्न 'मद' व्यभिचारी-भाव तरुण, मध्य और अपकृष्ट के भेद से तीन प्रकार का होता

अन्यदारभते वाक्यमन्यां वाचं ब्रवीति च ।
वीक्षते कंचिदेकं च भुजाभ्यामवलम्बते ॥
पुरश्चालयते पादौ तिर्यक्तौ निदधाति च ।
आविर्भूतस्वेदलेशं हर्षादुत्फुल्लमाननम् ॥
अव्यक्तवर्णं वचनं मदे तरुणनामनि ।
११५ स्खलद्विलम्बिगमनं व्याविद्धपदसञ्चरम् ॥
श्लथमानभुजाक्षेपः शून्यालम्बनमीक्षणम् ।
अविभक्तपदालापो विस्मृतिश्च पदे पदे ॥
आकाशलक्षं वचनं तथाकाशावलम्बनम् ।
इत्थं मध्यमदे प्रोक्तमेवमादिविचेष्टितम् ॥
११६ न संज्ञां लभते गन्तुं न शक्नोति पदात्पदम् ।
पर्दते छर्दते निष्ठीवति श्वसिति हिक्कते ॥
गुरुकण्ठध्वनिर्नष्टस्मृतिर्जर्झरभाषणम् ।
एवमादिविकाराः स्युरपकृष्टमदे मुहुः ॥
केचित्स्वपन्ति गायन्ति केचित्केऽपि हसन्ति च ।
केचिद्रुदन्ति केचित्तु परुषं ब्रुवते मुहुः ॥

---

है । इसके पाँच कारण (विभाग) होते है । ज्येष्ठा (उत्तम), मध्या (मध्यम) तथा कनिष्ठा (अधम)—इनकी तीन प्रकार की प्रकृति होती है। 'तरुण' नामक मद में उत्तम प्रकृति के पात्र मत्त हो हर्ष के कारण पसीने की बूँदों से लथपथ हो जाता है, प्रफुल्लित वदन वाला हो जाता है तथा अस्पष्ट पदावली से युक्त वचनों का प्रयोग करता है, अन्यथा वाक्य प्रारम्भ करता है, अन्य वाणी बोलता है, किसी एक को देखता है, भुजाओ से सहारा लेता है, दीवाल का सहारा लेता है और टेढे पैर रखता है ।

११५ 'मध्य-मद' में ऐसा कहा जाता है कि मध्यम प्रकृति का पात्र मत्त हो लडखड़ाती हुई तथा अविलम्बि-गति, अस्थिर—पद-संचरण अर्थात् अस्थिर-चाल, शिथिल बाहुओं का विक्षेप, शून्य का सहारा लेती हुई दृष्टि, संयुक्त पदों का बोलना, पद-पद पर विस्मृति, आकाश को लक्षित करते हुए वचन तथा आकाश का अवलम्बन (सहारा) आदि चेष्टाएँ करता है ।

११६ 'अपकृष्ट' मद में अधम प्रकृति का पात्र जब मत्त होता है तो कण्ठ-ध्वनि का भारीपन, स्मृति का नाश, टूटा-टूटा भाषण आदि विकारों का प्रदर्शन करता है तथा चेतना नही रखता है, एक कदम से दूसरे कदम चल नही सकता है, अपान वायु छाड़ता है, छीकता है, थूकता है, साँस लेता है, हिचकी लेता है । कोई बार-बार सोते है, कोई बार-बार गाते है, कोई बार-बार हँसते है, कोई बार-बार रोते है तथा कोई बार-बार कठोर वचन बोलते है ।

११७ उत्तमप्रकृतिः शेते नृत्यन् गायति मध्यमः ।
अधमो रोदिति हसत्येवं प्रकृतिजा गुणाः ॥
११८ विद्याऽऽभिजात्यसम्पत्तिमदेऽनुत्तरभाषणम् ।
अवज्ञागर्भितं वाक्यं सुहृदामप्यनादरः ॥
एवमादिविकाराः स्युर्विद्यादिजनिते मदे ।
११९ उत्तमस्त्रीरतिमदे हर्षो रागश्च चक्षुषोः ॥
सौरभ्यमङ्गलावण्यमहंमतिरनादरः ।
एवमादिविकाराश्च कथिताः पूर्वसूरिभिः ॥
१२० व्याघूर्णमानतारं यत्क्षामोपान्तविचोलनम् ।
चक्षुर्विकसितापाङ्गं तरुणे मदिरामदे ॥
१२१ आकुञ्चितोभयपुटमनवस्थिततारकम् ।
आकम्पमानपक्ष्माग्रं चक्षुर्मध्यमदे भवेत् ।
१२२ निमेषोन्मेषविकृतमन्तर्दर्शिततारकम् ।
अधोऽवलोकनं चक्षुरधमे तु मदे भवेत् ॥
१२३ एवं मदविकाराश्च कथिताः पूर्वसूरिभिः ।
१२४ श्रमो व्यायामनृत्ताध्वमैथुनादिनिषेवणैः ॥
अङ्गमर्दननिश्वासपादसंवाहजृम्भणैः ।

---

११७ उत्तम प्रकृति का पात्र सोता है। मध्यम प्रकृति का पात्र नाचता हुआ गाता है। अधम प्रकृति का पात्र रोता और हँसता है। इस प्रकार ये प्रकृति-जन्य गुण है।

११८ विद्या, कुलीन (अभिजात्य), सम्पत्ति-जन्य मद मे अनुत्तर भाषण, अवज्ञा (अनादर), गर्हित वाक्य, मित्रों का भी अनादर आदि इस प्रकार के विकारों का प्रदर्शन होता है।

११९ उत्तम-स्त्री-रति-जन्य मद मे आँखों मे हर्ष और राग, सौरभ्य, अंग-लावण्य, अहं-बुद्धि तथा अनादर आदि इस प्रकार के विकारो को पूर्व-आचार्य बताते है।

१२० मदिरापान से उत्पन्न 'तरुण' मद में नेत्र चंचल तारों वाले, पतली कनीनिका वाले तथा विकसित अपांग वाले हो जाते है।

१२१ 'मध्य-मद' मे नेत्र सिकुड़े हुए, भय से ढँके हुए, चंचल तारों वाले, काँपती हुई अर्धवरौनी वाले हो जाते है।

१२२ 'अधम-मद' में नेत्र बन्द होते है, खुलते है, बिगड़ी हुई (टूटी हुई) तथा बीच-बीच मे टूटी हुई दृष्टि वाले हो जाते हैं तथा नीचे दृष्टि डाले हुए रहते हैं।

१२३ इस प्रकार पूर्वाचार्यो ने 'मद' के विकार कहे है।

(श्रम)

१२४ 'श्रम' नामक व्यभिचारी-भाव व्यायाम, नृत्य, दूर की यात्रा तथा सुरतसेवन आदि

मन्दयानेन सीत्कारमुखनेत्रविकूणनैः ॥
एतैः श्रमस्यानुभावः कथ्यते काव्यसूरिभिः ।
१२५ स्वभावखेदसौहित्यव्याधिगर्भादिभिर्भवेत् ॥
आलस्यं तच्छिरश्शूलजृम्भणाक्षिविमर्दनैः ।
स्तम्भेन गात्रमनसो स्त्रीनीचादिषु वर्ण्यते ॥
सर्वत्र कार्यप्रद्वेषान्निद्रातन्द्रीनिषेवणात् ।
शयनासनरागेण वर्ण्योऽसावितरेषु तु ॥
१२६ दैन्यमौत्सुक्यदौर्गत्यचिन्ताहृत्तापसम्भवम् ।
अनुभावः शिरश्शूलशिरोव्यावृत्तिधूननैः ॥
देहोपस्करणत्यागात् गात्रगौरवतो भवेत् ।
१२७ ऐश्वर्यभ्रंशदारिद्र्यादिष्टद्रव्यापहारतः ॥
वितर्कात्मा भवेच्चिन्ता स्मृतेरन्या प्रतीयते ।
निश्वासैश्चापि सोच्छ्वासैरधोमुखविचिन्तनैः ॥
सन्तापशून्यचित्तत्वकार्श्याकाशावलोकनैः ।
एवं चिन्तानुभावास्तु कथ्यन्ते काव्यकोविदैः ॥

---

विभावों से उत्पन्न होता है। शरीर दबाने, निःश्वास, पैर मालिश करने, जँभाई, मन्द गति, सीत्कार तथा आँख-मुँह सिकोड़ने आदि अनुभावो से अभिनेय है। इस प्रकार ये 'श्रम' के अनुभाव कविजनो द्वारा कहे गये है।

(आलस्य)

१२५ 'आलस्य' नामक व्यभिचारी-भाव स्वभाव, खेद, अघाने, रोग तथा गर्भ आदि विभावो से उत्पन्न होता है। शिर-दर्द, जँभाई, आँख रगड़ने तथा शरीर और मन के रोकने आदि अनुभावो द्वारा यह भाव स्त्रियो तथा नीच प्रकृति के पात्रों मे वर्णित होता है तथा सभी कार्यो मे अरुचि, निन्द्रा और तन्द्रा मे रहने, शयन, आसन तथा राग आदि अनुभावो के द्वारा यह भाव स्त्री तथा नीच प्रकृति के पात्रों से भिन्न अन्य पात्रो मे वर्णित होता है।

(दैन्य)

१२६ 'दैन्य' नामक व्यभिचारी-भाव, औत्सुक्य, दुर्गति, चिन्ता तथा मनस्ताप आदि विभावों से उत्पन्न होता है। शिर-दर्द, शिर फटना, व्याकुलता, शरीर की पीड़ा, शरीर का त्याग तथा शरीर की गुरुता आदि अनुभावों से अभिनेय होता है।

(चिन्ता)

१२७ ऐश्वर्यनाश, दारिद्र्य तथा इष्ट द्रव्य के अपहरण आदि विभावो से संशय-स्वरूप (वितर्कात्मा) 'चिन्ता' नामक व्यभिचारी-भाव उत्पन्न होता है, तथा स्मरण से अन्य प्रतीत होता है। नि:श्वास उच्छ्वास, नीचे मुँह कर चिन्तन, सन्ताप, चित्त के शून्य होने, कृशता तथा आकाश की ओर देखने आदि अनुभावों से यह अभिनेय होता है। इस प्रकार ये 'चिन्ता' के अनुभाव काव्यज्ञो द्वारा कहे गये है।

१२८ अकार्यकरणाज्ञानगुर्वाज्ञादिव्यतिक्रमात् ।
अनिर्वाहात्प्रतिज्ञायास्त्यागे भूयोऽनुतापतः ॥
व्रीडा तदनुभावाः स्युरुर्वीलेखनचिन्तनम् ।
मुखावनम्रताऽव्यक्तवचनं नखकर्तनम् ॥
वस्त्राङ्गुलीयकस्पर्शो दूरादेवावकुण्ठनम् ।
अनिर्गमो बहिः क्वापि सर्वत्राप्यनवस्थितिः ॥

१२९ मोहश्चित्तस्य शून्यत्वं पूर्ववैरस्मृतेर्मदात् ।
दैवोपघातान्मात्सर्यात् भयाच्चापि प्रहारतः ॥
आवेगात्तत्प्रतीकारविहतेरेवमुद्भवेत् ।
निश्चेष्टता प्रपतनं वैवर्ण्यं देहघूर्णनम् ॥
सर्वेन्द्रियप्रमोहश्च निश्वासो नष्टसंज्ञता ।
मोहस्य कथिताः सद्भिरनुभावाः स्वरूपतः ।

१३० देशकालोपयुक्तानां सुखदुःखानुषङ्गिणाम् ।
चिरविस्मृतवस्तूनां स्मरणं स्मृतिरुच्यते ॥
दौस्स्थ्यान्निद्राक्षयाद्रात्र्याः प्रहरात्पश्चिमादपि ।
चिन्ताया मुहुरभ्यासात्समानश्रुतिदर्शनात् ॥

---

(व्रीडा)

१२८ 'व्रीडा' नामक व्यभिचारी-भाव अनुचित कार्य करने, अज्ञान, गुरुजनों की आज्ञादि का उल्लंघन, प्रतिज्ञा के निर्वाह न होने तथा त्याग में बार-बार दुःख करने आदि विभावों से उत्पन्न होता है। पृथ्वी पर लिखना, चिन्तन, मुँह नीचा करना, अस्पष्ट वाक्य बोलना, नाखून कतरना, वस्त्र तथा अँगूठी का स्पर्श करना, दूर से ही घूँघट करना, कही भी बाहर न निकलना तथा सभी जगह न रुकना आदि व्रीडा के अनुभाव हैं।

(मोह)

१२९ 'मोह' नामक व्यभिचारी-भाव चित्त की शून्यता, पुराने वैर के स्मरण, मद, दैवीय विपत्ति, मत्सर, भय, प्रहार, आवेग तथा उसके बदले में विरोध आदि विभावों से उत्पन्न होता है। निश्चेष्टता, पतन, वैवर्ण्य (मुँह का फीका पड़ना) शरीर का चकराना, सभी इन्द्रियो के प्रति मोह, निश्वास तथा निश्चेतता आदि विद्वानों ने 'मोह' के स्वरूपतः अनुभाव कहे हैं।

(स्मृति)

१३० देश तथा काल के उपयुक्त, सुख तथा दुःख से सम्बन्धित, बहुत पूर्व समय में भूली हुई वस्तुओं का स्मरण ही 'स्मृति' भाव कहलाता है। अस्वस्थता, रात्रि के पिछले प्रहर में निद्रा-भग होना, चिन्ता, बार-बार अभ्यास, समान श्रवण

भवेत्तदनुभावस्तु भ्रूसमुन्नमनं मुहुः ।
उद्वाहनं च शिरसः सदृशस्यावलोकनम् ॥
हर्षश्च शिरसः कम्पः कथितो रसकोविदैः ।
१३१ शौर्याद्विज्ञानतः शौचाचाराच्च गुरुभक्तितः ॥
श्रुतप्रभावतो व्रीडान्नानार्थाप्तेर्भवेद्धृतिः ।
प्रियाप्रियाविकारित्वं तदात्वोचितकारिता ॥
अप्राप्तातीतनष्टानामलाभेऽनभिशोचनम् ।
१३२ हर्षो मनःप्रसादः स्यादीप्सितार्थोपसङ्गमात् ॥
इष्टसङ्गमनाद्देवगुरुभर्तृप्रसादतः ।
अभिरूपोपभोगाच्च बन्धुतृप्तेः सुभोजनात् ॥
अचिन्त्येष्टार्थसम्पत्तेर्जायते सर्वदा नृणाम् ।
रोमाञ्चालिङ्गनस्वेदैः ललितैःकरताडनैः ॥
नेत्रवक्त्रप्रसादैश्च भाषितैर्मधुरैरपि ।
त्यागदानप्रबन्धैः स्युरनुभावास्तु हर्षजाः ॥
१३३ चापलं प्रातिकूल्येर्ष्यामत्सरद्वेषरागजम् ।

---

तथा दर्शन आदि विभावों से 'स्मृति' नामक व्यभिचारी-भाव उत्पन्न होता है। बार-बार भौहों का चढना, शिर का घूमना, समान वस्तु का अवलोकन, हर्ष तथा शिर का कम्पन आदि रसज्ञों ने 'स्मृति' के अनुभाव कहे है।

(धृति)

१३१ 'धृति' नामक व्यभिचारी-भाव शूरता, विज्ञान, पवित्र-आचार, गुरु-भक्ति, श्रुति-प्रभाव, क्रीड़ा तथा नानार्थ की प्राप्ति आदि विभावों से उत्पन्न होता है। प्रिय-अप्रिय मे विकार न होना, तत्कालीन उचित कर्म करना; अप्राप्त, अतीत, नष्ट विषयों का लाभ न होने पर शोक न करना आदि 'धृति' के अनुभाव है।

(हर्ष)

१३२ मन की प्रसन्नता 'हर्ष' है। यह 'हर्ष' नामक व्यभिचारी-भाव अभीष्ट वस्तु के समागम, प्रियजन-समागम, देवता, गुरु तथा स्वामी की प्रसन्नता, अनुकूल-उपभोग, मित्र की प्रसन्नता, सुन्दर भोजन, अचिन्त्य तथा अभीष्ट अर्थ-प्राप्ति आदि विभावों से मनुष्यों में सर्वदा उत्पन्न होता है। रोमांच, आलिगन, खेद, ललित-कर-ताड़न, नयन-वदन की प्रसन्नता, मधुर-भाषण, त्याग तथा दान की कहानी आदि 'हर्ष' से उत्पन्न अनुभव हैं।

**(चंचलता)**

१३३ 'चंचलता' नामक व्यभिचारी-भाव प्रतिकूलता, ईर्ष्या, मत्सर, द्वेष तथा राग

अनुभावोऽबिमृश्यैव ताडनं बन्धनं वधः ॥
भर्त्सनं दण्डपारुष्यमवमानादि कथ्यते ।
आवेगस्तु महोत्पातवातवर्षाग्निकुञ्जरात् ॥
प्रियाप्रियश्रुतेश्चापि व्यसनाभिहतैरपि ।
उल्काशनिप्रपतनचन्द्रसूर्योपरागतः ॥
केतुदर्शनभूकम्पादिभिरुत्पात उच्यते ।
स वर्णनीयो वैवर्ण्यभयविस्मयसम्भ्रमैः ।
विषादाद्वैमनस्येन सर्वाङ्गोत्कम्पनैरपि ।
त्वरितैर्गमनैर्वस्त्राच्छादनैरवकुण्ठनैः ॥
नेत्रावमर्दनैर्वातजनितं वर्णयेद् बुधः ।
छत्रादिग्रहणाच्छन्नाश्रयसर्वाङ्गपीडनैः ॥
आपीडधावनैर्बाहुस्वस्तिकोत्कटिकासनैः ।
शिरोऽवनमनैः शीघ्रगतैर्वर्ण्येत वर्षजम् ।
अतिक्रान्तपदैरङ्गधूननैर्व्यजनग्रहैः ।
बाष्पजृम्भणनिश्वासैरभिनेयोऽग्निसंभवः ॥

---

आदि विभावो से उत्पन्न होता है । असावधानी, ताडन, बन्धन, वध, भर्त्सना दण्ड, कठोरता तथा अपमान आदि 'चचलता' के अनुभाव कहे जाते है ।

(आवेग)

'आवेग' नामक व्यभिचारी-भाव महान् उत्पत्ति, आँधी, वर्षा, अग्नि-प्रकोप, हाथी का इधर-उधर भागना, प्रिय या अप्रिय समाचार के श्रवण तथा विपत्ति-ग्रस्त आदि विभावो से उत्पन्न होता है।

(१) तारो के टूटने, शनि नक्षत्र के गिरने, चन्द्र-ग्रहण तथा सूर्य-ग्रहण, पुच्छल तारे के दीखने तथा भूकम्प आदि से 'उत्पात-जन्य-आवेग' कहलाता है । यह 'आवेग' भाव मुख की विवर्णता, भय, आश्चर्य, घबराहट, विषाद, वैमनस्य तथा सर्वांग-कम्पन आदि अनुभावो से वर्णनीय है ।

(२) शीघ्र-गमन, वस्त्र-आच्छादन, घूँघट तथा आँखो के रगड़ने आदि अनुभावो से 'वात-जन्य-आवेग' कविजनों द्वारा उपस्थित होना चाहिए ।

(३) छतरी आदि के ग्रहण करने, पटाव का आश्रय, सर्वांग मे पीड़ा, पीड़ा-युक्त दौड़ना; बाहु, स्वस्तिक तथा उत्कटित आसन, शिर को झुकाना तथा शीघ्र-गति आदि अनुभावो से 'वर्षा-जन्य-आवेग' को उपस्थित करना चाहिए ।

पैरों को फेकना, शरीर की व्याकुलता, पखा झलने, आँसू, जँभाई तथा निःश्वास आदि अनुभावो से 'अग्नि-जन्य-आवेग' अभिनेय है ।

१३९ पश्चाद्विलोकनस्तम्भभयवेपथुविस्मयैः ।
कुञ्जरभ्रमजो भाव्यस्त्वरितैरपसर्पणैः ॥
१४० वस्त्राभरणदानाश्रुपुलकालिङ्गनादिभिः ।
अभ्युत्थानेन वर्ण्योऽयं प्रियश्रवणजो बुधैः ॥
१४१ विलापाक्रन्दभूपातपरिदेवितधावितैः ।
अप्रियश्रुतिजो वर्ण्यो विषमैः परिवर्तनैः ॥
१४२ गजवाजिरथारोहशस्त्रास्त्रग्रहधारणैः ।
शत्रुव्यसनजो वर्ण्यः सहसाऽपक्रमादिभिः ॥
१४३ एवमष्टविधो ज्ञेय आवेगः सम्भ्रमात्मकः ।
१४४ जाड्यमप्रतिपत्तिः स्यात्सर्वकार्येषु सर्वदा ॥
प्रियाप्रियश्रुतैस्तत्तद्दर्शनैर्व्याधिभिर्भवेत् ।
सुखदुःखाविवेकित्वमिष्टानिष्टानभिज्ञता ॥
तूष्णीमप्रतिभा चाक्ष्णोरनिमेषोऽनवेक्षणम् ।
अभाषणं पारवश्यमेतैर्जाड्यं निरूप्यते ॥
१४५ औत्सुक्यमिष्टविरहात्तदनुस्मृतिदर्शनात् ।

---

१३९ (५) पीछे देखना, स्तम्भ, भय, कम्पन, आश्चर्य तथा शीघ्रता से पीछे हटना आदि अनुभावो से 'कुञ्जर-भ्रमण-जन्य-आवेग' अभिनेय है ।

१४० (६) वस्त्राभूषण के दान, अश्रु, रोमाच, आलिगन तथा अभ्युत्थान आदि अनुभावों से 'प्रिय-श्रवण-जन्य-आवेग', विद्वानो द्वारा वर्णित होना चाहिए ।

१४१ (७) विलाप, आक्रन्द, भूमि पर गिरने, रोने, दौड़ने तथा विषम-परिवर्तन आदि अनुभावों से 'अप्रिय-श्रवण-जन्य-आवेग' अभिनेय है ।

१४२ (८) हाथी, घोड़े तथा रथ पर चढ़ने; अस्त्र-शस्त्र-ग्रह धारण करने तथा अकस्मात् पीछे हटने आदि अनुभावो से 'शत्रु-व्यसन-जन्य-आवेग' अभिनेय है ।

१४३ इस प्रकार आठ प्रकार के सम्भ्रमात्मक (घबराहट से युक्त) आवेग को जानना चाहिए ।

(जड़ता)

१४४ 'जड़ता' नामक व्यभिचारी भाव हमेशा सभी प्रकार के कार्यो में प्रवृत्त न होने पर होता है । इष्टानिष्ट के श्रवण और दर्शन, तथा व्याधि (रोग) आदि विभावो से उत्पन्न होता है । सुख-दु.ख के प्रति अविवेक, प्रियाप्रिय कार्यो मे अनभिज्ञता, मौन रहने, अप्रतिभ रह जाने, एकटक देखने, न देखने, न बोलने तथा परवश होने आदि अनुभावों से 'जड़ता' निरूपित होती है ।

(उत्सुकता)

१४५ 'उत्सुकता' नामक व्यभिचारी—भाव प्रिय के वियोग, वियोग के अनुस्मरण तथा दर्शन आदि विभावो से उत्पन्न होता है । चिन्ता, निद्रा, शय्या की अभिलाषा (सोने

चिन्तया निद्रया शय्याऽभिलाषाद्गात्रगौरवैः ॥
वर्ण्यते सम्यगौत्सुक्यं त्वरानिश्वसितादिभिः ।
१४६ कार्यानिस्तरणाद्दैवात् व्यापत्तेराजदोषतः ॥
चौर्यादिग्रहणाद्विघ्नाद्विषादो नाम जायते ।
ज्येष्ठमध्यकनिष्ठेषु स त्रिधा कथ्यते बुधैः ॥
सहायान्वेषणोपायचिन्तादि ज्येष्ठतो भवेत् ।
वैमनस्यमनुत्साहो विघ्नैः शय्या च मध्यमे ॥
ध्यानश्वसितमूर्च्छादिः कनिष्ठानां निरूप्यते ।
१४७ गर्वो विद्याबलैश्वर्यवयोरूपधनादिभिः ॥
तमनुत्तरदानेन शून्यालोकैरभाषणैः ।
आश्रितेष्वप्यवज्ञानाद्दोर्द्वयाङ्गावलोकनात् ॥
असूयाऽमर्षपारुष्यापहासगुरुलङ्घनैः ।
अकारणादधिक्षेपाद्गात्राणां विकृतैर्वदेत् ॥
१४८ प्रतिक्रियेच्छाऽमर्षः स्याद्विद्यैश्वर्यबलाधिकैः ।
आक्षिप्तस्य सभामध्येऽवमानं गमितस्य वा ॥

---

की इच्छा), शरीर की गुरुता तथा शीघ्र निःश्वास आदि अनुभावो से 'उत्सुकता' अभिनेय है ।

(विषाद)

१४६ 'विषाद' नामक व्यभिचारी-भाव कार्य न करने, देवी-विपत्ति, राजदोष, चोरादि के पकड़ने तथा विघ्न आदि विभावो से उत्पन्न होता है । ज्येष्ठ, मध्य तथा कनिष्ठ पात्रो मे रहने से 'विषाद' विद्वानो द्वारा तीन प्रकार का कहा जाता है । सहायक के ढूँढ़ने तथा उपाय की चिन्ता करने आदि अनुभावों से 'ज्येष्ठ' का विषाद अभिनेय है । वैमनस्य, उत्साहनाश तथा विघ्न से सोने आदि अनुभावो से 'मध्यम' का विषाद अभिनेय है । ध्यान तथा साँस लेते हुए, मूर्च्छा आदि अनुभावो से 'नीचों' का विषाद निरूपित होता है ।

(गर्व)

१४७ 'गर्व' नामक व्यभिचारी-भाव विद्या, बल, ऐश्वर्य, अवस्था (वय), रूप तथा धन आदि विभावों से उत्पन्न होता है । उत्तर न देने, शून्य दृष्टि, न बोलने, आश्रितों के प्रति भी अनादर, दोनों भुजा तथा अंग देखने, असूया, अमर्ष, कठोरता, उपहास, गुरुजनों की अवहेलना, अकारण तिरस्कार तथा शरीर की विकृति आदि अनुभावो से अभिनेय है ।

(अमर्ष)

१४८ प्रतीकार करने की इच्छा का नाम 'अमर्ष' है । यह भाव विद्या, ऐश्वर्य तथा बल में अधिक समर्थ पुरुषो द्वारा सभा के मध्य में अपमानित तथा अनादर

शिरःप्रकंपनस्वेदध्यानोपायगवेषणैः ।
उत्साहव्यवसायाद्यैर्वर्ण्योऽसौ रसकोविदैः ।।
१४९ अवहित्थं भयव्रीडाधाष्ट्र्यकौटिल्यसंभवम् ।
शून्यस्मितं कथाभङ्गो मिथ्याधैर्यं तदीक्षणम् ।।
अन्तर्व्यथा बहिर्गर्वभावनेत्यवहित्थजाः ।
१५० नानाशास्त्रार्थनिष्पन्ना मतिःस्याच्छ्रुतधारिणी ।।
संशयच्छेदनैः शिष्यहिताधानार्थदर्शनैः ।
वर्ण्यते चित्तसन्तोषाद्विदग्धव्यवहारतः ।।
१५१ निद्रा मदश्रमग्लानिदौर्बल्यालस्यचिन्तनैः ।
अत्याहारादनशनदुःखशोकादिभिर्भवेत् ।।
तां गात्रगौरवैरक्ष्णोर्निमीलनविघूर्णनैः ।
निश्वासजाड्यजृम्भाक्षिविमर्दैर्वर्णयेत्कविः ।।
१५२ अपस्मारो महाभूतपिशाचब्रह्मरक्षसाम् ।
ग्रहणानुस्मृतेः शून्यश्मशानागारसेवनैः ।।

---

या न्यून किये हुए व्यक्ति में उत्पन्न होता है। शिर मे कम्पन, स्वेद, ध्यान, उपाय-अन्वेषण, उत्साह तथा प्रयत्न (व्यवसाय) आदि अनुभावों से वह 'अमर्ष' रसज्ञों द्वारा अभिनेय है।

(अवहित्था)

१४९ 'अवहित्था' नामक व्यभिचारी-भाव भय, लज्जा, धृष्टता तथा कुटिलता आदि विभावों से उत्पन्न होता है। शून्य मुस्कराहट, कथा-भंग, मिथ्या-धैर्य, उसका अवलोकन, अन्तर्दुःख तथा बाह्य गर्व-भावना आदि अवहित्थाजन्य अनुभाव हैं।

(मति)

१५० अनेक शास्त्रार्थो से पूर्ण तथा श्रुतियों को धारण करने वाली 'मति' है। यह भाव-शास्त्र सम्बन्धी संशय को दूर करने, शिष्यों के हित की शिक्षा देने, अर्थ-दर्शन, चित्त-सन्तोष तथा कुशल-व्यवहार आदि अनुभावों से अभिनेय है।

(निद्रा)

१५१ 'निद्रा' नामक व्यभिचारी-भाव मद, श्रम, ग्लानि, दुर्बलता, आलस्य, चिन्तन, अधिक-भोजन, अनशन, दुःख तथा शोक आदि विभावों से उत्पन्न होता है। शरीर की गुरुता, आँखों के मलने, नयनों के घूमने, निःश्वास, जड़ता, जँभाई तथा आँखों के दबाने आदि अनुभावों से यह 'निद्रा' भाव कवि द्वारा वर्णित होना चाहिए।

(अपस्मार)

१५२ 'अपस्मार' नामक व्यभिचारी-भाव महाभूत, पिशाच, ब्रह्म-राक्षस द्वारा पकड़ने; उनके अनुस्मरण, शून्य-शमशान, शून्यागार-सेवन, समय का अतिक्रमण,

कालातिक्रमणाद्धातुवैषम्यादशुचित्वतः ।
जायते स तु निश्वासस्तम्भस्फुरितकम्पितैः ॥
फेनवक्त्रत्वपतनजिह्वालेहनधावनैः ।
स्वेदकण्ठोद्धतारावविकटाक्षैर्निरूप्यते ॥
१५३ विबोधः शब्दसंस्पर्शभीषणस्वप्नदर्शनैः ।
निद्राच्छेदात्तथाहारापरिणामादिभिर्भवेत् ॥
भुजाक्षेपाङ्गविस्फोटजृम्भणाक्ष्यवमर्शनैः ।
शय्यात्यागेन वर्ण्योऽयं ग्रीवाऽङ्गवलनादिभिः ॥
१५४ सुप्तिर्निद्रासमुत्था स्यात्तां मन्दाक्षिनिमीलनैः ।
स्वप्नैरुच्छ्वासनिश्वासैरिन्द्रियास्पन्दनैरपि ॥
स्पर्शानभिज्ञताचेष्टावैधुर्याद्यैश्च वर्णयेत् ।
१५५ पुत्रमित्रकलत्रादिद्रोहादेवोग्रता भवेत् ॥
तत्रानुभावोऽतिक्रूरवधबन्धनताडनैः ।
१५६ व्याधिः स्याद्देशकालादिदोषवैषम्यसम्भवा ॥
व्याधिर्ज्वरात्मा द्वेधा स्यादुष्णशीतविभागतः ।

---

धातु-विपमता तथा अपवित्रता आदि विभावो से उत्पन्न होता है। निःश्वास, स्तम्भ, स्फुरण (हृदय के धड़कने), कम्पन, मुँह से फेन निकलने, जिह्वा के चाटने, दौडने, स्वेद, कण्ठ से उठी हुई ध्वनि तथा विकट नेत्र आदि अनुभावों मे यह भाव निरूपित होता है।

(विबोध)

१५३ 'विबोध' नामक व्यभिचारी-भाव शब्द-स्पर्श, भीषण-स्वप्न-दर्शन, निद्रा-भग तथा भोजन के परिणाम आदि विभावो से उत्पन्न होता है। यह भुजा चलाने, अंग फड़कने, जँभाई लेने, आँखो को बार-बार खोलने व बन्द करने, शय्या त्याग तथा गर्दन और अंग चलाने (बल लेने) आदि अनुभावो से अभिनेय है।

(सुप्ति)

१५४ नीद मे उठने वाला भाव 'सुप्ति' है। यह भाव आँखो के मूँदने, स्वप्न, उच्छ्वास (गहरी साँस लेने), नि.श्वास, इन्द्रियो के स्पन्दन, स्पर्श की अनभिज्ञता तथा चेष्टाओं से विछोह होने आदि अनुभावो से अभिनेय है।

(उग्रता)

१५५ 'उग्रता' नामक व्यभिचारी-भाव, पुत्र, मित्र, स्त्री आदि के द्रोह से ही उत्पन्न होता है। अतिक्रूर-बध, बन्धन तथा ताडन आदि अनुभावों से अभिनेय है।

(व्याधि)

१५६ 'व्याधि' नामक व्यभिचारी-भाव देश तथा काल आदि के अनुसार वात, पित्त और कफ नामक त्रिदोष की विषमता से उत्पन्न होता है। यह 'व्याधि' भाव

शिरःकम्पाङ्गसङ्कोचमुखशोषास्यकुणनैः ।।
परिदेवितरोमाञ्चहनुसञ्चलनादिभिः ।
वर्ण्यतेऽत्र सदाहस्तु भूशय्यापरिदेवितैः ।।
विक्षिप्तबाहुचरणवस्त्रैः शीताभिलाषतः ।
शीतानुलेपनोत्क्रोशरक्तेक्षणतयोच्यते ।।
वर्ण्यते व्याधिसामान्यं गात्रस्तम्भास्यकूणनैः ।
श्वासश्लथाङ्गतोत्क्रोशस्त्रस्ताक्षस्तनितादिभिः ।।
१५७ मरणेऽभिनयो नास्तीत्येतत्काव्ये न बध्यते ।
मरणं तद्द्विधा व्याधेरभिघाताच्च जायते ।।
आयुराम्नायकथितो ज्वरादिर्व्याधिरुच्यते ।
अभिघातस्तु शस्त्रास्त्राशनिपातादिरीरितः ।।
विवर्णगात्रताश्वासवेदनाक्षिनिमीलनैः ।
अव्यक्तवर्णकथनव्यायताङ्गविचेष्टितैः ।।
हिक्कापरिजनोपेक्षादिभिर्व्याधिजमुन्नयेत् ।
अनुभावास्तु बहुधा कथ्यन्ते ह्यभिघातजे ।।
भूमौ विवेष्टनारावविलापभ्रमणादिभिः ।

---

ज्वर-स्वरूप है, दाह तथा शीत भेद से दो प्रकार का होता है। 'शीत-ज्वर-स्वरूप' शिर-कम्पन, अंग-संकोच, मुँह सूखने, मुँह के सिकुड़ने, विलाप करने, रोमाञ्च, ठुड्डी के हिलाने आदि अनुभावों से वर्णित होता है। 'दाह-ज्वर-स्वरूप' भूमि पर सोने, विलाप करने, हाथ, पैर तथा वस्त्रों के फेंकने, शीत की अभिलाषा, शीत-अनुलेपन, चिल्लाहट तथा रक्त-दृष्टि से देखने आदि अनुभावों से अभिनेय है। सामान्य व्याधि शरीर के कठोर होने, मुँह के सिकुड़ने, श्वास, शरीर की शिथिलता, चिल्लाहट, झुकी हुई आँखें तथा कृशता आदि अनुभावों से वर्णित होती है।

(मरण)

१५७ 'मरण' में अभिनय नहीं होता है—ऐसा नियम है लेकिन यह काव्य में नहीं बँधता है। वह 'मरण' नामक व्यभिचारी-भाव दो प्रकार से रोग तथा चोट से उत्पन्न होता है। आयु 'वेद' कहलाती है, ज्वरादि 'व्याधि' कहलाते है। अस्त्र-शस्त्र तथा तलवार आदि का प्रहार 'अभिघात' कहलाते है। गात्रों की विवर्णता, श्वास, वेदना, आँखों को मूँदने, अस्पष्ट वर्णावली का कथन, पुष्ट अंगों की चेष्टाएँ, हिचकी लेने तथा सेवकों की उपेक्षा करने आदि अनुभावों से 'व्याधि-जन्य-मरण' अभिनेय है। 'अभिघात-मरण' में अनुभाव अनेक प्रकार के कहे जाते है। यह भूमि पर लेटना, शब्द करना, विलाप तथा भ्रमण आदि अनुभावों से अभिनेय है।

१५८ त्रासो भवेन्निपतनाच्छिलोल्काऽशनिविद्विषाम् ॥
रक्षःस्थूलपशूद्धातनिर्घाताम्बुधरस्वनैः ।
रोमाञ्चगद्गदस्वेदकम्पमोहादिभिर्वदेत् ॥
१५९ ज्येष्ठस्याभीष्टविरहान्मध्यस्येष्टविघातनात् ।
नीचानां धननाशाद्यैरुन्मादो नाम जायते ।
अनिमित्तस्मितोत्क्रोशगीतनृत्तविधावनैः ।
कुचेलतृणनिर्माल्यशरावादिविभूषणैः ।
अनवस्थितिशय्यान्तोपवेशोत्थितरोदनैः ।
असत्प्रलापस्खलितविकाराद्यैः स वर्ण्यते ॥
१६० वितर्कः संशयाद्दूरदृष्टार्थापरिनिश्चयात् ।
विमर्शाद्विस्मृतार्थस्य स्मृतेरित्यादिभिर्भवेत् ॥
ग्रहमोक्षशिरःकम्पव्यवहारादिभिर्वदेत् ।
१६१ द्रष्टव्यं तत्र तत्रैव सात्त्विकव्यभिचारिणाम् ॥
परस्परविभावानुभावत्वे रसकोविदैः ।
अन्येऽपि यदि भावाः स्युश्चित्तवृत्तिविशेषतः ॥

(त्रास)

१५८ 'त्रास' नामक व्यभिचारी-भाव चट्टानों के गिरने, तारों के टूटने, शत्रुओं के वज्र गिराने, राक्षस तथा भयानक पशुओं का उपद्रव तथा मेघ के गरजने की आवाज आदि विभावो से उत्पन्न होता है। रोमांच, गद्गद होने, स्वेद, कम्पन तथा मोह आदि अनुभावों से अभिनेय है।

(उन्माद)

१५९ 'उन्माद' नामक व्यभिचारी-भाव ज्येष्ठ पात्र मे प्रिय-जन के वियोग, मध्यम पात्रों मे प्रिय के नाश तथा नीच पात्र में धन के नाश आदि विभावों से उत्पन्न होता है। अकारण मुस्कराहट, चिल्लाहट, गीत, नृत्य, दौड़ने; मैले-चिथडे कपड़े, तिनके, निर्माल्य तथा मृत्पात्रादि को धारण करने, अस्थिर तथा शय्या के किनारों पर बैठने-उठने, रोने, असम्बद्ध-प्रलाप तथा स्खलित विकारादि अनुभावों से वर्णित होता है।

(वितर्क)

१६० वितर्क, नामक व्यभिचारी-भाव संशय, दूर-दृष्ट-पदार्थ का अनिश्चय, विमर्श तथा विस्मृत पदार्थों की स्मृति आदि विभावों से उत्पन्न होता है। ग्रह-मोक्ष, शिर-कम्पन तथा व्यवहार आदि अनुभावों द्वारा अभिनेय है।[७]

१६१ सात्त्विक और व्यभिचारी-भावों का परस्पर विभावानुभावत्व रसज्ञों को यथा-स्थान ही देख लेना चाहिए। यदि चित्त-वृत्ति की विशेषता से अन्य भाव भी

अन्तर्भावस्तु सर्वेषां द्रष्टव्यो व्यभिचारिषु ।
ये भावास्तेषु भावेषु प्रत्यासन्नाः परस्परम् ।।
विभावतोऽनुभावाच्च स्फुटभेदा इहोदिताः ।
स्थायिष्वपीयमन्योन्यं प्रक्रिया ज्ञायतां बुधैः ।।
सभ्यान्नसयितुमभिनयचातुर्यार्थं रसं च पोषयितुम् ।
कविभिर्निबन्धनीयास्ते [च] विभावादयो नियताः ।।
स्थायिषु भावेषु यदा ये च विभावादयः प्रतिनियताः ।
तैरेव सति निबन्धे भावविशेषः प्रतीयते तत्र ।।
यद्यन्यथा निबन्धे साधारण्येन संशयोत्पत्तेः ।
दोषो विभाव्यते वा युक्तविभावादिवैधुर्यात् ।।
१६२ यथाऽभिधीयमानास्ते रसमाहर्तुमीशते ।
तथैवाक्षिप्यमाणास्तु रसं पुष्णन्ति नित्यशः ।।
१६३ विशेषादाभिमुख्येन चरन्तो व्यभिचारिणः ।
स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्नाः कल्लोला इव वारिधौ ।।
१६४ उन्मज्जन्तो निमज्जन्तः कल्लोलाश्च यथाऽर्णवे ।
तस्योत्कर्षं वितन्वन्ति यान्ति तद्रूपतामपि ।।

---

हों तो उन सभी भावो का अन्तर्भाव व्यभिचारी-भावो मे देखना चाहिए। जो भाव उन भावों के परस्पर निकटवर्ती है, विभाव तथा अनुभाव भेद से यहाँ कहे गये हैं। स्थायी-भावो मे भी भावों की इस परस्पर सम्बन्ध की प्रक्रिया को विद्वान-लोग जानें। सामाजिक के हृदय का स्पर्श करने के लिए, अभिनय के चातुर्य के लिए तथा रस के पोषण के लिए कविजनों को वे निश्चित विभावादि कहने चाहिए। स्थायी-भावों मे जब जो विभावादि निश्चित किये जाते हैं उन्हीं विभावादि द्वारा निबन्ध मे रहने वाला भाव-विशेष प्रतीत होता है। यदि ऐसा नही होता है तो निबन्ध में साधारणतया संशय की उत्पत्ति तथा उपयुक्त विभावादि के अभाव का दोष जाना जाता है।

१६२ जैसे कि कहे गये वे विभावादि रस को ग्रहण करने के लिए शासित है। उसी प्रकार आक्षिप्त होते हुए विभावादि रस को नित्य ही पुष्ट करते है।

१६३ जो भाव विशेष-रूप से अर्थात् आभिमुख्य से, स्थायी-भाव के अन्तर्गत कभी गिरते-डूबते-उतराते दिखायी देते हैं वे व्यभिचारी-भाव होते है। ये भाव स्थायी-भाव में इसी प्रकार उठते-गिरते है जैसे समुद्र में तरंगें उठती है व गिरती है।[८८]

१६४ जिस प्रकार सागर में उठती हुई व गिरती व डूबती हुई तरंगे सागर की शोभा को बढ़ाती हैं तथा उसी के रूप को भी प्राप्त करती है उसी प्रकार स्थायीभाव के अन्तर्गत कभी उठते और कभी गिरते-डूबते-उतराते व्यभिचारी-भाव अपने

स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्नास्तथैव व्यभिचारिणः ।
पुष्णन्ति स्थायिनं स्वांश्च तत्र यान्ति रसात्मताम् ॥
यद्यपि स्याद्रसात्मत्वं तेषां क्वापि कदाचन ।
अस्थिरत्वादथैते स्युर्नाट्याद्यनुपयोगिनः ॥
तस्मादष्टाविति मतं स्थायिनो नाट्यवेदिनाम् ।
विलीनसर्वव्यापारः शमः स्थायी भवेद्यतः ॥
अतोऽनुभावराहित्यान्न नाट्येऽभिनयो भवेत् ।
तस्माद्वृद्धप्रयोगेण रसपोषो न जायते ॥
ततोऽष्टौ स्थायिनो भावा नाट्यस्यैवोपयोगिनः ।
यतः स्वरूपारोपेण भावानन्यानुपस्थितान् ॥
स्वात्मन्यैक्येन गृह्णाति स स्थायी लवणोदवत् ।
१६५ भावसाधारणत्वेऽपि निर्वेदाद्यैर्न शक्यते ॥
स्थायित्वमात्मनो नेतुमताद्रूप्यस्वभावतः ।
यत्र क्वचित्स्यात्तत्पोषो वैरस्यायैव कल्पते ॥

---

स्थायीभावों को पुष्ट करते है तथा रस-रूप को प्राप्त हो जाते है । यद्यपि कही कभी उन व्यभिचारी-भावो की रसात्मता सिद्ध होती है लेकिन ये व्यभिचारी-भाव अस्थायी होने से नाट्यादि के उपयोग के योग्य नही है। इसलिए नाट्यविदों ने आठ प्रकार के स्थायी-भाव कहे है । क्योंकि 'शम' नामक स्थायी-भाव में सभी व्यापार विलीन हो जाते है । अतः अनुभाव रहित होने से नाट्य में 'शम' स्थायी-भाव का अभिनय नही होता है। इसलिए वृद्ध (भरत) के अनुसार 'शम' स्थायी-भाव के प्रयोग से रस पुष्टता को प्राप्त नही होता । अतः आठ स्थायी-भाव ही नाट्य मे उपयोगी है। 'स्थायी-भाव'[८९] वह है जो अन्य उपस्थित भावों (विरुद्ध या अविरुद्ध सभी भावों) को अपने स्वरूप के आरोप से आत्म-रूप बना लेता है। जैसे समुद्र के अन्तर्गत कोई भी खारा या मीठा पानी मिलकर तद्रूप अर्थात् खारा हो जाता है ।

१६५ पूर्वपक्षी को स्थायी-भावो की इस संख्या (आठ) के निर्धारण पर आपत्ति है। वह कहता है कि " 'निर्वेद' आदि भावों को भी 'रस' मानना चाहिए। नाटकादि में निर्वेदादि भावों का स्थायी-भावों की तरह अस्वाद किया जाता है। आस्वाद्य होने के कारण मधुर, अम्ल आदि रस कहलाते है क्योंकि उसका रसन प्राप्त किया जाता है। यह रसन निर्वेदादि भावों मे भी पूरी तरह मौजूद है, इसलिए ये भी रस है। इनको रस मानने में कोई आपत्ति नही होनी चाहिए।" इस कथन के अनुसार कई विद्वानों ने दूसरे रसों को भी स्वीकार किया है और इस तरह उन रसों के दूसरे स्थायी-भाव की भी कल्पना हो जाती है। अतः वृद्ध-भरत के अनुसार केवल आठ ही स्थायी-भाव गिनना ठीक नहीं बैठता ।

इसी पूर्वपक्ष रूप शंका का समाधान करते हुए शारदातनय ने आगे कहा

१६६ अतो नाट्यविदामष्टावेवात्र स्थायिनो मताः ।
प्रकृष्यमाणो यो भावो रसतां प्रतिपद्यते ॥
स एव भावः स्थायीति भरतादिभिरुच्यते ।
केचिदन्येऽपि भावाश्चेत्पोषं यान्ति रसात्मना ॥
तेषां विशेषो विज्ञेयः स्थायिष्वेव न चान्यथा ।
भावानां कार्यनिष्पत्तिरनुभूतिफलात्मिका ॥
तत्कार्यकौशलं तत्र प्रकर्षारोपणं विदुः ।
तत्साध्योऽर्थो रसस्तेषां तदात्मापत्तिरेव सः ॥
१६७ विभावोऽप्यनुभावः स्यादनुभावो विभाववत् ।
तौ पुनश्चारिणः स्यातां ते च तौ स्युः परस्परम् ॥
रसभेदवशादेवमुपकार्योपकारिता ।
चरस्थिरविभागत्वमानुषङ्गिकमीरितम् ॥
रसोपादानता तेषां परस्तादेव वक्ष्यते ।

---

है कि भाव की साधारणता होने पर भी अर्थात् रत्यादि स्थायी-भावो की तरह निर्वेदादि के आस्वाद्य होने पर भी निर्वेदादि भाव स्थायी-भाव नहीं हो सकते क्योंकि जैसा कि कहा है कि स्थायी भाव वह है जो अन्य उपस्थित भावों (विरुद्ध या अविरुद्ध सभी भावो) को समुद्र की तरह अपने स्वरूप के आरोप से आत्म-रूप बना लेता है। वैसा यह ताद्रूप्य (इस तरह से विरुद्ध या अविरुद्ध भावों का विच्छिन्न न होने का गुण) निर्वेदादि में स्वभावतः नही पाया जाता। अतः ये अपने को स्थायी नही बना सकते। यदि निर्वेदादि की काव्य-नाटकादि में पुष्टि होगी भी तो वह रस के स्थान पर वैरस्य (रस-विकार) उत्पन्न करेगी।[१०]

१६६ अत. नाट्यविदों के मत में आठ ही स्थायी-भाव होते हैं। प्रकृष्यमाण जो भाव रसता को प्रतिपादित करता है वह भाव 'स्थायी-भाव' कहलाता है—ऐसा भरतादि आचार्य कहते हैं। कुछ अन्य भाव भी है जो रस-रूप में पोषण को प्राप्त होते हैं—उनका सन्निवेश स्थायी-भावों में ही जानना चाहिए, अन्यत्र नही। भावों के कार्य की निष्पत्ति अनुभूति-फल-स्वरूपा है, उन भावों की कार्य-कुशलता उनके उत्कर्ष का आरोपण जाननी चाहिए और उनका जो साध्य अर्थ है वह रस है, वही उनकी आत्मा है।

१६७ विभाव भी अनुभाव है, अनुभाव विभाव की तरह है। दोनों (विभावानुभाव) व्यभिचारी-भाव हैं वे व्यभिचारी-भाव विभावानुभाव है। इस प्रकार परस्पर सम्बन्ध है। रसों के भेद के कारण ही इस प्रकार की उपकार्योपकारिता है।

तद्दर्शनानि तद्दृष्टिः दृष्टिधर्माः पृथग्विधाः ।
परस्परस्य सामर्थ्यं साहचर्यात्क्वचित्क्वचित् ।
रसोदयानुकूल्येन तत्र तत्रैव वक्ष्यते ॥

इति श्रीशारदातनयविरचिते भावप्रकाशने भावनिर्णयो-
नाम प्रथमोऽधिकारः ।

---

चर तथा स्थिर का भेद प्रसंगवश कहा गया है। उन भावों की रसोपादानता आगे ही कहेंगे, उन भावों के दर्शन, उनकी दृष्टि, दृष्टि-धर्मों के पृथक् भेद; कहीं-कहीं साहचर्य के कारण परस्पर का सामर्थ्य—रसोदय की अनुकूलता से यथास्थान कहेंगे।

श्री शारदातनय-विरचित भावप्रकाशन मे भावनिर्णय नामक प्रथम
अधिकार समाप्त हुआ।

श्रीः

## अथ द्वितीयोऽधिकारः

---

१ निर्वाहः कथ्यतेऽस्माभिर्भावानां व्यभिचारिणाम् ।
निर्वेदः शून्यचित्तत्वं वेदोवित्तविनिर्गमात् ।।
वाङ्मनःकायकर्माणि ग्लानिर्ग्लपयतीति यत् ।
असुर्याति ययाऽसूया[न्या]यापयेत्सूयतेऽन्यथा ।।
साऽसूयेति समाख्याता सर्वत्र रसकोविदः ।
असूया सा यया याति प्राणिनामसुरुत्थितः ।।
शं सुखं कुत्सयति या सा शङ्कत्यभिधीयते ।
श्रृणाति हन्ति योऽङ्गानि स श्रमः परिकीर्तितः ।।
मशब्दार्थो मतिर्मानिस्तद्दानात्खण्डनान्मदः ।
यया चित्तायतेऽर्थेषु सा चिन्तेत्यभिधीयते ।।
मनसो विविधः सादो विषाद इति कीर्तितः ।
वृणोति चित्तं लातीति व्रीडेति परिभाष्यते ।।
वित्तेर्विलीय जातत्वाल्लज्जेति परिभाष्यते ।

---

१ अब हम व्यभिचारी-भावों की निरुक्ति कहते है। ज्ञान-शक्ति के निकल जाने से शून्य चित्तवृत्ति को 'निर्वेद' कहते है। 'ग्लानि' वह है जो वाचिक, मानसिक तथा कायिक सभी कर्मो से खिन्नता कराती है। जिसके द्वारा प्राण (वायु) ऊपर को उठने लगे और अन्य प्रकार से निकलने लगे, तो रसकोविद उसे सर्वत्र 'असूया' कहते हैं; जिसके द्वारा प्राण (वायु) ऊपर को उठकर जाती है तो 'असूया' कहते है। 'शंका' उसे कहते है जो सुख को नष्ट करती है। 'श्रम' वह है जो अंगों को शिथिल करता है या क्षीण करता है। 'मद' के 'म' शब्द का अर्थ है मति अर्थात् बुद्धि या 'मान' अर्थात् अभिमान तो 'मं मतिम् मान वा द्यति खण्डयति वा मदः' अर्थात् मति या बुद्धि या अभिमान को नष्ट करने से 'मद' शब्द निष्पन्न होता है। 'चिन्ता' उसे कहते है जिससे विषयों मे मन लगता है। मन के विभिन्न सन्ताप 'विषाद' कहलाते है। जो चित्त को चुनती है या प्राप्त करती है वह 'व्रीडा' कहलाती है। धन में विलीन होकर जो उत्पन्न होता है उसे 'लज्जा' कहते है।

२ ह्रियन्ते वाङ्मनःकाया इति ह्रीः परिपठ्यते ॥
मन्दमक्षाणिवार्यन्ते तानि वारयतीति वा ।
मन्दानीति यदक्षाणि तन्मन्दाक्षमुदाहृतम् ॥
भूतं भवद्भविष्यच्च त्रयं पातीति सा त्रपा ।
अपकृत्या यया जन्तुस्त्राय्यते साह्यपत्रपा ॥
विलक्षं चेष्टते चित्तं यत्तद्वैलक्षमुच्यते ।
या शोकहर्षयोरेकरूपा सैव धृतिर्भवेत् ॥
स्मृतिः संस्कारसहिता सत्त्वस्था बुद्धिरुच्यते ।
स्वं ह्यपीत इति स्वप्नः स्वं प्राप्नोतीति वा भवेत् ॥

३ इन्द्रियाणि निमीलन्ति द्रागेव युगपद्यतः ।
तस्मान्निद्रेति कविभिः कथ्यते भावकोविदैः ॥
स प्रबोधो मनो येन सर्वानर्थान्प्रबुध्यते ।
अहेतुकश्च दण्डो यः तदौग्र्यं परिचक्षते ॥
उदञ्चति मनो यस्मादुन्मादश्चित्तविप्लवः ।
कालातिपातासहत्वमौत्सुक्यं परिचक्षते ॥
हृदि दोग्धि यदिष्टार्थं तद्दौहृदमुदाहृतम् ।

---

२ जिससे मन, वाणी तथा शरीर लज्जित होता है, उसे 'ह्री' कहते है। जिससे आँखों को धीरे-धीरे हटाया जाता है या जो धीरे-धीरे आँखो को हटाता है, या फिर जो आँखो को मन्द कर देता है, उसे 'मन्दाक्ष' कहा गया है। भूत, वर्तमान तथा भविष्य तीनो की जो रक्षा करता है, उसे 'त्रपा' कहते है। 'अपत्रपा' उसे कहते हैं जिस अपकार से जन्तु (प्राणी) की रक्षा की जाती है। 'वैलक्ष' उसे कहते है जिसमे चित्त विलक्षण चेष्टा करता है। 'धृति' वह है जो शोक तथा हर्ष मे एकसी होती है। सत्वावस्था मे रहने वाली संस्कार सहित स्मृति 'बुद्धि' कहलाती है। 'स्वप्न' उसे कहते है जो अपने मे प्रवेश करता है या फिर जो अपने को प्राप्त करता है।

३ 'निन्द्रा' मे इन्द्रियाँ एक साथ शीघ्र ही उन-उन विषयों से हट जाती है अर्थात् 'निन्द्रा' इन्द्रियों को एक साथ शीघ्रता के साथ उन-उन विषयों से हटाती है इसलिए कविजन उसे 'निन्द्रा' कहते हैं। 'प्रबोध' वह है जिससे मन सभी अर्थो को जगा देता है अर्थात् सभी वस्तुओं का ज्ञान करा देता है। अहेतुक दण्ड अर्थात् बिना किसी कारण के दिया हुआ जो दण्ड है, वह 'उग्रता' कहलाती है। चित्त की शून्यता 'उन्माद' है जिससे मन ऊपर की ओर उठता है। कालातिरेक को सहन न करना ही 'औत्सुक्य' कहलाता है। 'दौहृद' वह है जो हृदय की अभीष्ट वस्तुओं का दोहन करता है।

४ अभीष्टाननुभूतार्थाभिलाषः कौतुकं भवेत् ॥
कुतुकं सौख्यसंभेदः स्पृहेति परिपठ्यते ।
ऐकाग्र्यं याऽश्नुतेऽर्थेषु सैवाशेति विभाव्यते ॥
आत्मोपभोगकरणं स्पृशतीन्द्रियवर्त्मना ।
या जहातीतरान् भोगान् सा स्पृहेत्यभिधीयते ॥
सैव कांक्षेति विज्ञेया सोपायार्थागमाश्रया ।
मत्तः सरत्ययं मत्तः सरतीत्येष मत्सरः ॥
परापकर्षस्वोत्कर्षव्यापारो मत्सरो द्वयोः ।
५ परस्परस्य स्वोत्कर्षो घृष्यते गुणगौरवैः ॥
सम्यक्तया स सङ्घर्ष इति विद्वद्भिरुच्यते ।
सद्रूपोद्भावना माया स्वत एवासतः पुरा ॥
अथवाऽन्यपदार्थानामन्यथाकृतिरेव वा ।
देशकालापरोक्ष्यं यत्परोक्षस्यैव वस्तुनः ॥
मन्त्रौषधादिभिः सोऽयमिन्द्रजाल इतीरितः ।
दिङ्निर्णयानभिज्ञत्वं दिङ्मोहः परिकीर्तितः ॥
दिशो यस्यान्यथा जाताः कान्दिशीकस्स उच्यते ।

---

४ अभीष्ट तथा अननभूत वस्तु की अभिलाषा "कौतुक" कहलाती है। सुख मिश्रित उत्सुकता 'स्पृहा' कहलाती है। 'आशा' वह कहलाती है जो विषयों में एकाग्रता प्राप्त कराती है। जो इन्द्रियों द्वारा अपने उपभोग के कारण का स्पर्श करती है और तद्-भिन्न भोगों को छोड़ती है, वह 'स्पृहा' कहलाती है। 'कांक्षा' वह जाननी चाहिए जो उपाँय के साथ आय (आमदनी) के आश्रित रहती है। 'यह मुझसे आगे जा रहा है, यह मुझसे आगे जा रहा है अर्थात् मुझसे बढ़ रहा है'—यह 'मत्सर' है। दूसरे के अपकर्ष तथा अपने उत्कर्ष का चिन्तन 'मत्सर' है।

५ किन्हीं दो में पारस्परिक अपने-अपने उत्कर्ष के लिए गुण तथा गौरव से भली-भाँति स्पर्धा कराना ही विद्वानों द्वारा 'संघर्ष' कहलाता है अर्थात् जहाँ किन्हीं दो मे पारस्परिक अपने-अपने उत्कर्ष के लिए गुण तथा गौरव से भलीभाँति स्पर्धा करायी जाती है, उसे विद्वान लोग 'संघर्ष' कहते हैं। स्वतः ही असत् से सत् रूप की उत्पत्ति 'माया' है। या फिर अन्य वस्तुओं को अन्यथा बना देना ही 'माया' है। 'इन्द्रजाल' वह है जो मन्त्र या औषधि आदि से परोक्ष (अप्रत्यक्ष) वस्तुओं का देश तथा काल के अनुसार प्रत्यक्ष करा दे। दिशा के निर्णय मे अनभिज्ञता 'दिङ्मोह' कहा जाता है। जिसकी दिशा अन्यथा हो जाती है वह 'कान्दिशीक' कहा जाता है।

६ परस्य व्यसनोत्कम्पाननु या कम्पते भृशम् ॥
सा चित्तवृत्तिर्विद्वद्भिरनुकम्पेति कथ्यते ।
आनृशंस्यं तदेवाहुर्यदेवाश्रितरक्षणम् ॥
परस्य दोषान्नृभ्यो यच्छंसतीति नृशंसता ।
व्यसनैः क्रोशतां पुंसां यस्य क्रोशोऽनुजायते ॥
सोऽनुक्रोश इति ज्ञेयः सुखदुःखसमत्वता ।
गुणः परोपकारित्वं हितकारित्वमेववा ॥
सर्वशास्त्राधिगमनं श्रुतमित्यभिधीयते ।
समानि खानि येन स्युः सुखदुःखानुभूतिषु ॥
तत्सख्यमिति स स्नेहः तेन यत्त्रायते परम् ।
तन्मित्रं तत्सुहृत्त्वं च हृदयं यत्र शोभनम् ॥
दूयन्ते खानि येनैतद्दुःखमित्यभिधीयते ।
शुभानि खानि येनैतत्सुखमित्युच्यते बुधैः ॥
७ भावेभ्यः प्रकृतेभ्योऽन्ये यतः केचिन्मयेरिताः ।
भावत्वादथवा लोके गच्छतः स्खलनं भवेत् ॥
यदिन्द्रियाणि हृष्यन्ति हर्षयन्ति परानपि ।
तस्माद्धर्ष इति ज्ञेयः प्रसादो मनसः स हि ॥

---

६ विद्वान उस चित्त-वृत्ति को 'अनुकम्पा' कहते है जो दूसरे के दुःख से अधिक द्रवित हो जाती है। जिसके आश्रित रक्षा होती है वही 'आनृशंसता' कही जाती है। दूसरों के दोषों को मनुष्य से कहना 'नृशंसता' है। क्रोशित पुरुषों के व्यसनो से जिसका क्रोश उत्पन्न होता है, उसे 'अनुक्रोश' समझना चाहिए अर्थात् दुःखी पुरुपो के दुख से जिसे क्रोश उत्पन्न हो, उसे 'अनुकोश' कहते है। इसमें सुख-दुख की समता पायी जाती है। परोपकार करना या हित करना ही 'गुण' है। सभी शास्त्रो का ज्ञान 'श्रुत' कहलाता है। वह 'सख्यम्' कहलाता है जिससे दुख-सुख की सभी अनुभूतियो में समान भाव हो। जहाँ दूसरों की रक्षा की जाती है, वह 'स्नेह' है। वह 'मित्र' है और वह 'सुहृद' है जिसका हृदय सुन्दर हो। 'दुख' वह कहलाता है जिससे इन्द्रियाँ दुःखी हों। विद्वान लोग सुख उसे कहते है जिससे इन्द्रियाँ प्रसन्न रहें।

७ भाव-रूप होने के कारण मैंने प्रकृत भावों के अलावा कुछ अन्य भावों को कह दिया है अन्यथा संसार में जाते हुए त्रुटि होती। जिससे इन्द्रियाँ प्रसन्न होती है तथा दूसरों को हँसाती हैं या प्रसन्न कराती हैं, उसको 'हर्ष' जानना चाहिए। वही मन का प्रसाद है। देशान्तर तथा कालान्तर में अनुभूत उस विशेष देश तथा काल से सम्बन्धित विशेष अनुभव को पुनः देखना ही 'स्मृति' कहलाता

देशान्तरेऽनुभूतस्य तथा कालान्तरेऽपि च ।
तद्देशादिविशिष्टस्य पुनरालोचनं स्मृतिः ॥
स्मरति स्मर्यते स्मारयतीत्यस्यास्तु निर्वहः ।
वितर्कमनुभूतेऽर्थे धीविशेषः स्मृतिर्भवेत् ॥
सदसन्निश्चयकरी मननात्मा मतिर्भवेत् ।
अङ्गानां यदनुल्लासस्तदालस्यमुदाहृतम् ॥
८ अदेशकालविहितो वेग आवेग उच्यते ।
वेगो विगानं जनयद्विग्नं येन मनो भवेत् ॥
आत्मनो यो गरीयस्त्वभावो गर्वः स ईरितः ।
मोहश्चित्तस्य शून्यत्वं मनो येनैव मुह्यति ॥
अयोग्ये चापदार्थे च दुस्स्पृहा चपलं भवेत् ।
पलायते चापदार्थे मनस्तच्चापलं भवेत् ।
अपस्मारोऽनुभूतेषु पदार्थेष्वन्यथा स्मृतिः ।
अयथा स्मृतिरेव स्यात्पदार्थास्मृतिरेव वा ॥
तर्क्यते तर्कते तर्को विचारः स्यात्सहेतुकः ।
९ विक्रिया त्ववहित्थं स्यादिङ्गिताकारगूहनम् ॥
मरणं प्रकृतिप्राणवियोग इति कथ्यते ।

---

है । 'स्मृ' धातु से 'स्मृति' शब्द निष्पन्न होता है । 'स्मरति स्मर्यते स्मारयतीति वा स्मृतिः'—अर्थात् 'जो स्मरण करती है, जिससे स्मरण किया जाता है, या जो स्मरण कराती है'—वह 'स्मृति' है । अनुभूत अर्थ में तर्कपूर्ण बुद्धि—विशेष 'स्मृति' कहलाती है। सत् और असत् का निश्चय करने वाली मनन-रूप 'बुद्धि' कहलाती है । अंगो की जो अप्रसन्नता है, वही 'आलस्य' है ।

८ बिना देश तथा काल के किया हुआ वेग 'आवेग' कहा जाता है । 'वेग' उसे कहते है जिससे मन निन्दा को उत्पन्न करता हुआ उद्धिग्न हो उठे । जो आत्मा की श्रेष्ठता का अभाव है, उसे 'गर्व' कहते है । चित्त की शून्यता 'मोह' है जिससे मन को मोहा जाता है । अयोग्य और अपदाथ मे बुरी स्पृहा करना 'चपल' कहलाता है । 'चापल' उसे कहते है जिससे मन का अपदार्थ से पलायन कराया जाता है। अनुभूत पदार्थो मे अन्यथा स्मृति 'अपस्मार' कहलाती है। अन्यथा स्मृति या पदार्थ का अस्मरण ही 'अस्मार' है। 'तर्क्यते तर्कते इति वा तर्कः' अर्थात् 'जिससे तर्क किया जाता है या जो तर्क करता है'—वह 'तर्क' है । पुनः सहेतु विचार करना ही 'तर्क' कहलाता है ।

९ आन्तरिक तथा बाह्य रहस्य की विक्रिया 'अवहित्था' है। प्रकृति व प्राण का वियोग 'मरण' कहलाता है । आयुर्वेद मे जो व्याधियाँ कही गयी है, वे

आयुर्वेदोपदिष्टा ये व्याधयस्ते रुजः स्मृताः ॥
चेष्टाविघातः स्तम्भः स्याद्रोमाञ्चो रोमनिर्गमः ।
यः स्वरो भिद्यते स्थानात्स्वरभेदः स कथ्यते ॥
वेपथुर्हृदयोत्कम्पो वैवर्ण्यं भिन्नवर्णता ।
श्रुशब्दो मङ्गलार्थः स्यात्प्रयुक्तः शीतवारिणि ॥
उष्णाम्भसि प्रयुक्तश्चेदश्रु तत्स्यादमङ्गलम् ।
वाक्कायमनसां प्रायः प्रलयो नष्टचेष्टता ।
एवमुक्ताश्च निर्वाहाः सात्त्विकव्यभिचारिणाम् ।
निरुक्ता योगतः केचिदुक्ताः केचिच्च रूढितः ॥
उपकार्योपकारित्वमेतेषां कथ्यतेऽधुना ।
स्तम्भे वेपथुरोमाञ्चस्वेदगद्गदभाषणम् ॥
बाष्पश्च यान्ति शोभान्ते सममेकैकशोऽपि वा ।
रोमाञ्चः स्वरभेदश्च स्वेदो वेपथुरेव च ॥
क्वचित्कदाचित्संभूय विभावोत्कर्षतो भवेत् ।
रोमाञ्चे वेपथुस्तम्भौ प्रायः प्रविशतो मुहुः ॥
स्वरभेदो भवेत्स्तम्भे बाष्पोऽपि स्यात्कदाचन ।
वेपथौ स्वेदरोमाञ्चबाष्पाश्च स्युः स्वभावतः ॥
वैवर्ण्येऽश्रु भवेन्नित्यं स्तम्भकम्पौ कदाचन ।
प्रलयस्तम्भकम्पाश्रुस्वेदरोमोद्गमादयः ॥

---

'रूज' है । चेष्टा को रोकना 'स्तम्भ' तथा रोगटो का निकलना या खड़े होना 'रोमांच' कहलाता है । जो स्वर स्थान विशेष से भिन्न उच्चारित होता है, वह 'स्वर-भेद' कहलाता है । हृदय का कम्पन 'वेपथु' तथा वर्ण का भिन्न हो जाना 'वैवर्ण्य' कहलाता है । 'श्रु' शब्द मगलसूचक है अत. शीतल जल के लिए प्रयुक्त होता है, 'अश्रु' अमंगल सूचक है यह उष्णोदक के लिए प्रयुक्त होता है । प्राय वाचिक, शारीरिक तथा मानसिक चेष्टाओं का नष्ट होना 'प्रलय' है । इस प्रकार सात्त्विक तथा व्यभिचारी-भावो की निरुक्तियाँ कही गयीं, कुछ योग से (व्याकरण से) कही गयी है तथा कुछ रूढ़ि से कही गयी है । अब इन भावों की 'उपकार्योपकारिता' कहते है । स्तम्भ मे वेपथु (कम्पन), रोमांच, स्वेद, गद्-गद भाषण तथा वाष्प होते है और वे सभी एक साथ या एक-एक करके सुशोभित होते हैं । रोमांच, स्वर-भेद, स्वेद तथा वेपथु ही कही कभी मिलकर विभाव के उत्कर्ष से होते है । 'रोमांच' में वेपथु और स्तम्भ प्रायः बहुशः प्रवेश करते हैं । 'स्तम्भ' में स्वर-भेद होता है और

पुष्यन्त्यनुभवोत्कर्षं विभावैरपि दीपिताः ।
कार्श्यजागरणालस्यसन्तापाः स्युस्ततस्ततः ॥
आविर्भावो रसानां स्यात्सात्त्विकैस्तु यथोदितैः ।
ज्ञापका जायमानानामेते स्युर्व्यभिचारिणः ॥
लक्षयन्त्यनुभावास्तु वर्तमानं तदा रसम् ।
एवमेवोहनीयाः स्युर्विभावा व्यभिचारिणः ॥
एषु केचित्स्वसामर्थ्यं पुष्यन्त्यन्याश्रिता अपि ।
गुणीभूताः कदाचित्तु सामर्थ्यं प्रापयन्त्यमी ॥
एवमन्योन्यसामर्थ्यं दर्शयन्ति रसोदये ।
११ एतेषां स्थायिभावेषु कथ्यतेऽन्योन्यवर्तनम् ॥
मदः श्रमोऽवहित्थं च हर्षो गर्वः स्मृतिधृतिः ।
असूयाग्लानिशङ्काश्च वितर्कोऽपत्रपाऽपि च ॥
रोमाञ्चवेपथुस्वेदाः शृङ्गारे भोगनामनि ।
१२ मोहावेगविषादाश्च जडताव्याधिदीनताः ॥
चिन्तावितर्कनिद्राश्च कार्श्यश्वासादयः परे ।
स्तम्भकम्पाश्रुवैवर्ण्यगद्गदाद्या वियोगजे ॥

---

कभी वाष्प भी होता है। 'वेपथु' मे स्वेद, रोमाच तथा वाष्प स्वभाव से होते है। 'वैवर्ण्य' में अश्रु नित्य होता है। कभी स्तम्भ तथा कम्प होते है। प्रलय, स्तम्भ, कम्प, अश्रु, स्वेद, रोमोद्गम आदि विभावों से उद्दीप्त होकर अनुभव के उत्कर्ष को पुष्ट करते है, तब कार्श्य (कृशता), जागरण, आलस्य और संताप होते है। यथोक्त सात्त्विक भावो से रसो का आविर्भाव होता है। ये व्यभिचारी-भाव उत्पन्न होने वाले (रसों) के ज्ञापक होते है। तब अनुभाव उपस्थित रस को लक्षित करते हैं। इसी प्रकार विभाव, व्यभिचारी-भाव जानने योग्य है। इनमे से कुछ अन्याश्रित होते हुए भी अपनी सामर्थ्य को पुष्ट करते है तथा कभी ये गुणीभूत होकर सामर्थ्य को प्राप्त करते है। इस प्रकार रसोदय में ये भाव अन्योन्य (परस्पर) सामर्थ्य दिखाते है।

११ स्थायी-भावों में इन भावों की अन्योन्य-वृत्ति को कहते है। 'सम्भोग'—श्रंगार मे मद, श्रम, अवहित्था, हर्ष, गर्व, स्मृति, धृति, असूया, ग्लानि, शका, वितर्क अपत्रपा, रोमांच, वेपथु, स्वेदभावों का सहयोग है।

१२ 'विप्रलम्भ-श्रगार' में मोह, आवेग, विषाद, जडता, व्याधि, दीनता, चिन्ता, वितर्क, निन्द्रा, कार्श्य, श्वासादि, स्तम्भ, कम्प, अश्रु, वैवर्ण्य, गद-गद आदि भाव होते है।

१३ शङ्का त्रपा चपलता श्रमो ग्लानिरपत्रपा ।
हर्षप्रबोधावहित्थस्वेदाश्रुपुलका अपि ॥
हास्येऽमी वीरगा भावा आवेगो हर्ष एव च ।
१४ गर्वासूयोग्रता स्तर्को धृतिर्बोधः स्मृतिर्मतिः ॥
मदः स्वेदश्च रोमाञ्चो दृश्यन्ते ते क्वचित्क्वचित् ।
१५ आवेगो जडतोन्मादो वितर्को मोह एव च ॥
आलस्यापस्मृती व्याधिः कार्श्यश्वासविवर्णताः ।
स्तम्भादयोऽष्टौ भावाः स्युः प्रायेण करुणे रसे ॥
१६ हर्षावेगोग्रतोन्मादा मदगर्वौ च चापलम् ।
ईर्ष्याऽसूया श्रमोऽमर्षावहित्थापत्रपा अपि ॥
निश्वासस्तम्भरोमाञ्चस्वेदा रौद्रे रसे हिताः ।
१७ हर्षगर्वस्मृतिमतिश्रमा धृतिमदावपि ।
तर्को विबोधश्चिन्ता च रोमाञ्चः स्तम्भवेपथू ।
स्वेदश्चेत्यद्भुते भावाः कथिता नाट्यकोविदैः ॥
१८ शङ्कानिर्वेदचिन्ताश्च जाड्यं ग्लानिश्च दीनता ।
आवेगो मद उन्मादो विषादो व्याधिरेव च ॥
चिन्ता मोहोऽपस्मृतिश्च त्रासश्चालस्यमेव च ।

---

१३ 'हास्य-रस' मे शंका, त्रपा, चपलता, श्रम, ग्लानि, अपत्रपा, हर्ष, प्रबोध, अवहित्था, स्वेद, अश्रु, पुलक भाव होते है ।

१४ 'वीर-रस' में आवेग तथा हर्ष ही है लेकिन कही-कही गर्व, असूया, उग्रता, तर्क, धृति, बोध, स्मृति, मति, मद, स्वेद, रोमांच—ये भाव दिखाये जाते है।

१५ 'करुण-रस' में प्राय. आवेग, जडता, उन्माद, वितर्क, मोह, आलस्य, अपस्मृति, व्याधि, कार्श्य, श्वास, विवर्णता, स्तम्भादि आठ सात्त्विक-भाव—ये भाव होते हैं।

१६ 'रौद्र-रस' मे हर्ष, आवेग, उग्रता, उन्माद, मद, गर्व, चपलता, ईर्ष्या, असूया, श्रम, अमर्ष, अवहित्था, अपत्रपा, निश्वास, स्तम्भ, रोमांच, स्वेदभाव हितकारी है।

१७ 'अद्भुत-रस' मे हर्ष, गर्व, स्मृति, मति, श्रम, धृति, मद, तर्क, विबोध, चिन्ता, रोमाच, स्तम्भ, वेपथु, स्वेदभाव नाट्यविदों ने कहे हैं।

१८ 'भयानक-रस' में शंका, निर्वेद, चिन्ता, जड़ता, ग्लानि, दीनता, आवेग, मद, उन्माद, विषाद, व्याधि, चिन्ता, मोह, अपस्मृति, त्रास, आलस्य और बीच-

मध्ये मध्ये स्तम्भकम्पौ रोमाञ्चः स्वेदवेपथू ॥
वैवर्ण्यमरणत्रासगद्गदाद्या भयानके ।
१९ मोहोऽपस्मृतिरुन्मादो विषादो भयचापले ॥
आवेगो जाड्यदैन्ये च मतिर्ग्लानिः श्रमोऽपि च ।
स्तम्भादयोऽष्टौ भावाः स्युर्बीभत्से प्रलयं विना ॥
२० साहचर्यं च सामर्थ्यं भावानां सम्यगीरितम् ।
कथ्यते स्थायिभावानां रसोपादानहेतुता ॥
२१ मनोऽनुकूलेष्वर्थेषु सुखसंवेदनात्मिका ।
इच्छा रतिः सा द्विधा स्याद्रतिप्रीतिविभागतः ॥
तयोः साधारणो भेदः सप्तधा परिकीर्तितः ।
निसर्गसंसर्गोपमाभियोगाध्यात्मस्वरूपतः ॥
अभिमानाच्च विषयात्सप्तधा साम्प्रयोगिकी ।
रतेरेव भवेत्प्रीतेरेवमाभ्यासिकी भवेत् ॥
प्रीतिः प्रियात्मा प्रायेण रतिरिच्छात्मिकैव हि ।
ज्ञानं द्विनिष्ठं तद्रूपं मनोऽधिष्ठाय वर्तते ॥
रतिः सत्त्वस्थिता सेयं विभावाद्युपबृंहिता ।
रजसाऽनुगृहीता तु स्वाद्वी सर्वत्र भासते ॥

---

बीच में स्तम्भ, कम्प, रोमांच, स्वेद, वेपथु, वैवर्ण्य, मरण, त्रास, गद्गद आदि भाव होते है ।

१९ 'वीभत्स-रस' में मोह, अपस्मृति, उन्माद, विषाद, भय, चपलता, आवेग, जडता, दैन्य, मति, ग्लानि और श्रम तथा प्रलय के अतिरिक्त स्तम्भादि आठ सात्त्विक भाव पाये जाते है ।[१]

२० भावों का साहचर्य तथा सामर्थ्य भलीभाँति कहा गया । अब स्थायी-भावो की 'रसोपादन-हेतुता' कहते है ।

२१ मनोनुकूल विषयों में सुख का अनुभव करने वाली इच्छा 'रति' है ।[२] वह (रति) 'रति' तथा 'प्रीति' भेद से दो प्रकार की होती है । 'रति' तथा 'प्रीति'—इन दोनों (रति) के साधारण भेद सात प्रकार के कहे जाते है । निसर्ग[3], संसर्ग[४], उपमा[५], अभियोग[६], अध्यात्म[७], अभिमान[८] तथा विषय[९] भेद से ये सात प्रकार के होते है । 'रति' से 'साम्प्रयोगिकी'[१०] होती है । 'प्रीति' से 'आभ्यासिकी'[११] होती है ।[१२] प्रीति प्रायः प्रिय-रूपा होती है तथा रति इच्छा-रूपा होती है । यह द्विनिष्ठ (रति और प्रीति निष्ठ) ज्ञान तद्रूप मन के आश्रित होकर प्रवृत्त होता है । 'रति' सत्त्व में स्थित रहती है, वही यह (रति) विभावादि से उपबृंहित होकर रजोगुण से अनुगृहीत होकर, किन्तु स्वाद्वी सर्वत्र भासित होती है ।

२२ प्रीतेर्विशेषश्चित्तस्य विकासो हास उच्यते ।
षोडा विकल्पमायाति परिणामे रसात्मना ॥
रजःस्थितो विभावाद्यैः बृंह्मितस्तामसो भवेत् ।
उत्साहः सर्वकृत्येषु सत्वरा मानसी क्रिया ॥
सहजाहार्यभेदेन स द्विधा परिकीर्तितः ।
विस्मयश्चित्तवैचित्र्यं स त्रिधा त्रिगुणात्मकः ॥
तेजसो जनकः क्रोधः स त्रिधा कथ्यते बुधैः ।
क्रोधः कोपश्च रोषश्चेत्येष भेदस्त्रिधा मतः ॥
सर्वेन्द्रियपरिक्लेशः शोक इत्यभिधीयते ।
सत्त्वादिपरिभेदेन स त्रिधा परिपठ्यते ॥
निन्दाऽऽत्मा चित्तसङ्कोचो जुगुप्सेत्यभिधीयते ।
द्विधा विभज्यते साऽपि परिणामे रसात्मना ॥
भयं चित्तस्य चलनं तच्च प्राहुरनेकधा ॥
स्वरूपमेवमाचार्यैः स्थायिनां कथितं पुरा ।
विगृह्य ते प्रदर्श्यन्ते प्रयोगार्थं यथोचितम् ।
२३ रम्यते रमते वेति रती रमयतीति वा ॥
हास्यते हासयति वा हासः स्याद्धसतीति वा ।

---

२२ प्रीति-जनित चित्त का विशेष विकास 'हास' कहा जाता है[13], परिणाम में यह रस-रूप में छै[14] (६) प्रकार के विकल्पो को प्राप्त करता है। यह रज-स्थित तथा विभावादि मे बृंहित, तामसी होता है। सभी कार्यो मे शीघ्र होने वाली मानसिक क्रिया को 'उत्साह' कहते हैं। यह सहज तथा आहार्य भेद से दो प्रकार का कहा जाता है। चित्त मे विचित्रिता उत्पन्न होना 'विस्मय' है, त्रिगुणात्मक होने से यह तीन प्रकार का होता है। तेज को उत्पन्न करने वाला 'क्रोध' है। विद्वान जन उसे तीन प्रकार का बताते हैं। क्रोध, कोप तथा रोप ये तीन भेद माने जाते है। सभी इन्द्रियो को कष्ट देने वाला 'शोक' कहलाता है। सत्त्व, रज तथा तम भेद से यह तीन प्रकार का होता है। निन्दारूप चित्त में संकोच होना 'जुगुप्सा' कहलाता है। रस रूप मे यह दो प्रकार से विभाजित किया जाता है। चित्त की चंचलता 'भय' है। यह अनेक प्रकार का कहा जाता है। इस प्रकार आचार्यो ने पहले स्थायी-भावों का स्वरूप कहा, अब इनके स्वरूप को ग्रहण कर उनको यथोचित प्रयोग के लिए दिखाते हैं।

२३ 'रम्' धातु से 'रति' शब्द निष्पन्न होता है। 'रम्यते रमते रमयतीति वा रतिः' —अर्थात् 'जिससे रमण किया जाता है', 'जो रमण करती है', या 'जो रमण करानी है'—वह 'रति' है। 'हस्' धातु से 'हास' शब्द निष्पन्न होता है।

**उत्तन्द्रतामभिभवत्यत उत्साहनिर्वहः ।।**
**उत्साह्यते चोत्सहत उत्साहयति वा भवेत् ।**
**विविधः स्यात्स्मयो हर्ष इति विस्मयतेऽथवा ।।**
**विस्माप्यते स्वयं कश्चिद्विस्मापयति वा भवेत् ।**
**क्रुत् क्रौर्यं तेन सर्वत्र धक्ष्यतीत्यस्य निर्वहः ।।**
**क्रोध्यते क्रोधयत्येव क्रोध इत्यभिधीयते ।**
**शुक्क्लेशः शोषणात्मैव शोच्यते शोचतीति वा ।।**
**शोचयत्यपरानेवं शोकशब्दस्य निर्वहः ।**
**सर्वेन्द्रियार्थगर्हैव जुगुप्सेत्यभिधीयते ।।**
**जुगुप्स्यते जुगुप्स्येत जुगुप्सापयतीति वा ।**
**बिभेति भापयत्यन्यान्त्रासादि भयमुच्यते ।।**

---

'हास्यते हासयति हसतीति वा हासः'—अर्थात् 'जिससे हँसा जाता है', 'जो हँसाता है', या 'जो हँसता है'—वह 'हास' है। जो उठी हुई तन्द्रता को परास्त करता है, उसे 'उत्साह' कहते है। 'उत्' उपसर्गपूर्वक 'सह्' धातु से 'उत्साह' शब्द निष्पन्न होता है। 'उत्साह्यते उत्सहते उत्साहयतीति वा उत्साहः'—अर्थात् 'जिससे उत्साह किया जाता है', 'जो उत्साह करता है', या 'जो उत्साह कराता है'—वह 'उत्साह' है। 'विविधः स्मयः हर्षः इति विस्मयः'—अर्थात् विभिन्न प्रकार का आश्चर्य और हर्ष 'विस्मय' कहलाता है। 'वि' उपसर्गपूर्वक 'स्मि' धातु से 'अच्' प्रत्यय होकर 'विस्मय' शब्द निष्पन्न होता है। 'विस्मयते विस्माप्यते स्वयं कश्चिद्विस्मापयतीति वा विस्मय.'—अर्थात् 'जो विस्मय करता है', 'जिससे विस्मय किया जाता है' या 'जो विस्मय कराता है'—वह 'विस्मय' है। 'क्रुत' का अर्थ होता है—क्रौर्य (क्रूरता), उस (क्रूरता), से जो सर्वत्र जलायेगा—वह है 'क्रोध'—इस प्रकार इसकी निरुक्ति है। तथा 'क्रोध्यते क्रोधयतीति वा क्रोध.'—अर्थात् 'जिससे क्रोध कराया जाता है', या 'जो क्रोध कराता है'—वह 'क्रोध' है। 'शुच्' का अर्थ होता है—'क्लेश'। वह शोषणात्मक होता है तथा 'शुच्' धातु से 'शोक' शब्द निष्पन्न होता है। 'शोच्यते शोचति शोचयतीति वा शोकः'—अर्थात् 'जिससे शोक कराया जाता है', 'जो शोक करता है', या 'जो दूसरों को शोक कराता है'—वह 'शोक' है। सभी इन्द्रियों के द्वारा की गयी अर्थ-गर्हा (घृणा) ही 'जुगुप्सा' कहलाती है। 'गुप्' धातु से 'जुगुप्सा' शब्द निष्पन्न होता है। 'जुगुप्स्यते जुगुत्स्येत जुगुप्सापयतीति वा जुगुप्सा'—अर्थात् 'जिससे जुगुप्सा (निन्दा) की जाती है', 'जिससे जुगुप्सा (निन्दा) की जाय', या 'जो जुगुप्सा (निन्दा) कराता है'—वह 'जुगुप्सा' है। त्रासादि 'भय' कहलाता है तथा 'भी' धातु से 'भय' शब्द निष्पन्न होता है। 'बिभेति भापयति (पाणिनि-व्याकरण मे 'ञिभी भये' धातु से प्रेरणा मे 'भाययति' अथवा 'भापयते' रूप बनता है) अन्यान् इति वा भयम्'—अर्थात् 'जो डरता है', या 'जो दूसरों को डराता है'—वह 'भय' है।

२४ एतेषां च रसात्मत्वं स्वरूपं च रसस्य च ।
रसाश्रयाभिव्यक्तीनां विशेषः कथ्यतेऽधुना ॥
विभावाद्यैर्यथास्थानप्रविष्टैः स्थायिनः स्मृताः ।
चतुर्भिश्चाप्यभिनयैः प्रपद्यन्ते रसात्मताम् ॥

२५ विभावैश्चानुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः ।
आनीयमानः स्वादुत्वं स्थायी भावो रसः स्मृतः ।
व्यञ्जनौषधिसंयोगो यथान्नं स्वादुतां नयेत् ।
एवं नयन्ति रसतामितरे स्थायिनं श्रिताः ॥
एवं हि नाट्यवेदेऽस्मिन् भरतेनोच्यते रसः ।
तथा भरतवृद्धेन कथितं गद्यमीदृशम् ॥

२६ यथा नानाप्रकारैर्व्यञ्जनौषधैः पाकविशेषैश्च संस्कृतानि व्यञ्जनानि मधुरादिरसानामन्यतमेनात्मना परिणमन्ति तद्भोक्तृणां मनोभिस्तादृशात्मतया स्वाद्यन्ते तथा नानाप्रकारैर्विभावादिभावैरभिनयैः सह यथार्हमभिवर्धिताः स्थायिनो भावाः सामाजिकानां मनसि रसात्मना परिणमन्तस्तेषां तादात्विकमनोवृत्तिभेदभिन्नास्तत्तद्रूपेण ते रस्यन्ते ।

---

२४ अब इन भावो की रसात्मता, रस का स्वरूप तथा रसाश्रयाभिव्यक्ति की विशेषता कहते है। यथास्थान उपस्थित हुए विभावादि से 'स्थायी-भाव' जाना जाता है। चारों अभिनयों (वाचिक, कायिक, मानसिक तथा सात्त्विक) से ये स्थायी भाव 'रस' रूप प्राप्त होते है।

२५ विभाव, अनुभाव, सात्त्विक-भाव तथा व्यभिचारी भावों के द्वारा जब रत्यादि स्थायी-भाव आस्वाद्य-चर्वणा के योग्य बना दिया जाता है तो वह 'रस' कहलाता है।[15] जिस प्रकार विभिन्न व्यंजन तथा औषधि (मसालो) का संयोग खाद्य द्रव्यो को स्वादिष्ट बना देता है,[16] उसी प्रकार स्थायी-भावो पर आश्रित रसता को विभावादि आस्वाद्य-चर्वणा के योग्य बना देते है। आचार्य भरत अपने नाट्य-शास्त्र में 'रस' को इसी प्रकार कहते हैं तथा वृद्ध-भरत ने रस को इस प्रकार गद्य रूप में कहा है कि—

२६ "जिस प्रकार विभिन्न प्रकार के व्यंजन, औषधि तथा पाक विशेषता से संस्कृत किये हुए व्यंजन मधुरादि रसो में से किसी एक अपने रूप में परिणत होते है और भोक्ताओं के मन से उसी रूप मे उनका आस्वादन किया जाता है, उसी प्रकार विभिन्न प्रकार के विभावादि भाव तथा अभिनयों के साथ यथायोग्य वृद्धि को प्राप्त स्थायी-भाव सामाजिकों के मन में रस-रूप में परिणत होते हुए, उन सामाजिकों की भिन्न-भिन्न मनोवृत्ति के भेद से भिन्न-भिन्न रूप मे परिणत हुए, तद् तद् रूप में उन (सहृदयों) के द्वारा आस्वादन के योग्य बनाये जाते हैं अर्थात् सहृदय उन स्थायी-भावों का आस्वादन करते है।[17]

२७ नानाद्रव्यौषधैः पाकैर्व्यञ्जनं भाव्यते यथा ।
एवं भावा भावयन्ति रसानभिनयैः सह ॥
इति वासुकिनाप्युक्तो भावेभ्यो रससम्भवः ।
तस्माद्रसास्तु भावेभ्यो निष्पद्यन्ते यथार्हतः ॥

२८ विभावैश्चानुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः ।
वर्धिताः स्थायिनो भावा नायिकादिसमाश्रयाः ॥
अनुकारतया नाट्ये क्रियमाणा नटादिभिः ।
सामाजिकैस्तु रस्यन्ते यस्मात्तस्माद्रसाः स्मृताः ॥

२९ न द्रव्यं न च सामान्यं न विशेषो गुणो न च ।
न कर्म समवायो न न पदार्थान्तरञ्च सः ॥
विकारो मानसो यस्तु बाह्यार्थालम्बनात्मकः ।
विभावाद्याहितोत्कर्षो रस इत्युच्यते बुधैः ॥
रसो मनोविकारोऽपि पदार्थान्यतमो भवेत् ।
पदार्थाः षट् प्रमीयन्ते रसस्यानुभवात्मकाः ॥
अतो रसः पदार्थेभ्यो मावया क्वापि भिद्यते ।

---

२७ "जिस प्रकार विभिन्न प्रकार के पदार्थ, औषधि तथा पाक से व्यंजनों की भावना (सस्कार) होती है उसी प्रकार भाव अभिनयों के साथ मिलकर रसों की भावना करते है।"[१८] इस प्रकार 'वासुकि' के मत मे भी भावो से रस की उत्पत्ति होती है। अतः रस भावों से निष्पन्न होते है। यह सिद्धान्त सिद्ध होता है।

२८ विभाव, अनुभाव, सात्त्विक-भाव तथा व्यभिचारी-भावों के द्वारा नायकादि के आश्रित स्थायी-भाव वृद्धि को प्राप्त होते है। नाट्य में नटादि के द्वारा अनुकरण किये जाते हुए ये स्थायी-भाव जब सामाजिकों (सहृदयों) के द्वारा आस्वादन के योग्य बनाये जाते है अर्थात् जब सामाजिक (सहृदय) इन स्थायी-भावों का आस्वादन करता है तब वे स्थायी-भाव 'रस' कहलाते है।

२६ वह 'रस' न द्रव्य[१९] है, न सामान्य[२०] है, न विशेष[२१] है, न गुण[२२] है, न कर्म[२३] है, न समवाय[२४] है और न इन पट् पदार्थो[२५] के अन्तर्गत ही आता है। लेकिन जो मन का विकार बाह्य वस्तु का आलम्बन-स्वरूप है तथा विभावादि से उत्कर्ष को प्राप्त होता है वह विद्वानों द्वारा 'रस' कहलाता है। रस मन का विकार होते हुए भी पदार्थो में से एक होना चाहिए। षट् पदार्थ रस के अनुभव स्वरूप प्रतीत होते है। अतः 'रस' पदार्थो से कही भिन्न होता है। द्रव्यादि पदार्थो के भिन्न-भिन्न रूप से रस कही-कहीं प्रकाशित होते है अतः

द्रव्यादीनां पदार्थानां तत्तद्रूपतया रसः ॥
क्वापि क्वापि प्रकाशेन तेषामन्यतमो रसः ।
३० विभावाश्चानुभावाश्च स्थायिनो रससिद्धये ॥
कथ्यन्ते भरतोक्तेन वर्त्मना नान्यथा क्वचित् ।
उक्ता अपि विभावाद्याः पूर्वत्र स्वस्वरूपतः ॥
मतान्तरेण कथ्यन्ते ज्ञानं क्वाप्युपयुज्यते ।
विभावाश्चानुभावाश्च सात्त्विका व्यभिचारिणः ॥
स्थायिनोऽपि च कथ्यन्ते भावा इति मनीषिभिः ।
यद्भावयन्ति काव्यार्थान् सत्त्ववागङ्गसंयुतान् ॥
तस्माद्भावा इति प्राज्ञैरुच्यन्ते नाट्यवस्तुषु ।
वागङ्गमुखरागैश्च सत्त्वेनाभिनयेन च ॥
कवेरन्तर्गतं भावं भावयन् भाव उच्यते ।
विभावेनाहृतो योऽर्थस्त्वनुभावेन गम्यते ॥
वागङ्गसत्त्वाभिनयैः स भाव इति कीर्तितः ।
३१ वागङ्गसत्त्वाभिनयो येनैव च विभाव्यते ॥
स भावो नाट्यतत्त्वज्ञैर्विभाव इति दर्शितः ।

---

रस उन पदार्थो में से एक है । इस प्रकार 'रस' पदार्थों से भिन्न होते हुए भी पदार्थों के अन्तर्गत ही है ।

३० यहाँ रस-सिद्धि के लिए आचार्य भरत के कथनानुसार विभाव, अनुभाव तथा स्थायी-भावो को कहते है, अन्य-रूप से नही कहेंगे । हालाकि पहले विभावादि के अपने-अपने स्वरूप कह दिये गये है लेकिन फिर भी मतान्तर से कहते है (क्योकि) ज्ञान कही उपयोगी हो जाता है । विभाव, अनुभाव, सात्त्विक-भाव, व्यभिचारी-भाव तथा स्थायी-भाव भी विद्वानो के द्वारा कहे जा रहे है । जो सत्त्व, वाक् तथा अंग से युक्त काव्यार्थो को भावित करते है, नाट्य-वस्तुओ में वे विद्वानो द्वारा 'भाव' पुकारे जाते है । वाक्, अंग तथा मुखराग के द्वारा तथा सात्त्विक अभिनय के द्वारा कवि के अन्तर्निहित भाव को भावित करने के कारण 'भाव' कहा जाता है ।[२६] जो अर्थ विभावो के द्वारा प्रस्तुत होकर अनुभाव तथा वाचिक, आंगिक तथा सात्त्विक अभिनयों के द्वारा प्रतीति-योग्य बनता है, वह 'भाव' कहा जाता है ।[२७]

**(विभाव)**

३१ जिससे वाचिक, आगिक तथा सात्त्विक अभिनय जाने जाते है, उस भाव को 'नाट्याचार्य विभाव' कहते है। निमित्त, कारण, हेतु, विभाव और विभावना— ये भावज्ञों द्वारा विभाव के पर्याय कहे जाते है । 'विभाव' शब्द का अर्थ है—

निमित्तं कारणं हेतुर्विभावश्च विभावना ॥
इत्थं विभावपर्यायाः कथ्यन्ते भावकोविदैः ।
विज्ञानार्थो विभावः स्याद्विज्ञानं च विभावितम् ॥
बह्वोऽर्था विभाव्यन्ते वागङ्गाभिनयाश्रयाः ।
अनेन यस्मात्तेनायं विभाव इति संज्ञितः ॥

३२ वागङ्गाभिनयेनेह यस्मादर्थोऽनुभाव्यते ।
सर्वाङ्गोपाङ्गसहितः सोऽनुभावस्ततः स्मृतः ॥

३३ आविर्भूय तिरोभूय चरद्भिश्चान्तरान्तरा ।
यै रसो भिद्यतेऽनेकः ते स्मृता व्यभिचारिणः ॥

३४ भावानामपि सर्वेषां यैः स्वसत्ता विभाव्यते ।
ते भावाः सत्त्वजन्मानः सात्त्विका इति दर्शिताः ॥

३५ स्थिताः काव्यादिषु नटैरभिनीता यथार्हतः ।
रसात्मनाऽवतिष्ठन्ते सत्सु ये स्थायिनोऽत्र ते ॥

---

'विज्ञान' । विज्ञान का अर्थ है कि विभावित अर्थात् विशेष रूप से किया गया ज्ञान ।[२८] इसके द्वारा वाचिक तथा आंगिक अभिनय पर आश्रित अनेक पदार्थ विभावित होते है अर्थात् विशेष रूप से जाने जाते है, अतः इसको 'विभाव' नाम से कहा जाता है ।[२९]

**(अनुभाव)**

३२ वाचिक तथा आंगिक अभिनय के द्वारा सर्वांग व उपांग सहित क्योंकि इसका अर्थ अनुभावित होता है अत: 'अनुभाव' नाम से जाना जाता है ।[३०]

**(व्यभिचारी-भाव)**

३३ स्थायी-भावों के अन्तर्गत बीच-बीच में आविर्भूत तथा तिरोभूत हो-होकर चलते हुए (संचरणशील) जिन भावों के द्वारा रस अनेक प्रकार से भिन्न किये जाते हैं, वे भाव 'व्यभिचारी-भाव' कहलाते है ।

**(सात्त्विक-भाव)**

३४ जिनसे सभी भावो की स्वसत्ता विभावित होती है, वे भाव सत्त्व से उत्पन्न होने के कारण सात्त्विक कहे जाते हैं ।[३१]

**(स्थायी-भाव)**

३५ काव्यादि में वर्णित, प्रयुक्त, नटों द्वारा यथायोग्य अभिनीत जो भाव सामाजिकों के हृदय में रस-रूप में स्थापित होते हैं, वे स्थायी-भाव कहलाते है ।

३६ भावाः स्युर्मानसाः केचिदाङ्गिका अपि केचन ।
वाचिका अपि केचित्स्युस्सात्त्विका अपि केचन ।।
द्रव्येऽपि केचिद्भावाः स्युः केचित्स्युर्गुणकर्मणोः ।
एतेषु भावशब्दार्थः प्रयोजनमुदाहृतम् ।।
प्रयोजनमभिप्रायस्तात्पर्यं फलमित्यपि ।
भाव इत्येव शब्दाः स्युर्भावपर्यायवाचकाः ।।
द्रव्यक्रियागुणवचो मनोङ्गेषु मनीषिभिः ।
भावशब्दः प्रयुक्तस्तु भावोभिप्रायवाचकः ।।

३७ एते भावा रसोत्कर्षे तत्र तत्रोपयोगिनः ।
उद्दीपिता विभावैस्स्वैरनुभावैश्च पोषिताः ।।
भावैश्च सात्त्विकैर्योग्यसंसर्गैर्व्यभिचारिभिः ।
चित्रताः स्थायिनो भावा रसोपादानभूमयः ।।
यदा तदैषामास्वाद्यमानरूपं यदुन्मिषत् ।
मनोभिः प्रेक्षकाणां तदुदेष्यति रसात्मना ।।
तत्रान्तरस्य भेदा ये व्यापारस्योदिताः पृथक् ।
ते सर्वे नाट्यतत्त्वज्ञैः कथ्यन्ते हि रसाह्वयाः ।।

३८ एवं रसानामुदयः सामान्येन समीरितः ।
स्वभावो वाऽनुकारो वा यस्मिन्दृश्यतया स्थितः ।।

---

३६ कुछ भाव मानसिक, कुछ आगिक, कुछ वाचिक तथा कुछ सात्त्विक होते है। कुछ भाव द्रव्यों में पाये जाते है, कुछ भाव गुण और कर्म मे पाये जाने है। इनमे 'भाव' शब्द का अर्थ 'प्रयोजन' कहा जाता है। प्रयोजन, अभिप्राय, तात्पर्य, फल—ये सभी शब्द 'भाव' शब्द के पर्याय वाचक है। द्रव्य, गुण, क्रिया, वाणी, मन तथा अंगो में विद्वानों ने जो 'भाव' शब्द का प्रयोग किया है। वह 'भाव' शब्द अभिप्राय-वाचक है।

३७ ये सभी भाव रस के उत्कर्ष में वहाँ-वहाँ उपयोगी होते है। विभावों के द्वारा उद्दीप्त, अपने अनुभावों द्वारा पोषित, सात्त्विक भावो द्वारा संसर्गयोग्य तथा व्यभिचारी-भावो द्वारा चित्रित स्थायी-भाव रसोपादान की भूमि होते है। जब इन (स्थायी-भावों) का आस्वाद्यमानरूप दर्शकों के मन से प्रकट होता है तो वह 'रस-रूप' कहा जाता है। वहाँ भिन्न-भिन्न व्यापार के जो भेद पृथक्-पृथक् उदित होते हैं, वे सब नाट्याचार्यों द्वारा 'रस' नाम से जाने जाते हैं।

३८ इस प्रकार सामान्य रूप से रसों का उदय कह दिया, जिसमे स्वभाव या अनुकरण दृश्यता से स्थित है।

३९ रसाश्रयः स एवेति भारताः प्रतिजानते ।
यशसेऽर्थाय महते राज्योपद्रवशान्तये ।।
कर्मणां विघ्ननाशाय मङ्गलानां च सम्पदे ।
उदात्तादिगतान् भावान्परोक्षानपि तत्त्वतः ।।
कविभिः कल्पितान्काव्येष्वभिनेयान्विचक्षणैः ।
प्रत्यक्षवत् सदस्येभ्यो नटा यदकुर्वते ।।
तस्मान्नटेषु न क्वापि रसस्याश्रयता भवेत् ।
४० मनसो ह्लादजननः स्वादो रस इति स्मृतः ।।
शृङ्गारस्य स युज्येत तस्य ह्लादात्मकत्वतः ।
अन्येषां रसता प्रायः सिद्धा केनापि हेतुना ।।
यथा नृणां तु सर्वेषां सर्वेऽपि मधुरादयः ।
भुक्ता रसात्मतां यान्ति देशकालादिभेदतः ।।

---

३९ रसाश्रय वही है जो आचार्य भरतो ने कहे है—अर्थात् भरतो के अनुसार रसाश्रय नट और सामाजिक है, यही भावप्रकाशनकार को स्वीकार है, लेकिन तत्त्वतः कविजनों द्वारा काव्यों में कल्पित अभिनेयों का तथा उदात्तादिगत परोक्षभावों का नट-जन यश के लिए, अर्थ के लिए, राज्य के महान उपद्रव की शान्ति के लिए, कर्मो के विघ्न के नाश के लिए और कल्याण-सम्पत्ति के लिए, सामाजिको के सामने प्रत्यक्ष की तरह जो अनुकरण करते है, तो नटो मे रसाश्रयता कहीं नही होनी चाहिए ।

४० मन की प्रसन्नता को उत्पन्न करने वाला स्वाद 'रस' कहलाता है। रस की इस परिभाषा के अनुसार केवल शृंगार ही 'रस' हो सकता है, अन्य वीर-रसादि नही, क्योंकि उस शृंगार के आह्लादात्मक होने से 'शृगार' ही 'रस' होना चाहिए । लेकिन भावप्रकाशनकार कहते है कि केवल शृंगार ही 'रस' कहा जा सकता है, ऐसा नही । अन्य रसो की 'रसता' किसी न किसी हेतु से प्रायः सिद्ध ही है । जैसे सभी मनुष्यों मे मधुरादि (मधुराम्ललवणकटु-कषायतिक्त) सभी रसो का स्वाद लिया जाता है और देश तथा काल के भेद से सभी 'रसातमता' को प्राप्त होते है अर्थात् मधुरादि सभी रस कोई न कोई स्वाद अवश्य रखते है क्योंकि जैसे कोई व्यक्ति मधुर वस्तु का सेवन कर मधुर-रस का आस्वादन करता है और आनन्द का अनुभव करता है, कोई व्यक्ति भिन्न देश तथा काल मे कटु वस्तु का सेवन करता है तो भी एक प्रकार के स्वाद का आनन्द लेता है जैसा कि अन्य मधुर वस्तु के सेवन से मधुर-रस के स्वर का आनन्द लेते है। इस प्रकार देश तथा काल के भेद से सभी रसों से आनन्द प्राप्त होता है ।

४१ तथा जाता जनिष्यन्तो जायमानाः परस्परम् ।
परस्परस्य सर्वत्र मित्रोदासीनशत्रवः ॥
तेषु कस्यापि शृङ्गारो हास्यः कस्यचिदेव सः ।
अद्भुतस्स च कस्यापि कस्यापि करुणो भवेत् ।
एवं सङ्करतोऽन्योन्यं देशकालगुणादिभिः ।
शृङ्गाराद्याः सदस्यानां भवन्ति ह्लादना यतः ॥
तस्मात्सामाजिकैः स्वाद्या रसवाच्या भवन्ति ते ।
प्रकृतीनां च भिन्नत्वादवस्थादिविभेदतः ॥
मनसः क्षणिकत्वाच्च तानेकः स्वदते यतः ।
ततोऽपि रसवाच्याः स्युरित्याचार्या व्यवस्थिताः ॥
एके रसानां व्यङ्ग्यत्वं वाच्यत्वं केचिदूचिरे ।
प्रत्याय्यत्वं वदन्त्यन्ये गम्यत्वमपि केचन ॥
तथाऽवान्तरवाक्यार्थं महावाक्यार्थतां परे ।
एवं न्यायो न भिद्येत क्वापि क्वापि प्रकाशतः ॥
रामादावनुकार्ये ते नटैर्व्यङ्ग्यो भविष्यति ।
तत्तत्काव्यनिबद्धस्तु वाक्यार्थः स भविष्यति ॥
नामादितादात्म्यापत्तेर्नटे प्रत्याय्य एव सः ।

---

४१ इसी प्रकार मनुष्य भूत, भविष्य तथा वर्तमान के मित्रता, उदासीनता तथा शत्रुता के संस्कारों के साथ जन्म लेता है, अत. उसकी भिन्न-भिन्न रुचि तथा अरुचि होती है। भिन्न-भिन्न रुचि होने के कारण उनमे से किसी का शृगार, किसी का हास्य, किसी का अद्भुत, किसी का करुण रस होता है। इस प्रकार देश, काल तथा गुण आदि के भेद से शृगारादि रस एक-दूसरे के साथ मिलकर सदस्यों (सहृदयो) के आह्लादकारी होते है क्योकि सामाजिको के द्वारा वे शृगारादि रस चर्वणा के योग्य बनाये जाते है और रस के नाम से पुकारे जाते हैं। प्रकृति के भिन्न होने से, अवस्थादि के भेद से तथा मन के क्षणिक होने से मनुष्यो को एक (रस) स्वादिष्ट होता है। आचार्य ने उसे 'रस' पद से अभिहित किया है। इसीलिए कोई एक रसों की व्यंग्यता स्वीकार करते है, कोई वाच्यता कहते हैं। अन्य प्रत्यायता बताते है, कोई गम्यता स्वीकार करते है तथा अन्य कोई दूसरे वाक्यार्थ को महावाक्यार्थता कहते हैं। इस प्रकार कहीं-कहीं प्रकाश से न्याय (नियम) भिन्न नहीं होता। यह रस रामादि अनुकार्यो में नटों द्वारा व्यंग्य होगा। उस-उस काव्य में निबद्ध वह रस वाक्यार्थ होगा। नामादि के तादात्म्य की आपत्ति से नट मे वही रस

एवमेवोह्य एव स्यात्तत्र तत्र विचक्षणैः ॥
तदवान्तरवाक्यार्थो महावाक्यार्थ एव च ।
४२ मुक्तकादौ प्रबन्धे च स्थायिसञ्चारिभेदतः ॥
प्रमदाद्यनुभावेन भावितो वासितो रसः ।
तत्तद्रूपस्याभिनयैः सभ्येषु व्यज्यते स्फुटम् ॥
संवित्प्रकाशानन्दात्मा गम्यः स्यात्स्वानुभूतितः ।
अहङ्काराभिमानात्मा बाह्यार्थेषु प्रकाशते ॥
अहङ्काराभिमानादिस्वरूपं कथ्यतेऽधुना ।
परस्मादात्मनो भान्ति ज्ञानानन्दक्रियाप्रभाः ॥
४३ ज्ञानप्रभासाश्चैतन्यमणेर्जीवस्य सर्वतः ।
शरीरव्यापिनी तत्र व्यापना भवति स्फुटम् ॥
सैषा परात्मनः सर्ववस्तूत्था चेतना भवेत् ।
४४ तथाऽऽनन्दप्रभासाऽपि पुरुषेषु समन्ततः ॥
अभिव्यक्ता सती तेषां सुखं वैषयिकं भवेत् ।
४५ क्रियाप्रभा भवेत्प्राणः स देहेषु प्रवर्तते ॥
परमात्मा सर्ववस्तुपरिस्पन्दप्रवर्तकः ।
ज्ञानप्रभा च सानन्दा तस्याः सत्त्वं प्रजायते ॥

---

प्रत्याय होगा। इसी प्रकार विद्वानों को वहाँ-वहाँ जानना चाहिए। दूसरा वाक्यार्थ महावाक्यार्थ ही है।

४२ मुक्तकादि प्रबन्ध में स्थायी तथा संचारी भाव के भेद से, प्रमदा आदि के अनुभाव से भावित, वासित (परिव्याप्त) 'रस' उस-उस रूप के अभिनयो के द्वारा सामाजिकों में स्पष्ट रूप से व्यक्त होता है। यह 'रस' संविद प्रकाशा-नन्द-रूप होता है, अपनी अनुभूति से गम्य होता है और अहंकार और अभिमान रूप होने से बाह्य वस्तुओं मे प्रकाशित होता है अर्थात् बाह्य वस्तुओं से जाना जाता है।[३२] अब अहंकार तथा अभिमानादि के स्वरूप को कहते हैं। दूसरे से तथा अपने से ज्ञान प्रभा, आनन्द प्रभा तथा क्रिया प्रभा प्रकट होती है।

४३ 'ज्ञान-प्रभा' वह है जो चैतन्यमणि-जीव के समस्त शरीर में व्याप्त रहकर स्पष्ट रूप से व्याप्त होती है। यह वह है जो दूसरे की तथा अपनी सभी वस्तुओं से उत्पन्न चेतना होती है।

४४ 'आनन्द-प्रभा' भी वह है जो पुरुषों मे चारों ओर से अभिव्यक्त होती हुई उन पुरुषों के सुख तथा विषयों से सम्बन्धित होती है।

४५ 'क्रिया-प्रभा' प्राण है वह सभी के शरीरो मे रहती है। 'परमात्मा' सभी वस्तुओं में स्पन्दन उत्पन्न करने वाला है। आनन्द-प्रभा के साथ ज्ञान-प्रभा से सत्व उत्पन्न होता है। 'क्रिया-प्रभा' से रज उत्पन्न होता है। सत्व से शक्ति। इस प्रकार यह उत्तम जन्म देने वाली है। मनोमर्याद

क्रियाप्रभा रजस्सत्त्वाच्छक्तिः स्यादुत्तमा प्रसूः ।
मनोमयादयस्तासामधिष्ठातार ईरिताः ॥
पृथक्कदाचित्तिष्ठन्ति मिलितानि कदाचन ।
सत्त्वं विशालं तस्यान्तरुदरे रजसः स्थितिः ॥
तस्यान्तरुदरे तस्य तमसःस्थितिरुच्यते ।
आत्मा तस्यान्तरुदरे मनसः स्थितिरुच्यते ॥
मिलितानीति जानन्ति नैरन्तर्यात्परे पुनः ।
सत्त्वं मध्येऽभितस्तस्य रजस्तम इतीर्यते ॥
तन्मात्रैः सह भूतानि दश ज्ञानेन्द्रियाणि च ।
कर्मेन्द्रियैः सह दश मनस्तदुभयात्मकम् ॥
अहङ्कारेण युक्तानां तन्मात्राणां यथाक्रमम् ।
दशेन्द्रियाणि कथ्यन्ते तेषां विकृतयस्त्विति ॥
अहङ्कारस्य चैकस्य विकृतिर्मन उच्यते ।
प्रकृतेर्विकृतिः सोऽपि महान् सा च त्रिधा भवेत् ॥
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति सात्त्विकी ।
निश्चिन्वतीति विषयान्बुद्धिरित्युच्यते बुधैः ॥
स्वांशैः सह युता सर्वजीवानामुपकारिका ।
अंशाः स्युर्व्यष्टयस्तस्या विज्ञानेन्द्रियपञ्चकम् ॥
साहायकं भवेत्तद्वद्विषयालोचनादिषु ।
मनश्चोपकारोत्यस्याः सङ्कल्पेन ततस्ततः ॥

---

इन प्रभाओं के अधिष्ठाता कहे जाते हैं। कभी ये पृथक् रहते है, कभी मिलकर। सत्त्वगुण विशाल है उसके अन्तर्गत 'रज' की स्थिति रहती है, उसके अन्तर्गत उस 'तम' की स्थिति कही जाती है। आत्मा के अन्दर मन की स्थिति कही जाती है। इस निरन्तरता के कारण दूसरे इन सभी गुणों को मिला हुआ जानते है। मध्य में सत्त्व और उसके चारों ओर रज और तम कहे जाते हैं। इन गुणों के मिश्रण से पंचतन्मात्राओं (रूप, रस, गन्ध, स्पर्श तथा शब्द) के साथ पंचभूत (पृथ्वी, जल, तेज, वायु तथा आकाश) अर्थात् ये दस तत्त्व उत्पन्न होते हैं। कर्मेन्द्रियों (हस्त, पाद, पायु, उपस्थ तथा वाक्) के साथ ज्ञानेन्द्रिय (चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसन तथा त्वक्) अर्थात् दस इन्द्रियों तथा उभयात्मक 'मन' उत्पन्न होता है। अहंकार से युक्त इन तन्मात्राओं की यथाक्रम दस इन्द्रियाँ उनकी (तन्मात्राओं की) विकृति कही जाती हैं। एक अहंकार की विकृति 'मन' कहलाती है। प्रकृति से विकृति होती है अतः वह महान्

अपरोक्षावभासो यः तदालोचनमुच्यते ।
यः परोक्षावभासस्तु स सङ्कल्प इतीरितः ।।
अहङ्कारोऽभिमानेन बुद्धेरुपकरोति यः ।
ज्ञातुर्ज्ञेयेन संबद्धो देशकालनिबन्धनः ।।
यो ममेति ग्रहः सोऽयमभिमान इतीरितः ।
क्रियाया हेतुभूतत्वाद्राजसी प्राण उच्यते ।।
स्वांशैरुपकरोत्येव भूतानामाशयस्थितः ।
कर्मेन्द्रियाणि विषयैः स्वैस्स्वैस्तस्योपकुर्वते ।।
मनश्च कुर्यामित्यादिसङ्कल्पेनोपकारकम् ।
तामसी सृष्टयवस्थायां सततं परिणामतः ।।
कालो भवति तस्यैव परिणामाः क्षणादयः ।
तेनैव सर्वभूतानां परिणामः प्रवर्तते ।।
स कालः स्पन्दरूपेण पदार्थान्परिणामयन् ।
अनुगृह्णाति वेत्तारं वित्तिं वेद्यञ्च तत्त्वतः ।।

---

है। वह (प्रकृति) तीन प्रकार की होती है—सात्त्विकी, राजसी तथा तामसी।[33] सात्त्विकी (प्रकृति) विषयो को निश्चित करती है अतः विद्वान लोग उसे 'बुद्धि'[34] कहते हैं। वह अकेली बुद्धि अपने अंगों के साथ सभी जीवों का उपकार करने वाली है। उसमें अंश व्यष्टि स्वरूप है। उसकी पंच ज्ञानेन्द्रियाँ उन-उन विषयों के आलोचनादि मे सहायक होती हैं। तदनन्तर 'मन'[35] संकल्प से उसका उपकार करता है। जो अपरोक्ष ज्ञान है वह 'आलोचन'[36] कहलाता है। जो परोक्ष ज्ञान है वह 'सकल्प' कहलाता है। जो अभिमान से बुद्धि का उपकार करता है, वह 'अहंकार'[37] है। जो ज्ञाता के ज्ञेय मे सम्बद्ध एवं देश-काल से सम्बद्ध 'यह मेरा है'—इस प्रकार का ज्ञान है, वह 'अभिमान' कहलाता है। क्रिया का हेतु-भूत होने से राजसी (अहंकार) 'प्राण' कहलाता है। समस्त प्राणियों के हृदय में स्थित (प्राण) अपने अंगों से अहकार का उपकार ही करता है। कर्मेन्द्रिय अपने-अपने विषयों को ग्रहण कर उसका (अहंकार का) उपकार करती है। 'मुझे करना चाहिए' इत्यादि प्रकार के संकल्प से मन (अहंकार का) उपकारी होता है। सृष्टि-अवस्था में निरन्तर परिणाम से तामसी (अहंकार) 'काल' होता है। उसके परिणाम क्षणादि होते है। उसी (काल) से समस्त प्राणियों का परिणाम होता है। वह काल स्पन्दन रूप में पदार्थो को परिणत करता हुआ तत्त्वतः ज्ञाता, ज्ञान तथा ज्ञेय का उपकार करता है।

४६ अहङ्कारस्त्रिधा सोऽयं सत्त्वादिगुणभेदतः ।
सत्त्वादिगुणभेदेन योऽहङ्कारस्तु सात्त्विकः ॥
वैकारिकश्चेन्द्रियादिरिन्द्रियप्रकृतिर्भवेत् ।
भूतादिस्तामसः शब्दतन्मात्रप्रकृतिर्भवेत् ॥
राजसस्तैजसः सोऽपि द्वयोरुपकरोति हि ।
अहङ्कारस्य वृत्तिर्या सोऽभिमानः प्रकीर्तितः ॥
साऽभिमानात्मिका वृत्तिस्तत्तदिन्द्रियगोचरा ।
बाह्यार्थालम्बनवती शृङ्गारादिरसात्मताम् ॥
याति तत्र विभावादिभेदाद्भेदं प्रयाति च ।
४७ विभावा ललिताः सत्त्वानुभावव्यभिचारिभिः ॥
यदा स्थायिनि वर्तन्ते स्वीयाभिनयसंश्रयाः ।
तदा मनः प्रेक्षकाणां रजस्सत्त्वव्यपाश्रयि ॥
सुखानुबन्धी तत्रत्यो विकारो यः प्रवर्तते ।
शृङ्गाररसाभिख्यां लभते रस्यते च तैः ॥
४८ यदा तु ललिताभासा भावैः स्वोत्कर्षहेतुभिः ।
सत्त्वादिभिश्चाभिनयैः स्थायिनं वर्धयन्ति ते ॥

---

४६ सत्त्व, रज तथा तम गुणो के भेद से अहकार तीन प्रकार का होता है। सत्त्वादि गुण के भेद से जो सात्त्विक अहकार है उसके इन्द्रियादि वैकारिक है अर्थात् इन्द्रियादि उससे उत्पन्न होते है अतः अहंकार इन्द्रियों का कारण होता है। 'भूतादि' अर्थात् तामसे अहंकार से शब्द आदि तन्मात्रा उत्पन्न होती हैं अतः शब्दादितन्मात्राओं का 'तामस-अहंकार' कारण होता है। राजस अर्थात् तैजस अहंकार दोनो का उपकार करता है अर्थात् राजस अहंकार मे दोनों ही कार्यगण उत्पन्न होते है।[३८] अहंकार की जो वृत्ति है वह 'अभिमान' कहलाती है। वह अभिमानात्मिका अर्थात् अभिमान-स्वरूप वृत्ति तद्-तद् इन्द्रियगोचर होती है। बाह्य वस्तुओ के आलम्बन से वह वृत्ति शृंगारादि रसो को प्राप्त होती है अर्थात् वह अभिमान स्वरूप वृत्ति इन्द्रियगोचर होने से बाह्य वस्तुओ के द्वारा शृंगारादि रस हो जाती है और विभावादि के भेद से अनेक भेदो को प्राप्त करती है।

४७ जब अपने अभिनय पर आश्रित 'ललित' विभाव-सात्त्विक भाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों के साथ स्थायी भाव मे प्रवृत्त होते हैं तब दर्शको का मन रज तथा सत्त्व गुण के आश्रित हो सुख का अनुभव करता है वहाँ रति का जो विकार उत्पन्न होता है वह 'शृंगार-रस' के नाम को प्राप्त होता है और सामाजिकों (दर्शकों) के द्वारा उस रस का आस्वादन किया जाता है।

४८ जब वे 'ललिताभास' विभाव अपने उत्कर्षाधायक सत्त्वादि-भावो और अभिनयो के द्वारा स्थायी-भावों को बढाते है तब दर्शको का मन रजोगुण का स्पर्श

तदा मनः प्रेक्षकाणां रजस्स्पृष्टं तमोऽन्वयि ।
चैतन्याश्रयि तत्रत्यो विकारो यः प्रवर्तते ।
स हास्यरस इत्याख्यां लभते रस्यते च तैः ।
४९ स्थिरा विभावास्तु यदा स्वयोग्यैः सात्विकादिभिः ।।
भावैः स्थायिनि वर्तन्ते स्वीयाभिनयसंश्रयाः ।
तदा मनः प्रेक्षकाणां सत्त्ववृत्ति रजोऽन्वयि ।।
साभिमानश्च तत्रत्यो विकारो यः प्रवर्तते ।
स वीररसनामा स्याद्रस्यते च स तैरपि ।।
५० यदा चित्रा विभावास्तु भावैः सत्त्वादिभिः सह ।
स्वाश्रयाभिनयैर्युक्ता वर्तन्ते स्थायिनि स्वके ।।
तदा मनः प्रेक्षकाणां रजस्सत्त्वोज्ज्वलं भवेत् ।
बुद्धियुक्तश्च तत्रत्यो विकारो यः प्रवर्तते ।।
स चाद्भुतरसाख्यां तु लभते रस्यते च तैः ।
५१ खरा विभावास्तु यदा स्वानुकूलैः सहेतरैः ।।
स्थायिनि स्वे प्रवर्तन्ते स्वीयाभिनयसंश्रयाः ।
तदा मनः प्रेक्षकाणां रजसा तमसाऽन्वितम् ।।
साहङ्कारं च तत्रत्यो विकारो यः प्रवर्तते ।
स रौद्ररसनामा स्याद्रस्यते च स तैरपि ।।

---

करता हुआ तमोगुण से अन्वित हो जाता है और चैतन्य के आश्रित हो जाता है वहाँ रति का जो विकार उत्पन्न होता है वह 'हास्य-रस' कहलाता है और सामाजिकों (दर्शकों) के द्वारा उस रस का आस्वादन किया जाता है ।

४९ जब अपने अभिनय पर आश्रित 'स्थिर-विभाव' अपने योग्य सात्त्विकादि भावों के साथ स्थायी-भाव मे प्रवृत्त होते है तब दर्शकों का मन सत्त्ववृत्ति तथा रजोगुण मे अन्वित हो जाता है और अभिमान से युक्त हो जाता है । वहाँ रति का जो विकार उत्पन्न होता है, उसका 'वीर-रस' नाम होता है और दर्शकगण उस रस का आस्वादन करते है ।

५० जब 'चित्र-विभाव' सात्त्विकादि भावों के साथ अपने आश्रित अभिनयों से युक्त होकर अपने स्थायी भाव में प्रवृत्त होते हैं, तब दर्शकों का मन रज तथा सत्त्व गुण से उज्ज्वल हो जाता है और बुद्धि (ज्ञान) से युक्त हो जाता है, वहाँ रति का विकार उत्पन्न होता है वह 'अद्भुत-रस' कहलाता है और दर्शक उस रस का आस्वादन करता है ।

५१ जब अपने अभिनय पर आश्रित 'खर-विभाव' अपने अनुकूल अन्य भावों के साथ अपने स्थायी-भाव मे प्रवृत्त होते हैं तब दर्शकों का मन रजोगुण तथा तमोगुण से अन्वित हो जाता है और अहकार से युक्त हो जाता है वहाँ रति का जो विकार उत्पन्न होता है वह 'रौद्र-रस' कहलाता है और दर्शकों के द्वारा उसका आस्वादन किया जाता है ।

५२ यदा रूक्षा विभावास्तु स्वेतरैः सानुगैः सह ।
स्वीये स्थायिनि वर्तन्ते नाट्याभिनयसंश्रयाः ।।
तदा मनस्तमोरूढं चिन्तावस्थं जडात्मकम् ।
सदन्वयी च तत्रत्यो विकारो यः प्रवर्तते ।।
प्राप्नोति सोऽपि करुणरसतां रस्यते च तैः ।
५३ निन्दिता ये विभावाः स्युः स्वैतरैः सहकारिभिः ।।
यदा स्थायिनि वर्तन्ते तैस्तैरभिनयैः सह ।
तदा मनः प्रेक्षकाणां बुद्ध्यवस्थमसत्त्वयुक् ।।
चिदन्वयी च तत्रत्यो विकारो यः प्रवर्तते ।
स बीभत्सरसाख्यां तु लभते रस्यते च तैः ।।
५४ यदा तु विकृता भावाः स्वोचितैः सहकारिभिः ।
स्थायिन्यभिनयोपेता वर्तन्ते नाट्यकर्मणि ।।
तदा मनः प्रेक्षकाणां चित्तावस्थं तमोऽन्वयि ।
सत्त्वान्वितं च तत्रत्यो विकारो यः प्रवर्तते ।।
भयानकरसाख्यां तु लभते रस्यते च तैः ।
५५ ईदृशी च रसोत्पत्तिः मनोवृत्तिश्च शाश्वती ।।
कथिता योगमालायां संहितायां विवस्वते ।

---

५२ जब नाट्याभिनय के आश्रित 'रुक्ष-विभाव' अपने अन्य समर्थक भावो के साथ स्थायी-भाव में प्रवृत्त होते है, तब दर्शको का मन तमोगुण से आरूढ़, चिन्ता मे अवस्थित, जड़ स्वरूप तथा शम से अन्वित हो जाते हैं, 'रति' का जो विकार उत्पन्न होता है, वह 'करुण-रस' को प्राप्त होता है और उस रस का दर्शक आस्वादन करते है ।

५३ जब जो 'निन्दित-विभाव' अपने से भिन्न अर्थात् अन्य सहकारी भावों तथा उन-उन अभिनयों के साथ स्थायी-भाव में प्रवृत्त होते है, तब दर्शकों का मन बुद्धि में अवस्थित, सत्त्वगुण से युक्त तथा चित्त से अन्वित हो जाता है वहाँ रति का जो विकार उत्पन्न होता है वह 'बीभत्स-रस' कहलाता है और दर्शकों के द्वारा उस रस का आस्वादन किया जाता है ।

५४ जब 'विकृत-विभाव' अपने योग्य सहकारी भावो तथा अभिनय से युक्त हो नाट्य-कर्म स्थायी-भाव में प्रवृत्त होते है तब दर्शकों का मन चित्त मे अवस्थित, तमोगुण तथा सत्त्वगुणों से अन्वित हो जाता है, वहाँ रति का जो विकार उत्पन्न होता है, वह 'भयानक-रस' के नाम से पुकारा जाता है, और दर्शकों के द्वारा उसका आस्वादन किया जाता है ।

५५ इस प्रकार की रसोत्पत्ति तथा शाश्वत मनोवृत्ति 'योगमाला-संहिता'[११] मे

शिवेन ताण्डवं लास्यं नाट्यं नृत्तं च नर्तनम् ॥
सर्वमेतदशेषेण संहितायां प्रदर्शितम् ।
५६ उद्धतैः करणैरङ्गहारैर्निर्वर्तितं यदा ॥
वृत्तिरारभटी गीतकाले तत्ताण्डवं विदुः ।
५७ चण्डोच्चण्डप्रचण्डादिभेदात्तत्ताण्डवं त्रिधा ॥
अनुद्धतं चोद्धतं च तथात्युद्धतमित्यपि ।
तत्तत्ताण्डवभेदस्तु परस्तादेव वक्ष्यते ॥
५८ ललितैरङ्गहारैश्च निर्वर्त्य ललितैर्लयैः ।
वृत्तिः स्यात्कैशिकी गीते यत्र तल्लास्यमुच्यते ॥
एतदेव तु चारीभिर्मृद्वीभिर्गीतिरीतिभिः ।
तत्तद्देशीगुणोत्थाभिर्हेलाद्यैर्भावदृष्टिभिः ॥
तत्तत्पात्रगुणोत्थाङ्गचतुष्षष्टयङ्गबन्धुरम् ।
पुष्पाञ्जलिर्हि घोण्डादि देशीवाद्यलयान्वितम् ॥
शुद्धसालगसूडादिगीताभिनयमन्थरम् ।
रुच्या प्रवर्तितं देशे राजभिः गुण्डलीं विदुः ॥
गीतादौ कैशिकीवृत्तिबहुलं भावमन्थरम् ।
सुकुमारप्रयोगं यत्तल्लास्यं मन्मथाश्रयम् ॥

---

कही गयी है । सहिता मे शिव सूर्य को ताण्डव, लास्य, नाट्य तथा नर्तन, इन सभी को नि शेष रूप से समझाते हैं ।

५६ जब गीत के समय आरभटी वृत्ति के साथ उद्धतकरण[४०] तथा अंगहारों[४१] के द्वारा नृत्य किया जाता है वह 'ताण्डव'[४२] जाना जाता है ।

५७ चण्ड, उचण्ड तथा प्रचण्डादि भेद से 'ताण्डव' तीन प्रकार का होता है । ताण्डव के अनुद्धत, उद्धत तथा अति-उद्धत भेद भी आगे कहेंगे ।

५८ जहाँ सुकुमार अंगहार तथा सुकुमार लयों[४३] के द्वारा नृत्य किया जाता है तथा गीत में कैशिकी वृत्ति का प्रयोग होता है, उसे 'लास्य' कहा जाता है । यही लास्य (नृत्य) जब चारी,[४४] कोमल-गीति[४५], रीति, तद्-तद् देश के कहे गये गुणों से उत्पन्न हेलादि भाव दृष्टियो, तद्-तद् पात्र के कहे गये गुणों से उत्पन्न चौसठ अंगों, पुष्पांजलि, घोण्डादि देशी वाद्य तथा लय, शुद्ध और सालग सूडादि[४६] गीतों एवं अभिनयों से युक्त होता है और राजाओ के द्वारा रुचि से स्थान विशेष पर प्रवृत्त किया जाता है तो 'गुण्डली' कहा जाता है । गीतादि में कैशिकी वृत्ति की बहुलता, कोमल-भाव तथा सुकुमार प्रयोग से युक्त जो कामाश्रित नृत्य होता है वह 'लास्य' कहलाता है । 'लास्य' शब्द 'लस्' धातु से—जिसका अर्थ होता है 'संश्लेषण' 'ण्यत्' प्रत्यय होकर निष्पन्न होता है ।

लसस्संश्लेषण इत्यस्य धातोर्लास्यस्य निर्वहः ।
संश्लेषादङ्गहाराणामङ्गैर्लास्यं प्रचक्षते ॥
ताण्डूक्तमुद्धतप्राय प्रयोगं ताण्डवं विदुः ।
५९ नाटकस्थितवाक्यार्थपदार्थाभिनयात्मकम् ॥
नटकर्मैव नाट्यं स्यादिति नाट्यविदां मतम् ।
६० करणैरङ्गहारैश्च निर्वृत्तं नृत्तमुच्यते ॥
वृत्तिभिः सहितं गीतं तथा वाद्यादिभिर्युतम् ।
नर्तनं गात्रविक्षेपमात्रमित्युच्यते बुधैः ॥
एतन्नाट्ये च नृत्ते च लास्यताण्डवयोरपि ।
गुण्डल्यादिषु सर्वत्र साधारण्येन वर्तते ॥
६१ यतोऽष्टधा मनोवृत्तिः सभ्यानां नाट्यकर्मणि ।
अष्टावेवानुभूयन्ते तासूडा[क्ता]स्तै रसाः पृथक् ॥
६२ केचिन्नवात्मिकामाहुर्मनोवृत्ति विचक्षणाः ।
ततश्शान्तो रसो नाट्येऽप्यस्तीति प्रतिजानते ॥
६३ नाटकादिनिबन्धे तु तपश्चरणवस्तुनि ।
अभिनेतुमशक्यत्वात्तद्वाक्यार्थपदार्थयोः ॥
सामाजिकानां मनसि रसः शान्तो न जायते ।

---

अंगो के द्वारा अंगहारो के संश्लेषण से लास्य कहा जाता है, अर्थात् 'लास्य' वह है जो जहाँ अगों से अंगहारों का संश्लेषण होता है। 'तण्डु' (ऋषि) के द्वारा कहा गया प्रायः उद्धत नृत्य का प्रयोग 'ताण्डव'[४७] नृत्य जाना जाता है।

५९ नाटक में प्रयुक्त वाक्यार्थ, परार्थ तथा अभिनय रूप नट-कर्म ही नाट्य कहा जाता है, ऐसा नाट्याचार्यो का मत है।

६० करण तथा अगहारों के द्वारा सम्पन्न 'नृत्त' कहा जाता है। वृत्तियों सहित गीत तथा वाद्यादि से युक्त गात्र-विक्षेप मात्र विद्वानों द्वारा 'नर्तन' कहलाता है। यह (नर्तन) नाट्य, नृत्त, लास्य और ताण्डव तथा गुण्डली आदि सभी में साधारण रूप मे रहता है।

६१ सामाजिकों की जो आठ प्रकार की मनोवृत्तियाँ हैं, नाट्यकर्म मे उन्हीं आठो का अनुभव किया जाता है, सामाजिक उन्ही से रसों को पृथक्-पृथक् जानते हैं।

६२ कोई विद्वान नवी मनोवृत्ति को बताते हैं। फलतः नाट्य मे 'शान्त' रस भी है ऐसा माना जाता है।

६३ नाटकादि निबन्ध में निबद्ध तद्-तद् वाक्यार्थ पदार्थ में अर्थात् तपश्चर्यादि वस्तुओं में अभिनय की अशक्यता के कारण सामाजिकों के मन मे 'शान्त-रस' उत्पन्न नहीं होता है।

६४ शमस्स्थायी विभावाद्यैर्यथास्थाननिवेशितैः ॥
वर्धितश्चेद्रसः शान्तोऽप्यस्तीत्युद्भाव्यते क्वचित् ।
६५ अस्य सर्वविकाराणां शून्यत्वात्तु रसात्मना ॥
परिणेतुं न शक्नोति तस्माच्छान्तस्य नोद्भवः ।
६६ तस्मान्नाटचरसा अष्टाविति पद्मभुवो मतम् ॥
६७ उत्पत्तिस्तु रसानां या पुरा वासुकिनोदिता ।
नारदस्योच्यते सैषा प्रकारान्तरकल्पिता ॥
६८ बाह्यार्थालम्बनवतो मनसो रजसि स्थितात् ।
साहङ्काराद्विकारो यः स शृङ्गार इतीरितः ॥
६९ तस्मादेव रजोहीनात्ससत्त्वाद्धास्यसंभवः ।
७० अहङ्काररजःसत्त्वयुक्ताद्बाह्यार्थसंगतात् ॥
मनसो यो विकारस्तु स वीर इति कथ्यते ।
७१ तस्मादेवाद्भुतो जातो रजोऽहङ्कारवर्जितात् ॥
७२ रजस्तमोऽहङ्कृतिभिः युताद्बाह्यार्थसंश्रयात् ।
मनसो यो विकारस्तु स रौद्र इति कथ्यते ॥
७३ करुणस्तत एव स्याद्रजोऽहङ्कारवर्जितात् ।

---

६४ 'शम' स्थायी-भाव यथास्थान प्रयुक्त विभावादि के द्वारा वृद्धि को प्राप्त होता है और 'शान्त' रस कहलाता है ऐसा कोई कहते है ।

६५ लेकिन इस 'शम' के विकारो की शून्यता होने से रस रूप में परिणति नही हो सकती है अतः 'शान्त' रस उत्पन्न नही होता है ।

६६ इसलिए 'पद्मभू' (ब्रह्मा) के मत मे आठ नाट्य-रस है ।

६७ पहले वासुकि ने जो रसो की उत्पत्ति कही थी, उसको नारद दूसरी तरह से कहते है ।

६८ बाह्य वस्तुओ के आश्रित मन की रजोगुण मे स्थिति होने से तथा अहकार का सहयोग होने से जो विकार उत्पन्न होता है वह 'शृगार' कहलाता है ।

६९ वही विकार जव रजोगुण से हीन हो जाता है तथा सत्त्व से युक्त हो जाता है तो 'हास्य-रस' को उत्पन्न करता है ।

७० अहंकार और रजोगुण तथा सतोगुण से युक्त होने से तथा बाह्य वस्तुओं से सम्पर्क होने से मन का जो विकार उत्पन्न होता है वह 'वीर-रस' कहलाता है ।

७१ रजोगुण और अहंकार के न रहने से वही मन का विकार 'अद्भुत-रस' को उत्पन्न करता है ।

७२ रज, तम तथा अहंकार से युक्त होने से तथा बाह्य वस्तुओ का संश्रय होने से जो विकार उत्पन्न होता है वह 'रौद्र-रस' कहलाता है ।

७३ रज तथा अहंकार के न रहने से वही मन का विकार 'करुण' कहलाता है ।

७४ चित्तावस्थात्तु मनसो बाह्यार्थालम्बनात्मनः ॥
तमस्सत्त्वयुताज्जातो बीभत्स इति कथ्यते ।
७५ सत्त्वबुद्धिविहीनात्तु मनसस्तमसाऽन्वितात् ॥
बाह्यादेव समुत्पन्नो भयानक इतीरितः ।
७६ रजस्तमोविहीनात्तु सत्त्वावस्थात्सचित्ततः ॥
मनागस्पृष्टबाह्यार्थात् शान्तो रस इतीरितः ।
७७ देशकालवयोद्रव्यगुणप्रकृतिकर्मणाम् ॥
भावानामुत्तमं यत्तु तच्छृङ्गं श्रेष्ठमुच्यते ।
इयन्ति शृङ्गं यस्मात्तु तस्माच्छृङ्गार उच्यते ॥
७८ अप्प्रत्ययान्तः शब्दोऽयं हस इत्यभिधीयते ।
घञान्तो हासशब्दस्तु द्वयोः प्रत्यययोरपि ॥
अत्र स्वनहसोर्वेति विकल्पेन विधानतः ।
हास्यतेऽसाविति यतस्तस्माद्धास्यस्य निर्वहः ॥
विकृताङ्गवयोद्रव्यभाषालङ्कारकर्मभिः ।
जनान्हासयतीत्येवं तस्माद्धास्यः प्रकीर्तितः ॥

---

७४ बाह्य वस्तुओं के आश्रित रूप मन की चित्तावस्था अर्थात् विकार तम तथा सत्त्व से युक्त हो जाता है तो 'बीभत्स' कहलाती है।

७५ सत्त्व-बुद्धि विहीन होने से तथा मन के तम से अन्वित होने से, बाह्य वस्तुओं से उत्पन्न 'भयानक-रस' कहलाता है ।

७६ रज-तम से रहित होने से तथा चित्त की सत्त्वावस्था होने से बिल्कुल-अस्पृष्ट बाह्य वस्तुओं से 'शान्त रस' उत्पन्न होता है ।

७७ देश, काल, अवस्था, द्रव्य, गुण, प्रकृति तथा कर्म आदि भावों का जो उत्तम रूप होता है वह 'शृग' अर्थात 'श्रेष्ठ' कहलाता है। जिससे 'शृंग' पर पहुँचता है अर्थात् जो सर्वश्रेष्ठ होता है वह 'शृंगार' कहलाता है ।

७८ 'हस्' धातु से 'अप्' प्रत्यय होकर यह 'हस' शब्द निष्पन्न होता है जिसका अर्थ होता है 'हँसी' । 'हस' शब्द से 'घञ्' प्रत्यय होने पर 'हास' शब्द निष्पन्न होता है । इस प्रकार 'हस्' धातु से दोनों प्रत्ययों (अप् और घञ्) के संयोग मे क्रमशः हस और हास निष्पन्न होते हैं । यहां 'स्वन्'=शब्द करना अथवा 'हस्'=हँसना के वैकल्पिक के विधान से 'हास्यते असौ' अर्थात् 'जिस लिए यह हँसाया जाता है' इसीलिए 'हास्य' शब्द की निष्पत्ति होती है । विकृत अंग, (विकृत) अवस्था (आयु), (विकृत) द्रव्य, (विकृत) भाषा, (विकृत) अलंकार तथा (विकृत) कर्मों के द्वारा मनुष्यों को हँसाता है इसलिए 'हास्य' कहा जाता है ।

७९ रा दान इति यो धातुर्वा......दे च वर्तते ।
लादान इत्ययं धातुर्ज्ञानखण्डनयोरपि ।।
रलयोरविशेषोऽपि कथितः शब्दवादिभिः ।
विरुद्धान्राति हन्तीति वीरशब्दस्य निर्वहः ।।
विविधं च विचित्रं च लाति जानाति कृन्तति ।
एवं वा वीरशब्दार्थः कथितः पूर्वसूरिभिः ।।
प्रेरयत्यत्र विद्विष्टानिति वीरो निरुच्यते ।
८० अथ वैचित्र्य (?) इत्यस्य धातोरद्भुतनिर्वहः ।।
विचित्रा यस्य भवति चित्तवृत्तिस्ततोऽद्भुतः ।
८१ रुद्रो हस्तं ददातीति रौद्रशब्दो निरुच्यते ।।
तत्कर्मकर्तृताहेतुर्यस्स रौद्रः प्रकीर्तितः ।
यत्कर्म रोदयत्यन्यान् स रौद्र इति वा भवेत् ।।
८२ घृणिधातुर्दयादानग्रहणेषु च वर्तते ।
गृह्णाति दत्ते दयत इति कर्म घृणेरितम् ।।

---

७९ 'रा' धातु, दान (देना) अर्थ में जो होती है वह····(?) प्रयुक्त होती है। 'ला' धातु दान (देना) अर्थ में होती है और 'ज्ञान' तथा 'खण्डन' अर्थ में भी प्रयुक्त होती है। वैयाकरण 'र' तथा 'ल' में भेद नही करते है (रलयोः डलयोः न भेद.)। 'वीर' शब्द की निष्पत्ति होती है कि 'विरुद्धान्राति हन्ति वा' अर्थात् जो विरोधियों (शत्रुओ) को मारता है। पूर्वाचार्य 'वीर' शब्द का अर्थ इस प्रकार करते है कि 'विविधं च विचित्र च लाति जानाति, कृन्तति' अर्थात् जो विविध और विचित्र को जानता है या काटता है। यहाँ 'वीर' शब्द की निष्पत्ति होती है 'विद्विष्टान् प्रेरयति' अर्थात् जो शत्रुओ को प्रेरणा देता है। (व्याकरण के अनुसार 'अज् गतिक्षेपणयोः' इस धातु से उणादि का रक् प्रत्यय लगता है और 'अज्' 'वी' में परिवर्तित हो जाता है इस प्रकार 'वीर' शब्द निष्पन्न होता है।)

८० (अतः वैचित्र्य या विस्मयार्थक अव्यय के साथ 'भू' धातु से 'उतच्' प्रत्यय होकर अद्भुत शब्द की निष्पत्ति होती है।) इसके बाद वैचित्र्य (?) इस धातु से अद्भुत शब्द बनता है जिसकी चित्तवृत्ति विचित्र होती है, वह 'अद्भुत' कहलाता है।

८१ 'रुद्रः हस्तं ददाति' अर्थात् रुद्र हाथ देता है, इस प्रकार रौद्र शब्द की निष्पत्ति होती है। उस किये गये कर्म के कर्त्तापन का जो हेतु है वह 'रौद्र' होता है। जो कर्म दूसरों को रुलाता है वह 'रौद्र' कहलाता है।

८२ 'घृणि' धातु, दया, दान तथा ग्रहण अर्थ में प्रयुक्त होती है। 'गृह्णाति दत्ते दयत इति कर्म' अर्थात् 'ग्रहण करना, देना, दया करना इसका कर्म है अतः

अस्य कर्तृतया धीर्या सा घृणेत्युच्यते बुधैः ।
घृणेः करुणशब्दस्तु विहितः शब्दवादिभिः ।।
अतो नैघण्टुकैरुक्ता घृणेति करुणेति च ।
करुः क्लेश इति ख्यातः क्लेशं न सहते यतः ।।
यस्त धीः करुणा सा स्यात्प्रत्यये करुणो भवेत् ।
पराश्रितानां क्लेशानामसहिष्णुतयोच्यते ।।
मनसो यादृशो भावः स वै करुण उच्यते ।

८३ बधेर्धातोस्सनन्तस्य बीभत्सा रूपमिष्यते ।।
यत्पदार्थस्य बीभत्सा स बीभत्स इतीरितः ।
गर्हा निन्दा च बीभत्सा कुत्सा पर्यायवाचकाः ।।
गर्हणीयश्च निन्द्यश्च कुत्सनीयश्च यो भवेत् ।
स भावः कथ्यते सद्भिर्बीभत्स इति संज्ञया ।।

८४ ञिभीभय इति प्रायो धातुः स्याद्भयवाचकः ।
चलनं भयशब्दार्थ इति विद्वद्भिरुच्यते ।।
बिभेति भाययत्यन्यान्कर्मणेति यथाक्रमम् ।
कश्चिच्चलति कस्माच्चिद्भावात्तेनैव हेतुना ।।
चाल्यते च यतस्तस्माद्भयं तु चलनात्मकम् ।
भयेनाक्रोशतो जन्तोर्जायते स भयानकः ।।

---

'घृणा' कहलाती है। बुधव्यक्ति कहते है कि इसके (इस कर्म के) कर्त्तापन से जो बुद्धि होती है वह 'घृणा' कहलाती है। वैयाकरणों ने 'घृणा' का 'करुणा' अर्थ किया है। अतः निघण्टुकार ने भी 'घृणा' को 'करुणा' कहा है। 'करु' को 'क्लेश' कहा गया है जिसकी बुद्धि क्लेश को नही सहती उस बुद्धि को 'करुणा' कहते है। उसके प्रत्यय मे करुण होता है। पराश्रित क्लेशों के असहिष्णु होने से मन का जो भाव है वह 'करुण' कहलाता है।

८३ 'बध्' धातु से सन् प्रत्ययान्त शब्द 'बीभत्स' बनता है। जो पदार्थ की बीभत्सा (घृणा) है वह 'बीभत्स' कहलाती है। गर्हा, निन्दा, बीभत्स, कुत्सा—ये सभी पर्यायवाची शब्द है। जो भाव गर्हणीय, निन्दनीय तथा कुत्सनीय होता है वह विद्वानों द्वारा 'बीभत्स' नाम से पुकारा जाता है।

८४ 'ञिभी भये'—अर्थात् प्राय 'भी' धातु भय-वाचक है। विद्वान 'भय' शब्द का अर्थ 'चलना' कहते है। 'बिभेति भाययति अन्यान् कर्मणा इति भयम' अर्थात् क्रमशः जो डरता है, और जो कर्म से अन्यों को चलाना (डराना) है, उसे भय कहते है। 'कश्चिच्चलति चाल्यते च' अर्थात् किसी भी भाव मे कोई चलता है, और उसी हेतु से चलाया जाता है, अतः 'भय' चलनात्मक होता है। भय से आक्रोश के द्वारा प्राणी को जो भाव होता है वह 'भयानक' होता है।

८५ आभ्यन्तराश्च बाह्याश्च विकारा यत्र संयुताः ।
यस्य भावस्य शाम्यन्ति स शान्त इति कथ्यते ।।

८६ अर्थतश्च निरुच्यन्ते शब्दाः केचिच्च धातुतः ।
वचनाच्च निरुच्यन्ते शब्दाः केचिच्च योगतः ।।
अप्यक्षराणां सामान्यान्निरुच्यन्ते च केचन ।
एवं निरुक्तकारैस्तु स्वशास्त्रे निर्णयः कृतः ।।
अत्राप्येते रसास्सर्वे शृङ्गाराद्या यथार्थतः ।
निरुक्तकारैर्निर्णीता मया सम्यक्प्रदर्शिताः ।।

८७ रामाद्यारोपणात्मा धीः प्रेक्षकाणां नटादिषु ।
जायते याऽत्र विद्वद्भिर्बहुधा सा विविच्यते ।।

८८ रामोऽयमयमेवेति येयं प्रेक्षकधीर्नटे ।
अनुकार्येऽपि रामादौ सा सम्यगिति कथ्यते ।।
अयं स नेति मिथ्यैव बोधादौत्तरकालिकात् ।
अयं रामो न वेत्येषा मतिः स्यात्संशयात्मिका ।।
अयं रामस्य सदृश इति सादृश्यधीरियम् ।
एवं नटे प्रेक्षकस्य बहुधा धीर्विकल्प्यते ।।

---

८५ जिस भाव के आभ्यन्तर और बाह्य विकार जहाँ मिलकर शान्त हो जाते है, उसे 'शान्त' कहते है ।

८६ कुछ शब्दों की 'निरुक्ति' अर्थ से होती है, कुछ की धातु से । कुछ शब्दों की निरुक्ति 'वचन' से होती है, कुछ की योग मे । कुछ की निरुक्ति अक्षर-सामान्य मे होती है । इस प्रकार निरुक्तकार अपने शास्त्र में निर्णय करते है । यहाँ भी मैंने शृंगारादि सभी रसों की निरुक्ति यथार्थतः निरुक्तकार द्वारा निर्णीत विधि मे भलीभाँति प्रस्तुत की है ।

८७ दर्शको की नटादि में रामादि की आरोपण-स्वरूप जो बुद्धि उत्पन्न होती है उसका यहाँ विद्वान लोग विभिन्न प्रकार से विवेचन करते है ।

८८ नट में तथा अनुकार्य रामादि मे भी दर्शक की जो यह बुद्धि होती है कि 'यह राम है' अथवा 'यह ही राम है', वह 'सम्यक्-प्रतीति' कहलाती है । 'यह राम नही है' इस प्रकार उत्तर काल मे बोध होने से वह बुद्धि 'मिथ्या-प्रतीति' कहलाती है । 'यह राम है या नही' इस प्रकार की बुद्धि 'संशय-रूप प्रतीति' कहलाती है । 'यह राम के समान है' इस प्रकार की बुद्धि 'सादृश्य-प्रतीति' कहलाती है । इस प्रकार नट में दर्शक की बुद्धि विभिन्न प्रकार की कल्पना करती है ।

८९ सेयं न सम्यङ्नो मिथ्या न संशयमतिर्भवेत् ।
न च सादृश्यधीराभ्यः प्रतीतिभ्यो विलक्षणा ।।
चित्रे तुरगबुद्ध्यादिन्यायेनैव नटादिषु ।
धिया काव्यानुसन्धानबलाच्छिक्षावशादपि ।।
निर्वर्तितस्वकार्यादिप्राकट्येन प्रकाश्यते ।
कृत्रिमैरपि सत्यत्वाभिमानकलुषीकृतैः ।।
व्यपदेश्यैर्विभावादिशब्दैः संयोगरूपिणा ।
स गम्यगमकत्वेन क्वचिदप्यनुमीयते ।।
वस्तुसौन्दर्यतः सोऽपि रसनीयत्वमेष्यति ।
अन्यानुमीयमानेन स्थायित्वेन विभावितः ।।
अत्रासन्नपि रत्यादिः स्वाद्यते तै रसात्मना ।
एवं केचिद्वदन्त्येतां नटे रामादिशेमुषीम् ।।
९० नैवमित्येव भरता नाट्यवेदार्थवेदिनः ।
रामादिबुद्धिर्या नाट्ये प्रेक्षकाणां नटादिषु ।।

---

८९ (आचार्य श्री शकुक के मतानुसार) नटादि में रामादि की जो बुद्धि होती है वह १—न सम्यक्-प्रतीति २—न मिथ्या-प्रतीति ३—न संशय रूप प्रतीति ४—न सादृश्य प्रतीति होती है अपितु इन चारो प्रकार की प्रतीतियो मे विलक्षण 'चित्र-तुरग-न्याय' से होने वाली (पाँचवें प्रकार की) प्रतीति होती हैं। इस प्रतीति से (ग्राह्य नट में) काव्यों के अनुशीलन से तथा शिक्षा के अभ्यास से सिद्ध किये हुए अपने कार्यादि (अनुभाव इत्यादि) से (नट के ही द्वारा 'रति' आदि स्थायी-भाव के कारण, कार्य तथा सहकारी) प्रकाशित किये जाते है। (ये कारणादि) कृत्रिम होने पर भी सत्यता के अभिमान मे कलुषित किये जाते हैं अर्थात् कृत्रिम नहीं समझे जाते है, और. 'विभाव' आदि शब्द मे व्यवहृत होते है, (इन्ही कारणादि के) साथ 'सयोग' रूप अर्थात् गम्य-गमक भावरूप सम्बन्ध से कही उस (रति आदि भाव का) अनुमान किया जाना है। वह (रति आदि भाव अनुमानित होते हुए) भी वस्तु के सौन्दर्य के कारण आस्वाद के योग्य हो जाते है। अन्य अनुमीयमान अर्थ (उडती हुई धूल को धूम समझकर, अग्नि का अनुमान आदि) की अपेक्षा (विलक्षण) स्थायी रूप मे विभावित 'रति' आदि भाव यहाँ (अर्थात् नट में वास्तव रूप में) न रहते हुए भी उनके (सामाजिकों) द्वारा 'रस' रूप में आस्वाद किया जाता है। इस प्रकार नट में रामादि की इस बुद्धि (ज्ञान) को कोई (आचार्य शकुक) कहते है।[८८]

९० नाट्यवेदार्थविद् भरत कहते है कि ऐसा नहीं है अर्थात् दर्शको की नाट्य मे नटादि में रामादि की जा बुद्धि होती है वह न तो संशयात्मिका है. न मिथ्या ही है, और न सादृश्यात्मिका है, न चित्रतुरगात्मिका ही है; क्योंकि देश तथा

सेयं न संशयमतिर्न विपर्यासधीरपि ।
नैव सादृश्यधीरेषा न चित्रतुरगात्मिका ॥
न संशयस्य शङ्का स्याद्देशकालादिभेदतः ।
न विपर्यासधीः सा स्याद्बाधादौत्तरकालिकात् ॥
काव्याद्युपनिबद्धस्य रामादेश्च नटस्य च ।
सादृश्यधीहेत्वभावान्न च सादृश्यधीर्भवेत् ॥
चित्रे लिखितवस्तूनां मन्यन्ते कृत्रिमात्मताम् ।
सर्वेऽपि यत्ततश्चित्रतुरगात्मा न धीर्भवेत् ॥
नटादेश्चेतनत्वेन चित्रस्याचेतनत्वतः ।
तस्मात्कदाचन क्वापि न चित्रादिमतिर्भवेत् ॥
यदा ह्यर्थक्रियाकर्मसमर्था रामधीर्नटे ।
तदानीं बाधकाभावात्तस्य सम्यक्त्वमुच्यते ॥
प्रेक्षकास्तद्रसाविष्टा नटे सम्यक्प्रयोक्तरि ।
यत्ततोऽर्थक्रियाकर्मसमर्था रामधीर्नटे ॥

९१ एवं रसानामुदयः स्वरूपाश्रयबुद्धितः ।
दर्शितो भरतप्रोक्तः तस्य वृत्तिर्निरूप्यते ॥

९२ न तटस्थतया नात्मगतत्वेन प्रतीयते ।
न चाभिधीयते क्वापि नोत्पद्येत कदाचन ॥

---

कालादि के भेद से न तो संशय की आशका है, न मिथ्या-बुद्धि की ही उत्तर-काल मे बाध होने से, और काव्य-निबद्ध रामादि की और नट की सादृश्य-बुद्धि के हेतु के अभाव से सादृश्य-बुद्धि नही होती है। चित्र-लिखित वस्तुओं की कृत्रिमता मानी जाती है अतः चित्र-तुरगात्मिका बुद्धि भी नहीं होती है तथा नटादि चेतन-रूप होते है, जबकि चित्र अचेतन ही अतः चित्रादि-बुद्धि तो कही कभी नही होती है। इसलिए जब नट में राम-बुद्धि अर्थ. क्रिया तथा कर्म से समर्थ होती है तो बाधक के अभाव से उसकी सम्यक्ता कही जाती है और नट मे सम्यक् प्रतीति होने पर दर्शक रसाविष्ट हो जाते है। अत. नट में राम-बुद्धि अर्थ, क्रिया तथा कर्म से समर्थ होती है।

९१ इस प्रकार रसोदय, रस-स्वरूप तथा रसाश्रय बुद्धि से कह दिये अव आचार्य भरत के अनुसार रस-वृत्ति का निरूपण करते है।

९२ न तटस्थ रूप से (अर्थात् नटगत या अनुकार्यगत रूप से) रस की प्रतीति (अर्थात् अनुमिति) होती है और न कही अभिव्यक्ति होती है और न उत्पत्ति होती है। प्रमदादि के तादात्विक अनुभाव से भावित अर्थात् एकतान होकर सहृदयों का जो शब्द-रूप हृदयंगम मधुर स्वाद है वह, भाव तथा अभिनय से

तादात्विकेन प्रमदाद्यनुभावेन वासितः ।
स्वादः सहृदयानां यो हार्दात्मा हृदयङ्गमः ।।
स भावाभिनयात्साधारणीकरणरूपया ।
भावकत्वव्याप्रियया भाव्यमानः स्वभाववत् ।।
भोगेन संविदानन्दमयेनैवोपभुज्यते ।
भोक्तृभोग्यार्थसंबन्धप्रकारश्चाभिधीयते ।।
१३ रागविद्याकलासंज्ञैः पुंसस्तत्त्वैस्त्रिभिः स्वतः ।
प्रवृत्तिर्गोचरोत्पन्ना बुद्ध्यादिकरणैरसौ ।।
भोगं निष्पाद्य निष्पाद्य वासनात्मैव तिष्ठति ।
दुःखमोहादिकलुषमपि भोग्यं प्रतीयते ।।
१४ यत्सुखत्वाभिमानेन स राग इति कथ्यते ।
विद्या नामेति तत्त्वं यद्रागोपादानमुच्यते ।।
तयाऽभिव्यज्यते ज्ञानं पुरुषस्य विपश्चितः ।
१५ चैतन्यस्य मलेनैव संरुद्धस्य स्वभावतः ।।
अभिज्वलनहेतुर्या सा कलेत्यभिधीयते ।
सुखदुःखात्मिका बुद्धेर्वृत्तिर्गोचर उच्यते ।।
१६ एवं परम्पराप्राप्तैर्भावैर्विषयतां गतैः ।
बुध्द्यादिकरणैर्भोगाननुभुंक्ते रसात्मना ।।

---

साधारणीकरण-रूप में 'भावकत्व' नामक व्यापार से (विशेष सीता-राम आदि के सम्बन्ध बिना) 'भाव्यमान' अर्थात् साधारणीकृत होकर स्वभाववत् (रत्यादि स्थायी-भाव) चिदानन्दानुभूति सदृश भोग से (अर्थात् शब्द के 'भोजकत्व' नामक व्यापार से) आस्वादित किया जाता है । यहाँ भोज्य-भोजक-भाव कहा जाता है ।[४९]

१३ राग, विद्या तथा कला नामक तीन तत्त्वों से पुरुष की स्वतः प्रवृत्ति गोचर से उत्पन्न होती है । बुद्धि आदि करणों से वह (प्रवृत्ति) भोग को निष्पादित कर करके वासना रूप ही रहती है । दुःख मोहादि से कलुषित भोग की भी प्रतीति की जाती है ।

१४ जो सुख-रूप अभिमान है वह 'राग'[५०] कहलाता है । जो 'विद्या'[५१] नामक तत्त्व है, वही राग का उपादान है । इस विद्या से विद्वान पुरुष का ज्ञान अभिव्यक्त होता है ।

१५ 'मल'[५२] से अवरुद्ध चैतन्य को स्वभावतः प्रकाशित करने वाला जो हेतु है, वह 'कला'[५३] है । बुद्धि की सुख-दुःख रूप वृत्ति को 'गोचर' कहा जाता है ।

१६ इसी प्रकार परम्परा प्राप्त भावों के द्वारा, विषयता को प्राप्त बुद्धि आदि करणों के द्वारा भोगो का भोग रस-रूप मे किया जाता है ।

९७ शिवागमज्ञैरर्थोऽयमेवमुक्तः पुरातनैः ।
कलोत्कलितचैतन्यो विद्यादर्शितगोचरः ।।
रागेण रञ्जितश्चायं बुध्यादिकरणैर्युतः ।
मायाद्यवनिपर्यन्तं तत्त्वभूतात्मनि स्थितम् ।।
भुंक्ते तत्र स्थितो भोगान् भोगैकरसिकः पुमान् ।
प्रेरकत्वेन बुध्यादिकरणानां पुनः पुनः ।।
उपकुर्वन्ति सत्त्वादिगुणास्ते तत्र तत्र तु ।।

इति श्रीशारदातनयविरचिते भावप्रकाशने
रसस्वरूपाश्रयवृत्तिनिर्णयो
नाम द्वितीयोऽधिकारः ।।

---

९७ प्राचीन शिवागमवेत्ताओं द्वारा यह अर्थ इसी प्रकार कहा गया है। 'कला' से उत्कलित, 'विद्या' से दर्शित गोचर वाला तथा 'राग' से रञ्जित यह चैतन्य बुद्धि आदि कारणो से युक्त मायादि[५४] से अवनिपर्यन्त तत्त्व-भूतात्मा में स्थित रहता है और वहाँ स्थित हो भोगों का रसिक पुरुष भोगों को भोगता है। वहाँ-वहाँ वे सत्त्वादि गुण प्रेरक के रूप में बुद्धि आदि करणों का पुनः-पुनः उपकार करते है।[५५]

श्री शारदातनय-विरचित भावप्रकाशन मे रसस्वरूपाश्रयवृत्तिनिर्णय
नामक द्वितीय अधिकार समाप्त हुआ।

श्रीः

## अथ तृतीयोऽधिकारः

१ कथिताः स्थायिनस्तेषु विभावादिसहायता ।
तेषां रसात्मता तादृक्स्वरूपं तद्रसस्य च ॥
तद्भेदास्तन्निरुक्तिश्च तद्विभावादिभाव्यता ।
तदुत्पत्तिप्रकाराश्च तज्ज्ञानं च तदाश्रयः ॥
तद्योग्यता तत्करणं संबन्धो भोक्तृभोग्ययोः ।
इदानीं कथ्यतेऽस्माभिः प्रकारान्तरकल्पितः ॥
उत्पत्तिर्जन्यजनकभावस्तेषां यथाक्रमम् ।
ततः स्थायिषु भावेषु तदसाधारणात्मकः ॥
नियमश्च विभावादेस्तदात्वप्रक्रियाऽपि च ।
अनुभावैस्तु वागङ्गमनआरम्भजन्मभिः ॥
वागारम्भादिभेदेन विकल्पा रसगामिनः ।
तत्तदालम्बनीभूतनायकादिगुणादयः ॥
अन्येऽपि भावा ये केचित्तत्तदर्थानुषङ्गिणः ।
प्रवेक्ष्यन्ति च तत्रैव विज्ञेयास्ते विचक्षणैः ॥

---

१ स्थायी-भाव, स्थायी-भावों मे विभावादि की सहायता, स्थायी-भावो की रसात्मता, उसी प्रकार उस रस का स्वरूप, रस-भेद, रसों की निरुक्ति, रसों की विभावादि द्वारा भाव्यता, रसोत्पत्ति-प्रकार, उनका ज्ञान, रसाश्रय, उनकी योग्यता, रस के करण तथा भोज्य-भोजक-भाव-सम्बन्ध कह दिये गये। अब हम यथाक्रम दूसरी तरह से कहे गये उन (रसों) की उत्पत्ति, जन्य-जनक भाव; तदनन्तर स्थायी-भावों में उनके असाधारणात्मक नियम, विभावादि की तत्सम्बन्धित प्रकिया; वागारम्भ; गात्रारम्भ तथा मन-आरम्भ से उत्पन्न अनुभावो द्वारा वागारम्भादि भेद से रस-गामी भेद, तद्-तद् रस के आलम्बनभूत नायिकादि के गुणादि कहते है। और तद्-तद् प्रसंगानुकूल अन्य जो कोई भाव होंगे उनको कहेगे, वे भाव विद्वानों को वही जान लेने चाहिए।

२ शृङ्गार उदभूत्साम्नो वीरोऽभूद्विततो ऋचः ।
अथर्ववेदतो रौद्रो बीभत्सो यजुषः क्रमात् ।।
३ सामानि स्मरतस्तस्य स्वरूपव्यक्तिरात्मना ।
याचेयमिच्छा जगतां सिसृक्षोः परमात्मनः ।।
विषयात्ता रतिः सैव शृङ्गार इति गीयते ।
४ इच्छा क्रियात्मिका ज्ञप्तिस्तस्यैव स्मरतो ऋचः ।।
उत्साहात्मा विषयिणी वीर इत्युच्यते बुधैः ।
५ स्मरतोऽथर्वमन्त्राणां तत्तद्धिसात्मिका मतिः ।।
या क्रियोपहिता क्रोधात्स रौद्र इति कथ्यते ।
६ क्रियारूपा प्रवृत्तिर्या तस्यैव यजुषां स्मृतेः ।।
फलावसानिकी सैव बीभत्स इति गीयते ।
७ शृङ्गारस्यानुकरणं हास्य इत्यभिधीयते ।।
वीरस्य कर्म यद्धीरं सोऽद्भुतः परिकीर्तितः ।
क्रूरक्रिया या रौद्रस्य सैव स्यात्करुणाह्वया ।।
बीभत्सस्यापि यत्कर्म स भयानक ईरितः ।

---

२ क्रमशः सामवेद से शृंगार-रस उद्भुत हुआ है, ऋग्वेद से 'वीर-रस' विस्तृत हुआ है, अथर्ववेद से रौद्र-रस तथा यजुर्वेद से बीभत्स-रस उत्पन्न हुआ है।

३ सामवेद के मन्त्रों का स्मरण करते हुए उनके स्वरूप तथा अभिव्यक्ति के रूप में, जगत की सृष्टि करने की इच्छा वाले परमात्मा की जो यह इच्छा होती है और सांसारिक विषयों से सम्बन्धित जो रति होती है वह 'शृंगार' कहलाती है।

४ ऋग्वेद की ऋचायों का स्मरण करते हुए उसकी क्रियात्मक बुद्धि की इच्छा जो कि उत्साह रूप विषय वाली होती है वह विद्वानों द्वारा 'वीर-रस' कहलाती है।

५ अथर्ववेद के मन्त्रो को स्मरण करते हुए तद्-तद् हिसात्मक मति होती है जो कि क्रियात्मक क्रोध से उत्पन्न होती है वह 'रौद्र-रस' कहलाती है।

६ 'यजुर्वेद' के मन्त्रों के स्मरण से उसकी जो क्रिया-रूपा प्रवृत्ति होती है और वह फल देने वाली होती है वह 'बीभत्स-रस' कहलाती है।[1]

७ शृगार के अनुकरण को 'हास्य' कहा जाता है। 'वीर-रस' का जो धीर कर्म है वह 'अदभुत-रस' कहलाता है। रौद्र-रस की जो क्रूर-क्रिया है वह 'करुण' कहलाती है। बीभत्स-रस का भी जो कर्म है वह 'भयानक-रस' कहा जाता है।[2]

८ प्राधान्यं जनकत्वेन जन्यत्वेनाप्रधानता ॥
प्रधानताप्रधानत्वे ज्ञातव्ये नाट्यहेतवे ।

९ यत्तु प्रधानं तदनुभावादन्यत्प्रसिध्यति ॥
तस्मात्प्रधानेतरयोर्ज्ञानं नाट्योपकारकम् ।

१० तस्मात्प्रधानाः श‍ृङ्गारवीररौद्राः पृथक्पृथक् ॥
सबीभत्सास्स्वतन्त्रत्वादेषां प्राधान्यकल्पना ।
स्वातन्त्र्यमेषामुत्पत्तिमितरेषां च सम्भवम् ॥
व्यासप्रोक्तेन मार्गेण कथयामि यथार्थतः ।

११ कल्पस्यान्ते कदाचित्तु दग्ध्वा लोकान्महेश्वरः ॥
स्वे महिम्नि स्थितः स्वैरं नृत्यन्नानन्दमन्थरम् ।
मनसैवासृजद्विष्णुं ब्रह्माणं च महेश्वरः ॥
वामतो वैष्णवी शक्तिः स्थिता मायामयी विभोः ।
अम्बिकारूपमास्थाय स्थिता सा सर्वमङ्गला ॥
नियोगाद्देवदेवस्य ब्रह्मा लोकानथासृजत् ।
सृष्ट्वा स देवदेवस्य पुरावृत्तमथास्मरत् ॥

---

८ नाट्य-हेतु के लिए जनक रूप से (श्रृंगार, वीर, रौद्र तथा बीभत्स की) प्रधानता तथा जन्य-रूप मे (हास्य, अद्भुत, करुण तथा भयानक की) अप्रधानता अर्थात् जन्य-जनक भाव सम्बन्ध से रसो की प्रधानता तथा अप्रधानता जाननी चाहिए ।

९ जो प्रधान होता है उसकी अनुभाव से अन्यत् प्रसिद्धि होती है। अतः रसों के प्राधान्य तथा अप्राधान्य का ज्ञान नाट्य का उपकारक होता है ।

१० इसलिए श्रृंगार, वीर, रौद्र तथा बीभत्स पृथक्-पृथक् प्रधान होते हैं । स्वतन्त्र रूप होने से, इन (रसों) की प्रधानता की कल्पना की जाती है । इन (प्रधान रसों) की स्वतन्त्रता, उत्पत्ति और अन्य (हास्य, अद्भुत, करुण तथा भयानक अप्रधान रसों) की उत्पत्ति व्यास के कथनानुसार यथार्थतः कहता हूँ ।

११ कदाचित् कल्प के अन्त में महादेव (शंकर) लोकों को जलाकर, अपनी महिमा मे स्थित हो इच्छानुसार नृत्य करते हुए आनन्द विभोर हो गये, और महेश्वर ने फिर मन से ही सर्वप्रथम विष्णु तथा ब्रह्मा की सृष्टि की । उस विभु (शंकर) के वामाग मायामयी-वैष्णवी-शक्ति खड़ी हो गयी । और अम्बिका-रूप (पार्वती-रूप) धारण कर वह सर्व मंगला देवी खड़ी हो गयी । तदनन्तर देवदेव (महादेव) की आज्ञा से ब्रह्मा ने लोकों की रचना की । उस ब्रह्मा ने सृष्टि कर महादेव शकर के पूर्वकल्प मे किये गये कर्मो को इस प्रकार याद किया कि 'मै शकर के दिव्य-चरित्र को कैसे देखूं ?' इस चिन्ता में वह ब्रह्मा

दिव्यं चरित्रमैशं मे कथमध्यक्षतामियात् ।
इति चिन्तापरे तस्मिन्नभ्यगान्नन्दिकेश्वरः ॥
स नाट्यवेदमध्याप्य सप्रयोगं चतुर्मुखम् ।
उवाच वाक्यं ब्रह्माणं नन्दी तच्चिन्तितार्थवित् ॥
नाट्यवेदोपदिष्टानि रूपकाणि च यानि तु ।
विधाय तेषामेकं तु रूपकं लक्षणान्वितम् ॥
भरतेषु प्रयोज्यं तत्त्वया सम्यग्विधानतः ।
तस्मिन्प्रयुक्ते भरतैर्भावाभिनयकोविदैः ॥
प्राक्तनानि च कर्माणि प्रत्यक्षाणि भवन्ति ते ।
एवं ब्रुवन्नन्तरधान्नन्दी स भगवान्प्रभुः ॥
श्रुत्वैतद्वचनं प्रीतो ब्रह्मा देवैः समन्वितः ।
ततस्त्रिपुरदाहाख्यं रूपकं सम्यगभ्यधात् ॥
अध्याप्य भरतानेतत्प्रयुङ्ग्ध्वमिति चाब्रवीत् ।
तस्मिंस्त्रिपुरदाहाख्ये कदाचिद्ब्रह्मसंसदि ॥
प्रयुज्यमाने भरतैर्भावाभिनयकोविदैः ।
तदेतत्प्रेक्षमाणस्य मुखेभ्यो ब्रह्मणः क्रमात् ॥
वृत्तिभिः सह चत्वारः शृङ्गाराद्या विनिस्सृताः ।

---

निमग्न हो गये, उसी क्षण नन्दिकेश्वर ब्रह्मा के सम्मुख प्रकट हो गये। वह नन्दिकेश्वर ब्रह्मा को प्रयोग सहित नाट्य वेद को पढाकर, तद् चिन्तितार्थविद नन्दी ब्रह्मा से वाक्य बोले कि 'नाट्य वेद मे कहे गये जो रूपक है उनमे से किसी एक रूपक को लक्षण सहित तैयार कर तुम भलीभाँति विधिपूर्वक भरतों के लिए प्रयोग करो। भाव तथा अभिनय के ज्ञाता भरतों के द्वारा इस नाटक का अभिनय किये जाने पर तुमको (शंकर के) पूर्व कल्प के सभी कर्म प्रत्यक्ष हो जावेंगे।' इस प्रकार कहते हुए वह भगवान ! प्रभु ! नन्दी अन्तर्धान हो गये। ब्रह्मा नन्दी के ऐसे वचन सुनकर देवताओं सहित बड़े प्रसन्न हुए, तदनन्तर उन्होंने 'त्रिपुर-दाह'[3] नामक एक रूपक अच्छी प्रकार तैयार किया। इस रूपक को भरतों को पढ़ाकर ब्रह्मा भरतों से बोले कि अब इस रूपक का तुम अभिनय करो। कदाचित् ब्रह्मा की सभा में 'त्रिपुर दाह' नामक रूपक का भाव तथा अभिनय के ज्ञाता भरतो के द्वारा अभिनय किया जाने लगा। इस रूपक के देखे जाते हुए ब्रह्मा के मुख से क्रमशः वृत्तियों सहित चारों शृंगारादि रस उद्भूत हुए। जैसे ही भरतों ने शिव-पार्वती के सम्भोग का अभिनय किया

यदाऽभिनीतो भरतैः सम्भोगः शिवयोस्तदा ॥
कैशिकीवृत्तितो जज्ञे शृङ्गारः पूर्वतो मुखात् ।
१२ यदाऽभिनीतं भरतैः सम्यक्त्रिपुरमर्दनम् ॥
सात्त्वतीवृत्तितो जज्ञे वीरो दक्षिणतो मुखात् ।
१३ यदा दक्षाध्वरध्वंसोऽभिनीतो भरतैर्दृढम् ॥
अभूदारभटीवृत्ते रौद्रः पश्चिमवक्त्रतः ।
१४ यदाऽभिनीतं कल्पान्तकर्म शम्भोर्नटैस्तदा ॥
भारतीवृत्तितो जज्ञे बीभत्सश्चोत्तराननात् ।
१५ व्यक्ता मुखेभ्यश्चोत्पन्ना इत्यूचुः शङ्करादयः ॥
एभ्यो रसेभ्यो निष्पत्तिरितरेषां प्रदर्श्यते ।
१६ जटाजिनधरो भोगिभूषणः साग्निलोचनः ॥
भस्माङ्गरागश्च यदा देव्या कामयते रतिम् ।
तदा सखीनां देव्याश्च हासः समुदभून्महान् ॥
तस्माद्धास्यसमुत्पत्तिः शृङ्गारादिति कथ्यते ।
१७ पुराणि त्रीणि घटितान्ययोरजतकाञ्चनैः ॥
एकैकस्य तु रक्षार्थमसुराणां तरस्विनाम् ।

---

वैसे ही ब्रह्मा के पूर्व-मुख से उत्पन्न कैशिकी वृत्ति से 'शृंगार-रस' उत्पन्न हुआ।

१२ जब भरतों ने त्रिपुर-मर्दन का भलीभाँति अभिनय किया तब ब्रह्मा के दक्षिण मुख से उत्पन्न सात्त्वती वृत्ति से 'वीर-रस' उत्पन्न हुआ।

१३ जब भरतों ने दक्ष-यज्ञ के ध्वंस का दृढता के साथ अभिनय किया तब ब्रह्मा के पश्चिम मुख से उत्पन्न आरभटी वृत्ति से 'रौद्र-रस' उत्पन्न हुआ।

१४ जब नटों द्वारा शम्भु के कल्पान्त-कर्म का अभिनय किया गया तब ब्रह्मा के उत्तर-मुख से उत्पन्न भारती वृत्ति से 'बीभत्स-रस' उत्पन्न हुआ।

१५ शंकरादि बोले कि ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न (रसों) को व्यक्त कर दिया। अब इन रस चतुष्टय (शृंगार, वीर, रौद्र तथा बीभत्स) से अन्य (हास्य, अद्भुत करुण तथा भयानक) रसों की निष्पत्ति (उत्पत्ति) दिखाते हैं।

१६ जटाजिनधारी, सर्पभूषण को धारण करने वाले, अग्निलोचन वाले, भस्म को अंगराग की तरह लगाने वाले (शंकर) ने जब देवी के प्रति रति की कामना की तब सखियों का तथा देवी का महान् 'हास' उत्पन्न हुआ। अतः शृंगार से 'हास्य' की उत्पत्ति कही जाती है।

१७ (मय दानव के द्वारा) लोहा, चाँदी तथा सोने से तीन नगरों की रचना की गयी। एक-एक नगर की रक्षा के लिए बलवान असुरों के लाखों धनुषों (कोट्यः)

कोटचः शतसहस्राणि स्थापितानि ततस्ततः ।।
द्विगुणोत्तरवृद्धानि बलान्यतिबलानि च ।
अम्बिकामसितापाङ्गीमपाङ्गेनावलोकयन् ।।
विषह्य शरवर्षाणि स्मयमानः स्मरान्तकः ।
शरेणैकेन तान्येको भस्मसादकोद्यदा ।।
तदा समस्तभूतानामद्भुतं यदभून्महत् ।
तस्मादद्भुतनिष्पत्तिर्वीरादेवेति कथ्यते ।।
१८ रुद्रेण वीरभद्रेण दक्षस्त ध्वंसिते मखे ।
दण्डितेषु च देवेषु नानाप्रहरणैः पृथक् ।।
विलोक्य तान्प्रलपतश्छिन्नकर्णाक्षिनासिकान् ।
दीनान्देव्याः सखीनां च करुणो यदभून्महान् ।।
तस्मात्प्रवृत्तः करुणो रौद्रादिति विभाव्यते ।
१९ दग्धानामादिदेवानामस्थीन्यामुच्यभैरवे ।।
तच्छमशानमधिष्ठाय तद्भस्मालिप्य नृत्यति ।
प्रमथा भूतसङ्घास्तमवेक्ष्य भ्रान्तचेतसः ।।
तमेव शरणं जग्मुर्यतो भयविमोहिताः ।
तस्माद्भयानको जातो बीभत्सादिति गण्यते ।।

---

को स्थापित कर दिया गया इस प्रकार वे बल और अतिवल मे दुगुने हो गये। काले अपांग (कटाक्ष) वाली अम्बिका (देवी) को अपांग (कटाक्ष) से देखते हुए, बाणों की वर्षा को सहन कर मुस्कराते हुए शिव ने एक ही वाण से उन सभी (लोको) को जब भस्म कर दिया तब समस्त प्राणियों ने महान् आश्चर्य (अदभुत) उत्पन्न हुआ। अतः वीर-रस से 'अद्भुत-रस' की उत्पत्ति कही जाती है।

१८ रुद्र वीरभद्र के द्वारा दक्ष के यज्ञ को नष्ट (ध्वंस) किये जाने पर तथा नाना प्रकार के प्रहारों से देवताओ को दण्डित किये जाने पर; आँख, कान, नाक कटे हुए उन दीन देवताओं को रोते हुए देखकर देवी तथा उनकी सखियो की महान करुणा उत्पन्न हुई। अतः रौद्र-रस मे 'करुण-रस' की उत्पत्ति कही जाती है।

१९ जब शंकर जले हुए आदि देवताओं की अस्थियो को लेकर, शमशान मे बैठकर उनकी भस्म को अपने शरीर पर लीपकर नृत्य करते है, तब भ्रान्त-चित्त वाला प्रमथ तथा भूतों का समूह उनको देखकर उनकी शरण मे गया क्योंकि वे भय से मोहित हो गये थे। अतः बीभत्स रस से भयानक-रस उत्पन्न हुआ है, ऐसा कहा जाता है।

२० नारदेनैष कथितः प्रकारो भरताय च ।
तथैव भरतेनोक्तं यादृशं नारदाच्छ्रुतम् ॥
तदुक्तेन प्रकारेण रसानां च पृथक् पृथक् ।
उत्पाद्योत्पादकत्वं च यथावदुपपादितम् ॥
२१ यथा हि तन्तवो वेमतुर्यादिक्रिययान्विताः ।
पटात्मना परिणताः पटवाच्या भवन्ति ते ॥
यथा मृदो दण्डचक्रकुलालादिभिरन्विताः ।
घटात्मना परिणता घटवाच्या भवन्ति च ॥
तथैव स्थायिनो भावा विभावादिभिरन्विताः ।
रसात्मना परिणता रसवाच्या भवन्ति ते ॥
२२ यथैव तन्तुभेदाच्च पटभेदः प्रदृश्यते ।
तथैव रस[भाव]भेदाच्च रसभेदो विभाव्यते ॥
यथा कारणवैकल्यात्कार्यं नोत्पद्यते दृढम् ।
तथा कारणभावादिवैकल्यान्न रसोदयः ॥
२३ तस्माद्विभावानुभावसात्त्विकव्यभिचारिभिः ।
वर्धिताः स्थायिनो भावा नायकादिसमाश्रयाः ॥
अनुकारतया नाट्ये क्रियमाणा नटादिषु ।

---

२० नारद ने भरत के लिए यह (रसों के) प्रकार कहे । भरत ने जैसे नारद से सुने वैसे ही कह दिये ।[6] उसी उक्त प्रकार से कहे रसों की पृथक्-पृथक् उत्पाद्य उत्पादकता को यथावत् कहता हूँ ।

२१ जैसे तन्तु, वेमा, तुरी आदि की क्रिया से युक्त होकर (अर्थात् वेमा, तुरी आदि के सहयोग मे) पट रूप मे परिणत हो जाते है और 'पट' कहलाने लगते है । जैसे मिट्टी दण्ड, चक्र, कुलाल आदि का सहयोग पाकर घट रूप में परिणत हो जाती है और 'घट' कहलाती है । वैसे ही स्थायी भाव विभावादि का सहयोग पाकर 'रस' रूप मे परिणत हो जाते है और वे 'रस' कहलाते हैं ।

२२ जैसे तन्तु-भेद से पट-भेद दिखायी देता है वैसे ही रसों के भाव-भेद से रस-भेद जाना जाता है । जैसे कारणों की विकलता से कार्य उत्पन्न नहीं होता है वैसे ही कारण-विभावादि की विकलता से 'रस' का उदय नही होता है ।

२३ अतः विभाव, अनुभाव सात्त्विक-भाव तथा व्यभिचारी भावो द्वारा नायक आदि के आश्रित स्थायी-भाव वृद्धि को प्राप्त होते हैं । अनुकार्य राम आदि के द्वारा

रसतां प्रतिपद्यन्ते सामाजिकमनस्सु ते ॥
संस्कारैः प्राक्तनैस्तैश्च रस्यन्ते यत्ततो रसाः ।
२४ स्थायिनां रसनिष्पत्तौ तदसाधारणात्मकः ॥
विभावादिनिवेशस्य नियमोऽत्र प्रदर्श्यते ।
२५ काव्यर्तुमाल्यसङ्गीतचन्दनेन्दूदयादयः ॥
विभावास्स्तम्भरोमाञ्चस्वेदवेपथुगद्गदाः ।
सात्त्विकास्तूग्रतालस्यजुगुप्साभिर्विवर्जिताः ॥
सञ्चारिणोऽपि रत्याख्ये स्थायिनि स्थानमाश्रिताः ।
उद्भावयन्ति शृङ्गारमनुभावोऽस्य तु त्रिधा ॥
स्वेदादिभिः कटाक्षाद्यैः प्रियभाषादिभिर्भवेत् ।
२६ विकटाकारवेषेण विकृताचारकर्मभिः ॥
विकृतैरपि वाक्यैश्च धाष्टर्चलौल्यानुभूतिभिः ।
विकृताभिनयेनैव विकृताङ्गावलोकनात् ॥
कुहकासत्प्रलापेन दोषोदाहरणादिभिः ।
हास्यः स्यात्स तु भूयिष्ठं स्त्रीनीचादिषु दृश्यते ॥

---

नाट्य मे क्रियमाण (वे स्थायी-भाव) प्रयोग करने वाले नटादि मे 'रसता' को प्राप्त होते है। वे स्थायी-भाव जब सामाजिक के मन से पूर्व संस्कारों द्वारा आस्वादित किये जाते है तो वे 'रस' कहलाते है।

२४ अब स्थायी-भावों की रस-निष्पत्ति मे विभावादि के सन्निवेश के असाधारणात्मक नियमों को दिखाते है।

(शृंगार-रस)

२५ 'रति' नामक स्थायी-भाव मे रहने वाले विभाव—काव्य, ऋतु, माला, सगीत, चन्दन, चन्द्रोदय आदि, सात्विक-भाव—स्तम्भ, रोमाच, स्वेद, वेपथु, गद्-गद होना तथा सचारी-भाव—उग्रता, आलस्य, जुगुप्सा को छोड़ शेष व्यभिचारी भाव 'शृंगार-रस' को उत्पन्न करते हैं। इस 'शृगार-रस' के तीन प्रकार के अनुभाव होते है अर्थात् शृगार-रस स्वेदादि, कटाक्षादि तथा प्रियभाषादि अनुभावों द्वारा अभिनेय है।

(हास्य-रस)

२६ 'हास्य-रस' विकट आकार, विलक्षण वेष, विकृत आचार-कर्म, विकृत-वाक्य, धृष्टता, लोलुपता, विअत-अभिनय, विकृत अंग-दर्शन, कुहक (काँख तथा गर्दन आदि का स्पर्श), असत् (असंगत) प्रलाप तथा दोषोंदाहरण (दोषों के कथन) आदि विभावो से उत्पन्न होता है। यह हास्य-रस प्रायः स्त्री और नीच प्रकृति के पात्रों में अधिकतर देखा जाता है।

२७ स्वपराश्रयभेदेन स द्विधा परिकल्प्यते ।
पुनः प्रकृतिभेदेन षट्प्रकारः प्रदृश्यते ॥
२८ निगद्यते वरिष्ठानां स्मितं हसितमित्यपि ।
मध्यमानां विहसितं तथोपहसितं भवेत् ॥
नीचानां चापहसितं तथाऽतिहसितं क्रमात् ।
२९ ईषद्विकासिगण्डं यत्सकटाक्षनिरीक्षणम् ॥
अलक्ष्यदन्तज्योत्स्नं तदुत्तमानां स्मितं भवेत् ।
३० उत्फुल्लमाननं यत्र विकसद्गण्डमण्डलम् ॥
लक्ष्यमाणद्विजं यत्स्यात्तदेव हसितं भवेत् ।
३१ आकुञ्चिताक्षिगण्डं यन्मुखरागसमन्वितम् ॥
सस्वनं मधुरं यत्स्यात्तद्वै विहसितं भवेत् ।
३२ जिह्मावलोकना दृष्टिः मुखमुत्फुल्लनासिकम् ॥
निकुञ्चितं शिरो यत्र तच्चोपहसितं भवेत् ।
३३ अस्थानहासरटितमाविरास्रविलोचनम् ॥
कम्पिताङ्गशिरोगात्रं तच्चापहसितं भवेत् ।

---

२७ आत्माश्रय तथा पराश्रय भेद से यह 'हास्य-रस' दो प्रकार का होता है । पुनः प्रकृति-भेद से 6 प्रकार का प्रदर्शित किया जाता है ।

२८ उत्तम प्रकृति के पात्रों में 'स्मित' और हसित रूप 'हास्य' होता है । मध्यम प्रकृति के पात्रों में 'विहसित' और 'उपहसित' होता है । नीच प्रकृति के पात्रों मे 'अपहसित' तथा 'अतिहसित' रूप दिखायी पड़ता है ।

२९ जिसमें किंचित् विकसित कपोल प्रदेश और कटाक्षों सहित अवलोकन (दर्शन) होता है तथा दाँतों की शोभा (चमक) लक्षित नही होती है ऐसा उत्तम प्रकृति के पात्रो का हास्य 'स्मित' कहलाता है ।

३० जिसमें मुख खिल उठता है, कपोल प्रदेश विकसित हो जाता है तथा दाँत लक्षित होते हैं उसको 'हसित' हास्य कहा जाता है ।

३१ जिसमें कपोल-प्रदेश और आँखें संकुचित हों, मुख लाल हो जाता है और जो सस्वर, मधुर हास्य हो वह 'विहसित' कहलाता है ।

३२ जिसमें टेढ़ी दृष्टि से देखा जाता है, नथुने फूले रहते हैं, मुँह खिल उठता है तथा सिर झुक जाता है वह हास्य 'उपहसित' कहलाता है ।

३३ अकारण व अनवसर 'हास्य' जिसमें आवाज हो, आँखों में आँसू आते हों तथा अंग, सिर तथा शरीर हिल उठे वह 'अपहसित' होता है ।

३४ विक्रुष्टस्वनसंरम्भमुद्धतं सास्रलोचनम् ।।
करोपगूढपार्श्वं यत्तच्चातिहसितं भवेत् ।
३५ सात्त्विका हास्यसम्पत्तौ सर्वे प्रलयवर्जिताः ।।
३६ उत्तमप्रकृतिर्वीर उत्साहात्मा विभाव्यते ।
उत्साहः सत्त्वसम्पत्तिशौर्यत्यागादिसम्भवः ।।
अविस्मयादसंमोहादविषादित्वतोऽपि च ।
पुरुषार्थविशेषेषु कार्यतत्त्वार्थनिश्चयः ।।
पराक्रमः प्रतापश्च दुर्धर्षप्रौढसैन्यता ।
यशः कीर्तिश्च विनयो नयश्च प्रभुशक्तता ।।
मन्त्रशक्तिश्च सम्पन्नधनाभिजनमित्रता ।
इत्यादयो विभावाः स्युर्वीरस्य कविकल्पिताः ।।
स्थैर्यशौर्यप्रतापैश्च धैर्यैराक्षेपभाषितैः ।
सामादीनामुपायानां यथाकालप्रयोगतः ।।
भाषितैर्भावगम्भीरैरनुभावा भवन्ति ते ।
प्रबोधामर्षगर्वौग्र्यमदहर्षाः स्मृतिर्धृतिः ।।
औत्सुक्यतर्कासूयाश्च भवन्ति व्यभिचारिणः ।
सात्त्विकाः स्वेदरोमाञ्चा मदहर्षादिसंभवाः ।।
गुणास्त्यागादयोऽपि स्युरनुभावाः क्वचित्क्वचित् ।

---

३४ जिसमें स्वर कर्णकटु तथा उद्वेलित हो, आँखो मे आँसू आ जावें तथा हाथो से पसलियों को दबाना पड़े, ऐसा उद्धत हास्य 'अतिहसित' होता है ।[६]

३५ हास्य-सम्पत्ति में प्रलय को छोड़ शेष सभी सात्त्विक भाव होते है ।

(वीर-रस)

३६ उत्तम प्रकृति वाला तथा 'उत्साह' स्थायी-भाव वाला 'रस वीर-रस' जाना जाता है । उस वीर-रस मे सत्त्व, सम्पत्ति, शूरता तथा त्याग आदि से; तथा अविस्मय, असम्मोह, अविषाद आदि से 'उत्साह' उत्पन्न होता है । पुरुषार्थ-विशेषों में कार्य के तत्त्वार्थ का निश्चय, पराक्रम, प्रताप, दुर्घर्ष, प्रौढ़-सैन्यता यश, कीर्ति, विनय, नीति, प्रभु-शक्ति, मन्त्र-शक्ति, धन सम्पन्नता, कुलीनता, मित्रता इत्यादि 'वीर-रस' के विभाव कवियों द्वारा कहे जाते है, वीर-रस के स्थिरता, शूरता, प्रताप, धैर्य, आक्षेप करने वाले वचन, साम, दान, दण्ड और भेद—इन चारों उपायों का यथासमय प्रयोग तथा भावों से परिपूर्ण गम्भीर भाषण—अनुभाव है । इन अनुभावों से वीर-रस अभिनेय है । प्रबोध अमर्ष, गर्व, उग्रता, मद, हर्ष, स्मृति, धृति, औत्सुक्य, तर्क तथा असूया इसके व्यभिचारीभाव होते है । स्वेद, रोमाच तथा मद और हर्षादि से उत्पन्न इसमें सात्त्विक भाव हैं । कहीं-कहीं त्याग[७] आदि अनुभाव भी होते है ।

३७ विस्मयात्मा भवत्येव समप्रकृतिरद्भुतः ॥
कर्मणोऽतिशयान्नृणामीप्सितार्थोपसङ्गमात् ।
मनोरथफलप्राप्तेर्दिव्यभावावलोकनैः ॥
विमानोद्यानभवनसभारामावलोकनैः ।
विरुद्धानां पदार्थानामाविरुद्धसमागमैः ॥
असम्भाव्यस्य चार्थस्य सम्भवोत्पत्तिदर्शनैः ।
अदेशकालसम्पत्तेरभीष्टादेरचिन्तितम् ॥
इत्यादिभिर्विभावैस्तैरद्भुताख्यो रसो भवेत् ।
स्तम्भवेपथुरोमाञ्चस्वरसादाश्रुनिर्गमाः ॥
सञ्चारिणोऽपि तस्य स्युर्ये शृङ्गारोपयोगिनः ।
अनुभावास्तु वक्ष्यन्ते परत्राद्भुतवर्णने ॥
३८ राक्षसोद्धतदैतेयक्रूरादिप्रकृतिर्भवेत् ।
रौद्रस्तस्यानृतं वाक्यमवज्ञापरुषोक्तयः ॥
वधान्यदारलाभादिप्रतिज्ञा राष्ट्रभञ्जनम् ।
हठाद्ग्राहो गृहक्षेत्रदारादीनां च मत्सरः ॥
देशजातिकुलाचारविद्याशौर्यादिनिन्दनम् ।
आक्रोशकलहाक्षेपवाक्याज्ञाभञ्जनादयः ॥

---

(अद्भुत-रस)

३७ समान प्रकृति वाला तथा विस्मय स्थायी-भाव वाला 'अद्भुत-रस' होता है। कर्म की श्रेष्ठता मनुष्यों के अभीप्सित अर्थ का संयोग, मनोरथ की प्राप्ति, दिव्य-जनो के दर्शन; विमान, उद्यान, भवन, सभा तथा बगीचे के दर्शन, विरुद्ध-पदार्थ तथा अविरुद्ध पदार्थो का समागम, सम्भव तथा असम्भव वस्तुओं की उत्पत्ति का दर्शन, बिना देश तथा काल मे प्राप्त सम्पत्ति तथा अचिन्तित अभीष्ट-पदार्थ आदि—इत्यादि विभावो से 'अद्भुत रस' उत्पन्न होता है और इसके स्तम्भ, वेपथु, रोमाच, स्वर-साद, आँसू निकलना—व्यभिचारी-भाव है। शृंगार-रस के उपयोगी जो अनुभाव है उन्हे 'अद्भुत रस' के वर्णन में आगे कहेंगे।

(रौद्र-रस)

३८ राक्षस, उद्धत, दैत्य तथा क्रूर आदि प्रकृति वाला 'रौद्र-रस' होता है, और इस रौद्र-रस के अनृत-भाषण, अवज्ञा, परुष-वचन, वध तथा पर-स्त्री-गमन की प्रतिज्ञा, राष्ट्र-भेद; हठ से गृह, क्षेत्र, स्त्री आदि का ग्रहण (अपहरण), मत्सर, देश, जाति, कुल, आचार, विद्या तथा शौर्यादि की निन्दा आक्रोश, कलह, आक्षेप करने वाले वचन, आज्ञा का उल्लंघन आदि-विभाव है। वार-

एते विभावा भ्रुकुटीकपोलस्फुरणं मुहुः ।
दन्तोष्ठपीडनं हस्तनिष्पेषो रक्तनेत्रता ॥
शस्त्रास्त्रग्रहणच्छेदस्तलताडनमोटने ।
पानं च रुधिरादीनामान्त्रादिभिरलङ्क्रिया ॥
पातोऽविचारतो युद्धे गर्जनं भर्त्सनं मुहुः ।
एतेऽनुभावा रोमाञ्चस्वेदकम्पादयोऽपि च ॥
औग्र्यावेगमदामर्षमूर्च्छाऽसूयाऽवहित्थकः ।
स्मृतिचापलबोधाश्च धैर्योत्साहादयो गुणाः ॥

३९ शोकात्मा करुणो योषिन्नीचादिप्रकृतिस्स्वतः ।
अभीष्टविरहाच्छापात्क्लेशाच्च विनिपातनात् ॥
वधादिष्टस्य पुत्रादिनिधनादर्थहानितः ।
राज्यदेशपरिभ्रंशादन्यान्यव्यसनोदयात् ॥
दैवोपघाताद्दारिद्र्याद्व्याध्यादिभ्यः प्रजायते ।
श्रुतेभ्यो वाऽनुभूतेभ्यो दृष्टेभ्यो व नृणां भवेत् ॥
अश्रुपातो मुखे शोषः स्वरभेदो विवर्णता ।
निश्वासः स्मृतिलोपश्च विलापस्स्रस्तगात्रता ॥

---

बार भौंहे चलाना, गालों को फड़काना, दांतों से ओठों को काटना, हाथों को रगड़ना, आँखें लाल करना, अस्त्र-शस्त्र ग्रहण करना, अस्त्र-शस्त्र से काटना, हाथ-पैरों को पीटना, अंगों को भग करना, खून आदि का पीना, आँते आदि से अलंकृत होना, बिना विचारे शस्त्र फेंकना, युद्ध में गर्जन करना तथा बार-बार भर्त्सना करना—ये सभी रौद्र-रस के अनुभाव है। रोमाच, स्वेद, कम्पन, आदि इसके सात्त्विक-भाव है तथा उग्रता, आवेग, मद, अमर्ष, मूर्च्छा, असूया, अवहित्था, स्मृति, चपलता, बोध, धैर्य तथा उत्साह आदि गुण—ये इसके व्यभिचारी-भाव है।

**(करुण-रस)**

३९ स्त्री तथा नीचादि प्रकृति वाला तथा 'शोक' स्थायी-भाव वाला 'करुण-रस' होता है। अभीष्ट (इष्टजन) के वियोग से, शाप, क्लेश, विनिपात से, इष्ट के वध से, पुत्रादि के निधन से, अर्थ-नाश से, राज्य तथा देश के निष्कासन से, अन्यान्य व्यसनों के उदय से, दैवीय-प्रकोप से, दरिद्रता से तथा व्याधि आदि विभावों से 'करुण-रस' उत्पन्न होता है। मनुष्यों के श्रुत अथवा अनुभूत, और दृष्ट उद्दीपन से करुण-रस उद्दीप्त होता है। अश्रुपात, मुँह सूखना, स्वर-भेद, विवर्णता, निश्वास, स्मृति-लोप,[१०] विलाप, अंगों की शिथिलता, मूर्च्छा आना,

मोहागमोऽभिघातश्च भूपातः परिदेवितम् ।
विवेष्टनं महीपृष्ठे भुजयोश्च विवर्तनम् ॥
श्वासोच्छ्‌वासौ देहघातपातोरस्ताडनानि च ।
मोहो विषादनिर्वेदौ चिन्तौत्सुक्ये च दीनता ॥
जडता व्याधिरुन्मादापस्मारालस्यमृत्यवः ।
स्तम्भकम्पाश्रुवैवर्ण्यस्वरभङ्गादयस्तथा ॥
एतेऽनुभावाः कथिता दीप्यमानास्तु दीपनाः ।
स्त्रीनीचादिषु शोकोऽयं मरणव्यवसायदः ॥
मध्यमानां भवेच्छोके मुमूर्षा मृतिरेव वा ।
उत्तमानामतिप्रौढो विवेकेनैव शाम्यति ॥
पराश्रयस्तूत्तमानामात्मनो व्यसनप्रदः ।
४० बीभत्सः स्याज्जुगुप्सात्मा क्षोभोद्वेगविभागभाक् ॥
क्षोभात्मा रुधिरान्त्रादिदर्शनस्पर्शनादिजः ।
उद्वेगात्मा कृमिच्छर्दिपूतिविष्ठादिजो भवेत् ॥
द्वेषो ग्लानिर्भयं मोहः क्रोधो निद्रा भ्रमो मतिः ।
वक्ष्यन्ते ह्यनुभावाश्च नासाप्रच्छादनादयः ॥
पुरैव कथिता ह्यस्य सम्भाव्या व्यभिचारिणः ।

---

नाश, भूपात, शोक करना, पृथ्वी पर गिरना, हाथों का फेंकना श्वास-उच्छ्‌वास, देहघात, देहपात, देह पीटना-----आदि करुण-रस के अनुभाव हैं। मोह, विषाद, निर्वेद, चिन्ता, औत्सुक्य, दीनता, जड़ता, व्याधि, उन्माद अपस्मार, आलस्य, मृत्यु—व्यभिचारी-भाव हैं। स्तम्भ, कम्प, अश्रु, वैवर्ण्य स्वरभंगादि—सात्त्विक-भाव हैं। दीप्त होने वाले उद्दीपन भाव हैं। स्त्री तथा नीचादि पुरुषों में यह शोक मृत्यु कराता है। मध्यम पुरुष शोक में मूर्च्छित हो जाता है अथवा मृत्युतुल्य हो जाता है। उत्तम पुरुष प्रौढ़ता तथा विवेक से शोक को सहन कर लेता है। उत्तमों का पराश्रय अपने को व्यसन प्रदान करने वाला होता है।

(बीभत्स-रस)

४० 'जुगुप्सा' स्थायी-भाव वाला 'बीभत्स-रस' होता है। क्षोभज तथा उद्वेगज भेद से दो प्रकार का होता है। क्षोभात्मा बीभत्स खून, आँतें आदि के दर्शन तथा स्पर्श से उत्पन्न होता है। उद्वेगात्मा बीभत्स कृमि, वमन, पीप, मवाद, विष्टा आदि से उत्पन्न होता है। द्वेष, ग्लानि, भय, मोह, क्रोध, निद्रा, भ्रम तथा मति आदि इसके व्यभिचारी भाव हैं। नाक का ढँकना आदि को इसके अनुभाव कहेंगे। इसके सम्भावित व्यभिचारी-भाव पहले ही कह दिये हैं।

४१ भयानको भयस्थायी स्वभावकृतकात्मकः ।।
विकृतैश्च रवैः सत्त्वैर्विकृताकारदर्शनैः ।
शून्यारण्यादिगमनैस्सङ्ग्रामादिप्रवेशनैः ।।
गुरुराजापराधैश्च विभावैरेवमादिभिः ।
अनुभावास्तु वक्ष्यन्ते वाङ्मनःकायभेदतः ।।
उक्तानुक्तानभिज्ञत्वदिङ्मोहाद्या यथार्थतः ।
४२ एवं रसाः सानुभावविभावाः सम्यगीरिताः ।।
४३ शृङ्गारो वाचिकः कश्चिन्नैपथ्यात्मा च कश्चन ।
क्रियात्मा कश्चिदित्येवं शृङ्गारस्त्रिविधः स्मृतः ।।
हास्योऽपि त्रिप्रकारः स्याद्वाङ्नैपथ्याङ्गभेदतः ।
वीरो युद्धदयादानभेदेन त्रिविधो मतः ।।
अद्भुतं त्रिप्रकारं स्यान्मानसाङ्गिकवाचिकैः ।
अङ्गनैपथ्यवाग्भेदात्त्रिविधो रौद्र उच्यते ।।
करुणोऽपि त्रिधा भिन्नो मनोवागङ्गकर्मभिः ।
४४ रुधिरादिक्षोभजन्मा विष्ठाद्युद्वेगजोऽपरः ।।
इति द्वेधा समाख्यातो बीभत्सो रसकोविदैः ।

---

(भयानक-रस)

४१ स्वाभाविक तथा कृतकात्मक 'भय' नामक स्थायी-भाव वाला 'भयानक-रस' होता है। विकृत ध्वनियों से, भूत प्रेतादि के दर्शन से, विकृत आकार के दर्शन से, शून्य वनादि मे गमन करने से, संग्रामादि में प्रवेश करने से, गुरुजन तथा राजा के अपराध आदि विभावो से 'भयानक-रस' उत्पन्न होता है। वाचिक आंगिक तथा कायिक भेद से कथित-अकथित की अनभिज्ञता, दिङ्मोह आदि इसके अनुभाव यथार्थत: आगे कहेंगे।

४२ इस प्रकार विभाव अनुभाव सहित सभी रस भलीभाँति कह दिये गये।[११]

(रसों के भेद)

४३ 'शृंगार-रस' वाचिक, नैपथ्यज तथा क्रियात्मक भेद से तीन प्रकार का होता है।[१२] 'हास्य-रस' वाचिक, नैपथ्यज तथा आंगिक भेद से तीन प्रकार का होता है।[१३] 'वीर-रस' युद्ध वीर, दया वीर तथा दान वीर भेद से तीन प्रकार का होता है।[१४] 'अद्भुत-रस' मानस, आंगिक तथा वाचिक भेद से तीन प्रकार का होता है।[१५] 'रौद्र-रस' आंगिक, नैपथ्यज तथा वाचिक भेद से तीन प्रकार का होता है।[१६] 'करुण-रस' मानस, वाचिक तथा आंगिक कर्म-भेद से तीन प्रकार का होता है।[१७]

४४ रुधिरादि से उत्पन्न 'क्षोभज' तथा विष्टादि से उत्पन्न 'उद्वेगज' भेद से बीभत्स-रस' को विद्वान दो प्रकार का कहते है।[१८]

४५　मानसो वाचिकश्चेति द्विधा भिन्नो भयानकः ॥
भयानकः सबीभत्सस्त्रिधा वाक्कायमानसैः ।
स्वाभाविको मानसः स्यादाङ्गिकः कृतको भवेत् ॥
४६　देशकालगुणद्रव्यक्रियाजात्यात्मकेषु तु ।
अनुभूतेषु भावेषु यथावस्थितरूपतः ॥
येन येन च भावेन यादृशो जायते रसः ।
तत्तद्भावाख्यया सद्भिर्बोध्यते तादृशो रसः ॥
४७　भावगर्भ रहःसंवित् मधुरं नर्मपेशलम् ।
सुवृत्तं श्रवणानन्दि शृङ्गारो वाचिको मतः ॥
४८　वासोऽङ्गरागभूषाभिर्माल्यैर्युक्तं प्रसाधितम् ।
प्राप्तयौवनमङ्गं यच्छृङ्गारः स्यात्स आङ्गिकः ॥
४९　दन्तच्छेद्यं नखच्छेद्यं मणितं च ससीत्कृतम् ।
चुम्बनं चूषणं भावो हेलादिः केलयोऽपि च ॥
शयनाद्युपचारश्च तथा सङ्गीतकक्रिया ।
इत्यादिभावैः कथितः शृङ्गारः स्यात्क्रियात्मकः ॥
५०　यद्यत्प्रहसनं वाक्यं स हास्यो वाचिकः स्मृतः ।
विपर्ययेण निक्षेपो माल्याभरणवाससाम् ॥
यः स नैपथ्यजो हास्य इति निर्णीयते बुधैः ।

---

४५　'भयानक-रस' मानस तथा वाचिक भेद से दो प्रकार का होता है।[१९] 'भयानक-रस' वीभत्स-रस के साथ वाचिक, कायिक तथा मानस भेद से तीन प्रकार का होता है। स्वाभाविक = मानसिक तथा आंगिक = कृतक होता है।

४६　देश, काल, गुण, द्रव्य, क्रिया, जाति रूप अनुभूत भावों में से यथावस्थित रूप मे जिस-जिस भाव मे जैसा रस उत्पन्न होता है वैसा ही रस उस-उस भाव के नाम से विद्वानों द्वारा जाना जाता है।

(शृंगार-रस के भेद)

४७　भाव-गर्भ, रहस्-संयुक्त, मधुर, नर्म, पेशल, सुवृत्त तथा श्रवणानन्दी शृंगार 'वाचिक' होता है।

४८　वस्त्र, अंगराग, भूषण, माला आदि से प्रसाधित तथा यौवन-सम्पन्न अंगों से प्रकट होने वाला शृंगार 'आंगिक' कहलाता है।

४९　दन्तच्छेद, नखच्छेद, गुनगुनाना, सीत्कार करना, चुम्बन, चूषण, भाव, हेलादि, केलि, शयनादि उपचार तथा संगीत आदि के सहारे प्रदर्शित 'शृंगार' को 'क्रियात्मक' कहते है।

(हाय-रस के भेद)

५०　परिहासात्मक वचनों से प्रदर्शित हास्य 'वाचिक' कहा जाता है। माला, आभूषण तथा वस्त्रों को उलटा-सीधा धारण करना जो हास्य है वह विद्वानों द्वारा 'नैपथ्यज' कहलाता है।

५१ विकटाभिनयत्वं यदङ्गानामवलोक्यते ॥
स्वभावाद्वाऽथकपटात्स हास्यस्त्वाङ्गिको भवेत् ।

५२ निरायुधस्याप्येकस्य हीनस्यापि परिच्छदैः ॥
अभीतिर्बहुभिर्योद्धुं व्यवसायो रणे मदः ।
हर्षः शस्त्रास्त्रघातेषु समरादपलायनम् ॥
भीताभयप्रदानं च प्रपन्नस्यार्तिभञ्जनम् ।
एवं युद्धात्मको वीरः तज्ज्ञैः कविभिरीरितः ॥

५३ अर्थिनामीप्सितादर्थात्प्रदायैभ्योऽधिकं बहु ।
अर्थिनः पुनरायातान् स्वजनानितरानपि ॥
यन्मानयति दानेन वाक्येन मधुरेण च ।
एतद्दानात्मको वीरः कथ्यते दानशीलिभिः ॥

५४ व्याधिदारिद्र्यशस्त्रास्त्रक्षुत्पिपासादिपीडितान् ।
अनुगृह्णाति यः प्रीत्या स वीरः स्याद्दयात्मकः ॥

५५ ध्यानं नयनविस्तारः प्रसादो वदने दृशि ।
आनन्दाश्रु सरोमाञ्चमनिमेषावलोकनम् ॥
अनिश्चलत्वं मनसो यस्मात्तन्मानसोऽद्भुतः ।

---

५१ स्वभाव से या कपट से जब अंगों के विकृत-अभिनय को दिखाया जाता है, वह हास्य 'आंगिक' होता है ।

(वीर-रस के भेद)

५२ रण में निःशस्त्र तथा कवच रहित किसी एक का निर्भीकतापूर्वक बहुतों के साथ युद्ध के लिए प्रयत्नशील रहने वाला मद, अस्त्र-शस्त्र के प्रहारों में हर्ष, युद्ध से अपलायन, डरे हुए को अभय-प्रदान, शरणागत के दुःख को दूर करना—इस प्रकार के गुणों से युक्त वीर को कविजन 'युद्धात्मक-वीर' कहते हैं ।

५३ याचकों के द्वारा माँगे गये अभीप्सित अर्थ से अधिक अर्थ उनको देकर याचकों का, बार-बार आने वाले स्वजनों का तथा शत्रुजनों का दान तथा मधुर वचनों से जो आदर करता है वह दानशीलों द्वारा 'दानात्मक' वीर कहलाता है ।

५४ रोग, दरिद्रता, अस्त्र-शस्त्र, भूख तथा प्यास आदि से पीड़ितों पर जो प्रेम-पूर्वक कृपा करता है वह 'दयात्मक-वीर' होता है ।

(अद्भुत-रस के भेद)

५५ ध्यान, नयन-विस्तार, प्रसादपूर्ण मुख तथा दृष्टि, आनन्दाश्रु, रोमांच, अनि-मेष दृष्टि, मन चांचल्य जिससे होते हैं वह 'मानस अद्भुत' होता है ।

५६ चेलाङ्गुलीनां भ्रमणमुत्थायोत्थाय वल्गनम् ॥
दानप्रबन्धो नटनमाश्लेषश्च परस्परम् ।
परस्परस्य भुजयोः परस्परतलाहतिः ॥
एवमादिविकारो यः स भवेदाङ्गिकोऽद्भुतः ।

५७ हाहाकारः साधुवादः कपोलास्फालनध्वनिः ॥
उच्चैर्हासो हर्षघोषौ गीतमुच्चावचं वचः ।
एवमादिर्विकारो यः स भवेद्वाचिकोद्भुतः ॥

५८ शिरोभिर्बहुभिः स्थूलैः केशैरुद्धूतपिङ्गलैः ।
बाहुभिर्ह्रस्वदीर्घैश्च बहुशस्त्रास्त्रधारिभिः ॥
उद्वृत्तरक्तनयनैर्महाकायैः सितेतरैः ।
एवंप्रकारो रौद्रोऽयमाङ्गिकः कथ्यते बुधैः ॥

५९ कृष्णरक्तानि वासांसि कृष्णरक्तानुलेपनम् ।
कृष्णरक्तानि माल्यानि कृष्णं रक्तञ्च भूषणम् ॥
एवं नैपथ्यजो रौद्र इति विद्वद्भिरुच्यते ।

६० छिन्धि भिन्धि बधानैनं खाद मारय ताडय ॥
पिबामि रुधिरं तेऽद्य पिनष्टीत्यादि यद्वचः ।
एतत्तु वाचिको रौद्र इति नाट्यविदीरितः ॥

---

५६ चेलांगुलि भ्रमण, उठ-उठ पड़ना, उछलना, दान प्रबन्ध (दान का अनुष्ठान), नाचना, परस्पर आश्लेष, एक-दूसरे की भुजाओं तथा हथेलियों का स्पर्श आदि इस प्रकार के जो विकार हैं वह 'आंगिक-अदभुत' होते हैं।

५७ हाहाकार, साधुवाद (बहुत अच्छा-बहुत अच्छा), गाल फुलाकर आवाज करना, उच्च हास, हर्ष ध्वनि, गीत तथा उच्च वचन आदि--इस प्रकार के जो विकार हैं वह 'वाचिक-अद्भुत' होता है।

(रौद्र-रस के भेद)

५८ बहु-शिर; स्थूल, उद्धत (कम्पित) तथा पिगल (पीले) केश, छोटी-बड़ी भुजाएँ, बहु अस्त्र-शस्त्र-धारी, चढ़ी हुई लाल-लाल आँखें, काले-रंग वाले महाकाय (व्यक्ति) आदि को विद्वान 'आंगिक रौद्र' कहते हैं।

५९ काले, लाल वस्त्र, काला, लाल लेप, काली, लाल माला तथा काले, लाल आभूषणादि के धारण को विद्वान 'नैपथ्यज-रौद्र' कहते हैं।

६० छेद दो, भेद दो, इसे बांधलो, खाजाओ, मारो, पीटो, आज तेरा खून पीता हूँ, आज तुझे कुचलता हूँ इत्यादि कथन को नाट्य-विद् 'वाचिक-रौद्र' कहते हैं।

६१ वाक्यार्थाननुसन्धानं निश्वासोच्छ्वासदीर्घता ।
उपेक्षा केशवासोऽङ्गसंस्कारादिषु दीनता ॥
अनुभूतानभिज्ञत्वमनवस्थितचित्तता ।
विरक्तिः सर्वविषया स्निग्धेष्वनभिषङ्गता ॥
आकाशवीक्षणञ्चेति मानसः करुणः स्मृतः ।
६२ हाकारो रोदनं क्रोशः प्रलापो दीर्घभाषणम् ॥
दूराह्वानमथाक्रन्दो वाचिकः करुणः स्मृतः ।
६३ रुधिरादिषु दृष्टेषु मनः क्षुभ्यति चञ्चलम् ॥
अतो हि मानसः सद्भिर्बीभत्सः क्षोभनः स्मृतः ।
बिभेति म्लायति द्वेष्टिमुहुर्मुह्यति बुद्ध्यति ॥
क्रन्दत्यपक्रामति च विषीदति च निन्दति ।
दयते श्राम्यति त्रस्यत्यास्ते तूष्णीं च गूहते ॥
यत्ततो मानसः क्षोभजन्मा बीभत्स उच्यते ।
६४ उद्वेगजो यो बीभत्सः स त्वाङ्गिक उदाहृतः ॥
वस्त्रावकुण्ठनं नासाच्छादनं नेत्रकूणनम् ।
अस्पष्टपादपतनमपवर्तितवक्रता ॥

---

**(करुण-रस के भेद)**

६१ वाक्यार्थ का अनुसंधान, निःश्वास, उच्छ्वास (श्वास-प्रश्वास) की दीर्घता, केश-वास की उपेक्षा, अंग-संस्कार आदि में दीनता, अनुभूत के प्रति अनभिज्ञता, अनवस्थित चित्तता, सभी विषयों के प्रति विरक्ति, स्निग्ध के प्रति अनिच्छा, आकाश-वीक्षण (शून्य में ताकना) आदि 'मानस-करुण' के लक्षण होते है।

६२ हा हा करके रोना, क्रोश (चिल्लाना), प्रलाप, दीर्घ-भाषण, दूराह्वान (दूर से बुलाना), आक्रन्द आदि 'वाचिक-करुण' कहलाते है।

**(बीभत्स-रस के भेद)**

६३ रुधिरादि के देखने पर मन क्षुब्ध तथा चंचल हो जाता है अतः यह 'मानस' होता है और विद्वान इसे 'क्षोभज-बीभत्स' कहते है। भय, मलिनता, द्वेष, बार-बार मोह, बोध, क्रन्दन, अपक्रमण (भागना), विषाद, निन्दा, दया, भ्रमण, त्रास, चुप रहना, छिपना आदि को 'मानस-क्षोभज-बीभत्स' कहते हैं।

६४ 'उद्वेगज-बीभत्स, जो होता है वह 'आंगिक' कहलाता है। वस्त्राच्छादन, नाक ढँकना, नेत्रों को बन्द कर लेना, अस्पष्ट रूप से (लड़खडाते) पैरों का पडना,

द्रुतपादाग्रगमनं ष्ठीवनं च मुहुर्मुहुः ।
एवमाङ्गिक उद्वेगजन्मा बीभत्स उच्यते ॥

६५ दिङ्मोहः कान्दिशीकत्वं सहायान्वेषणं मुहुः ।
पार्श्वयोर्वीक्षणं पाणिपादयोरपि कम्पनम् ॥
दंशोऽङ्गुलीनामभययाचनं दन्तदर्शनम् ।
एतैर्भयानकस्तज्ज्ञैः कथितस्त्वाङ्गिकात्मना ॥

६६ ऊरुस्तम्भश्च हृत्कम्पः स्वेदो दृक्चलतारका ।
शुष्कोष्ठताऽऽस्यशोषश्च गद्गदत्वं विवर्णता ॥
विषयस्यापरिच्छित्तिरुक्तानुक्तानभिज्ञता ।
एतैर्भयानकः स्वाभाविको मानस उच्यते ॥

६७ एवं रसविकल्पाश्च कथिताः स्वस्वरूपतः ।
अधिदैवतमेतेषां भरतादिभिरुच्यते ॥

६८ शृङ्गारो विष्णुदैवत्यो हास्यः प्रमथदैवतः ।
महेन्द्रदैवतो वीरस्त्वद्भुतो ब्रह्मदैवतः ॥
रुद्राधिदैवतो रौद्रः करुणो यमदैवतः ।
बीभत्सः कथ्यते सद्भिर्महाकालाधिदैवतः ॥
भयानकोऽपि कथितः कालदेवाधिदैवतः ।

---

मुँह फिरा लेना, शीघ्रतापूर्वक आगे बढ जाना तथा बार-बार थूकना आदि इस प्रकार 'आंगिक-उद्वेगज-बीभत्स कहलाते है ।

(भयानक-रस के भेद)

६५ दिग्भ्रम, भाग जाना, बार-बार सहायक खोजना, अगल-बगल देखना, हाथ-पैर काँपना, अगुलि काटना, अभय-याचना करना, दाँत दिखाना आदि अनुभावों से विद्वान 'आंगिक-भयानक' कहते हैं ।

६६ पैरों का रुक जाना, हृदय काँपना, पसीने आना, आँख तथा पुतली का चञ्चलतापूर्वक चलना, ओठ सूखना, मुँह सूखना, गद्गद स्वर, विवर्णता (मुंह का फीका पड़ना) विषय के प्रति अज्ञानता, कथित-अकथित की अनभिज्ञता आदि से 'स्वाभाविक-मानस-भयानक' कहलाता है ।

(रसों के देवता)

६७ इस प्रकार अपने-अपने स्वरूप से रसों के भेद कह दिये । अब इन रसों के भरतादि के द्वारा बताये गये देवताओं को कहते हैं ।

६८ शृंगार के देवता विष्णु [२०] है, हास्य-रस के देवता रुद्र-गण हैं, वीर-रस के देवता इन्द्र है । अद्भुत-रस के देवता ब्रह्मा है । रौद्र-रस के देवता रुद्र हैं । करुण-रस के देवता यम हैं । बीभत्स-रस के देवता महाकाल है । भयानक-रस के देवता काल-देव है ।[२१]

६९ आभिरूप्यमधिष्ठानं शृङ्गारस्य यतो भवेत् ॥
अभिरूपोत्तमो विष्णुस्तस्मादस्याधिदैवतम् ।
७० विकटाभिनयत्वं यद्धास्याधिष्ठानमुच्यते ॥
तदस्ति प्रमथे यस्मात्सोऽयमस्याधिदैवतम् ।
७१ वीरस्य यदधिष्ठानं तद्धैर्यमिति गण्यते ।
धीरो महेन्द्रो यस्मात्तु सोऽयमस्याधिदैवतम् ।
७२ अद्भुतस्याप्यधिष्ठानं नानाशिल्पात्मिकैव धीः ॥
ब्रह्मणः सेयमस्तीति सोऽयमस्याधिदैवतम् ।
७३ रौद्रस्य यदधिष्ठानं कर्म रोगरुजात्मकम् ॥
रुद्रस्य च तदस्तीति सोऽयमस्याधिदैवतम् ।
७४ करुणस्याप्यधिष्ठानं दयेति परिभाष्यते ॥
पापं तया यमयति यमः सोऽस्याधिदैवतम् ।
७५ बीभत्सस्याप्यधिष्ठानं महाकालोऽसृगात्मकः ॥
प्रलयेऽस्य तदस्तीति सोऽयमस्याधिदेवता ।
७६ भयानकस्याधिष्ठानं विकृताकाररूपता ॥
कालदेवस्य संहारकालेऽस्तीति स देवता ।

---

६९ क्योकि शृगार का आधार सुन्दरता है। सुन्दरता मे उत्तम विष्णु है अतः वह शृंगार के देवता है।

७० हास्य का आधार विकृत-अभिनय है, वह रुद्रगणों मे होता है, अत रुद्रगण हास्य के देवता हैं।

७१ वीर-रस का आधार धैर्य कहा जाता है। इन्द्र धैर्यशाली है, अत. वह वीर-रस के देवता है।

७२ अदभुत-रस का आधार बहु-शिल्पात्मिका बुद्धि है। वह बुद्धि ब्रह्मा मे है, अतः ब्रह्मा इस रस के देवता है।

७३ रौद्र-रस का आधार रोग-रुग्णात्मक कर्म है। यह सब रुद्र का गुण है, अतः वह इस रस के देवता हैं।

७४ करुण-रस का आधार दया कहलाती है। यम दया से पाप को रोकता है, अतः यम करुण-रस के देवता है।

७५ बीभत्स-रस का आधार प्रलयात्मक महाकाल है। महाकाल का प्रलय मे स्थान है- अतः बीभत्स-रस के देवता है।

७६ भयानक-रस का आधार विकृत-आकार, विकृत-रूप है। सहारकाल मे कालदेव का ऐसा आकार व रूप होता है, अतः भयानक-रस के कालदेव देवता हैं।[२२]

७७ श्यामः श्वेतश्च गौरश्च पीतो रक्तश्च पञ्चमः ।।
कपोतश्चैव नीलश्च कृष्णश्चेति यथाक्रमम् ।
यथाऽधिदेवतं वर्णः कथितः पूर्वसूरिभिः ।।
७८ शृङ्गारादिरसानां तु स्वरूपं जन्मनामनी ।
तद्विकल्पाश्च तद्रूपं तद्दैवं वर्णकल्पना ।।
भावानामपि कृत्यञ्च तत्स्वरूपञ्च नाम च ।
संहितोक्तेन मार्गेण तथा वासुकिवर्त्मना ।।
व्यासोक्तेनाध्वना चैव नारदाभिहितेन च ।
निर्णीतानि यथाशास्त्रं दर्शितानि यथार्थतः ।।
७९ रसानां ये विभावाद्यास्ते गुणाः स्युः कदाचन ।
अनुभावा अपि क्वापि सात्त्विकाश्च कदाचन ।।
नायिकानायकादीनां व्यापाराद्यनुरूपतः ।
गुणा भवन्ति कुत्रापि स्थायिनोऽपि कदाचन ।।
विशेषास्तेषु येऽनुक्तास्तेषा रूपं प्रदर्श्यते ।
८० लघुविक्रमकारित्वं शौर्यमित्यभिधीयते ।।
बुद्धेर्विरूपावसायो व्यवसाय इति स्मृतः ।
सहसा यत्कृतं कर्म तत्साहसमुदीरितम् ।।

---

७७ पूर्वाचार्य यथाक्रम शृंगारादि रसो के देवताओ के वर्ण के अनुसार श्याम, श्वेत, गौर, पीत (पीला), रक्त (लाल), कपोत, नीला तथा कृष्ण (काला) वर्ण कहते है ।[२२]

७८ संहिता, वासुकि, व्यास तथा नारद के अनुसार शास्त्रों में निर्णीत शृंगारादि रसो का स्वरूप, उनकी उत्पत्ति के स्थान, उन (रसों) के उपभेद, उनके भी स्वरूप, रसो के देवता और वर्ण, भावों के कृत्य, स्वरूप तथा नाम को यथार्थत कह दिया ।

७९ रसों के जो विभाव आदि है । वे कभी गुण होते है, कभी अनुभाव, कभी सात्त्विक-भाव नायिका तथा नायक आदि के व्यापारादि की अनुरूपता मे गुण होते है । कही कभी स्थायी-भाव भी गुण होते है । उनमें जो विशेष हैं और जो नही कहे गये है उनका स्वरूप कहते हैं ।

८० थोड़ी सी पराक्रमशीलता 'शौर्य' कहलाती है । बुद्धि का विरुप (अस्वाभाविक) निर्णय (अवसाय) 'व्यवसाय' कहलाता है । सहसा जो कर्म किया जाता है वह 'साहस' कहा जाता है । फल-प्राप्ति के उद्देश्य से अस्त्र-शस्त्र से घायल का भी मन पराक्रम के लिए प्रवृत्त होता है वह 'पराक्रम' कहलाता है । शत्रु जिससे तपते है वह 'प्रताप' कहा जाता है । प्रारम्भ किये हुए कार्य का फलोदय होने

शस्त्रास्त्रादिहतस्यापि परमाक्रमितुं मनः ।
प्रवर्तते फलप्राप्तेः स पराक्रम ईरितः ।।
प्रतपन्ति यतो द्वेष्याः स प्रताप इहोच्यते ।
प्रौढिः प्रवृत्तिः सोत्साहा प्रारब्धस्याफलोदयात् ।।
कृतिर्या रमयत्येव विश्वं सा कीर्तिरुच्यते ।
कुलक्रमागता सा चेत्कीर्तिनाम्ना प्रकाशते ।।
स्वापदानप्रसूता चेद्यश इत्यभिधीयते ।
यतो विश्वस्य शमिति तस्माद्यश इतीरितम् ।।
विनयो लोकमर्यादाशास्त्रार्थानतिलङ्घनम् ।
दण्डनीतेरनुष्ठानं नय इत्यभिधीयते ।।
अनियुक्ता अपि स्वे स्वे कृत्ये यत्सन्निधौ प्रजाः ।
प्रभुत्वं तदिति प्रोक्तमाज्ञा सैव भयात्मिका ।।
वीर्यं विचित्रमव्यग्रा प्रवृत्तिर्युद्धकर्मणि ।
शुण्डारवद्बलं यस्य दोष्णोः शौण्डस्स कथ्यते ।।
शौण्डान्यतः प्रेरयति तच्छौण्डीर्यमुदाहृतम् ।
प्रकर्षभावना जन्तोः प्रभावोऽभीष्टदानतः ।।

---

तक उत्साह सहित प्रवृत्ति 'प्रौढि' कहलाती है। जो कृति विश्व में रमण कराती है वह 'कीर्ति' कही जाती है। जो कुल-क्रम से आती हैं, वह भी 'कीर्ति' नाम से कही जाती है। जो अपने कर्म से उत्पन्न होती है वह 'यश' कहलाती है। क्योंकि विश्व का कल्याण (शम) होता है अतः 'यश' कहा जाता है। लोक-मर्यादा तथा शास्त्रार्थ का उल्लंघन नही करना 'विनय' कहा जाता है। दण्डनीति का अनुष्ठान 'नय' कहलाता है। अपने-अपने कर्म में नियुक्त न होने पर भी जिसके समीप प्रजा अपने-अपने कर्म में नियुक्त हो जाती है वही प्रभुता है, वही 'आज्ञा' कहलाती है—जो भय-रूपा है। युद्ध कर्म में विचित्र व्यग्रतारहित प्रवृत्ति 'वीर्य' कही जाती है। जिसकी भुजाओं का हाथी की सूड़ के समान बल होता है वह 'शौण्ड' कहलाता है। 'शौण्ड' दूसरे की ओर से प्रेरित किया जाता है तो 'शौण्डीर्य' कहलाता है। अभीष्ट-दान से प्राणी की प्रकर्ष-भावना 'प्रभाव' कही जाती है। जहाँ सर्वथा परोपकार के लिए किये गये भाव लक्षित होते है, जिनके लिए मनुष्य स्पृहा करता है वह 'अनुभाव' कहा जाता है। वेग, बल, प्राण, शरीर तथा बुद्धि में सत्त्व रहता है तो वह 'महासत्त्व' कहा जाता है, इसका 'धीर' पर्यायवाचक नाम है। आकृति से नियमित, किसी के द्वारा भेदन न करना 'स्थैर्य' कहलाती है। ये वीर के गुण है, यही वीर-रस के विभाव है। जो रौद्र-रस के तथा करुण-रस के विभावादि

भावाः परोपकारार्था लक्ष्यन्ते यत्र सर्वथा ।
स चानुभाव इत्युक्तो येभ्यः स्पृहयते जनः ॥
सत्त्वं जवबलप्राणकायबुद्धिषु वर्तते ।
स महासत्त्व इत्युक्तो धीरपर्यायनामकः ॥
इत्याकृत्या नियमिताः स्थैर्यं सर्वैरभेद्यता ।
एते गुणाश्च वीरस्य विभावा एत एव हि ॥
रौद्रस्य करुणस्यापि ये विभावादयोऽभवन् ।
तदालम्बनभूतानां कथ्यन्ते ते गुणात्मकाः ॥
यस्मिन्नर्थे च यद्वाक्यमर्थासंस्पर्शि तत्त्वतः ।
अनृतत्वं तदथवा तदर्थस्य विपर्ययः ॥
अवज्ञा सा प्रकृष्टस्य यत्तथाऽज्ञायमानता ।
अवज्ञा मानसी ज्येष्ठे न्यक्कारो वाक्तिरस्कृतिः ॥
वाचिकी गुणनिन्दा स्यात् शारीरी ताडनादिका ।
प्रकृष्टयोर्द्वयोरेकमानेनैवावमानिता ॥
मृषैव दोषमारोप्य क्रोश आक्रोश उच्यते ।
असूयादिभिरन्योन्यं क्षेप आक्षेप उच्यते ॥
क्रोधस्त्रिधा भवेत्क्रोधकोपरोषविभागतः ।
शत्रुमित्रप्रियाभृत्यपूज्यादिष्वेव पञ्चधा ॥

---

होते हैं वे आलम्बनभूत विभावों के गुण-रूप कहे जाते हैं । जो वाक्य अर्थ के सम्बन्ध में जिस अर्थ में वस्तुत: प्रयुक्त होता है उसे अन्य अर्थ में या अर्थ के उल्टे अर्थ में ग्रहण किया जाता है तो 'अनृत' कहलाता है । उत्तम पुरुष की उसी प्रकार अज्ञानता अर्थात् श्रेष्ठ पुरुष को उस रूप में सम्मानित न करना ही 'अवज्ञा' है । यह दो प्रकार की होती है—मानसी एवं वाचिकी । किसी ज्येष्ठ के प्रति नकारात्मक वाक्य का प्रयोग व तिरस्कार 'मानसी'-अवज्ञा होती है । किसी के गुणों की निन्दा तथा शारीरिक ताड़नादि 'वाचिकी-अवज्ञा' कहलाती है । किन्हीं दो प्रकृष्ट पुरुषों में से एक का मान करने से ही अन्य की वह 'अपमानिता' कहलाती है । मिथ्या ही दोषारोपण कर क्रोश (चिल्लाना) 'आक्रोश' कहा जाता है । असूया आदि से अन्योन्य (एक-दूसरे पर) क्षेप 'आक्षेप' कहलाता है । 'क्रोध' तीन प्रकार का होता है—क्रोध, कोप तथा रोष । पुन: शत्रु, प्रिया, भृत्य (सेवक) तथा पूज्य आदि के प्रति रहने से 'क्रोध' पाँच प्रकार का होता है ।[२४]

८१ कुटिलां भ्रुकुटिं धत्ते जिह्वया लेढि सृक्विणी ।
मुहुर्मुहुर्दशत्योष्ठं दन्तान्कटकटापयन् ॥
शस्त्राण्युद्वीक्षते रूक्षं दृप्तश्चोद्वीक्षते भुजौ ।
न तिष्ठति न चैवास्ते विधत्ते कण्ठगर्जितम् ॥
एवं हि वर्तते प्रायो जातक्रोधस्तु शत्रुषु ।
८२ व्रीडाऽवनम्रवदनः स्खलद्बाष्पः श्वसन्मुहुः ॥
तूष्णीं ध्यायति निश्चेष्टः शेते मित्रक्रुधा रहः ।
८३ रोषरज्यत्कटाक्षश्च स्फुरिताधरपल्लवः ॥
स्फुरद्भ्रुकुटिरल्पाङ्गविकृतिः स्यात्प्रियाक्रुधि ।
८४ शिरःकम्पाक्षिविक्षेपभर्त्सनाङ्गुलितर्जनैः ॥
क्रोधोऽभिनेयो भृत्येषु वीक्षणैश्च मुहुर्मुहुः ।
८५ विनम्रवदनः स्वेदस्नपितो गद्गदस्वनः ॥
अनुत्तरोऽवदन्किञ्चित् पूज्ये क्रुद्धो विभाव्यते ।

---

१—(शत्रु के प्रति क्रोध का स्वरूप)

८१ भौहें टेढ़ी करना, जीभ से मुँह के किनारों को (ओष्ठों को) चाटना, बार-बार दाँतों से ओष्ठों को काटना, दाँतों को कटकटाना, रूखा होकर शस्त्रों को देखता है, दृप्त हो भुजाओं को देखता है, न रुकता है और न बैठता है कण्ठ-गर्जन करता है। इस प्रकार से प्रायः शत्रुओं के प्रति क्रोध उत्पन्न होता है।

२—(मित्र के प्रति क्रोध का स्वरूप)

८२ शर्म से मुँह नीचा होना, आँसू का निकलना, बार-बार श्वांस लेना, चुप रहना, ध्यान करना, निश्चेष्ट हो जाना तथा एकान्त में सो जाना आदि से मित्र के प्रति क्रोध प्रकट होता है।

३—(प्रिया के प्रति क्रोध का स्वरूप)

८३ क्रोध से कटाक्ष स्फुरित होते है, अधर-पल्लव (ओष्ठ) फड़कते है, भौहें फड़कती हैं, थोड़ा अंग-विकार हो जाता है आदि अनुभावों से प्रिया के प्रति क्रोध प्रकट होता है।

४—(भृत्य के प्रति क्रोध का स्वरूप)

८४ शिर-कम्पन, अक्षि-विक्षेप, भर्त्सना करना (बुरा-भला कहना), अंगुली से भय दिखाना (तर्जन-डाँटना, फटकारना) तथा बार-बार देखना आदि अनुभावों से भृत्य (सेवक) के प्रति क्रोध अभिनेय है।

५—(गुरुजनों के प्रति क्रोध का स्वरूप)

८५ झुका हुआ मुँह, पसीने से नहा जाना, गद्-गद स्वर तथा बात का उत्तर नही देना, कुछ नही बोलना आदि अनुभावों से गुरुजनों के प्रति 'क्रोध' जाना जाता है।[२५]

८६ अष्टाववस्थाः क्रुद्धानां कथ्यन्तेऽत्र मनीषिभिः ॥

८७ प्रथमा निन्दति गुणान्द्वितीया परुषं वदेत् ।
तन्नाशोपायचिन्तैव तृतीयायामुदाहृता ॥
चतुर्थ्यां हननेच्छा स्यात्पञ्चम्यामायुधग्रहः ।
षष्ठ्यां निहन्ति वेगेन विघ्नैरपि च वारितः ॥
सप्तम्यां निहतस्यासृक्पानमान्त्रापकर्षणम् ।

८८ यावात्फलावधिः क्रोधः कैश्चिद्विघ्नैरसाधितः ॥
क्रुद्धः क्रोधस्य कौटिल्यात्प्राणांस्त्यजति कामतः ।
क्रोधो रौद्रेषु भूयिष्ठः कोपो धीरेषु शस्यते ॥
स्त्रीपुंसयोर्मिथो रोषः प्रणयादिर्हि कथ्यते ।
क्रोधस्तिष्ठति सर्वत्र क्रुद्धानामाफलोदयात् ॥
कोपोऽनुनाथितः सद्यो निवर्तेत फलोदयात् ।
उद्दीप्तश्चेत्प्रवर्धेत तत्तदुद्दीपनैर्मुहुः ॥
रोषः प्रायेण सर्वत्र शाम्यत्येवानुनाथितः ।

८९ विलापः स्याद्गुणाख्यानमिलितं रोदनं भवेत् ॥
परिदेवितमेतत्स्याद्रुदितं यत्सगद्गदम् ।
उच्चै रोदनमाक्रन्दः शोकोत्कर्षे स कथ्यते ॥

---

८६ विद्वान क्रोध की आठ अवस्थाओं को कहते हैं।

८७ (१) गुणों की निन्दा करना, (२) कठोर वचन बोलना, (3) शत्रु-नाश के लिए उपायों की चिन्ता तृतीय अवस्था कही जाती है, (४) मारने की इच्छा, (५) शस्त्र ग्रहण करना, (६) विघ्नों से रोके जाने पर भी शीघ्रता से मार देना, (७) मरे हुए का खून पीना, तथा (८) आँतें निकालना आदि।

**(कोप, क्रोध तथा रोष का स्वरूप तथा स्थान आदि)**

८८ किसी भी प्रकार के विघ्नों से असिद्ध 'क्रोध' जब तक फल की प्राप्ति नहीं होती तब तक रहता है। क्रोधी व्यक्ति क्रोध की कुटिलता के कारण कामवश शरीर छोड़ देता है। 'क्रोध' रौद्र में अधिक होता है, 'कोप' धीर में होता है। स्त्री और पुरुष के पारस्परिक 'रोष' प्रणय आदि कहलाते हैं। 'क्रोध' क्रोधियों के फल-प्राप्ति-पर्यन्त सब जगह रहता है। फलोदय तथा अनुनय से 'क्रोध' शीघ्र शान्त हो जाता है और उस-उस उद्दीपन के द्वारा उद्दीप्त होने पर बार-बार बढ़ता है। अनुनय-विनय से 'रोष' प्रायः सब जगह शान्त हो जाता है।

८९ गुणों का बखान करते-करते रोना—'विलाप' कहलाता है। गद्-गद होकर जो रोया जाता है वह 'परिदेवित' होता है। शोक के उत्कर्ष में जोर-जोर से

निकृष्टे च विलापः स्यान्मध्यमे परिदेवितम् ।
रुदितं त्रिविधं विद्यादीर्ष्यानन्दार्तिभेदतः ॥

९० स्फुरदोष्ठा सनिश्वासा सशिरःकम्पवेपथुः ।
भृकुटीकुटिलालोका भवेदीर्ष्योत्थरोदने ॥

९१ फुल्लत्कपोला शिशिरबाष्परोमाञ्चनिर्भरा ।
सगद्गदस्वना येन तत्स्यादानन्दरोदनम् ॥

९२ प्रलापो भूमिपतनं बाष्पधाराविवेष्टनम् ।
हाहेति भाषणं मन्दमार्तिजे रुदिते भवेत् ॥

९३ प्रायेण रुदितं स्त्रीणां नीचादौ क्वापि वा भवेत् ।
रसालम्बनभूतानां पदार्थानां ततस्ततः ॥
साधारणाः स्युर्ये भावास्ते कथ्यन्ते यथार्थतः ।

९४ आवेध्यारोप्यनिक्षेप्यबन्धनीयैरभूषितम् ॥
यद्भूषितमिवाभाति तद्रूपमिति कथ्यते ।

९५ यद्भूषणं रत्नमयं केवलं हैममेव वा ॥
कर्णस्य कर्णपाशस्य तदावेध्यमुदाहृतम् ।

---

रोना ही 'आक्रन्द' कहा जाता है। निकृष्ट पात्र मे 'विलाप' तथा मध्यम पात्र में 'परिदेवित' होता है। 'रुदन' तीन प्रकार का होता है—ईर्ष्याभाव से उत्पन्न, आनन्द से उत्पन्न तथा आर्तभाव से उत्पन्न।

९० ईर्ष्या से उत्पन्न रुदन में ओष्ठ फड़कने लगते है, उच्छ्वास निकलने लगते है, शिर-कम्पन के साथ कम्पन होने लगता है तथा भौहों तथा दृष्टि में वक्रता आ जाती है।

९१ आनन्द मे उत्पन्न रुदन वह होता है जिससे कपोल प्रदेश उत्फुल्ल हो जाते है, ठण्डे आँसू निकलते हैं, रोमाच होता है तथा गद्-गद स्वर निकलता है।

९२ आर्तभाव अर्थात् दुःख से उत्पन्न रुदन में पात्र प्रलाप करता है, भूमि पर गिरता है, आँसूओ की धारा निकलने लगती है तथा हा ! हा ! कहकर धीरे-धीरे पुकारता है।

९३ रुदन प्रायः स्त्रियों मे तथा नीच-पात्रों मे होता है। तदनन्तर रस के आलम्बन-भूत पदार्थो के जो साधारण-भाव है, उनको यथार्थतः कहते है।

९४ आवेध्य, आरोप्य तथा बन्धनीय (आभूषणों) से अभूषित भी भूषित जैसा प्रतीति होता है, वह 'रूप'[२६] कहा जाता है।

९५ कान तथा कर्णपाश का जो आभूषण या तो रत्नजटित हो या केवल स्वर्ण का ही हो 'आवेध्य' कहा जाता है।

९६ इन्द्रच्छन्दादयो हारा हेमसूत्रादयोऽपिच ।।
एते भूषणमारोप्यमिति विद्वद्भिरीरितम् ।
९७ मुक्तामयाः स्वर्णमयाः श्रोणीसूत्राङ्गदादयः ।।
ग्रैवेयकाश्च कविभिर्बन्धनीयमुदाहृतम् ।
९८ निक्षेप्यं नूपुरं हस्ताभरणादि निगद्यते ।।
९९ प्लवमानमिवाभाति यदङ्गं कान्तिवारिणि ।
लावण्यमिति तत्प्राहुः पुलकं प्रतिमादिषु ।।
यद्रूपं स्वगुणोत्कर्षैः पदार्थमभितः स्थितम् ।
स्वात्मवत्कुरुते यत्तदाभिरूप्यमुदाहृतम् ।।
अन्यूनानतिरिक्तं यदङ्गप्रत्यङ्गसौष्ठवम् ।
सुश्लिष्टसन्धिबन्धं यत् तत्सौन्दर्यमिति स्मृतम् ।।
१०० अङ्गं शिरः कटी वक्षः कुक्षिःपादावितीरितम् ।
जङ्घोरुबाहुग्रीवादिः प्रत्यङ्गमिति कथ्यते ।।
उपाङ्गं नासिकानेत्रभ्रूकपोलाधरादिकम् ।
१०१ सौकुमार्यं त्रिधा भिन्नं ज्येष्ठमध्याधमक्रमात् ।।
प्रसूनपल्लवस्पर्शासहं यत्स्यात्तदुत्तमम् ।

---

९६ इन्द्रच्छद आदि तथा हेम सूत्र आदि हार—ये आभूषण विद्वानो द्वारा 'आरोप्य' कहे जाते है।

९७ मोतियों से बने तथा स्वर्ण से बने श्रोणीसूत्र (करधनी), अगद (बाजूबन्द) आदि तथा ग्रैवेयक (गर्दन का आभूषण)—ये कविजनो द्वारा 'बन्धनीय' कहे जाते है।

९८ नूपुर, हस्त के आभरण आदि 'निक्षेप्य' कहलाते हैं।[27]

९९ प्रतिमा आदि मे पुलकित जो अग कान्ति-रूपी जल मे तैरता हुआ-सा दिखायी देता है वह 'लावण्य' कहा जाता है। जो रूप अपने गुणों के उत्कर्ष से पदार्थ के चारों ओर स्थित हो पदार्थ को आत्मवत् बना लेता है वह 'आभिरूप्य' कहलाता है। अन्यूनातिरिक्त[28] अर्थात् न तो बहुत अधिक और न बहुत कम जो अंग-प्रत्यग का सौष्ठव सुश्लिष्ठ-जोडों वाला होता है वह 'सौन्दर्य'[29] कहा जाता है।

१०० (i) शिर, कटि-भाग, वक्षस्थल, कुक्षि (कांख) तथा पैर 'अंग'[30] कहे जाते है।
(ii) जघा, ऊरु, बाहु तथा ग्रीवादि 'प्रत्यग'[31] कहलाते हैं।
(iii) नासिका, नेत्र, भ्रुकुटी, कपोल, अधर आदि 'उपांग'[32] कहे जाते है।

१०१ 'सौकुमार्य'[33] ज्येष्ठ, मध्यम तथा अधम क्रम मे तीन प्रकार का होता है:
(i) पुष्प, पत्र के स्पर्श को जो सहन न कर सके वह 'उत्तम' होता है।
(ii) हस्त-स्पर्श आदि को जो सहन न कर सके वह 'मध्यम-सौकुमार्य' है।

पाणिस्पर्शाद्यसहनं सौकुमार्यं तु मध्यमम् ॥
शीतातपाद्यसहनं सौकुमार्याधमं भवेत् ।
१०२ सुखस्पर्शत्वमेवाहुः मृदुत्वमिति तद्विदः ॥
अन्ये तु स्पृष्टमपि यदस्पृष्टमिव भाव्यते ।
तदेव मार्दवमिति कथयन्ति मनीषिणः ॥
१०३ त्रिधा प्रसादो वदने दृशोश्चित्ते च कथ्यते ।
लावण्यरसनिष्यन्दि स्मयमानमिवासकृत् ॥
पुलकोल्लासिगण्डं यत्प्रसन्नं वदनं भवेत् ।
सभ्रूविलासललितं सकटाक्षनिरीक्षणम् ॥
स्मेरतारं स्वतःस्निग्धं प्रसन्नं नयनं भवेत् ।
कृतज्ञतोपकर्तृत्वं भूयो दोषानभिज्ञता ॥
एतत्प्रसन्नचित्तानां लक्षणं समुदाहृतम् ।
१०४ श्यामो रक्तः प्रसन्नश्च मुखरागोऽपि च त्रिधा ॥
शुष्यत्कान्ति परिम्लानमसृणाधरपल्लवम् ।
मन्दनिश्वासमामीलद्रूक्षतारावलोकितम् ॥
येन स्याद्वदनं श्यामो मुखरागोऽयमीरितः ।
प्रस्फुरत्स्वेदकणिकं रोषारुणविलोचनम् ॥

---

(iii) शीत, आतप (धूप) आदि को जो सहन न कर सके वह 'अधम-सौकुमार्य' कहा जाता है ।

१०२ सुखपूर्वक स्पर्श ही 'मुदुत्व' कहा जाता है । लेकिन कोई कहते है कि जो स्पर्श अस्पर्श जैसा जाना जाता है उसको ही विद्वान 'मार्दव'[३४] कहते है ।

१०३ 'प्रसाद' वदन, दृष्टि तथा चित्त भेद से तीन प्रकार का होता है :

(i) लावण्य-रूपी रस को बहाने वाला, मुस्कराता हुआ-सा पुलकित तथा उल्लसित (खिलता हुआ) कपोल-प्रदेश 'प्रसन्न-वदन' कहलाता है ।

(ii) भ्रकुटी सहित नेत्रो का सुन्दर विलास, कटाक्ष सहित निरीक्षण, स्वतः प्रेम से विकसित होने वाले नेत्र 'प्रसन्न-नयन' कहलाते है ।

(iii) कृतज्ञता, उपकार तथा पुन-पुनः दोषो की अनभिज्ञता—ये सब 'प्रसन्न-चित्त' के लक्षण होते है ।

१०४ 'मुखराग'[३५] तीन प्रकार का होता है—श्याम, रक्त तथा प्रसन्न ।

(i) जिससे मुख ऐसा हो जाता है कि कान्ति सूख जाती है, कोमल-अधर-पल्लव मलिन हो जाते है, मन्द श्वांस रहती है, तथा नेत्र वन्द से तथा रूखे से रहते है उसे 'श्याम-मुख-राग' कहा जाता है ।

रज्यत्कपोलयुगलं स्फूर्जन्निश्वसितोष्मलम् ।
मुखं यत्तत्र रक्ताख्यो मुखरागः प्रकीर्तितः ।।
आविस्स्मितं स्फुरत्कान्ति भाषमाणमिवासकृत् ।
प्ररूढरागं नयनं स्निग्धतारावलोकितम् ।।
यत्र तत्र प्रसन्नाख्यो मुखराग उदाहृतः ।
१०५ भयानके सबीभत्से करुणे श्याम इष्यते ।।
रक्तो रौद्रे क्वचिद्वीरे विवादे कैश्चिदिष्यते ।
भवेत्प्रसन्नः शृङ्गारे स्वतः सम्भोगनामनि ।।
अद्भुते दानवीरे च प्रणयानुनयान्तरे ।
१०६ द्रव्यैः स्वस्योपभोगार्हैः सत्क्रिया मानना मता ।।
सानुरागं सहर्षं च सस्मितं चैव सादरम् ।
उच्यते वचनं यत्तद्भाषामाधुर्यमुच्यते ।।
देयस्य चापरिच्छित्तिर्दत्तस्यैवानभिज्ञता ।
ददतो हर्षवृद्धिर्यत्स त्याग इति कीर्तितः ।।
क्षिणोति दुःखं येनैव स क्षणः परिकीर्त्तितः ।
उद्धुनोतीति यद्दुःखमुद्धवः परिकीर्तितः ।।

---

(ii) जहाँ मुख पर पसीने की बूँदें चमकती है, रोष से नेत्र लाल रहते है, दोनो कपोल लाल रहते है, गर्म श्वास निकलती है उसे 'रक्त-मुख-राग' कहते है ।

(iii) जहाँ मुस्कराती हुई तथा बोलती हुई-सी कान्ति छिटकती है तथा राग से भरे हुए, स्निग्ध दृष्टि वाले नेत्र रहते है वह 'प्रसन्न-मुख-राग' कहलाता है ।

१०५ 'श्याम-मुख-राग' भयानक, बीभत्स तथा करुण रस में होता है। 'रक्त-मुख-राग' रौद्र तथा वीर रस मे होता है तथा विवाद मे भी रहता है । 'प्रसन्न-मुख-राग' सम्भोग-शृंगार, अद्भुत तथा दानवीर रस में होता है तथा प्रणय की सान्त्वना मे भी रहता है।[३९]

१०६ अपने उपभोग के योग्य द्रव्यों से की गयी सत्क्रिया (पूजा) 'मानना' कहलाती है। जब अनुराग के साथ, हर्ष के साथ, मुस्कराहट के साथ तथा आदर के साथ वचन कहे जाते हैं तो वह 'भाषा-माधुर्य' कहलाता है। जो देना है उसकी अपरिमितता और जो दे दिया है उसकी अनभिज्ञता रहती है तथा जो दे रहे हैं उसमें हर्ष-वृद्धि होती है तो वह 'त्याग' कहा जाता है। जिससे दुःख क्षीण होता है वह 'क्षण' कहलाता है। जिससे दुःख दूर होता है उसे 'उद्धव'

**उत्सूते हर्षमित्येष उत्सवः परिकीर्तितः ।**
**दभ्नोति खेदयत्यन्यान् स दम्भः परिपठ्यते ।।**
**सुखप्रयोगचातुर्यं कृत्येष्वाहुस्तु कौशलम् ।**
**द्रव्यक्रियागुणादीनां हानोपादानकर्मसु ।।**
**सूक्ष्मार्थावाप्तिनिरतो धीव्यापारस्तु नैपुणम् ।**
**अर्थः प्रयोजनं यस्य व्यापारोऽर्थाविनाकृतः ।।**
**स समर्थोऽस्य ताच्छील्यात्सामर्थ्य तस्य कथ्यते ।**
**विलोभनमसद्रूपे सद्रूपोत्कर्षणं विदुः ।।**
**उल्काऽशनिनृपव्याघ्रादिभिर्यश्चित्तविप्लवः ।**
**आतङ्कः स भवेत्सोऽपि प्रायः करुणतामियात् ।**
**एकस्यैव पदार्थस्य नानारूपप्रकल्पनम् ।**
**वाङ्मनःकर्मभिर्यत्तच्छिल्पमित्यभिधीयते ।।**
**लौकिके वैदिके चार्थे तथा सामयिकेऽपि च ।**
**सम्यक्परिचयप्रौढिर्वैदग्ध्यमिति गीयते ।।**
**दुस्तरस्य स्वभावेन येन केनापि कर्मणा ।**
**मिथ्यातरणयोग्यार्थकथनं स्यात्प्रतारणम् ।।**

---

कहते हैं। जिससे हर्ष उत्पन्न होता है वह 'उत्सव' कहलाता है। जो दूसरों को धोखा देता है या चोट पहुँचाता है, दु खी करता है वह 'दम्भ' कहा जाता है। कार्यो में सुखपूर्वक प्रयोग किया गया चातुर्य ही 'कौशल' कहलाता है। द्रव्य, गुण तथा क्रियाओ के हानोपादान कर्मो में सूक्ष्म अर्थ की प्राप्ति के लिए बुद्धि का व्यापार 'नैपुण' कहलाता है। अर्थ प्रयोजन को कहते है, बिना प्रयोजन के न किया हुआ व्यापार (अर्थात् प्रयोजन से किया हुआ व्यापार) समर्थ होता है, और उसके स्वभाव से उसे 'सामर्थ्य' कहते हैं। असद् रूप में सद् रूप का उत्कषर्ण 'विलोभन' कहा जाता है। तारों के टूटने तथा नृप, व्याघ्र आदि से जब चित्त विप्लावित होता है तो वह 'आतंक' कहा जाता है, वह भी प्रायः करुणा को प्राप्त होता है। एक ही पदार्थ के वाणी, मन तथा कर्म से जो नाना रूप कल्पित कर लिये जाते है, वह 'शिल्प' कहा जाता है। लौकिक, वैदिक तथा सामायिक अर्थ के प्रति सम्यक् परिचय की, जो प्रौढ़ता है, वह 'वैदग्ध्य' कहलाती है। स्वभाव से जिस किसी प्रकार के कर्म से दुष्ट का झूठी बातों के द्वारा योग्य (उचित) अर्थ (विषय) का कथन 'प्रतारण' कहा जाता है।

१०७ एवं प्रकाराः कविभिरूह्या भावा यथारसम् ॥

इति श्रीशारदातनयविरचिते भावप्रकाशने रसभेदतत्प्रकार-
स्वरूपनिर्णयो नाम तृतीयोऽधिकारः ।

---

१०७ इस प्रकार कविजनों ने यथारस भाव कहे हैं ।

श्री शारदातनय-विरचित भावप्रकाशन में रसभेदतत्प्रकारस्वरूपनिर्णय नामक
तृतीय अधिकार समाप्त हुआ ।

श्रीः

# अथ चतुर्थोऽधिकारः

---

१ रसालम्बनभावानामुक्ताः साधारणा गुणाः ।
सुखेप्सवस्ते सर्वेऽपि भोगस्तत्सुखसाधनम् ।।
भोगः स एष शृङ्गारविशेष इति गीयते ।
२ भोगोपभोगसम्भोगशब्दाः पर्यायवाचकाः ।।
सम्भोगे चापि सर्वत्र जन्तूनां मामसी रतिः ।
वर्तते मुख्यया वृत्त्या यूनोरेव सरागयोः ।।
तथाप्यर्थविशेषोऽयमेतेषां कथ्यते पृथक् ।
३ भोग्यद्रव्योपभोगो यः स भोग इति गण्यते ।।
उपभोगः स एव स्यात् देशकालसमेधितः ।
कामोपचारः सम्भोगः कामः स्त्रीपुंसयोः सुखम् ।।
सुखमानन्दसम्भेदः परपस्परविमर्दजः ।
उपचारस्तदानन्दकारकं कर्म कथ्यते ।।
सुखाश्रयाः स्युः प्रमदास्तासामामोदकारकः ।

---

१ रस के आलम्बन-भावों के साधारण गुण कह दिये । वे सभी सुख को चाहने वाले व्यक्ति भोग को सुख का साधन मानते है । वह 'भोग' ही शृंगार-विशेष कहा जाता है ।

२ भोग, उपभोग, सम्भोग—ये शब्द पर्यायवाची है । सम्भोग में सर्वत्र प्राणियों की रति रहती है । सम्भोग मुख्य-वृत्ति से (अभिधा से) युवक-युवती के राग में रहता है फिर भी इसके विशेष अर्थ को अलग से कहते हैं ।

३ भोग्य द्रव्य (वस्तु) का जो उपभोग है, उसे 'भोग' कहते हैं। देश तथा काल के अनुसार बढ़ा हुआ, वही (भोग) 'उपभोग' कहलाता है। कामोपचार 'सम्भोग' है और 'काम' स्त्री-पुरुष का सुख है। 'सुख'आनन्द से मिश्रित है और यह स्त्री-पुरुष के परस्पर मर्दन से उत्पन्न होता है । आनन्द प्रदान करने वाला कर्म 'उप-चार' कहलाता है । सुखाश्रित प्रमदाएँ है, उनको आनन्द प्रदान करने वाला एक-

यतः शृङ्गार एवैकस्तस्मादेष सुविस्तरम् ॥
कथ्यते शास्त्रदृष्टेन वर्त्मना चानुभूतितः ।
४ स्थायी रत्याह्वयो भावः स्वविभावादिवर्धितः ॥
शृङ्गाररसनामा स्यात्तत्तदालम्बनाश्रयी ।
नायकप्रमदाभेदाः सम्भोगस्य भिदा अपि ॥
वक्ष्यन्ते तत्स्वरूपञ्च तच्चेष्टा अपि तत्त्वतः ।
रतेः स्वरूपमाचार्यैरुक्तमत्राभिधीयते ॥
५ परस्परस्वसंवेद्यसुखसंवेदनात्मिका ।
याऽनुभूतिर्मिथः सैव रतिर्यूनोः सरागयोः ॥
६ सम्पन्नैश्वर्यसुखयोरशेषगुणयुक्तयोः ।
नवयौवनयोः श्लाघ्यप्रकृत्योः श्रेष्ठरूपयोः ॥
नारीपुरुषयोस्तुल्या परस्परविभाविका ।
स्पृहाह्वया चित्तवृत्ती रतिरित्यभिधीयते ॥
७ रतिरिच्छा भवेद्यूनोरुभयप्रार्थनात्मिका ।
यूनोः परस्पराह्लादरहोविस्रम्भकारिता ॥
सुखात्मिका मनोवृत्ती रतिरित्यभिधीयते ।
आलापलीलोपचारचेष्टादृष्टिविलोकनैः ॥
अन्योन्यभोग्यधीरेव रहः स्त्रीपुंसयो रतिः ।

---

मात्र तत्त्व 'शृगार' ही है, अतः इस 'श्रृंगार' को शास्त्र के अनुसार तथा अनुभूति से विस्तारपूर्वक कहते हैं ।

४ 'रति' नामक स्थायी-भाव अपने विभावादि से बढ़ा हुआ 'श्रृंगार-रस' के नाम से जाना जाता है । उस-उस आलम्बन के आश्रित (रति), नायक तथा प्रमदा (नायिका) के भेद, सम्भोग के भेद, उनका स्वरूप तथा उनकी चेष्टाएं तत्त्वतः कहेंगे । अब आचार्यों द्वारा कथित 'रति' के स्वरूप को कहते हैं ।

५ युवक तथा युवती के बीच हुए राग में परस्पर स्वसंवेद्य तथा सुख-सवेदनात्मिका जो पारस्परिक अनुभूति है वह 'रति' कहलाती है ।[1]

६ ऐश्वर्य तथा सुख से सम्पन्न, सम्पूर्ण गुणो से युक्त, नव यौवन से पूर्ण, प्रशंसनीय प्रकृति वाले, श्रेष्ठ रूपवान नारी-पुरुष के बीच होने वाली समान परस्पर विभाविका स्पृहा[2] नामक चित्तवृत्ति 'रति' कहलाती है ।

७ युवक-युवती दोनो की परस्पर प्रार्थना-स्वरूप इच्छा 'रति' होती है ।[3] युवक-युवती की परस्पर प्रसन्नता की एकान्त में विश्वास प्रदान करने वाली तथा सुख-स्वरूप मनोवृत्ति 'रति' कहलाती है ।[4] एकान्त में स्त्री-पुरुष के बीच आलाप, लीलोपचार, चेष्टा, दृष्टि तथा दर्शन आदि से उत्पन्न होने वाली परस्पर भोग्य की इच्छा 'रति' कहलाती है ।

८ इयमङ्कुरिता प्रेम्णा मानात्पल्लविता पुनः ॥
सकोरका प्रणयतः स्नेहात्कुसुमिता भवेत् ।
रागात् फलवती चेयमनुरागेण भुज्यते ॥

९ इ—शब्दवाच्यो मदनो माति यत्र प्रकर्षतः ।
तत्प्रेम तदधिष्टानं रतिर्यूनोः परस्परम् ॥
परस्पराश्रयघनं निरूढं भावबन्धनम् ।
यदेकापायतोऽपायि तत्प्रेमेति निगद्यते ॥

१० इदं तदिति सङ्कल्पो ययोर्न क्वापि दृश्यते ।
तद्भावबन्धनमिति कथयन्ति मनीषिणः ॥
एतत्प्रेम रतिं पुष्येत्तैर्विभावादिभिः पुनः ।

११ यदक्लिष्टं विगाहेत कौटिल्यं प्रीतिकारकम् ॥
तदेव प्रेमकौटिल्यं यत्स्वातन्त्र्यं मिथः प्रियम् ।

१२ स्वातन्त्र्यं तद्यदन्यस्य मनोरथनिरोधनम् ॥
स एव मान इत्युक्तो मनोरथनिरोधनम् ।
मा नेति वीप्सया रोधो मान इत्युच्यते बुधैः ॥

---

८ यह रति 'प्रेम' से अंकुरित होती है, 'मान' से पल्लवित होती है, 'प्रणय' से मंजरी से युक्त होती है, 'स्नेह' से पुष्पित होती है, 'राग' से फलवती (फल वाली) होती है तथा 'अनुराग' से भोग के योग्य बनायी जाती है ।

९ (१) प्रेम=प्र+इ+मा (धातु) अर्थात् प्र=प्रकर्ष, इ=मदन, मा=माति (फैलता) है । इस प्रकार—जहाँ कामदेव प्रकृष्टता से समा जाता है वह 'प्रेम' है । युवक-युवती के बीच होने वाली परस्पर रति उस (प्रेम) का आधार है । परस्पर आश्रित सघन, निरूढ़ 'भाव-बन्धन'—जो किसी एक के द्वारा अलग नहीं किया जाता है, तो 'प्रेम' कहलाता है ।

१० (२) 'यह', 'वह' है—इस प्रकार का विचार जिसके बीच नही देखा जाता, उसे विद्वान 'भाव-बन्धन' कहते है । यह 'प्रेम' उन विभावादि के द्वारा रति को पुनः पुष्ट करता है ।

११ (३) जो अक्लिष्ट हो तथा कुटिल प्रीति (प्रेम) करने वाला होता हो, वही 'प्रेम-कौटिल्य' कहलाता है । जहाँ स्वतन्त्रता परस्पर प्रिय होती है, वह स्वतन्त्रता है ।

१२ (४) जहाँ अन्य के मनोरथ को रोक दिया जाता है, वह 'मान' है वही मनोरथ-निरोधन मान है । मान=मा+न अर्थात् मा=नही, न=नहीं, अतः 'नही-नहीं' इस प्रकार से निषेध करना ही विद्वानों द्वारा 'मान' कहलाता है ।

**ईर्ष्याप्रणयरोधेन मानः स्त्रीपुंसयोर्द्विधा ।**
**सपत्नीदर्शनस्पर्शश्रवणासहता स्थिरा ॥**
**ईर्ष्या स्त्रीणां तया रोध ईर्ष्यामान उदाहृतः ।**
१३ **मान्यते प्रेयसा येन यत्प्रियत्वेन मन्यते ॥**
**मनुते यो मिमीते यस्स हि मानः प्रकीर्तितः ।**
१४ **उपचारैर्मिथो यूनोर्यद्बाह्याभ्यन्तराभिधैः ॥**
**मानप्रकर्षप्रभवरोषास्वादकषायितम् ।**

---

स्त्री-पुरुष के बीच 'मान' ईर्ष्या तथा प्रणय भेद से दो प्रकार का होता है । सपत्नी के दर्शन, स्पर्श तथा श्रवण को सहन न करने से स्त्रियों में ईर्ष्या स्थिर हो जाती है, उस ईर्ष्या से नायक के मनोरथ को रोकना ही 'ईर्ष्यामान' कहलाता है ।

१३ जिस प्रिय के द्वारा पूजा की जाती है, जिसे प्रिय-रूप से सोचता है, जो जानता है या जो तोलता है । वह 'मान' कहलाता है ।[६]

(१) 'मान पूजायाम्', अर्थात् 'मान्यते पूज्यते अनेन इति'——जिसके द्वारा पूजा की जाती है । इस अर्थ में 'मान' का अर्थ होता है कि मान के समय प्रेयसी कुटिल हो जाती है और प्रिय उसको मनाता है और पूजा करता है । अतः मान का अर्थ होगा—पूजा, सम्मान, सत्कार या प्रसादन ।

(२) 'मन् ज्ञाने' अर्थात् 'मन्यते इति'—जो सोचता है । इस अर्थ में 'मान' का अर्थ होता है कि प्रिया के मान के कारण प्रिय को वियोग होता है लेकिन उस वियोगज दुःख में भी प्रिय सुख ही सोचता है । अतः मान का अर्थ होगा—सोचना ।

(३) 'मनु बोधने' अर्थात् 'मनुते इति'—जो जानता है । इस अर्थ में 'मान' का अर्थ होता है कि प्रिय के द्वारा बुरा आचरण किये जाने पर, प्रेयसी केवल नाराज है जबकि वह उसको प्रेम करती है और किसी अन्य के प्रति प्रिय के द्वारा प्रेम किये जाने को भी सहन नही करती है । इस प्रकार यहाँ प्रेयसी का नाराज होना उस प्रिय के प्रति प्रेयसी के अतिगाढ़ प्रेम का ही ज्ञान करता है । अतः 'मान' का अर्थ होगा—ज्ञान ।

(४) 'मा माने' अर्थात् 'मिमीते इति'—जो तोलता है । इस अर्थ में 'मान' का अर्थ होता है कि प्रेयसी के द्वारा 'मान' किये जाने पर प्रिय यह देखता है कि प्रेयसी का मेरे प्रति कितना प्रेम है और प्रेयसी यह देखती है कि प्रिय को मेरे प्रति कितना प्रेम है । अर्थात् 'मान' से ही प्रिय-प्रेयसी के प्रेम की तोल होती है । अतः 'मान' का अर्थ होगा—तोलना ।[७]

१४ युवक-युवती के बीच परस्पर बाह्य तथा आभ्यन्तर शब्दोपचारों से, मान की प्रकृष्टता से उत्पन्न रोष के कारण आस्वाद कसैला हो जाता है । नव प्रेम प्रकृष्टता को प्राप्त होता है, वही प्रेम 'प्रणय' कहा जाता है । जिस प्रिय से अपने

प्रेम नीतं प्रकर्षं चेत्स एव प्रणयः स्मृतः ॥
येनेर्ष्यासु प्रसादः स्यात्स्वाभीष्टार्थानुकूलतः ।
प्रियेण स विधीयेत समानप्रणयात्मके ॥
अयं प्रणयमानस्तु वर्णनीयो द्वयोरपि ।
१५ ईर्ष्यामानस्तु कविभिर्योषितामेव वर्ण्यते ॥
स पुंसां यदि वर्ण्येत वैरस्यायैव कल्पते ।
स्वतोऽपि कुटिलं प्रेम किमु मानान्वये सति ॥
१६ मनसो यद्द्रवार्द्रत्वं विषयेषु ममत्वता ।
भयशङ्कावसानात्मा स एव स्नेह उच्यते ॥
द्विधा द्रवः स्यान्मनसो दर्शनात्स्पर्शनादपि ।
१७ जतुवद्वह्निसंस्पर्शाद्दर्शनाच्चन्द्रकान्तवत् ॥
आर्द्रता शिशिरत्वं यत्सर्वावस्थासु मानसम् ।
१८ द्विधा भवेत्स च स्नेहः कृत्रिमाकृत्रिमात्मकः ।
सोपाधिः कृत्रिमः स्नेहो निरुपाधिरकृत्रिमः ।
उपाधौ विनिवृत्तें तु तज्जन्यो विनिवर्तते ॥
स्नेहः स्वभावजो यावद्द्रव्यभावी भविष्यति ।

---

अभीष्ट-अर्थ की अनुकूलता से ईर्ष्याओं में प्रसन्नता होती है वह मान सहित प्रणय-रूप होता है। यह 'प्रणय-मान' स्त्री-पुरुष दोनों मे वर्णित होता है।

१५ 'ईर्ष्यामान' को कविजन स्त्रियों में ही वर्णन करते है। यदि उसको पुरुषों में कह दिया जाय तो वैर की ही कल्पना होती है। अर्थात् पुरुषों में 'ईर्ष्यामान' वैर रूप में परिणत होता है। प्रेम स्वतः भी कुटिल है फिर मान के साथ रहने पर तो क्या कहना।[८]

१६ (५) विषयों के प्रति मान की जो द्रव के समान आर्द्रता तथा; भय तथा शंका से रहित ममता है वह 'स्नेह' कहा जाता है। दर्शन तथा स्पर्शन के भेद से मन का द्रव दो प्रकार का होता है : (१) जतुवह्निवत्, (२) चन्द्रा-कान्तवत्।

१७ जैसे जतु (लाख) अग्नि के स्पर्श से पिघल जाती है और चन्द्रोकान्तमणि चन्द्रमा की किरणों के दर्शन से पिघल जाती है उसी प्रकार सभी अवस्थाओं में मन की आर्द्रता तथा शिशिरता होती है।

१८ वह 'स्नेह दो प्रकार का होता है : (१) कृत्रिम, तथा (२) अकृत्रिम। सोपाधिक स्नेह 'कृत्रिम' होता है तथा निरुपाधिक स्नेह 'अकृत्रिम' होता है। उपाधि के नष्ट होने पर उससे उत्पन्न (स्नेह) भी नष्ट हो जाता है। स्वभावज 'स्नेह'

शङ्का स्यात्कृतके तत्तद्विक्रियान्वेषणात्मिका ॥
स्वाभाविके भयं तत्तद्विषयादेः प्रमादतः ।

१९ एकाश्रयः स च क्वापि क्वापि स्यादुभयाश्रयः ॥
एकाश्रयस्तिर्यगादौ मर्त्यादावुभयाश्रयः ।
आश्रयाद्वासनातश्च जायन्ते तत्र तत्र तु ॥
एकाश्रयो वासनातो द्व्याश्रयो हेतुभिर्भवेत् ।

२० स तु स्नेहस्त्रिधा प्रौढमध्यमन्दविभागतः ॥

२१ विदेशस्थे मृते वापि दुर्बले प्रतियोगिनि ।
धर्मिणः क्लेशकारी यः स प्रौढः स्नेह उच्यते ॥

२२ तत्तद्वियोगजं दुःखं तादृशं प्रतियोगिना ।
अनुभूयातिवृत्तश्चेत्स्नेहो मध्यः प्रकीर्तितः ॥

२३ तदात्वव्यसनापत्तिमात्रको मन्द उच्यते ।

२४ स्थिरश्च गत्वरश्चेति नश्वरश्चेति स त्रिधा ॥
उत्तमे मध्यमे नीचे तत्तत्कार्यवशाद्भवेत् ।

२५ उत्तमे वृद्धिमभ्येति नोपकारानपेक्षते ॥
उपकारं न जानाति स स्नेहः स्थिर उच्यते ।

---

द्रव्य-भावी (बहुमूल्य) होगा । 'कृत्रिम-स्नेह' मे उस-उस विक्रिया (कोप) की अन्वेषणरूप शंका होती है । 'स्वाभाविक-स्नेह' मे उस-उस विषय आदि के प्रमाद से भय रहता है ।

१९ वह स्नेह कहीं 'एकाश्रय कही उभयाश्रय' होता है । एकाश्रय तिर्यक् आदि में होता है और उभयाश्रय मनुष्य आदि मे होता है । आश्रय से तथा वासना से वे वहाँ-वहाँ उत्पन्न होते है । 'एकाश्रय' वासना से तथा 'उभायाश्रय' अनेक हेतुओं से उत्पन्न होता है ।

२० वह 'स्नेह' प्रौढ, मध्य तथा मन्द भेद से तीन प्रकार का होता है ।

२१ (१) विदेशी, दुर्बल या शत्रु के मर जाने पर धर्मी (धार्मिक) का क्लेशकारी स्नेह 'प्रौढ-स्नेह' कहलाता है।

२२ (२) उस-उस के वियोग से उत्पन्न वैसा दुःख, शत्रु के द्वारा अनुभूय दुराचार 'मध्य-स्नेह' कहा जाता है ।

२३ (३) उस-उस व्यसन तथा आपत्ति मात्र वाला 'मन्द-स्नेह' कहलाता है ।

२४ पुनः स्नेह के तीन भेद होते हैं : (१) स्थिर, (२) गत्वर, (३) नश्वर । ये तीनों प्रकार के स्नेह क्रमशः तद्-तद् कार्यवश उत्तम, मध्य तथा नीच में होते है ।

२५ (१) उत्तम पात्र में जो वृद्धि को प्राप्त होता है, जो उपकारों की अपेक्षा नहीं करता, तथा जो किसी के प्रति किये गये उपकार को नहीं जानना है वह स्नेह 'स्थिर' कहलाता है ।

२६ बहूपकारप्रभव उपकारानपेक्षते ॥
मध्यमे वर्धितः किञ्चित्स स्नेहो गत्वरो भवेत् ।
२७ दोषश्रवणमात्रेण सौमनस्यं विहाय यः ॥
प्रातिकूल्ये प्रवर्तेत स स्नेहो नश्वरो भवेत् ।
२८ नीचादावस्थिरः प्रायः स्नेहो ज्यायसि तु स्थिरः ॥
एवं पुत्रकलत्रादौ पित्रादावपि दृश्यताम् ।
२९ स एव चेद्‌गुणद्रव्यदेशकालादिभिर्हृदि ॥
रज्यते दीप्यते चित्ते स राग इति कथ्यते ।
३० सुखदुःखात्मकं भोग्यं सुखत्वेनाभिमन्यते ॥
येन रागः स इत्युक्तो रञ्जनाद्विषयात्मनोः ।
नीलीकुसुम्भमञ्जिष्ठारागौपम्येन स त्रिधा ॥
३१ क्षालितो यस्तु नापैति यश्च नातीव शोभते ।
नीलीरागः स एवेति कथितो रागवेदिभिः ॥
३२ योऽपैति क्षालितः क्षिप्रमध्यक्षं योऽपि शोभते ।
कुसुम्भराग एवैष इति विद्वद्भिरीरितः ॥

---

२६ (२) जो किये गये बहुत उपकारों से उत्पन्न होता है, जो उपकारों की अपेक्षा करता है, मध्यम-पात्र मे जो कुछ वृद्धि को प्राप्त है वह स्नेह 'गत्वर' कहा जाता है ।

२७ (३) दोप के श्रवण-मात्र से सौमनस्य (प्रीति) को छोडकर जो प्रतिकूलता की ओर प्रवृत्त होता है वह स्नेह 'नश्वर' होता है ।

२८ स्नेह प्रायः नीचादि में अस्थिर तथा श्रेष्ठ लोगों में स्थिर होता है। इसी प्रकार पुत्र तथा स्त्री आदि में तथा पिता आदि में देखें ।

२९ वही (स्नेह) गुण, द्रव्य, देश तथा काल आदि से हृदय में रहता है जिससे चित्त रँग जाता है या चमक जाता है वह 'राग' कहलाता है । अर्थात् 'रञ्ज् रागे' तथा 'राजृ दीप्तौ' धातु से भाव तथा करण में घञ् प्रत्यय होकर = रञ्ज् + घञ् = राग तथा राजृ + घञ् = राग निष्पन्न होता है ।

३० सुख-दु.खात्मक भोग्य को सुख रूप ही माना जाता है । जिससे विषय और आत्मा रँग जाती है, वह 'राग' कहा जाता है । यह राग नीली, कुसुम्भ तथा मञ्जिष्ठा के औपम्य से तीन प्रकार का होता है ·

३१ (१) जो क्षालित राग हृदय से कभी दूर न हो तथा बाहरी चमक-दमक अधिक न दिखाये रागवेत्ताओं द्वारा 'नीलीराग' कहा जाता है ।

३२ (२) जो क्षालित राग हृदय से जाता रहता है तथा जो देखते ही शीघ्र सुशोभित होता है उसे विद्वान 'कुसुम्भ-राग' कहते है ।

३३ अतीव शोभते यस्तु नापैति क्षालितोऽपि सन् ।
स एव कविभिः सर्वैर्मञ्जिष्ठाराग उच्यते ।।

३४ ज्येष्ठो मञ्जिष्ठराग: स्यान्नीलीरागस्तु मध्यमः ।
कुसुम्भराग: कविभिरधमः परिकीर्तितः ।।

३५ रागोऽनुवृत्तोऽविच्छिन्नमनुराग उदाहृतः ।
अनुरूपोऽथवा राग इति वा निर्णयो भवेत् ।।
स तु प्रायः स्वसंवेद्यो यूनोरन्योन्यरक्तिमा ।
अन्यत्रैष प्रयुज्येत गौणवृत्तिव्यपाश्रयात् ।।

३६ एते प्रेमादयो भावाः शृङ्गारालम्बनाश्रयाः ।
भट्टाभिनवगुप्तार्यपादैरेव प्रकाशिताः ।।
अथाऽयं वर्त्मना तेषां शृङ्गारोऽपि प्रदर्श्यते ।

३७ रम्यदेशकलाकालवेषभोगादिसेवनैः ।
प्रमोदात्मा रतिः सैव यूनोरन्योन्यरक्तयोः ।।
प्रकृष्यमाणः शृङ्गारो मधुराङ्गविचेष्टितैः ।।

३८ वेलारामसरिच्छैलपुरराष्ट्राम्बुराशयः ।
कान्ताराश्रमहर्म्यादिर्देशाः कविभिरीरिताः ।।

---

३३ (३) जो राग क्षालित होते हुए भी हृदय से कभी जाता नही है तथा अत्यन्त सुशोभित होता है उसे कविजन 'मञ्जिष्ठा-राग' कहते हैं।[10]

३४ कविजन 'मञ्जिष्ठा राग' को ज्येष्ठ, नीली-राग को मध्यम तथा कुसुम्भ-राग को अधम कहते हैं।

३५ राग का अनुगत (अनुवृत्त), अविच्छिन्न (अभिन्न) 'अनुराग' कहलाता है। या राग के अनुरूप ही 'अनुराग' होता है।[11] वह अनुराग प्रायः स्वसंवेद्य तथा युवक-युवती के बीच अन्योन्य की अनुरक्ति से होता है। अन्यत्र यह गौणवृत्ति-सम्बन्ध से प्रयुक्त होता है।

३६ शृंगारालम्बन के आश्रित ये प्रेमादि भाव आदरणीय अभिनवगुप्ताचार्य के ही अनुसार कहे है। अब उन्हीं के अनुसार शृंगार रस को भी दिखाते हैं।

**(शृंगार-रस)**

३७ परस्पर अनुरक्त युवक-युवती के बीच रमणीक देश, कला, काल, तथा वेष-भोग आदि के सेवन से आनन्दस्वरूप 'रति' उत्पन्न होती है। वही (रति) नायक-नायिका के अंगों के मधुर-संचालन से एक-दूसरे के हृदय में परिपुष्ट (प्रकृष्ट) होकर 'शृंगार-रस' कहलाती है।[12]

**(शृंगारोचित देशादि)**

३८ (१) समुद्र-तट (वेला), बगीचा, नदी, पर्वत, पुर, राष्ट्र, समुद्र, कान्तार (जंगल), आश्रम तथा महल आदि कवियों द्वारा 'शृंगारोचित' देश कहे जाते हैं।

३९ कला सङ्गीतविद्यादिः परस्तात्सापि वक्ष्यते ।
४० कालोप्यृतुदिवारात्रिचन्द्रार्कास्तमयादयः ॥
४१ वेषोऽलङ्कारयुक्तिः स्याद्द्वयोर्जातिकुलाश्रया ।
४२ उद्यानयात्रामदिरावारिकेलिरतोत्सवाः ॥
विप्रलम्भो विवाहश्च चेष्टा बाह्याः प्रकीर्तिताः ।
४३ आभ्यन्तराश्च वक्ष्यन्ते रक्तारक्तासमुत्थिताः ॥
४४ सरितः पुलिनं वेला कान्तारारामभूधराः ।
लतागृहाणि चित्राणि शय्याः किसलयाचिताः ॥
दिवा विहारदेशाः स्युर्हर्म्यप्रासादभूमयः ।
४५ मण्टपो भवनं गर्भगृहं वासगृहाणि च ॥
सङ्गीतशाला वारान्तःपुरिका भवनानि च ।
निशाविहारदेशाः स्युः सम्भोगग्राममाश्रिताः ॥
४६ उद्यानयात्रा सलिलक्रीडा पुष्पापचायिका ।
द्यूतादयो दिवाचेष्टा निशासु मदिरादयः ॥
४७ चेष्टाः स्युर्नायकादीनामभिसाराः पृथक्पृथक् ।
यदा विशेष्यते देशः कालतत्तद्गुणादिभिः ॥

---

३९ (२) संगीत-विद्या आदि 'कला' है जिसे आगे कहेंगे ।

४० (३) ऋतु, दिन, रात्रि तथा चन्द्र व सूर्य का अस्तोदय आदि 'काल' है ।

४१ (४) जाति तथा कुल दोनों के आश्रित अलंकारों का प्रयोग 'वेष' होता है ।

४२ उद्यान-यात्रा, मदिरा-पान, जल-क्रीड़ा, रतोत्सव, वियोग तथा विवाह—ये बाह्य चेष्टाएँ कही जाती है ।

४३ रक्तारक्त से समुत्थित (उत्पन्न) आभ्यन्तर चेष्टाएँ कहेंगे ।

४४ नदी का किनारा, वेला (समुद्र-तट), कान्तार (जंगल), आराम (बगीचा), पर्वत, चित्र-विचित्र लतागृह, किसलय (पल्लवों) से रचित शय्या, महल तथा प्रासाद-भूमि—'दिवा-विहार-देश' है ।

४५ मण्डप, भवन, गर्भ-गृह, वासगृह, संगीतशाला, वारान्तःपुर तथा भवन—ये संभोग के स्थान के आश्रित 'निशा-विहार-देश' है ।

४६ उद्यान-यात्रा, जलक्रीड़ा, पुष्पावचयन, द्यूत (जूआ) आदि 'दिवा-चेष्टाएँ है । मदिरापान आदि 'निशा-चेष्टाएँ' है ।

४७ नायक आदि की अभिसार-चेष्टाएँ पृथक्-पृथक् होती है । जब देश (स्थान) काल के उन-उन गुण आदि से विशिष्टता को प्राप्त हो जाता है तो वहाँ

रसोऽभिधीयते तत्र तन्नाम्ना रसकोविदैः ।
गुणद्रव्यक्रियाभेदात्सविशेषस्त्रिधा भवेत् ॥
४८ चन्द्रिका कोकिलालापो हंससारसनिस्वनः ।
भ्रमद्भ्रमरिकागीतं गन्धाः सर्वसुखावहाः ॥
केकारावादयः कालगुणाः कविभिरीरिताः ।
४९ चन्दनानि सुगन्धीनि मृदुला च शिलातली ॥
चम्पकाशोकपुन्नागचूताः कुरबकादयः ।
प्रवालपुष्पभरिता लतिका मल्लिकादयः ॥
भवनादीनि रम्याणि शयनानि मृदूनि च ।
हेमरत्नमयी भूषा पुष्पाणि सुरभीणि च ॥
मृदूनि च दुकूलानि स्वादूनि सलिलानि च ।
इत्यादयो विभाव्यन्ते द्रव्याणीति मनीषिभिः ॥
५० उद्यानयात्रा शक्रार्चा मदिरापानकेलयः ।
रतोत्सवोपहाराश्च व्यापाराश्चाप्यलङ्कृतौ ॥
चेष्टितान्येवमादीनि क्रियेति परिभाष्यते ।
५१ गन्धा सुरभयो वातास्तरवः कुसुमाचिताः ॥
भ्रमराः कोकिला हर्म्यं मृद्वी शय्या सुरासवः ।
इत्यादयो विभावाः स्युर्वसन्ते रागदीपनाः ॥

---

रस-विज्ञों के द्वारा उसी नाम से 'रस' कहा जाता है। गुण, द्रव्य तथा क्रिया भेद से वह विशेष तीन प्रकार का होता है।

४८ चादनी, कोकिल-ध्वनि, हंस तथा सारसों की ध्वनि, घूमती हुई भ्रमरी का सगीत, सर्व सुखावह गन्ध तथा मयूर-ध्वनि आदि कवियों द्वारा 'काल-गुण' कहलाते है।

४९ सुगन्धित-चन्दन, कोमल शिलातली; चम्पक, अशोक, पुन्नाग, आम, कुरबक आदि; पत्र पुष्प से पूर्ण लता-मल्लिका आदि, रमणीय भवन, कोमल शय्या, स्वर्ण-रत्नमयी वेश-भूषा, सुगन्धित पुष्प, कोमल रेशमी वस्त्र, स्वादिष्ट जल इत्यादि विद्वानों द्वारा 'द्रव्य' जाने जाते है।

५० उद्यान-यात्रा, इन्द्र पूजा, मदिरा-पान, केलि, रतोत्सव, उपहार, व्यापार तथा अलंकृति में चेष्टाएँ आदि 'क्रिया' कहलाती हैं।

५१ गन्ध से सुगन्धित वायु, पुष्पों से पूर्ण वृक्ष, भ्रमर, कोयल, महल, कोमल-शय्या तथा मदिरा आदि विभाव 'वसन्त-ऋतु' में राग को उद्दीप्त करने वाले हैं।

५२ उद्यानसलिलक्रीडा च्छायाः किसलयास्तराः ।
एलालवङ्गकर्पूरहिमाम्भश्चन्दनादयः ॥
लतागृहाणि चित्राणि पुराणाश्चैव शीथवः ।
धारागृहं हिमगृहं मृणालमणिकुट्टिमे ॥
फुल्लकेसरकल्हारपाटलेन्दीवरादयः ।
मुक्तागुणवती भूषा वासो गैरिकरूषितम् ॥
इत्यादयः स्युः संसृष्टा ग्रीष्मे रागप्रदीपनाः ।
५३ कदम्बकेतकीलोध्रकदलीकुटजादयः ॥
शिखिनः शाद्वलं शक्रगोपाश्च गिरिनिर्झराः ।
तटाकानि च पूर्णानि वहन्त्यः सरितस्तथा ॥
वारिदा वारिधाराश्च तटितो मेघगर्जितम् ।
माद्यन्मतङ्गजक्रीडा नदद्गोवृषभध्वनिः ॥
पोप्लूयमानहरिणाः श्यामलानि वनानि च ।
शाल्मलीतूलशयनं धूपाः कालागरूत्थिताः ॥
प्रच्छदाच्छादनपटो मञ्जिष्ठारागरूषितः ।
पद्मरागमयी भूषा क्वचिच्च विरलैव सा ॥
इत्यादयः प्रावृषि स्युर्विभावा रागदीपनाः ।
५४ चन्द्रिका मृदुला वाताः पद्मिन्यः समरालिकाः ॥

---

५२ उद्यान, जल-क्रीड़ा, छाया, पल्लव-शय्या, इलायची, लोंग, कपूर, शीतल-जल, चन्दन आदि, चित्र-विचित्र लतागृह, पुराना शीथव, धारागृह, हिमगृह, मृणाल-मणि का फर्श, खिली हुई केसर, कल्हार-समूह, इन्दीवर (नीलकमल) आदि, मोतियों की गुणवती वेश-भूषा तथा गैरिक-पड़ा हुआ निवास इत्यादि विभाव मिलकर 'ग्रीष्म-ऋतु' मे राग को उद्दीप्त करने वाले है ।

५३ कदम्ब, केतकी, लौध्र, कदली (केला), कुटज आदि, मोर, शाद्वल (नई घासों से भरा स्थान), इद्रगोप (लालकीडा), पर्वत से गिरते हुए झरने, जल से परि-पूर्ण तालाब, बहती हुई नदियाँ, मेघ-जल-धारा, घड़घड़ाती हुई मेघ-गर्जन, मद-मस्त हाथी की क्रीड़ा, आवाज करते हुए साडों की ध्वनि, उछलते हुए हिरण, श्यामल-वन, शाल्मली (सेमल) तथा तूल (शहतूत) के वृक्षों के नीचे शयन, उठी हुई काला-अगरु-धूप, मञ्जिष्ठा-राग पड़े हुए चादर तथा ओढ़ने उड़ाने के वस्त्र, पद्म-राग-मणि जटित वेषभूषा तथा विरल (तरह-तरह की) भूषा इत्यादि विभाव 'वर्षा ऋतु' में राग की उद्दीप्त करने वाले है ।

५४ चाँदनी, मृदुल-वायु (कोमल-वायु), मृणालयुक्त कमलिनी, स्वच्छ-जल का किनारा, कमलिनी की शय्या, वेला, नदी-किनारे बगीचा, सूखी मिट्टी वाली

प्रसन्नं वारि पुलिनं नलिनीतलिमानि च ।
वेला सरित्तटारामा भुवश्चाश्यानकर्दमाः ॥
स्फूर्जन्मृगमदामोदो हंससारसनिस्वनः ।
पुण्ड्रेक्षवः क्षरन्मुक्तामणयः पाकपाण्डराः ॥
निष्पन्नानि च सस्यानि पन्थानश्च विकर्दमाः ।
ललिता नातिशीतोष्णा शय्या केलिवसुन्धरा ॥
भूषा मरकताश्लिष्टवैदूर्यमणिमालिनी ।
विमलानि दुकूलानि गन्धा मृगमदादयः ॥
विभावाः शरदि प्रायः संसृष्टा रागदीपनाः ।
५५ गन्धपुष्पाणि वासांसि भूषणं शयनानि च ॥
सङ्कीर्णान्यनुभूयन्ते हेमन्ते शिशिरेऽपि च ।
५६ रसोत्कर्षो विभावस्य प्राधान्यद्वारतो भवेत् ॥
एकस्य वा द्वयोर्वापि बहूनां वा स दृश्यते ।
सदृशैश्च विभावाद्यै रसोत्कर्षः कदाचन ॥
इतरेषाञ्च भावानामेवं भावी रसोदयः ।
५७ वियोगायोगसंभोगैः शृङ्गारो भिद्यते त्रिधा ॥

---

भूमि, फैलती हुई कस्तूरी की सुगन्ध, हंस तथा सारस की ध्वनि, पुण्ड्रईख (लाल-ईख), टपकती हुई मुक्तामणि, श्वेत-पाक, उगती हुई खेती, कीचड़ रहित मार्ग, न अधिक शीतल न अधिक उष्ण सुन्दर शय्या, केलि वसुन्धरा, मरकत व वैदूर्य मणि से जटित वेश-भूषा, स्वच्छ, रेशमी वस्त्र तथा कस्तूरी आदि की गन्ध इत्यादि विभाव प्रायः मिलकर 'शरद-ऋतु' में राग को उद्दीप्त करने वाले हैं ।

५५ सुगन्धित पुष्प, वस्त्र, आभूपण तथा शय्या मिलकर 'हेमन्त' तथा 'शिशिर' ऋतु में अनुभव के योग्य बताये जाते है ।

(रसोत्कर्ष के कारण)

५६ 'रसोत्कर्ष' विभाव की प्रधानता से होता है और वह एक या दो या बहुत विभावो की प्रधानता से देखा जाता है । कभी एक जैसे विभावादि से रसोत्कर्ष होता है। अन्य भावों का इसी प्रकार रसोदय होगा ।

(शृंगार-रस के भेद)

५७ शृगार-रस वियोग, आयोग तथा सम्भोग भेद से तीन प्रकार का होता है ।[१२] युवक-युवती के बीच उत्पन्न राग में परस्पर विभावादि से उत्पन्न असंगति

परस्परं विभावाद्यैर्यूनोरुद्भुतरागयोः ।
असङ्गतिरयोगोऽस्मिन्दशावस्था द्वयोरपि ॥
५८ साक्षात्प्रतिकृतिस्वप्नच्छायामायागुणादिभिः ।
नायिकाया नायकस्य दर्शनं स्यात्परस्परम् ॥
५९ दशावस्थत्वमाचार्यैः प्रायोवृत्या तु दर्शितम् ।
महाकविप्रबन्धेषु दृश्यन्ते तास्त्वनेकधा ॥
६० वियोगो विप्रकर्षः स्याद्यूनोः सम्भोगमग्नयोः ।
वियोगोऽपि द्विधा मानप्रवासकृतभेदतः ॥
६१ तत्र प्रणयमानः स्यात्कोपोपहतयोर्द्वयोः ।
स्त्रीणामीर्ष्याकृतो मानः कार्योऽन्यासङ्गिनि प्रिये ॥
सोऽपि त्रिधाऽनुमाध्यक्षश्रवणादवगम्यते ।
६२ गोत्रस्खलनभोगाङ्कोत्स्वप्नायितविभावितः ॥
६३ त्रिधाऽनुमानिकोऽध्यक्षः साक्षादिन्द्रियगोचरः ।

---

'अयोग' कहलाती है। इसमें (अयोग श्रृंगार में) दोनों की (युवक-युवती की) दस अवस्थाएँ होती है।

५८ साक्षात् रूप से, चित्र के द्वारा, स्वप्न के द्वारा, छाया या इन्द्रजाल आदि से, माया से, गुणों आदि से नायक-नायिका का परस्पर दर्शन होता है।

५९ प्रायः आचार्य लोग वृत्ति से (अयोग श्रृंगार में) दश अवस्थाएँ ही बताते हैं। परन्तु महाकवियों के प्रबन्धों (रचनाओं) में अनेक अवस्थाएँ देखी जाती हैं।[१४]

**(वियोग)**

६० सम्भोग-लीन युवक-युवती का अति दूरवर्ती होना 'वियोग' कहलाता है। वह वियोग मान तथा प्रवास भेद से दो प्रकार का होता है।

**(मान-वियोग)**

६१ युवक-युवती से एक के या दोनों के क्रुद्ध रहने पर 'प्रणय-मान' कहलाता है।[१५] प्रिय की अन्य अंगना (स्त्री) में आसक्ति होने पर स्त्रियों में जो क्रोध होता है वह'ईर्ष्या-मान' कहलाता है।[१६] वह ईर्ष्यामान तीन प्रकार के अनुमान, अध्यक्ष (साक्षात् इन्द्रियगोचर) तथा श्रवण से जाना जाता है।

६२ (१) गोत्र-स्खलन, भोग के चिह्न तथा स्वप्न से उठे हुए अर्थात् स्वप्न में अन्य नायिका के सम्बन्ध की बातें बड़बड़ाना आदि तीन प्रकार का 'आनुमानिक-ईर्ष्यामान' जाना जाता है।

६३ (२) साक्षात् अन्य स्त्री के प्रति प्रिय की आशक्ति देखने पर 'अध्यक्ष-ईर्ष्या-मान' होता है।

६४ दासीसख्यादिमुखतः श्रुतिः श्रवणमुच्यते ॥
६५ यथोत्तरो गुरुःषड्भिरुपायैस्तदुपाचरेत् ।
साम्ना दानेन भेदेन नत्युपेक्षारसान्तरैः ॥
६६ तत्र प्रियवचः साम भेदः स्यात्सख्युपग्रहः ।
दानं व्याजेन भूषादेः पादयोः पतनं नतिः ॥
सामादौ तु परिक्षीणे स्यादुपेक्षाऽवधीरणम् ।
रभसत्रासहर्षाद्यैः कोपभ्रंशो रसान्तरम् ॥
६७ प्रवासो भिन्नदेशत्वं तच्छापाद्बुद्धिपूर्वतः ।
सम्भ्रमादपि तत्रैष बुद्धिपूर्वस्त्रिधा मतः ॥
भावी भवन् भूत इति कालत्रितयसङ्गतेः ।
स्वरूपाद्यन्यथाभावकरणं शाप ईरितः ॥
सम्भ्रमः सहसोत्पन्नो दिव्यमानुषविप्लवः ।
६८ वियोगभेदो मरणमिति केचिन्न तद्भवेत् ॥
मृते त्वन्यत्र यत्रान्यः प्रलपेच्छोक एव सः ।

---

६४ (३) दासी, सखी आदि के मुह से सुनने पर 'श्रवण' से 'उत्पन्न-मान' होता है।[१७]

**(ईर्ष्यामान के निवारण के षट्-उपाय)**

६५ नायिका के इस ईर्ष्या-मान को छौ (६) तरह से हटाया जा सकता है—साम, दान, भेद, नीति (अवनति), उपेक्षा तथा रसान्तर (अन्य रसो के द्वारा)।[१८]

६६ प्रिय-बोलना 'साम' कहालता है।[१९] नायिका के प्रति सखियों की निराशा उत्पन्न कराना अर्थात् नायिका की सखियो को तोड़ लेना 'भेद[२०]' है। किसी बहाने से आभूषण आदि के देने से 'दान' होता है।[२१] पैरों में गिरना 'नति' है।[२२] साम आदिक चारो उपायों के व्यर्थ (निष्फल) हो जाने पर उपाय छोड़-कर बैठे रहना 'उपेक्षा' कहलाती है।[२३] घबराहट, भय तथा हर्ष आदि के कारण कोप दूर हो जाना 'रसान्तर' कहलाता है।[२४]

६७ शापवश, बुद्धिपूर्वक (कार्यवश) तथा सम्भ्रम (भय) वश नायक-नायिका का भिन्न-भिन्न देशों में स्थित होना 'प्रवास' है। यह 'बुद्धि-पूर्व' (कार्यज) प्रवास तीन प्रकार का होता है—(१) भावी (२) भवन् (३) तथा भूत अर्थात् तीनों काल की संगति मे होता है। शाप के कारण जहाँ नायक-नायिका का स्वरूप आदि बदल दिया जाय वह 'शापज' प्रवास कहलाता है। सम्भ्रम (घबराहट) से होने वाला प्रवास दिव्य अथवा मनुष्य आदि के द्वारा किये गये विप्लव से सहसा उत्पन्न होता है।[२५]

६८ कोई 'विद्वान मरण' को भी 'वियोग-शृंगार' का भेद कहते है लेकिन ऐसा नही होता क्योंकि एक व्यक्ति के मर जाने पर जहाँ दूसरा व्यक्ति रोता है, वह 'शोक' ही होता है।[२६]

६९ साधारणोऽयमुभयोः प्रवासः शापसम्भवः ।।
सम्भ्रमे बुद्धिपूर्वे च कार्श्यश्वासाश्रुनिर्गमाः ।
लम्बालकादिकाः स्त्रीणां वर्ण्यन्ते कविपुङ्गवै ।।
७० साधारण्याद्विभावादेरत्रायोगवियोगयोः ।
करुणस्यानुरूप्येऽपि रतिस्थाय्यनुवृत्तितः ।।
एतौ श्रृङ्गारभेदौ स्त इति सत्कविनिर्णयः ।
अतः श्रृङ्गारसंज्ञाऽत्र ग्रामान्ते ग्रामशब्दवत् ।।
७१ मरणं यदि सापेक्षं प्रत्युज्जीवनकाङ्क्षया ।
तद्वर्ण्यते वियोगोत्थदुःखसाधारणात्मकम् ।।
७२ कामः स एष सम्भोगः स चतुर्धा विभज्यते ।
७३ यूनोः परस्परस्पर्शविशेषविषयीकृतः ।।
सौख्याभिमानसङ्कल्पफलवान्काम इष्यते ।
७४ स मितः सङ्करश्चेति सम्पन्नश्च समृद्धिमान् ।।
७५ परस्परस्योपचारैर्यूनोर्यत् साध्वसादिभिः ।
मितं प्रयुज्यते भोगे प्रथमे स मितो भवेत् ।।

---

६९ शाप से उत्पन्न 'प्रवास-मान' युवक-युवती—दोनों के बीच साधारण ही होता है । सम्भ्रम तथा बुद्धिपूर्ण-प्रवास में स्त्रियों की कृशता, निःश्वास, आँसुओं का निकलना तथा खुले हुए (बिखरे हुए) बाल आदि अनुभाव कविजन वर्णित करते है ।

७० विभावादि के साधारण्य (साधारणीकरण) से इस अयोग और वियोग मे करुण की अनुरूपता होने पर भी 'रति' स्थायी-भाव के अनुसरण से इन दोनों को श्रृंगार का भेद कहा जाता है । ऐसा सत्कवियों का निर्णय है । और जिस प्रकार ग्राम की सीमा ग्राम कहलाती है उसी प्रकार अयोग और वियोग दोनो भी 'श्रृंगार' ही कहलाते है ।

७१ जीवन की अभिलाषा से मरण यदि सापेक्ष होता है तो वियोग से उत्पन्न दुःख साधारण-रूप वर्णित होता है ।

**(सम्भोग-श्रृंगार)**

७२ काम 'सम्भोग' होता है, वह चार प्रकार का होता है ।

७३ युवक-युवती के बीच परस्पर स्पर्श से किसी विशेष विषय को अधिकृत करके सुख के अभिमान से संकल्प (इच्छा) का फलवान होना 'काम' कहलाता है ।

**(सम्भोग के भेद)**

७४ (१) मित, (२) संकर, (३) सम्पन्न, तथा (४) समृद्धिमान ।

७५ (१) युवक-युवती के बीच जो परस्पर के उपचार तथा भय आदि से प्रथम-भोग में मनोभावों की अभिव्यक्ति संक्षिप्त होती है वह 'मित' सम्भोग होता है ।

७६ प्रसादेऽपि व्यलीकादिस्मृतेः कोपानुवर्तनात् ।
सङ्कीर्यते यः सम्भोगस्तस्मात्सङ्कर ईरितः ॥

७७ सम्पन्नकामैरायातैः प्रोषितैरुपभुज्यते ।
सम्पन्नमेव यत्तस्मात्सम्पन्न इति कथ्यते ॥

७८ प्रत्युज्जीवनहर्षादेः प्रवृद्धो मृतजीवतोः ।
दीपनातिशयैर्दीप्तः सम्भोगः स्यात्समृद्धिमान् ॥

७९ चेष्टाविशेषाः सम्भोगे चुम्बनालिङ्गनादयः ।
विकाराः स्तम्भरोमाञ्चस्वेदाः स्युः साध्वसादयः ॥

८० वियोगे शिशिराचारचिन्तानिश्वसितादयः ।
विकाराः स्तम्भवैस्वर्यकम्पाश्रुप्रलयादयः ॥

८१ तैस्तैरुपक्रमैर्यूनो रक्तयोश्चेदसङ्गमे ।
दशधा मन्मथावस्था भवेद्द्वादशधाऽथ वा ॥

८२ इच्छोत्कण्ठाभिलाषाश्च चिन्ता स्मृतिगुणस्तुती ।
उद्वेगोऽथ प्रलापः स्यादुन्मादो व्याधिरेव च ॥
जाड्यं मरणमित्यादि द्वे कैश्चिद्वर्जिते बुधैः ।

---

७६ (२) प्रसन्न होने पर भी व्यलीक (त्रुटि) आदि के स्मरण से क्रोध के कारण जो सम्भोग सकीर्ण हो जाता है वह 'संकर' कहलाता है।

७७ (३) काम से सम्पन्न आये हुये प्रवासी के द्वारा खूब सम्पन्नता से उपभोग किया जाता है तो वह 'सम्पन्न' कहा जाता है।

७८ (४) मरे और जीवित के पुनरुज्जीवन एवं हर्ष आदि से बढ़ा हुआ और उद्दीपन भाव के अतिशय से उद्दीप्त सम्भोग 'समृद्धिमान' कहलाता है।[२७]

**(सम्भोग की चेष्टाएँ)**

७९ सम्भोग में चुम्बन, आलिंगन आदि विशेष चेष्टाएँ होती हैं। स्तम्भ, रोमांच स्वेद तथा साध्वस (भय) आदि विकार होते हैं।[२८]

**(वियोग की चेष्टाएँ)**

८० वियोग में शिशिर, आचार-चिन्ता तथा निःश्वास आदि चेष्टाएँ होती हैं। स्तम्भ, स्वर-भंग (वैस्वर्य), कम्प, अश्रु तथा प्रलय आदि विकार होते हैं।

**(काय की दश-बारह-अवस्थाएँ)**

८१ अनुरक्त युवक-युवती के बीच उन-उन उपायों से न होने वाले सगम (अयोग-शृंगार) में काम अवस्थाएँ दश या बारह होती हैं।

८२ इच्छा, उत्कण्ठा, अभिलाष, चिन्ता, स्मृति, गुण-स्तुति, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता, मरण इत्यादि—ये काम-अवस्थाएँ हैं। इनमें से किन्हीं विद्वानों ने दो अवस्थाएँ छोड़ दी हैं।[२९]

८३ यदक्ष्णं यत्र संसृष्टं तत्रत्यगुणसंपदा ॥
मनसः स्पन्दनैकाग्र्यमिच्छेति परिभाष्यते ।
८४ सर्वेन्द्रियसुखास्वादो यत्रास्तीत्यभिमन्यते ॥
तत्प्राप्तीच्छां ससङ्कल्पामुत्कण्ठां कवयो विदुः ।
अन्तस्सम्भोगसङ्कल्पः तत्कथाशाविलोकनम् ॥
अङ्गग्लानिर्मनोरक्तिर्मनोरथविचिन्तनम् ।
अधिजानुकरालम्बिकपोलतलमाननम् ॥
प्रसन्नमुखरागश्च स्वेदोष्मा गद्गदा च वाक् ।
उत्कण्ठानुभवा भावाः कथ्यन्ते भावकोविदैः ॥
८५ सङ्कल्पेच्छासमुद्भूतव्यवसायपुरस्सरः ।
यस्तत्समागमोपायः सोऽभिलाषः प्रकीर्तितः ॥
८६ मुहुरन्तः प्रविशति निर्गच्छति मुहुःपथि ।
करोति मान्मथीं चेष्टां तद्दृष्टिपथवर्तिनी ॥
अलङ्करोति चात्मानमास्ते चैकाकिनी क्वचित् ।
अभिलाषभवा भावाः कथ्यन्ते मान्मथा बुधैः ॥

---

(इच्छा)

८३ रति की गुण सम्पत्ति से आँखों का मिलना और मन के स्पन्दन की एकाग्रता 'इच्छा' कहलाती है ।

(उत्कण्ठा)

८४ जहाँ सभी इन्द्रियों के सुख का आस्वाद माना जाता है । संकल्प सहित उसकी प्राप्ति की इच्छा को 'उत्कण्ठा' कहते हैं । मन में सम्भोग का संकल्प करना, नायक की राह देखना (प्रतीक्षा करना), अंग-ग्लानि, मन की अनुरक्ति, मनोरथ का चिन्तन, घुटने मोड़कर हाथों पर कपोल रखना, प्रसन्न मुखराग, उष्ण स्वेद, गद्-गद वाणी—ये भावज्ञों द्वारा उत्कण्ठा के अनुभाव कहे जाते हैं ।

(अभिलाष)

८५ संकल्प तथा इच्छा से उत्पन्न व्यवसाय से पूर्व जो उनके समागम का उपाय है वह 'अभिलाष' कहा जाता है ।

८६ बार-बार अन्दर प्रवेश करना, बार-बार मार्ग मे निकलना, उसकी (नायक की) दृष्टि के अनुसार काम-चेष्टाएँ करना, अपने को अलंकृत करना, कही अकेली बैठी रहना आदि अनुभाव हैं । विद्वान लोग इन्हें अभिलाष से उत्पन्न काम-भाव कहते हैं ।

८७ केनोपायेन तत्प्राप्तिर्ममैव स भवेत्कथम् ।
किं स वक्ष्यति किं वक्ष्ये दूतादि प्रेषयामि किम् ।।
किं तेनेति वितर्कोऽयं हृदि चिन्तेति कथ्यते ।
८८ बध्नाति मेखलादीनि परामृशति पाणिना ।।
स्पृशत्यूरुञ्च नाभिञ्च नीवीं विस्रस्य नह्यति ।
अन्तर्बाष्पोद्गमं चक्षुराकेकरकनीनिकम् ।।
अन्तर्बहिः पुरः पश्चादनालम्बनवीक्षणम् ।
चिन्तासमुत्थिता ह्येते भावाः स्युर्मन्मथाश्रयाः ।।
८९ सुखदुःखादिभावानां देशकालानुषङ्गिणाम् ।
अनुभूयातिवृत्तानां विमर्शो मनसा स्मृतिः ।।
९० ध्यायति श्वसिति द्वेष्टि कार्यमन्यच्च निन्दति ।
न भुङ्क्ते नापि निद्राति न प्रीतिं लभते क्वचित् ।।
एते ह्यनुस्मृतिभवा भावा मन्मथकल्पिताः ।
९१ रूपौदार्यगुणैर्लीलाचेष्टाहसितविभ्रमैः ।।
सौन्दर्यालापमाधुर्यैर्नास्त्यन्यस्तत्समः पुमान् ।
इति यत्रेदृशी वाणी भवेत्सैव गुणस्तुतिः ।।

---

(चिन्ता)

८७ किस उपाय से उसकी (नायक की) प्राप्ति हो ? वह मेरा ही कैसे हो ? वह क्या कहेगा ? क्या कहूं ? क्या दूतादि भेजूँ ? उससे क्या प्रयोजन ? आदि हृदय में उठने वाले जो तर्क-वितर्क हैं—'चिन्ता' कहलाती है ।

८८ मेखला आदि को बाँधना, हाथ से पकड़ना, उरु और नाभिका स्पर्श करना, खुली हुई नीवी को बाँधना, अन्दर-अन्दर निकले हुए आँसुओं से युक्त नेत्र, अर्द्ध निमीलित कनीनिका (पुतली), अन्तर्बाह्य (अन्दर-बाहर), आगे पीछे निराश्रित देखना—आदि चिन्ता से उत्पन्न काम-भाव होते हैं ।

(स्मृति)

८९ देश तथा काल के अनुसार सुख-दुःख आदि भावो का तथा अनुभूय दुराचारों का मन से विचार-विमर्श करना ही 'स्मृति' कहलाती है ।

९० ध्यान करना, श्वास लेना, द्वेष करना अन्य कार्यों की निन्दा करना, अनशन करना, नही सोना, कहीं प्रेम नहीं प्राप्त करना—ये स्मृति से उत्पन्न काम-भाव कहलाते हैं ।

(गुण स्तुति)

९१ रूप, उदारता आदि गुणों से; लीला, चेष्टा, हसित विलास से; सौन्दर्य, मधुर-भाषण आदि से युक्त उसके (नायक के) समान अन्य पुरुष नहीं है— जहाँ ऐसी वाणी होती है वह 'गुण-स्तुति' कहलाती है ।

९२ गुणान् गणयति स्वैरं वीक्षते भावमन्थरम् ।
रोमाञ्चो गद्गदपदा वाक्स्वेदश्च कपोलयोः ।।
विस्रम्भकथनं दूत्या तत्समागमचिन्तनम् ।
एवङ्गुणस्तुतिभवा भावा मदनसूचनाः ।।

९३ उद्वेगो मनसः कम्पः क्रोधशोकभयादिजः ।
निश्वासोन्निद्रताचिन्ताः स्तम्भो वैवर्ण्यमश्रु च ।।
न शय्यासनयोः प्रीतिर्हृल्लेखो दीनतापि च ।
एवमुद्वेगजा भावाः कन्दर्पपरिकल्पिताः ।।

९४ इह दृष्टमिहाश्लिष्टमिहागतमिह स्थितम् ।
इह निर्वृत्तमत्रैव शयितं चाप्यलङ्कृतम् ।।
एवमादीनि वाक्यानि प्रलाप इति कथ्यते ।

९५ अन्तर्बहिः पुरः पश्चाद्दूरादारात् समीपतः ।।
क्वचित्पश्यति यात्येव क्वचित्क्वाप्यवतिष्ठते ।
आस्ते क्वचित्क्वचिच्छेते क्वचिन्निन्दति नन्दति ।।
इतश्चेतश्च रथ्यायां रौति भ्राम्यति धावति ।
एवं विलापजा भावा मनोभववशानुगाः ।।

---

९२ गुणों का आदर करना, भाव-मन्थर को इच्छानुसार देखना, रोमांच गद्-गद वाणी बोलना, कपोल प्रदेश पर पसीने आना, दूती के द्वारा कहे गये विश्वसनीय कथन, उसके (नायक के) समागम का चिन्तन—इस प्रकार गुण-स्तुति से होने वाले काम-भाव होते हैं।

(उद्वेग)

९३ क्रोध, शोक तथा भय आदि से उत्पन्न मन का कम्पन 'उद्वेग' होता है। निःश्वास, नींद से जग जाना, चिन्ता, स्तम्भ, वैवर्ण्य, अश्रु, शय्या-आसन में प्रेम नही होना अर्थात् सोने बैठने मे मन न लगना, हृल्लेख, दीनता—ये उद्वेग से उत्पन्न काम-भाव हैं।

(प्रलाप)

९४ यहाँ देखा था, यहाँ आलिंगन किया था, यहाँ आया था, यहाँ रुका था, यहाँ निवृत्त हुआ था, यहाँ सोया था तथा यहाँ अलंकृत किया था आदि इस प्रकार के वाक्य 'प्रलाप' कहे जाते हैं।

९५ नायिका अन्दर-बाहर, आगे-पीछे, दूरी से तथा समीप से कहीं देखती है, कही जाती है, कहीं रुक जाती है, कहीं बैठ जाती है, कहीं सो जाती है, कही निन्दा करती है, प्रसन्न होती है, इधर से उधर गली में चिल्लाती है, घूमती है, दौड़ती है—इस प्रकार विलाप से उत्पन्न ये काम-भाव हैं।

९६ उन्मादो विरहोत्थो यः सोऽतस्मिंस्तद्ग्रहाग्रहः ।
९७ सर्वावस्थासु सर्वत्र सर्वथा सर्वदा मनः ।।
तद्गतं तत्कथाह्लादि प्रद्वेष्टीष्टानपीतरान् ।
दीर्घं मुहुर्निश्वसिति तिष्ठत्यनिमिषेक्षणम् ।।
विहारकाले रुदति क्रन्दति ध्यायति क्षणम् ।
गायति स्वदते तस्मिन् हसति स्तौति मुह्यति ।।
इत्थमुन्मादजा भावाः कथिता नाट्यकोविदैः ।
९८ कामैर्विलोभनं द्रव्यैः सामदानोपबृंहितैः ।।
प्रेषितैरपि केनापि हेतुना च निराकृतैः ।
अभीष्टसङ्गमाभावाद्व्याधिः समुपजायते ।।
९९ मोहोऽङ्गदाहः सन्तापः शिरश्शूलञ्च वेदना ।
मुमूर्षाजीवितोपेक्षा पतनं यत्र कुत्रचित् ।।
स्रस्ताक्षता निश्वसितं स्तम्भश्च परिदेवितम् ।
एते व्याधिभवा भावाः प्रायः श‍ृङ्गारयोनिजाः ।।
१०० जाड्यमप्रतिपत्तिः स्यात्सर्वकार्येषु सर्वदा ।

(उन्माद)

९६ अन्य वस्तु मे अन्य वस्तु को ग्रहण करना (अर्थात् विवेक न रहना) विरह मे उत्पन्न 'उन्माद' कहा जाता है ।

९७ सभी अवस्थाओं में सर्वत्र, सर्वथा, सर्वदा, मन तद्गत उसके कथन की प्रसन्नता में अपने इष्टजनों से तथा अन्य जनो से भी द्वेष करता है । नायिका बार-बार दीर्घश्वास लेती है, बहुत देर तक देखती रहती है, विहारकाल मे रोती है, चीखती है, क्षणभर ध्यान करती है, गाती है, स्वाद लेती है, उस पर हँसती है, स्तुति करती है, मोहित होती है—इस प्रकार नाट्यविद उन्माद मे उत्पन्न भाव कहते हैं ।

(व्याधि)

९८ काम से, लोभी-द्रव्य से, साम दान से उपबृंहित (बढ़े हुए) होने से, सन्देश भेजने पर भी किसी कारण से निराकरण करने से, अभीष्ट भेंट के अभाव से 'व्याधि' उत्पन्न होती है ।

९९ मोह, अंग-दाह, संताप, शिर-दर्द, वेदना(पीड़ा), मृत्यु की इच्छा, जीने की उपेक्षा, जहाँ कही गिरना, आँखों की शिथिलता, निःश्वास, स्तम्भ, विलाप करना आदि—ये व्याधि से उत्पन्न काम-भाव है ।

(जड़ता)

१०० सभी कार्यों में हमेशा अज्ञान (अप्रतिपत्ति) 'जड़ता' कहलाती है ।

१०१ इष्टानिष्टान्न जानाति सुखदुःखे न वेत्ति च ॥
प्रश्ने न किञ्चित्प्रब्रूते न शृणोति न पश्यति ।
हाहेति भाषणाकाण्डहुङ्कारः शिथिलाङ्गता ॥
कार्श्यवैवर्ण्यनिश्वासाः स्तम्भः स्पर्शानभिज्ञता ।
एते जाड्यभवा भावा मीनकेतनमाश्रिताः ॥
१०२ आस्ववस्थासु विहितैः प्रतीकारैः समागमः ।
न भवेद्यदि कामाग्निदग्धयोर्मरणं भवेत् ॥
१०३ अमङ्गलं स्यान्मरणमिति यूनोर्न कल्प्यते ।
१०४ समग्रवर्णनाधारः शृङ्गारो वृद्धिमश्नुते ॥
उत्कर्षः पुष्टिसम्पच्चेत्येतेषां क्वापि सम्भवः ।
पात्रादीनां गुणैः पूर्णैरसवृद्धिर्विभाव्यते ॥
रसोत्कर्षो भवेद्दैश्यैर्गुणैः सर्वत्र पुष्कलैः ।
परिपूर्णगुणात्कालाद्रससम्पद्विभाव्यते ॥
देशकालानुकूलाभिश्चेष्टाभिः पुष्टिमश्नुते ।
देशकालगुणाश्चोक्ताश्चेष्टाः काश्चिच्च दर्शिताः ॥
पात्राणि तद्गुणान् सर्वान्कथयामि यथार्थतः ।

---

१०१ नायिका इष्ट तथा अनिष्ट को नहीं जानती है, सुख-दुःख नही जानती है, प्रश्न करने पर कुछ भी नही बोलती है, न सुनती है, न देखती है, हा ! हा ! कहती है, असमय ही हुंकारती है, अंगों की शिथिलता, कृशता, विवर्णता (मुँह का फीका पड़ना) नि.श्वास, स्तम्भ तथा स्पर्श की अनभिज्ञता—ये सभी 'जड़ता' से उत्पन्न काम-भाव हैं।

(मरण)

१०२ इन (उपर्यक्त) सभी अवस्थाओं में उपलब्ध प्रतीकारों से भी समागम नही होता है तो कामाग्नि में जलकर मरना 'मरण' होता है।[३०]

१०३ 'मरण' अशुभ होता है, अतः युवक-युवती के बीच नही कहा जाता है।

१०४ समस्त वर्णन का आधार 'शृंगार' वृद्धि को प्राप्त होता है। कहीं इन सभी की (शृंगार की) उत्कर्षता, पुष्टि तथा सम्पत्ति सम्भव होती है। पात्र आदि के गुणों से पूर्ण होने से रस की वृद्धि जानी जाती है। सर्वत्र देशगत अनेक गुणों से 'रस' उत्कर्ष को प्राप्त होता है। कालगत सभी गुणों से परिपूर्ण होने से रस-सम्पत्ति विभावित होती है। देश तथा काल के अनुकूल चेष्टाओं से रस पुष्टि को प्राप्त होता है। देश तथा काल के गुण कह दिये तथा कुछ चेष्टाएँ कह दीं। अब पात्रों को तथा उनके सभी गुणों को यथार्थतः कहता हूँ।

१०५ नायको नायिका सख्यो विटादिसचिवा अपि।
दूत्यश्च दूताश्चेत्येतत्पात्रं नाट्यस्य कथ्यते।
१०६ ज्येष्ठो मध्यः कनिष्ठश्च त्रिधा नायक उच्यते॥
१०७ उक्तसर्वगुणोपेतो ज्येष्ठ इत्यभिधीयते।
द्वित्रैर्वा पञ्चषैर्वापि गुणैर्हीनोऽथ मध्यमः॥
हीनो गुणैश्च बहुभिरधमः परिकीर्तितः।
१०८ चतुर्धा धीरललितशान्तोदात्तोद्धताः क्रमात्॥
चतुर्धाभेदभिन्नस्य तस्य साधारणा गुणाः।
१०९ सर्वोऽपि वस्तुललितस्तस्यैते ह्याभिगामिकाः॥
साङ्ग्रामिका गुणाः सर्वे तस्यैतेभ्योऽभिगामिकाः।
११० साङ्ग्रामिकाः स्युरुभयोरुद्धतोदात्तयोः स्वतः॥
शान्तस्य ललितस्यापि द्वयोस्ते ह्याभिगामिकाः।
१११ इति केचिद्वदन्त्यन्ये सर्वे साधारणा इति॥
गुणान् साङ्ग्रामिकान्वक्ष्ये परस्तादाभिगामिकान्।

---

(पात्र)

१०५ नायक, नायिका, सखी, विटादि, मन्त्री (सचिव), दूती, दूत—ये नाट्य के पात्र कहे जाते हैं।

(नायक)

१०६ नायक ज्येष्ठ, मध्यम तथा कनिष्ठ तीन प्रकार का होता है।

१०७ उक्त समस्त गुणों से युक्त 'ज्येष्ठ नायक' कहलाता है। दो, तीन, पाँच या छः गुणों से हीन 'मध्यम' नायक कहलाता है। बहुत गुणों से हीन 'अधम' नायक कहलाता है।

(नायक के भेद)

१०८ धीर-ललित, धीर-प्रशान्त, धीरोदात्त तथा धीरोद्धत—ये नायक के क्रमशः चार भेद हैं। इन चारों भेदों से भिन्न—उसके (नायक के) साधारण गुण होते हैं।

१०९ सभी वस्तु ललित, उसके वे आभिगामिक गुण होते है, इनके लिए उसके सभी सांग्रामिक गुण आभिगामिक होते हैं।

११० कोई कहते है कि धीरोद्धत तथा धीरोदात्त--दोनों नायकों के स्वत. 'सांग्रामिक' गुण होते है तथा धीर-ललित एवं धीर-प्रशान्त--दोनों नायकों के वे 'आभिगामिक' गुण होते हैं।

१११ अन्य कहते हैं कि सभी साधारण गुण नायक के होते हैं। यहाँ हम नायक के 'सांग्रामिक' गुणों को कहते हैं और 'आभिगामिक' गुणों को आगे कहेंगे।

११२ राजभोगेष्वनिश्चिन्तो यौवनाभोगभूषितः ॥
विलासी भोगरसिको ललितः स्याद्रतिप्रियः ।
११३ कलासक्तः क्षमायुक्तो गम्भीरश्च क्वचित्क्वचित् ॥
धीरशान्तो भवेत्क्वापि ललितादिगुणैर्युतः ।
११४ महासत्त्वोऽतिगम्भीरः क्षमावानविकत्थनः ॥
स्थिरो निगूढाहङ्कारो धीरोदत्तो दृढव्रतः ।
११५ विकत्थनश्चलश्चण्डो मायाच्छद्मपरायणः ॥
समत्सरश्चाहङ्कारी धीरोद्धत इतीरितः ।
११६ विशेषलक्षणेष्वेषु ये सामान्यगुणाः स्मृताः ॥
ते तन्नायकभेदेषु कल्पनीयाः क्वचित्क्वचित् ।
समानानां गुणानां ये मायाच्छद्मादयो गुणाः ॥
विरोधिनस्तेऽसामान्या गुणाः स्युर्नायकेषु तु ।
११७ सङ्गीतान्तःपुरासक्तो युद्धादिष्वतिनादृतः ॥
अमात्यायत्तसिद्धिः स्यात् शृङ्गारी ललितः स्मृतः ।

---

**(धीरललित-नायक)**

११२ 'धीरललित' वह नायक है जो सर्वथा राज-भोगों में अनिश्चिन्त रहता है, यौवन के आभोग से सुशोभित होता है, जो विलासी, भोगो में रस लेने वाला तथा रति-प्रिय है ।

**(धीर-प्रशान्त)**

११३ 'धीर-प्रशान्त' वह नायक है जो कलाओं (नृत्यादि) मे आसक्त रहता है, जो क्षमाशील, कभी-कभी गम्भीर तथा कभी ललित आदि गुणों से युक्त होता है ।

**(धीरोदात्त)**

११४ 'धीरोदात्त' नायक महासत्त्व, अत्यन्त गम्भीर, क्षमाशील, अविकत्थन, स्थिर, निगूढ अहंकार वाला तथा दृढ़व्रत होता है ।[31]

**(धीरोद्धत)**

११५ 'धरोद्धत्त' नायक विकत्थन (आत्मश्लाघी), चंचल, क्रोधी माया और कपट से युक्त, ईर्ष्या से भरा हुआ तथा अहंकारी (घमण्डी) होता है ।

११६ इन विशेष लक्षणों में जो सामान्य गुण कहे गये है, वे (गुण) उन नायकों के भेदों में कहीं-कहीं कल्पित कर लेने चाहिए । समान गुणों में जो माया, कपट आदि विरोधी गुण है, वे तो नायकों में असामान्य गुण हैं ।

**(अमात्य-सिद्धि)**

११७ जो संगीत तथा अन्तःपुर में आसक्त हो तथा युद्ध आदि में जिसका अधिक आदर न हो वह (नायक) 'शृंगारी-ललित' कहा जाता है अतः उसके राज्य का भार मत्री पर ही आयत्त रहता है । इस प्रकार अमात्य-आयत्त-सिद्धि होती है ।

११८ शमप्रधानः क्लेशादिसहिष्णुश्च विवेचकः ॥
धीरशान्तो भवेदेषां धैर्यं साधारणो गुणः ।
११९ उदात्तो विजिगीषुः स्यादुभयायत्तसिद्धिकः ॥
१२० अकृत्यकारी स्वायत्तसिद्धिर्धीरोद्धतो भवेत् ।
१२१ शृङ्गारापेक्षया तेषां नायिकासु च वृत्तिभिः ॥
अनुकूलादिभेदेन चातुर्विध्यं प्रसिद्ध्यति ।
अनुकूलो दक्षिणश्च शठो धृष्ट उदीर्यते ॥
एवं षोडशधा भिन्ना ज्येष्ठादित्रयसंयुताः ।
एतेऽष्टचत्वारिंशत् स्युर्नायकाः कविकल्पिताः ॥
स्वरूपमनुकूलादेः परस्तादभिधास्यते ।
१२२ पताकानायकस्तेषामुपनायक उच्यते ॥
तस्यैवानुचरो भक्तः किञ्चिन्न्यूनश्च तद्गुणैः ।
शृङ्गारापेक्षया तेऽपि कथ्यन्ते बहुधा पुनः ॥
यत्रैव विनियुज्यन्ते वक्ष्यन्ते तत्र तत्र ते ।

---

११८ जिसमें शम प्रधान होता है तथा क्लेश आदि को सहन करने की शक्ति होती है और जो विवेचक होता है वह 'धीर-प्रशान्त' नायक होता है, इनमें धैर्य साधारण गुण होता है ।

११९ 'धीरोदात्त' नायक में विजय की इच्छा रहती है अतः उसके राज्य का भार दोनों (राजा तथा मंत्री) पर ही आयत्त रहता है अतः उभयायत्त-सिद्धि होती है ।

१२० धीरोद्धत कुकृत्य करने वाला होता है अतः उसकी स्वायत्तसिद्धि होती है ।

१२१ शृंगार की उपेक्षा से और नायिकाओं के प्रति उन (नायकों) के व्यवहारों (वृत्तियों) से अनुकूल आदि भेद से (नायकों के) चार भेद प्रसिद्ध होते हैं। वे चार भेद इस प्रकार हैं—(१) अनुकूल (२) दक्षिण (३) शठ (४) धृष्ट । इस प्रकार—१६ भेद होते हैं, जो ज्येष्ठादि तीन भेदों से युक्त होते हैं । अत. कविजन नायक के ४८ भेद कहते है । अनुकूल आदि नायक का स्वरूप आगे कहेंगे ।

१२२ पताका का नायक उन (नायकों) का 'उपनायक' कहलाता है। यह आधि-कारिक-वस्तु के नायक का साथी होता है अतः नायक का ही अनुचर (सेवक) तथा भक्त होता है और नायक से गुणों में कुछ ही न्यून होता है।[१२] शृंगार की अपेक्षा से वे (उपनायक) भी बहुत प्रकार के कहे जाते हैं। जहाँ आव-श्यकता होगी वहाँ वहाँ उनको कहेंगे ।

१२३ एतेषां नर्मसचिवा ऋत्विजः सपुरोहिताः ।।
तपस्विनो वेदविदो ब्राह्मणा व्रतिनोऽपि च ।
अन्ये चाश्रमिणः सर्वे धर्मस्य सचिवाः स्मृताः ।।
१२४ मन्त्रिणः सैन्यपालाश्च कुमाराः सुहृदोऽपि च ।
अर्थस्य सचिवाः प्रोक्तास्तत्तदर्थानुषङ्गिणः ।।
१२५ एते स्युः कामसचिवाः पीठमर्दो विटस्तथा ।
विदूषकश्च सख्यादिपरिवारेण संयुतः ।।
१२६ शृङ्गारापेक्षया तेषां स्वरूपं कथ्यतेऽधुना ।
१२७ एकविद्यो विटस्तस्य कामतन्त्रेषु कौशलम् ।।
१२८ विकृताङ्गवचोवेषैर्हास्यकृत्स्याद्विदूषकः ।
१२९ पीठमध्यास्य पुरतः प्रयोक्ता नायकादिषु ।।
स पीठमर्दो विश्वास्यः कुपितस्त्रीप्रसादकः ।
१३० कथिनी लिङ्गिनी दासी कुमारी कारुशिल्पिनी ।।

---

१२३ इन नायकों के नर्म[३३] सचिव (सहायक) ऋत्विग्, पुरोहित, तपस्वी, वेदवेत्ता, ब्राह्मण तथा व्रती होते हैं तथा अन्य सभी आश्रमवासी धर्म-सचिव (सहायक) होते है।

१२४ मन्त्री, सेनापति, कुमार तथा मित्र उस-उस प्रसंग के अनुसार अर्थ-सचिव (सहायक) कहे गये है।

१२५ सखी आदि के परिवार से युक्त पीठमर्द, विट तथा विदूषक काम-सचिव (सहायक) होते हैं।

१२६ शृंगार की अपेक्षा से अब उन (काम-सचिवों (सहायकों) ) का स्वरूप कहते है।

**(विट)**

१२७ नृत्य-गीतादि कलाओं के एक अंश को जानने वाला 'विट' कहलाता है। उसकी कामतन्त्रों में कुशलता होती है अर्थात् कामतन्त्रों में वह कुशल होता है।

**(विदूषक)**

१२८ अपने विकृत अंग, विकृत-वाणी और विकृत-वेष आदि से हँसाने वाला 'विदूषक' कहा जाता है।

**(पीठमर्द)**

१२९ नायकादि मे 'पीठमर्द' का प्रयोग पहले हो चुका है। वह पीठमर्द विश्वास-योग्य (पात्र) होता है तथा कुपित स्त्री को प्रसन्न करने वाला होता है।

**(दूत-दूती का स्वरूप)**

१३० कथिनी (बातचीत कराने वाली), लिंगनी (संन्यासिनी), दासी, कुमारी, कारु (धौबिन), शिल्पिकी (तस्वीर बनाने वाली आदि), पाखण्डिनी, पड़ोसिन,

पाषण्डिनी प्रातिवेश्या सखी रङ्गोपजीविनी ।
धात्रेयिका प्रेक्षणिका दूत्यः स्त्रीपुंसयोर्मिथः ॥
१३१ न दीनं नार्थवन्तं च न चातिचतुरं जडम् ।
दूतं वापि हि दूतीं वा कदाचन च सन्दिशेत् ॥
१३२ देशकालज्ञता भाषामधुरत्वं विदग्धता ।
प्रोत्साहनेषु प्रौढत्वं तथा संवृतमन्त्रता ॥
यथोक्तकथनं चेति गुणा दौत्यं प्रपस्स्यताम् ।
१३३ नवानुरागे मानादिविरहे वा समागमः ॥
नानोपायैर्विधेयः स्याद्दूतीभिः पुरुषाश्रयः ।
१३४ उत्सवे रात्रिसञ्चार उद्याने ज्ञातिवेश्मनि ॥
धात्रीगृहे च सख्याश्च तथा चैव निमन्त्रणे ।
व्याध्यादिव्यपदेशेन शून्यागारनिवेशने ॥
नवानुरागे कर्तव्यो नृणां प्रथमसङ्गमः ।
१३५ स्वाऽन्या साधारणा चेति त्रिविधा नायिका मता ।
१३६ मुग्धा मध्या प्रगल्भेति त्रेधा स्वीया विभज्यते ।
मध्या त्वधीरा धीरा च धीराधीरेति भिद्यते ॥

---

सखी, रंगरेजिन, धाई की लड़की तथा प्रेक्षणिका स्त्री-पुरुष को परस्पर दूतियाँ हैं ।

१३१ दीन, अर्थवान, अतिचतुर और जड़ दूत या दूती को सन्देश कभी नहीं देना चाहिए ।

१३२ देश तथा काल को समझना, भाषा में मधुरता, चतुराई, प्रोत्साहन में प्रौढता, गुप्तमन्त्रता तथा यथोक्तकथन दूत के गुण कहे जाते हैं ।

१३३ दूतियों द्वारा नवीन अनुराग में या मानादि से उत्पन्न विरह में अनेक उपायों से पुरुष के आश्रित समागम कराया जाता है ।

१३४ उत्सव में, रात्रि सचार में, उद्यान में, परिचित के गृह में, धाई के घर में, सखी के घर मे, नियन्त्रण में, रोग आदि की सूचना से, शून्य-गृह के प्रवेश में तथा नवीन अनुराग में पुरुषों का प्रथम-सगम कराना चाहिए ।

**(नायिका-भेद)**

१३५ नायिका तीन प्रकार की होती हैं—स्वकीया (अपनी स्त्री), परकीया (अन्य की स्त्री) तथा साधारण स्त्री अर्थात् वेश्या ।

**(स्वकीया)**

१३६ 'स्वीया' या 'स्वकीया' नायिका तीन प्रकार की होती है—मुग्धा, मध्या, प्रगल्भा । 'मध्या' के अधीरा, धीरा तथा धीराधीरा तीन भेद होते है । ज्येष्ठा

भिन्ने ज्येष्ठाकनिष्ठेति प्रगल्भा मध्यमापि च ।
तयोरुदात्तललितशान्तिभेदैस्त्रिधा भिदा ॥
१३७ ऊढा च कन्यका चेति द्विधैवान्याङ्गना भवेत् ।
१३८ साधारणस्त्री गणिका साप्येकैव न भिद्यते ॥
१३९ त्रयोदशविधा स्वीया द्विविधान्याङ्गना मता ।
एका वेश्या पुनश्चाष्टाववस्थाभेदतोऽपिताः ॥
पुनश्च ताः त्रिधा सर्वा उत्तमाधममध्यमाः ।
इत्थं शतत्रयं तासामशीतिश्चतुरुत्तरा ॥
सङ्ख्येयं रुद्रटाचार्यैरुपभोगाय दर्शिता ।
१४० अन्या त्वयवस्थैवेत्येके कथयन्ति मनीषिणः ॥
प्रथमायामवस्थायामन्या स्याद्विरहोन्मनाः ।
ततोऽभिसारिका भूत्वा सङ्केते पश्यति प्रियम् ॥
सङ्केताच्चेत्परिभ्रष्टा विप्रलब्धा भवेत्पुनः ।
पराधीनतया तस्या नान्याऽवस्था विलोक्यते ॥

---

तथा कनिष्ठा के भेद से प्रगल्भा तथा मध्यमा के दो-दो भेद होते हैं। उन दोनों के (मध्यमा तथा प्रगल्भा के) उदात्त, ललित तथा शान्ति भेद से तीन भेद होते है।

**(अन्या या परकीया)**

१३७ 'परकीया' नायिका दो प्रकार की होती हैं—ऊढा (विवाहिता), कन्यका (अविवाहिता)।

**(साधारण-स्त्री या वेश्या)**

१३८ साधारण-स्त्री 'वेश्या' होती है, वह एक ही प्रकार की होती है उसके भेद नहीं होते हैं।

१३९ इस प्रकार 'स्वकीया' नायिका के १३ भेद, 'परकीया' के २ भेद तथा वेश्याका एक प्रकार अर्थात् १६ प्रकार की नायिकाएँ होती हैं—पुनः वे नायिकाएँ आठ अवस्थाओं के भेद से १२८ प्रकार की होती हैं। पुन वे नायिकाएँ उत्तम, मध्यम तथा अधम के भेद से तीन प्रकार की और होती हैं। इस प्रकार ३८४ प्रकार की नायिकाएँ होती हैं, नायिकाओं की यह संख्या आचार्य रुद्रट[३४] ने उपभोग के लिए कही है।

१४० एक विद्वान[३५] 'परकीया' नायिका की तीन अवस्थायें कहते है :

(१) प्रथम अवस्था में 'परकीया' नायिका प्रिय के वियोग में उत्कण्ठित मन से उसकी प्रतीक्षा करती है, वह 'विरहोन्मना' होती है।

(२) तदनन्तर वह 'अभिसारिका' होकर संकेत-स्थान पर प्रिय को देखती है।

(३) पुनः संकेत-स्थान से परिभ्रष्ट होकर, वह 'विप्रलब्धा' हो जाती है। पराधीनता से उसकी (परकीया की) अन्य अवस्था दिखायी नहीं देती है।

१४१ स्वीयं सुवृत्तमुल्लङ्घ्य यद्येकेन चिरं वसेत् ।
साऽन्या स्याद्गणिकाऽप्येवं भवोत्साऽन्या भविष्यति ।।

१४२ साधारणस्त्री गणिका सा वित्तं परमिच्छति ।
निर्गुणेऽपि न विद्वेषो न रागोऽस्या गुणिन्यपि ।।
शृङ्गाराभास एव स्यान्न शृङ्गारः कदाचन ।
इति द्विषन्तमुद्दिश्य प्राह श्रीरुद्रटः कविः ।।

१४३ रागशृङ्गारनिर्मुक्ता यदि स्युर्गणिकाः स्वतः ।
योषित्सामान्यतो जातः स्मरः किं भक्षितः श्वभिः ।।
किन्तु तासां कलाकेलिकुशलानां मनोरमम् ।
विस्मारितापरस्त्रीकं सुरतं जायते नृणाम् ।।
कुप्यत्पिनाकिनेत्राग्निज्वालाभस्मीकृतः पुरा ।
उज्जीवितः पुनः कामो मन्ये वेश्याविलोकितैः ।।
कलाविलासवैदग्ध्यवसतिर्गणिकाजनः ।
पुंसां सौभाग्यवैदग्ध्यनिकषःकेन निर्मितः ।।

---

**(परकीया तथा वेश्या के भेद)**

१४१ जो अपने सच्चरित्र का उल्लंघन कर यदि किसी एक के साथ बहुत समय तक वास करे तो वह 'परकीया' होती है, वेश्या भी इसी प्रकार की हो अर्थात् किसी एक के साथ बहुत समय तक वास करे तो वह भी 'परकीया' होगी ।

१४२ साधारण-स्त्री 'वेश्या' होती है, वह धन अधिक चाहती है अतः न किसी निर्गुण (मूर्ख) व्यक्ति से उसका द्वेष होता है और न गुणी में उसका प्रेम । वहाँ 'शृंगाराभास' ही होता है, न कि कभी शृंगार । इस प्रकार रुद्रट कवि ने उस द्वेष को उद्देश्य करके कहा है ।

१४३ यदि वेश्याएँ स्वतः प्रेम (राग) तथा शृंगार से निर्मुक्त होती हैं तो क्या उन स्त्री-सामान्य में उत्पन्न कामदेव कुत्तों के द्वारा खा लिया जाता है अर्थात् नहीं । किन्तु नृत्य-गीतादि ६४ कलाओं मे तथा केलि में निपुण उन वेश्याओं का सुन्दर विस्मारित पर-स्त्री वाला सुरत मनुष्यों में उत्पन्न हो जाता है । ऐसा लगता है कि प्राचीन काल में क्रोध करते हुए शंकर की नेत्राग्नि की ज्वाला में जो कामदेव भस्म कर दिया गया था, वही काम मानो पुनः वेश्याओं की विलोकन से जीवित कर दिया गया है । कला, विलास तथा विदग्धता (चतुराई) का स्थान तथा पुरुषों के सौभाग्य व वैदग्ध्य की कसौटी ये वेश्याएँ किसने बनायी ।

१४४ ईर्ष्या कुलस्त्रीषु न नायकस्य
निश्शङ्ककेलिर्न पराङ्गनासु ।
वेश्यासु चैतद्द्वितयं प्ररूढं
सर्वस्वमेतास्तदहो स्मरस्य ।

१४५ समानकुलशीलेन येनोढा वह्निसाक्षिकम् ।
सा स्वीया तस्य सैवान्या भवेद्भर्तृव्यतिक्रमे ।।
व्यतिक्रमे तु कन्यायाः साप्यन्या न कुलाङ्गना ।

१४६ भोगेप्सवः स्युः स्वीयाश्चेदन्या भोगधनेप्सवः ।।
अर्थेप्सवः स्युर्गणिकास्तास्तथा वर्णयेत्कविः ।

१४७ न मुञ्चति प्रियं स्वीया सम्पत्स्वपि विपत्स्वपि ।।
शीलसत्यार्जवोपेता रहःसम्भोगलालसा ।
मुग्धा नववयःकामा रतौ वामा मृदुः क्रुधि ।।
यतते रतिचेष्टासु पत्युर्व्रीलामनोहरम् ।
अपराधे रुदत्येव न वदत्यप्रियं प्रिये ।।

---

१४४ स्वकीया नायिकाओं में नायक की ईर्ष्या नहीं होती, परकीया नायिकाओं मे निःसकोच केलि-क्रीडा नही होती, और वेश्याओ मे ये दोनों (ईर्ष्या व केलि) विकसित होती हैं। अहो ! ये वेश्याएँ तो कामदेव की सर्वस्व हैं।

**(स्वकीया और परकीया का स्वरूप)**

१४५ जो समान कुल तथा शील वाला पुरुष किसी स्त्री के साथ अग्नि को साक्षी कर विवाह करता है उस पुरुष की वह स्त्री 'स्वकीया' होती है।
वही स्त्री पति की अवहेलना करने पर परकीया हो जाती है और कन्या के उल्लंघन पर भी वह 'परकीया' होती है न कि कुलांगना।

१४६ कविजन ऐसा कहते हैं कि 'स्वकीया' भोग की इच्छुक होती है, 'परकीया' भोग तथा धन दोनों की इच्छुक होती है तथा 'वेश्या' धन की इच्छुक होती है।

**(रतौ मुग्धा)**

१४७ 'स्वकीया' नायिका दुःख तथा सुख दोनों में कभी भी अपने प्रिय को नही छोड़ती है, वह शील, सत्य तथा लज्जा से युक्त होती है, एकान्त में सम्भोग की लालसा करती है। मुग्धा-नायिका अवस्था (आयु) तथा कामवासना दोनों में नई रहती है, रति से वह वाम रहती है अर्थात् रति से कतराती है तथा नायक से मानादि में क्रोध करने में कोमल होती है।[३७] पति के साथ रति-चेष्टाओं में लज्जा से सुन्दर प्रयत्न करती है। प्रिय के अपराध करने पर रोती है, अप्रिय नहीं बोलती है।

१४८ प्रियं प्रार्थयते मध्या रतिव्यायामकेलिषु।
स्वयं पुनः प्रवर्तेत सहते सुरतश्रमम् ॥
सोपालम्भं वचो वक्ति सापराधे प्रिये रुषा ।
१४९ प्रगल्भाऽऽरभते स्वैरं बाह्ये चाभ्यन्तरे रते ॥
अपराधे प्रियं रोषात् भाषते परुषं मुहुः ।
१५० धीरा रतिपरिश्रान्ता मूर्च्छिताऽपि पुनःपुनः ॥
प्रोत्साहयति वा स्वैरं यतते पुरुषायिते ।
उपचारैः सविनयैरथवाऽक्रमभाषितैः ॥
खेदयत्येव नेक्षेत सापराधं प्रियं रुषा ।
१५१ अधीरा दयिताश्लिष्टा रतिचेष्टा न बुद्धयति ॥
मोदते मुह्यति मुहुः स्वेदरोमाञ्चमन्थरम् ।
अपराधे सति मुहुर्हु हुमित्येव भाषते ॥
सखीसमक्षं कुरुते केशाकर्षणताडनम् ।

---

(रतौ मध्या)

१४८ मध्या-नायिका प्रिय से रति के लिए प्रार्थना करती है, पुनः रति-व्यायाम तथा केलि-क्रीड़ाओं मे वह स्वयं प्रवृत्त होती है तथा सुरत क्रीडा से उत्पन्न श्रम (थकान) को सहती है तथा प्रिय के अपराध किये जाने पर क्रोध के साथ नायिका उलाहना के वाक्य बोलती है अर्थात् प्रिय के अन्य स्त्री में आसक्त होने से अपराध किये जाने से 'मध्या' नायिका प्रिय को क्रोधपूर्वक उलाहना देती है।

(रतौ प्रगल्भा)

१४९ 'प्रगल्भा' नायिका बाह्य तथा आभ्यन्तर रति में इच्छा से रमण करती है। प्रिय के अपराध करने पर क्रोध के कारण प्रिय से बार-बार कठोर वचन बोलती है।

(रतौ धीरा)

१५० 'धीरा' नायिका रति-क्रीड़ा में थक जाती है तथा बार-बार मूर्छित भी हो जाती है फिर भी उत्साह रखती है अथवा इच्छानुसार प्रयत्न करती है तथा पुरुष जैसा साहस करती है। उपचार, विनय अथवा निरन्तर बोलने से प्रिय के अपराध करने पर प्रिय को दुःख देती है और क्रोध से प्रिय को नहीं देखती है।

(रतौ अधीरा)

१५१ 'अधीरा' नायिका रति-क्रीड़ा में प्रिय से चिपक जाती है, रति चेष्टा को नही समझती है। वह प्रसन्न होती है, बार-बार मूर्च्छित हो जाती है, स्वेद (पसीने आने) तथा रोमांच होने से शिथिल हो जाती है। प्रिय के अपराध करने पर प्रिय को बार-बार 'हुं हुं' करके हुंकारती है। सखियों के सामने बालों को खीचकर पीटती हैं।

१५२ धीराधीरा तदुभये व्यनक्ति रतिचेष्टितम् ॥
उदात्तादिभिदाः केचित्सर्वासामिति जानते ।
तेऽपि प्रायेण दृश्यन्ते सर्वासामपि कार्यतः ॥
१५३ कन्योढाचेष्टितं मुग्धाचेष्टितेषु प्रवक्ष्यते ।
वेश्याऽन्यदीयाचेष्टाश्च रक्तारक्तादिलक्षणे ॥
वक्ष्यामस्तत्र तत्रैव विद्वद्भिरवलोक्यताम् ।
अल्पान्तरत्वादन्यासामवस्थानां स्वभावतः ॥
अल्पवैषम्यतोऽवस्थाभिदा न पृथगीरिताः ।
१५४ उदात्ता केशवासोऽङ्गमाल्यभूषासु सादरा ॥
शय्याभरणसंस्कारपरिबर्हसमेधिनी ।
स्थिरस्नेहा कृतज्ञा च ददात्याश्रितवत्सला ॥
मानयन्ती च मानार्हान्नित्योत्सवरताऽपि च ।
बन्धुसम्बाधमुदिता कृतज्ञा प्रियवादिनी ॥
एवमादिगुणैर्युक्तामुदात्तां परिचक्षते ।

---

(रतौ-धीराधीरा)

१५२ 'धीराधीरा' नायिका (धीर तथा अधीर) दोनो रूप मे रति-चेष्टाओं को व्यक्त करती है । कोई उदात्त आदि के भेद से सभी नायिकाओं को जानते है, वे प्रायः कार्य से सभी नायिकाओं का वर्णन करते है ।

१५३ कन्या तथा ऊढा की चेष्टाएँ 'मुग्धा' नायिका की चेष्टाओं मे कहेंगे । वेश्या तथा परकीया की चेष्टाएँ रक्तारक्त आदि के लक्षण में कहेंगे अतः विद्वान वहीं देखें । अन्य अवस्थाएँ थोड़ी है अतः स्वाभाविक है विषमता भी थोड़ी है अतः उन अवस्थाओं के भेद अलग नही कहे गये है ।

(उदात्ता नायिका)

१५४ उदात्ता नायिका केश, वास, अंगराग, माला तथा आभूषण आदि का आदर करती है । शय्या, आभरण (वस्त्र), संस्कार (सजावट की सामग्री चन्दनादि), परिबर्ह (अनुचर वर्ग) को बढ़ाने वाली होती है । स्थिर प्रेम वाली तथा कृतज्ञ होती है । आश्रित जनों पर वत्सल-भाव रखती है । मान वाली होती है । सम्मान के योग्य होने से नित्य उत्सवों में रत रहती है । बन्धु-बान्धवों की बाधा से भी प्रसन्न, कृतज्ञ तथा प्रिय बोलने वाली होती है आदि इस प्रकार के गुणों से युक्त 'उदात्ता' नायिका कहलाती है ।

१५५ सौन्दर्यैश्वर्यसौभाग्यविद्याभोगैरहङ्कृता ॥
विद्याभिजनसम्पन्नान्बन्धूनप्यवमन्यते ।
गर्वाभिमानभरिता मायाच्छद्मपरायणा ॥
आत्मकुक्षिम्भरा घोरा सोद्धता परिकीर्तिता ।
१५६ सुखिनी नित्यसन्तुष्टा सत्संमानावमानयोः ॥
अनसूयुरहंमानहीना विगतमत्सरा ।
उपकारपरा नित्यमपकारपरेष्वपि ॥
उपाचरति बन्धून् या सा शान्तेति च कथ्यते ।
१५७ रूपयौवनसम्पन्ना सखीकेलिकृतोद्यमा ॥
वासोऽङ्गरागमाल्यर्तुवेलाशैलसरित्प्रिया ।
संभोगरसिका हेलाभावहावसमेधिता ॥
कलाशिल्पविशालाढ्या ललिता परिकीर्तिता ।
१५८ खण्डिता विप्रलब्धा च तथा वासकसज्जिका ॥
स्वाधीनभर्तृका चैव कलहान्तरितापि च ।

---

(उद्धता)

१५५ जो सौन्दर्य, ऐश्वर्य, सौभाग्य, विद्या तथा भोगों से अहंकार करती है। विद्या, कुलीन तथा धनादि से सम्पन्न बन्धुजनों का अपमान करती है। गर्व तथा अभिमान से भरी हुई होती है। माया (छल), कपट से युक्त होती है। अपने ही पेट को भरने वाली होती है अर्थात् घोर स्वार्थी होती है वह 'उद्धता' कहलाती है।

(शान्ता)

१५६ जो सुखी, नित्य-सन्तुष्ट रहने वाली तथा मान-अपमान में एकसी रहने वाली होती है। असूया से रहित तथा अहंमान (अहंकार) हीन होती है। मात्सर्य से रहित होती है। दूसरों के द्वारा अपकार किये जाने पर भी दूसरों का नित्य उपकार करती है, और जो बन्धुजनों की सेवा करती है वह 'शान्ता' नायिका कहलाती है।

(ललिता)

१५७ जो रूप तथा यौवन से सम्पन्न होती है तथा जो सखियों के साथ केलि-क्रीड़ा करने के लिए तत्पर रहती है। वास, अंगराग, माला, ऋतु, वेला (समुद्र-तट), पर्वत तथा नदी जिसको प्रिय होती है। जो संभोग में रस लेने वाली होती है। हेला, भाव तथा हाव से बढ़ी हुई होती है। जो कला (नृत्य, गीतादि) तथा शिल्प-विद्या में बढ़ी हुई होती है वह 'ललिता' नायिका कहलाती है।

(नायिकाश्रिता अष्टावस्था)

१५८ खण्डिता, विप्रलब्धा, वासकसज्जिका, स्वाधीनभर्तृका, कलहान्तरिता, विर-

विरहोत्कण्ठिता चैव तथा प्रोषितभर्तृका ।।
तथाऽभिसारिकेत्यष्टाववस्था नायिकाश्रिताः ।
१५९ अतीत्य समयं यस्या व्यासङ्गादन्यतः पतिः ।।
भोगाङ्कलक्षितः प्रातरेति चेत्सा हि खण्डिता ।
बिभेति चिन्तयति च तूष्णीं ध्यायति ताम्यति ।।
खिद्यति भ्राम्यति मुहुर्दीर्घं श्वसिति रोदिति ।
मुहुर्विलपतीत्येते विकाराः खण्डितागताः ।।
प्रागुक्ता एव भावाः स्युस्सापराधप्रियागमे ।
१६० समयं चापि सङ्केतं दत्त्वा प्रेष्य च दूतिकाम् ।।
अनागतश्चेद्व्यासङ्गाद्विप्रलब्धा तु सा स्मृता ।
चिन्तानिश्वासखेदाश्च हृत्तापो मूर्च्छनं मुहुः ।।
प्रलापो जागरः कार्श्यं विप्रलब्धासु विक्रियाः ।
१६१ भोगोपकरणैः सर्वैः सज्जिते वासवेश्मनि ।।
आस्तीर्य भोगशयनं शयनं केलिनिद्रयोः ।
प्रतीक्षते या पर्यङ्के प्रियागममलङ्कृता ।।

---

होत्कण्ठिता, प्रोषितभर्तृका तथा अभिसारिका—ये आठ नायिका के आश्रित अवस्थाएँ हैं अर्थात् इन्हीं अवस्था-भेद से नायिकाएँ आठ तरह की होती हैं ।

**(खण्डिता नायिका)**

१५९ जिसका पति किसी दूसरी स्त्री से सम्भोग करने के कारण समय (रात्रि) को बिताकर, भोग के चिह्नों से अंकित सुबह (घर) आता है, वह 'खण्डिता' नायिका कहलाती है । वह नायिका डरती है, चिन्ता करती है, चुप रहती है, ध्यान करती है, चिन्तित होती है, खेद करती है, भ्रमण करती है, बार-बार दीर्घ श्वांस लेती है, रोती है, बार-बार विलाप करती है—ये सभी खण्डिता नायिकागत विकार हैं । प्रिय के अपराध करने पर नायिका के जो भाव होते हैं वह पहले ही कह दिये गये हैं।[३८]

**(विप्रलब्धा)**

१६० जिसका प्रिय समय और संकेत देकर तथा दूती को भेजकर किसी दूसरी स्त्री से सम्भोग करने के कारण दत्त संकेत तथा समय पर नहीं आता है वह 'विप्रलब्धा' कहलाती है । चिन्ता, निःश्वास, खेद, हृदय में सन्ताप, बार-बार मूर्च्छा आना, प्रलाप, जागरण, कृशता आदि 'विप्रलब्धा' के विकार होते हैं ।[३९]

**(वासकसज्जा)**

१६१ भोगों के सभी उपकरणों से सजाये हुए सुगंधित महल में भोग-शय्या, केलि तथा निद्रा की शय्या बिछाकर जो स्वयं अपने को सजाकर पलंग पर प्रिय के

सेयं वासकसज्जेति कथिता कविपुङ्गवैः ।
सखीविनोदः सम्भोगमनोरथविचिन्तनम् ।।
हृल्लेखः श्वसितं दूतीप्रत्यागमनचिन्तनम् ।
इति वासकसज्जाया विक्रियाः कथिता बुधैः ।।

१६२ यस्या रतिरसास्वादमुदितो दयितः सदा ।
सदैवास्ते तया साकमेषा स्वाधीनभर्तृका ।।

१६३ उद्यानसलिलक्रीडाकुसुमापचयक्रिया ।
आपानकेलिः शक्रार्चा वसन्तमदनोत्सवाः ।।
स्वाधीनभर्तृकायाः स्युर्विलासाश्चैवमादयः ।

१६४ कृतापराधं प्रेयांसं प्रसाधनपरं मुहुः ।।
सखीसमक्षं प्रणतमीर्ष्याक्रोधादपास्य या ।
पश्चात्तापेन तपति कलहान्तरिता तु सा ।।
हृद्दाहः सम्भ्रमो मोहः संज्ञा निश्वसितं ज्वरः ।
मुहुर्मुहुर्विलापोऽपि द्वेषः सर्वत्र वस्तुषु ।
कलहान्तरितायाः स्युरेवमाद्याश्च विक्रियाः ।

---

आगमन की प्रतीक्षा करती है उसे कविजन 'वासकसज्जा' नायिका कहते हैं। सखियों के साथ विनोद तथा सम्भोगरूप मनोरथ का चिन्तन, हृल्लेख, श्वाँस, दूती के लौटने की चिन्ता—ये विद्वानों द्वारा 'वासकसज्जा' नायिका के विकार कहे जाते हैं।[४०]

(स्वाधीनभर्तृका)

१६२ जिस नायिका का प्रिय सदा रति के रसास्वाद से प्रसन्न रहता है तथा वह सदैव उस नायिका के साथ रहता है वह 'स्वाधीनभर्तृका' नायिका कहलाती है।

१६३ उद्यान-क्रीड़ा, जल-क्रीड़ा, पुष्पावचयन, आपान-केलि, इन्द्रपूजा, वसन्तोत्सव तथा मदनोत्सव आदि इस प्रकार के विलास 'स्वाधीनभर्तृका' नायिका के होते हैं।[४१]

(कलहान्तरिता)

१६४ जो ईर्ष्या तथा क्रोध के कारण पहले तो सखियों के सामने प्रणाम करते हुए, बार-बार श्रृंगार में तत्पर अपराधी प्रियतम का तिरस्कार करती है और फिर अपने व्यवहार के विषय में पश्चाताप करती है वह 'कलहान्तरिता' नायिका कहलाती है। हृदय में जलन, सम्भ्रम (घबराहट), मोह (मूर्च्छा), संज्ञा (चेतना), निःश्वास, ज्वर, बार-बार विलाप तथा सर्वत्र वस्तुओं के प्रति द्वेष आदि—इस प्रकार के विकार 'कलहान्तरिता' नायिका के हैं।[४२]

१६५ उचिते वा स्वयं दत्ते समये प्रोषितः पतिः ।।
नैति व्यासङ्गतो यस्याः सा तु प्रोषितभर्तृका ।
मालिन्यं जागरः कार्श्यं निमित्तादिपरीक्षणम् ।।
अङ्गसादश्च चिन्ता च जाड्यं शय्यारतिस्सदा ।
एवं प्रोषितनाथाया विक्रियाः कथिता बुधैः ।।

१६६ उचितेऽह्नि सम्प्राप्ते नैति केनापि हेतुना ।
यस्याः पतिः सा विदग्धैर्विरहोत्कण्ठिता स्मृता ।।
विषयस्यापरिच्छित्तिरङ्गसादश्च वेपथुः ।
अनुभूतस्मृतिद्वेषो हृत्तापो बाष्पनिर्गमः ।।
दूतीसख्यादिविस्रम्भः स्वीयावस्थाप्रदर्शनम् ।
विरहोत्कण्ठितायाः स्युरेवं भावा विकारजाः ।।

१६७ रूपयौवनसम्पन्ना कुलभोगधनाधिका ।
वासोऽङ्गरागमाल्यर्तुवन्दनेन्दूदयादिभिः ।।
उद्दीप्यमानपञ्चेषुपञ्चबाणव्रणार्दिता ।
याऽभिसारयते कान्तं सा भवेदभिसारिका ।।

---

**(प्रोषितभर्तृका)**

१६५ जिस नायिका का दूर देश में गया हुआ पति स्वयं उचित समय देकर किसी दूसरी स्त्री से सम्भोग करने के कारण स्वयं दिये हुए समय पर या उचित समय पर नहीं आता है वह 'प्रोषित-भर्तृका नायिका' कहलाती है। मलिनता, जागरण, कृशता, निमित्त (शकुन आदि) की परीक्षा, अंगतनुता, चिन्ता, जड़ता तथा सदा शय्या पर पड़े रहना आदि इस प्रकार के—ये विकार विद्वानों द्वारा प्रोषितभर्तृका' नायिका के कहे जाते हैं।[४३]

**(विरहोत्कण्ठिता)**

१६६ जिसका पति किसी भी कारण से उचित दिन आ जाने पर भी नहीं आता है तो विद्वान उसे 'विरहोत्कण्ठिता' नायिका कहते हैं। विषय की अपरिमितता, अंगतनुता, वेपथु (कम्पन), अनुभूत स्मृति के प्रति द्वेष, हृदय में संताप, आँसू निकलना, दूती तथा सखी आदि का विश्वास तथा अपनी अवस्था दिखाना आदि इस प्रकार के विकारों से उत्पन्न भाव 'विरहोत्कण्ठिता' नायिका के हैं।[४४]

**(अभिसारिका)**

१६७ रूप तथा यौवन से सम्पन्न, कुलीन, भोग तथा धन से युक्त; तथा वास, अंगराग, माला, ऋतु, वन्दना, चन्द्रोदय आदि से उद्दीप्त; और कामदेव के पाँचों बाणों से घायल, जो नायिका किसी संकेत स्थान पर नायक को बुलाये वह 'अभिसारिका' नायिका कहलाती है।[४५]

१६८ विलीना स्वेषु गात्रेषु निश्शब्दपदसञ्चरा ।
पश्चान्निर्वर्तितपदा शङ्कमाना पदे पदे ॥
प्रभूतवेपथुमती स्वेदोदस्नपिताङ्गका ।
शार्दूलदर्शनत्रस्तहरिणीशाबवीक्षणा ॥
ज्योत्स्नीतमस्विनीयानयोग्यवेषविभूषिता ।
नीलीकुसुम्भमञ्जिष्ठारागैः पट्टोत्तरीयकैः ॥
अवकुण्ठितसर्वाङ्गी शनैर्याति पराङ्गना ।

१६९ आविस्स्मरस्मितमुखी मदारुणविलोचना ॥
स्नातानुलिप्तसर्वाङ्गी नानाभरणभूषिता ।
हर्षोदञ्चितरोमाञ्चव्याजाङ्कुरितमन्मथा ॥
वृत्ता परिजनैः स्फीतभोगोपकरणोज्ज्वलैः ।
नितम्बालम्बिरशनास्वनोद्भूतमनोभवा ॥
चरणाम्भोरुहरणन्मणिमञ्जीरमन्थरा ।
एवं प्रीताऽभिसरति वेश्या वैशिकनायकम् ॥

१७० विस्रस्तबाहुविक्षेपस्रंसद्धम्मिल्लमालिका ।

---

(परांगना—अभिसरण प्रकार)

१६८ जब परांगना (दूसरे की स्त्री) नायिका अभिसरण करती है तो वह अपना शरीर कपड़ों से ढँक लेती है, चलने पर पैरों की आवाज नहीं होने देती अर्थात् दबे पैरों से चलती है। कदम-कदम पर शंका करती हुई पीछे की ओर लौटती है, बेहद काँपती है, पसीने से नहा जाती है अर्थात् पसीने से समस्त अंग तरोवतर हो जाते हैं। सिंह के दर्शन से डरे हुए मृगशावक की दृष्टि के समान दृष्टि वाली हो जाती है। चाँदनी तथा अन्धकार मे जाने योग्य वस्त्रों को धारण करती है। नीली, कुसुम्भ तथा मंजिष्ठा राग के अनुसार उत्तरीय (दुपट्टे) से अवकुण्ठित (संकुचित या ढंके हुए) अंगवाली वह नायिका धीरे-धीरे चलती है।

(वेश्याभिसरण प्रकार)

१६९ आनन्द से मुस्कराते हुए मुख वाली, नशे के कारण लाल नेत्रों वाली, स्नान के कारण अनुलिप्त (रंजित) अंगों वाली, अनेक आभूपणों को धारण करती हुई, हर्ष से उठे हुए रोमांच के बहाने काम को अंकुरित करती हुई, अनेक भोग के उपकरणों से उज्ज्वल सेवकों से घिरी हुई, नितम्बों पर लटकी हुई कर्धनी के शब्द से काम को प्रकट करती हुई, चरण कमलों से पहने हुए मणि-नूपरों को धीरे-धीरे झनझनाती हुई—'वेश्या' नायिका वेशिक-नायक के पास प्रेमपूर्वक अभिसरण करती है।

(प्रेष्याभिसारिका अभिसरण प्रकार)

१७० बाहु विक्षेप को शिथिल करती हुई, धम्मिल पुष्प की माला को धारण करती हुई, लड़खड़ाती हुई गति से चलती हुई, रेशली-अंचल को हिलाती हुई,

व्याविद्धगतिसञ्चारश्लथमानांशुकाञ्चला ॥
प्रस्फुरद्भ्रूविलासश्रीःविभ्रमोत्फुल्ललोचना ।
अविरामादराभ्याससमदस्खलितजल्पिता ॥
प्रेष्याभियाति चेटीभिः प्रियमत्यन्तगर्विता ।

१७१ सुप्ते पराङ्गना तस्मिन् पार्श्वे तिष्ठति निश्चला ॥
अलङ्करोति निभृतं शीतैर्माल्यानुलेपनैः ।
प्रबोधयति भावज्ञा भावांस्तस्य प्रतीक्षते ॥

१७२ वेश्याऽतिमृदुभिः स्पर्शैः तत्केशोल्लेखनादिभिः ।
प्रबोधयति तद्बोधे प्रणयात्कुप्यति क्षणम् ॥

१७३ प्रेष्याक्ष्युन्मीलनैर्वस्त्रव्यजनैः पादमर्दनैः ।
प्रबोध्य निर्भर्त्सयति नासाभङ्गपुरस्सरम् ॥

१७४ चेष्टितान्येवमादीनि भवन्त्यासां पृथक्पृथक् ।

१७५ स्नेहोत्सिक्तैःकुलीनैश्च गुणिभिः काम्यते च या ॥
गृह्णाति कारणाद्रोषमनुनीता प्रसीदति ।

---

भ्रू-विलास की शोभा को दिखाती हुई, विलास से विकसित नेत्रों वाली, बिना विश्राम के आदर का अभ्यास करने वाली, नशे में अटपटी बातें करती हुई, अत्यन्त गर्विता प्रेष्या (दासी) चेटीओं के साथ प्रिय के पास अभिसरण करती है।

**(परांगना-सुप्तनायक-प्रबोधनक्रम)**

१७१ नायक के सो जाने पर निश्चला परांगना नायक के पास खड़ी हो जाती है, और चुपचाप शीतल माला तथा लेप से अलंकृत करती है, फिर वह भावज्ञा नायक को जगाती है, उसके भावों की प्रतीक्षा करती है।

१७२ वेश्या अत्यन्त कोमल स्पर्श तथा नायक के केशों में हाथ फेरकर आदि उपायों से सोते हुए नायक को जगाती है, फिर उसके जग जाने पर प्रणय के कारण क्षण-भर के लिए क्रोध करती है।

१७३ प्रेष्या (दासी) नेत्रोन्मीलन, वस्त्र-व्यंजन (अर्थात् कपड़े से हवा करने) तथा पाद-मर्दन (अर्थात् पैरों को दबाने) से सोते हुए नायक को जगाकर उसके सामने नाक सिकोड़ कर (तोड़कर) उसकी भर्त्सना करती है अर्थात् नायक झिड़कती है।

१७४ इस प्रकार इन सभी नायिकाओं की अलग-अलग चेष्टाएँ होती हैं।[४६]

**(उत्तम नायिका के गुण)**

१७५ स्नेह-सिंचन करने वाली, कुलीन तथा गुणी होने से जिस नायिका को नायक चाहता है, ग्रहण करता है, जो प्रिय के अपराध करने के कारण रोष करती है, क्रोध को शान्त करके प्रसन्न होती है, पति के अप्रिय करने पर भी जो

कुर्वतोऽप्यप्रियं भर्तुः प्रियमेव करोति च ॥
ईर्ष्यावत्यपराधेऽपि तूष्णीं वा सोत्तमा भवेत् ।
१७६ स्वयं कामयते पुंसः पुरुषैर्या च काम्यते ॥
अपराद्धाऽपराधे स्यादनृतेऽनृतभाषिणी ।
स्निह्यन्ती स्निह्यति परमुपकर्त्र्युपकर्तरि ॥
एवमादिगुणैर्युक्ता मध्यमा सा स्मृता बुधैः ।
१७७ कुप्यत्यकारणे कोपं न नियच्छति याचिता ॥
अरूपं रूपवन्तं वा गुणिनं निर्गुणं च वा ।
जीर्णं वापि युवानं वा या वा कामयते मुहुः ॥
रोषेर्ष्याकलहाक्रान्ता साधमा कथ्यते बुधैः ।
१७८ सर्वासामेव नारीणामेते साधारणा गुणाः ॥
स्वीयासु निभृतास्ते स्युरन्यदीयासु मध्यमाः ।
साधारणासु प्रथिता बुधैरूह्या यथारसम् ॥

**इति श्रीशारदातनयविरचिते भावप्रकाशने**
**श्रृङ्गारालम्बननायकनायिकादिस्वरूप-**
**निर्णयो नाम चतुर्थोऽधिकारः ॥**

---

पति का प्रिय ही करती है। ईर्ष्या करने वाली जो नायिका प्रिय के अपराध करने पर भी चुप रहती है वह 'उत्तमा' नायिका होती है।

**(मध्यमा)**

१७६ जो पुरुष को स्वयं चाहती है और पुरुष जिसको चाहता है, प्रिय के अपराध करने पर अपराध करती है, प्रिय के असत्य बोलने पर जो असत्य बोलती है, प्रेम किये जाने पर प्रेम करती है, उपकार किये जाने पर उपकार करती है आदि गुणों से युक्त ही विद्वानों द्वारा 'मध्यमा' नायिका कहलाती है।

**(अधमा)**

१७७ जो अकारण ही क्रोध करती है, प्रियतम के प्रार्थना करने पर भी क्रोध को शान्त नहीं करती है, जो रूपवान या कुरूप, गुणी या निर्गुणी (मूर्ख), युवक या वृद्ध किसी को भी बार-बार चाहती है तथा रोष, ईर्ष्या तथा कलह करने वाली नायिका विद्वानों द्वारा 'अधम' कहलाती है।

१७८ सभी स्त्रियों के ये साधारण गुण हैं। 'स्वकीयाओं' में वे गुप्त रहते हैं, परकीयाओं में मध्यम स्थिति में रहते हैं तथा साधारण स्त्रियों में प्रसिद्ध ही है। विद्वानों को रस के अनुसार (यथारस) समझ लेने चाहिए।

श्री शारदातनय-विरचित भावप्रकाशन में श्रृंगारालम्बननायक-
नायिकादिस्वरूपनिर्णय नामक चतुर्थ अधिकार समाप्त हुआ।

श्रीः

# अथ पंचमोऽधिकारः

१ उक्ताश्च नायकाः सर्वे नायिकाश्च पृथक्पृथक् ।
अवस्था नायिकादीनां सहायाश्च ततस्ततः ।।
इदानीं कथ्यतेऽस्माभिः सर्वासामेव योषिताम् ।
यौवनं तस्य भेदाश्च तदवस्था विचेष्टितम् ।।
नायकावान्तरभिदाः शृङ्गारैकरसाश्रयाः ।
नायिकावान्तरभिदास्तत्तत्सत्त्वगुणैर्युताः ।।
तासां विरक्ति रक्तिञ्च गम्यागम्येषु भावतः ।
अन्येऽपि ये प्रवक्ष्यन्ते तत्तत्कार्योपयोगिनः ।।
तत्र तत्रैव विज्ञेयास्तत्तदर्थानुषङ्गिणः ।
२ स्त्रीणां प्रायेण सर्वासां यौवनं च चतुर्विधम् ।।
प्रतियौवनमेतासां भवेद्भिन्नं विचेष्टितम् ।
३ आरूढरागं नयनमसमग्रारुणोऽधरः ।।
स्मरस्मेरं च वदनं गण्डयोर्गर्वजं रजः ।

---

१ सभी नायक, नायिकाएँ, नायिका आदि की पृथक्-पृथक् अवस्थाएँ तथा सहायक कह दिये । अब हम सभी स्त्रियों का यौवन उसके भेद, उसकी अवस्थाएँ, चेष्टाएँ, एक शृंगार-रस के आश्रित नायक के अवान्तर (अन्य) भेद, उन-उन सत्त्वगुणों से युक्त नायिका के अवान्तर (अन्य) भेद, गम्यागम्य पुरुषों के प्रति उन नायिकाओं की स्वभावतः विरक्ति तथा रक्ति कहते है और उस कार्य मे उपयोगी अन्य जो भी कहेंगे, वह सब उस-उस प्रसंग के अनुसार विद्वानों को वहाँ-वहाँ जान लेना चाहिए ।

**(यौवन)**

२ प्रायः सभी स्त्रियो का यौवन चार प्रकार का होता है, इनके प्रत्येक यौवन की भिन्न-भिन्न चेष्टाएँ होती है ।

**(प्रथम यौवन)**

३ स्त्रियो के प्रथम यौवन मे राग से चढे हुए लाल-लाल नेत्र, कुछ-कुछ लाल

अङ्गमुद्भिन्नलावण्यमाविर्वदनसौरभम् ॥
उद्भेदः स्तनयोः किञ्चिदविभक्ताङ्गसन्धिता ।
आभिरूप्यमकाठिन्यमङ्गानामतिमार्दवम् ॥
एवमादिगुणावस्था प्रथमे यौवने भवेत् ।
रतिक्लेशं न सहते मृदुस्पर्शाभिलाषिणी ॥
कृतादराऽङ्गसंस्कारे सखीकेलिषु लालसा ।
न हर्षश्च न शोकश्च सपत्नीदर्शनादिषु ।
सङ्गमे वल्लभस्यापि न विरज्यति रज्यति ।
यौवने प्रथमे स्त्रीणामेवमादिविचेष्टितम् ॥
४ पीनौ पयोधरौ गात्रं पूर्णावयवमन्थरम् ।
आयतं जघनं मध्यं कृशं श्रेणी समुन्नता ॥
रोमराजिः स्फुटा निम्ना नाभिर्व्यक्तं बलित्रयम् ।
ऊरू करिकराकारौ रक्तिमा पाणिपादयोः ॥
स्निग्धत्वमङ्गकेशेषु नयने दन्तपङ्क्तिषु ।
एवमादिगुणावस्था द्वितीये यौवने भवेत् ॥
अपराधं न सहते नानुनीता प्रसीदति ।
ईर्ष्यति प्रणयक्रुद्धा प्रतिपक्षाभ्यसूयिनी ॥

---

ओष्ठ, काम से प्रसन्न मुख, कपोल-प्रदेश पर गर्व से उत्पन्न रज, अगों में उत्पन्न लावण्य, प्रकट मुख-सौरभ, स्तनों का किंचित् आविर्भाव, गुथी हुई अंग सन्धियाँ, रूप के अनुकूल अकठोरता तथा अंगों की अति-मृदुता आदि गुणों की अवस्था होती है तथा इस प्रथम यौवन मे नायिका रति से उत्पन्न कष्ट को सहन नही कर पाती है, कोमल स्पर्श की अभिलाषा करती है, अंगों पर आदर से संस्कारों (चन्दनादि) को धारण करती है, सखियों के साथ केलि करने की लालसा रखती है, सपत्नी के दर्शन आदि से न हर्ष करती है और न शोक करती है। पति के समागम के समय विरक्त नहीं होती है बल्कि अनुरक्त होती है आदि स्त्रियों की चेष्टाएँ होती है।

**(द्वितीय यौवन)**

४ स्त्रियों के द्वितीय यौवन में पीन पयोधर, शिथिल अवयवों से पूर्ण शरीर, विशाल जघन-स्थल, पतला कटि-भाग, उन्नत श्रोणि (नितम्ब), स्पष्ट रोमावलि, गहरी नाभि, व्यक्त त्रिबलि, हाथी की सूढ के आकार वाली जंघाएँ, हाथ-पैरों में लालिमा तथा अंग, केश, नेत्र तथा दन्त-पंक्तियों में स्निग्धता आदि गुणों की अवस्था होती है। तथा इस द्वितीय यौवन में प्रायः नायिका प्रिय के अपराध

साभिप्रायाः सखीः स्निह्यत्याप्तान् क्रुध्यति बान्धवान् ।
गृह्णाति मानं सुदृढमिच्छत्यनुनयानपि ।।
रतिकेलिष्वनिभृता गर्विता चेष्टते रहः ।
द्वितीये यौवने प्रायः स्त्रीणामेतद्विचेष्टितम् ।।
५ अधरे रागमासृण्यमस्निग्धत्वं च चक्षुषि ।
छायावैगुण्यमङ्गानां खरस्पर्शित्वमेव च ।।
श्लथावयवता चापि कान्तिम्लानिः कपोलयोः ।
एवमादिगुणावस्था तृतीये यौवने भवेत् ।।
कामतन्त्रेषु वैदग्ध्यं कान्ताभीष्टानुकूलता ।
अनादरोऽपराधेषु प्रतिपक्षेष्वमत्सरः ।।
कान्तस्य चापरित्यागस्तदाकर्षणकौशलम् ।
तृतीये यौवने स्त्रीणामेवमादिविचेष्टितम् ।।
६ श्रोण्योश्च स्तनयोरूर्वोः जघनेऽधरगण्डयोः ।
निर्मांसता जर्जरता विलम्बितकपोलता ।।
एवमादिगुणावस्था चतुर्थे यौवने भवेत् ।

---

को सहन नहीं करती है, मनाये जाने पर प्रसन्न नहीं होती है, ईर्ष्या करती है, प्रणय के कारण क्रोध करती है, प्रतिपक्षी के प्रति असूया करती है, अभिप्राय से सखियों से प्रेम करती है, प्राप्त बान्धवो पर क्रोध करती है। मान-ग्रहण करती है, प्रार्थना करने वालों को अच्छी तरह से चाहती है, रति-केलि में अविनीत होती है, गर्वित होती है, एकान्त में चेष्टा करती है आदि स्त्रियों की चेष्टाएँ हैं।

**(तृतीय यौवन)**

५ स्त्रियों के तृतीय यौवन मे अधरों पर राग व कोमलता, आँखो में अस्निग्धता, छाया के समान अंगों की विगुणता (न्यूनता), कठोर स्पर्श, शिथिल अवयव तथा कपोल-प्रदेश की कान्ति की मलिनता आदि गुणों की अवस्था होती हैं तथा इस तृतीय यौवन में कामतन्त्र में चतुराई (विदग्धता), प्रिय की अभिलाषा के अनुकूल रहना, प्रिय के अपराध करने पर उसका अनादर करना, प्रतिपक्षी के प्रति मत्सर-भाव रखना, पति का अपरित्याग तथा उसको (पति को) आकर्षित करने को कुशलता आदि स्त्रियों की चेष्टाएँ है।

**(चतुर्थ यौवन)**

६ स्त्रियों के चतुर्थ यौवन में श्रोणि (नितम्ब), स्तन, ऊरु (जघा-स्थल), जंघन-भाग, कपोल-प्रदेश मांस रहित हो जाते हैं तथा जर्जरित हो जाते हैं, और कपोल लटक जाते हैं आदि गुणों की अवस्था होती है तथा इस चतुर्थ यौवन

अशक्तता चानुत्साहो रतिव्यायामकेलिषु ॥
प्रतिपक्षानुकूल्यञ्च कान्तैरपि सहासनम् ।
चतुर्थे यौवने स्त्रीणामेवमादिविचेष्टितम् ॥

७ आरभ्य षोडशाद्वर्षाद्द्वात्रिंशद्वत्सरावधि ।
यौवनं पुरुषाणां तु तथा यौवनचेष्टितम् ॥
साधारण्येन सर्वेषामेकरूपमिति स्मृतम् ।
तदेव सम्पत्प्रकृतिगुणादिपरिवर्धितम् ॥
तत्तद्विशेषतस्तेषु विशिष्टमिव दृश्यते ।

८ महोदयो महाभागः कृतज्ञो रूपवान्युवा ॥
मानी सुशीलः सुभगो विदग्धो वंशवानभीः ।
अल्पनिद्रो मधुरवागभिगम्यो भवेत्स्त्रिया ॥

९ विज्ञानरूपसम्पन्ना रूपयौवनशालिनी ।
देशकालविभागज्ञा कलाशिल्पविचक्षणा ॥
कार्याकार्यविशेषज्ञा भावज्ञा विनयान्विता ।
व्रीडावती क्षमायुक्ता लोकयात्रानुवर्तिनी ॥
एवमादिगुणैर्युक्ता पुंसां गम्यैव नायिका ।

---

में रति-व्यायाम तथा रति-केलि मे अशक्तता हो जाती है तथा उत्साह नष्ट हो जाता है। प्रतिपक्षी के प्रति अनुकूलता रहती है तथा प्रिय के साथ बैठती है आदि स्त्रियों की चेष्टाएँ हैं।[1]

७ १६ वर्ष की अवस्था से लेकर ३२ वर्ष की अवस्था तक पुरुषों का यौवन तथा यौवन की चेष्टाएँ साधारणतया सभी में एकरूप ही कही जाती है। वही (यौवन) सम्पत्ति, प्रकृति (स्वभाव), तथा गुणादि से बढ़ जाता है और उन पुरुषों में उस-उस विशेषता से विशिष्ट-सा दिखाई देता है।

८ महोदय, महाभाग, कृतज्ञ, रूपवान युवक, मानी, सुशील, सौभाग्यशाली, चतुर, कुलीन, अल्प-निद्रा वाला तथा मधुरभाषी पुरुष स्त्री के साथ अभिगमन के योग्य होता है।

९ ज्ञान-रूप से सम्पन्न, रूपवती, यौवनशीला, देश तथा काल के विभाग को जानने वाली, (नृत्य-गीतादि) कलाओं तथा शिल्पविद्या में निपुण, कार्याकार्य को जानने वाली, भावों को जानने वाली, विनयशीला, लज्जावती, क्षमाशीला तथा लोकाचार का पालन करने वाली आदि गुणों वाली नायिका पुरुष के साथ अभिगमन के योग्य होती है।

१० शास्त्रविच्छीलसम्पन्नो रूपवान्प्रियदर्शनः ।।
विक्रान्तो धृतिमांश्चैव वयोवेषकुलान्वितः ।
सुरभिर्मधुरस्त्यागी सहिष्णुरविकत्थनः ।।
अशङ्कितः प्रियाभाषी चतुरः सुभगश्शुचिः ।
कामोपचारकुशलो दक्षिणो देशकालवित् ।।
अदीनवाक्यः प्रियवाग्वाग्मी दक्षः प्रियंवदः ।
अलुब्धः सुखभोगी च श्रद्दधानो दृढव्रतः ।।
गम्यासु चाप्यविस्रम्भी मानी चेति हि वैशिकः ।
११ विशेषयेत्कलाः सर्वाः यस्मात्तस्मात्तु वैशिकः ।।
वेश्योपचारतो वापि वैशिकः परिकीर्तितः ।
उत्तमो मध्यमश्चेति कनिष्ठश्चेति स त्रिधा ।।

१२ अवशोऽपि हि कामस्य वशं यातीव दृश्यते ।
असङ्गोऽपि स्वभावेन सक्तवच्चेष्टते मुहुः ।।
त्यागी स्वभावमधुरः समदुःखसुखः शुचिः ।
कामतन्त्रेषु निपुणः क्रुद्धानुनयकोविदः ।।

---

**(वैशिक-नायक)**

१० शास्त्रवेत्ता, शील-सम्पन्न (सुशील), रूपवान, प्रियदर्शनवाला, शूर-वीर, धैर्यवान; आयु, वेष तथा कुल से अन्वित, सुरभि (सुन्दर), मधुर, त्यागी, सहिष्णु, अविकत्थन, अशंकित, मधुरभाषी, चतुर, सौभाग्यशाली, पवित्र, कामोपचार में कुशल, चतुर (दक्षिण), देश-काल को जानने वाला, अदीन वाक्य बोलने वाला, प्रिय वाक्य बोलने वाला, दक्ष, प्रिय बोलने वाला, अलोभी, सुखों को भोगने वाला, श्रद्धालु, दृढ़व्रत वाला, गम्य नायिका के प्रति अविश्वासी तथा मानी 'वैशिक' नायक होता है।[२]

**(वैशिक-निर्वचन)**

११ जिससे सभी कलाएँ विशेष हो जती है उसे 'वैशिक' कहते है। वेश्याओं को आनन्द प्रदान करने से भी 'वैशिक' होता है।[३] ये वैशिक उत्तम, मध्यम तथा कनिष्ठ भेद से तीन प्रकार का होता है।

**(उत्तम वैशिक)**

१२ जो काम के अवश होते हुए भी काम के वश में रहने वाला सा दिखायी देता है, जो स्वभाव से अनासक्त होते हुए भी आसक्तवत् वार-बार चेष्टा करता है, जो त्यागी, मधुर-स्वभाव वाला, दुःख-सुख में समान, पवित्र, कामतन्त्र में निपुण, क्रोध तथा अनुनय (विनय) का ज्ञाता होता है, जो स्त्री के किंचित

स्फुरितेऽनादरेकिञ्चिद्दयिताया विरज्यति ।
उपचारपरोऽप्येष उत्तमः कथ्यते बुधैः ॥

१३ व्यलीकमात्रे दृष्टेऽस्या न कुप्यति न रज्यति ।
ददाति काले काले च वसनादीनि भावतः ॥
सर्वार्थैरपि मध्यस्थतयैवोपचरन्पुनः ।
दृष्टे दोषे विरज्येत स भवेन्मध्यमः पुमान् ॥

१४ कामतन्त्रेषु निर्लज्जः कर्कशो रतिकेलिषु ।
अविज्ञातभयामर्षः कृत्याकृत्यविमूढधीः ॥
मूर्खः प्रसक्तभावश्च विरक्तायामपि स्त्रियाम् ।
मित्रैर्निवार्यमाणोऽपि पारुष्यं प्रापितोऽपि च ॥
अन्यस्नेहपरावृत्तां संयुक्तरमणामपि ।
स्त्रियं कामयते यस्तु सोऽधमः परिकीर्तितः ॥

१५ प्रणयी दयितः कान्तो नाथः स्वामी प्रियः सुहृत् ।
नन्दनो जीवितेशश्च सुभगो रुचिरस्तथा ॥
इत्थं नायकसंज्ञाः स्युः स्त्रीभिः प्रीतिप्रयोजिताः ।

---

अनादर कर देने से विरक्त हो जाता है तथा जो उपचारों से दूर रहता है वह विद्वानों द्वारा 'उत्तम वैशिक' नायक कहलाता है ।

**(मध्यम वैशिक)**

१३ जो नायिका के झूठ-मात्र देखने पर न तो क्रोध करता है और न अनुरक्त होता है । समय-समय पर भाव से वस्त्रादि देता है, पुनः जो नायिका के दोप-दृष्टि से देखने पर सभी अर्थों में मध्यस्थता से ही उपचार कर्म करता हुआ विरक्त हो जाता है वह पुरुष 'मध्यम' वैशिक नायक कहलाता है ।

**(अधम वैशिक)**

१४ जो काम-तन्त्रो मे निर्लज्ज होता है, जो रति-क्रीड़ा में कर्कश (कठोर) होता है, जो अज्ञात भय से क्रोध करने वाला, कृत्याकृत्य के विषय में जड़ बुद्धि वाला, मूर्ख, विरक्त स्त्रियों में भी आसक्त-भाव वाला होता है, मित्र के द्वारा रोके जाता हुआ भी जो कठोर वचन बोलता है, स्नेह प्राप्त होने पर भी जो दूसरे से स्नेह करता है तथा संयुक्त रमण करते हुए भी अन्य स्त्रियों की कामना करता है वह 'अधम-वैशिक' नायक कहा जाता है ।

**(नायक के नाम)**

१५ स्त्रियाँ नायक को प्रणयी, दयित, कान्त, नाथ, स्वामी, प्रिय, सुहृत, नन्दन जीवितेश, सुभग तथा रुचिर नाम से प्रेम में पुकारती हैं ।

१६ प्रसादयन्सखीमध्ये शैलोद्यानवनादिषु ।।
मिथ्यारुषा कलुषितां प्रणयी स निगद्यते ।
१७ वासोऽङ्गरागमाल्याद्यैः हृद्यैर्यः प्रेयसीं रहः ।।
प्रसादयन्प्रीणयति दयितः सोऽभिधीयते ।
१८ कथाभिः कमनीयाभिः काम्यैर्भोगैश्च सर्वदा ।।
उपचारैश्च रमयन्यः स कान्त इतीरितः ।
१९ सामदानार्थसम्भोगैः लालयन्प्रीणयन् सदा ।।
भजते रहसि प्रीतः स नाथ इति कथ्यते ।
२० निवारयन्नकृत्येभ्यः कर्तव्येभ्यः प्ररोचयन् ।।
स्वभावे स्थापयति यः स स्वामीति निगद्यते ।
२१ सत्यवागार्जवरतिरुपकुर्वन्प्रियं वदन् ।।
भजते यः स्वयं प्रीतः प्रियः स भवति स्त्रियाः ।
२२ दुःखे विपदि सम्मोहे कार्यकालात्ययेऽपि च ।।
हितान्वेषी च हितकृद्यस्सुहृत्सोऽभिधीयते ।
२३ श्लाघनीयः सखीमध्ये गुणैः सौजन्यजन्मभिः ।।
श्लाघयन्नन्दयति यः प्रियां नन्दन ईरितः ।

---

१६ जो पर्वत, उद्यान तथा वन आदि में सखियों के बीच में प्रेयसी को प्रसन्न करता हुआ झूठे क्रोध से कलुषित हो जाता है वह 'प्रणयी' कहा जाता है ।

१७ जो वास, अंगराग तथा माला आदि प्रसाधनों से प्रेयसी को एकान्त में प्रसन्न करता हुआ प्रसन्न होता है वह 'दयित' कहलाता है ।

१८ जो सर्वदा सुन्दर कथाओं को कहकर, इच्छुक भोगों तथा उपचारों से नायिका में रमण करता है वह 'कान्त' कहलाता है ।

१९ जो नायक सदा साम (प्रिय वचन), दान (भूषण आदि का दान) रूप सम्भोग से प्रेयसी को लाड़-प्यार करता हुआ एकान्त में उसका सेवन करता है वह 'नाथ' कहलाता है ।

२० जो नायक प्रेयसी को अकृत्य से रोकता हुआ, कर्तव्य के प्रति रुचि उत्पन्न करता हुआ, स्वभाव में स्थापित करता है वह 'स्वामी' कहा जाता है ।

२१ जो नायक सत्यवाणी तथा सरल रति से उपकार करता हुआ तथा प्रिय बोलता हुआ स्वयं प्रेमपूर्वक नायिका का सेवा करता है वह 'स्त्रियों का प्रिय' होता है ।

२२ जो हितान्वेषी नायक दुःख, विपत्ति तथा मूर्च्छा (सम्मोह) में और कार्यकाल के निकल जाने पर भी नायिका का हित करता है वह 'सुहृत्' कहलाता है ।

२३ जो नायक सौजन्य से उत्पन्न गुणों से सखियों के मध्य प्रशंसनीय होता है, तथा जो प्रिया की प्रशंसा करता हुआ आनन्द लेता है वह 'नन्दन' कहलाता है ।

२४ भजते यः प्रियामिष्टैः शयनासनभोजनैः ॥
अभीष्टाभिश्च लीलाभिर्जीवितेश इतीरितः ।
२५ सपत्नीनखदन्तादिचिह्नं यस्य न दृश्यते ॥
विस्मर्यमाणमानेर्ष्यः सुभगः सोऽभिधीयते ।
२६ भोग्येषु यत्राभिरुचिः तद्दानैरभिरोचयन् ॥
रुच्या प्रियां रमयति रुचिरः सोऽभिधीयते ।
२७ वामो विरूपो दुश्शीलो निर्लज्जो निष्ठुरः शठः ॥
धृष्टो दुराचार इति व्याहाराः कोपसम्भवाः ।
२८ वार्यते यत्र विषये यत्र चैव नियुज्यते ॥
तत्र तत्र विपर्येति स वामः परिकीर्तितः ॥
२९ नखदन्तव्रणैरङ्गैः सरसैः शिथिलीकृतः ।
विपरीतकथोऽमानी विरूप इति संज्ञितः ।
३० असहिष्णुतया क्रुद्धो वाच्यावाच्यं न वेत्ति यः ॥
न वेत्ति देशकालौ च स दुश्शील इति स्मृतः ।

---

२४ जो नायक अभीष्ट लीलाओं और अभीष्ट शयन, आसन तथा भोजन से प्रिया का सेवन करता है वह 'जीवितेश' कहा जाता है।

२५ जिस नायक के सपत्नी के द्वारा किये गये नख तथा दन्त आदि के चिह्न दिखायी नही देते हैं तथा जो नायिका के ईर्ष्यामान को भूलने वाला है, वह 'सुभग' कहलाता है।

२६ जिस नायक की भोगो में अभिरुचि होती है, वह (भूषण आदि के) दान से प्रिया में रुचि उत्पन्न करता हुआ रुचि से प्रिया में रमण करता है वह 'रूचिर' कहलाता है।

२७ वाम, विरूप, दुश्शील, निर्लज्ज, निष्ठुर, शठ, घृष्ट तथा दुराचारी—ये नायक के नाम नायिकाओं के द्वारा कोप में व्यवहृत होते हैं।

२८ जहाँ नायक को किसी विषय में रोका जाता है और किसी विषय में नियुक्त किया जाता है वहाँ-वहाँ वह विपरीत जाता है अर्थात् जिसमें रोका जाता है वहाँ नियुक्त होता है और जहाँ नियुक्त किया जाता है, वहाँ हट जाता है वह 'वाम' कहलाता है।

२९ जो सरस अंगों को नख तथा दन्त से घाव करके शिथिल कर देता है तथा उस-उस प्रसंग के विपरीत कथा के श्रवण से मान नहीं करता है वह 'विरूप' कहलाता है।

३० जो कामोद्वेग की असहिष्णुता के कारण क्रोध करता है, वाच्यावाच्य को नही जानता है तथा देश तथा काल को भी नहीं जानता है वह 'दुश्शील' कहा जाता है।

३१ परुषैरवमानैश्च वार्यमाणो मुहुर्मुहुः ।।
सापराधोऽपि यो गच्छेत्स निर्लज्ज इतीरितः ।
३२ कृतापराधोऽपि मुहुः प्रसादनपराङ्मुखः ।।
रिरंसति बलात्कारैः स निष्ठुर इतीरितः ।
३३ पुरः प्रियं वदन् सम्यगपरत्राप्रियं वदन् ।।
अर्थान्विनाशयन् गूढं स शठः परिपठ्यते ।
३४ दृष्टऽपराधे शपथैः नास्तीति बहुशो वदन् ।।
सचिह्नः सन्निधत्ते यः स धृष्ट इति कथ्यते ।
३५ दोषेत्वविद्यमानेऽपि योऽविमृश्य समाचरन् ।।
ताडनं बन्धनं वापि दुराचार इतीरितः ।
३६ इत्थं नायकभेदास्तु भरतेन प्रदर्शिताः ।।
नायिकानां च सर्वासां सत्त्वमत्राभिधीयते ।
धर्मादर्थोऽर्थतः कामः कामात्सुखफलोदयः ।।
सुखस्य मूलं प्रमदास्तासु सम्भोग इष्यते ।
नानाशीलाश्च ताः सर्वाः स्वं स्वं सत्त्वं समाश्रिताः ।।

---

३१ जो नायक परुष (कठोर) वचन तथा अपमान से बार-बार रोका जाता हुआ तथा अपराध करने पर भी प्रिया के साथ गमन करता है वह 'निर्लज्ज' कहा जाता है ।

३२ जो नायक बार-बार अपराध करने पर भी नायिका की प्रसन्नता से पराङ्मुख होता हुआ बलात्कार से उसमें रमण करने की इच्छा करता है वह 'निष्ठुर' कहा जाता है ।

३३ जो सामने मीठा तथा सत्य बोलता है, पीछे अप्रिय बोलता है तथा रहस्य का उद्घाटन करता है वह 'शठ' होता है ।

३४ जो अन्य स्त्री से सम्भोग करने के कारण अपराध किये जाने पर भी शपथ खाकर अपने किये गये अपराध को स्वीकार नही करता है और बार-बार कहता है कि 'मै शपथ खाकर कहता हूँ कि मैने ऐसा नहीं किया है' तथा जो अन्य-स्त्री-सम्भोग के चिह्न धारण करता है, वह 'धृष्ट' कहलाता है ।

३५ जो नायक दोष के विद्यमान न रहने पर भी अविश्वास का आचरण करता हुआ नायिका को पीटता है तथा बाँध देता है वह 'दुराचार' कहलाता है ।

३६ इस प्रकार आचार्य भरत के अनुसार नायक के भेद कह दिये ।[४] अव सभी नायिकाओं के सत्त्व को कहते है । धर्म से अर्थ, अर्थ से काम, काम से सुख-रूपी फल का उदय होता है । सुख का मूल प्रमदायें (स्त्रियाँ) होती हैं, उनमे सम्भोग की कामना की जाती है । अपने-अपने सत्त्व के आश्रित वे सभी

उपसृप्ता यथाशीलं तृप्ता विदधते रतिम् ।
देवदानवगन्धर्वयक्षरक्षःपतत्रिणाम् ।
पिशाचनागव्यालानां नरवानरहस्तिनाम् ।
मृगमीनोष्ट्रमकरखरसूकरवाजिनाम् ।।
महिषाजगवादीनां तुल्यशीलाः स्त्रियः स्मृताः ।
३७ प्रत्यङ्गोपाङ्गयोरङ्गं स्नैग्ध्यमारोग्यमार्जवम् ।
चिरान्निमेषो दानेच्छा सङ्गीताभिरतिर्मुहुः ।।
स्वेदाल्पत्वं रतेस्साम्यं भावज्ञानं कृतज्ञता ।
यस्याः स्थिराणि सा योषिद्देवशीलेति कथ्यते ।।
३८ स्थिरक्रोधा शठाऽधर्मरता निष्ठुरभाषिणी ।
मद्यमांसप्रिया लुब्धा चपला कलहप्रिया ।
ईर्ष्यावती चलस्नेहा दैत्यशीलेति कथ्यते ।।
३९ स्निग्धत्वक्केशनयना नखदन्तक्षतिप्रिया ।
आरामभोग्या मृद्वी च स्मितपुर्वाभिभाषिणी ।।

स्त्रियाँ भिन्न-भिन्न शील वाली होती है । नायक के निकट गयी हुई नायिका यथाशील तृप्त होती हुई रति को धारण करती है । देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, पक्षी, पिशाच, नाग, व्याल (सर्प), नर, वानर, हाथी, मृग, मीन (मछली), ऊँट, मगर, खर (गधा), सूकर, घोड़ा, भैंस, बकरी तथा गाय के तुल्य शील वाली स्त्रियाँ होती है ।

(देव-शीला)

३७ जिसके प्रत्यय, उपांग तथा अंग में स्निग्धता, नीरोगता, सरलता होती है तथा बहुत देर तक एकटक देखना, दान की इच्छा, संगीत के प्रति बार-बार प्रेम, स्वेद (पसीने) की अल्पता, रति की समता, भावों का ज्ञान तथा कृतज्ञता आदि गुण जिसमें रहते हैं, वह 'देव-शीला' कहलाती है ।

(दैत्य-शीला)

३८ जो स्थायी क्रोध-वाली होती है, तथा जो शठ, अधर्म-रता, निष्ठुर बोलने वाली होती है तथा जिसको मद्य तथा मांस प्रिय होते हैं, जो लोभी, चपला, कलहप्रिया, ईर्ष्यावती तथा चंचल स्नेह वाली होती है, वह 'दैत्य-शीला' कहलाती है ।

(गन्धर्व-शीला)

३९ जो स्निग्ध (चिकनी) त्वचा, केश तथा नेत्र वाली होती है तथा जिसको नख-क्षति तथा दन्त-क्षति प्रिय होती है, जो आराम (बगीचा) में भोग करने योग्य होती है, जो मृदुल व मुस्कराती हुई बोलने वाली होती है, जो कृशांगी,

तन्वी सङ्गीतसंसृष्टा मन्दापत्या रतिप्रिया ।
गन्धर्वशीला विज्ञेया पुष्पशय्याभिलाषिणी ।।
४० स्वल्पविस्वेदकणिका मद्यगन्धामिषप्रिया ।
चिरविस्मृतदृष्टेषु कृतज्ञत्वात्प्रियंवदा ।।
अदीर्घशायिनी मेधाविनी यक्षाङ्गना स्मृता ।
४१ बृहदायतसर्वाङ्गी रूक्षविस्तीर्णलोचना ।।
खररोमा दिवास्वप्ननियताऽत्युच्चभाषिणी ।
नखदन्तक्षतकरी क्रोधेर्ष्याकलहप्रिया ।।
निशाविहारशीला च या सा राक्षसशीलिनी ।
४२ व्यावृत्तास्या शीघ्रगतिः क्षीरोद्यानफलप्रिया ।।
नैकत्र नियता तीक्ष्णा चपला बहुभाषिणी ।
पतत्रिशीलाविज्ञेया प्रतिपत्तिपराङ्मुखी ।।
४३ न्यूनाधिकाक्षिदन्तोष्ठकर्णस्तननखांगुलिः ।
रोमशाङ्गी महारावा सुरते कुत्सितक्रिया ।।

---

संगीत से युक्त, सन्तान के प्रति मन्द, रति-प्रिया होती है तथा जो पुष्पों की शय्या की अभिलाषा करती है, वह 'गन्धर्व-शीला' जानी जाती है।

**(यक्ष-शीला)**

४० जिसके थोड़ी-थोड़ी पसीने की बूँदें निकलती रहती है तथा जिसको मद्य, सुगन्ध तथा मांस प्रिय होता है, चिर-विस्मृत प्रिय को देखने पर जो कृतज्ञ होने के कारण प्रिय बोलती है, जो अधिक समय तक नहीं सोती है तथा जो बुद्धिमती होती है, वह 'यक्ष-शीला' स्त्री कहलाती है।

**(राक्षसशीला)**

४१ जिसके बड़े तथा चौड़े शरीरावयव, लाल-लाल बड़ी आँखे तथा कठोर बाल होते है तथा जिसका दिन मे सोना निश्चित होता है, जो जोरो से बोलती है, जो नाखून तथा दाँतो से प्रिय को घायल करने वाली होती है; जिसको क्रोध, ईर्ष्या तथा कलह प्रिय होते है तथा जो रात्रि में बिहार करना पसन्द करती है, वह 'राक्षस-शीला' कहलाती है।

**(पतत्रि-शीला)**

४२ जिसका बहुत बड़ा मुँह होता है, जो शीघ्र चलती है; जिसको दूध, उद्यान, तथा फल प्रिय होते है; जो एक स्थान पर नहीं रहती है, जो तीक्ष्ण, चंचल, बहुभापिणी तथा ज्ञान से पराङ्मुख होती है, वह पतत्रि-शीला जानी जाती है।

**(पिशाच-शीला)**

४३ जिसके कम या अधिक आँखें, दाँत, ओष्ठ, कान, स्तन, नाखून या अगुलियाँ होती है जिसके शरीर पर बाल होते हैं, जिसकी तेज आवाज होती है, जो

बालोद्वेगकरी रात्रिचारिण्यनृतभाषिणी ।
पिशाचशीला विज्ञेया मद्यमांसबलिप्रिया ॥

४४ मानावमानरहिता रूक्षत्वक्कटुकस्वना ।
विशालाक्षी शठा धृष्ठा व्यालशीलेति कथ्यते ॥

४५ निद्रालुः कोपना तिर्यग्गतिस्ताम्रविलोचना ।
गन्धाभिलाषिणी तीक्ष्णनासोग्रदशना चला ॥
नागशीलेति विज्ञेया सदा श्वसनशालिनी ।

४६ ऋज्वी सुहृत्प्रिया देवगुरुभक्ता क्षमान्विता ॥
उपचारपरा नित्यमहङ्कारविवर्जिता ।
सुशीला मर्त्यशीला स्याद्गन्धमाल्यरतिप्रिया ।

४७ अल्पगात्रा फलारामप्रिया पिङ्गलरोमदृक् ।
प्रसह्य फलशीला च तीक्ष्णा च चपला तथा ॥
शीघ्रकोपप्रसादा च कपिशीलेति कथ्यते ।

---

रति-क्रीड़ा में घृणित कर्म करती है, जो बच्चों को डराने वाली, रात्रि में विचरण करने वाली तथा असत्य-भाषिणी होती है तथा जिसको मद्य, मांस तथा बलि-प्रिय होती हैं, वह 'पिशाच-शीला' जानी जाती है ।

**(व्याल-शीला)**

४४ जो मानापमान से रहित, रूखी-रूखी त्वचा वाली, तीखे स्वर वाली, विशाल आँखों वाली तथा शठ और धृष्ट होती है, वह व्याल-शीला कही जाती है ।

**(नाग-शीला)**

४५ जो निद्रालु (सोने वाली), क्रोध करने वाली, तियर्क् गति वाली, रक्त नेत्रों वाली, गन्धाभिलाषिणी, नुकीली नाक तथा तीक्ष्ण दाँतों वाली, चचला तथा निरन्तर वायु का सेवन करने वाली होती है, वह 'नाग-शीला' जानी जाती है।

**(मर्त्य-शीला)**

४६ जो सरल, सुहृत्प्रिय, देव तथा गुरु की भक्त, क्षमाशीला, परापकारी, नित्य अहकार से रहित तथा सुशीला होती है; जिसको गन्ध, माला तथा रति-प्रिय होती है, वह 'मर्त्य-शीला' होती है ।

**(कपि-शीला)**

४७ जो हल्के शरीर वाली होती है, जिसको फल तथा बगीचे प्रिय होते हैं, जो पीले-भूरे बालों वाली होती है, जो बलपूर्वक रति क्रीड़ा करती है, जो तीखी, चंचल तथा शीघ्र क्रोध करने वाली और शीघ्र प्रसन्न होने वाली होती है, वह 'कपि-शीला' कहलाती है ।

४८ मन्दायतगतिर्मन्दचेष्टाऽत्यशनलालसा ।।
दीर्घरोषप्रसादा च हस्तिशीलेति कथ्यते ।
४९ शीघ्रगा चपला भीरुर्गीतवाद्यरतिप्रिया ।।
चलविस्तीर्णनयना कोपना विरहासहा ।
मृगशीलेति विज्ञेया वनशय्यासनप्रिया ।।
५० बहुभृत्यवती दूरगामिनी सलिलप्रिया ।
दीर्घगात्री दुराचारा मत्स्यशीलाऽनिमेषिणी ।।
५१ दीर्घोन्नततरग्रीवा लम्बोष्ठी निष्ठुरस्वना ।
कट्वम्ललवणप्रीता भवेदुष्ट्री वनप्रिया ।।
५२ स्थूलशीर्षाञ्चितग्रीवा दारितास्या महास्वना ।
ज्ञेया मकरसत्त्वेति सर्वैर्मत्स्यगुणैर्युता ।।

---

**(हस्ति-शीला)**

४८ जिसकी मन्द तथा आयत (लम्बी) गति, मन्द चेष्टा तथा अधिक खाने की लालसा होती है; तथा जो बहुत क्रोध करती है और बहुत प्रसन्न होती है, वह 'हस्ति-शीला' कही जाती है ।

**(मृग-शीला)**

४९ जो शीघ्र चलने वाली, चंचल तथा डरपोक होती है, जिसको गीत-वाद्य तथा रति प्रिय होती है, जो चंचल तथा विशाल नेत्रों वाली, क्रोध करने वाली तथा विरह को सहन न करने वाली होती है तथा जिसको वन में सोना-बैठना अच्छा लगता है, वह 'मृग-शीला' जानी जाती है ।

**(मत्स्य-शीला)**

५० जो बहु सेवक वाली तथा दूरगामिनी होती है, जिसको जल प्रिय होता है तथा जो लम्बे शरीर वाली, दुराचारिणी तथा अपलक-दृष्टि वाली होती है, वह 'मत्स्य-शीला' होती है ।

**(ऊष्ट्री)**

५१ जो लम्बी तथा ऊँची गर्दन वाली, लम्बे (लटके हुए) ओठों वाली, निष्ठुर शब्द वाली होती है तथा जिसको कटु (कड़ुवे), अम्ल (खट्टे) तथा लवण (नमकीन) पदार्थ प्रिय होते है और वन (जंगल) प्रिय होते हैं वह 'ऊष्ट्री' कहलाती है ।

**(मकर-सत्त्वा)**

५२ जिसका स्थूल (बड़ा) शिर, स्थिर (मजबूत)—गर्दन, अधिक खुला हुआ मुँह तथा तेज स्वर (आवाज) होता है और जो मत्स्य (मकर) के सभी गुणों से युक्त होती है, वह 'मकर-सत्त्वा' जानी जाती है ।

५३ स्थूलजिह्वोष्ठदशना रूक्षत्वक्कटुभाषिणी ।
रतिप्रिया सदा हृष्टा खरशीलेति कथ्यते ॥
५४ सपत्नीद्वेषिणी रुष्टा बह्वपत्या दरीरता ।
दीर्घास्या पिङ्गदृग्रोमा सौकरं शीलमाश्रिता ॥
५५ विभक्तपार्श्वोरुकटीस्तनश्रोणिशिरोधरा ।
दानशीला ऋजुस्थूलकेशा मधुरभाषिणी ॥
कोपना रतिलोला च हयशीलेति कथ्यते ।
५६ स्थूलदन्ता पृथुश्रोणिः खररोमारुणेक्षणा ॥
अभीरुरुन्नतास्या च लोकद्विष्टा रतिप्रिया ।
सलिलारण्यरसिका माहिषं शीलमाश्रिता ॥
५७ कृशा तरलदृक्सूक्ष्मरोमा तनुभुजान्तरा ।
शीतभीरुर्जलोद्विग्ना बह्वपत्या वनप्रिया ॥
ऊष्मलाङ्गी सञ्चरिष्णुरजशीलेति कथ्यते ।

---

(खर-शीला)

५३ जिसकी स्थूल (मोटी) जीभ, मोटे होठ तथा बड़े दाँत होते हैं, जो रूखा तथा कटु (कड़ुवा) बोलती है जिसको रति-प्रिय होती है तथा जो सदा प्रसन्न रहती है, वह 'खर-शीला' कहलाती है।

(सौकर-शीला)

५४ जो सपत्नी से द्वेष करने वाली, क्रोधी, बहुसन्तान वाली, दरी-रता (गढ्ढे प्रिय), लम्बे मुँह वाली तथा पीली आँख तथा बाल वाली होती है, वह 'सौकर-शीला' कहलाती है।

(हय-शीला)

५५ जिसके पार्श्व-भाग, ऊरू, कटि-भाग, स्तन श्रोणि (नितम्ब) तथा गर्दन आदि अवयव सुडौल होते हैं, जो दानशीला, सीधे तथा मोटे बालों वाली, मधुर-भाषिणी, क्रोधी, तथा रति-क्रीड़ा मे काँपने वाली होती है, वह 'हय-शीला' कही जाती है।

(माहिष-शीला)

५६ जिसके बड़े दाँत, पृथु-श्रोणि (चौड़े नितम्ब), कठोर-बाल, लाल आँखें होती हैं, जो निर्भीक, उठे हुए मुँह वाली, लोक द्वेषी, रति-प्रिया तथा जल व जंगल में आनन्द लेने वाली होती है, वह 'माहिष-शीला' कहलाती है।

(अजा-शीला)

५७ जो कृश (पतली), तरल नेत्रों वाली, कोमल (सूक्ष्म) बालों वाली, तनु (छोटी) भुजाओं वाली होती है, जो शीत से डरती है, जल से डरती है, बहु-सन्तान वाली होती है जिसको वन-प्रिय होता है तथा जो गर्म अंग वाली और सचरण की इच्छा करने वाली होती है, वह 'अजा-शीला' कही जाती है।

५८ पृथुपीनोन्नतश्रोणिस्तनुजङ्घा सुहृत्प्रिया ॥
पितृदेवार्चनरता दृढारम्भा प्रजाहिता ।
स्थिरा परिक्लेशसहा गवां सत्त्वं समाश्रिता ॥
५९ एवं प्रदर्शितं शीलं स्त्रीणां भरतवर्त्मना ।
विज्ञाय च यथासत्त्वमुपसर्पेत्ततो बुधः ॥
६० उपचारो यथासत्त्वं स्त्रीणामल्पोऽपि हर्षदः ।
महानप्यतथायुक्तो नैव तुष्टिकरो भवेत् ॥
वासोऽङ्गरागाभरणमालाशय्यासनादिषु ।
यत्र यत्र स्पृहा तत्तद्देशकालानुकूलतः ॥
६१ अत्यादरेण सत्कार उपचार इतीरितः ।
अतो रतिविवृद्ध्यर्थं स्त्रीषु शीलानुकूलतः ॥
यथानुकूलं पुरुषैरुपचारो विधीयताम् ।
६२ उपचारस्त्रिधा वेश्याकुलजाऽन्याविभागतः ॥

---

**(गवासत्त्वमाश्रिता)**

५८ जिसके चौड़े, मोटे तथा उठे हुए नितम्ब होते है तथा जिसकी पतली जंघाएँ होती हैं। जो सुहृत्प्रिय, पितृ तथा देवताओं की पूजा में रत, दृढ़ी, बच्चों पर प्यार करने वाली, वफादार तथा कष्टों को सहन करने वाली होती है, वह 'गवासत्त्वमाश्रिता' कहलाती है।

५९ इस प्रकार भरत के अनुसार स्त्रियों के शील कह दिये। किसी भी समझदार व्यक्ति को स्त्री के सत्त्व को समझकर ही उसके सत्त्व के अनुसार उसके पास जाना चाहिए।[५]

**(उपचार)**

६० यद्यपि सत्त्व के अनुसार स्त्रियों का 'उपचार' बहुत कम है, फिर भी वह उन्हें हर्ष प्रदान करता है। जबकि सत्त्व के सर्वथा अनुपयुक्त उनके महान् कर्म भी उन्हें सन्तोष प्रदान नहीं करते है। वास, अंगराग, आभरण (वस्त्र), माला, शय्या तथा आसन आदि मे जहाँ-जहाँ इच्छा (स्पृहा) होती है, उस-उस देश तथा काल की अनुकूलता से होती है।

**(उपचार-लक्षण)**

६१ अधिक आदर के साथ किया गया सत्कार-कर्म 'उपचार' कहलाता है। अतः शील की अनुकूलता से स्त्रियों में रति की वृद्धि के लिए यथानुकूल पुरुषों को उपचार का विधान करना चाहिए।

**(उपचार के भेद)**

६२ 'उपचार' वेश्या, कुलजा तथा अन्या (परकीया) के भेद से तीन प्रकार का होता है। विभिन्न कारणों से उत्पन्न काम युवक-युवती के बीच सर्वत्र देखा

नानाबीजोद्भवः कामो यूनोः सर्वत्र दृश्यते ।
तत्तदालम्बनगुणैरुत्तमो मध्यमोऽधमः ।।
वासोऽङ्गरागाभरणमालाशय्यासनादयः ।
साधारणाः कुलीनानां वेश्यादीनाञ्च योषिताम् ।।
६३ कुलाङ्गनोपचारस्तु सत्यार्जवपुरस्सरः ।
अवस्थादेशकालादिप्रधानोऽन्यासु दृश्यते ।।
अर्थितानपराधादिप्रधानो गणिकाश्रयः ।
६४ यत्र कामसमुत्पत्तिस्तत्र रक्तिं विरक्तताम् ।।
लक्षयेल्लक्षणैस्तैस्तैरन्योन्यं स्त्री पुमानपि ।
६५ रक्ता चेत्प्रथमं योषिदनुरक्तो भवेत्पुमान् ।।
एष स्वभावसुभगः सम्भोगः स्यात्स उत्तमः ।
६६ अथ चेदेककालीना यूनोरन्योन्यरक्तिमा ।।
एष सम्भोगलीला स्यात्स कामो मध्यमः स्मृतः ।
६७ एकत्रैवानुरक्तिश्चेद्यूनोर्हास्यः स चाधमः ।।
रागापरागचिह्नानि योषितां लक्षयेदतः ।

---

जाता है। उस-उस आलम्बन के गुणों के अनुसार वह उत्तम, मध्यम तथा अधम— तीन प्रकार का होता है। कुलीन तथा वेश्या आदि स्त्रियों के वास, अंगराग, आभरण (वस्त्र), माला, शय्या तथा आसन आदि साधारण उपचार होते हैं।

६३ कुलांगनाओं का उपचार सत्य तथा सरलतापूर्वक होता है। 'परकीया' नायिकाओं में उपचार अवस्था, देश तथा काल आदि की प्रधानता से रहता है। 'वेश्या' के आश्रित उपचार प्रार्थना तथा अनपराध आदि की प्रधानता से होता है।

६४ जहाँ काम की उत्पत्ति होती है वहाँ विरक्तों का राग उत्पन्न होता है। स्त्री-पुरुष दोनों अन्योन्य (एक-दूसरे से) उन-उन लक्षणों से उसको जानें।

(उत्तम)

६५ जब पहले स्त्री पुरुष के प्रति अनुरक्त होती है और बाद में पुरुष उसके प्रति अनुरक्त होता है तो यह स्वभाव से सुन्दर सम्भोग होता है और वह 'उत्तम' काम कहलाता है।

(मध्यम)

६६ जब युवक-युवती के बीच एक ही समय में परस्पर अनुरक्ति होती है तो यह 'सम्भोग-लीला' होती है और वह 'मध्यम' काम कहलाता है।

(अधम)

६७ जब युवक-युवती के बीच एक साथ ही अनुरक्ति होती है और हास्यास्पद होती है तो वह 'अधम' काम कहलाता है।
अतः स्त्रियों के रागापराग चिह्नों को कहते हैं।

६८ स्त्रियो जातानुरागाया नायके लक्षणान्विते ।।
कुलीनायाः प्रथमतो दूरे रोमोद्गमो भवेत् ।
स्निग्धञ्च मसृणं चक्षुरधरः स्पन्दते स्फुटम् ।।
स्मितोत्तरञ्च वचनं स्वेदोदश्च कपोलयोः ।
ऊर्वोः सम्पीडनं चाङ्गे बाहुस्वस्तिकबन्धनम् ।।
आलिङ्गनं मुहुः सख्यास्तदङ्गेऽङ्गसमर्पणम् ।
नीवीं विस्रस्य नहनं वेपथुस्तत्पथस्थितिः ।।
वचने वचनं तूष्णीं वीक्षणेष्वनवेक्षणम् ।
इत्यादिभावैर्भावज्ञो रक्तां विद्यात्कुलाङ्गनाम् ।।
६९ कर्णकण्डूयनं नाभोरूर्वोः किञ्चित्प्रकाशनम् ।
विमर्दनञ्च स्तनयोर्नीवीविस्रंसनं मुहुः ।।
अन्यापदेशकथनमन्यैः सस्मितभाषणम् ।
विलोकनञ्च सव्रीलमङ्गुष्ठाग्रविलेखनम् ।।
नखनिस्तोदनं केलिः सखीनिर्भर्त्सनं मृषा ।
पदान्तरे स्थितिर्व्याजादञ्जलिर्देवताच्छलात् ।।
भावैरित्यादिभिर्वेश्यामनुरक्तां विभावयेत् ।

---

(कुलजा)

६८ सर्वप्रथम दूर से ही लक्षणान्वित नायक को देखकर अनुरागिणी कुलीन नायिका के रोमाच होता है, आँखें प्रेम से भर जाती हैं और कोमल हो जाती हैं, अधर फड़कने लगते है। बात पूछे जाने पर कुलांगना मुस्कराकर उत्तर देती है, कपोल-प्रदेश पर पसीने की बूंदें निकल आती है। जंघाओ को आपस में रगड़ती है, अंग को भुजाओं की स्वस्तिक[६] मुद्रा में बाँधती है। बार-बार सखी का आलिगन करती है, उसके शरीर पर अपने शरीर को गिरा देती है। खुली हुई नीवी को बाँधती है, उसके मार्ग में रुकने पर काँपती है, बोलने पर चुप हो जाती है, देखने पर दृष्टि हटा लेती है इत्यादि भावों से भावज्ञ कुलांगना के राग को जानते है।

(वेश्या)

६९ वेश्या नायिका कान खुजाती है, नाभि तथा जंघाओ को थोड़ा-थोड़ा दिखाती है। स्तनों को दबाती है, नीवी को बार-बार खोलती है, अन्य बात का बहाना कर अन्य के साथ मुस्कराकर बोलती है। लज्जा के साथ देखती है, अँगूठे से लिखती है, नाखूनों को साफ करती है। केलि करने पर सखियों से झूठ ही भर्त्सना करती है। कुछ कदम चलकर बहाने से रुक जाती है। देवता के बहाने से हाथ जोड़ती है इत्यादि विभावों से 'वेश्या' का अनुराग जाना जाता है।

७० दृष्टे दृशोर्विकासश्च माधुर्य भाषणेऽन्यतः ॥
प्रसादो वदने हर्षः सम्भ्रमस्तस्य दर्शने ।
अदर्शने च मूर्च्छा च तत्सत्कारेषु कौतुकम् ॥
स्वभर्तुः प्रमुखे तस्य स्मरणं सुरतादिषु ।
प्रेषणं भोग्यवस्तूनां समाजे तस्य गर्हणम् ॥
सर्वत्र तस्य वाक्यस्य प्रीतिपूर्वं परिग्रहः ।
मदम्ब नाथ मन्नाथेत्येवं बालोपलालनम् ॥
भावैरेवंविधैरन्यां लक्षयेन्मदनातुराम् ।
७१ ये भावा रागचिह्नानि स्त्रीणामुक्ताः पृथक्पृथक् ॥
साधारणास्ते सर्वासां स्त्रीणामित्याह मारुतिः ।
७२ एवं भावान्परीक्ष्यैव रक्ताश्चेदनुरञ्जयेत् ॥
नायकेष्वनुरक्तेषु रतिं पुष्यन्ति योषितः ।
आभ्यन्तरोपचारस्तु रक्तायाः कथ्यतेऽधुना ॥
७३ रक्ता विविक्तवसतिं प्रियेण सह वाञ्छति ।
गुणान् सखीनामाख्याति स्वधनं प्रददाति च ॥

---

(परकीया)

७० प्रिय के देखने पर जिसकी आँखें खिल जाती है, बोलने पर मधुर बोलती है, मुख प्रसन्न हो जाता है। उसके (प्रिय के) दर्शन पर हर्ष और घबराहट होती है, न देखने पर मूर्च्छित हो जाती है। उसके (प्रिय के) द्वारा सत्कार किये जाने पर कौतुक (कौतूहल) उत्पन्न हो जाता है, सुरत-क्रीड़ा आदि में अपने पति के सामने आने पर उस (प्रिय) का स्मरण करती है, प्रिय के द्वारा भोग्य वस्तुओं के भेजे जाने पर समाज में उसकी (प्रिय की) निन्दा करती है। सर्वत्र प्रिय के वाक्यों को प्रेमपूर्वक ग्रहण करती है, 'मेरी मां ! नाथ ! मेरे नाथ !' ऐसा कहकर बच्चे को लाड़ करती है-- -इस प्रकार के भावों से कामातुरा परकीया का लक्षण जाना जाता है।[७]

७१ स्त्रियों के जो राग के चिह्न-स्वरूप भाव हैं वह पृथक्-पृथक् कह दिये। वे सभी स्त्रियों में साधारण (सामान्य) ही होते हैं, ऐसा मारुति ने कहा है।

७२ इस प्रकार के भावों की परीक्षा करके ही रागी पुरुष को अनुराग करना चाहिए, नायक के अनुरक्त होने पर स्त्रियाँ रति की पुष्ट करती है। अब रक्ता के 'आभ्यन्तर-उपचार' को कहते हैं।

(आभ्यन्तर-उपचार)

७३ प्रिया प्रिय के साथ एकान्त में रहना चाहती है, सखियों के गुणों को कहती है, अपने धन को देती है, मित्रों की पूजा करती है, शत्रुओं से द्वेष करती है,

सम्पूजयति मित्राणि द्वेष्टि शत्रुजनं तथा ।
समागमं प्रार्थयते दृष्ट्वा हृष्यति चाधिकम् ॥
तुष्यत्यस्य वचोभङ्ग्या सस्नेहञ्च निरीक्षते ।
सुप्ते च पश्चात्स्वपिति चुम्बत्यनभिचुम्बिता ॥
प्रियेणालिङ्गयत्यङ्गं गाढमालिङ्गति प्रियम् ।
स्वयमारभते स्वैरं स्नानादिषु च कर्मसु ॥
प्रथमं चेष्टते स्वैरं बाह्ये चाभ्यन्तरे रते ।
न विश्लेषयते गात्रमाश्लिष्टा च कदाचन ॥
तेनैव भोग्यवस्तूनि भुङ्क्तेऽन्यत्राहृतान्यपि ।
रतिकेलिष्वनिभृता स्वदते स्विद्यति क्षणम् ॥
न दृष्टिमन्यतो धत्ते न शृणोति बहिः क्वचित् ।
न चिन्तयत्यात्मनीनं किञ्चिदन्यत्प्रियं विना ॥
रोमाञ्चति प्रियस्पर्शे मुह्यति स्विद्यति श्वसेत् ।
७४ एवं रक्तासमुत्थाः स्युरुपचाराः प्रियं प्रति ॥
विरक्तानां तु लिङ्गानि कथ्यन्ते यानि कानिचित् ।
७५ निष्ठीवनं दृष्टमात्रे सद्यो वक्त्रावकुण्ठनम् ॥

---

प्रिय को देखकर समागम के लिए प्रार्थना करती है, अधिक प्रसन्न होती है, इस (प्रिय) की बातचीत से सन्तुष्ट होती है, स्नेह के साथ देखती है, प्रिय के सोने पर पीछे सोती है, चुम्बन न किये जाने पर चुम्बन करती है, प्रिय के द्वारा अंगों का आलिगन किया जाता है तो वह भी प्रिय का गाढ़ आलिगन करती है, स्नानादि कर्म स्वयं ही स्वेच्छानुसार प्रारम्भ करती है। बाह्य और आभ्यन्तर रति में पहले वही स्वेच्छानुसार चेष्टा करती है, शरीर के आश्लिष्ट होने पर कभी अलग नहीं होती है, उसी के द्वारा दूसरे स्थान पर लायी गयी भी भोग्य-वस्तुओं का उपभोग करती है, रति-क्रीड़ाओं में वह अनिभृत (अशान्त) रूप से आस्वाद लेती है. क्षण-भर में पसीना आ जाता है, न अन्य ओर देखती है, न कहीं बाहर सुनती है, प्रिय के बिना अपनी किसी वस्तु की भी चिन्ता नही करती है, प्रिय के स्पर्श करने पर रोमांचित हो जाती है, मूर्च्छित हो जाती है, पसीने आ जाते हैं, श्वांस लेने लगती है।

७४ इस प्रकार प्रिय के प्रति अनुरक्त नायिका से उत्पन्न ये उपचार है। जब अपरागियों (विरक्तों) के जो कुछ चिह्न है कहते है।

**(विरक्त के चिह्न)**

७५ उसके (प्रिय) के देखने मात्र से ही थूक देती है, शीघ्र ही मुँह को ढँक लेती है, गुप्त स्थान पर चली जाती है (छिप जाती है), दूसरे कार्य मे परतन्त्र हो जाती है,

गूढावस्थानमन्यार्थपारवश्यमनादरः ।
अदेशकालगमनमाह्वाने कालयापनम् ।।
प्रेषितस्याप्यनादानं गन्धमाल्यादिवस्तुनः ।
आर्तस्यानादरः क्षेपो भूमौ व दानमन्यतः ।।
अङ्गसादप्रकथनं दूतादीनामनुत्तरम् ।
एवमादीनि चिह्नानि दूरस्थानां तु योषिताम् ।।
७६ आसन्ना दूरमध्यास्ते कथामन्यां ब्रवीति च ।
पृष्टा यथायथं ब्रूते चुम्बिताऽऽस्यं प्रमार्जति ।।
अनिष्टाञ्च कथां ब्रूते प्रियमुक्ताऽपि कुप्यति ।
न च चक्षुर्ददात्यस्य न चैनमभिनन्दति ।।
शेते पुरः शाययति पुर्नानिद्राति तत्क्षणम् ।
प्रबोधिता यापयति कालं रन्तुं न वाञ्छति ।।
स्पृष्टा सङ्कोचयत्यङ्गं निमीलयति लोचने ।
न स्नाति नालङ्कुरुते न भोगे कुरुते स्पृहाम् ।।
विमर्दयति हस्ताभ्यां नेत्रे व्याजृम्भते मुहुः ।
विजृम्भते परावृत्य निष्ठीवति मुहुस्सदा ।।
प्रद्वेष्टि तस्य मित्राणि ब्रवीति कृतशासना ।
रुष्टा परिवदत्येनं स्वात्मन्यङ्गानि गूहते ।।

---

अनादर करती हे, उस स्थान और समय पर नही जाती है, बुलाने पर समय बिता देती है; गन्ध, माला आदि वस्तुओं को भेजने पर भी नहीं लेती हैं। इस प्रकार उस दुःखी (प्रिय) का अनादर करती है, या वस्तुओं को भूमि पर फेंक देती है, अन्य को दे देती है, अंग-पीड़ा को कहती है, दूतियों को उत्तर नहीं देती है आदि इस प्रकार के ये चिह्न दूर रहने वाली स्त्रियों के हैं ।

७६ पास होते हुए भी दूर बैठती है, अन्य कथा को कहती है, पूछने पर जैसा का तैसा बताती है, चुम्बन किये हुए मुँह को पोंछती है, अनिष्ट कथा को कहती हे, प्रिय बोलने पर भी क्रोध करती है, न उसकी (प्रिय की) ओर देखती है, न उसका (प्रिय का) अभिनन्दन करती है, सो जाती है, सुला देती है, पुनः तत्क्षण नींद ले लेती है, जगती हुई समय को बिता देती है, रमण करने की इच्छा नही करती है, छूने पर अंगों को सिकोड़ लेती है, आँखों को बन्द कर लेती है, न स्नान करती है, न अलंकार धारण करती है, न भोगों में इच्छा रखती है, हाथों से आँखों को रगड़ती है, बार-बार जंभाई लेती है, लौट-लौट कर जंभाई लेती है, हमेशा बार-बार थूकती रहती है, उस (प्रिय) के मित्रों से द्वेष करती है, शासन करती हुई बोलती है, क्रोध करती हुई गाली देती

कथाप्रसङ्गेनान्येन सुरते भावविस्मृतिः ।
गृहकृत्यापदेशेन कुरुते च गतागतम् ॥
नीवीस्पर्शे सहृल्लेखमपक्षिपति तत्करम् ।
पराङ्मुखी वा शयिता व्याध्यादिव्यपदेशतः ॥
एवं विरक्ताचिह्नानि दृष्ट्वा तां तत्क्षणात् त्यजेत् ।
विरक्तिचिह्नेनैकेन विरज्येतोत्तमः पुमान् ॥
रागापरागचिह्नानां सङ्करे तामुपाचरेत् ।
७७ चिह्नानि गन्तुकामानां कथ्यन्ते ह्यानुषङ्गिकम् ॥
अनासनञ्च प्रथमं चालनं चासनस्य च ।
अर्धासनेनावस्थानं पार्श्वात्पार्श्वेऽङ्गचालनम् ॥
विजृम्भणञ्च बहुशो मुहुर्द्वारनिरीक्षणम् ।
प्रसार्याकुञ्चनं पादबाह्वोरुत्कटिकासनम् ॥
गात्रभङ्गोऽङ्गुलिस्फोटो बहिर्वार्तविकर्णनम् ।
एतानि गन्तुकामानां चिह्नानीत्युपलक्षयेत् ॥
७८ विरक्तिहेतवो यूनोर्बहवः स्युः परस्परम् ।

---

है, अपने अगो को छिपाती है, सुरत-क्रीड़ा में अन्य कथा के प्रसंग से भाव को भुला देती है, घर के काम के बहाने से चली जाती है और आ जाती है, नीवी के स्पर्श करने पर वक्ष-स्थल को खँरोचती हुई उसके हाथों को हटा देती है, व्याधि (रोग) आदि के बहाने से सो जाती है या विषय में पराङ्मुख हो जाती है। इस प्रकार के विरक्तों के चिह्नों को देखकर उस नायिका को उसी समय छोड़ देना चाहिए। उत्तम-पुरुष को विरक्ति के एक भी चिह्न को देखने से ही उसको छोड़ देना चाहिए। राग तथा अपराग के चिह्नों के मिश्रण में उसको ग्रहण करना चाहिए अर्थात् उसका सेवन करना चाहिए।

**(गन्तुकामा के चिह्न)**

७७ अब प्रसंगानुसार गमन करने की इच्छा वाली स्त्रियों के चिह्न कहते है। बैठती नही है, पहले चल देती है, आसन के आधे आसन पर बैठती है, पास से पास अंगों को चलाती है, बहुत बार जंभाई लेती है, बार-बार दर-वाजे को देखती है, हाथ-पैरों को फैलाकर सिकोडती है, स्वस्तिकासन से बैठती है (पालथी लगाकर बैठती है), शरीर को तोड़ती है, अंगुलियाँ चटकाती है, बाहर की बातों को सुनाती है—ये सब गमन करने की इच्छा वाली स्त्रियों के चिह्न जानने चाहिए।

**(विरक्ति के हेतु)**

७८ युवक-युवती के बीच परस्पर विरक्ति के बहुत से हेतु (कारण) होते है। कृशता, रोग, शोक, परुषता, रूप-क्षति, दोष तथा निन्दा के श्रवण से बुद्धि का

काश्यं व्याधिश्च शोकश्च पारुष्यं रूपसंक्षयः ॥
दोषापवादश्रवणान्मतिलोपो व्यतिक्रमः ।
अदेशकालागमनमपकारो बहिर्मुहुः ॥
इत्यादिभिर्विरक्तानां न कदाचन सङ्गतिः ।
७९ मानादिजा विरक्तिर्या हृद्यानुनयसंश्रया ॥
अन्योन्यरक्ततां भूयः पुष्यत्येव रतिं शुभाम् ।
८० उक्तानां रागचिह्नानां कथ्यन्तेऽत्र विभावनाः ॥
कर्णकण्डूयनव्याजाद्रुणद्धयस्य शुभाङ्गिरम् ।
केशसंयमनाद्भर्तुः शिरोलालनसूचनम् ॥
नाभिप्रदर्शनादात्मसौभाग्यप्रकटीक्रिया ।
स्तनसंमर्दनेनैव गाढालिङ्गनसूचनम् ॥
अधरस्पर्शनेनैव चुम्बनाद्यभिलाषितम् ।
कटाक्षैर्हासगर्भैश्च सम्भोगौत्सुक्यभावनम् ॥
नूपुरध्वननैः स्वस्य पुरुषायितसूचनम् ।
विजृम्भितेन सर्वाङ्गे स्वसर्वाङ्गसमर्पणम् ॥
अन्यापदेशकथनैस्तस्य भावपरीक्षणम् ।
अन्यैः सस्मितजल्पेन तद्भाषामेलनादरः ॥

---

नाश तथा बुद्धि की विपरीतता, बिना देश तथा काल के गमन, बार-बार अपकार करना इत्यादि कारणों से विरक्तों की कभी भेंट नही होती है ।

७९ मान आदि से उत्पन्न जो विरक्ति है वह हृदय से मना लेने पर अर्थात् विनय कर लेने पर ठीक हो जाती है, और पुनः युवक-युवती के बीच अनुराग हो जाता है और शुभ रति की पुष्टि हो जाती है ।

८० अब उपर्युक्त राग-चिह्नों की 'विभावना' (व्यंग्यार्थ) कहते है । कान खुजाने के बहाने से प्रिय-वाणी का अवरोध करती है । केशों को इकट्ठा करने से पति के सिर का लालन सूचित होता है । नाभि को दिखाने से अपने सौभाग्य को प्रकट करती है । स्तनों के मर्दन से गाढ़-आलिंगन के लिए सूचना देती है । अधरों के स्पर्श से चुम्बन आदि की अभिलाषा प्रकट करती है । हँसते हुए कटाक्षों से सम्भोग की उत्सुकता प्रकट होती है । नूपुरों की ध्वनि से अपने पौरुष की सूचना देती है । जंभाई से प्रिय के अंगों पर अपने अंगों का समर्पण बताती है । अन्य कथाओं के कहने के बहाने से प्रिय के भावों की परीक्षा लेती है । अन्य के साथ मुस्कराकर बोलने से उसकी भाषा का आदर करती है । लज्जा के साथ देखने से अपनी अनुकूलता प्रकट करती है । उत्तर न देने से अपनी स्वतन्त्रता प्रकट करती है । सखी की भर्त्सना करने से शीघ्र संगम की

सव्रीलं लोकनेनैव स्वानुकूल्यप्रकाशनम् ।
अनुत्तरप्रदानेन स्वस्वातन्त्र्यप्रकाशनम् ।।
सखीनिर्भर्त्सनेनैव शीघ्रसङ्गमनादरः ।
ऊरुसम्पीडनादेव हृद्याङ्गस्पन्दसूचनम् ।।
पदान्तरे स्थितेर्व्याजान्मनोविनिमयार्थिता ।
साचीकृतेनेक्षणेन सङ्केतगमनार्थिता ।।
तद्गाढालिङ्गनाशैव बाहुस्वस्तिकबन्धनात् ।
विस्रस्य नीवीनहनाद्वासःश्लथनसूचनम् ।।
८१ एवमाद्यासु चेष्टासु भावा ग्राह्या मनीषिभिः ।
८२ दृशोर्विकारा बहवः शृङ्गारस्योपयोगिनः ।।
भावाश्रयाः कदाचित्स्युः कदाचिद्रससंश्रयाः ।
८३ विकूणितं विहसितं कुञ्चितं न्यञ्चिताञ्चिते ।।
स्निग्धं मुग्धञ्च निष्पन्दं विस्तारि च विकासि च ।
स्तिमितं मसृणं वक्रं मधुरं चाभिलाषि च ।।
स्थिरं प्रसन्नमलसं वलितं मदमन्थरम् ।
स्मेरमानन्दि साकूतं विदग्धं विह्वलं तथा ।।
निहञ्चितञ्च निभृतमुत्कण्ठितमुदञ्चितम् ।
सोत्सुकं सोत्कमुत्कम्पमुल्लासि च समन्मथम् ।।

---

अभिलाषा बताती है। जघाओं के संपीड़न से हृदय तथा अंगों के स्पन्दन की सूचना देती है। कुछ कदम पर रुकने के बहाने से मन के विनिमय (बदलने) की प्रार्थना करती है। तिरछे (साची)[८] देखने से संकेत स्थान पर जाने के लिए प्रार्थना करती है। भुजाओं के स्वस्तिक बन्धन से उसके गाढ़ आलिगन की आशा प्रकट करती है। खुली हुई नीवी को बाँधने से वस्त्र की शिथिलता की सूचना देती है।

८१ इस प्रकार इन चेष्टाओं से विद्वानों को स्त्रियों के भावों को ग्रहण करना चाहिए।

**(दृष्टि-विकार)**

८२ दृष्टि के अनेक विकार शृंगार (रस) के उपयोगी होते है। कभी भाव के आश्रित होते हैं, कभी रस के आश्रित होते हैं।

**(दृष्टि-विकार-भेद)**

८३ दष्टि के आश्रित विकार ६४ (चौंसठ) होते हैं—विकूणित, विहसित, कुंचित न्यंचित, अञ्चित, स्निग्ध, मुग्ध, निष्पन्द, विस्तारि, विकासि, स्तिमित,

महि व्याक्षेपि विक्षेपि त्रिभङ्गि त्र्यश्रमेव च ।
विकृष्टं विनतं स्फीतं व्यासङ्गि च विसंस्थुलम् ॥
विस्फारितं विलुलितं ललितञ्च तरङ्गितम् ।
कठोरं कलुषं रूक्षं कातरं चकितं चलम् ॥
कोमलं तरलं तानि प्रणयि प्रेमगर्भि च ।
सोत्प्रासं सस्पृहं ह्लादि प्रेङ्खोलं लोलमेव च ॥
एवमुक्ताश्चतुष्षष्टिर्विकारा दृष्टिसंश्रयाः ।
८४ उद्वर्तितमथोद्वृत्तं विवृत्तं च विवर्तितम् ॥
स्तब्धमुत्फुल्लमुल्लोलमुध्दुरं विधुरं तथा ।
विश्लिष्टं निष्ठुरं शुष्कं कुटिलं चटुलं तथा ॥
एते प्रायेण कथिता रौद्रस्यैवोपयोगिनः ।
८५ ससम्भ्रमं जडञ्चैव सव्यग्रं सव्यथं तथा ॥
तान्तमार्तं परिम्लानं तप्तं मलिनमेव च ।
एते प्रायेण शोकस्य विकारा दृष्टिसंश्रयाः ॥
८६ मन्थरं बन्धुरं धीरमविक्रियमकृत्रिमम् ।
अनुल्बणमसम्भ्रान्तमव्याजमनुपस्कृति ॥
सहर्षञ्च सगर्वञ्च वीरस्यैते प्रकीर्तिताः ।

---

मसृण, वक्र, मधुर, अभिलापि, स्थिर, प्रसन्न, अलस, वलित, मदमन्थर, स्मेर, आनन्दि, साकूत, विदग्ध, विह्वल, निहञ्चित, निभृत, उत्कण्ठित, उदञ्चित, सोत्सुक, सोत्क, उत्कम्प, उल्लासि, समन्मथ, महि, व्याक्षेपि, विक्षेपि, त्रिभंगि, यश्र, विकृष्ट, विनत, स्फीत, व्यासंगि, विसंस्थुल, विस्फारित, विलुलित, ललित, तरंगित, कठोर, कलुष, रुक्ष, कातर, चकित, चल, कोमल, तरल, तानि, प्रणयि, प्रेमगर्भि, सोत्प्रास, सस्पृह, ह्लादि, प्रेंखोल, लोल ।

८४ उद्वर्तित, उद्वृत, विवृत, विवर्तित, स्तब्ध, उत्फुल्ल, उल्लोल, उद्धुर, विधुर, विश्लिष्ट, निष्ठुर, शुष्क, कुटिल, जटुल—ये विकार प्रायः 'रौद्र-रस' के उपयोगी कहे जाते हैं ।

८५ ससम्भ्रम, जड़, सव्यग्र, सव्यथ, तान्त, आर्त, परिम्लान, तप्त, मलिन—ये प्रायः 'शोक' के दृष्टि-विकार होते हैं ।

८६ मन्थर, बन्धुर, धीर, अविक्रिय, अकृत्रिम, अनुल्बण, असम्भ्रान्त, अव्याज अनुपस्कृति, सहर्ष, सगर्व—ये विकार 'वीर-रस' के कहे जाते हैं ।

८७ अरोचकमनुत्सेकमाविद्धं विद्धमेव च ॥
विकृष्टञ्च विनिष्क्रान्तं विनिगीर्णं विलोहितम् ।
एते प्रायेण कथिता बीभत्से च भयानके ॥

८८ केचित्साधारणास्तेषु भवन्त्यद्‌भुतहास्ययोः ।
एते शतं समाख्याताश्चत्वारश्च ततोऽधिकम् ॥
भागत्रयस्य सङ्कोचो विकासश्चरमस्य च ।

८९ यस्या दृष्टेर्विलक्षेण तद्विकूणितमुच्यते ॥

९० अनिमेषस्फुरत्तारं समं विहसितं विदुः ।
पुरस्त्रिभागसङ्कोचे प्रेम्णा तत्कुञ्चितं भवेत् ॥
पर्यायेण चलत्तारं मन्दं मन्दमथाञ्चितम् ।
स्निग्धं तद्यस्य विषयस्तत्प्रभामिलितो भवेत् ॥
स्वभावालोकितं मुग्धं भावगर्भमपि च्छलात् ।
निष्पन्दं तद्यदन्यत्र दृष्टिर्न स्पन्दते क्वचित् ॥

९१ अश्लिष्टो येन विषयस्तद्विस्तारीति कथ्यते ।
विकासि तद्यद्विषयविशेषमवगाहते ॥

---

८७ अरोचक, अनुत्सेक, आविद्ध, विद्ध, विकृष्ट, विनिष्क्रान्त, विनिगीर्ण, विलोहित—ये विकार प्रायः बीभत्स तथा भयानक-रस के कहे जाते है ।

८८ इन विकारों मे से कुछ साधारण विकार 'अद्‌भुत तथा हास्य' रस के होते है। ये विकार १०४ (एक सौ चार) से अधिक कह दिये, जिसमें तिहाई भाग तो दृष्टि के संकोच से प्रकट होता है, और शेष भाग दृष्टि के विकास से प्रकट होता है ।

८९ जिस दृष्टि के आश्चर्यान्वित हो जाने से जो विकार होता है वह 'विकूणित' कहलाता है ।

९० जिसमें अपलक रूप से फड़कती हुई समतारों[९] वाली दृष्टि होती है उसे 'विहसित' कहते हैं। प्रेम के कारण पलकों के तिहाई हिस्से के सिकुडने पर 'कुंचित' विकार कहलाता है जिसमे क्रमपूर्वक मन्द-मन्द चलते हुए तारों[१०] वाली दृष्टि होती हैउ से' 'अञ्चित' कहते है। 'स्निग्ध'—विकार वह होता है जिसका विषय दृष्टि की प्रभा से मिला हुआ होता है । जिसमे छल के कारण भावों से भरी हुई भी स्वाभाविक दृष्टि[११] होती है, वह 'मुग्ध' कहलाती है । 'निष्पन्द' वह है जिसमें दृष्टि अन्यत्र कही स्पन्दन नही करती है अर्थात् जिसमें दृष्टि अन्यत्र कही नही चलती है, वह 'निष्पन्द' कहलाता है ।

९१ जिस दृष्टि के विकार से विषय अश्लिष्ट रहता है उसे 'विस्तार' कहते है। 'विकासि' दृष्टि का वह विकार है जो कि विषय-विशेष का अवगाहन करता

स्वगोचरान्नचात्येति यत्तत्स्तिमितमुच्यते ।
मसृणं तदिति ख्यातमनुरागकषायितम् ॥
ऊर्ध्वाधोऽपाङ्गसञ्चारो यत्र तद्वक्रमुच्यते ।
शीतलीक्रियते येन तापस्तन्मधुरं स्मृतः ॥
अभिलाषि तदेव स्याद्याचमानमिवेक्षते ।
तत्स्थिरं यत्तु विषये दूरेऽप्यन्तर्हिते स्थिरम् ॥
तत्प्रसन्नं भवेत्सभ्रूविलासं सस्मितञ्च यत् ।
९२ अलसं तदभीष्टार्थाद्व्रीलादेर्यन्निवर्तनम् ॥
९३ वलितं तन्निवृत्तस्य भूयस्त्र्यश्रावलोकनम् ।
९४ व्याघूर्णमानमरुणं मुहुरामीलदन्तरा ॥
अपरिच्छिन्नविषयं मदमन्थरमीरितम् ।
९५ स्फुरद्भ्रूपक्ष्मतारं यत्तस्मेरमिति कथ्यते ॥
तदानन्दि सुखोन्मीलदामीलत्तारमुच्यते ।
९६ साकूतं तद्यत्र भावः कोऽप्यभीष्टो विभाव्यते ॥

---

हैं। जो स्वगोचर होने के कारण नहीं चलता है वह 'स्तिमित' कहलाता है। जो कपैले अनुराग को कहता है वह 'मसृण' होता है। जिसमें अपांग (कटाक्ष) ऊपर-नीचे चलते हैं वह 'वक्र' कहलाता है। जिस दृष्टि-विकार से ताप भी शीतल किया जाता है वह 'मधुर' कहा जाता है। 'अभिलाषि' दृष्टिविकार वह है जिसमें दृष्टि प्रार्थना करती हुई-सी दिखाई देती है अर्थात् 'अभिलाषि' दृष्टि विकार वह है जिसमें मानो दृष्टि कोई प्रार्थना कर रही हो। 'स्थिर' विकार वह है जिसमें दृष्टि विषय के दूर तथा छुपे रहने पर भी स्थिर रहती है। 'प्रसन्न' विकार वह है जिसमें दृष्टि भ्रकुटियों के विलास के साथ मुस्कराती हुई रहती है।

९२ व्रीडा (लज्जा) आदि के कारण अभीष्ट अर्थ से लौट आने वाला दृष्टि-विकार 'आलस' कहलाता है।

९३ अर्थ से लौटी हुई दृष्टि का पुनः अर्थ पर तिरछी दृष्टि से देखे जाना वाला विकार 'वलित' कहलाता है।

९४ बार-बार घूरता हुआ लाल दृष्टि वाला, बीच-बीच में आँखों को बन्द करता हुआ तथा अपरिमित विषय वाला विकार 'मन्द-मन्थर' कहलाता है।

९५ फड़कते हुए भ्रकुटी, बरौनी तथा तारों वाला दृष्टि विकार 'स्मेर' कहा जाता है। आनन्द के कारण खुलते तथा बन्द होते हुए तारों वाला दृष्टि विकार 'आनन्दि' कहा जाता है।

९६ जहाँ कोई अभीष्ट-भाव (अभिप्राय) जाना जाता है तो वह 'साकूत' दृष्टि-विकार कहलाता है।

९७ विदग्धं तद्यदालोके विवशाः सर्वजन्तवः ।
९८ अनवस्थिततारं यत्तद्विह्वलमुदाहृतम् ।।
९९ नासापुटस्फुरत्तारं निहञ्चितमुदाहृतम् ।
निभृतं तद्यदाश्लिष्यत्पुटमन्तरधोमुखम् ।।
१०० रागारुणं स्फुरद्बाष्पापाङ्गमुत्कण्ठितं विदुः ।
१०१ अपाङ्गयोरूर्ध्वभावादालोकनमुदञ्चितम् ।।
१०२ सोत्सुकं तद्यदालोक्य भूयो भूयोऽवलोकयेत् ।
१०३ दूरं धावति यत्प्रेम्णा तत्सोत्कमिति कथ्यते ।।
१०४ उत्कम्पं तद्यदुल्लोलं ताराभ्रूपक्ष्म सर्वतः ।
१०५ यत्रोल्लसत्यभिप्रायस्तदुल्लासीति कथ्यते ।।
यद्दर्शने विरक्तोऽपि क्षुभ्यते तत्समन्मथम् ।
१०६ यद्दर्शनान्महो जन्तोः सर्वस्य महि तद्भवेत् ।।

---

९७ जब किसी के देखने पर सभी प्राणी विवश हो जाते है तो वह 'विदग्ध' विकार कहलाता है ।

९८ अस्थिर तारों वाला 'विह्वल' दृष्टि-विकार कहलाता है ।

९९ नथुनों की तरह फड़कते हुए तारों वाला विकार 'निहञ्चित' कहा जाता है। चिपकते हुए पलकों वाला तथा बीच-बीच में नीचे की ओर दृष्टि वाला विकार 'निभृत' कहलाता है ।

१०० राग के कारण लाल, फड़कते हुए, आँसुओं से युक्त कोरों वाला दृष्टि विकार 'उत्कण्ठित' जाना जाता है ।

१०१ ऊपर उठे हुए बरौनियो से भाव के कारण दृष्टिपात करना 'उदंचित' कहा जाता है अर्थात् भाव के कारण बरौनियों के ऊपर उठे हुए होने से दृष्टिपात करना 'उदंचित' कहा जाता है ।

१०२ एक बार देखकर बार-बार देखना 'सोत्सुक' कहलाता है ।

१०३ प्रेम के कारण जो दृष्टि-विकार दूर दौड़ता है—वह 'सोत्क' कहा जाता है ।

१०४ सर्वतः काँपते हुए तारों, भ्रकुटी तथा बरौनियों वाला दृष्टि विकार 'उत्कम्प' कहलाता है ।

१०५ जहाँ किसी अभिप्राय से दृष्टि प्रसन्न होती है तो वह दृष्टि-विकार 'उल्लासि' कहा जाता है। जिसके देखने पर विरक्त भी क्षब्ध हो जाता है तो वह दृष्टि-विकार 'समन्वय' कहा जाता है ।

१०६ जिसके देखने पर समस्त प्राणियों का उत्सव होता है तो वह दृष्टि-विकार 'महि' कहा जाता है ।

१०७ पश्चादाक्षिप्यते दूरं यदपाङ्गस्य सञ्चरः ।
तद्व्याक्षेपि स पार्श्वे स्याद्विक्षेपीति विभाव्यते ॥

१०८ मूलमध्याग्रभागेषु भङ्ग्या यद्विषयग्रहः ।
तत्त्रिभङ्गीति कथितं त्र्यश्रं तिर्यगुदञ्चितम् ॥

१०९ विकृष्टं तदधो वक्रापाङ्गभागापसर्पणम् ।
विनतंतदिति ख्यातमृज्वायतमधोगतम् ॥
उल्लसत्पक्ष्मताराभ्रु स्फीतमित्यभिधीयते ।
अन्यत्र सोत्कमन्यत्र स्थितं व्यासङ्गि कथ्यते ॥
विक्षेपणं यद्भ्रूतारापक्ष्मणां तद्विसंस्थुलम् ।
आयतं विस्फुरत्तारं विस्फारितमुदाहृतम् ॥
परिक्लिष्टपुटं म्लायत्तारं विलुलितं भवेत् ।
प्रेमार्द्रं मन्दविकसत्तारं ललितमीरितम् ॥
कल्लोल इव यत्कान्तिविच्छेदस्तत्तरङ्गितम् ।
कठोरं तद्यदुद्बाष्पमपि निर्बाष्पवद्दृढम् ॥
वर्णाविभागो निद्रादेर्यस्य तत्कलुषं विदुः ।
तत्तद्वर्णप्रभाहीनं यत्तद्रूक्षमिति स्मृतम् ॥

---

१०७ जब कोरों की गति पीछे या दूर जाती है तो 'व्याक्षेपि' कहते हैं। जब पास में जाती है तो 'विक्षेपि' जाना जाता है।

१०८ जो मूल, मध्य तथा अग्रभाग में भाव-भंगिमा से विषय ग्रहण करता है वह 'त्रिभंगी' कहलाता है। तिरछे देखने को 'त्र्यश्र' कहते हैं।

१०९ निम्न तथा वक्रकोरों से दूर देखने को 'विकृष्ट' कहते हैं। सीधी तथा नीचे झुकी हुई दृष्टि के विकार को 'विनत' कहते हैं। खिले हुए बरौनी, तारों तथा भ्रकुटी वाले विकार को 'स्फीत' कहते है। अन्यत्र दूर तक दौड़ने तथा अन्यत्र रुकने वाले दृष्टि विकार को 'व्यासंगि' कहते हैं। जो भ्रकुटी, तारों तथा बरौनियों का विक्षेप होना है वह 'विसंस्थुल' कहलाता है। काँपते हुए विशाल तारों वाले दृष्टि विकार को 'विस्फारित' कहते हैं। घायल पलकों वाला तथा मलिन तारों वाला दृष्टि विकार 'विलुलित' कहलाता है। प्रेम से गीले तथा थोड़े खिले हुए तारों वाले दृष्टि विकार को 'ललित' कहा जाता है। तरंग की तरह जिसकी कान्ति अलग हो जाती है वह 'तरंगित' कहा जाता है। आँसुओं से युक्त होते हुए भी बिना आँसुओं के समान दृढ़ दृष्टि विकार 'कठोर' कहलाता है। नींद आदि के कारण जिस दृष्टि का वर्ण दूर नहीं होता है उस दृष्टि विकार को 'कलुष' कहते हैं। उस-उस वर्ण तथा प्रभा से

सहायान्वेषणपरं यत्तत्कातरमुच्यते ।
मीलनोन्मीलना वृत्तिर्यत्र तच्चकितं भवेत् ॥
११० वीक्षितं सर्वतोदिक्कं द्रुतं यत्तच्चलं भवेत् ।
कोमलन्तु यदव्याजस्निग्धमुग्धावलोकितम् ॥
तरलं तदिति प्राहुर्लोलत्ताराकनीनिकम् ।
यद्विशेषानभिज्ञत्वं दृष्टे वस्तुनि तानि तत् ॥
१११ यत्प्रीणयति दृष्टस्य मनस्तत्प्रणयि स्मृतम् ।
द्रवीभूतं मनो यस्य दर्शने प्रेमगर्भि तत् ॥
परौत्सुक्यं विभाव्येत यत्र सोत्प्रासमेव तत् ।
भूयोभूयः स्पृहा यत्र दृष्टे तत्सस्पृहं भवेत् ॥
ल्हादि तद्दृष्टमात्रे यत् शोकादिव्यपनोदनम् ।
गतप्रत्यागतं यत्र प्रेङ्खोलं तत्प्रचक्षते ॥
११२ धारावाहिकसञ्चारो यस्य तल्लोलमुच्यते ।
११३ एते विकाराः शृङ्गाररसस्यैवोपयोगिनः ॥
एतेषु केचिद्दृश्यन्ते प्रायेणाद्भुतहास्ययोः ।

---

हीन दृष्टि विकार 'रुक्ष' कहलाता है। दूसरे की सहायता की खोज करने वाला दृष्टि-विकार 'कातर' कहा जाता है। आँखों को खोलना, बन्द करना[१२]— यह दृष्टि विकार ही 'चकित' होता है।

११० शीघ्रता से सभी दिशाओं की ओर देखना 'चल' कहलाता है । स्वाभाविक, स्निग्ध तथा मुग्ध दृष्टि[१३] वाला विकार 'कोमल' कहा जाता है। चंचल तारों तथा पुतलियों वाला दृष्टि विकार 'तरल' कहा जाता है। वस्तु के देख लेने पर विशेष प्रकार की अनभिज्ञता 'तानि' कहलाती है।

१११ जिससे दृष्ट का मन प्रसन्न होता है तो 'प्रणयि' कहलाता है । जिसके दर्शन कर लेने पर मन पिघल जाता है तो 'प्रेमगर्भि' दृष्टि विकार होता है। जिससे दूसरे की उत्सुकता जानी जाती है वह 'सोत्प्रास' दृष्टि-विकार कहलाता है। जहाँ एक बार देख लेने पर बार-बार देखने की इच्छा होती है वह 'सस्पृह' कहा जाता है। जिसके देखने मात्र से शोक आदि दूर हो जाते हैं उसे 'हलादि' दृष्टि विकार कहते हैं। जो जाता है फिर लौट आता है उस दृष्टि विकार को 'प्रेंखोल' कहते है।

११२ जिसकी धारा-प्रवाह से गति रहती है अर्थात् निरन्तर चलती रहने वाले दृष्टि विकार को 'लोल' कहा जाता है।

११३ ये सभी दृष्टि-विकार 'शृंगार-रस' के उपयोगी है । इनमें से कुछ प्रायः अद्भुत तथा हास्य रस में देखे जाते है।

११४ उद्वर्तितं तद्विज्ञेयं भ्रुवोरूर्ध्वं प्रकल्पनम् ॥
विवृतोर्ध्वपुटान्तस्थतारमुद्वृत्तमुच्यते ।
११५ उद्वृत्तान्तःपुटाक्षिप्ततारं यत्तद्विवर्तितम् ॥
११६ निष्पन्दमानपक्ष्माग्रताराभ्रु स्तब्धमुच्यते ।
स्फुरद्विश्लिष्टपक्ष्माग्रतारमुत्फुल्लमुच्यते ॥
११७ ऊर्ध्वीकृतोल्लसत्तारमुल्लोलमिति कथ्यते ।
उध्दुरं विषयग्रासबद्धस्पृहमुदाहृतम् ॥
११८ विश्लिष्टं शून्यविषयप्रवृत्तं क्रोधवेगतः ।
निष्ठुरं पुटयोरन्तस्तारयोर्लुठनं मुहुः ॥
११९ अन्तःप्रौढाग्निसंशुष्यत्प्रभंशुष्कमुदाहृतम् ।
प्रकटभ्रुकुटीदृष्टिर्यत्र तत्कुटिलं भवेत् ॥
चटुलं तद्यदन्यत्र दुष्प्रेक्षं रुक्षभावतः ।
अनवस्थितिरेकत्र यत्र तत्स्यात् ससम्भ्रमम् ॥
सञ्चारशून्यं दौर्बल्याद्यत्तज्जडमितीरितम् ।
१२० विषयालोकनव्यग्रं सव्यग्रमिति कीर्तितम् ॥

---

११४ ऊपर उठी हुई भौंहों वाला दृष्टि-विकार 'उद्वर्तित' कहलाता है । ऊपर के भ्रमित पलक मे घुसे हुए तारों वाले दृष्टि-विकार को 'उद्वृत' कहते है ।

११५ भीतर के पलक के खुलने से चचल तारों वाले दृष्टि-विकार को 'विवर्तित' कहते है ।

११६ कम्पन रहित बरौनी के अग्रभाग, तारे तथा भौंहों वाले दृष्टि-विकार को 'स्तब्ध' कहते है । फडकते हुए तथा दूर होते हुए बरौनी के अग्रभाग तथा तारों वाले विकार को 'उत्फुल्ल' कहा जाता है ।

११७ ऊपर की ओर किये हुए तथा खिलते हुए तारों वाले दृष्टि-विकार को 'उल्लोल' कहते है । विषय के ग्रास से बद्ध स्पृहा वाले दृष्टि-विकार को 'उद्धुर' कहते हैं ।

११८ क्रोध तथा वेग के कारण शून्य विषय मे लगे हुए दृष्टि विकार को 'विश्लिष्ट' कहते हैं । पलकों के भीतर तारों का बार-बार घूमना[१६] 'निष्ठुर' कहलाता है ।

११९ अन्दर भरी हुई अग्नि से सोखती हुई प्रभा वाला 'शुष्क' दृष्टि-विकार होता है । चढ़ी हुई भौंहों वाली[१७] दृष्टि से युक्त विकार 'कुटिल' कहलाता है । रूखे भाव से अन्यत्र देखना ही 'चटुल' है । जहाँ एक ही स्थान पर अस्थिर दृष्टि हो वह 'ससम्भ्रम' कहलाता है । दुर्बलता के कारण गति-शून्य दृष्टि-विकार 'जड़' कहा जाता है ।

१२० व्यग्रता के साथ विषय को देखना ही 'सव्यग्र' कहलता है ।

१२१ व्यथते विषयं द्रष्टुं यत्तत्सव्यथमुच्यते ।
१२२ शुष्यद्भ्रूपुटपक्ष्माग्रं यत्तान्तं तत्समीरितम् ॥
१२३ शून्यालोकनमार्तं स्यान्म्लानं म्लायत्कनीनिकम् ।
निपतद्भ्रूपुटं शुष्यत्प्रभं तप्तमुदाहृतम् ॥
१२४ यदश्रुलुलितालोकं मलिनं तदुदाहृतम् ।
मन्थरं तत्समाख्यातं यावच्छ्रुति विकस्वरम् ॥
१२५ तदेव बन्धुरं ख्यातं किञ्चिदुत्फुल्लतारकम् ।
स्फुरत्प्रभावं गम्भीरं धीरमित्युच्यते बुधैः ॥
अनिश्चलं यच्छस्त्रास्त्रघातेऽपि तदविक्रियम् ।
स्वभावालोकितं यत्र तदकृत्रिममुच्यते ॥
१२६ अविकारि विकारस्य हेतौ यत्तदनुल्बणम् ।
१२७ गृह्यते येन सूक्ष्मार्थस्तदसम्भ्रान्तमुच्यते ॥
अव्याजं तदिति प्राहुर्यदच्छलविलोकनम् ।
प्रौढरागारुणापाङ्गं यत्स्यात्तदनुपस्कृति ॥
भाषमाणमिवाभाति यत्सहर्षं तदुच्यते ।

---

१२१ विषय को देखने के लिए कष्ट होता है वह 'सव्यथ' कहा जाता है ।

१२२ मूखे हुए भ्रकुटी, पलक तथा बरौनी के अग्रभाग वाले दृष्टि-विकार को 'तान्त' कहते है ।

१२३ शून्य दृष्टि को 'आर्त' कहा जाता है । मलिन पुतली वाले दृष्टि-विकार को 'म्लान' कहते हैं । झुकी हुई भ्रुकुटी[१६] तथा पलकों वाले, सूखी हुई प्रभा वाले दृष्टि-विकार को 'तप्त' कहा जाता है ।

१२४ आँसुओं से चंचल दृष्टि-विकार को 'मलिन' कहा जाता है । कानों तक खुले हुए दृष्टि-विकार को 'मन्थर' कहा जाता है ।

१२५ कुछ खिले हुए तारों वाले दृष्टि-विकार को 'बन्धुर' कहा जाता है । फड़कते हुए, प्रभावशाली तथा गम्भीर दृष्टि-विकार को विद्वानों द्वारा 'धीर' कहा जाता है । अस्त्र-शस्त्र से घायल होने पर भी जो चंचल हो उसे 'अविक्रिय' कहते है । स्वाभाविक स्थिति में देखने को 'अकृत्रिम' कहा जाता है ।

१२६ विकार के हेतु होने पर भी विकार-रहित हो उसे 'अनुल्बण' कहते है ।

१२७ जिससे सूक्ष्म अर्थ ग्रहण किया जाता है उसे 'असम्भ्रान्त' दृष्टि-विकार कहा जाता है । कपट-रहित दृष्टि[१७] को 'अव्याज' कहते है । बढे हुए (प्रौढ़) राग के कारण लाल कोरों वाले दृष्टि-विकार को 'अनुपस्कृति' कहते हैं । जो बोलता हुआ सा प्रतीत होता है उसे 'सहर्ष' दृष्टि-विकार कहते हैं ।

१२८ सगर्वं तद्यदुत्फुल्लतारं स्थिरकनीनिकम् ॥

१२९ अपाङ्गकूणनं यत्र तदरोचकमुच्यते ।
यद्विनम्रपुटापाङ्गं तदनुत्सेकमुच्यते ॥

१३० ऊर्ध्वाधःक्षिप्तसञ्चारो व्याविद्धमिति कथ्यते ।

१३१ अपाङ्गयोरधस्ताराविक्षेपो विद्धमुच्यते ॥
विकृष्टं तच्छून्यमेव यदाकाशावलोकनम् ।

१३२ अन्तर्बाष्पस्फुरत्तारं विनिगीर्णमुदाहृतम् ॥

१३३ बहिस्ताराविनिष्क्रान्तैर्विनिष्क्रान्तमुदाहृतम् ।
अतस्मिस्तद्ग्रहो यस्य लोहितं तद्विलोभितम् ॥
एते दृष्टिविकारास्तु सम्यग्लक्षणलक्षिताः ।
महाकविप्रबन्धेषु दृश्यन्ते तद्विलोक्यताम् ॥

१३४ भावजा रसजाश्चापि तथा सञ्चारिभावजाः ।
षट्त्रिंशद्भरतेनोक्तास्ताः कथ्यन्तेऽत्र दृष्टयः ॥

१३५ स्निग्धा हृष्टा च दृप्ता च विस्मिता क्रोधिताऽपि च ।
दीना जुगुप्सिता चैव सभया भावदृष्टयः ॥

---

१२८ खिले हुए तारों वाले तथा स्थिर पुतली वाले दृष्टि-विकार को 'सगर्व' कहते है।

१२९ तिरछे कोरों वाले दृष्टि-विकार जो 'अरोचक' कहा जाता है। झुके हुए पलको तथा कोरो वाले दृष्टि-विकार को 'अनुत्सेक' कहा जाता है।

१३० ऊपर नीचे आक्षिप्त गति वाले दृष्टि-विकार को 'व्याविद्ध' कहा जाना है।

१३१ कोरों के नीचे तारों के विक्षेप को 'विद्ध' कहा जाता है। शून्य में तथा आकाश की ओर देखने को 'विकृष्ट' कहते है।

१३२ अन्दर-अन्दर आंसुओं से फड़कते हुए तारों वाले दृष्टि-विकार को 'विनिगीर्ण' कहते है।

१३३ तारो के बाहर निकल आने[१८] से 'विनिष्क्रान्त' कहा जाता है। जो वस्तु नहीं है उसका ग्रहण करना—ऐसे लोहित दृष्टि-विकार को 'विलोभित' कहते है। ये दृष्टि-विकार हैं, इनके लक्षण भलीभाँति कह दिये। महाकवियो के प्रवन्धों (रचनाओं) में ये देखे जाते हैं उन्हें वही देखें।

१३४ भरत-मुनि के मतानुसार भावजा, रसजा तथा सञ्चारिभावजा ३६ (छत्तीस) प्रकार की दृष्टियाँ कही जाती हैं। उन दृष्टियों को यहाँ कहते है।

१३५ स्थायी-भावों से उत्पन्न दृष्टि के आठ भेद होते है—स्निग्धा, हृष्टा, तृप्ता, विस्मिता, क्रोधिता (क्रुद्धा), दीना, जुगुप्सिता तथा भयान्विता।

१३६ कान्ता सहास्या वीरा च साद्भुता रौद्रिका पुनः ।
करुणासहिता दृष्टिर्बीभत्सा सभयानका ।।
दृष्टयो रसजा ह्येताः कथिता भरतादिभिः ।
१३७ दीना ज मलिना चैव श्रान्ता लज्जान्विता तथा ।।
ग्लाना ज शङ्किता चव विषण्णा मुकुला तथा ।
कुञ्चिता चाभितप्ता च जिह्मा च ललिताऽपि च ।।
वितर्किताऽर्धमुकुला विभ्रान्ता विप्लुताऽपि च ।
आकेकरा विशोका च त्रस्ता च मदिरा तथा ।।
इति विंशतिरुद्दिष्टा दृशः सञ्चारिभावजाः ।
१३८ हर्षप्रसादललिता कान्ता मन्मथशालिनी ।
विलसद्भ्रूकटाक्षा च शृङ्गारे दृष्टिरुच्यते ।
१३९ आकुञ्चितपुटापाङ्गा विभ्रान्तस्वल्पतारका ।।
अव्यक्तसञ्चारवती दृष्टिर्हास्ये प्रकीर्तिता ।
१४० तप्ता विकसिता क्षुब्धा गम्भीरा समतारका ।।
उत्फुल्लमध्या दृष्टिस्तु धीरा वीररसाश्रया ।
रोषरक्तान्तनयना स्फुरत्तारा विकस्वरा ।।
अक्षुब्धा स्यादचकिता वीरा युद्धप्रहर्षणी ।

---

१३६ भरत आदि के कथनानुसार रसजा दृष्टि के आठ भेद होते हैं—कान्ता, हास्या, वीरा, अद्भुता, रौद्रा, करुणा, बीभत्सा तथा भयानका ।

१३७ संचारी-भावो से उत्पन्न दृष्टि के बीस भेद होते है—दीना, मलिना, श्रान्ता, लज्जिता, ग्लाना, शंकिता विषण्णा, मुकुला, कुंचिता, अभितप्ता, जिह्मा, ललिता, वितर्किता, अर्धमुकुला, विभ्रान्ता, विप्लुता, आकेकरा, विकोशा (विकोशा) त्रस्ता तथा मदिरा ।

**(शृंगार-रस की दृष्टि)**

१३८ जो हर्षित, प्रसाद, ललित, कान्त, काम के युक्त तथा चंचल भ्रू और कटाक्ष वाली दृष्टि होती है वह शृंगार-रस में कही जाती है ।

**(हास्य की दृष्टि)**

१३९ जो सिकुड़ी हुई पलको[११] के कोरों वाली, मन्द-मन्द घूमते हुए तारों वाली तथा अव्यक्त रूप से चलने वाली दृष्टि होती है वह 'हास्य-रस' में कही जाती है ।

**(वीर-रस की दृष्टि)**

१४० जो तप्त, विकसित, क्षुब्ध, गम्भीर, समतारो वाली, विकसित मध्य भाग वाली, धीर, वीरोचित रोष के कारण लाल कोरों वाली, फड़कते हुए तारों वाली, खिली हुई, क्षोभरहित, अचकित तथा युद्ध में हर्षित दृष्टि होती है वह 'वीरा' कहलाती है ।

१४१ कुञ्चिताञ्चितपक्ष्माग्रा किञ्चिदुद्वृत्ततारका ।।
सद्यो विकस्वरान्ता च साऽद्भुता दृष्टिरुच्यते ।
१४२ क्रूरा रूक्षारुणोद्वृत्ता निष्टप्तपुटतारका ।।
भ्रुकुटीकुटिला दृष्टी रौद्रा रौद्ररसे स्मृता ।
१४३ पतितोर्ध्वपुटा सास्रा मन्युमन्थरतारका ।।
नासाग्रानुगता दृष्टिः करुणा करुणे रसे ।
१४४ निकुञ्चितपुटापाङ्गा घृणोपप्लुततारका ।।
संश्लिष्टस्थिरपक्ष्मा च बीभत्सा दृष्टिरुच्यते ।
१४५ प्रोद्वृत्तनिष्टब्धपुटा स्फुरदुद्वृत्ततारका ।
दृष्टिर्भयानकाऽत्यन्तभीता ज्ञेया भयानके ।
१४६ विशेषणाश्रया व्याख्या दृष्टीनां कथ्यते पुरः ।।
१४७ हर्षे निश्चलतारत्वं प्रसादे स्निग्धतारका ।

---

**(अद्भुत-रस की दृष्टि)**

१४१ कुछ सिकुड़ी हुई बरौनियों के अग्रभाग वाली, कुछ घूमते हुए तारों[२०] वाली तथा शीघ्र ही खिले हुए कोरों वाली दृष्टि 'अद्भुता' कहलाती है ।

**(रौद्र-रस की दृष्टि)**

१४२ जो दृष्टि क्रूर, रुक्ष, अरुण, उद्वृत (खुली हुई), तप्त पलकों तथा तारो वाली; तथा टेढ़ी भौहों वाली होती है वह 'रौद्रा' कहलाती है तथा उसका विनियोग 'रौद्र-रस' में होता है ।

**(करुण-रस की दृष्टि)**

१४३ जो दृष्टि नीचे गिरी होती है, पलकें ऊपर उठी होती है, आंसू बहा रहा होती है, क्रोध के कारण जिसकी पुतली शिथिल पड़ जाती हैं तथा नाक के अग्र-भाग पर जमी होती है वह 'करुणा' कहलाती है। करुण रस में उसका विनि-योग होता है ।

**(बीभत्स-रस की दृष्टि)**

१४४ सिकुड़ी हुई पलकों के कोरों वाली, घृणा से फुदकती तारों वाली तथा मटी हुई और स्थिर पलकों वाली दृष्टि 'बीभत्सा' कहलाती है ।

**(भयानक-रस की दृष्टि)**

१४५ खुले हुए एव स्तब्ध पलकों वाली, फड़कते हुए तथा घुमते हुए तारों वाली तथा अत्यन्त डरी हुई दृष्टि 'भयानका' कहलाती है। भयानक रस के अभि-नय मे उसका विनियोग होता है ।

१४६ आगे विश्लेषण के आश्रित दृष्टियों की व्याख्या कहते है ।

१४७ 'हर्ष में निश्चल तारों वाली दृष्टि होती है। 'प्रसाद' मे स्निग्ध तारों वाली दृष्टि होती है। अनुराग (प्रीति) व्यक्त करने वाली दृष्टि कान्ता, ललिता

व्यक्तप्रसक्तिः कान्ता स्याल्ललिता सा च मन्थरा ।।
सन्नतापाङ्गसञ्चारवती दृष्टिः समन्मथा ।
अपाङ्गे तारविक्षेपः कटाक्ष इति कथ्यते ।।
१४८ अव्यक्तविकृतिर्दृष्टिर्गम्भीरेति प्रकीर्तिता ।
पक्ष्मणोरन्यसंश्लेषःकुञ्चितं विनतेऽञ्चितम् ।।
ऊर्ध्वप्रवृत्ततारं यत्सौम्यं समविलोकने ।
दुरालोका भवेत्क्रूरा रूक्षा स्नेहविवर्जिता ।।
१४९ निश्चलायत निष्टब्धा कुटिला सोग्रतारका ।
मन्थरा मन्दसञ्चारा कुञ्चिता त्र्यश्रवीक्षणा ।।
बलात्कारेण विषयान् गृह्णती स्यादुपप्लुता ।
१५० व्याकोशमध्या मधुरा स्थिरताराभिलाषिणी ।।
सानन्दाश्रुकृता दृष्टिः स्निग्धेयं रसभावजा ।
१५१ चला हसितगर्भा च विशात्ताराऽनिमेषिणी ।।

---

तथा मन्थरा कहलाती है। झुके हुए कोरों से संचरण करने वाली दृष्टि 'समन्मथा' कहलाती है। कोरों के बीच होने वाले तारों के विक्षेप को कटाक्ष कहते हैं।

१४८ विकार व्यक्त न करने वाली दृष्टि 'गम्भीरा' कहलाती है। वरौनियों के सट जाने तथा सिकुड़ जाने पर दृष्टि 'विनता' कहलाती है। समान देखने पर ऊपर की ओर प्रवृत्त तारों वाली दृष्टि 'सौम्य' कहलाती है। कष्ट देने वाली बुरी दृष्टि 'क्रूरा' तथा स्नेह रहित 'रुक्षा' दृष्टि होती है।

१४९ निश्चल दृष्टि 'निष्टब्धा' कहलाती है। उग्र तारों वाली दृष्टि 'कुटिला' कहलाती है। झुकी हुई (शिथिल), मन्द गति वाली तथा सिकुड़ी हुई दृष्टि 'त्र्यश्र' कहलाती है। शक्तिपूर्वक विषय को ग्रहण करने वाली दृष्टि 'उपप्लुता' होती है।

### (रस-भावजा दृष्टि का स्वरूप)

### (स्निग्धा)

१५० मध्यम-अवस्था मे विकसित अर्थात् न अधिक न कम विकसित, मधुर, स्थिर तारों वाली, अभिलाषिणी तथा आनन्द के आँसुओं से युक्त दृष्टि 'स्निग्धा' कहलाती है, यह श्रृगार-रस के 'रति'-भाव से उत्पन्न होती है।

### (हृष्टा)

१५१ चंचल, हास्य युक्त तथा कुछ सिकुड़ी हुई जिसमे तारे पूरी तरह से दिखाई नही देते हैं, ऐसी दृष्टि 'हृष्टा' कहलाती है। हास्य-रस के अभिनय में उसका

किञ्चिदाकुञ्चिता हृष्टा दृष्टिर्हासे प्रकीर्तिता ।
अपाङ्गे शौक्ल्यभूयिष्ठा हासगर्भेति कथ्यते ॥
१५२ सस्मिते तारके यस्याः स्थिता विकसितान्तरा ।
सत्त्वमुद्गिरती दृप्ता दृष्टिरुत्साहसंभवा ॥
अवज्ञागर्भिणी दृष्टिर्दृप्तेति परिभाष्यते ।
अनभिव्यक्तविकृतिः विषये सत्त्वभूयसी ॥
यन्नापह्रियते दृष्टिर्विषयैरपहारिभिः ।
तदेव स्थैर्यमित्युक्तं दृष्टेः सर्वत्र कोविदैः ॥
१५३ विस्मयोत्फुल्लतारा च हृष्टोभयपुटाञ्चिता ।
समा विकसिता दृष्टिर्विस्मिता विस्मये स्मृता ॥
१५४ रूक्षा स्थिरोद्वृत्तपुटा विष्टब्धोद्वृत्ततारका ।
कुटिला भ्रुकुटीदृष्टिः क्रुद्धा क्रोधेऽभिधीयते ॥
१५५ उत्तब्धपक्ष्मरुद्धा या स्रस्तारा च जलाविला ।
मन्दसञ्चारिणी दीना सा शोके दृष्टिरिष्यते ॥
रुच्येऽपि विषये दृष्टेरौदासीन्यं ह्यदीनता ।

---

विनियोग होता है। कोरों में अधिक शुक्लता होने से दृष्टि 'हास-गर्भा' कहलाती है।

(दृप्ता)

१५२ मुस्कराती हुई तारों वाली, स्थिर, बीच-बीच में विकसित तथा सत्त्व (धैर्य) को उगलती हुई दृष्टि 'दृप्ता' कहलाती है। उत्साह के अभिनय में उसका विनियोग होता है। अवज्ञा-युक्त दृष्टि 'दृप्ता' कहलाती है। विषय के प्रति विकार को व्यक्त न करने वाली दृष्टि सत्त्वशालिनी होती है। जो दृष्टि गुप्त विषयों से नहीं छिपाई जाती है उसे विद्वान दृष्टि की स्थिरता कहते हैं।

(विस्मिता)

१५३ विस्मय के कारण घूमने वाली तारों वाली हृष्ट (प्रसन्न) दोनों पलकों वाली, तथा समान विकसित दृष्टि 'विस्मिता' कहलाती है। विस्मय के भावों के अभिव्यंजन में उसका विनियोग होता है।

(क्रुद्धा)

१५४ रूखी, स्थिर और उठे हुए पलकों वाली, स्तब्ध और चंचल तारों वाली तथा टेढ़ी भौहों वाली दृष्टि 'क्रुद्धा' कहलाती है। क्रोध के भावों को व्यक्त करने के लिए उसका विनियोग होता है।

(दीना)

१५५ स्तब्ध तथा अवरुद्ध बरौनियों वाली, झुकी हुई पुतलियों वाली, आँसुओं से भी भरी और मन्द-मन्द संचरण करने वाली दृष्टि 'दीना' कहलाती है। शोक में उसका विनियोग होता है। रुचिकर विषयों के प्रति भी दृष्टि की उदासीनता दीनता कहलाती है।

१५६ सङ्कोचितपुटा श्यामा दृष्टिर्मीलिततारका ।
पक्ष्मोन्मेषात्समुद्विग्ना जुगुप्सायां जुगुप्सिता ॥
विस्तारः स्यात्ततो ह्रासः सङ्कोच इति कथ्यते ॥
छायावैगुण्यमेव स्याद्दृष्टेः श्यामत्वमुच्यते ।
तारापुटभ्रुवां कम्पादुद्विग्नेति विभाव्यते ॥
जुगुप्सिता च विज्ञेया विषयादपरागिणी ।
१५७ विस्फारितोभयपुटा भयकम्पिततारका ॥
निष्क्रान्तमध्या दृष्टिस्तु भयभावे भयान्विता ।
१५८ इति स्वरूपतः प्रोक्ता दृष्टयो रसभावजाः ॥
१५९ तारा समपुटा स्निग्धा निष्कम्पा शून्यदर्शना ।
बाह्यार्थाग्राहिणी श्यामा शून्या दृष्टिः प्रकीर्तिता ॥
१६० प्रस्पन्दमानपक्ष्माग्रा नात्यन्तमुकुलैः पुटैः ।
मलिनान्ता च मलिना दृष्टिः पिहिततारका ॥
मलिना कथ्यते दृष्टिः क्षरदुष्णाश्रुदूषिता ।

---

(जुगुप्सिता)

१५६ संकुचित पलकों वाली, मीलित (बन्द) पुतलियों वाली तथा बरौनियों के खुलने से उद्विग्न (व्याकुल) हुई धुंधली (श्यामा) दृष्टि 'जुगुप्सिता' कहलाती है। जुगुप्सा में उसका विनियोग होता है। पहले विस्तार (बढ़ना) बाद में ह्रास (घटना) ही 'संकोच' कहलाता है। छाया की न्यूनता की तरह दृष्टि की 'श्यामलता' कही जाती है। पुतली, पलकों तथा भौहों के कम्पन से दृष्टि 'उद्विग्न' जानी जाती है। विषयों से अपराग करने वाली दृष्टि 'जुगुप्सिता' जानी जाती है।

(भयान्विता)

१५७ दोनों खुली हुई पलकों वाली, भय से काँपती हुई तारों वाली तथा मानो भय से बाहर निकली हुई मध्य-भाग वाली दृष्टि 'भयान्विता' कहलाती है। भय के भावों को अभिव्यक्त करने के लिए उसका विनियोग होता है।

१५८ इस प्रकार रसों के स्थायी-भावों से उत्पन्न दृष्टियों को स्वरूपतः कह दिया।

१५९ सम तारों वाली, सम पलकों वाली,[२१] स्निग्ध, निष्कम्प, शून्य दिखायी पड़ने वाली, बाह्य विषय को ग्रहण करने वाली तथा श्याम (धुँधली) दृष्टि 'शून्या' कहलाती है।

१६० बरौनियों के अग्रभाग से कम्पित और अन्तिम भाग से मलिन (धुंधली), अर्ध-मुकुलित पलकों वाली तथा बन्द पुतलियों वाली दृष्टि 'मलिना' कहलाती है। बहुते हुए गर्म आँसुओं से दूषित दृष्टि 'मलिना' कही जाती है।

१६१ श्रमप्रम्लापितपुटा क्षामान्ताञ्चितलोचना ॥
सन्ना पतिततारा च दृष्टिः श्रान्तेति कथ्यते ।
प्रम्लापनं भवेच्छोषः क्षामत्वमविकासिता ॥
निश्चेष्टता तारकाभ्रूपुटानां साद उच्यते ।

१६२ किञ्चिदञ्चितपक्ष्मा या पतितोर्ध्वपुटा ह्रिया ॥
त्रपाऽधोगततारा च दृष्टिर्लज्जावती भवेत् ।

१६३ म्लानभ्रूपुटपक्ष्मा च शिथिला मन्दचारिणी ॥
क्लमप्रविष्टतारा च ग्लाना दृष्टिरुदाहृता ।
अस्पष्टतारासञ्चारो दृष्टेः शैथिल्यमुच्यते ॥

१६४ किञ्चिच्चला स्थिरा किञ्चिदुन्नता तिर्यगायता ।
गूढा चकिततारा च शङ्किता दृष्टिरुच्यते ॥

१६५ विषादविस्तीर्णपुटा पर्यस्तान्ताऽनिमेषिणी ।
किञ्चिन्निष्टब्धतारा च कार्या दृष्टिर्विषादिनी ॥

१६६ स्फुरिताश्लिष्टपक्ष्माग्रा मुकुलोर्ध्वपुटान्विता ।
सुखोन्मीलिततारा च मुकुला दृष्टिरिष्यते ॥

---

१६१ श्रम से म्लान पलकों वाली, कृश तथा संकुचित कोरों वाली, स्तब्ध तथा नीचे गिरते हुए तारों[२२] वाली दृष्टि 'श्रान्ता' कहलाती है। शोष (सूखे) को 'म्लान' कहते है। अविकसित को 'क्षाम' कहते है। पुतली, भ्रकुटी तथा पलकों की निश्चेष्टता 'साद' कहलाती है।

१६२ कुछ सिकुड़ी हुई बरौनियों वाली, लज्जा से नीचे झुके हुए ऊपर के पलकों वाली तथा लज्जा से गिरी हुई पुतलियों वाली दृष्टि 'लज्जावती' होती है।

१६३ मलिन भ्रकुटी, पलकों तथा बरौनियों वाली, शिथिल, मन्द-मन्द चलने वाली तथा थकान के कारण अन्दर घुसे हुए तारों[२३] वाली दृष्टि 'ग्लाना' कही जाती है। पुतलियों की अस्पष्ट गति (चलना) दृष्टि की 'शिथिलता' कही जाती है।

१६४ कुछ चंचल, स्थिर, कुछ ऊपर उठी हुई, तिरछी खुली हुई, गूढ़ (गुप्त) और चकित तारों वाली दृष्टि 'शंकिता' कहलाती है।

१६५ विषाद में फैली हुई दोनों पलकों वाली, चारों ओर से अनिमेषिणी तथा कुछ निश्चल पुतली वाली दृष्टि 'विषादिनी' कही जाती है।

१६६ जिसमें बरौनियों के अग्रभाग फड़कते हुए तथा मिले हुए होते हैं, ऊपर के पलक खिले हुए होते हैं और पुतलियाँ सुख के कारण उन्मीलित होती हैं वह दृष्टि 'मुकुला' कहलाती है।

१६७ अनिकुञ्चितपक्ष्माग्रा पुटैराकुञ्चितैस्तथा ।
सन्ना पतिततारा च कुञ्चिता दृष्टिरिष्यते ॥
१६८ मन्दायमानतारा या पुटैः प्रशिथिलैस्तथा ।
सन्तापोपप्लुता दृष्टिरभितप्ता तु सव्यथा ॥
१६९ लम्बिताकुञ्चितपुटा शनैस्तिर्यङ्निरीक्षिणी ।
गूढोद्वर्तिततारा च जिह्मा दृष्टिरुदाहृता ॥
१७० मधुरा कुञ्चितान्ता च सस्मिताऽन्तर्विकासिनी ।
समन्मथविकारा च दृष्टिः सा ललिता भवेत् ।
वितर्कोद्वर्तितपुटा तथैवोत्फुल्लतारका ।
अधोगतविकारा च दृष्टिरिष्टा वितर्किता ॥
अर्धव्याकोशतारा च ह्लादार्धमुकुलैः पुटैः ।
स्मृताऽर्धमुकुला दृष्टिः किञ्चिल्ललिततारका ॥
अनवस्थिततारा च विस्तीर्णोत्फुल्लमध्यमा ।
विभ्रान्ततारका दृर्टिविभ्रान्तेति हि कथ्यते ॥
१७१ पुटौ प्रस्फुरितौ यस्या निष्टब्धौ पतितौ पुनः ।
विप्लुतोद्वृत्ततारा च दृष्टिरिष्टा तु विप्लुता ॥

---

१६७ सिकुड़े हुए पलको के कारण झुके हुए बरौनियों के अग्रभाग वाली, स्थिर तथा नीचे गिरती हुई तारों वाली दृष्टि 'कुंचिता' कहलाती है।

१६८ पलकों के शिथिल होने के कारण मन्द-मन्द चलती हुई पुतलियो वाली तथा संताप और दुःख को प्रकट करने वाली दृष्टि 'अभितप्ता' कहलाती है।

१६९ लटके हुए और सिकुड़े हुए पलकों वाली, धीरे-धीरे चितवन डालने वाली तथा गूढ़ और चंचल पुतलियों वाली दृष्टि 'जिह्मा' कहलाती है।

१७० मधुर, सिकुड़ी हुई कौरों वाली, मुस्कराती हुई, अन्तर्विकसित तथा काम-विकार को प्रकट करने वाली दृष्टि 'ललित' कही जाती है। वितर्क (संशय) में लगी हुई पलकों वाली, पूर्ण खिले हुए तारों वाली और नीचे की ओर संचरण करने वाली दृष्टि 'वितर्किता' जानी जाती है। हर्ष के कारण अर्ध-मुकुलित पलको से अर्धमुकुलित तारों वाली और कुछ ललित तारों वाली दृष्टि 'अर्धमुकुला' कहलाती है। अस्थिर (चंचल) पुतलियों वाली, विस्तीर्णा, विकसित मध्य भाग वाली तथा विभ्रान्त (चंचल) तारों वाली दृष्टि 'विभ्रान्ता' कहलाती है।

१७१ जो दृष्टि क्रमशः क्षुब्ध, स्थिर तथा गिरी हुई दोनों पलकों को धारण करती है और जो दृष्टि विप्लुता (व्याकुलता) के कारण चंचल पुतलियों वाली होती है उसे 'विप्लुता' कहते हैं। जिसकी पलकें तथा कोरें कुछ सिकुड़ी हुई और

आकुञ्चितपुटापाङ्गा सङ्गतार्धनिमेषिणी ।
मुहुर्व्यावृत्ततारा च दृष्टिराकेकरा स्मृता ।।
१७२ विकोशितोभयपुटा प्रोत्फुल्ला चानिमेषिणी ।
अनवस्थिततारा च विकोशा दृष्टिरिष्यते ।।
त्रासादुद्वर्तितपुटा मुहुः कम्पिततारका ।
त्रासादुत्फुल्लमध्या च त्रस्ता दृष्टिरुदाहृता ।।
१७३ भयचिन्ताश्रुशून्या स्याद्वैवर्ण्ये मलिना भवेत् ।
१७४ निर्वेदे च श्रमे श्रान्ता स्वेदे लज्जासु लज्जिता ।।
ग्लाना दृष्टिरपस्मारव्याधिग्लानिषु वर्तते ।
१७५ शङ्काविषादयोर्ज्ञेया शङ्किता च विषादिनी ।।
१७६ दृष्टिर्मुकुलिता स्वप्नसुखनिद्रासु वर्तते ।
कुञ्चिता सूचितानिष्टा दुष्प्रेक्षाऽक्षिव्यथासु च ।।
अभितप्ता च निर्वेदे त्वभिघाताभितापयोः ।

---

जुड़ी हुई होती है, आधी खुली हुई होती है तथा जिसकी पुतलियाँ बार-बार घूमती है, वह दृष्टि 'आकेकरा' कहलाती है ।

१७२ जिसकी दोनो पलकें खिली हुई होती हैं, जो अत्यन्त विकसित होती है, जिसकी पलके निर्निमेष (अपलक) होती हैं और पुतलियाँ घूमती है, वह दृष्टि 'विकोशा' कहलाती है जिसकी दोनों पलकें भय से घूमती हैं, पुतलियाँ बार-बार काँपती हैं और जिसका मध्य भाग त्रास (भय) से विकसित होता है उसे 'त्रस्ता' दृष्टि कहा जाता है ।

१७३ भय, चिन्ता तथा अश्रु का भाव प्रकट करने मे 'शून्या' दृष्टि का विनियोग होता है । वैवर्ण्य (मालिन्य) का भाव प्रकट करने में 'मलिना' दृष्टि का विनियोग होता है ।

१७४ निर्वेद और श्रम के अभिनय में 'श्रान्ता' दृष्टि का विनियोग होता है । स्वेद तथा लज्जा भाव के प्रकट करने मे 'लज्जिता' दृष्टि का विनियोग होता है । अपस्मार, व्याधि तथा ग्लानि के भावो के अभिव्यंजन में 'ग्लाना' दृष्टि का विनियोग होता है ।

१७५ शंका और विषाद का भाव प्रकट करने में 'शंकिता' और 'विषादिनी' दृष्टि का विनियोग होता है ।

१७६ स्वप्न, सुख और निद्रा के भावों को व्यक्त करने में 'मुकुलिता' दृष्टि का विनियोग होता है । अनिष्ट, कठिनाई से दिखायी देने वाली वस्तु को देखने तथा नेत्र-पीड़ा के अभिनय में 'कुंचिता' दृष्टि का विनियोग होता है । अवसाद, चोट और रोग (अभिताप) के अभिनय में 'अभितप्ता' दृष्टि का विनियोग होता है ।

१७७ जिह्मा दृष्टिरसूयायां जडतालस्ययोर्भवेत् ॥
ललिता हर्षधृत्योः स्यात्स्मृता तर्के वितर्किता ।
१७८ आह्लादेष्वर्धमुकुला गन्धस्पर्शसुखादिषु ॥
विभ्रान्तदृष्टिरावेगे सम्भ्रमे विभ्रमेऽपि च ।
१७९ विप्लुता चापलोन्माददुःखार्तिमरणादिषु ॥
आकेकरा दुरालोके विच्छेदप्रेक्षितेषु च ।
विबोधामर्षगर्वौग्र्यमतिषु स्याद्विकासिता ॥
१८० त्रस्ता त्रासे भवेद्दृष्टिर्मदेषु मदिरा भवेत् ।
१८१ यथा नेत्रं प्रसर्पेत मुखभ्रूदृष्टिसंयुतम् ॥
तथा भावरसोपेतं मुखरागं प्रयोजयेत् ।
१८२ स्वरूपं विनियोगश्च दृष्टीनां प्रतिपादितः ॥

**इति श्रीशारदातनयविरचिते भावप्रकाशने नायकनायिकाभेदतत्तदवस्थातदाश्रय-रसभावदृष्टिविकारादिवर्णनं नाम पञ्चमोऽधिकारः ॥**

---

१७७ असूया, जड़ता तथा आलस्य के भाव को व्यक्त करने में 'जिह्मा' दृष्टि का विनियोग होता है। हर्ष तथा धृति के भाव को व्यक्त करने में 'ललिता' दृष्टि का विनियोग होता है। तर्क के भाव को व्यक्त करने में 'वितर्किता' दृष्टि का विनियोग होता है।

१७८ आह्लाद, गन्ध, स्पर्श तथा सुख आदि के भावों के अभिव्यंजन मे 'अर्ध-मुकुला' दृष्टि का विनियोग होता है। आवेग, सम्भ्रम तथा विभ्रम (बैचेनी) के भाव-प्रदर्शन में 'विभ्रान्ता' दृष्टि का विनियोग होता है।

१७९ चपलता, उन्माद, दुःख, पीड़ा तथा मरण आदि के अभिनय मे 'विप्लुता' दृष्टि का विनियोग होता है। कठिनाई से देखने तथा स्नेह-भंग पूर्वक दृष्टि-पात करने में 'आकेकरा' दृष्टि का विनियोग होता है। विबोध, अमर्ष, गर्व, उग्रता तथा मति के भावों के अभिव्यंजन में 'विकासिता' दृष्टि का विनियोग होता है।

१८० त्रास (भय) के अभिनय में 'त्रस्ता' दृष्टि का विनियोग होता है। मद के अभिनय मे 'मदिरा' दृष्टि का विनियोग होता है।

१८१ मुख, भ्रकुटी तथा दृष्टि से युक्त जैसे नेत्र हों वैसे ही भाव तथा रस मे युक्त मुखराग का प्रयोग करना चाहिए।

१८२ इस प्रकार दृष्टियों का स्वरूप तथा विनियोग कह दिया।[२४]

श्री शारदातनय-विरचित भावप्रकाशन में नायकनायिकाभेदतत्तदवस्थातदाश्रय—रसभावदृष्टिविकारादिवर्णन नामक पंचम अधिकार हुआ।

श्रीः

## अथ षष्ठोऽधिकारः

१ अनुभूतिप्रकाराश्च रसानां गतयोऽपि च ।
आभासाश्च रसानाञ्च तेषामन्योन्यमेलनम् ।।
तद्विकल्पादयोऽन्येऽपि भावा वाक्यार्थताऽपि च ।
अत्राभिधीयतेऽस्माभिः कल्पवल्ल्यनुसारतः ।।

२ उत्पन्ना रतिरेकत्र प्रथमं दर्शनादिभिः ।
दीप्यमाना विभावैः स्वैस्तत्सान्निध्यादिकल्पितैः ।।
कटाक्षवीक्षणोद्यानगमनाद्यनुबन्धिनी ।
तद्दर्शनोपजनितैः स्मृतिहर्षमदादिभिः ।।
वागारम्भानुभावेन दीप्यमानाऽनुवर्धते ।
तद्दर्शनाद्दीप्यमानकम्परोमोद्गमादिभिः ।।
हृदारम्भानुभावेन शृङ्गारं विशिनष्टि सा ।
त्रिधाऽनुभावानुबन्धा रसोत्कर्षं यथारति ।।
पुष्यन्त्यन्यत्र विद्वद्भिरेवमेव विलोक्यताम् ।

---

१ अब हम कल्पवल्ली के अनुसार रसानुभूति के प्रकार, रसों की गति, रसाभास तथा उनका पारस्परिक मिश्रण, रसों के विकल्प आदि अन्य भाव तथा रसों की वाक्यार्थता कहते हैं ।

(**रसानुभूति-प्रकार**)

२ रति एक स्थान पर पहले दर्शन आदि विभावों से उत्पन्न होती है । अपने और उसके सान्निध्य आदि कल्पित विभावों से उद्दीप्त होती है । कटाक्ष से देखना, उद्यानगमन आदि से सम्बन्धित रति; उसके दर्शन से उत्पन्न स्मृति, हर्ष, मद आदि—वागारम्भानुभाव से उद्दीप्त रति और वृद्धि को प्राप्त होती है । उसके दर्शन से उद्दीप्त होती हुई कम्पन, रोमोद्गम आदि—हृदयारम्भानुभाव से वह रति शृंगार-विशेष हो जाती है, इस प्रकार त्रिविधा अनुभाव से सम्बन्धित रति रस के उत्कर्ष को पुष्ट करती है । इस प्रकार से ही अन्यत्र रसानुभूति को विद्वान देखें ।

३ अष्टधा गतिरेतेषां रसानां कथ्यते बुधैः ।।
आश्लेषलीनविच्छेदसूक्ष्मव्यतिकरस्थिराः ।
शोभनश्च समश्चेति सर्वत्राभिनयाश्रयाः ।।

४ रसस्य वर्तमानस्य स्वसामग्रीसमेन च ।
अन्येन सङ्गतिः स्याच्चेदयमाश्लेष उच्यते ।।

५ रसोऽनुभूयमानश्चेद्रसान्तरतिरस्कृतः ।
अन्यरागान्निवृत्तो वा स लीन इति संज्ञितः ।।

६ विच्छिन्नमध्यः प्रबलैर्विरुद्धैर्हेतुभिः क्वचित् ।
पुनश्चेन्नानुवृत्तः स्यात्स विच्छेद इतीरितः ।।

७ आलम्बनगुणस्थैर्यात्संस्कारस्यानुवर्तनात् ।
योऽनुयाति विलीनो यः स सूक्ष्म इति कथ्यते ।।

८ समकालसमुत्पन्नैस्त्रिभिर्द्वाभ्यामथापि वा ।
रसश्चेद्व्यतिकीर्येत स तु व्यतिकरः स्मृतः ।।

९ आविर्भूय तिरोभूय रसमध्ये क्वचिद्रसाः ।
आपादयन्ति प्रथमे स्थैर्यं चेत्स स्थिरः स्मृतः ।।

---

(रसों की गतियाँ)

३ विद्वान इन रसो की आठ गतियाँ कहते है : (१) आश्लेष (२) लीन (३) विच्छेद (४) सूक्ष्म (५) व्यतिकर (६) स्थिर (७) शोभन (८) तथा सम— ये रसों की अभिनय के आश्रित आठ गतियाँ होती है ।

४ वर्तमान रस की अपनी सामग्री की समानता से अन्य रस के साथ जो संगति होती है वह'आश्लेष' कहलाती है ।

५ जो रस का अनुभव करने वाला, दूसरे रस से तिरस्कृत या अन्य राग से निवृत्त होता है, वह 'लीन' कहलाता है ।

६ जब कही कोई प्रबल विरुद्ध कारणों से रस के बीच मे विच्छिन्नता आ जाती है फिर वह नही जुड़ती है, वह 'विच्छेद' कहलाता है ।

७ आलम्बन के गुणों की स्थिरता से तथा संस्कार के अनुसरण से जो अनुसरण करता है, जो विलीन होता है वह 'सूक्ष्म' कहलाता है ।

८ समकाल में उत्पन्न दो या तीन रस मिल जाते हैं तो 'व्यतिकर' कहलाता है ।

९ कहीं रस के बीच मे अन्य रस आविर्भूत तथा तिरोभूत होकर प्रथम रस में ही स्थिरता को प्राप्त होते है तो वह 'स्थिर' कहलाता है ।

१० समकालसमुत्पत्तेः समकालानुभूतिभिः ।
स्थायिनोः सात्त्विकादीनां साम्याच्च सम ईरितः ।।

११ विरोधिमित्रशत्रूणां रसानां सङ्करेऽपि च ।
महिम्ना शोभते स्वेन यः स शोभन ईरितः ।।

१२ हास्याभिभूतः शृङ्गारस्तदाभासो भविष्यति ।।
हास्यो बीभत्समिलितो हास्याभास उदाहृतः ।।
वीरो भयानकाविष्टो वीराभास इतीरितः ।
बीभत्सकरुणाश्लेषादद्भुताभास उच्यते ।।
रौद्रः शोकभयाविष्टो रौद्राभास इतीरितः ।
हास्यशृङ्गारखचितः करुणाभास उच्यते ।।
बीभत्सोऽद्भुतशृङ्गारी बीभत्साभास उच्यते ।
रौद्रवीरानुषक्तश्चेदाभासः स्याद्भयानके ।।

१३ रक्तापरक्तयोश्चेष्टा यतो हासकरी नृणाम् ।
दृष्टा श्रुता सूचिताऽपि शृङ्गाराभासकारिका ।।

१४ पूयशोणितमांसादिविष्ठालेपादयोऽपि च ।
हास्यं भिन्दन्ति यत्रैते स हास्याभास ईरितः ।।

---

१० समकाल में उत्पन्न होने से तथा समकाल में अनुभूति होने से स्थायी-भाव तथा सात्त्विक आदि भावों में जो साम्य होता है, उसे 'सम' कहा जाता है ।

११ विरुद्ध, मित्र तथा शत्रु रसों में संकर भाव होने पर भी जो अपनी महिमा मे सुशोभित होता है उसे 'शोभन' कहा जाता है ।

**(रसाभास)**

१२ हास्य से अभिभूत शृंगार—'शृगार–रसाभास' होगा । हास्य और बीभत्स का सम्मिश्रण—'हास्य–रसाभास' कहलाता है । वीर तथा भयानक का सम्मिलन—'वीर–रसाभास' कहा जाता है । बीभत्स तथा करुण का संश्लेषण—'अद्भुत रसाभास' कहलाता है । शोक एवं भय से आविष्ट रौद्र—'रौद्र–रसाभास' कहा जाता है । हास्य तथा शृंगार से खचित करुण—'करुण रसाभास' कहा जाता है । अद्भुत तथा शृंगार का सम्मिलन बीभत्स—'बीभत्स–रसाभास' कहलाता है । वीर तथा रौद्र का संयोग—'भयानक-रसाभास' कहलाता है ।

१३ जब रति में मनुष्य के राग तथा अपराग की हासकारी (हास्यास्पद) चेष्टाएँ देखी जाती हैं, सुनी जाती है, या सूचित की जाती हैं तो 'शृंगाराभास' कहलाता है ।

१४ जहाँ ये पूय (पस), खून, मांस, आदि तथा विष्ठालेप आदि भी हंसी को भंग कर देते हैं, वह 'हास्याभास' कहा जाता है ।

१५ सभासु योषितां मध्ये शूरमानस्य कस्यचित् ।
भयात्पलायनं युद्धाद्वीराभास उदीरितः ॥
१६ दिव्यादिदर्शनेऽस्त्रादिलेपोरस्ताडनादयः ।
अद्भुतं घ्नन्ति यत्तस्मादद्भुताभास इष्यते ॥
१७ अवज्ञाक्षेपवाक्यादिरौद्रकर्मकृतोद्यमः ।
बिभेति शोचति यदि स रौद्राभास उच्यते ॥
१८ शोचतो हास्यशृङ्गारभूयिष्ठं चेष्टितं यदि ।
स एव करुणाभासस्तद्भावश्चेत्स्वभावजः ॥
१९ यत्तु बीभत्सरूपस्य सम्भोगो वनिताजनैः ।
रूपयौवनसम्पन्नैर्बीभत्साभास उच्यते ॥
२० बिभ्यतो यत्र दृश्येत वीररौद्रादिभाषितम् ।
भयानकाभास इति कविभिः प्रविविच्यते ॥
२१ भागद्वयं प्रविष्टस्य प्रधानस्यैकभागता ।
रसानां दृश्यते यत्र तत्स्यादाभासलक्षणम् ॥
२२ प्रथमं दृश्यते यत्तु श्रूयते सूच्यतेऽपि वा ।
तत्प्रधानमिति प्राहू रसप्राधान्यवेदिनः ॥

---

१५ सभाओं में, नारी समाज के मध्य किसी पुरुष का वीरता प्रदर्शन, युद्ध के भय के कारण किसी वीर का पलायन 'वीर-रसाभास' कहलाता है ।

१६ दिव्य (वस्तुओं) आदि के देखने पर अस्त्रादि का लेप तथा उरताडनादि आश्चर्य को नष्ट करते हैं तो 'अद्भुताभास' कहलाता है ।

१७ अवज्ञा, आक्षेप-वाक्य आदि रौद्र कर्म करने पर जो यदि डरता है, शौक करता है, वह 'रौद्राभास' कहलाता है ।

१८ हास्य और शृंगार की अधिकता से युक्त यदि शोक की चेष्टाएँ हों, तो उसे 'करुणाभास' कहते हैं, और उसका भाव स्वभाव से उत्पन्न होता है।

१९ रूप कथा यौवन सम्पन्न स्त्रियों के साथ बीभत्स रूप का सम्भोग होता है तो 'बीभत्साभास' कहलाता है ।

२० जहाँ डरते हुए व्यक्ति वीर तथा रौद्र आदि भाव से बोलते हुए देखे जाते हैं तो कविजन उसे 'भयानकाभास' कहते हैं ।

**(रसाभास का लक्षण)**

२१ जहाँ प्रधान रस एक हिस्सा तथा अप्रधान या अंगभूत रस दो हिस्सा प्रयोग किया जाता है वहाँ 'रसाभास' होता है ।[1]

२२ जो सर्व प्रथम देखा जाता है, सुना जाता है, या सूचित किया जाता है उसे रसप्राधान्यवेत्ता 'प्रधान' कहते हैं ।

२३ समसमन्तरितो भावैरपि वाद्यन्तगैर्यदि ।
एकरूपप्रवृत्तो यः स प्रधानो भविष्यति ॥

२४ आद्यन्तयोर्द्विगुणितः स्वेतरैः स्वयमादिमः ।
मध्यगो वा भवेत्सम्यक्स रसाभासतामियात् ॥

२५ पौर्वापर्येण भावाः स्युः समा यदि मिथो द्वयोः ।
तदेव रसविद्वद्भीरसमेलनमुच्यते ॥

२६ शृङ्गारवीरयोः सम्यग्भवेदन्योन्यमेलनम् ।
रौद्रबीभत्सयोस्तद्वत्तथैवाद्भुतहास्ययोः ॥
भयानकस्य करुणस्य स्यादन्योन्यमेलनम् ।

२७ रसाः कार्यवशात्सर्वे मिलन्त्येव परस्परम् ॥
प्रथमं यो रसः ख्यातः स प्रधानो भविष्यति ।

२८ द्वयोः प्रवेशे संसर्गो भावो यदि समो भवेत् ॥
द्वित्राणामपि संसर्गसाम्ये सङ्कर उच्यते ।

२९ तेषामेकत्र बाहुल्यं प्रधाने यत्र दृश्यते ॥
आद्यन्तयोः प्रगुणितः स प्रधानो भविष्यति ।

---

२३ जो रस यदि आदि या अन्त के भावों के द्वारा बीच में समानता के कारण एक रूप मे प्रवृत्त रहता है वह 'प्रधान' होगा ।

२४ जहाँ प्रधान रस आदि तथा अन्त में अपने से भिन्न अर्थात् अन्य अंगभूत रसों से दो हिस्सा तथा स्वयं आदि में या मध्य में भलीभाँति रहता है तो 'रसाभास' कहलाता है ।

२५ यदि परस्पर दो रसों का पौर्वापर्य से समभाव रहता है तो वही रसवेत्ताओं द्वारा 'रसमेलन' कहलाता है ।

२६ शृंगार तथा वीर रस का पारस्परिक मिश्रण भलीभाँति रहता है । रौद्र तथा बीभत्स रस का, अद्भुत तथा हास्य रस का, भयानक तथा करुण रस का पारस्परिक मिश्रण रहता है ।

२७ सभी रस कार्यवश परस्पर मिलते ही हैं । सर्वप्रथम जो रस आता है वह प्रधान होगा ।

२८ यदि दो रसों के प्रवेश में संसर्ग-भाव समान होता है तो दो, तीन (रसों) के भी संसर्ग के साम्य में 'संकर' कहा जाता है ।

२९ जहाँ उन सभी की एक स्थान पर प्रधान (रस) में बहुलता देखी जाती है तो आदि और अन्त में बढ़ा हुआ वह 'प्रधान' होगा ।

३० इत्थं स्वतन्त्रैराभासैर्मिलितैः सङ्करै रसैः ॥
तारतम्यं विजानीयात्सम्यग्रागापरागयोः ।
एवं विभाव्य कविभिः काव्यबन्धो विरच्यताम् ॥
विलोकिताः काव्यबन्धा रसभावविवेचकैः ।
कवेः प्रयत्नसाफल्यं कीर्ति पुष्णन्ति शाश्वतीम् ॥
३१ एवंरूपं प्रकारञ्च देशं कालमृतुं वयः ।
प्रकृतिं भावलिङ्गे च ज्ञात्वा विद्याद्रसस्थितिम् ॥
३२ एवंप्रकारानालोक्य समाकर्ण्यानुभूय च ।
परेभ्यो दर्शयन्नेवं श्रावयन्ननुभावयन् ॥
सर्वप्रकारैः सम्पूर्णकामः सन्तुष्टमानसः ।
प्राप्नोति मुक्तिं चरमे शान्तेनैव रसेन सः ॥
३३ शान्तो विषयहेयत्वदर्शनश्रवणादिभिः ।
धर्माख्यानपुराणैश्च पुण्यतीर्थावगाहनैः ॥
पुण्याश्रमनिवासैश्च योगिभिर्नित्यसङ्गमैः ।
जडान्धबधिरादीनां तारतम्यावलोकनैः ॥
व्याधिदारिद्र्यमरणैर्नारक्यायातनाश्रुतैः ।
पुण्यक्षयप्रपतनकुयोनिश्रयणादिभिः ॥

---

३० इस प्रकार स्वतन्त्र रसाभासों से, मिले हुए, संकर रसों से राग तथा अपराग का तारतम्य अच्छी तरह जानना चाहिए। कविजनों को इस प्रकार यह सब जानकर काव्य-प्रबन्ध की रचना करनी चाहिए। रस-भावज्ञों द्वारा काव्य-प्रबन्धों को देखा जाता है। कवि-प्रयत्न की सफलता शाश्वत कीर्ति को पुष्ट करती है।

३१ इस प्रकार रस का रूप, प्रकार, देश, काल, ऋतु, अवस्था, प्रकृति (स्वभाव), भाव तथा लिंग को जानकर रस की स्थिति समझनी चाहिए।

३२ इस प्रकार स्वयं रसानुभूति के प्रकारों को देखकर, सुनकर तथा अनुभव करके, और इस प्रकार दूसरों को दिखाकर, सुनाकर तथा अनुभव कराकर; सभी प्रकार से सम्पूर्ण काम वाला, सन्तुष्ट मन वाला वह (सहृय) शान्त रस से ही अन्त में मुक्ति को प्राप्त करता है।

**(शान्त-रस के उत्कर्ष में विभाव)**

३३ विषयों की हेयता के दर्शन और श्रवण आदि, धर्म आख्यान-रूप-पुराण, पुण्य-तीर्थ-स्थान पर स्नान, पुण्य-आश्रम में निवास, योगीजनों के साथ नित्य संगति; जड़, अन्धे, बहरे आदि के तारतम्य को देखने, व्याधि (रोग), दरिद्रता, मरण, नरक की यातनाओं (दुःख) का श्रवण, पुण्यों के नाश के कारण पतित होने से

क्लेशप्रयत्नवैफल्याद्दुःखत्रितयघातनैः ।
इत्यादिभिर्विभावैः स्याच्छमात्मा कस्यचिद्रसः ।
३४ यथाशक्ति परित्राणं दुःखिनामविशेषतः ।
विना रागेण सर्वत्र सुखिनामनुमोदनम् ॥
शाकमूलफलैरन्यैः शरीरस्थितिसाधनम् ।
व्रतोपवासनियमो वल्कलाजिनधारणम् ॥
अहिंसा सर्वभूतानामविशेषादनुग्रहः ।
अङ्गेषु कार्श्यं कार्कश्यं स्नानं त्रिषवणोचितम् ॥
ऋज्वायतासनं ध्यानं नासाग्राहितलोचनम् ।
विषयेभ्यो नियमनमिन्द्रियाणां निवृत्तये ॥
इत्यादयो विशेषाः स्युः प्रायः शान्तेषु योगिषु ।
३५ मानापमानयोः शोकहर्षयोः सुखदुःखयोः ॥
समवृत्तितया प्रायो नानुभावा भवन्ति हि ।
आनन्दबाष्परोमाञ्चस्वेदस्तम्भाः स्युरेकदा ॥
शान्तानुभावो रोमाञ्च एक एवेति केचन ।
नोपकुर्वन्ति शान्तस्य भावाः सञ्चारिणो यतः ॥

---

बुरी योनि का आश्रय, क्लेश और प्रयत्न की विफलता से दुःख-त्रय (आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक) का उच्छेद—इत्यादि विभावों से किसी का 'शम' स्वरूप 'शान्त-रस' उत्पन्न होता है ।

**(शान्त-रस के विशेष कथन)**

३४ सामान्यतः दुःखी-जनों की यथाशक्ति रक्षा करना, बिना राग के सर्वत्र सुखी-जनों का अनुमोदन करना; शाक, मूल तथा फल और ऐसे ही अन्य साधनों से शरीर को स्थिर रखना, व्रत, उपवास आदि नियमों का पालन करना, बल्कल तथा खाल पहनना, सभी प्राणियों के प्रति अहिंसा का भाव रखना, सामान्य रूप से दया का भाव रखना; अंगों में कृशता, कर्कशता, त्रिषवणोचित (त्रिकालोचित) स्नान, सरल आसन, ध्यान, नासिका के अग्रभाग पर लगाये हुए नेत्र तथा परमानन्द की प्राप्ति के लिए विषयों से इन्द्रियों को रोकना इत्यादि विशेष बातें प्रायः शान्ति-योगियों में होती हैं ।

**(शान्त रस में अनुभाव के अभाव का कथन)**

३५ प्रायः शान्त-रस में मानापमान, शोक-हर्ष तथा सुख-दुःख में समप्रवृत्ति रहने से अनुभाव नहीं होते हैं । लेकिन कोई आनन्द से निकले हुए आँसू, रोमांच, स्वेद तथा स्तम्भ को अनुभाव बताते हैं । कोई केवल रोमांच को ही शान्त-रस का अनुभाव कहते हैं । वास्तविकता यही है कि शान्त-रस में अनुभाव नहीं होते हैं क्योंकि संचारी भाव शान्त-रस का उपकार नहीं करते हैं ।

३६ तस्माच्छान्तरसस्यैवं विकलाङ्गत्वमुच्यते ।
निवृत्ते विषयासङ्गे स्वान्ते शान्तिमुपेयुषि ॥
निर्वेदादेरनुदयादनुभावो न दृश्यते ।
अतो हर्षाद्यनुभवराहित्याद्विकलाङ्गता ॥
अस्तीति सत्तामात्रेण प्रायः शान्तो विभाव्यते ।
यतो न भावोऽभिनयो न शक्यो नाट्यकर्मणि ॥
शमे स्थायिनि तत्र स्युर्भावा हर्षादयः कथम् ।
३७ अतोऽयं विकलप्रायस्तथापि श्रेष्ठ उच्यते ॥
प्रकृष्टस्योपयोगित्वात्पुरुषार्थस्य देहिनाम् ।
३८ यथाविभवमाख्याता रसा भावास्तदुद्भवाः ॥
अथैषां देशकालादिदर्शनश्रवणादिभिः ।
अनुभावाः स्वसंवेद्यास्तान्सम्यगभिजानते ॥
देशादयो विभावास्तु हर्षादीन्व्यभिचारिणः ।
आलम्बनविभावेषु जनयन्ति यथाबलम् ॥
जनयन्ति हि ते तत्तच्चेष्टां तेषु परस्परम् ।
चेष्टाभिरनुमीयन्ते ह्यनुभावा विशारदैः ॥

---

३६ इसलिए शान्त-रस की इस प्रकार विकलांगता कही जाती है। विषयों के प्रति विमुखता होने पर तथा अन्तःकरण मे शान्ति प्राप्त हो जाने पर निर्वेद आदि का उदय न होने के कारण अनुभाव दिखाई नहीं देता है। अतः हर्ष आदि के अनुभव से रहित होने से (शान्त है—रस की) विकलांगता सिद्ध होती है। इस प्रकार सत्ता मात्र से प्रायः शान्त-रस जाना जाता है। क्योंकि नाट्य-कर्म में न भाव हो सकता है न अभिनय हो सकता है, वहाँ 'शम' स्थायी भाव में हर्षादि भाव कैसे हो सकते है ?

३७ अतः यह शान्त-रस प्रायः विकलाग ही है फिर भी शरीरधारियो के पुरुषार्थ चतुष्टय में सर्वश्रेष्ठ पुरुषार्थ-मोक्ष के लिये उपयोगी होने से यह श्रेष्ठ कहा जाता है ।

३८ जिस प्रकार वैभव को श्रेष्ठ कहा गया है और रस-भाव उससे उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार इनके देश, काल आदि के दर्शन एवं श्रवण आदि के द्वारा स्वसवेद्य अनुभाव होते है, उन्हें अच्छी तरह से जाना जाता है। देशादि विभाव आलम्बन विभावों में हर्षादि व्यभिचारी भावों को यथाशक्ति उत्पन्न करते हैं। वे उनमें परस्पर उस-उस चेष्टा को उत्पन्न करते है । विद्वान चेष्टाओं से

भावा विनैव चेष्टाभिर्न दृश्यन्ते कदाचन ।
तस्माच्चेष्टाविशेषज्ञो भावुको रसिको भवेत् ॥

३९ कृत्रिमोऽकृत्रिमश्चेति द्विधा देशो विभाव्यते ।
कृत्रिमा नगरग्रामपल्लीजनपदादयः ॥
अकृत्रिमाः सरिच्छैलवेलाऽरण्यादयस्तथा ।
अकृत्रिमास्तु शिल्पज्ञः क्रियन्ते कृत्रिमाः क्वचित् ॥
कृत्रिमा अपि तद्वत्तैर्विरच्यन्तेऽप्यकृत्रिमाः ।

४० कालो बसन्तवर्षादिर्बहुभेदः प्रकल्प्यते ॥
लवादिभेदादेतेषु विनोदाः स्युर्महोदयाः ।
विनोदा बहवः सन्ति शृङ्गारे हास्यवीरयोः ॥
रौद्रेऽपि क्रमशोऽन्यूना भवन्ति सुखिनां नृणाम् ।
बीभत्से नायकाभासविनोदः शस्यते क्वचित् ॥
भयानके च शान्ते च विनोदो नैव दृश्यते ।
एतौ विनोदनीयौ स्तः सुहृदादिभिरेकदा ॥

४१ अष्टमीचन्द्रशक्रार्चावसन्तमदनोत्सवाः ।
बकुलाशोकविहृतिः शाल्मलीमूलखेलनम् ॥
एते वासन्तिकाः प्रायो विनोदा रसिकोचिताः ।

---

अनुभावों का अनुमान कर लिया करते है । चेष्टाओं के बिना भाव कभी नहीं दिखायी देते है । इसलिये चेष्टा-विशेषज्ञ भावुक तथा रसिक होता है ।

३९ कृत्रिम तथा अकृत्रिम भेद से 'देश' दो प्रकार का जाना जाता है । 'कृत्रिम'— नगर, ग्राम, बस्ती, जनपद (शहर) आदि है। 'अकृत्रिम' -नदी, पर्वत, सागर का तट, अरण्य (जंगल) आदि हे । अकृत्रिम को शिल्पज्ञ कहीं कृत्रिम बना देते है। उसी प्रकार उनके द्वारा कृत्रिम भी अकृत्रिम बना दिये जाते हैं ।

४० 'काल' वसन्त, वर्षा ऋतु आदि के भेद से बहुत प्रकार का होता है। 'लव' आदि के भेद से इन कालों में प्रेमियों के बहुत से विनोद होते हैं। विनोद बहुत हैं; शृंगार, हास्य, वीर, रौद्र रसों में क्रमशः सुखी मनुष्यों के बहुत प्रकार के विनोद होते हैं। कहीं बीभत्स में नायकाभास विनोद अच्छा होता है । भयानक और शान्त-रस में विनोद नही दिखाई देता है । कोई एक कहते हैं कि भयानक और शान्त—ये दोनों मित्रों द्वारा विनोदनीय होते हैं ।

(वासन्तिक)

४१ अष्टमी का चन्द्रमा, इन्द्रपूजा, वसन्तोत्सव, कामोत्सव, बकुल और अशोक का फूलना, शाल्मली वृक्ष की जड़ों में खेलना—ये प्रायः वसन्त-ऋतु में होने वाले रसिकोचित विनोद हैं ।

४२ उद्यानयात्रा सलिलक्रीडा पुष्पापचायिका ॥
नवाम्रखादिका चूतमाधवीनवसङ्गमः ।
एते प्रायो विनोदाः स्युर्निदाघे सुखभोगिनाम् ॥

४३ क्रीडाशिखण्डिलास्यञ्च कादम्बकलहो मिथः ।
नवाम्बुदाभ्युद्गमनं नवोदाभ्युद्गमोत्सवः ॥
कालागरुद्रुमोल्लासिनवपल्लवभञ्जनम् ।
एते विनोदाः कथिताः प्रावृषि प्रीतिमेयुषाम् ॥

४४ चतुर्थीकन्दुकक्रीडा चन्द्रिकालालनोद्यमः ।
मृणालवारिकङ्केलिर्हंसलीलावलोकनम् ॥
यक्षरात्रिबलिक्रीडासरित्पुलिनकेलयः ।
एते विनोदाः कविभिः प्रायः शरदि कल्पिताः ॥

४५ प्राबोधिका देवतानां दोलालीलावलोकनम् ।
मातुलुङ्गफलैस्तत्तत्पानकासवकौशलम् ॥
क्रीडाशकुन्तसङ्घातबालातपविनोदम् ।
एते विनोदाः कथिता हेमन्ते काव्यवेदिभिः ॥

---

(निदाघ)

४२ उद्यान-यात्रा, जलक्रीड़ा, पुष्पावचयन, नवीन आमों का खाना, आम्र तथा माधवीलता का संगम—ये प्रायः ग्रीष्म ऋतु में होने वाले सुख-भोगियों के विनोद है।

(प्रावृषि)

४३ क्रीड़ा में लगे हुए मयूर का नृत्य, परस्पर झगड़ते हुए कादम्ब (कलहंस, बतख), नये-नये बादलों का ऊपर उठना, नये जल के उद्गम का उत्सव, काला अगरु, विकसित वृक्ष, नवीन पल्लवों का गिरना—ये प्राय. वर्षा ऋतु में होने वाले प्रेमियों के विनोद कहे जाते है।

(शरदि)

४४ चतुर्थी, कन्दुक क्रीड़ा, चाँदनी में प्यार को उद्यत, मृणाल—जलकेलि, हंसलीला देखना, यज्ञ-रात्रि, बलि-क्रीड़ा, नदी किनारे केलि—ये प्राय शरद ऋतु में होने वाले विनोद कहे जाते हैं।

(हेमन्त)

४५ देवताओं में प्राबोधिका (जागरण), झूला-झूलना-देखना, मातुलुग (जंभीरी नीबू) फलों से उस-उस पानक को तैयार करने की कुशलता, पक्षियों के साथ क्रीड़ा, प्रातःकालीन विनोद—ये प्रायः हेमन्त ऋतु में होने वाले विनोद कवि-जनों द्वारा कहे जाते है।

४६ आलापाभ्यसनक्रीडा शुकशारिकयोर्मिथः ।
बालकुक्कुटमेषादियुद्धनैपुणदर्शनम् ॥
पुराणशीथुपानादिनवान्नोत्सवकल्पना ।
इत्यादयो विनोदाः स्युः शिशिरे रागदीपनाः ॥
४७ स्थिरानुरागयोर्यूनोर्विनोदैरेवमादिभिः ॥
परस्परोपचारैश्च सम्भोगः पुष्टिमश्नुते ।
४८ स सम्भोगश्चतुर्धा स्याद्भुजिधात्वर्थयोगतः ।
भुजिः पालनकौटिल्याभ्यवहारानुभूतिषु ॥
४९ नवरागानन्तरजः पाल्योऽभीष्टोपचारतः ।
मानानन्तरसम्भोगः कौटिल्यं न त्यजेत्क्वचित् ॥
हृद्यः प्रवासानन्तर्यो हृद्यान्नाभ्यवहारवत् ।
करुणानन्तरभवः सविस्रम्भानुभूतिकृत् ॥

---

(शिशिर)

४६ तोता तथा मैना में परस्पर वार्तालाप का अभ्यास कराने वाली क्रीड़ा; छोटे-छोटे मुर्गे, मेड़ा आदि का युद्ध-कौशल दिखाना, पुराने शीथु (आसव) के पानादि से नवीन अन्नोत्सव मनाना—ये प्रायः शिशिर ऋतु में राग उद्दीप्त करने वाले विनोद है।

४७ इस प्रकार स्थिर-अनुरक्त-युवक-युवती के बीच इन सभी विनोदों से तथा परस्पर उपचारों से सम्भोग पुष्टि को प्राप्त होता है।

(सम्भोग)

४८ 'भुज्' धातु के अर्थ-योग से वह सम्भोग चार प्रकार का होता है। 'भुज्' धातु के चार अर्थ होते है :

(1) 'भुज् पालने' अर्थात् 'भुनक्ति इति'—जो रक्षा करता है।
(2) 'भुज् कौटिल्ये' अर्थात् 'भुजति इति'—जो मोड़ता है या टेढ़ा करता है।
(3) 'भुज् अभ्यवहारे' अर्थात् 'भुङ्क्ते इति'—जो खाता है या उपभोग करता है।
(4) 'भुज् अनुभूत्याम्' अर्थात् 'भुङ्क्ते इति'—जो अनुभव करता है।

४९ नवीन राग के बाद होने वाला सम्भोग अभीष्ट उपचार से 'पाल्य' होता है। मान के बाद सम्भोग कहीं कुटिलता नहीं छोड़ता है अतः 'कौटिल्य' होता है। प्रिय के प्रवास के बाद सम्भोग प्रिय के उपवास की पारणा (व्रतान्त भोजन) की तरह होता है अतः वह 'अभ्यवहार्य' होता है। करुणा के बाद होने वाला सम्भोग विश्वास के साथ 'अनुभूति' के योग्य होता है।[१]

५० स मितः सङ्करश्चैव सम्पन्नश्च समृद्धिमान् ।
इत्याद्याः कवयः प्रायः चतुर्णां च प्रयुञ्जते ॥
५१ नवानुरागे युवभिरुपचारः ससाध्वसैः ॥
मितं प्रयुज्यते यस्मात्ततस्स मित उच्यते ॥
५२ मानानन्तरसम्भोगो व्यलीकादिस्मृतेः पुनः ।
सङ्कीर्यते यतस्तस्मात्स सङ्कर इतीरितः ॥
५३ सम्पन्नकामैरायातैः प्रोषितैरुपभुज्यते ।
सम्पन्न एव यत्तस्मात्सम्पन्न इति कथ्यते ॥
५४ प्रत्युज्जीवनहर्षादेः प्रवृद्धो मृतजीवतोः ।
दीपनातिशयैर्दीप्तः सम्भोगः स्यात्समृद्धिमान् ॥
५५ स्नेहो यत्र भयन्तत्र यत्रेर्ष्या मदनस्ततः ।
वैमनस्यं व्यलीकञ्च स्नेहतो भयतो भवेत् ॥
ईर्ष्याया मदनाच्चापि विप्रियं मन्युरुद्भवेत् ।
५६ यन्म्लायति मनस्तापादातपम्लानसस्यवत् ॥
तद्वैमनस्यं स्नेहेऽपि स्नेहालम्बनदोषतः ।

---

५० वह सम्भोग मित, संकर, सम्पन्न तथा समृद्धिमान भेद से चार प्रकार का कविजनों द्वारा प्रयुक्त किया जाता है।

५१ (१) प्रथम अनुराग में युवक भय के साथ कम उपचार का प्रयोग करता है तो 'मित' सम्भोग कहलाता है।

५२ (२) मान के बाद होने वाला सम्भोग अपराध आदि के स्मरण करने से पुनः संकीर्ण हो जाता है तो 'संकर' कहलाता है।

५३ (३) काम से सम्पन्न आये हुये प्रवासी के द्वारा खूब उपभोग किया जाता है वह 'सम्पन्न' कहलाता है।

५४ (४) मरे और जीवित के पुनरुज्जीवन एवं हर्ष आदि से बढ़ा हुआ और उद्दीपन भाव के अतिशय से उद्दीप्त सम्भोग 'समृद्धिमान' कहलाता है।[3]

**(शृंगार के भाव-कथन)**

५५ जहाँ स्नेह होता है वहाँ भय होता है, जहाँ ईर्ष्या होती है वहाँ काम होता है। वैमनस्य तथा व्यलीक क्रमशः स्नेह तथा भय से होते हैं। ईर्ष्या तथा काम से क्रमशः विप्रिय तथा क्रोध (मन्यु) उत्पन्न होते हैं।

**(वैमनस्य)**

५६ जैसे धूप से खेती मलिन हो जाती है वैसे ही जो मन दुःख (ताप) से मलिन हो जाया करता है वह 'वैमनस्य' कहलाता है। स्नेह में भी स्नेहालम्बन के दोष से, सरस घाव से युक्त तथा रात्रि के जागरण के कारण आलसी प्रिय

सरसव्रणसम्भिन्नं रात्रिजागरणालसम् ।।
प्रियं प्रभाते पश्यन्त्या वैमनस्यं प्रजायते ।
रोषः स्वेदश्च कम्पश्च मुखे वैवर्ण्यमेव च ।।
मा स्प्राक्षीः शोभनं साधु गच्छेति वचनं भवेत् ।
५७ अभीप्सितार्थानुत्पत्तिर्व्यलीकमिति कथ्यते ।।
निवार्यमाणोऽपि पुनः पुनरायाति यो बलात् ।
सङ्घर्षान्मत्सरात्तस्या व्यलीकमुपजायते ।
निधाय वामं हृदये करमन्यं विधून्वती ।
त्वमिहास्स्व वयं याम इति रोषाद्ब्रवीति च ।।
५८ प्रतिश्रुतार्थानिर्वहणं यत्तद्विप्रियमुच्यते ।
यावज्जीवमहं दासस्त्वमेव च मम प्रिया ।।
इत्युक्त्वा योऽन्यथा कुर्याद्विप्रियं तत्र जायते ।
रुदितं क्रोधहसितं तादिप्रेषणं मुहुः ।।
सबाष्पं सशिरःकम्पं कृतं साध्विति वक्ति च ।

---

को प्रातः देखने वाली (नायिका) का 'वैमनस्य' उत्पन्न हो जाता है। वैमनस्य मे रोष, स्वेद, कम्पन, मुख की विवर्णता होती है तथा मत छुओ, सुन्दर, अच्छा जाओ—इस प्रकार के वाक्य बोले जाते हैं।

(व्यलीक)

५७ अभीप्सित वस्तुओं की अनुत्पत्ति 'व्यलीक' कहलाती है। मना किये जाते हुए भी नायक नायिका के समीप बलपूर्वक बार-बार आता है तो इस प्रकार संघर्ष तथा मत्सर से उस नायिका का 'व्यलीक' उत्पन्न हो जाया करता है और हृदय पर बायें हाथ को रखकर दूसरे हाथ को झटकती हुई क्रोध के कारण ऐसा बोलती है कि 'तुम यहाँ बैठो' हम जायें'।

(विप्रिय)

५८ किसी बात को स्वीकार करके उसका पालन नहीं करना 'विप्रिय' कहलाता है—अर्थात् प्रतिज्ञा करके उसको पूरी नहीं करना 'विप्रिय' कहलाता है। 'जब तक जीवित रहूँगा तब तक मैं तुम्हारा दास रहूँगा और तुमही मेरी प्रिया हो'—ऐसा कहकर नायक अन्यथा (विपरीत) करे तो नायिका का 'विप्रिय' भाव उत्पन्न हो जाता है और नायिका रोती है, क्रोध से हँसती है, बार-बार दूत आदि को भेजती है, आँसुओं तथा शिर-कम्पन के साथ साधु! (अच्छा किया)—इस प्रकार बोलती है।

५९ मान्यावमानिता मन्युरवबोधनिरोधकृत् ॥
सपत्नीरतिसम्भोगे सौभाग्यं बहुशो वदन् ।
दृश्यते च पतियस्यास्तत्र मन्युः प्रजायते ॥
६० शङ्कते वाष्पपूर्णाक्षी रशनादि क्षिपत्यधः ।
वलयादि मुहुर्बाह्वोः परिवर्तयति द्रुतम् ॥
अभाषमाणा शयने तूष्णीं शेतेऽवकुण्ठिता ।
एवं प्रवृद्धमन्यूनां स्त्रीणां भवति विक्रिया ॥
सापराधे प्रिये दृष्टे सलज्जे च सशङ्किते ।
सोपालम्भैर्वचोभिस्तमीर्ष्यार्थैः खेदयेन्मृदु ॥
न निष्ठुरं वचो ब्रूयान्नातिक्रुध्येत्कदाचन ।
न चातिपरिहासः स्यात्सखीभिस्तेन वा क्वचित् ॥
बाष्पोन्मिश्रैर्वचोभिस्तमात्मनिक्षेपमन्थरैः ।
प्रतिब्रूयादुरस्स्थेन पाणिना स्निग्धवीक्षितैः ॥
निश्वासैः सशिरःकम्पैः कटीहस्ततयाऽपि च ।
अपराधैर्महीलेखागणितैस्तर्जनैरपि ॥
एभिरेव रतिर्यूनोर्भूयः स्याद्भूयसी मिथः ।

(मन्यु)

५९ माननीय का अपमान करना 'मन्यु' कहलाता है और वह ज्ञान को रोकने वाला होता है अर्थात् वह ज्ञान को नष्ट करने वाला होता है। सपत्नी के साथ प्रेम करने से सम्भोग में सौभाग्य को बहुत बार कहता हुआ जिसका पति देखा जाता है वहाँ नायिका का 'मन्यु' भाव उत्पन्न हो जाता है।

६० और आँसुओं से पूर्ण आँखो वाली नायिका शंका करती है, रशना (कर्धनी) आदि को नीचे फेक देती है, बलय (कंकण) आदि को बार-बार शीघ्रता के साथ भुजाओं में बदलती रहती है। बात न करती हुई शय्या पर चुपचाप सोती है, कुंठित रहती है। इस प्रकार बढ़े हुए मन्यु भाव वाली स्त्रियों की क्रिया होती है। पुनः अन्य स्त्री के साथ सम्भोग करने के कारण प्रिय के अपराध करने पर प्रिय को लज्जित तथा शंकित देखने पर वह नायिका उलाहना के शब्दों से उस नायक को ईर्ष्या से पूर्ण बातों से थोड़ा दुःखी करती है। वह नायिका न कठोर वचन बोलती है, न कभी क्रोध करती है, कहीं सखियों या नायक के साथ न अधिक उपहास करती है। आत्म-निक्षेप से मन्थर तथा अश्रुमिश्रित वाणी से हृदय पर हाथ रखकर नायिका नायक को उत्तर देती है। स्निग्ध दृष्टि, विश्वास, शिर-कम्पन, कमर पर हाथ रखने, अपराध, महीलेखा-गणित (पृथ्वी खोदने) तथा तर्जन (ताड़ने) आदि से युवक-युवती के बीच परस्पर रति बार-

एवं प्रणयरोषैश्च भूयोभूयः समागमैः ॥
प्रवृद्धो दीपनैर्दीप्तः शृङ्गारः पुष्टिमश्नुते ।
वैमनस्यादयो भावाः शृङ्गारस्योपयोगिनः ॥
प्रयुञ्जते चेदन्यत्र गौण्या लक्षणयाऽथ वा ।
६१ यदैकत्रानुभूयन्ते युगपत्तत्तदिन्द्रियैः ॥
विषयाः सुखरूपेण पुष्यन्ति हि तदा रतिम् ।
६२ शिरः पार्श्वोन्नतं दृष्टिः किञ्चित्साचीकृता भवेत् ॥
तर्जनी कर्णदेशस्था शब्दस्य श्रवणे नृणाम् ।
हस्तो गण्डाश्रितो नेत्रे किञ्चिदाकुञ्चिताञ्चिते ॥
उत्क्षेपश्च भ्रुवोः कम्पः स्पर्शे रोमाञ्चविक्रिया ।
त्रिपताकः करो मूर्ध्नि चलनं किञ्चिदानने ॥
आकेकरा भवेद्दृष्टी रूपालोकनकर्मणि ।
उत्फुल्ला नासिका किञ्चित् नेत्रे किमपि कुञ्चिते ॥
एकोच्छ्वासश्च भवति रसगन्धसमागमे ।
इन्द्रियार्थश्च मनसा भाव्यतेत्वनुभावितः ॥
६३ मनसस्त्रिविधो भावः कथ्यते सर्वसूरिभिः ।
इष्टोऽनिष्टश्च मध्यश्चेत्येवं त्रेधा विभिद्यते ॥

---

बार होती है। इस प्रकार प्रणय तथा क्रोध से होने वाले बार-बार समागम से बढ़ा हुआ, उद्दीपन से उद्दीप्त हुआ शृंगार पुष्टता को प्राप्त होता है। वैमनस्य आदि भाव शृंगार-रस के उपयोगी होते हैं। अन्यत्र भी ये भाव गौणी या लक्षणा वृत्ति से प्रयुक्त होते हैं।

६१ जब एक ही स्थान पर एक साथ उन-उन इन्द्रियों से सुख-स्वरूप विषयों का अनुभव किया जाता है तब वे विषय रति को पुष्ट करते हैं।

६२ भ्रम के कारण बगल में उठी हुई दृष्टि कुछ तिरछी हो जाती है, मनुष्यों के शब्द के श्रवण में (सुनने में) कानों में तर्जनी अंगुली लगी रहती है। हाथ गण्डस्थल पर रखा रहता है, नेत्र बन्द होने पर सिकुड़ जाते है। भ्रकुटी तन जाती है।[४] स्पर्श करने पर कम्पन व रोमाच होता है। त्रिपताक हाथ[५] सिर पर, कभी मुंह पर चलता है। रूप देखने पर आकेकरा दृष्टि[६] हो जाती है। नासिका कुछ फूल जाती है, नेत्र कुछ सिकुड़ जाते है। रस तथा गन्ध के संयोग पर उच्छ्वास एक हो जाता है। उन-उन इन्द्रियों के विषय में मन से, अनुभाव से जाने जाते हैं।

**(मनोभाव के तीन प्रकार)**

६३ सभी विद्वान तीन प्रकार के मनोभाव कहते हैं। इष्ट, अनिष्ट तथा मध्य भेद से मनोभाव तीन प्रकार से विभाजित होते हैं।

६४ इष्टे तु विषये गात्राह्लादनैः पुलकोद्गमैः ।
मनोहराभिश्चेष्टाभिरिष्टं भावं विनिर्दिशेत् ॥
६५ अनिष्टे विषये तत्र नासाग्राञ्चितकूणनम् ।
शिरसश्च परावृत्तिरप्रदानञ्च चक्षुषः ॥
गात्रस्तम्भो जुगुप्सा च भावेऽनिष्टे भवन्ति हि ।
६६ न सौमुख्यं न वैमुख्यं नातिहर्षो न कुत्सनम् ॥
माध्यस्थ्यं मनसो ह्येवं मध्यस्थे विषये भवेत् ।
६७ कथिता ये त्वभिनया विषयानुभवात्मकाः ॥
तेऽपि दूरसमीपस्थसूक्ष्मव्यवहितात्मना ।
पृथक्स्थितास्त्वेकदा स्युः कदाचित्स्युः समुच्चिताः ॥
६८ प्रियापराधे याः काश्चिदवस्थाः कथिता अपि ।
विशेषः कथ्यते तासां कल्पवल्यनुसारतः ॥
६९ यूनोस्तु रक्तयोर्मानविरहे गोत्रवैकृते ।
विवेष्टनं प्रियस्पर्शे निर्भर्त्सनमभाषणम् ॥
शय्यान्ते च पराक्शय्या स्वेदो गद्गदभाषणम् ।
एते प्रायेण भावाः स्युर्भोगाङ्कं श्रेष्ठयोषिताम् ॥

---

६४ (१) इष्ट विषय के प्रति शरीर की प्रसन्नता, पुलकित होने तथा मनोहर चेष्टाओं से 'इष्ट-भाव' निर्दिष्ट होता है ।

६५ (२) अनिष्ट-विषय के प्रति नासिका के अग्रभाग का सिकुड़ना, सिर को घुमा लेना, नेत्रों को नहीं लगाना, गात्र-स्तम्भ तथा जुगुप्सा आदि अनिष्ट भाव में अनुभाव होते हैं।

६६ (३) मध्यस्थ मन का मध्यस्थ विषय में न सामुख्य, न विमुखता, न अधिक हर्ष और न अधिक तिरस्कार ही होता है।

६७ जो ये विषय के अनुभाव-रूप अभिनय कहे गये हैं; वे दूर, समीप तथा सूक्ष्म रूप में पृथक्-पृथक् रहते हैं, अकेले रहते है, कभी एकसाथ रहते है ।

६८ प्रिय के अपराध करने पर जो कुछ अवस्थाएँ कही जाती है उनमें विशेष अवस्थाओं को कल्पवल्ली के अनुसार कहते है ।

६९ अनुरक्त युवक-युवती के बीच मान से उत्पन्न विरह में गोत्रस्खलन के समय प्रिय को दूर हटा देना, प्रिय के स्पर्श करने पर भर्त्सना करना, नहीं बोलना, शय्या पर अलग बैठना, स्वेद, गद्-गद भाषण आदि—प्रायः ये भाव श्रेष्ठ स्त्रियों के भोग के चिह्न होते हैं ।

७० अवाङ्मुखमवस्थानं निश्श्वासो बाष्पमोचनम् ।
विलोकनञ्च सख्यादेः साधु साध्विति भाषणम् ।।
एते भावाः स्युरुत्स्वप्नापराधे गोत्रवैकृते ।
७१ उत्थानं शयनाद्दूरशयनञ्च विवेष्टनम् ।।
अपाङ्गविगलद्बाष्पमन्तस्स्तम्भितरोदनम् ।
एते विशेषतः स्वप्नापराधे स्युर्मनोहराः ।।
७२ एवं मानवियोगे स्युः प्रवासविरहे पुनः ।
७३ आकस्मिके तु हृत्कम्पो मूर्च्छा संज्ञा भ्रमः स्मृतिः ।।
तदन्वेषणचिन्ता च तत्पथाशाविलोकनम् ।
७४ विरहे सम्भ्रमोत्थे तु विषयापरिनिश्चयः ।।
७५ दैविके कार्श्यसन्तापदेवतार्चनजागराः ।
वैवर्ण्यमङ्गदाहश्च प्रलापोऽश्रुविनिर्गमः ।।
आकस्मिकवियोगे स्युर्विकाराश्चैवमादयः ।
विरहे बुद्धिपूर्वे तु जाड्यनिर्वेददीनताः ।।
वैवर्ण्यकार्श्यमालिन्यसन्तापज्वरमूर्च्छनाः ।
व्याध्युन्मादविषादाश्च शापेऽप्येते च कीर्तिताः ।।

---

७० मुंह फेरकर बैठना, निःश्वास, आँसू निकलना (भाप छोड़ना), सखी आदि को देखना, साधु ! साधु ! कहना आदि—प्रायः ये भाव प्रिय के स्वप्न में अपराध करने पर तथा गोत्रस्खलन में होते हैं ।

७१ शय्या से उठना, दूर सोना, विवेष्टन (दूर हटा देना), कोरों से निकलते हुए आँसू, अन्दर ही रोका हुआ रोदन आदि—ये मनोहर भाव विशेषतः प्रिय के स्वप्न मे अपराध करने पर होते हैं ।

७२ इस प्रकार मान से उत्पन्न वियोग में ये भाव रहते हैं । पुनः प्रवास से उत्पन्न विरह में रहने वाले भावों को कहते हैं ।

७३ हृदय-कम्पन्न, मूर्च्छा, चेतना, भ्रम, स्मृति, प्रिय के अन्वेषण की चिन्ता, प्रिय के मार्ग को आशा से देखना आदि—भाव तो आकस्मिक वियोग में होते हैं ।

७४ घबराहट से उत्पन्न विरह में विषय का निश्चय नहीं होता है ।

७५ दैविक विरह में कृशता, संताप, देवता-अर्चना, जागरण, वैवर्ण्य, अंगदाह, प्रलाप, आँसू निकलना आदि—विकार होते हैं, इसी प्रकार ये विकार आकस्मिक वियोग में होते है । पूर्व ज्ञात विरह में जड़ता, निर्वेद, दीनता, वैवर्ण्य कृशता, मलिनता, संताप, ज्वर, मूर्च्छा, व्याधि (रोग), उन्माद तथा विषाद आदि विकार होते हैं । ये विकार शापजविरह में भी कहे जाते हैं ।

७६ मध्यमानान्तु नारीणामीर्ष्यारोषोत्तरं वचः।
सोपालम्भञ्च परुषं मानादिषु विभाव्यते ॥

७७ अधमानां तु नारीणां केशाकर्षणताडनम्।
बन्धनं परुषं वाक्यं प्रायः सर्वत्र दृश्यते ॥

७८ आस्ववस्थासु कथिता ये ये भावाः पृथक्पृथक्।
अयोगविरहस्यैते कथ्यन्ते भावकोविदैः ॥

७९ एवं विभाव्य बध्नन्तु प्रबन्धान्कविपुङ्गवाः।
अन्यथा यदि वैरस्यं जनयन्ति मनीषिणाम्।

८० एवमुक्तस्वरूपाणां रसानामर्थतत्त्वतः।
वाक्यार्थता व्यङ्ग्यता च कथ्यते शास्त्रवर्त्मना।

८१ रसवन्ति हि काव्यानि सालङ्काराणि कानिचित्।
एकेनैव प्रयोगेण निर्वर्त्यन्ते महाकवेः ॥

८२ यथा गङ्गादिसलिलं नानारूपरसात्मकम्।
आत्मभावं नयेदन्तः प्रविष्टं लवणाकरः ॥
भावो भावान्तराण्यात्मभावं स्थायी तथा नयेत्।

---

७६ मानादि में मध्यम स्त्रियों के ईर्ष्या तथा क्रोध से उत्तर देना, उलाहना से पूर्ण तथा कठोर वचन बोलना आदि विकार जाने जाते है।

७७ अधम स्त्रियों मे प्रायः बाल खीचना, पीटना, बाँध देना, कठोर वाक्य वोलना आदि—भाव प्रायः सर्वत्र देखे जाते हैं।

७८ इन अवस्थाओं में जो-जो भाव अलग-अलग कहे गये हैं ये सब भावज्ञों द्वारा अयोग-विरह के कहे जाते हैं।

७९ इन सभी भावों को समझकर कविपुगवों को अपनी रचना तैयार करनी चाहिए अन्यथा-भाव विद्वानों में शत्रुता उत्पन्न कर देते है।

८० इस प्रकार उक्त-स्वरूप—रसो की अर्थ-तत्त्व की दृष्टि से वाक्यार्थता और व्यंग्यता शास्त्रानुसार कहते हैं।

८१ रस-युक्त काव्य, कुछ अलंकार-युक्त काव्य—सभी महाकवि के एक ही प्रयोग से तैयार किये जाते हैं।

८२ जैसे समुद्र के अन्तर्गत विभिन्न रूप तथा रस वाला अर्थात् कोई भी खारा या मीठा गगा आदि नदी का जल मिलकर तद्रूप हो जाता है अर्थात् समुद्र समस्त जल को आत्मसात करके, आत्मरूप (खारा) बना लेता है। वैसे ही स्थायी-भाव भी सभी भावों को आत्मरूप बना लेता है। स्थायी-भाव उसे कहते हैं

वेधकैः स्वेतरेषाञ्च भावैः स्वैरतिरस्कृतः ॥
यावत्प्रबन्धानुवृत्तः स्थायी रत्यादिरुच्यते ।

८३ एकस्मिन्नसयोर्वाक्ये मुक्तके कुलकादिषु ॥
द्वयोरुपनिपातेऽन्यः प्रधानमितरो गुणः ।
द्वयोस्तुल्यवदुत्पत्तौ संसर्गालङ्कृतिस्तु सा ॥

८४ काक्वा विशेषणेनाथ विभावादिबलेन वा ।
प्राबल्यं यस्य दृश्येत तस्य प्राधान्यमिष्यते ॥
यत्र काकुविशेषोऽपि न स्यात्तद्दुष्टमेव हि ।
तुल्यवद्भावयुगलप्रतीतिर्यत्र दृश्यते ।
श्लेषरूपेण तद्वाक्ये वाक्यद्वित्वस्य दर्शनात् ।
रसभेदप्रतीतिस्तु यदि स्याद्गुण एव सः ॥

८५ निर्वेदादेरताद्रूप्यादस्थायी स्वदते कथम् ।
वैरस्यायैव तत्पोषः तेनाष्टौ स्थायिनो मताः ॥

८६ प्रकाशानन्दचिद्रूपां रसतां प्रतिपद्यते ।

---

जो रत्यादि स्थायी-भाव काव्य (प्रबन्ध) में प्रयुक्त होने तक अपने तथा अपने से भिन्न के वैधिक (अविरुद्ध) भावों से तिरस्कृत नही हो पाते हैं ।[७]

८३ एक वाक्य में, मुक्तक में, कुलकादि में दो रसों के रहने पर एक प्रधान होगा और दूसरा गौण । दोनों के समानरूप होने पर 'संसर्गालंकार' होगा ।

८४ उन दोनों रसों में काकु से, विश्लेषण से या विभावादि के बल से जिस रस की प्रबलता दिखाई जाती है उसे 'प्रधान' कहा जाता है । जहाँ काकु विशेष भी नहीं होता है तो वह दुष्ट ही होता है । जहाँ एक समान दो भावों की प्रतीति दिखाई जाती है । उस वाक्य में श्लेष से वाक्य के द्वित्व के दर्शन होने के कारण रस-भेद की प्रतीति होती है तो वह गुण ही होता है ।

८५ इस प्रकार स्थायी-भाव विरुद्ध या अविरुद्ध भावों से तिरस्कृत नही होता है बल्कि सभी को आत्मसात् कर लेता है, लेकिन यह ताद्रूप्य निर्वेदादि में नहीं पाया जाता है अतः स्थायी-भाव का गुण न होने से निर्वेदादि को स्थायी कैसे मान सकते हैं तथा उसकी चर्वणा कैसे हो सकती है? यदि निर्वेदादि की काव्य नाटकादि में पुष्ट होगी भी तो वह रस के स्थान पर वैरस्य (रस-विकार) उत्पन्न करेगी । अतः उन्हें रस के स्थायी नहीं माना जा सकता है, इसीलिए आठ ही स्थायी भाव स्वीकार किये जाते है ।[८]

८६ ये आठ स्थायी-भाव प्रकाश-स्वरूप, आनन्दमय और चिद्रूप रस के स्वरूप (रसता) को प्राप्त होते हैं ।

८७ **प्रकृष्यमाणो यो भावः स स्थायीति निगद्यते ॥**
**काव्योपात्तैर्विभावादिभावैः समुपबृंहितः ।**
**स्थायी रसात्मतां यातस्तत्र वाक्यार्थतामियात् ॥**

८८ **वाच्या प्रकरणादिभ्यो बुद्धिस्था वा क्रिया यथा ।**
**वाक्यार्थः कारकैर्युक्ता स्थायी भावस्तथेतरैः ॥**

८९ **शब्दोपात्तक्रिया ज्ञाताऽथवा प्रकरणादिभिः ।**
**कारकादिविशिष्टैव यथा वाक्यार्थतामियात् ॥**

९० **तथा विभावानुभावसात्त्विकव्यभिचारिभिः ।**
**स्थायी विशिष्टः काव्यादिवाक्यार्थो भवति स्फुटम् ।**
**तेन रत्यादिशब्दानामप्रयोगेऽपि कुत्रचित् ।**
**रसभावप्रतीतिस्तु तत्तद्वाक्येषु सेत्स्यति ॥**

९१ **सम्बन्धो रसकाव्यादेस्तद्वाक्यार्थतया भवेत् ।**
**काव्यं सामाजिकोद्देशप्रवृत्तमिति यत्ततः ॥**

---

८७ जो भाव श्रेष्ठ (प्रकृष्यमाण) होता है वह 'स्थायी' कहलाता है। काव्य में कहे गये विभावादि भावों से वृद्धि को प्राप्त स्थायी-भाव जो रसात्मता (रस के स्वरूप) को प्राप्त होता है, वह 'वाक्यार्थता' कहलाती है।

८८ किसी वाक्य को सुनकर या पढकर उस वाक्य के प्रकरणादि (वक्ता, श्रोता, देश, कालादि) का ज्ञान प्राप्त करके, इस प्रकरण के द्वारा हम वाक्य में प्रयुक्त कारकों की सहायता से वाक्य में साक्षात् उपात्त शब्द के वाच्यार्थ रूप में क्रिया का ज्ञान प्राप्त करते हैं। कभी-कभी वाक्य में क्रिया का साक्षात् वाचक शब्द उपात्त नहीं होता है, फिर भी प्रकरणादि के अनुकूल क्रिया का (बुद्धिस्थ क्रिया का) अध्याहार कर ही लिया जाता है। इस प्रकार वाक्य में चाहे क्रिया वाच्य हो या बुद्धिस्थ हो वही वाक्य का 'वाक्यार्थ' होता है। ठीक इसी प्रकार विभावानुभावव्यभिचारी भाव के द्वारा स्थायी-भाव काव्य के वाक्यार्थ (तात्पर्य) के रूप में प्रतीत होता है। स्थायी-भाव भी वाक्य में बुद्धिस्थ क्रिया की भाँति वाच्य न होकर प्रकरण संवेद्य है।[१]

८९ चाहे क्रियावाच्य (शब्दोपात) हो या बुद्धिस्थ (ज्ञाता) हो परन्तु प्रकरणादि के द्वारा कारकादि से पुष्ट होकर विशिष्ट क्रिया वाक्यार्थ का रूप धारण करती है अर्थात् कारक-परिपुष्ट क्रिया ही वाक्यार्थ का तात्पर्य है।

९० ठीक यही बात काव्य के विषय में घटित होती है। काव्य में विभाव, अनुभाव, सात्त्विक-भाव तथा व्यभिचारी भावों से विशिष्ट स्थायी भाव काव्यादि का वाक्यार्थ होता है। लेकिन कही रति आदि शब्दों का प्रयोग नहीं होता है, फिर भी उन-उन वाक्यों में रस-भाव की प्रतीति होती है।

९१ अतः रस तथा काव्यादि का सम्बन्ध उनकी वाक्यार्थता से सिद्ध होता है। जो सामाजिक के उद्देश्य (तात्पर्य) से प्रवृत्त होता है, वह काव्य कहलाता है। वहाँ

तत्रत्यरसमेवास्य वाक्यार्थमिव मन्यते ।
काव्यादिबन्धबद्धस्य रसस्य स्थायिनोऽपि च ।।
वाक्यार्थत्वञ्च शब्दार्थसम्बन्धादवगम्यते ।
सम्बन्धो द्वादशविधः स्मृतः शब्दार्थयोर्बुधैः ।।
द्वादशधा सम्बन्धः शब्दस्यार्थस्य यः स साहित्यम् ।
त्रिस्कन्धः स चतुर्भिस्तनुभिः स्याच्चतुश्चतुर्भिश्च ।।
वृत्तिर्विवक्षा तात्पर्यप्रविभागाविहोदितौ ।
ततो व्यपेक्षासामर्थ्यान्वियाश्चैकार्थभावना ।।
दोषहानं गुणादानं तथाऽलङ्कारयोगिता ।
रसावियोग इत्येते सम्बन्धाः कथिता बुधैः ।।
९२ वृत्तिस्त्रिधा पदार्थेषु पदानामुच्यते बुधैः ।
अभिधा लक्षणा गौणीत्येतासां रूपमुच्यते ।।
शब्दशक्तिपरामर्शात्तद्व्यापारात्मिका बुधैः ।
अभिधेये प्रवृत्तिर्या सा वृत्तिरभिधोच्यते ।।
अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणोच्यते ।
सैषा विदग्धवक्रोक्तिजीवितं वृत्तिरिष्यते ।।

---

रस ही उस काव्य का वाक्यार्थ जैसा माना जाता है। काव्यादि प्रबन्धों में निबद्ध रस तथा स्थायी भाव की वाक्यार्थता शब्दार्थ-सम्बन्ध से जानी जाती है। शब्दार्थ-सम्बन्ध विद्वानों द्वारा बारह प्रकार का कहा जाता है। शब्द तथा अर्थ का जो बारह प्रकार का सम्बन्ध है, वह 'साहित्य' कहलाता है। यह द्वादशधा शब्दार्थ-सम्बन्ध चार-चार के भेद से तीन प्रकार का होता है :

(१) वृत्ति, विवक्षा, तात्पर्य, प्रविभाग।
(२) व्यपेक्षा, सामर्थ्य, अन्वय, एकार्थ-भावना।
(3) दोषहान, गुणोपदान (गुणदान), अलंकार—योग तथा रसावियोग।[१०]

(वृत्ति)

९२ विद्वानों द्वारा पदार्थों में पदों की वृत्ति तीन प्रकार की कही जाती है—अभिधा, लक्षणा तथा गौणी—इनका रूप कहा जाता है।

(१) अभिधा—अभिधेय (मुख्य) अर्थ में शब्द-शक्ति के परामर्श से उसकी व्यापार-रूपा जो प्रवृत्ति होती है, वह वृत्ति विद्वानों द्वारा 'अभिधा' कहलाती है।

(२) लक्षणा—अभिधेय (मुख्य) अर्थ से अविनाभूत (सम्बन्धित) अर्थ की प्रतीति 'लक्षणा' कहलाती है। यह लक्षणा विदग्ध (कुशल) लोगों की वक्रोक्ति से युक्त वृत्ति होती है। 'क्रोशन्ति मञ्चाः' अर्थात् 'मंच चिल्ला रहे हैं' इत्यादि उदाहरण में 'लक्षणा' जानी जाती है।

क्रोशन्ति मञ्चा इत्यादौ सा वृत्तिरवगम्यते ।
लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद्वृत्तेरिष्टा तु गौणता ॥
सा सिंहो देवदत्तोऽयमित्यादाववगम्यते ।
९३ रूढ्या यत्रासदर्थोऽपि लोके शब्दो निवेशितः ॥
स मुख्यस्तत्र तत्साम्याद्गौणोऽन्यत्र स्खलद्गतिः ।
आसां स्वरूपं वक्ष्यामः परस्ताच्च सविस्तरम् ।
९४ शब्दार्थयोः समन्यूनाधिकताभेदतस्त्रिधा ।
विवक्षा सा तु सन्दर्भे कविभिस्तु नियम्यते ॥
क्वचिदर्थस्य विस्तारः क्वचिच्छब्दस्य विस्तरः ।
तुलाधृतमिवैकत्र साम्यं शब्दार्थयोः क्वचित् ॥
क्वचित्स्वल्पेऽप्यर्थे प्रचुरवचनैरेव रचना
क्वचिद्वस्तु स्फारं कतिपयपदैरर्पितरसम् ।
यथावाच्यं शब्दाः क्वचिदपि तुलायामिव धृताः
त्रिभिः कल्पैरेवं कविवृषभसन्दर्भनियमः ॥

---

(३) गौणी—लक्ष्यमाण-गुण-योग से होने से 'वृत्ति' में गौणता चली जाती है अर्थात् लक्ष्य-माण (जाड्यमान्द्य आदि) गुणों के (वाहीक में रहने रूप) योग से इस लक्षणा-वृत्ति की 'गौणता' हो जाती है । 'सिंहो देवदत्तोऽयम्' इत्यादि उदाहरण में वह वृत्ति जानी जाती है । इस उदाहरण में 'सिंह' शब्द गौणी वृत्ति से क्रौर्यादि विशिष्ट प्राणी का बोधक होता है और उसका देवदत्त पद के साथ सामानाधिकरण्य है । अतः सिंह और देवदत्त दोनों 'देवदत्त' अर्थ का ही बोधन करते हैं । इसलिए यह गौणी है ।

९३ लोक में जहाँ शब्द रूढ़ि से असद् अर्थ को भी बताता है, वह 'मुख्य' होता है, वहाँ उसकी समानता से अन्यत्र स्खलद्गति वाली वृत्ति 'गौणी' होती है । इनके स्वरूप को विस्तारपूर्वक आगे कहेंगे ।

(विवक्षा)

९४ शब्द और अर्थ में सम, न्यून तथा अधिकता के भेद से 'विवक्षा' तीन प्रकार की होती है । कविजनों द्वारा वह (विवक्षा) सन्दर्भ में नियमित की जाती है । कही अर्थ का विस्तार, कही शब्द का विस्तार और कहीं शब्द तथा अर्थ का तराजू मे तोलने की तरह साम्य होता है । कहीं अल्प अर्थ में अधिक वाक्यों का प्रयोग होता है । कही अधिक विषय-वस्तु थोड़े पदों से ही रस प्रदान करती है । कही तराजू मे तोले गये के समान जितना अर्थ उतने ही शब्दों का प्रयोग होता है, इस प्रकार कविजन तीन विकल्पों से सन्दर्भ को नियमित करते हैं ।

९५ असावुन्नीयते सद्भिः त्रिप्रकारैश्च हेतुभिः ।
एकः स्यात्काकुविच्छेदादिना प्रकरणादिना ॥
कश्चित्तथैवाभिनयादिना कोऽपि यथाक्रमम् ।
९६ भिन्नकण्ठो ध्वनिर्धीरैः काकुरित्यभिधीयते ॥
प्रश्नगर्भाभ्युपगमोपहासाक्षेपकादिकाः ।
बहुधा काकवः प्रोक्तास्तत्तदर्थानुसारतः ॥
गतः स काल इत्यादौ प्रश्नगर्भोऽभिधीयते ।
युष्मच्छासनलङ्घादौ ज्ञेयाऽभ्युपगमात्मिका ॥
मथ्नामि कौरवेत्यादावुपहासात्मिका भवेत् ।
लाक्षागृहानलेत्यादौ विवादाक्षेपकात्मिका ॥
वितर्कगर्भा काकुः स्याद्यथोन्मत्तपुरूरवाः ।
९७ वाक्यान्यथात्वादेकः स्यादेको वाक्यासमाप्तिकः ॥
वाक्यसम्भेदरूपोऽन्यो वाक्यानुच्चारणादपि ।
इत्यादिभेदा बहुधा विच्छेदस्येरिता बुधैः ॥
सहभृत्यगणेत्यादौ ज्ञेयो वाक्यान्यथात्मकः ।
वत्से त्वं जीवितेत्यादौ ज्ञेयो वाक्यासमाप्तिकः ॥
दिङ्मातङ्गघटेत्यादौ वाक्यसंभेदरूपकः ।

---

९५ यह 'विवक्षा' विद्वानों द्वारा तीन प्रकार के हेतुओं से बढ़ाई जाती है। काकुविच्छेदादि से, प्रकरणादि से तथा अभिनय आदि से बढ़ाई जाती है।

९६ धीर पुरुषों द्वारा बदली हुई कण्ठ-ध्वनि 'काकु' कहलाती है। प्रश्नगर्भ, अभ्युपगम, उपहास, आक्षेप आदि के भेद से उस-उस अर्थ के अनुसार 'काकु' बहुत प्रकार का कहा जाता है।

(१) [11]गतः स कालः इत्यादि उदाहरण में 'प्रश्न-गर्भ' जाना जाता है।

(२) [12]युस्मच्छासनलंघानामसि·······इत्यादि में 'अभ्युपगमात्मिका-काकु' जाना जाता है।

(३) [13]मथ्नामि कौरव···········इत्यादि में 'उपहासात्मिका—काकु' जाना जाता है।

(४) [14]लाक्षागृहानले····इत्यादि में 'आक्षेपात्मिका'—काकु जाना जाता है।

(५) जब उन्मत पुरुरवा कहता है '[15]नव जलधरः········।'इत्यादि में वितर्क-युक्त काकु है।

९७ वाक्यान्यथा, वाक्यासमाप्ति, वाक्य से भेद तथा वाक्यानुच्चारण इत्यादि भेद से 'विच्छेद' के विद्वानों ने बहुत भेद कहे हैं।

(१) [16]सहभृत्यगणं····इत्यादि में 'वाक्यान्यथात्मक' विच्छेद जाना जाता है।

अत्र वदन्त एवेत्यादिवाक्यसम्भेदो रोमाञ्चेन वक्तुर्गुणविशेष-ज्ञानं प्रकाशयति ।

प्रत्यग्रारिकृतेत्यादौ वाक्यानुच्चारणात्मकः ॥

तत्र हा वत्सेति वाक्यानुच्चारणं कृतप्रक्रियस्यानुचितं परिदे-वितमिति सूचयति ॥

९८ विवक्षा सा बहुविधा व्यङ्ग्या प्रकरणादिना ।
तथा बहुप्रकारैव व्यङ्ग्यात्वभिनयादिना ॥

९९ हठाच्चुम्बति मानिन्या यन्निषेधपरं वचः ।
तदेव मानश्लथनाच्चुम्बनादिविधायकम् ॥

१०० एवं विलोक्यतां व्यङ्ग्यो बुधैः प्रकरणादिना ।

१०१ एवं मद्देहमेतेति वाक्यादावभिधी[नी]यते ॥

१०२ वाक्यार्थं प्रति शेषत्वं यत्स्यादुच्चारणस्य तु ।

---

(२) [१७]वत्से ! त्वं जीवित·······इत्यादि मे 'वाक्यासमाप्तिक' विच्छेद जाना जाता है ।

(३) [१८]दिङ्मातंगघटा··········इत्यादि मे 'वाक्यसभेद' रूपक विच्छेद जाना जाता है ।

प्रस्तुत श्लोक मे 'वदन्त एव हि वय रोमांचिताः पश्यत' इत्यादि वाक्य-सम्भेद रोमांच से वक्ता के गुण विशेष का ज्ञान करा रहा है ।

(४) [१९]प्रत्यग्रारिकृता··········इत्यादि उदाहरण में वाक्यानुच्चारणात्मक विच्छेद है ।

इसी श्लोक मे 'हा वत्सेति गिरः स्फुरन्ति न पुनर्नियान्ति कण्ठाद्बहि·····यह 'वाक्यानुच्चारण' प्रक्रिया करने वाले के अनुचित दुःख की सूचना देता है ।

**(प्रकरणादि)**

९८ प्रकरणादि से व्यंग्या—'विवक्षा' बहुत प्रकार की होती है तथा अभिनयादि से व्यंग्या-'विवक्षा' बहुत प्रकार से जानी जाती है ।

९९ जो मानिनी (नायिका) के निषेध युक्त वचनों पर भी हठपूर्वक चुम्बन करता है तो वह मान के शिथिल होने के कारण चुम्बनादि जाना जाता है । अर्थात् मानिनी नायिका के मना करने पर भी चुम्बन करता है तो इसका अर्थ होता है कि मान समाप्त हो गया है तभी चुम्वनादि करता है ।

१०० इस प्रकार विद्वानों को प्रकरण आदि से व्यंग्य देखना चाहिए ।

**(अभिनयादि)**

१०१ '[२०]एद्दहमेत्तत्थणिया·······इत्यादि मे 'अभिनय' जाना जाता है ।

**(तात्पर्य)**

१०२ वाक्यार्थ के प्रति उच्चारण का जो शेष रूप रहता है वह 'तात्पर्य' कहलाता

तत्तात्पर्यं त्रिधा तत्स्याद्वाक्यार्थत्रिविधत्वतः ।।
स चाभिधेयः प्रत्याय्यो ध्वनिरूप इति त्रिधा ।
१०३ कारकादिविशिष्टो यः सोऽभिधेयः क्रियादिकः ।।
१०४ यथाऽभिधीयमानार्थादन्यथाऽनुपपत्तितः ।
प्रतीयमानो वाच्यार्थो यः स प्रत्याय्य ईरितः ।।
१०५ विषं भुङ्क्ष्वेति वाक्यादावेष तादृक्प्रतीयते ।
१०६ ध्वनिर्द्विधा स चैकः स्यादर्थतः शब्दतोऽपरः ।।
१०७ यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभः कथितः ।।
१०८ शब्दे द्विविधो ध्वरियमनुनादरूप एकः स्यात् ।
प्रतिशब्दरूप एकस्तयोर्विशेषो विविच्यतेऽस्माभिः ।।
१०९ तत्र कोणाहतिस्फूर्जत्कांस्यक्रेङ्कारनादवत् ।

---

है। तीन प्रकार के वाक्यार्थ-भेद से वह 'तात्पर्य' तीन प्रकार का होता है। वह अभिधेय, प्रत्याय्य तथा ध्वनि-रूप से तीन प्रकार का होता है।

**(अभिधेय)**

१०३ कारक आदि से विशिष्ट क्रिया आदि वाला जो तात्पर्य होता है, वह 'अभिधेय' कहलाता है।

१०४ अभिधेयार्थ (मुख्यार्थ) से तथा अन्यथा अनुपपत्ति से जो प्रतीयमान वाक्यार्थ होता है, वह 'प्रत्याय्य' कहलाता है।

१०५ 'विषं भुङ्क्ष्व' अर्थात् 'विष खालो' इस वाक्य में 'प्रत्याय्य' तात्पर्य प्रतीत होता है। क्योंकि 'विष खा लेना परन्तु इसके घर भोजन नही करना' तो 'विषं भुङ्क्ष्व' से 'इसके घर भोजन नहीं करना'—इस अर्थ में तात्पर्य होता है। यही प्रतीयमान वाक्यार्थ कहलाता है जो कि 'विषं भुङ्क्ष्व' से सिद्ध हुआ है जिसमें कोई वाचक शब्द उपात्त नहीं है अपितु अन्यथा अनुपपत्ति है। अतः यहाँ 'प्रत्याय्य' तात्पर्य वाक्यार्थ है।

**(ध्वनि)**

१०६ ध्वनि दो प्रकार की होती है—प्रथम अर्थ-ध्वनि, दूसरी शब्द-ध्वनि।

१०७ जहाँ अर्थ अपने को अथवा अपने अर्थ को गुणीभूत करके उस प्रतीयमान अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं, उस काव्य-विशेष को विद्वान लोग 'ध्वनि' काव्य कहते हैं।

१०८ शब्द में ध्वनि दो प्रकार की होती है—(१) अनुनाद-रूप (२) प्रतिशब्द-रूप। हम दोनों का विशेष विवेचन करते हैं।

१०९ जो नगाडे पर चोट करने से उत्पन्न शब्द की तरह तथा घिसे हुए काँसे के

अर्थान्तरं प्रतीतानुस्यूतमेव व्यनक्ति यत् ॥
सोऽनुनादध्वनिरिति कथ्यते ध्वनिकोविदैः ।
११० प्रतीतार्थं त्यजन्यत्र गुहादिप्रतिशब्दवत् ॥
पृथगेवोपलभते स एव स्यात्प्रतिध्वनिः ।
१११ प्रत्यायस्तंत्तदर्थं तत्र तत्र ध्वनिं ध्वनिः ॥
११२ शान्त्यै वोऽस्तु कपालेति वाक्यादावादिमो ध्वनिः ।
कपालदामलिखितां स्त्रक्ष्यत्यादिपदात्मिकाम् ॥
लिपिं गणाः पठन्तीति वाक्यार्थो योऽभिधीयते ।
तेन सृष्ट्यादिकर्तृणां देवानां दाम गम्यते ॥
प्रतीतेन प्रतीता स्याच्छम्भोर्देवादिसंसृतिः ।
तयाऽस्यनित्यतैकत्वस्वातन्त्र्यादिः प्रतीयते ॥
तत्तत्रानुस्यूतमेव ध्वनन्यत्रावसीयते ।
सोऽनुनादध्वनिर्नाम तस्योदाहृतिरीदृशी ॥
११३ भम धम्मिअ वीसत्थो इत्यादिर्वाऽनुनादभाक् ।
भ्रमेति विधिरूपो यो वाक्यार्थोऽभिहितः पुरः ॥

---

पात्र की आवाज की तरह प्रतीत होने वाले अर्थ से संबंधित अर्थान्तर को व्यक्त करती है, वह ध्वनि-वेत्ताओं द्वारा 'अनुनाद'———ध्वनि कहलाती है ।

११० जो प्रतीत होने वाले अर्थ को छोड़ते हुए गुफा आदि के प्रति-शब्द के समान पृथक् ही अर्थ को प्राप्त करती है, वही 'प्रति-ध्वनि' कहलाती है ।

१११ प्रतीयमान तद्-तद् अर्थ को तद् तद ध्वनि के नाम से कहा जाता है । अर्थात् आर्थ-अनुनाद-ध्वनि, आर्थ-प्रति-शब्द-ध्वनि तथा शाब्द-अनुनाद-ध्वनि, शाब्द-प्रति-शब्द-ध्वनि ।

(आर्थानुनाद-ध्वनि का उदाहरण)

११२ [२२]शान्त्यै वोऽस्तु कपालदाम———इत्यादि वाक्य मे आर्थ-अनुनाद ध्वनि है । "………… कपालदाम द्वारा लिखित, 'स्त्रक्ष्यति' इत्यादि पद वाली लिपि को गण पढते हैं'… यह जो वाक्यार्थ है, इससे सृष्टि आदि करने वाले देवताओं का संसार (दाम) जाना जाता है । उस प्रतीति से शम्भु के देव आदि की संसृति प्रतीत होती है, उस संसृति से नित्यता, एकत्व, स्वातन्त्र्य आदि की प्रतीति होती है । इसीलिए उससे अनुस्यूत ध्वनि जहाँ समाप्त होती है, उसे अनुनाद ध्वनि कहते हैं । उसका यही उदाहरण है ।

(दूसरा उदाहरण)

११३ [२३]"भम घम्मिअ वीसत्थो"………इत्यादि मे अर्थ-अनुनाद-ध्वनि है ।
'भ्रमण करो' यह जो विधि-रूप वाक्यार्थ कहा गया है, इस वाक्य से निषेध

न गन्तव्या च गोदेति निषेधोऽनेन गम्यते ।
तेन सङ्केतभूमिस्तदनुस्यूतं प्रतीयते ।।
११४ लावण्यसिन्धुरित्यादि प्रतिशब्दनिदर्शनम् ।
यतः सिन्धूत्पलाद्यर्थाननुस्यूतः स्वनन्नपि ।।
तत्तत्समानावयवान्रूपातिशयबोधकान् ।
पृथगेवोपलभते स एव स्यात्प्रतिध्वनिः ।।
११५ भक्तिप्रह्वयदेत्यादावनुनादः प्रतीयते ।
विशेषणानां तुल्यत्वात्सामर्थ्यात्कर[त्कुरु]शब्दजात् ।।
क्रियासुरिति वाक्यार्थो हस्तानुस्यूतमेव यत् ।
अनुनादं प्रजनयन्नूपैः [नेत्रै]पुरुषरूपताम् ।
तेजस्विताञ्च ध्वनयत्यनुनादोऽत्र दृश्यते ।
११६ दत्तानन्देतिवाक्यादौ प्रतिनादध्वनिर्यथा ।।
विशेषणानां तुल्यत्वात्सामर्थ्यादपि यो गिरः ।
प्रतिशब्दं प्रजनयन्धेनुषु स्वविशेषणैः ।।
माहात्म्यं ध्वनयत्यासां प्रतिनादो भवेत्ततः ।

---

व्यंजित होता है अर्थात् 'गोदावरी नदी पर नही जाना'। इस वाक्य से किसी का तत्सबधित संकेत स्थान प्रतीत होता है। अतः इस श्लोक का वाच्यार्थ तो विधि-रूप है परन्तु उससे प्रतीयमान जो अर्थ है, वह निषेध-रूप है।

(आर्थ-प्रतिशब्द-ध्वनि)

११४ [३४]'लावण्यसिन्धु..........' इत्यादि उदाहरण में प्रतिशब्द ध्वनि निर्दिष्ट की गयी है। क्योंकि सिन्धु-कमल आदि अर्थ मे संबंधित होते हुए भी तद्-तद् समान अवयवों के रूप की अतिशयता का पृथक् ज्ञान करा रहे है, वही प्रतिध्वनि है।

(शाब्द-अनुनाद-ध्वनि)

११५ [३५]भक्तिप्रह्वाय दातु—इत्यादि उदाहरण में शाब्द-अनुनाद-ध्वनि प्रतीत होती है। विशेपणों के समान होने से, सामर्थ्य से तथा 'कुरु' शब्द से उत्पन्न 'क्रियासु' इति-जो हाथ से सम्बन्धित वाक्यार्थ है, वह अनुनाद को उत्पन्न करता हुआ अनूप नेत्रों से पुरुष की रूपता तथा तेजस्विता को ध्वनित करता है, अतः यहाँ अनुनाद-ध्वनि दिखाई देती है।

(शाब्द-प्रतिध्वनि)

११६ [३६]दत्तानन्दः—इत्यादि उदाहरण में शाब्द-प्रतिनाद-ध्वनि है। विशेषणों के समान होने से तथा सामर्थ्य होने के कारण जो वाणी गायों में अपने विशेषणों मे प्रतिशब्द को उत्पन्न करती हुई उनकी महिमा को ध्वनित करती है वह 'प्रतिनाद' कहलाती है।

११७ शब्दध्वनिर्द्विधाभूतः शब्दादेवावगम्यते ॥
ध्वनितात्पर्ययोः कैश्चित्पृथक्त्वं कथ्यते बुधैः ।

११८ "अप्रतिष्ठमविश्रान्तं स्वार्थे यत्परतामिदम् ॥
वाक्यं विगाहते तत्र न्याय्या तत्परताऽस्य सा ।
यत्र तु स्वार्थविश्रान्तं प्रतिष्ठां तावदागतम् ॥
तत्प्रसर्पति तत्तस्मात्सर्वत्र ध्वनिना स्थितिः ॥"

११९ ध्वनितात्पर्ययोर्भेदं केचिन्नेच्छन्ति तन्मते ।
समानलक्षणत्वाच्च तयोर्न च पृथक्स्थितिः ।
उक्तञ्च टीकाकारैश्च तयोरैक्यं प्रति क्वचित् ॥

१२० "एतावतैव विश्रान्तिस्तात्पर्यस्येति किं कृतम् ।
यावत्कार्यप्रसारित्वात्तात्पर्यं [न] तुलया [ला] धृतम् ॥" इति ॥

---

११७ शब्द-ध्वनि दो प्रकार की होती है जो शब्द से ही जानी जाती है। कोई विद्वान ध्वनि तथा तात्पर्य की पृथक्ता कहते हैं। जैसा कि ध्वनिकार ने कहा भी है—

११८ "जब तक वाक्य अपने अर्थ पर समाप्त नही होता है तथा पूर्णतः प्रतिष्ठित या उत्पन्न नही होता है तब तक उस अर्थ तक वाक्य का वाक्यार्थ माना जायेगा। अर्थात् वाक्यार्थ के पूर्णतः प्रतिष्ठित न होने पर जहाँ कही वाक्यार्थ उत्पन्न हो वही तक तत्परता-वाक्यार्थ-परता स्वीकार की जायेगी।

लेकिन जहाँ वाक्य, वाक्यार्थ में आकर समाप्त हो जाता है तथा अर्थ पूर्णतः प्रतिष्ठित या उपपन्न हो जाता है और वाक्य किसी अन्य अर्थ का बोध कराने के लिए फिर से आगे बढ़ता है तो ऐसे स्थलों पर वाक्यार्थ तो पूर्णतः विश्रान्त हो चुका है, अतः यह अन्य अर्थ ध्वनि का ही विषय होता है।"[२७]

११९ कुछ अपने मत में ध्वनि तथा तात्पर्य के भेद को नहीं चाहते है। क्योंकि समान लक्षण होने के कारण दोनों की पृथक् स्थिति नही होती है। कही अर्थात् दश रूपक की अवलोक टीका में टीकाकार धनिक ने ध्वनि तथा तात्पर्य की एकता के प्रति कहा है—

१२० "किसी भी वाक्य में तात्पर्य यही तक है, बस इसके आगे नही, इसकी यहाँ विश्रान्ति हो जाती है इस बात का निर्धारण किसने कर दिया है? वस्तुतः किसी भी वाक्य के वाक्यार्थ या तात्पर्य की कोई निश्चित सीमा निबद्ध नही की जा सकती है। तात्पर्य तो जहाँ तक वक्ता का प्रयोजन होता है वहीं तक फैला रहता है। इसीलिए तात्पर्य को किसी तराजू पर रखकर नहीं कहा जा सकता है कि इतना तात्पर्य है बाकी अन्य वस्तु। इसीलिए ध्वनि भी तात्पर्य में ही अन्तर्निविष्ट हो जाती है।"[२८]

१२१ ध्वनितात्पर्ययोर्भेदो ब्राह्मणब्रह्मचारिवत् ।
तदवान्तरभेदो हि प्रायेण पृथगुच्यते ॥
तात्पर्यमेव वचसि ध्वनिरेव काव्ये
सौभाग्यमेव गुणसम्पदि वल्लभस्य ।
लावण्यमेव वपुषि स्वदतेऽङ्गनायाः
शृङ्गार एव हृदि मानवतो जनस्य ॥
अतो ध्वन्याख्यतात्पर्यगम्यमानत्वतः स्वतः ।
काव्ये रसालङ्कारादिर्वाक्यार्थो भवति ध्रुवम् ॥
एवं त्रिरूपं तात्पर्यं तत्तत्तात्पर्यवेदिभिः ।
वक्तृद्वारा वाक्यधर्म एवेति परिकीर्त्यते ॥

१२२ अर्थस्यैतावतः शब्द एतावानलमित्ययम् ।
प्रविभागोऽर्थभागेषु शब्दभागविभागता ॥

१२३ महावाक्यार्थदेहस्य य एवावयवाः स्मृताः ।
ते चावान्तरवाक्यार्थास्तत्र तत्र यथाक्रमम् ॥
महावाक्यस्यावयवभूतावान्तरवाक्यभाक् ।
विभागः प्रविभागः स्यात्पदानामप्यवान्तरे ॥
वाक्ये पदार्थेषु पदे प्रकृतिः प्रत्ययस्ततः ।
तदर्थेषु विभागो यः प्रविभाग इतीरितः ॥

---

१२१ ब्राह्मण तथा ब्रह्मचारी के समान ध्वनि तथा तात्पर्य का भेद होता है। उन दोनो के बीच का भेद प्रायः पृथक् कहा जाता है। लोक-वाक्य में जो तात्पर्य होता है वही वाक्य काव्य में ध्वनि होती है; जैसे—अंगना के शरीर में जो लावण्य का स्वाद लिया जाता है वही नायक के गुणों में सौभाग्य होता है, माननीय पुरुष के हृदय मे शृगार होता है। अतः सिद्ध होता है कि ध्वनि नामक तात्पर्य के स्वतः गम्यमान होने से काव्य में रस, अलंकार आदि वाक्यार्थ होता है। इस प्रकार उन-उन तात्पर्य-वेत्ताओं द्वारा त्रिरूप तात्पर्य को वक्ता द्वारा प्रयुक्त वाक्य-धर्म ही कहा जाता है।

(प्रविभाग)

१२२ इस अर्थ का यह शब्द पर्याप्त है—इस प्रकार यह विभाजन 'प्रविभाग' कहलाता है तथा अर्थ-भागों मे शब्द-भाग का विभाजन 'प्रविभाग' कहा जाता है।

१२३ महावाक्यार्थ रूपी शरीर के जो अवयव कहे जाते हैं, वे बीच-बीच के वाक्यार्थ होते हैं; वहाँ-वहाँ यथाक्रम महावाक्य के अवयवभूत अवान्तर वाक्य वाला विभाग 'प्रविभाग' होता है। पदों का बीच-बीच में विभाग 'प्रविभाग' होता है। वाक्य में, पदार्थों में, पद में प्रकृत्ति और प्रत्यय तदनन्तर उनके अर्थों में जो विभाग होता है वह 'प्रविभाग' कहलाता है।

१२४ अपि यद्व्यतिरेकेण निष्कृष्टं प्रविभागतः ।
प्रत्यायनं पदार्थानां पदे न प्रथमं ततः ॥
विवक्षा चैव तात्पर्यं प्रविभाग इति क्रमात् ।
एवं शब्दे चानुरूप्यं वक्तृद्वारा निरूप्यते ॥
१२५ सा व्यपेक्षा पदार्थानामाकाङ्क्षा या परस्परम् ।
१२६ या च क्रियाकारकादिभावेनान्वययोग्यता ॥
वाक्ये पदपदार्थानां तत्सामर्थ्यमितीरितम् ।
परस्परस्य ग्रथनं पदानामन्वयः स्मृतः ॥
स नीरक्षीरवत्क्वापि तिलतण्डुलवत्क्वचित् ।
पांसूदकवदन्यत्र दृश्यते बहुधाऽन्वयः ॥
अविभागेन भवनमेकार्थीभाव इष्यते ।
अनेनैव प्रकारेण व्याख्याता मुक्तकादयः ॥
१२७ द्वाभ्यां चतुष्पदीभ्यान्तु युगलं तिसृभिः पुनः ।
सन्दानितं चतसृभिः कथितञ्च कलापकम् ॥
१२८ एकप्रघट्टकेनैव निबद्धो वाक्यविस्तरः ।

---

१२४ जिसके व्यतिरेक से प्रविभाग से निकला हुआ पदार्थों का प्रत्यायन पद में पहले नहीं रहता है, तब विवक्षा होती है, उसी को तात्पर्य कहते हैं; इसी क्रम से प्रविभाग होता है। इसी प्रकार शब्द में अनुरूपता वक्ता के द्वारा निरूपित की जाती है।

(व्यपेक्षा)

१२५ पदार्थों की जो परस्पर आकाक्षा होती है, वह 'व्यपेक्षा' कहलाती है।

(सामर्थ्य)

१२६ वाक्य में पद तथा पदार्थों की जो क्रिया, कारक आदि के भाव से अन्वय की योग्यता होती है, वह 'सामर्थ्य' कहलाती है। पदों के परस्पर के ग्रन्थन को 'अन्वय' कहते हैं। वह (अन्वय) कहीं नीर-क्षीर के समान, कहीं तिल-तण्डुल के समान तथा कहीं पाँसु-उदक के समान—बहुत प्रकार से देखा जाता है। अविभाग से होने वाला 'एकार्थी-भाव' कहा जाता है। इसी प्रकार से मुक्तक आदि कहे जाते है।

१२७ यदि दो श्लोकों में वाक्य-पूर्ति होती है तो 'युगल' कहलाता है तथा दो-दो से चतुष्पदी भी 'युगल' कहलाती है। तीन पद्यों का 'सन्दानित' होता है। चार पदों का 'कलापक' कहलाता है।

१२८ एक घटना से ही निबद्ध जो वाक्य-विस्तार होता है, उसे 'संघात' कहते है। अनेक वाक्यों का संग्रह और अनेक प्रकार के प्रघट्टकों की रचना विद्वानों

स सङ्घातो भवेत्कोशो नानावाङ्‌ग्योपसङ्ग्रहः ॥
नानाप्रघट्टकैर्बन्धः कोश इत्युच्यते बुधैः ।
स एवोद्यानसलिलक्रीडादिभिरनेकधा ॥
प्रबन्धमध्ये नद्धश्चेदेतत्प्रकरणं भवेत् ।
तत्समूहः प्रबन्धः स्यात्तत्र रामादिवद्भवेत् ॥
न रावणवदित्यत्र विधितश्च निषेधतः ।
सिद्धो महावाक्यार्थो यः स चतुर्वर्गसाधनः ॥
अतः स्कन्धो व्यपेक्षादिः वाक्यवाक्यार्थयोरपि ।
स्मृतोऽन्तरङ्गभूतश्चेत्येवं निर्णीयते बुधैः ॥
१२९ एवंविधस्य वाक्यस्य सुप्रयोगार्हतोच्यते ।
१३० निर्गुणत्वं सदोषत्वं रसालङ्कारशून्यता ॥
एतानि घ्नन्ति वाक्यस्य सुप्रयोगार्हतां ध्रुवम् ।
प्रयोगयोग्यतां कुर्युः ये चत्वारो गुणादयः ॥
उक्तञ्च—
"सगुणं सरसं काव्यं सालङ्कारञ्च यद्भवेत् ।
तन्निर्दोषं सदोषन्तु तद्विपर्ययतो भवेत् ॥"
दोषास्त्रिधा पदे वाक्ये वाक्यार्थे च यथाक्रमम् ।
तत्र तत्रैव भिन्नाः स्युस्तेऽपि षोडशधा पुनः ॥

---

द्वारा 'कोश' कहलाती है। वह उद्यान-क्रीडा, जल-क्रीडा आदि के भेद से अनेक प्रकार का होता है। इसे प्रबन्ध के बीच में निबद्ध कर दें तो 'प्रकरण' होता है। उन (प्रकरणों) का समूह 'प्रबन्ध' होता है। विधि-निषेध से जो 'रामादि के समान होना चाहिए, रावणादि के समान नही होना चाहिए' सिद्ध-महावाक्यार्थ होता है, वह चतुर्वर्ग का साधन होता है। अतः व्यपेक्षादि शाखा वाक्य तथा वाक्यार्थ की अन्तरंग-भूत कही जाती है, विद्वान ऐसा ही निर्णय करते है।

१२९ इसी प्रकार के वाक्य की सुप्रयोग-योग्यता कही जाती है।

१३० निर्गुणता, सदोपता, रस तथा अलंकार की शून्यता—यह निश्चय ही वाक्य की सुप्रयोग-योग्यता को नष्ट कर देती है। जो चार गुण आदि हैं वे प्रयोग-योग्यता को बढ़ाते हैं। कहा भी है कि "जो काव्य सगुण, सरस तथा सालंकार होता है, वह निर्दोष होता है; सदोप तो उनकी विपरीतता से होता है। अर्थात् सदोष-काव्य गुणरहित, रसरहित तथा अलंकाररहित होने पर होता है।" दोप क्रमशः पद, वाक्य तथा वाक्यार्थ में होने से तीन प्रकार का

भोजादिभिरलङ्कारा गुणा दोषाश्च दर्शिताः ।
अतो विरम्यते तेषां रूपं कथयितुं मया ॥
रसस्य वाक्यतात्पर्यगोचरत्वाद्यथार्थतः ।
अतोऽनेन प्रकारेण वाक्यार्थत्वञ्च सिध्यति ॥
१३१ रसाश्रये विगायन्ति केचित्तेषां निराक्रिया ।
भरतादिमतेनैव क्रियते सोपपत्तिका ॥
१३२ प्रोक्तः सदाशिवेनास्य स्वरूपाश्रयनिर्णयः ।
"रसः स एव स्वाद्यत्वाद्रसिकस्यैव वर्तनात् ॥
नानुकार्यस्य वृत्तत्वात्काव्यस्यातत्परत्वतः ।
द्रष्टुः प्रमोदव्रीडेर्ष्यारागद्वेषप्रसङ्गतः ॥
लौकिकस्य स्वरमणीसंयुक्तस्यैव दर्शनात् ।"
१३३ रत्यादिरेव स्थाय्याख्यः तत्तदालम्बनाश्रयः ॥
स्वविभावादिसंसृष्टरूपेणैव रसो भवेत् ।

---

होता है । वहाँ-वहाँ भिन्न होते हैं, वे भी पुनः सोलह प्रकार के होते हैं। आचार्य भोज आदि ने अलंकार, गुण तथा दोष कह दिये हैं, अतः उनके स्वरूप को कहने से मैं रुक जाता हूँ (अर्थात् उनके स्वरूप को मैं नही कहता हूँ) । अतः इस प्रकार वाक्य के तात्पर्य-गोचर-रूप होने से यथार्थतः रस की वाक्यार्थता सिद्ध होती है ।[२९]

१३१ कोई रसाश्रय के विषय में कहते हैं, उनका निराकरण भरत आदि के मत से ही उपपत्ति-सहित हम कहते है ।

१३२ सदाशिव रस के स्वरूप के आश्रय का निर्णय कहते है कि "लौकिक स्वाद के विषय 'रस' की तरह रत्यादि स्थायी-भाव स्वाद्य होने के कारण 'रस' कहलाता है । यह रस रसिक हृदय में ही पाया जाता है अनुकार्य रामादि में नहीं । काव्य का प्रयोजन सामाजिकों को रसास्वाद कराना ही होता है । काव्य के अनुकार्य रामादि तो भूतकाल के है, उन्हें रस चर्वणा हो ही कैसे सकती है । वस्तुतः रस-चर्वणा नाटकादि काव्य के दृष्टा सामाजिक में ही मानी जा सकती है । यदि अनुकार्य रामादि में मानी जायेगी, तो वे भी ठीक उसी तरह होंगे जैसे प्रायः व्यावहारिक संसार-क्षेत्र में अपनी नायिका से युक्त किसी नायक को देखा जाता है । तदनन्तर किन्हीं दो प्रेमिका की शृंगारी चेष्टा देखकर, सामाजिकों को रसास्वाद नहीं हो सकेगा प्रत्युत उनके हृदय में प्रमोद, लज्जा, ईर्ष्या, राग या द्वेष की उत्पत्ति होगी । अतः अनुकार्य नायकादि में रस मानने पर दोष आने के कारण सामाजिक में ही रस स्थिति माननी होगी ।"[३०]

१३३ उस-उस आलम्बन के आश्रित रत्यादि स्थायी-भाव अपने विभावादि के

व्यापारेण च काव्यस्य तदीयाभिनयेन च ।।
रसात्मकत्वनियमात्स्थायी स्वाद्यत्वमेष्यति ।
सामाजिकादिरेवास्य रसस्याश्रय उच्यते ।।
रसस्य वर्तमानत्वान्नानुकार्यस्य सम्भवः ।
अनुकार्यस्य रामादेः कालातिक्रमदर्शनात् ।।
नातिक्रान्तानुकार्यस्य रसभावनया कविः ।
करोति काव्यं रसिकान्रञ्जयेयमितीच्छया ।।
बध्नाति काव्यं यत्तस्माद्रसः सामाजिकाश्रयः ।
अतः सामाजिकोद्देशप्रवृत्तत्वाद्यथार्थतः ।।
काव्यस्यातत्परत्वेन तात्पर्यं तद्रसे भवेत् ।
अतो रसस्य तात्पर्यगम्यत्वं सम्यगीरितम् ।।
अतोऽस्तु जन्यजनकसम्बन्धो रसकाव्ययोः ।
अतः सामाजिकस्यैव रसस्याश्रयता स्थिता ।।
१३४ ननु स्वदयितासक्तं पश्यतो न रसोदयः ।
तर्हि रामादिरसिकान् शृण्वतो जायते कथम् ।।
रामादिरर्थो न भवेद्विभावोऽस्य रसस्य तु ।

---

संसृष्ट-रूप से ही 'रस' होते है । काव्य के व्यापार से और उनके अभिनय से रसात्मकता के नियम के कारण स्थायी-भाव स्वाद्यत्व को प्राप्त होता है । सामाजिक आदि ही इस रस के आश्रय कहे जाते हैं । रस वर्तमान होता है, अनुकार्य रामादि अतीत काल से सम्बद्ध होते है, अतः अनुकार्य रामादि में रस का आश्रय सम्भव नहीं हो सकता । कवि अनुकार्य रामादि की रस-प्रतीति के लिए काव्य की रचना नहीं करते हैं । कवि काव्य की रचना इस इच्छा से करते हैं कि रसिक-सहृदयों को रसास्वाद हो । इसलिये रस सामाजिक के आश्रित होता है । अतः काव्य वस्तुतः सामाजिक को उद्देश्य करके रचा जाता है । काव्य का प्रयोजन सामाजिको को रसास्वाद कराना ही होता है, इससे उस रस में तात्पर्य रहता है, अतः रस की तात्पर्य-गम्यता भलीभाँति सिद्ध हो जाती है । रस और काव्य में जन्य-जनक भाव सम्बन्ध होता है, अतः सामाजिक की ही रसाश्रयता स्थिर हो जाती है ।

१३४ सामाजिकों में रस की स्थिति स्वीकार करने पर यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि उनके विभाव कौन हैं ? जब अपनी नायिका से युक्त नायक को देखने में रस उदय नही होता तो अनुकार्य रामादि के श्रवण से रसिक हृदय को रसोदय कैसे होगा ? अनुकार्य रामादि इस रस का विभाव नही होना चाहिए । यह ठीक है कि रामादि के अविद्यमान रहने से रस उत्पन्न नहीं होता है

अविद्यमानत्वादेव रामादेर्न रसोद्भवः ।।
अत्राऽविवक्षितस्वार्थविशेषोऽतत्परत्वतः ।
धीरोदात्ताद्यवस्थानां प्रतिपादनवर्त्मना ।।
रामादिशब्दो रत्यादेः विभावो भवति स्फुटम् ।
इममेवार्थमुद्दिश्य कथितं भरतादिभिः ।।
१३५ शब्दोपहितरूपांस्तान् बुद्धेर्विषयतां गतान् ।
प्रत्यक्ष इव रामादीन्कारणत्वेन मन्यते ।।
रामादिगतभोगादिप्रतिपादनवर्त्मना ।
सुदृढाहितसंस्कारातिशयास्ते सभासदः ।।
शश्वद्विधूतस्वपरविवेकाश्च विशेषतः ।
सम्भोगाद्यनुसन्धानप्रवणाहङ्कृतित्वतः ।।
निर्विकल्पं निरुपमं स्वादं तत्रोपभुञ्जते ।
१३६ एवमुक्तं भवति—स्वतोऽविद्यमानैरपि रामादिभिः कवि-सन्दर्भकौशलेन प्रत्यक्षवच्छब्दोपनीतैः तद्व्यापारानुसन्धानै-कचित्ततया श्रोतृभिः स्वपरविवेकविधूननेन प्रतिपन्नो रसो जायते ।।
काव्यानुसन्धानवशाच्छ्रोतृसामाजिकौ रसे ।।

---

लेकिन काव्य में वर्णित रामादि ही जब अपने विशेप अर्थ (व्यक्तित्व) को छोड़कर सामान्य (नायक-मात्र) रूप धारण कर लेते है तो सहृदय के हृदय में प्रतीति कराने के कारण हो जाते है तथा रामादि तदनुकूल धीरोदात्त आदि अवस्था के प्रतिपादक है, अतः ये रामादि सामाजिक में रत्यादि स्थायी-भाव को विभावित करते है। इसी अर्थ को उद्देश्य करके भरतादि आचार्य कहते हैं।

१३५ शब्दोपहित राम के रूप को बुद्धि का विषय बनाकर रामादि को प्रत्यक्ष के समान रसानुभूति का कारण (विभाव) जाना जाता है। रामादि-गत भोग आदि के प्रतिपादन मार्ग से वे सभासद सुदृढ़ संस्कारातिशय से युक्त होते हैं। तब वे निरन्तर स्वगत-परगत विवेक को भूल जाते हैं। सम्भोग आदि के अनुसंधान की प्रवणता (श्रेष्ठता) से अहंकृति (अहभाव) होती है। तव निर्विकल्प, निरुपम (अद्वितीय) स्वाद का उपभोग होता है।

१३६ इस प्रकार कहा जाता है कि स्वतः रामादि के अविद्यमान होने पर भी कवियों की सन्दर्भ-कुशलता से, प्रत्यक्ष के समान शब्दोपहित उनके व्यापारों के अनु-सन्धान से, एकचित्त होने से और स्वपर-विवेक-शून्य होने से श्रोता के द्वारा रस की उत्पत्ति होती है। काव्य के अनुसन्धानवश ही श्रोता और सामाजिक

रसिकौ तद्वदेव स्यान्नटोऽपि च रसाश्रयः ।
इति प्रष्टुः प्रतिवचः पुरस्तादेव दर्शितम् ॥

१३७ अतः सामाजिकस्यापि काव्यस्य च रसस्य च ।
भाव्यभावकरूपोऽपि सम्बन्धोऽस्तीति दर्शितः ॥
प्रतिपाद्यप्रतिपादकसम्बन्धः पूर्वमेवोक्तः ।
तत्रैव जन्यजनकसम्बन्धोऽपि प्रकाशितप्रायः ॥
नटाभिनयचातुर्यात्प्रबन्धे कविकल्पिते ।
प्रयोगानुभवो ज्ञेयः श्रोतुः सामाजिकस्य च ॥
तत्तच्छब्दार्थसम्बन्धनिर्णीतिद्वारपूर्वकः ।
स्वस्वशब्दार्थसम्बन्धवित्तिर्निर्णीतिरुच्यते ॥

१३८ सर्वस्यैव हि शब्दस्य स्वार्थवृत्तिविभागतः ।
षोढा विभागो भवति तत्तदर्थवशादपि ।
स वाचको लाक्षणिको व्यञ्जको गमकोऽपि च ।
प्रत्यायकद्योतकाख्याविति षोढा विभिद्यते ॥
तत्तच्छब्दोपाधितया षोढा सोऽर्थो विभज्यते ।
अर्थज्ञापकसामर्थ्यसम्बन्धः सोऽपि षड्विधः ॥
एतेभ्यो भिन्न एतेभ्यस्तात्पर्यार्थोऽपि दृश्यते ।

---

में रस उत्पन्न होता है । इसीलिए वे दोनों रसिक कहे जाते हैं, उसी प्रकार नट भी रस का आश्रय होता है । इस प्रकार प्रष्टा (प्रश्न करने वाले) का उत्तर सामने ही दे दिया गया ।

१३७ अतः सामाजिक का, रस और काव्य का भाव्य-भावक रूप सम्बन्ध होता है, यह दिखाया गया । प्रतियाद्य-प्रतिपादक सम्बन्ध पहले ही कह दिया गया है, वहीं प्रायः जन्य-जनक सम्बन्ध भी कह दिया गया है । कवि-कल्पित प्रबन्ध में नट के अभिनय के चातुर्य से श्रोता और सामाजिक के उन-उन शब्दों और अर्थों के सम्बन्ध से निर्णीतिपूर्वक प्रयोग का अनुभव जानना चाहिए । अपने-अपने शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का ज्ञान 'निर्णीति' कहा जाता है ।

१३८ सभी शब्द के अपनी अर्थवृत्ति के विभाग से ६ भेद होते हैं । उस-उस अर्थ से वह शब्द वाचक, लाक्षणिक, व्यंजक, गमक, प्रत्यायक तथा द्योतक नाम से ६ प्रकार का होता है । उस-उस शब्द के नाम से अर्थ ६ प्रकार के होते हैं । अर्थ का ज्ञापक, सामर्थ्य-सम्बन्ध भी ६ प्रकार का होता है । इनसे भिन्न इनके लिए 'तात्पर्यार्थ' भी माना जाता है ।

१३९ अर्थे गृहीतसम्बन्धः शब्दो वाचकसंज्ञकः ॥
यद्गुणाद्यविशेषेण वस्तुमात्रं प्रतीयते ।
तद्वस्तु वाच्यसंज्ञोऽर्थ इति विद्वद्भिरीरितः ॥
सा शब्दस्याभिधा वृत्तिः वस्त्वेकज्ञापकक्रिया ।
१४० स्वार्थे स्ववृत्त्ययोगेन तत्सम्बन्धिनि वस्तुनि ॥
तद्रूपेण तु बोद्धव्यः शब्दो लाक्षणिको भवेत् ।
तादृगर्थो भवेल्लक्ष्यो लक्षणावृत्तिसंश्रयः ॥
स्वाभिधेयाविनाभूतप्रतीते वस्तुनि क्वचित् ।
शब्दव्यापारविश्रान्तिहेतुता लक्षणोच्यते ॥
१४१ सम्बन्धमत्यजन्वाच्यलक्ष्यतद्धर्मतद्गुणैः ।
तत्तद्विशिष्टातिशयं व्यञ्जयन्व्यञ्जको भवेत् ॥
रसालङ्कारवशतो गुणधर्मवशात्तु वा ।
वाच्यादतिशयो वाऽपि लक्ष्यादतिशयोऽपि वा ।
दृश्यते यत्र तद्रूपमर्थं व्यङ्ग्यं विवृण्वते ॥
स्वपदार्थधर्मगुणगतरसादिसहकारिकर्मसामर्थ्यात् ।
अतिशयवदर्थकल्पितविश्रान्तिर्व्यक्तिरित्युक्ता ॥

---

**(वाच्य-वाचक सम्बन्ध)**

१३९ जिस शब्द का जिस अर्थ में सम्बन्ध ग्रहण होता है वह शब्द 'वाचक' कहलाता है। गुण आदि की विशेषता से जिस वस्तु-मात्र की प्रतीति होती है वह वस्तु विद्वानों द्वारा 'वाच्यार्थ' कहलाती है। उस वस्तु का ज्ञान कराने वाली जो क्रिया होती है, वह शब्द की अभिधा-वृत्ति कहलाती है।

१४० स्वार्थ में अपना ज्ञान न होने से (अपने ज्ञान के अयोग से अर्थात् अपने अर्थ-ज्ञान के सम्बन्ध न होने से) लेकिन उससे सम्बन्धित वस्तु में उस रूप से ज्ञान कराने वाला शब्द 'लाक्षणिक' होता है। उसी प्रकार का अर्थ 'लक्ष्य' होता है और उसकी वृत्ति 'लक्षणा' होती है। कहीं अपने अभिधेय अर्थ से अविनाभूत प्रतीत होने वाली वस्तु में शब्द-व्यापार की विश्रान्ति-हेतु-रूप 'लक्षणा' कही जाती है।

१४१ सम्बन्ध को न छोड़ते हुए वाच्य, लक्ष्य, उनके धर्म, उनके गुणों से उस-उस विशिष्ट अर्थ को 'व्यंजित' करने वाला शब्द 'व्यंजक' होता है। रस और अलंकार के वश, गुणों के धर्म के वश, वाच्य के अतिशय से या लक्ष्य के अतिशय से जहाँ पर तद्रूप अर्थ दिखायी देता है, उसे 'व्यंग्यार्थ' कहते हैं। अपने पदार्थ, तद्गत धर्म, गुण, तद्गत रसादि के सहकारी कर्म की सामर्थ्य से अतिशय अर्थ की कल्पना की विश्रान्ति हो, उसे 'व्यक्ति' कहते है।

१४२ विशिष्टे वाच्यलक्ष्यार्थे तद्विशेष्यैकदेशतः ।
विवक्षितार्थं क्रमशो गमयन् गमको भवेत् ॥
विशिष्टवाच्यलक्ष्यार्थविशेषणसमाश्रितम् ।
गुणभावरसादीनां [गमनं] गम्य ईरितः ॥
विशिष्टे वाच्यलक्ष्येऽर्थे विशेषणविशेष्ययोः ।
यावदर्थं विवृण्वन्ती या वृत्तिर्गतिरीरिता ॥
गम्ये गमकशब्दस्य वृत्तिर्गतिरिति स्मृता ।

१४३ स्ववृत्तिद्वारतः स्वार्थविशेषणगुणादितः ॥
अर्थान्तरमनुस्यूतं द्योतयन्द्योतको भवेत् ।
गुणधर्मरसादिभ्यः प्रतीतेभ्यः पृथक्पृथक् ॥
तत्तद्विशेषसामर्थ्यकल्प्योऽर्थो द्योत्य ईरितः ।
वाक्यार्थावयवीभूतपदार्थान् जिघ्रती क्रमात् ॥
विवक्षिते द्योतमाना या वृत्तिर्द्युतिरुच्यते ।
द्योत्ये द्योतकशब्दस्य व्यापृतिर्द्युतिरीरिता ॥

१४४ प्रतीतोऽतिशयो यत्र वाच्यलक्ष्यादिवस्तुषु ।
प्रत्याययंस्तमेवार्थं शब्दः प्रत्यायको भवेत् ॥
गुणे रसे वाऽलङ्कारे पदवाक्यार्थसंश्रये ।

---

१४२ विशिष्ट वाच्यार्थ या लक्ष्यार्थ में उन-उन की विशेषता से क्रमशः विवक्षित अर्थ का ज्ञान कराने वाला शब्द 'गमक' होता है। विशिष्ट वाच्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ के विशेषण के आश्रित गुण, भाव और रसों का जो ज्ञान है, वह 'गम्य' होता है। विशिष्ट वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ में विशेषण और विशेष्य सम्बन्ध से जो वृत्ति जितने अर्थ को प्रकट करती हो, उसे 'गति' कहते है। गम्य में गमक शब्द की जो वृत्ति होती है, वह 'गति' कहलाती है।

१४३ अपनी वृत्ति के द्वार से और स्वार्थ के विशेषण और गुण आदि से सम्बद्ध अन्य अर्थ को द्योतित करने वाला शब्द 'द्योतक' कहलाता है। गुण, धर्म, रस आदि से अलग-अलग प्रतीत, तद्-तद् विशेष के सामर्थ्य से कल्पित अर्थ 'द्योत्य' कहा जाता है। वाक्यार्थ के अवयवीभूत पदार्थो को ग्रहण करती हुई विवक्षित अर्थ में द्योतित होने वाली वृत्ति 'द्युति' कहलाती है। द्योत्य में द्योतक शब्द की वृत्ति 'द्युति' कहलाती है।

१४४ वाच्य, लक्ष्य आदि वस्तुओं में जहाँ अधिक अर्थ की प्रतीति हो, उस अर्थ को प्रत्यायित कराने वाला शब्द 'प्रत्यायक' होता है। गुण, रस अथवा अलंकार में, वाक्यार्थ के सम्बन्ध में, वाच्य और लक्ष्य में अधिक प्रतीयमान अर्थ

प्रतीयमानोऽतिशयः प्रत्याय्यो लक्ष्मवाच्ययोः ।।
अविश्रमेण व्यापारो रसाद्यतिशयावधिः ।
प्रत्यायकस्य प्रत्याय्ये प्रतीतिरिति कथ्यते ।।
१४५ देशकालक्रियाजातिरूपवाच्यादिवस्तुषु ।
षट्पदार्थविचाराय गुणा धर्माश्च कल्पिताः ।।
कविभिः स्वीक्रियन्ते ते तज्ज्ञैः काव्यादिसम्पदे ।
अत्रैवाऽप्यभिधीयन्ते वाच्याद्यर्थोपलब्धये ।।
१४६ देशे निम्नोन्नतत्वादिराकारो धर्म ईरितः ।
तस्मिन्मृदुत्वकाठिन्यकार्ष्ण्यशौक्लचादयो गुणाः ।।
१४७ नक्तं दिवविभागेन द्विधा कालः प्रकीर्तितः ।
तमस्तेजश्च तद्धर्मौ गुणास्तत्रार्तवादयः ।।
१४८ यः संयोगविभागादिः क्रियाधर्मः स कथ्यते ।
तत्र वैफल्यसाफल्यसुसाधुत्वादयो गुणाः ।।
१४९ निवृत्तिश्च प्रवृत्तिश्च जातिधर्माविर्तीरितौ ।
धैर्यादयो गुणास्तत्र सहजाहार्यरूपतः ।।

---

'प्रत्याय्य' कहलाता है। प्रत्याय्य में प्रत्यायक का रसाद्यतिशय-प्रतीति-पर्यन्त होने वाला अविश्रम-व्यापार 'प्रतीति' कहलाता है।[31]

(देशादि वाच्यादि के गुण तथा धर्म)

१४५ उपर्युक्त षट्-पदार्थ के विचार के लिए देश, काल, क्रिया तथा जाति-रूप वाच्यादि वस्तुओं में गुण तथा धर्म कहे जाते हैं। काव्यादि सम्पत्ति के लिए उनके ज्ञाता कवियों द्वारा वे स्वीकार किये जाते है। वाच्यादि अर्थो की उपलब्धि के लिए यहीं कहते हैं।

(देश)

१४६ देश मे निम्नता तथा उन्नतता आदि आकार 'धर्म' कहे जाते हैं। इस (देश) में मृदुलता, कठिनता, श्यामलता तथा शुक्लता आदि 'गुण' होते हैं।

(काल)

१४७ रात तथा दिन विभाग से 'काल' दो प्रकार का होता है। अन्धकार तथा तेज उसके धर्म हैं, तथा आर्तव आदि उसके 'गुण' है।

(क्रिया)

१४८ जो संयोग-विभाग आदि है, वह क्रिया के 'धर्म' कहे जाते हैं। वहाँ विफलता सफलता तथा सुसाधुता आदि गुण होते है।

(जाति-धर्म)

१४९ निवृत्ति तथा प्रवृत्ति—ये दोनों 'जाति-धर्म' होते है। इसमें सहज तथा आहार्य-

ते भवेयुस्त्रिधा तत्र वाङ्मनःकायरूपतः ।
शोभनाशोभनत्वेन ते भवेयुर्द्विधा पुनः ॥
धैर्यादयोऽत्र सहजा आहार्योऽभ्याससम्भृतः ।
१५० माधुर्यनिष्ठुरत्वादिगुणो वाचि प्रकल्पितः ॥
क्रूरत्वशान्तिमत्त्वादिगुणाः स्युर्मानसा गुणाः ।
लावण्यसौकुमार्यादिः शरीरः कल्पितो गुणः ॥
१५१ गुणत्रयोपाधिभिन्ना त्रिधा प्रकृतिरुच्यते ।
अर्भकत्वाद्यवस्थैव तासु धर्मतयोच्यते ॥
जात्याश्रया गुणा एव तासु प्रकृतिषु स्वतः ।
१५२ आकारवत्त्वादिरेव द्रव्यधर्म इतीर्यते ॥
गुणः शोभाऽऽभिरूप्यादिः द्रव्ये कविभिरुच्यते ।
१५३ व्यक्तताऽव्यक्ततादिस्तु गुणे धर्म इतीर्यते ॥
वस्तुशोभाकरत्वं यत्स गुणः कल्पितो गुणे ।
१५४ धर्मो गुणो यः क्रियायास्स स एवेह कर्मणि ॥
१५५ धर्मः स एव कविभिः सामान्ये परिकल्पितः ।

---

रूप से धैर्यादि गुण होते हैं । वे (धैर्यादि) गुण तीन प्रकार के होते हैं— वाचिक, मानसिक तथा कायिक । ये तीनों पुनः शोभन तथा अशोभन रूप से दो प्रकार के और होते हैं । यहाँ सहज तथा आहार्य धैर्यादि गुण अभ्यास से इकट्ठे किये जाते हैं ।

१५० माधुर्य तथा निष्ठुरता आदि 'वाचिक' गुण कहे जाते है । क्रूरता, शान्तिमत्ता आदि 'मानसिक' गुण कहे जाते हैं । लावण्य, सुकुमारता आदि 'शारीरिक' गुण कहे जाते हैं।

१५१ इन गुणत्रय की उपाधि की भिन्नता से 'प्रकृति' तीन प्रकार की कही जाती है । उनमें अर्भकत्व (बचपन) आदि अवस्थायें ही 'धर्म' कही जाती है, तथा उन प्रकृतियों मे जाति के आश्रित 'गुण' होते हैं ।

**(द्रव्यादि में गुण-धर्म)**

१५२ आकारवत्ता आदि ही द्रव्य-धर्म कहे जाते है । द्रव्य में कविजनों द्वारा शोभा, आभिरूप्य आदि गुण कहे जाते हैं ।

१५३ 'गुण' में व्यक्तता तथा अव्यक्तता आदि 'धर्म' होते है । जो वस्तु की शोभा करते हैं, वे गुण में 'गुण' कहे जाते हैं ।

१५४ जो धर्म तथा गुण 'क्रिया' के होते है, वे ही 'कर्म' में होते है।

१५५ 'सामान्य' में कविजनों द्वारा 'धर्म' वही कहा जाता है जिसमें अवान्तर

यदवान्तरसामान्यभेदाश्रयसहिष्णुता ॥
व्यक्तिषु व्याप्यवृत्तित्वं सामान्ये कल्पितो गुणः ।
१५६ स्वाश्रयाभिन्नरूपत्वं धर्मः स्यात्समवायभाक् ॥
गुणद्रव्यैकघटनासामर्थ्यं गुण ईरितः ।
१५७ मुग्धत्वादिविशिष्टत्वं यत्स धर्मो विशेषभाक् ॥
विनियोगार्हता तेषां गुण एवेति कल्प्यते ।
१५८ ये धर्मा ये गुणाः क्लृप्ता वाच्यलक्ष्यादिवस्तुषु ॥
तैस्तैस्तदर्थातिशयो ग्राह्यः काव्यादिसम्पदे ।
१५९ वर्णेन च पदेनापि पदाभ्याञ्च पदैरपि ॥
वाक्येन वाक्यार्थेनैते ह्यर्थाः षोढा विकल्पिताः ।
विवक्षितार्थसम्पत्तिहेतवः स्युर्यथोचितम् ॥
१६० कारकेण कदाचित्स्यादभिधायाः कदाचन ।
तद्धितेन समासेन सर्वनाम्ना कदाचन ॥
प्रकृत्या प्रत्ययेनापि धातुकाकूपसर्गतः ।
वक्तुर्विवक्षाऽलङ्काररसादिभ्यः कदाचन ॥
वाच्यो लक्ष्यत्वमायाति लक्ष्यो वाच्यत्वमेति च ।
एवं विनिमयञ्चापि व्यत्ययञ्च परस्परम् ॥

---

सामान्य भेद के सम्बन्ध की सहिष्णुता हो। समस्त व्यक्तियों में व्याप्य-वृत्ति-रूप गुण सामान्य में 'गुण' कहा जाता है।

१५६ अपने आश्रय का अभिन्न-रूपत्व 'समवाय' का धर्म होता है। द्रव्य-गुण के एक-रूप करने की सामर्थ्य ही उसका गुण होता है।

१५७ मुग्धता आदि जो विशेषता है, वह 'विशेष' के धर्म है। विनियोग (प्रयोग) की योग्यता उनमें 'गुण' कही जाती है।

१५८ वाच्य, लक्ष्य आदि वस्तुओं में जो धर्म, जो गुण कहे गये है। उन-उन के द्वारा काव्यादि सम्पति के लिए उनके अर्थातिशय को ग्रहण करना चाहिए।

१५९ वर्ण, पद, दो-पद, अनेक पद, वाक्य तथा वाक्यार्थ से ये अर्थ ६ प्रकार के होते हैं। ये यथोचित विवक्षित-अर्थ-सम्पत्ति के हेतु होते है।

१६० ये (हेतु) कभी कारक से, कभी अभिधा से होते है। कभी तद्धित, समास, सर्वनाम, प्रकृति-प्रत्यय, धातु, काकु तथा उपसर्ग से होते है। कभी वक्ता की विवक्षा, अलंकार तथा रस आदि से होते है। वाच्य लक्ष्यता को प्राप्त होता है, और लक्ष्य वाच्यता को प्राप्त होता है। स्वोचित अतिशय की प्राप्ति के

वाच्यादयोऽर्था यास्यन्ति स्वोचितातिशयाप्तये ।
एतद्रूपेण बोद्धव्यं तत्तदर्थविवेक्तृभिः ।।

१६१ विवक्षितमभिप्रायः फलं भावः प्रयोजनम् ।
तात्पर्यमिति पर्यायशब्दा वाक्यार्थगोचराः ।।

१६२ प्रयुज्यमानोऽभीष्टार्थः कारकादिसमन्वितः ।
नीयते यत्प्रबोधाय तत्प्रयोजनमुच्यते ।।

१६३ योऽर्थो बुद्धिस्थितोऽभीष्टो वक्तृवाक्येन गम्यते ।
तद्विवक्षितमित्युक्तं दर्पणादौ मुखादिवत् ।।

१६४ यदर्थस्याभिमुख्येन पदार्था ह्युपकुर्वते ।
सोऽभिप्रायस्तदुत्कर्षः प्रायशब्देन कथ्यते ।।

१६५ प्रधानमुपकार्योऽर्थः पदार्था ह्युपकारकाः ।
तत्परत्वं पदार्थानां तात्पर्यं तदितीरितम् ।।

१६६ अभीष्टार्थपरीपाको नेत्रादेरथवा कवेः ।
द्रुमादिफलवद्यत्र स्वाद्यते तत्फलं भवेत् ।।

१६७ व्यापारो यत्र नेत्रादेः शृङ्गारादिर्विभाव्यते ।
अर्थसन्दर्भचातुर्यात्स भाव इति कथ्यते ।।

---

लिए वाच्यादि अर्थ इस प्रकार परस्पर विनिमय तथा व्यत्यय (विरोध) को प्राप्त होते हैं । इसी रूप से उन-उन अर्थ के विवेचकों को जानना चाहिए ।

१६१ विवक्षित, अभिप्राय, फल, भाव, प्रयोजन तथा तात्पर्य—ये वाक्यार्थ-गोचर पर्यावाची शब्द हैं ।

१६२ ज्ञान के लिए जो कारकादि से युक्त प्रयुक्त हुआ अभीष्ट अर्थ ग्रहण किया जाता है, वह 'प्रयोजन' कहलाता है ।

१६३ जिस प्रकार दर्पण आदि में मुखादि को जाना जाता है उसी प्रकार बुद्धिस्थ जो अभीष्ट-अर्थ वक्ता के वाक्य से माना जाता है, वह 'विवक्षित' कहलाता है ।

१६४ अर्थ के उद्देश्य से जो पदार्थ उपकार करते हैं, वह 'अभिप्राय' कहलाता है, उसका उत्कर्ष प्रायः शब्द से कहा जाता है ।

१६५ प्रधान अर्थ उपकार्य होता है तथा पदार्थ उपकारक, पदार्थों की तत्परता (अर्थात् अन्य अर्थ का ज्ञान कराना) ही 'तात्पर्य' कहलाता है ।

१६६ द्रुमादि के फल की तरह नेता आदि अथवा कवि के परिपाक अभीष्ट-अर्थ का स्वाद लिया जाता है, वह 'फल' होता है ।

१६७ अर्थ तथा सदर्भ की चतुरता से जहाँ नेता आदि का व्यापार शृंगारादि का ज्ञान कराता है, वह 'भाव' कहा जाता है ।

१६८ भाट्टैः प्राभाकरैरेष वाक्यार्थः कथ्यते द्विधा ।
१६९ पदार्थान्योन्यसंसर्गो वाक्यार्थ इति भट्टवाक् ।।
१७० पदार्थ एव वाक्यार्थ इति प्राभाकारा विदुः ।
१७१ कवेर्विवक्षया यस्य प्राधान्यं परिकल्प्यते ।।
भवेत्स एव वाक्यार्थ इति निर्णीयते बुधैः ।
१७२ अर्थाः पदैरभिहिताः स्वातन्त्र्येण पृथक्पृथक् ।।
अन्योन्ययोग्यसंसर्गमाकाङ्क्षन्ते परस्परम् ।
संसर्गयोग्यैः कथितैः संसृष्टास्ते विमृश्य च ।।
कस्योपकुर्म इति च प्रधानस्योपकुर्वते ।
प्रधानं यत्परं तेऽपि पदार्थास्तत्परा यतः ।।
भवन्ति तस्मात्तात्पर्यमित्यर्थान्तरमुच्यते ।
वक्तृद्वारा वाक्यधर्मस्यैव वाक्यार्थकल्पनम् ।।
विशेषणानि सर्वत्र विशिषन्त्यपि सर्वतः ।
विशेष्यस्य प्रधानत्वं स्वाश्रयत्वं विवृण्वते ।।
अतो रसालङ्कारादेः प्राधान्यं यत्र दृश्यते ।
तत्तदन्यतमस्तत्र वाक्यार्थत्वं प्रयास्यति ।।

---

१६८ प्रसिद्ध मीमांसक विद्वान कुमारिल भट्ट तथा प्रभाकर के अनुसार यह वाक्यार्थ दो प्रकार का कहा जाता है ।

१६९ मीमांसक भट्ट के अनुसार पदार्थों का परस्पर संसर्ग या सम्बन्ध ही 'वाक्यार्थ' कहलाता है । अर्थात् इनके मत में पहले पदों से पदार्थों की प्रतीति होती है । उनके बाद उन पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध होता है, जो वक्ता के 'तात्पर्य' के अनुसार होता है, अतः यह 'तात्पर्यार्थ' कहलाता है, वही 'वाक्यार्थ' कहलाता है ।

१७० प्रभाकर के अनुसार पदार्थ ही 'वाक्यार्थ' है अर्थात् यह बात नही है कि पहले केवल पदार्थ अभिहित होते है और बाद में उनका संसर्ग या सम्बन्ध, बल्कि पहले से ही 'अन्वित' पदार्थ ही अभिहित होते हैं, अतः परस्परान्वित पदार्थ ही 'वाक्यार्थ' हैं । इस प्रकार मीमांसक भट्ट का मत 'अभिहितान्वय-वाद' कहलाता है और प्रभाकर का मत 'अन्विताभिधानवाद' कहलाता है ।

१७१ कवि की विवक्षा से जिसकी प्रधानता कही जाती है, वही 'वाक्यार्थ' होता है, ऐसा विद्वान लोग निर्णय करते हैं ।

१७२ पदों से स्वतन्त्र रूप से पृथक्-पृथक् अर्थ अभिहित होते हैं । वे परस्पर अन्योन्य के योग्य संसर्ग या सम्बन्ध की आकांक्षा करते है । संसर्ग-योग्य कहे गये (अर्थों) द्वारा संसृष्ट वे अर्थ यह सोचकर कि 'किसका उपकार करूँ', तब वे

इति शब्दार्थयो रूपं सिद्धं शब्दार्थनिर्णये ।
भट्टाभिनवगुप्तार्यपादैरेवं प्रदर्शितम् ॥
एवं विभाव्य कविभिस्तत्तदर्थो निबध्यताम् ।
१७३ अपरैः कैश्चिदाचार्यैः प्रकारान्तरकल्पितम् ॥
शब्दार्थयोः स्वरूपन्तु तद्विविच्याभिधीयते ।
१७४ शब्दस्त्रिधा वाचकश्च तथा लाक्षणिकोऽपि च ॥
व्यञ्जकश्च तदर्थश्च त्रिधा वाच्यादिभेदतः ।
१७५ तात्पर्यार्थः पदार्थेभ्यो वाक्यार्थोऽस्तीति केचन ॥
१७६ वाच्यादिरर्थो वाक्यार्थ इति प्राभाकारादयः ।

---

प्रधान अर्थ का उपकार करते हैं, क्योंकि जो परम प्रधान होता है, वे पदार्थ भी उसी अर्थ को बताते हैं, इसीलिए तात्पर्य 'अर्थान्तर' कहलाता है। वक्ता द्वारा वाक्य-धर्म का (तात्पर्य) ही 'वाक्यार्थ' कहलाता है। सर्वत्र विशेषण विशेषता बताते हैं, सर्वतः विशेष्य की प्रधानता स्वाश्रयता कही जाती है। अतः रस-अलंकार आदि की जहाँ प्रधानता देखी जाती है, वह-वह एक (अन्यतम) वाक्यार्थता को प्राप्त होता है। इस प्रकार शब्दार्थ-निर्णय में शब्द तथा अर्थ की रूप-सिद्धि आचार्य भट्ट अभिनवगुप्ताचार्य के अनुसार कह दी। इसी प्रकार जानकर कविजनों को उस-उस अर्थ का प्रयोग करना चाहिए।

**(आचार्य मम्मट के अनुसार शब्दार्थ-स्वरूप)**

१७३ कोई दूसरे आचार्य (मम्मट) ने शब्द तथा अर्थ के स्वरूप को प्रकारान्तर से प्रस्तुत किया है, उसी का हम विवेचन करते हैं।

१७४ शब्द तीन प्रकार के होते हैं—वाचक, लाक्षणिक तथा व्यंजक। वाच्यादि अर्थात् वाच्य, लक्ष्य तथा व्यंग्य भेदों से उन (वाचक, लाक्षणिक तथा व्यंजक) के अर्थ तीन प्रकार के होते हैं।

१७५ किन्हीं (कुमारिल भट्ट) के मत में उक्त वाच्यादि अर्थों के अतिरिक्त चौथे प्रकार का पदार्थों से होने वाला 'तात्पर्यार्थ' रूप वाक्यार्थ होता है। अर्थात् इस मत में पहले पदों से पदार्थों की प्रतीति होती है। उसके बाद उन पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध होता है, जो कि पदों से नहीं अपितु वक्ता के तात्पर्य के अनुसार होता है, अतः यह 'तात्पर्यार्थ' कहलाता है, वही 'वाक्यार्थ' कहलाता है।

१७६ लेकिन प्रभाकर आदि के अनुसार वाच्यादि अर्थ ही वाक्यार्थ होता है। इनके मत में पदों द्वारा अन्वित पदार्थ ही अभिहित होते हैं न कि 'अनन्वित' पदार्थ, अतः वाक्यार्थ वाच्य ही होता है, तात्पर्या-शक्ति से बाद को प्रतीत नहीं होता है।

(अतः मीमांसक भट्ट का मत 'अभिहितान्वयवाद' कहलाता है और प्रभाकर का मत 'अन्विताभिधानवाद' कहलाता है।

१७७ यस्य यत्राव्यवहितसङ्केतो गृह्यते स्फुटम् ।।
स तस्य वाचकः शब्द इति शब्दानुशासनम् ।
१७८ जातिक्रियागुणद्रव्यभेदात्सङ्केतितः पुनः ।।
चतुर्धा भिद्यते तेषु जातिरेकेति केचन ।
१७९ गोरित्येव हि शब्दस्य प्रवृत्तिर्जातिगा स्मृता ।।
गच्छतीत्यस्य शब्दस्य प्रवृत्तिः स्यात्क्रियागता ।
शुक्ल इत्यस्य शब्दस्य प्रवृत्तिर्गुणगामिनी ।।
डित्थादिसंज्ञाशब्दस्य प्रवृत्तिर्द्रव्यगामिनी ।
१८० प्रवृत्तेश्च निवृत्तेश्च व्यक्तिर्योग्या स्वभावतः ।।
अर्थक्रियाकारितया वृत्तिस्तस्यामवस्यति ।

---

(वाचक)

१७७ जिस शब्द का जहाँ जिस अर्थ में अव्यवधान से संकेत ग्रहण होता है, वह शब्द उस अर्थ का 'वाचक' होता है—इस प्रकार शब्दानुशासन है ।

१७८ संकेतिक अर्थ जाति, गुण, क्रिया तथा यदृच्छा (द्रव्य) भेदों से चार प्रकार का होता है । कोई (मीमांसक) इन चारों में से केवल जाति-रूप एक प्रकार के ही संकेतित अर्थ को स्वीकार करते है ।

१७९ 'गौ' इस शब्द की प्रवृत्ति 'जाति-गत' कहलाती है । 'गच्छति' इस शब्द की प्रवृत्ति 'क्रिया-गत' होती है । 'शुक्लः' इस शब्द की प्रवृत्ति 'गुण-गत' होती है । 'डित्थ' आदि संज्ञारूप शब्द की प्रवृत्ति 'द्रव्य-गत' है ।

१८० स्वभावतः अर्थक्रिया का निर्वाहक होने से प्रवृत्ति तथा निवृत्ति के योग्य व्यक्ति ही होता है, अतः व्यवहार द्वारा होने वाला संकेत-ग्रह उस व्यक्ति में ही होगा । लेकिन व्यक्ति में संकेत-ग्रह संभव नही हो सकता क्योंकि व्यक्ति में संकेत-ग्रह स्वीकार करने से 'आनन्त्य' तथा 'व्यभिचार' दो प्रकार के दोषों की सम्भावना रहती है । संकेत-ज्ञान के असमर्थ होने पर उपाधि से संकेत-ग्रह होता है ।

(**आनन्त्य दोष**—जिस शब्द का जिस अर्थ में संकेत होता है, उस शब्द से उसी अर्थ की प्रतोति होती है । संकेत-ग्रह के न रहने पर अर्थ की प्रतीति नहीं होती । अतः यदि व्यक्ति में संकेत ग्रह-स्वीकार करें तो जिस व्यक्ति-विशेष में संकेत-ग्रह हुआ है, उस शब्द से उस व्यक्ति-विशेष की ही उपस्थिति होगी । अन्य व्यक्तियों की प्रतीति के लिए प्रत्येक में अलग-अलग संकेत-ग्रह स्वीकार करना होगा, सभी व्यक्तियों में अलग-अलग संकेत-ग्रह स्वीकार करने पर अनन्त संकेत स्वीकार करने होंगे । यही 'आनन्त्य-दोष' का अभिप्राय है ।
व्यभिचार-दोष—इस आनन्त्य-दोष से बचने के लिये यदि यह कहा जाय कि सभी व्यक्तियों में अलग-अलग संकेत-ग्रह की आवश्यकता नहीं होती है, दो

आनन्त्याद्व्यभिचाराच्च व्यक्तीनां तत्र तत्र तु ।
सङ्केतकरणाशक्तेः सङ्केतस्स्यादुपाधितः ।
१८१ गौः शुक्लश्चलतीत्यादिशब्दानां नैव संभवेत् ॥
क्वचित्कदाऽपि विषयविभाग इति यत्ततः ।
उपाधावेव सङ्केतः स्वतः शब्दस्य गृह्यते ॥
१८२ उपाधिर्वस्तुधर्मस्स सिद्धः साध्य इति द्विधा ।
सिद्धोऽपि स्यात्पदार्थस्य प्राणदो वा विशेषकृत् ॥
उपाधिः सिद्धरूपो यः सा जातिरिति कथ्यते ।
उक्तो वाक्यपदीयेऽपि जात्युपाधिः स तद्यथा ॥
स्वरूपतो गौर्न गौः स्यान्नागौरपि च तत्त्वतः ।
तत्र गोत्वाभिसंबन्धाद्गौरित्येवाभिधीयते ॥
यतः शुक्लादिना वस्तु लब्धसत्त्वं विशिष्यते ।
स सिद्धो वस्तुधर्मोऽत्र गुणोपाधिरितीरितः ॥

---

चार व्यक्तियों में व्यवहार से संकेत-ग्रह हो जाता है, अन्य व्यक्तियों की प्रतीति बिना संकेत-ग्रह के ही होती रहती है, तो 'व्यभिचार-दोष' होगा।)

१८१ दूसरी बात यह है कि व्यक्ति में संकेत-ग्रह स्वीकार करने पर 'गौः, शुक्लः, चलति, डित्थ.'—आदि चारों शब्दों से व्यक्ति का ही बोध होगा। इसलिए 'गौ' शब्द जातिवाचक है, 'शुक्ल' पद गुण-वाचक है, 'चलति' पद क्रिया-वाचक है और 'डित्थ' पद उस व्यक्ति का नाम होने से 'यदृच्छा' वाचक है—इस प्रकार का विषय-विभाग कभी भी कहीं भी संभव नहीं हो सकता है। इसलिए भी संकेत-ग्रह व्यक्ति में सम्भव नहीं हो सकता। अतः व्यक्ति में नहीं अपितु उसके उपाधि [भूत धर्म-जाति, गुण, क्रिया तथा द्रव्य (यदृच्छा)] में ही शब्द के संकेत का स्वतः ग्रहण होता है।

१८२ उपाधि का प्रथम प्रकार 'वस्तु-धर्म' होता है। यह दो प्रकार का होता है—एक सिद्ध रूप और दूसरा साध्य रूप। सिद्ध रूप भी दो प्रकार का होता है—एक पदार्थ का प्राणप्रद या जीवनाधायक और दूसरा विशेषता का आधान करने वाला या विशेषकृत। जो प्रथम सिद्ध-रूप उपाधि है वह 'जाति' कहलाती है। जैसा कि वाक्य-पदीय में कहा है—'जो स्वरूपतः न गौ होती है, न अ-गौ। 'गौत्व' जाति के सम्बन्ध से ही 'गौ' कहलाती है, इसीलिए वस्तु का प्राणप्रद वस्तु धर्म 'जाति' कहलाता है। वह दूसरा सिद्ध-वस्तु धर्म 'गुण' उपाधि वाला होता है, क्योंकि सत्ता प्राप्त वस्तु में शुक्ल आदि गुणों द्वारा विशेषता लाई जाती है।

१८३ साध्यः पूर्वापरीभूतावयवादिक्रियात्मकः ।
गच्छतीत्यत्र विद्वद्भिः क्रियोपाधितयोच्यते ॥

१८४ यत्संहृतक्रमं वक्त्रा संज्ञारूपो यदृच्छया ।
उपाधित्वेन डित्थादिष्वर्थेषूपनिवेशितः ॥
स शब्दः सिद्धसाध्यान्यो द्रव्योपाधिरिति स्मृतः ।

१८५ शुक्लश्चलति गौर्डित्थ इत्यादौ तु चतुष्टयी ॥
प्रवृत्तिरिति शब्दानां महाभाष्यकृदभ्यधात् ।

१८६ गुणत्वं यदणुत्वादेः पाठाच्च गुणमध्यतः ॥
पारिभाषिकमेवेति कणादमतिकल्पितम् ।

१८७ गुणक्रियायदृच्छादेरैकरूप्येऽपि तत्त्वतः ॥
तत्तदाश्रयभेदेन भेदः प्रायेण लक्ष्यते ।

---

१८३ 'साध्य-रूप' उपाधि क्रियात्मक होती है, जिसमें एक के बाद एक करके अनेक अवयव रहते हैं। 'गच्छति'—इसे विद्वान क्रियारूप उपाधि कहते हैं।

१८४ जो (पूर्व-पूर्व-वर्णानुभव-जनित-संस्कार-सहकृत चरमवर्ण के श्रवण से ग्रहीत होने वाला) क्रम-भेद से रहित संज्ञारूप को वक्ता की अपनी इच्छा द्वारा डित्थ आदि पदार्थो में (उसके वाचक) उपाधि रूप से सन्निविष्ट किया जाता है। वह शब्द सिद्ध-साध्य से अन्य 'द्रव्य' रूप उपाधि कहलाता है। यह उपाधि का दूसरा प्रकार होता है।

१८५ महाभाष्यकार ने इसीलिए शब्दो को चार दिशाओं में जाता बताया है और उसके लिये उदाहरण दिया है—"शुक्लश्चलति गौर्डित्थः" इत्यादि अर्थात् "सफेद रग की" डित्थ "नाम की गाय चलती है" इत्यादि वाक्य मे जाति रूप में "गौ" पद का, गुण शब्द के रूप में "शुक्लः" पद का, क्रिया शब्द के रूप मे "चलति" पद का, और द्रव्य (यदृच्छा) शब्द के रूप में "डित्थ" पद का प्रयोग हुआ है।

१८६ अणु परिमाण आदि के वाचक परमाणु आदि जो शब्द है वे भी जाति शब्द ही है (क्योंकि परिमाण भी जाति के ही समान वस्तु के साथ आता है और जाति के ही समान वस्तु को व्यवहार योग्य बनाने का कारण होता है)। अतः कणाद ने अपने वैशेषिक दर्शन में जो परमाणु आदि की गणना परिमाण नामक गुण के अन्तर्गत की है, वह केवल उन्हें (परमाणु आदि को) पारिभाषिक 'गुण' नाम दिया गया है। फलतः परमाणु आदि शब्द गुण-वाचक शब्द न होकर जाति वाचक शब्द ही हैं।

१८७ यहाँ गुण-रूप, क्रिया-रूप और संज्ञा-रूप उपाधियों को संकेत का विषय स्वीकार किया गया है। लेकिन भिन्न-भिन्न वस्तुओं में शुक्लादि रूप भिन्न-भिन्न हैं जैसे शंख, दूध और चीनी के शुक्ल-वर्ण भिन्न-भिन्न है, तब इनमे

एकं मुखं यथाऽऽदर्शाद्यालम्बनविभेदतः ॥
भिन्नं भिन्नमिवाभाति तथैव स्युर्गुणादयः ।
१८८ भिन्ने हिमपयश्शङ्खाद्याश्रये परमार्थतः ॥
अभिन्न इव शुक्लादौ यद्वशादुपजायते ।
शुक्लः शुक्लोऽयमित्यादिरभिन्नप्रत्ययक्रमः ॥
तद्धि शुक्लत्वसामान्यं तत्प्रवृत्तिनिमित्तकम् ।
यथा डित्थादिशब्देषु बालवृद्धशुकादिभिः ॥
उदीरितेषु प्रत्येकं भिद्यमानेषु तत्त्वतः ।
डित्थादित्वं तत्तदर्थे डित्थादावनुवर्तते ॥
अतश्च सर्वशब्दानां जातिरेकैव तत्त्वतः ।
स्वप्रवृत्तिनिमित्तं तन्न व्यक्तिरिति निश्चिता ॥
१८९ तद्वानपोहः शब्दार्थ इति कैश्चन कथ्यते ।
प्रकृतानुपयोगित्वादत्रास्माभिर्न कथ्यते ॥

---

संकेत स्वीकार करना कैसे सम्भव है ? शुक्लादि विविध व्यक्ति ही हैं, इनमें संकेत स्वीकार करने से वही आनन्त्य और व्यभिचार दोष होगा जो व्यक्ति में संकेत स्वीकार करने पर ही होता है ।

इसका समाधान यह है कि (भिन्न-भिन्न वस्तुओं में भिन्न रूप से प्रतीत होने वाले) गुण, क्रिया और यदृच्छा के एक रूप होने पर भी आश्रय के भेद से उनमें भेद सा दिखायी देता है, वह वास्तविक भेद नहीं है—जैसे एक ही मुख दर्पण आदि आलम्बन के भेद से भिन्न सा प्रतीत होने लगता है, वह वास्तविक नही, औपाधिक भेद है । इसी प्रकार गुणादि में प्रतीत होने वाला भेद भी केवल औपाधिक है । अतः गुण आदि में संकेत-ग्रह स्वीकार करने पर 'आनन्त्य', 'व्यभिचार' दोषों के होने की संभावना नहीं है ।

१८८ मीमांसक का मत है कि हिम, दूध तथा शंख आदि में रहने वाले शुक्ल आदि गुण वस्तुतः भिन्न-भिन्न है । अभिन्न की तरह उन भिन्न-भिन्न शुक्ल आदि गुणों में जिसके कारण 'शुक्लः-शुक्लः' इस प्रकार का एकाकार कथन और प्रतीति की उत्पत्ति होती है वह "शुक्लत्व" आदि सामान्य या जाति है । जो उसकी प्रवृत्ति-निमित्त है । इसी प्रकार बालक, वृद्ध तथा शुक आदि के द्वारा उच्चारित (अतएव भिन्न-भिन्न) 'डित्थ' आदि शब्दों में अथवा प्रति-क्षण-भिद्यमान-परिवर्तन-शील 'डित्थ' आदि पदार्थों में 'डित्थत्व' सामान्य रहता है । अतः यह निश्चित होता कि सब शब्दों का प्रवृत्ति-निमित्त केवल एक 'जाति' ही है न कि व्यक्ति ।[३२]

१८९ किन्हीं लोगों ने 'तद्वान'[३३] 'अर्थात् जाति-विशिष्ट-व्यक्ति (जातिमान्) और 'अपोह'[३४] अर्थात् अतद्-व्यावृत्ति या तद्भिन्न-भिन्नत्व शब्द का अर्थ है—

अतः सर्वस्य शब्दस्य मुख्योऽर्थो जातिरेव सा ।
व्यापारस्तत्र शब्दस्य मुख्यो यः साऽभिधा भवेत् ।।
१९० शब्दस्य मुख्येऽर्थेवृ त्तिस्तत्तद्व्यक्तिष्ववस्यति ।
१९१ लक्षणेत्यत्र शब्दस्य व्यापारान्तरमुच्यते ।।
१९२ मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात् ।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणाऽऽरोपिता क्रिया ।
१९३ कुशलः कर्मणीत्यत्र कुशलावाद्ययोगतः ।
रूढितो लक्षयत्येव शब्दः कर्मणि कौशलम् ।।
१९४ घोषाधिकरणत्वस्य गङ्गादीनामसम्भवात् ।
मुख्यार्थबाधे तत्तीरे रूढितः सुप्रसिद्धितः ।।
यतो घोषस्य वसतिर्लक्ष्यते सापि लक्षणा ।

---

यह कहा है (ये दोनों मत क्रमशः नैयायिक तथा बौद्धो के है) । प्रकृत मे उपयोग न होने से उनको हम विस्तारपूर्वक नही कहते हैं । अतः सभी शब्द का मुख्य-अर्थ वह जाति ही है । उस मुख्य-अर्थ के विषय मे इस शब्द का जो मुख्य-व्यापार है, वह 'अभिधा' कहलाता है ।

१९० मुख्य अर्थ में शब्द की वृत्ति तद्-तद् व्यक्तियों में होगी ।

१९१ अब 'लक्षणा' नामक शब्द का दूसरा व्यापार कहते है ।

**(लक्षणा)**

१९२ मुख्य-अर्थ का बाध[३५] होने पर और उस (मुख्यार्थ) के साथ सम्बन्ध[३६] होने पर रूढ़ि से या प्रयोजन[३७] से जिस वृत्ति के द्वारा अन्य अर्थ लक्षित होता है । वह मुख्य रूप से अर्थ में रहने के कारण शब्द का आरोपित व्यापार 'लक्षणा' कहलाता है ।[३८]

**(उदाहरण)**

१९३ 'कर्मणि कुशलः' अर्थात् 'कार्य में कुशल है'—इस उदाहरण में (कुशान् लाति आदत्ते इति कुशल. इस व्युत्पत्ति के अनुसार) कुश-ग्रहण आदि का उपयोग न होने से (मुख्यार्थ का बाध हो जाता है) तथा विवेकशीलता कुशग्राहक तथा चतुर दोनों में है अतः मुख्यार्थ से सम्बन्ध भी है), अन्त में 'कुशल' शब्द का 'दक्ष' या 'चतुर' अर्थ रूढ़ है । इस प्रकार 'कर्मणिकुशलः' में 'कुशल' शब्द की 'दक्ष' अर्थ में लक्षणा होती है ।

१९४ दूसरा उदाहरण है 'गंगायांघोषः' अर्थात् 'गंगा पर घोप अर्थात् घोसियों की बस्ती है ।' इस उदाहरण में 'गंगा' (पद के जल प्रवाह रूप मुख्यार्थ) आदि में घोष आदि का आधारत्व सम्भव न होने से मुख्यार्थ का बाध होने पर (सामीप्य सम्बन्ध होने पर) रूढ़ि से, प्रसिद्धि से 'गंगा' शब्द से 'गंगा का तीर' और 'गंगा के तीर पर घोसियों की बस्ती' लक्षित होतो है, वह 'लक्षणा'

गङ्गातटे घोष इति शब्दो मुख्यार्थभागपि ॥
पावनत्वं लक्षयति धर्मस्या[न्ना]तिप्रयोजनात् ।
प्रयोजनादमुख्योऽर्थो मुख्येनार्थेन लक्ष्यते ॥
यस्मिन्नारोपितः शब्दव्यापारः सान्तरार्थभाक् ।
१९५ शुद्धेयं लक्षणा सैव भवेदर्थवशाद्द्विधा ॥
उपादानाभिधा काचिदन्या लक्षणलक्षणा ।
१९६ आरोपिता क्रिया यत्र सोपादानार्थलक्षणा ॥
१९७ कुन्तः प्रविशतीत्युक्ते स्वसंयोगिनमेव सः ।
स्वस्य प्रवेशसिद्ध्यर्थं यदाक्षिपति पूरुषम् ॥
कुन्तप्रवेशो मुख्यार्थः कुन्तस्य तदसम्भवात् ।
स्वक्रियाऽऽरोपिताऽन्यस्मिन्युक्ते सारोपिता क्रिया ॥
सान्तरार्थोऽत्र शब्दस्य व्यापारोऽर्थान्तराश्रयः ।
१९८ गौरनूबन्ध्य इत्यत्र स्वानुबन्धनसिद्धये ॥
व्यक्तिराक्षिप्यते जात्या न शब्देनाभिधीयते ।

---

है। 'गंगातटे घोषः' इत्यादि मुख्यार्थभाक् शब्द के प्रयोग से जिन पावनत्वादि धर्मों की उस रूप में प्रतीति नहीं है उन पावनत्वादि धर्मो के उस प्रकार के प्रतिपादन स्वरूप प्रयोजन से मुख्य अर्थ से जो अमुख्य अर्थ लक्षित होता है, वह शब्द का व्यवहितार्थ (सान्तरार्थ) विषयक आरोपित शब्दव्यापार 'लक्षणा' कहलाता है।[३९]

१९५ यह "शुद्धा" लक्षणा है, वह (शुद्धा) अर्थवश दो प्रकार की होती है। उपादान-लक्षणा और लक्षण-लक्षणा।

१९६ जहाँ क्रिया आरोपित हो, उसे "उपादान" लक्षणा कहते है।

(उदाहरण)

१९७ "कुन्तः प्रविशति"—"भाला आ रहा है", इस वाक्य में वह (कुन्त-पद) अपने (अचेतनरूप में) प्रवेश (क्रिया) की सिद्धि के लिए अपने से संयुक्त (अर्थात् कुन्तधारी) पुरुष का आक्षेप ग्रहण करता है। "कुन्त-प्रवेश"— मुख्यार्थ है, "कुन्त"—"भाले" का प्रवेश असम्भव होने से, क्योंकि प्रविष्ट होना चेतन का धर्म है, मुख्यार्थ बाघ हो जाता है। अन्य से युक्त होकर वह (कुन्त-पद) अपनी क्रिया (प्रवेश) को आरोपित करता है, अतः वह सारोपित क्रिया कहलाती है। यहाँ शब्द का व्यापार अर्थान्तर के आश्रित है, अतः सान्तरार्थ है।

१९८ "गौरनुबन्ध्यः" इत्यादि वाक्य में (उस "गौ" पद के मुख्यार्थ) "गौत्व" जाति से अपने "अनुबन्धन" की सिद्धि के लिए "गौ" व्यक्ति का आक्षेप

'विशेष्यं नाभिधा गच्छेत्क्षीणशक्तिर्विशेषणे ।।'
इतिन्यायादुपादानलक्षणा नात्र शङ्क्यताम् ।
१९९ रूढिप्रयोजनाभावाज्जातिव्यक्त्योरभेदतः ।।
क्रियादीनामभावाच्च नैवोपादानलक्षणा ।
अकारि कारय कुरु क्रियतामिति यद्वचः ।।
भावः कारयिता कर्म कर्ता चाक्षिप्यते यतः ।
इत्यादावप्युपादानलक्षणा नैव शङ्क्यताम् ।।
२०० तत्तदर्थस्वरूपाप्तेरन्यथानुपपत्तितः ।
अर्थापत्तिप्रमाधीना क्रियाकर्त्रादिकल्पना ।।
यत्र स्यादर्थसामर्थ्य तत्रार्थापत्तिरुच्यते ।
श्रुतसामर्थ्ययोगेन श्रुतार्थापत्तिरुच्यते ।।
देवदत्तादिपुरुषपीनत्वानुपपत्तितः ।
भोजनस्य निषिद्धस्य दिवा रात्रौ प्रकल्प्यते ।।

---

कराया जाता है। (गौ—व्यक्ति) को शब्द से (अभिधा द्वारा) नही कहा जाता, क्योंकि यह नियम है कि 'विशेषण' (गोत्वादि) का बोध कराने में जिसकी शक्ति क्षीण हो गई है वह अभिधा विशेष्य को स्पर्श नहीं करती अर्थात् विशेष्य या व्यक्ति को नहीं कह सकती। अतः यहाँ उपादान लक्षणा है, अन्य शंका नहीं करनी चाहिए।

१९९ (आचार्य मम्मट उपर्युक्त मुकुल भट्ट के उदाहरण का खण्डन करते हुए कहते हैं कि) यह उपादान लक्षणा का उदाहरण नहीं है क्योंकि न यह रूढ़ि है, न यहाँ कोई प्रयोजन ही है तथा जाति में क्रियादि का अभाव होने से (व्यक्ति के बिना जाति रह नहीं सकती है इसलिए) जाति से व्यक्ति का आक्षेप किया जाता है। (अतः यह लक्षणा का उदाहरण नहीं है)। (यदि हम मुकुल भट्ट की तरह उपादान लक्षणा का उदाहरण स्वीकार करते है तो फिर यह होगा कि जैसे) 'अकारि' यहाँ पर क्रिया, 'कारय' यहाँ पर कराने वाला (कारयिता), ''कुरु'' यहाँ पर कर्म तथा ''क्रियताम्'' यहाँ पर कर्त्ता आदि का आक्षेप कराया जाता है, क्योंकि इत्यादि में उपादान लक्षणा है, यहाँ भी कोई शंका नही करनी चाहिए। (जबकि इन सभी उदाहरणों में लक्षणा नहीं मानी जाती है। अतः इन उदाहरणों की तरह ''गौरनुबन्ध्यः'' में भी किसी प्रकार की लक्षणा नहीं है, यह सिद्ध होता है।)

२०० (मुकुल भट्ट ने इसी प्रकार ''उपादान-लक्षणा'' का दूसरा उदाहरण ''पीनो-देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते'' यह दिया है। इस उदाहरण में लक्षणा का खण्डन करते हुए आचार्य मम्मट ''रात्रि-भोजन'' को ''श्रुतार्थापत्ति'' अथवा ''अर्थार्थापत्ति का विषय कहते है।)

अर्थापत्तिर्भवेद्यद्वा श्रुतार्थापत्तिरेव वा ।
गौरनूबन्ध्य इत्यत्र श्रुतार्थापत्तिरेव सा ।।
२०१ घोषाधिकरणत्वस्य सिद्धये स्वतटोपरि ।
स्वार्थं समर्पयत्येव गङ्गाशब्दो यतस्ततः ।।
इत्यादिलक्षणेनैव शुद्धेयमुभयात्मिका ।
२०२ आरोप्यारोपविषयौ सिद्धभेदौ परस्परम् ।।
सामानाधिकरण्येन निर्दिश्येते यदि क्वचित् ।
सारोपाऽन्या विषयिणाऽऽरोप्यमाणेन कुत्रचित् ।।
अन्तःकृते निगीर्णेऽस्मिन्नारोपविषये सति ।
एषा साध्यवसानात्मा लक्षणेति विभाव्यते ।।

---

किसी अन्यथा अनुपपत्ति से तद्-तद् अर्थ-स्वरूप की प्राप्ति की क्रिया, कर्त्ता आदि की कल्पना जिस प्रमाण के द्वारा की जाती है, उसको "अर्थापत्ति" कहते हैं। जहाँ अर्थ-सामर्थ्य होता है, वहाँ "अर्थापत्ति" कहलाती है। जहाँ श्रुत के सामर्थ्य के योग से अर्थ होता है, वहाँ "श्रुतार्थापत्ति" कहलाती है। जैसे—"दिन मे भोजन न करने वाला देवदत्तादि पुरुष मोटा है" इस अनुपपद्यमान अर्थ से "रात्रि-भोजन" की कल्पना की जाती है। (यहाँ रात्रि-भोजन लक्षणा से उपस्थित नहीं होता है) यहाँ 'अर्थापत्ति' ही है या श्रुतार्थापत्ति ही है। इसी प्रकार "गौरनुबन्ध्य" में भी वह "श्रुतार्थापत्ति" ही है।

**(लक्षण-लक्षणा का उदाहरण)**

२०१ "गंगाया घोष." अर्थात "गंगा पर घोष अर्थात् घोसियों की बस्ती है।" इस इस उदाहरण में घोष के अधिकरणत्व की सिद्धि के लिए "अपने तट के ऊपर घोसियों की बस्ती है" ऐसा मानकर "गंगा" शब्द अपने (जल-प्रवाह रूप मुख्य) अर्थ का परित्याग पर देता है, इस प्रकार के उदाहरणों में "लक्षण-लक्षणा" ही होती है।

यह दोनों प्रकार की (उपादान्-लक्षणा तथा लक्षण-लक्षणा) "लक्षणा शुद्धा" कहलाती है।

**(लक्षणा के भेद)**

**(सारोपा-साध्यवसानिका)**

२०२ यदि कही आरोप्यमाण (आरोप्य) तथा आरोप-विषय—दोनों परस्पर सामानाधिकरण्य से निर्दिष्ट किये जाते हैं, वह दूसरी "सारोपा-लक्षणा" होती है। कहीं विषयी अर्थात् आरोप्यमाण के द्वारा अन्य आरोप के विषय का अन्तर्भाव कर लिए जाने पर अर्थात् निगीर्ण कर लिए जाने पर, यह "साध्यवसानिका-लक्षणा" जानी जाती है।

२०३ इमौ भेदौ च सादृश्यात्सम्बन्धान्तरतोऽपि च ।
गौणौ शुद्धौ च विज्ञेयौ लक्षणाभेदवेदिभिः ॥

२०४ सादृश्यहेतू भेदौ स्तः सारोपाध्यवसानिकौ ।
गौर्वाहिको गौरयं चेत्युक्तोदाहृतिरेतयोः ॥

२०५ लक्ष्यमाणा अपि स्वार्थसहचारिगुणा यतः ।
गोशब्दस्य परार्थाभिधाने यान्ति निमित्तताम् ॥
गवि स्वार्थे सहचरा गुणा जाड्यादयश्च ये ।
गुणास्तेषामभेदेन लक्ष्यन्तेऽत्र परार्थगाः ॥
न परार्थोभिधीयेतेत्येवं केचन जानते ।
लक्ष्यमाणा अपि स्वार्थे जाड्यमान्द्यादयो गवि ॥
वाहिकाख्यापरार्थाभिधाने वृत्तिनिमित्तताम् ।
गोशब्दस्य प्रयान्तीति केचिदूचुर्विचक्षणाः ॥
द्वयोः साधारणीभूतगुणादेराश्रयत्वतः ।
परार्थो वाहिको लक्ष्यः स्वार्थेनेत्यपरे विदुः ॥

---

२०३ लक्षणा-भेद के जानने वालों को ये (सारोपा-साध्यवसाना रूप) दोनों भेद सादृश्य से तथा (सादृश्य को छोड़कर) अन्य सम्बन्ध से (सम्पन्न) होने पर क्रमशः गौण तथा शुद्ध लक्षणा के भेद समझने चाहिए।

**(गौणी सारोपा, साध्यवसाना के उदाहरण)**

२०४ ये दोनों सारोपा और साध्यवसानिका नामक लक्षणा के सादृश्य के कारण होने वाले भेद क्रमशः "गौर्वाहीकः" (वाहीक गौ है) तथा "गौरयम्" (यह गौ है)—इन दोनों उदाहरणों में होते हैं।

२०५ यहाँ ("गौरयम्" आदि उदाहरण में गौ शब्द के) अपने अर्थ के सहचारी गुण लक्षणा द्वारा बोधित होने पर भी "गौ" शब्द के द्वारा (वाहीक रूप) दूसरे अर्थ को अभिधा से बोधित करने में प्रवृत्ति-निमित्त बन जाते है।

(१) कुछ आचार्य "गौ" शब्द की लक्षणा अपने मुख्य अर्थ "गौ" के साथ रहने वाले "जाड्यादि" जो गुण है, उनसे अभिन्न परगत गुणों में स्वीकार करते हैं और परार्थ में अभिधा स्वीकार नहीं करते हैं।

(२) कुछ आचार्य "गौ" शब्द की लक्षणा मुख्य अर्थ के साथ रहने वाले जाड्यमान्द्यादि गुणों में स्वीकार करते हैं, और तब उन गुणों के आधार पर बाहीक-रूप दूसरे अर्थ को उसी "गौ" शब्द की अभिधावृत्ति से प्रतिपादित बतलाते हैं।

(३) कुछ आचार्य दोनों में रहने वाले अतएव साधारण कहे जाने वाले गुणों के आधार पर मुख्य-अर्थ से परार्थ 'वाहीक' में ही लक्षणा स्वीकार करते हैं।

२०६ अपि चेदविनाभावे सति क्रोशतिमञ्चयोः ।
आक्षेपेणैव मर्त्यादिसिद्धेर्नैवात्र लक्षण ।।

२०७ यदायुर्घृतमित्यादौ सादृश्यादन्यदेव हि ।
कार्यकारणभावादि सम्बन्धान्तरमुच्यते ।।

२०८ भेदे सत्यपि ताद्रूप्यप्रतीतिगौणभेदयोः ।
तद्भे[अभे]दावगतिः क्वापि प्रयोजनवती भवेत् ।।
शुद्धयोर्भेदयोरन्यवैलक्षण्येन यद्भवेत् ।
अर्थक्रियाकारितादि तत्प्रयोजनवद्भवेत् ।।

२०९ तादर्थ्यादुपचाराख्या लक्षणा क्वापि दृश्यते ।
इन्द्रार्थे स्थूण इन्द्रोऽयमित्यादौ सा विलोक्यते ।।

---

२०६ (इन तीनों मतो की पुष्टि के लिए तीनों वादी प्रमाण प्रस्तुत करते हुए कहते है कि—जैसा कि कहा गया है—
"अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणोच्यते ।
लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद् वृतेरिष्टा तु गौणता ।।"

अर्थात् अभिधेय अर्थ से अविनाभूत (सम्बद्ध) अर्थ की प्रतीति "लक्षणा" कही जाती है। लक्ष्यमाणगुणयोग से होने से वृत्ति में गौणता चली आती है। कारिका में प्रयुक्त "अविनाभाव" शब्द से यहाँ सम्बन्ध-मात्र समझना चाहिए। नान्तरीयकत्व अर्थात् व्याप्ति नहीं। क्योंकि ?—)
व्याप्ति अर्थ होने पर "मंच चिल्ला रहे हैं"—इत्यादि में लक्षणा नही होगी क्योंकि अविनाभाव का व्याप्ति अर्थ करने पर आक्षेप से ही मंचस्थ पुरुषादिकी सिद्धि हो जायेगी। (इस प्रकार आक्षेप से ही लक्ष्यमाण अर्थ के सिद्ध हो जाने पर लक्षणा की आवश्यकता ही नही रहेगी।)

**(शुद्धा-सारोपा-साध्यवसाना के उदाहरण)**

२०७ "आयुर्घृतम्—घी आयु है" इत्यादि में सादृश्य से भिन्न कार्य-कारण भाव आदि अन्य सम्बन्ध कहलाते हैं।

२०८ ये जो गौण भेद है, इनमें से प्रथम—(गौणी सारोपा) मे प्रयोजन है "भिन्नता होने पर भी अभिन्नता (ताद्रूप्य-प्रतीति) और द्वितीय—(गौणी साध्यवसाना) में सर्वथा अभेद की प्रतीति। शुद्ध भेदों में से प्रथम (शुद्धा-सारोपा) में अन्य कारणों की अपेक्षा विलक्षणता के साथ कार्य-निष्पादकता आदि प्रयोजन होता है और दूसरी (शुद्धासाध्यवसाना) में नियम से कार्य-निष्पादकता आदि प्रयोजन होता है।
(ये चारों भेद प्रयोजनवती-लक्षणा के अन्तर्गत आते हैं इनमें रूढ़ि-लक्षणा नही होती।)

२०९ कहीं तादर्थ्य (उसके लिए होने) से (आरोप और अध्यवसाय रूप) उपचार (अन्य के लिए अन्य के वाचक शब्द का प्रयोग) नामवाली लक्षणा देखी जाती है। जैसे—यज्ञ में इन्द्र की पूजा के लिए बनाया हुआ खम्भा (स्थूणा) भी (तादर्थ्य) सम्बन्ध में "इन्द्र" कहलाता है।

२१० क्वचित्स्वस्वामिभावेन लक्षणाऽपि भवेद्यथा ।
राजकीयः स पुरुषः इत्यादौ दृश्यते स्फुटम् ।।

२११ हस्त इत्यपि यथैव कराग्रं लक्षयत्यथ न वक्ति करं तम् ।
अवयवावयविभावनिबन्धा लक्षणाऽपि च तथैव सुधीभिः ।।

२१२ स[अ]तक्षाऽतक्षदित्यत्र तात्कर्म्यात्क्वापि लक्षणा ।

२१३ एवं षोढा समुद्दिष्टा लक्षणा लक्ष्यवेदिभिः ।।

२१४ लक्षणायां गौणवृत्तिर्नान्तिर्भवति कर्हिचित् ।
लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद्वृत्तेरिष्टा तु गौणता ।।

२१५ अग्निर्माणवकेत्यादौ गुणवृत्तिं प्रचक्षते ।
अग्निशब्दः स्वमुख्यार्थबाधान्माणवके स्वतः ।।
तद्गुणे पिङ्गलत्वादौ यां वृत्तिं प्रतिपद्यते ।
तां गौणीवृत्तिरित्याहुः शब्दवृत्तिविचक्षणाः ।।

---

२१० कहीं स्व-स्वामिभाव सम्बन्ध से यह (उपचार) लक्षणा होती है; जैसे— राजा से सम्बन्धित पुरुष को "राजा" कह दिया जाता है ।

२११ कहीं यह अवयवावयविभाव से (उपचार) लक्षणा होती है, वह विद्वानों द्वारा उसी प्रकार है; जैसे कि हाथ के अगले भाग को—"हस्त" कह दिया जाता है, जबकि उसको हाथ नहीं कहते है ।

२१२ कहीं तात्कर्म्य (उसका काम करने) से यह लक्षणा होती है; जैसे—जो बढ़ई नही होता है, उसे (बढ़ई का काम करने से) "बढ़ई" कह दिया जाता है ।

२१३ इस प्रकार लक्ष्यविदों के अनुसार लक्षणा ६ प्रकार की होती हैं । (अर्थात् इन चारों भेदों की प्रथम दो (उपादान-लक्षणा तथा लक्षण-लक्षणा इन) भेदों के साथ गणना करने पर लक्षणा ६ प्रकार की होती है ।[४०]

**(गौणी-वृत्ति की पृथक्ता)**

२१४ लक्षणा में गौणी वृत्ति का अन्तर्भाव नहीं होता है । (यह तो पृथक् ही है क्योंकि—) लक्ष्यमाण गुणों के योग से इस लक्षणा-वृत्ति की "गौणता" हो जाती है ।

२१५ जैसे—"अग्निर्माणवकः" अर्थात् "बालक अग्नि है ।" इस उदाहरण में "गौणी-वृत्ति" कही जाती है । यहाँ मुख्यार्थ-बाध होता है कि बालक अग्नि कैसे है ? तब अग्नि का गुण रूप अर्थ "पिंगलत्व" आदि गौणी शक्ति से प्रतीत होता है, यहाँ "पिंगलत्व" रूप गुण प्रयोजन है, जिसकी सिद्धि के लिए "अग्नि" यह प्रयोग किया गया है । इस प्रकार "पिंगलत्व" आदि गुण की सिद्धि के लिए जिस वृत्ति का प्रतिपादन किया जाता है, वह शब्द-वृत्ति-विदों द्वारा "गौणी" वृत्ति कही जाती है ।

२१६ भेदः साध्यवसानात्मा सारोपात्मा च यो भवेत् ।
तयोरन्यतरैवेयं वृत्तिर्गौणीति केचन ॥

२१७ तत्तादृग्लक्षणोपेतलक्षणाविषये क्वचित् ।
प्रयोजने सति व्यङ्ग्यं भवेद्रूढौ न संभवेत् ॥
यत्र रूढिः प्रसिद्धा स्यात्तत्र व्यङ्ग्यं न सेत्स्यति ।
यत्र प्रयोजनं नास्ति तत्र व्यङ्ग्यं न दृश्यते ॥
ध्वनिव्यापारहेतुर्यस्तद्व्यङ्ग्यञ्च प्रयोजनम् ।
प्रयोजनं विना क्वापि न व्यङ्ग्यं व्यज्यते स्फुटम् ॥
अभिधालक्षणामूलं व्यङ्ग्यं सिध्येत्प्रयोजनात् ।
अगूढं गूढमित्येतद्व्यङ्ग्यं द्वेधा विभिद्यते ॥

२१८ अगूढं तत्स्फुटं यस्य प्रतीतिरभिधेयवत् ।
अनुस्यूता यदव्यक्ता प्रतीतिर्गूढमुच्यते ॥
गूढागूढात्मकं व्यङ्ग्यमेकमस्तीति केचन ।
व्यक्ताव्यक्तप्रतीतिर्यत्तद्गूढागूढमुच्यते ॥
भाविकात्मनि (?) पद्ये तु तत्तद्व्यङ्ग्यं विलोक्यते ।

---

२१६ अतः सारोपा तथा साध्यवसाना जो भेद होते हैं उनसे पृथक् ही यह "गौणी" वृत्ति होती है, ऐसा कोई विद्वान कहते हैं।

**(प्रयोजन की व्यंग्यता)**

२१७ कही उस प्रकार के लक्षणों से युक्त (पूर्वोक्त) लक्षणा के विषय में कहा जाता है कि—प्रयोजन (मूलक-भेदों) में व्यंग्य होता है, रूढ़ि (गत भेदों) में वह संभव नही होता है। जहाँ रूढि या प्रसिद्धि गत लक्षणा होती है वहाँ व्यंग्य नही होगा। जहाँ प्रयोजन नही होता है वहाँ व्यंग्य नहीं देखा जाता है। ध्वनि-व्यापार का जो हेतु है, वह व्यंग्य और प्रयोजन है। कही भी प्रयोजन के विना व्यंग्य व्यंजित नहीं होता है। प्रयोजन से अभिधा तथा लक्षणा-मूल व्यंग्य सिद्ध होता है। वह व्यंग्य गूढ़ तथा अगूढ़ भेद से दो प्रकार से विभाजित होता है।

२१८ जिस (व्यंग्य) की प्रतीति अभिधेय के समान होती है, वह "अगूढ़" कहलाता है। जो अनुस्यूत (सम्बन्धित) अव्यक्त-प्रतीति होती है, वह "गूढ़" कहा जाता है। "गूढ़-गूढात्मक" एक और व्यंग्य होता है—ऐसा कोई विद्वान कहते हैं। जो व्यक्ताव्यक्त की प्रतीति होती है, वह "गूढ़ागूढ" कहलाता है। भाविक-रूप पद्य में वह-वह व्यंग्य देखा जाता है।

२१९ व्यङ्ग्ये लाक्षणिकस्यात्र व्यापारो व्यञ्जनात्मकः ॥
लक्षणा तादृशी गूढव्यङ्ग्याव्यङ्ग्यार्थयोगतः ।
पश्चादगूढव्यङ्ग्येति त्रेधा व्यङ्ग्यप्रतीतितः ॥
२२० तद्भूर्लाक्षणिकः शब्दस्तद्व्यापारोऽञ्जनात्मकः ।
२२१ यस्य प्रतीतिमाधातुं लक्षणा समुपास्यते ।
फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यञ्जनान्नापरा क्रिया ॥
२२२ यत्र प्रत्याययितुं प्रयोजनं लक्षणाशब्दः ।
वाक्ये प्रयुज्यतेऽस्मान्नान्यो हेतुः प्रयोजनावाप्तेः ॥
तस्मादेव च शब्दात्तद्व्यापारस्तथाञ्जनात्मैव ।
तेन व्यापारेण व्यङ्ग्यं तत्र प्रयोजनं भवति ॥
२२३ गङ्गायां घोष इत्यादिवाक्ये तत्तीरसङ्गतः ।
पावनत्वादिधर्मो यः प्रतीतो व्यङ्ग्यमेव तत् ॥

---

२१९ उस व्यंग्य (रूप प्रयोजन के विषय) में लाक्षणिक (शब्द) का (लक्षणा से भिन्न) व्यंजनात्मक व्यापार होता है। उस प्रकार की लक्षणा गूढ़ व्यंग्यार्थ तथा अव्यंग्यार्थ के योग से (अर्थात् (१) गूढः व्यंग्या (२) अव्यंग्या अर्थात् व्यंग्य-रहिता-रूढ़िगत-लक्षणा) पुनः (३) अगूढ़ व्यंग्या भेद से व्यंग्य की प्रतीति से तीन प्रकार की होती है।

२२० उस लक्षणा का आश्रयभूत शब्द 'लाक्षणिक' शब्द कहलाता है। उस (व्यंग्य-रूप-प्रयोजन के विषय) में लाक्षणिक (शब्द) का (लक्षणा से भिन्न) व्यंजनात्मक व्यापार होता है।

**(व्यंजना)**

२२१ जिस (प्रयोजन विशेष) की प्रतीति कराने के लिए लक्षणा (अर्थात् लाक्षणिक शब्द) का आश्रय लिया जाता है, (अनुमान आदि से नहीं अपितु) केवल शब्द से गम्य फल (प्रयोजन) के विषय में व्यंजना के अतिरिक्त (शब्द का) अन्य कोई व्यापार नहीं हो सकता है।

२२२ प्रयोजन विशेष के प्रतिपादन के लिए जहाँ लक्षणा (लाक्षणिक) शब्द का वाक्य में प्रयोग किया जाता है, वहाँ इस प्रयोजन की प्रतीति का इस (लाक्षणिक शब्द) के अतिरिक्त अन्य (अनुमानादि) कोई हेतु नहीं होता है अपितु वह (लाक्षणिक) शब्द ही होता है और इस प्रयोजन-प्रतीति के विषय में (लाक्षणिक-शब्द का लक्षणा से भिन्न) व्यंजनात्मक व्यापार ही होता है। उस व्यंजना व्यापार से प्रयोजन-प्रतीत होती है।

**(उदाहरण)**

२२३ 'गंगायांघोषः' इत्यादि वाक्य मे उसके (लक्ष्यार्थ) तीर के सम्बन्ध से पावनत्वादि धर्म जो प्रतीत होते है वे व्यंग्य ही हैं।

२२४ पावनत्वादिधर्मस्य गङ्गाशब्दस्य च क्वचित् ।
गृह्यते नच सङ्केतस्तस्मान्नात्राभिधा भवेत् ॥
२२५ मुख्यार्थबाधादिहेतोरभावान्नैव लक्षणा ।
२२६ अतस्तल्लक्षणाशब्दव्यापाराद्व्यञ्जनात्मकात् ॥
ऋते न पावनत्वादिधर्मः क्वापि प्रतीयते ॥
उक्तञ्च—
२२७ "नाभिधा समयाभावाद्धेत्वभावान्न लक्षणा ।
२२८ लक्ष्यं न मुख्यं नाप्यत्र बाधो योगः फलेन नो ॥
न प्रयोजनमेतस्मिन्न च शब्दः स्खलद्गतिः ।"
२२९ गङ्गाशब्दो यथा स्रोतोबाधात्तत्तीरलक्षकः ॥
तद्वत्तटे सबाधश्चेल्लक्षयेत्तत्प्रयोजनम् ।
मुख्योऽर्थो न तटं तत्र स्वार्थबाधो न दृश्यते ॥
गङ्गाशब्दार्थतीरस्य पावनत्वादिभिः क्वचित् ।
लक्षणीयैर्न संबन्धो नापि लक्ष्यं प्रयोजनम् ॥

---

२२४ वहाँ पावनत्वादि धर्म का और गंगा शब्द का संकेत-ग्रह नहीं होता है। अतः (संकेत-ग्रह न होने से) अभिधा (प्रयोजन की बोधिका) नहीं होती है।

२२५ (लक्षणा के प्रयोजक) मुख्यार्थ-बाध आदि हेतुओं के न होने से लक्षणा (भी प्रयोजन की बोधिका) नही हो सकती है।

२२६ अतः लक्षणा (लाक्षणिक) शब्द से व्यंजनात्मक व्यापार के विना पावनत्वादि धर्म प्रतीत नही होते हैं। जैसा कि कहा गया है—

२२७ संकेत-ग्रह न होने से 'अभिधा-वृत्ति' (प्रयोजन की बोधिका) नही है। (लक्षणा के प्रयोजक मुख्यार्थ-बाध आदि) हेतुओं के न होने से 'लक्षणा' (भी प्रयोजन की बोधिका) नहीं है।

२२८ (तट रूप) लक्ष्यार्थ मुख्य अर्थ नही है, न उसका यहाँ बाध होता है, और न उसका (पावनत्वादि) फल के साथ सम्बन्ध है; और न इस (प्रयोजन को लक्ष्यार्थ मानने) में कोई प्रयोजन है। और न (प्रयोजन के विषय में लाक्षणिक) शब्द स्खलद्गति (अर्थात् प्रयोजन के प्रतिपादन में असमर्थ) है।

२२९ जैसे—गंगा शब्द प्रवाह-रूप अर्थ में बाधित होकर लक्षणा द्वारा तट का बोध कराता है, उसी प्रकार यदि तट (लक्ष्यार्थ) में भी बाधित होता तो प्रयोजन को लक्षणा द्वारा बोध कराता। किन्तु प्रथम तो तट मुख्यार्थ नहीं, न तट रूप लक्ष्यार्थ में बाध ही दिखाई देता है, गंगा शब्द के (लक्ष्य) अर्थ तट का पावनत्वादि (यदि उन्हें लक्ष्य माना जाय) लक्ष्यार्थो से सम्बन्ध भी नहीं है और

तस्मिन्प्रयोजने लक्ष्ये तेन लक्ष्यं प्रयोजनम् ।
इत्येवमनवस्था स्यात्सा मूलक्षतिकारिणी ॥
२३० पावनत्वादिभिस्तीरं युक्तमेव हि लक्ष्यते ।
गङ्गाशब्देनाधिकार्थप्रतिपत्तिः प्रयोजनम् ॥
विशिष्टलक्षणैषा स्याद्व्यज्यते नात्र किञ्चन ।
२३१ इति वादिनमुद्दिश्य प्रत्युत्तरमुदीर्यते ॥
"प्रयोजनेन सहितं लक्षणीयं न युज्यते ।
ज्ञानस्य विषयो ह्यन्यः फलमन्यदुदाहृतम् ॥"
२३२ प्रत्यक्षादेर्हि नीलादिर्विषयो हि स्वभावतः ।
प्राकट्यं वाऽथ संवित्तिः फलत्वेनोपयुज्यते ॥
अतो विशिष्टे कस्मिंश्चिल्लक्षणा नोपयुज्यते ।
२३३ अतो गङ्गादिशब्देन तत्तटे लक्षिते पुनः ॥
पावनत्वादयो धर्मविशेषास्तत्र संभवाः ।
प्रतीयन्तेऽभिधाद्यन्यव्यापाराद्व्यञ्जनात्मकात् ॥
२३४ अभिधालक्षणारूपात्तथा तात्पर्यरूपतः ।
एभ्यो भिन्नो भवेदत्र व्यापारो व्यञ्जनात्मकः ॥
ध्वननव्यञ्जनेत्यादिशब्दवाच्यो भवत्यसौ ।

---

प्रयोजन को लक्ष्य मानने में कोई और प्रयोजन भी नहीं है। प्रयोजन को लक्ष्य मान लेने पर भी अनवस्था होगी जो कि मूल का विनाश करने वाली है।

२३० शंका होती है कि 'गंगायां घोषः' में पावनत्वादि धर्म युक्त ही 'तट' लक्षित होता है और 'गंगा' शब्द से अधिक अर्थ की प्रतीति कराना (लक्षणा का) प्रयोजन है। इस प्रकार प्रयोजन विशिष्ट (पावनत्वादि विशिष्ट तट) में लक्षणा होती है। यहाँ व्यंजना बिलकुल नही है।

२३१ वादी को उद्दिष्ट कर (आचार्य मम्मट) उत्तर देते है—(कि पावनत्वादि) प्रयोजन सहित तट को लक्ष्य मानना उचित नहीं है। क्योंकि ज्ञान का विषय ज्ञान से अन्य होता है और फल या प्रयोजन भी (ज्ञान से) अन्य कहा गया है।

२३२ स्वभावतः प्रत्यक्ष आदि ज्ञान का विषय नीलादि है और फल (मीमांसक के मत में) ज्ञातता[४१] (प्राकट्य) अथवा (नैयायिक के मत में) अनुव्यवसाय[४२] (संवित्तिः) है। अतः किसी विशिष्ट में लक्षणा नहीं हो सकती है।

२३३ अतः 'गंगा' आदि शब्द से पहले (लक्षणा से) केवल तट की प्रतीति होती है, पुनः उस तटादि-रूप लक्ष्य अर्थ में पावनत्वादि विशेष धर्म अभिधा आदि के अतिरिक्त व्यंजनात्मक व्यापार से प्रतीत होते है।

२३४ अभिधा, लक्षणा तथा तात्पर्य-रूप व्यापार से भिन्न व्यंजनात्मक व्यापार होता है और यह ध्वनन, व्यंजन आदि शब्दों से वाच्य होता है।

२३५ एवं हि लक्षणामूलं व्यञ्जकत्वमुदाहृतम् ॥
२३६ अभिधामूलमप्यत्र व्यञ्जकत्वं प्रचक्षते ।
२३७ बहुधा चाभिधामूल व्यञ्जकं कथ्यते बुधैः ॥
२३८ "अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते ।
संयोगाद्यैरवाच्यार्थधीकृद्व्यापृतिरञ्जनम् ॥"
२३९ 'संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता ।
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः ॥
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः ।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः ॥'
२४० हरिशब्दोऽपि सिंहादेरनेकार्थस्य वाचकः ।
शङ्खचक्रादिसंयोगाद्विष्णुमेव व्यनक्ति च ॥
२४१ रामं विहायार्जुनं च रामार्जुनपदं यथा ।
विरोधं कार्तवीर्यस्य भार्गवस्य व्यनक्ति च ॥
२४२ शङ्खाद्ययोगः शक्रादौ हरिशब्देन गम्यते ।
२४३ रामलक्ष्मणशब्देन साहचर्याभिधायिना ॥
पुमन्तरे गौरवादि विनयादि व्यनक्ति च ।

---

२३५ इस प्रकार 'लक्षणा-मूला' व्यंजना का वर्णन समाप्त हुआ।

**(अभिधा-मूला व्यंजना)**

२३६ अब अभिधामूला व्यंजना का निरूपण करते है।

२३७ विद्वान लोग अभिधामूला व्यंजना को बहुत प्रकार की कहते है।

२३८ संयोग आदि के द्वारा अनेकार्थक शब्दों के वाचकत्व के (किसी एक अर्थ में) नियन्त्रित हो जाने पर (उससे भिन्न) अवाच्य अर्थ की प्रतीति कराने वाला (शब्द का) व्यापार व्यंजना (अर्थात् अभिधा-मूला व्यंजना) कहलाता है।

२३९ संयोग, विप्रयोग, साहचर्य, विरोधिता, अर्थ, प्रकरण, लिंग, अन्य शब्द की निकटता, सामर्थ्य, योग्यता (औचिती) देश, काल, व्यक्ति तथा स्वरादि किसी शब्द के वाच्यार्थ का निर्णय न होने पर विशेष अर्थ के बोध के कारण होते हैं।

**(उदाहरण)**

२४० 'हरि' शब्द सिंह आदि अनेक अर्थो का वाचक है लेकिन शंख चक्रादि के संयोग से 'हरि' शब्द 'विष्णु' को व्यक्त करता है।

२४१ 'रामार्जुनौ' अर्थात् 'राम' और 'अर्जुन' इन दोनों शब्दों की विरोधिता के कारण क्रमशः परशुराम तथा कार्तवीर्य अर्थ में नियन्त्रण होता है।

२४२ शंख आदि के विप्रयोग से 'हरि' शब्द से 'इन्द्र' आदि अर्थ गम्य होता है।

२४३ 'रामलक्ष्मणौ' अर्थात् 'राम और लक्ष्मण' यहाँ साहचर्य से ' राम तथा लक्ष्मण' शब्द से अन्य पुरुष में 'गौरवादि विनयादि' व्यक्त होते है।

२४४ भवच्छिदं भज स्थाणुमित्यर्थाद्व्यज्यते शिवः ।।
२४५ सर्वं जानाति देवोऽयं युष्मदर्थ इतोरिते ।
भृत्येष्टकारिता भर्तुर्व्यङ्ग्या प्रकरणादिह ।।
२४६ मकरध्वज इत्युक्ते तल्लिङ्गाद्व्यज्यते स्मरः ।
२४७ देवः पुरजिदित्युक्ते देवशब्दस्य सन्निधेः ।।
पुरजित्त्वं शिवस्येति व्यज्यते शिव एव हि ।
२४८ मधुमत्तः पिक इति वसन्तो व्यज्यते स्फुटम् ।।
२४९ भात्यत्र देव इत्युक्ते राजधानी प्रतीयते ।
२५० मित्रं भातीति सुहृदि मित्रो भातीति भास्करे ।।
२५१ स्वाहेन्द्रशत्रुरित्यत्र स्वरेणार्थान्तरध्वनिः ।
२५२ एवमादिप्रयोगेषु तत्तदर्थो विलोक्यताम् ।।

---

२४४ 'संसार से पार उतरने के लिए स्थाणु का भजन कर'। यहाँ 'स्थाणु' शब्द प्रयोजन-रूप अर्थ के कारण 'शिव' को व्यक्त करता है।

२४५ 'देव सब जानते है' यहाँ 'देव' शब्द से 'आप' अर्थ कहा गया है। क्योंकि राजा को सम्बोधित करके आज्ञाकारी सेवक कहता है, अतः प्रकरण के कारण यहाँ देव शब्द से 'आप' व्यंग्य है।

२४६ (मकरध्वज पद समुद्र, औषधि विशेष और कामदेव आदि अनेक अर्थो का वाचक है। लेकिन 'मकरध्वज कुपित हो रहा है।') यहाँ लिंग अर्थात् कोप रूप चिह्न से 'मकरध्वज' पद से 'कामदेव' व्यक्त होता है।

२४७ 'पुरजित् देवः'—यहाँ अनेकार्थक 'देव' शब्द पुरजित्-रूप अन्य शब्द के सन्निधान के कारण और शिव का पुरजित्व प्रसिद्ध है, इसलिए 'शिव' को ही व्यक्त करता है।

२४८ 'मधुमत्तः पिकः' अर्थात् 'कोकिल मधु से मत्त हो रहा है' यह (कोकिल को मत्त करने का सामर्थ्य केवल वसन्त में होने से) 'मधु' शब्द सामर्थ्य-वश 'वसन्त' अर्थ को व्यक्त करता है।

२४९ 'यहाँ देव शोभित होते है', इसमें राजधानी-रूप देश के कारण 'देव' शब्द से 'राजा' अर्थ प्रतीत होता है।

२५० 'मित्र शोभित होता है', यह नपुंसकलिंग में प्रयुक्त हुआ 'मित्र' शब्द लिंग के कारण 'सुहृत्' अर्थ में नियन्त्रित हो जाता है।
'मित्रो भाति'—पुंलिंग में प्रयुक्त हुआ यह 'मित्र' शब्द लिंग के ही सामर्थ्य से 'सूर्य' अर्थ में नियन्त्रित हो जाता है।

२५१ 'स्वाहा इन्द्र शत्रुः' यहाँ वैदिक—'स्वर' में भिन्नता का प्रयोग करने से अर्थान्तर की प्रतीति होती है।

२५२ इस प्रकार इन सभी प्रयोगों में उस-उस अर्थ को देख लें।

२५३ संयोगादिभिरेतैस्तु वाचकत्वे निवारिते ।
अनेकार्थस्य शब्दस्य यदर्थान्तरदर्शनम् ॥
अभिधा नात्र वर्तेत तस्याः स्वार्थे नियामनात् ।
मुख्यार्थबाधाद्यभावाल्लक्षणा नात्र वर्तते ॥
अतोऽत्र शब्दव्यापारः पारिशेष्यात्तदञ्जनम् ।
२५४ तद्व्यञ्जनयुतः शब्दो यः सोऽर्थान्तरयुक्तथा ॥
अर्थोऽपि व्यञ्जकस्तद्वत्सहकारितया मतः ।
२५५ वाच्यलक्ष्यव्यङ्ग्यभूता येऽर्थाः पूर्वमुदाहृताः ॥
तेषां तद्वाचकादीनामर्थव्यञ्जकतोच्यते ।
२५६ वक्तृबोद्धव्यकाकूनां वाक्यवाच्यान्यसन्निधेः ॥
प्रस्तावदेशकालादेर्वैशिष्ट्यात्प्रतिभाजुषाम् ।
योऽर्थस्यान्यार्थधीहेतुर्व्यापारो व्यक्तिरेव सा ।
२५७ बोद्धव्यः प्रतिपाद्यः स्यात्काकुः स्याद्विकृतिर्ध्वनेः ।
प्रस्तावः स्यात्प्रकरणमर्था वाच्यादयस्तथा ॥

---

२५३ इस प्रकार संयोग आदि के द्वारा अन्य अर्थ के बोधकत्व का निवारण हो जाने पर भी अनेकार्थ शब्द जो कहीं दूसरे अर्थ का प्रतिपादन करता है। वहाँ अभिधा नहीं हो सकती है क्योंकि उसका अपने मुख्य अर्थ में नियन्त्रण हो चुका है और मुख्यार्थ बाध आदि के न होने से लक्षणा भी नहीं हो सकती है। अतः यहाँ इन सभी के अतिरिक्त अंजन अर्थात् व्यंजना शब्द-व्यापार ही होता है।

२५४ उस व्यंजना (व्यापार) से युक्त शब्द (व्यंजक शब्द) कहलाता है क्योंकि वह (व्यंजक-शब्द) दूसरे अर्थ के योग से (अर्थात् अपने मुख्यार्थ को बोधन करने के बाद) उस प्रकार का (अर्थात् दूसरे अर्थ का व्यंग्य) होता है, इसलिए उसके साथ सहकारी रूप से अर्थ भी व्यंजक होता है।

२५५ उनके अर्थात् वाचक, लाक्षणिक तथा व्यंजक शब्दों के वाच्य, लक्ष्य तथा व्यंग्य-भूत जो अर्थ है, वे पहले कह दिये गये हैं। अब यहाँ पर अर्थो की व्यंजकता को कहते है।

२५६ वक्ता, बौद्धा, काकु, वाक्य, वाच्य, अन्य सन्निधि, प्रस्ताव, देश, काल आदि के वैशिष्ट्य से सहृदयों को अन्यार्थ की प्रतीति कराने वाला अर्थ का जो व्यापार होता है, वह 'आर्थी-व्यंजना' ही कहलाता है।

२५७ बौद्धव्य का अर्थ प्रतिपाद्य (अर्थात् जिससे बात कही जाय) है। 'काकु'— ध्वनि के विकार को कहते हैं। प्रस्ताव का अर्थ प्रकरण होता है। अर्थ अर्थात

इङ्गिताकारचेष्टादिरादिशब्देन चोदितः ।
क्रमाद्वाच्यस्य लक्ष्यस्य व्यङ्ग्यस्योदाहृतिः कृता ॥

२५८ अइपिहुलं जलकुंभं घेत्तूण समागदह्मि सहि तुरिअम् ।
समसेअसलिलणीसासणीसहा वीसमामि खणं ॥
अत्र चौर्यरतस्यैव गोपनं गम्यते स्फुटम् ।
खेदो मयि न योग्यः स्यात्कर्तुं योग्यः कुरुष्विति ॥

२५९ तथाभूतादिवाक्यादा स्वरकाकुः प्रकाश्यते ।
वाच्यसिद्ध्यङ्गमत्रोक्तः स्वरः काकुर्भवेदिति ।

२६० नैवं शङ्क्यं गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वं काकुवेदिभिः ।
प्रश्नमात्रेणापि काकोर्विश्रान्तेरत्र दर्शनात् ॥

२६१ तइआ मह गंडत्थलणिमिअं दिट्ठि ण णेसि अण्णत्तो ।

---

वाच्यादि (वाच्य, लक्ष्य तथा व्यंग्य) हैं तथा आदि शब्द से अन्तर्बाह्य चेष्टादि को कहा गया है । अब क्रमशः वाच्य, लक्ष्य तथा व्यंग्य के उदाहरण देते हैं ।

२५८ (१) "हे सखि, मै बहुत बड़े जल के घड़े को लेकर शीघ्रता से आई हूँ, परिश्रम के कारण पसीना और निःश्वास से परेशान हो गयी हूँ, अतः क्षण भर विश्राम करूंगी ।"
यहाँ (वक्तृ-वैशिष्ट्य से) चोरी से की गई रति का छिपाना प्रतीत होता है ।

२५९ (२) [४३]"तथाभूतां दृष्ट्वा……………………नाद्यापि कुरुषु ।"
"राजसभा में द्रोपदी की (केशाकर्षण रूप) दुर्दशा को देखकर (गुरु नाराज नहीं हुए, उनको क्रोध नहीं आया) फिर वन में बल्कल वस्त्र धारण करते हुए चिरकाल (बारह वर्ष) तक कोलभिल्लों के साथ रहते रहे (तब भी उनको क्रोध नहीं आया) फिर विराट के घर में (रसोइया आदि के) अनुचित कार्यों को करके छिपकर जो हम रहे (उस समय भी गुरु को क्रोध नहीं आया) और आज भी उनको कौरवों पर तो क्रोध नहीं आ रहा है, पर मै कौरवों पर क्रोध करता हूँ तो मेरे ऊपर नाराज होते है ।"
इस पद्य में 'काकु' से यह प्रकट किया जा रहा है कि मुझ पर क्रोध करना उचित नही, अपितु, कौरवों पर क्रोध करना उचित है ।

२६० काकुवेत्ताओं को इस पद्य में यह शंका नहीं करनी चाहिए कि यहाँ काकु (से लभ्य अर्थ) वाच्य की सिद्धि का अंग है अतः गुणीभूतव्यंग्य (काव्य) है (ध्वनिकाव्य नहीं है) क्योंकि प्रश्नमात्र से भी काकु की विश्रान्ति हो सकती है । अर्थात् यहाँ काकु केवल प्रश्न-मात्र में ही विश्रान्त हो जाता है । उससे व्यंग्यार्थ आक्षिप्त नहीं होता है ।

२६१ (३) उस समय मेरे कपोल पर गड़ायी हुई (अपनी) दृष्टि को अन्यत्र नहीं

एण्हि सच्चेअ अहं ते अ कवोला ण सा दिट्ठी ॥
अत्र प्रच्छन्नकामित्वं कान्तया व्यज्यते प्रिये ।

२६२ मलयानिलसम्फुल्लकुसुमामोदमेदुरम् ॥
आरामं पश्य सुमुखि मनोभवनिकेतनम् ।
कामिनि प्रविशात्रेति व्यज्यते सुरतार्थिता ॥

२६३ णोल्लेइ अणद्दमणा अत्ता मं घरभरम्मि सअलम्मि ।
खणमेत्तं जइ संज्झाए होइ ण व होइ वीसामो ॥
सङ्केतकालः सन्ध्येति व्यज्यतेऽत्र कयाचन ।

२६४ सुव्वइ समागमिस्सइ तुज्झ पिओ अज्ज पहरमेत्तेण ।
एमेअ कित्ति चिट्ठसि ता सहि सज्जेसु करणिज्जं ॥
कस्याश्चिज्जारसम्भोगे निषेधोऽत्र प्रतीयते ॥

२६५ निमील्य लोचने काचित्प्रिये गुरुजनावृता ।
पश्यति स्वस्तिकाकारकरेणालिङ्गति स्तनौ ॥
निमीलनादीङ्गितेन यामिनीति प्रतीयते ।
चेष्टया स्वस्तिकाकृत्या गाढाश्लेषः प्रतीयते ॥

---

ले जा रहे थे। अब मैं वही हूँ, मेरे कपोल भी वही हैं किन्तु तुम्हारी वह (मेरे कपोल पर ही गड़ी रहने वाली) दृष्टि नही है।

यहाँ नायिका के 'वाक्य-वैशिष्ट्य' से प्रिय की प्रच्छन्न कामुकता व्यक्त होती है।

२६२ (४) "हे सुमुखि ! मलयज पवन से उड़ाये हुए पुष्पों की सुगंध से युक्त, कामदेव के भवन-रूप बगीचे को देखो।"

यहाँ सुरत के इच्छुक नायक के 'वाच्य-वैशिष्ट्य' से यह व्यक्त होता है कि कामिनि सुरत के लिए (इस बगीचे में) प्रवेश करो।

२६३ (५) "निर्दया सास घर के सारे काम मुझसे ही कराती है, यदि क्षण भर को अवकाश मिलता है तो सायकाल ही, नहीं तो मिलता ही नही।

यहाँ सन्ध्या का समय संकेत-काल है (यह बात गुरुजन की सन्निधि के वैशिष्ट्य से उपनायक-रूप किसी तटस्थ के प्रति) कोई (नायिका) व्यंजना द्वारा प्रकट करती है।

२६४ (६) "हे सखि ! सुना जाता है कि तेरा प्रिय आज पहर-भर में ही आ जायेगा। इसलिए तू यों ही क्यों बैठी है, जो करना है वह कर ले।"

यहाँ (प्रस्ताव-वैशिष्ट्य से) किसी का जार-पुरुष के साथ सम्भोग करने से निषेध प्रतीत होता है।

२६५ (७) "गुरुजनों से घिरी हुई कोई (नायिका) प्रिय के आ जाने पर नेत्रों को बन्द करके देखती है। स्वस्तिकाकार हस्त से स्तनों का आलिगन करती है।"

यहाँ (समागम हेतु) निमीलन आदि इशारे से 'रात्रि' प्रतीत होती है तथा स्वस्तिकाकार चेष्टा से (नायिका का) 'गाढ़ालिगन' प्रतीत होता है।

२६६ द्वित्रादिभेदे वक्त्रादिमिथोयोगे सति क्वचित् ।
क्रमाद्व्यङ्ग्यस्य लक्ष्यस्य व्यञ्जकत्वं निदर्श्यताम् ॥
२६७ शब्दप्रमाणवेद्योऽर्थो व्यनक्त्यर्थान्तरं यतः ।
अर्थस्य व्यञ्जकत्वे तच्छब्दस्य सहकारिता ॥
२६८ शब्देनैव निवेद्योऽयं न प्रमाणान्तरेण च ।
२६९ एवंप्रकारैर्बहुभिः कृते शब्दार्थनिर्णये ॥
स्वरूपं दोषगुणयो रसालङ्कारयोरपि ।
अवश्यमभिधातव्यमपि तत्रापि धर्मिणि ॥
प्रदर्शिते तद्धर्माणां हेयोपादेयतास्थितिः ।
ज्ञायते यत्ततः काव्यभेदान्प्रागभिदध्महे ॥
२७० अविवक्षितवाच्यो यस्तत्र वाच्यं भवेद्ध्वनौ ।
अर्थान्तरे सङ्क्रमितमत्यन्तं वा तिरस्कृतम् ॥
२७१ प्रधाने लक्षणामूलगूढव्यङ्ग्ये सति क्वचित् ।

---

२६६ कहीं वक्ता आदि के परस्पर संयोग से दो-दो तीन-तीन आदि के भेद से (अर्थव्यंजकता के उदाहरण जान लेने चाहिए) तथा इसी क्रम से लक्ष्य और व्यंग्य (अर्थों) की अर्थव्यंजकता के उदाहरण भी जान लेने चाहिए।

२६७ क्योंकि शब्द प्रमाण के द्वारा जाना हुआ (वाच्य, लक्ष्य तथा व्यंग्य) अर्थ ही व्यंजना द्वारा अन्य अर्थ का बोध कराता है, इसलिए अर्थ की व्यंजकता में शब्द की सहकारिता मानी जाती है।

२६८ शब्द (प्रमाण) से ही वेद्य यह (अर्थ) व्यंजक होता है, अन्य (अनुमानादि) प्रमाणों से वेद्य अर्थ व्यंजक नही होता है।

२६९ इस प्रकार बहुत प्रकार से शब्द और अर्थ का निर्णय कर लेने के पश्चात् दोष, गुण तथा रस-अलंकार का स्वरूप पहले कहा जाना चाहिए था, लेकिन धर्मी (मुख्य-भूतकाव्य) का निरूपण करने पर ही उन (दोष, गुण आदि) धर्मों की हेयता या उपादेयता का ज्ञान हो सकता है, इसलिए पहले काव्य के भेदों को कहते है—

२७० अविवक्षित-वाच्य (अर्थात् लक्षणा-मूल) जो (ध्वनि-भेद) है, उस ध्वनि (भेद) में वाच्य या तो अर्थान्तर में संक्रमित हो जाता है या अत्यन्त तिरस्कृत हो जाता है। (इस प्रकार अविवक्षित वाच्य अर्थात् लक्षणा मूल ध्वनि के दो भेद होते हैं—१. अर्थान्तर-संक्रमित-वाच्य २. अत्यन्त-तिरस्कृत-वाच्य।)

२७१ लक्षणामूल गूढ़व्यंग्य की प्रधानता होने पर ही जहाँ वाच्य अविवक्षित होता है, वह 'अविवक्षित-वाच्य-ध्वनि' काव्य कहलाता है। (यहाँ प्रश्न यह होता है कि जबकि 'अविवक्षित-वाच्य-ध्वनि' काव्य-भेद में प्रकृत में 'ध्वनि' शब्द का प्रयोग नही हुआ है तो हम यहाँ ध्वनि शब्द का प्रयोग

यत्राविवक्षितं वाच्यं तत्र ध्वनिरिति ध्वनौ ॥

२७२ तदेवानुपयुक्त्यादेर्वाच्यमर्थान्तरे यदि ।
नमितं तद्भवेदर्थान्तरसङ्क्रमिताख्यया ॥
यथा त्वां वच्मि विदुषां समुदायोऽत्र तिष्ठति ।
आत्मीयां मतिमादाय स्थितिमत्र विधेहि तत् ॥
उपदेशादिरूपेण गम्यते वचनादि यत् ।

२७३ तदेवानुपपत्त्यादेः क्वाप्यत्यन्ततिरस्कृतम् ॥
मयि चोपकृतं सुभ्रु सौजन्यं प्रथितं त्वया ।
कुर्वीदृशं परमपि सुखमास्स्व शरच्छतम् ॥
अत्रापकारिणीं चेटीं विपरीतलक्षणया कथयति ॥

२७४ विवक्षितं व्यङ्ग्यनिष्ठं वाच्यं यत्र प्रकाशते ।
तत्रालक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो लक्ष्यव्यङ्ग्यक्रमः परः ॥

२७५ रसस्तु न विभावादिस्तैरेवासाविति क्रमः ।
स चेन्न लक्ष्यः सोऽलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य उदाहृतः ॥

---

क्यों करते हैं ? उत्तर है कि यहाँ (कारिका में) 'यः' शब्द का जो प्रयोग हुआ है उसका अर्थ ही है 'यः ध्वनिः' क्योंकि यत् और तत् साकांक्ष होते हैं तथा 'तत्र' के विशेषण रूप में 'ध्वनि' का सप्तम्यन्त 'ध्वनौ' प्रयुक्त किया गया है। अतः 'यः' का विशेषण 'ध्वनिः' शब्द स्वत सिद्ध ही है।

२७२ यदि वही वाच्य अनुपयुक्त होने से अर्थान्तिर में परिणत हो जाता है, तो उसे 'अर्थान्तिर-संक्रमित-वाच्य-ध्वनि' कहते हैं। जैसे—
"मै तुमसे कहता हूँ कि यहाँ विद्वानों का समुदाय रहता है, इसलिए तुम अपनी बुद्धि को ठीक करके यहाँ सावधानी से व्यवहार करना।
यहाँ वचन आदि उपदेश आदि रूप में परिणत हो जाता है।"

२७३ कही वही (वाच्यार्थ) अनुपपद्यमान होने के कारण अत्यन्त तिरस्कृत हो जाता है। जैसे—
"हे सुभ्रू ! तूने मेरे ऊपर बड़ा उपकार किया है, सज्जनता दिखलाई है, इसलिए ऐसा ही करती हुई (तू) सैकड़ों वर्षों तक परम सुखी रहे।"
यहाँ अपकार करने वाली चेटी के प्रति विपरीत लक्षणा से (कोई) कहता है।

२७४ जहाँ वाच्य विवक्षित होने पर भी व्यंग्यनिष्ठ अर्थ को प्रकाशित करता है, वहाँ दो प्रकार का होता है—पहला अलक्ष्यक्रम-व्यंग्य तथा दूसरा सलक्ष्यक्रम-व्यंग्य।

२७५ विभावादि की प्रतीति ही रस नही है, अपितु उन विभावादि की प्रतीति से यह रस उत्पन्न होता है, इसलिए (रस की प्रतीति में भी) क्रम तो है लेकिन वह लक्षित नहीं होता है, इसीलिए उसे "अलक्ष्यक्रमव्यंग्य" कहा जाता है।

२७६ रसभावतदाभासभावशान्त्यादिरक्रमः ।
भिन्नो रसाद्यलङ्कारादलङ्कार्यतया स्थितः ॥

२७७ आभासभावशान्त्यादेः क्रमो नैवात्र लक्ष्यते ।
तेषां व्यङ्ग्यक्रमे लक्ष्ये लक्ष्यव्यङ्ग्यक्रमो भवेत् ॥
भावोदयादिः प्राधान्यादलङ्कार्यतया स्थितः ।
रसादिर्यत्र तत्रैष व्यङ्ग्य एव भविष्यति ॥

२७८ प्राधान्याद्यत्र वाक्यार्थस्याङ्गभूतो रसादिकः ।
काव्यभेदो गुणीभूतव्यङ्ग्य इत्यभिधीयते ॥
भावशान्त्यादयोऽङ्गित्वं रसे मुख्ये प्रयान्ति च ।

२७९ अर्थान्तरे सङ्क्रमितमत्यन्तं वा तिरस्कृतम् ॥
इति द्वयं गुणीभूतव्यङ्ग्येऽङ्गाङ्गित्वमेष्यतः ।

२८० यत्रातिशायी व्यङ्ग्योऽर्थो वाच्यात्काव्यं ध्वनिर्भवेत् ॥

२८१ प्रधानभूतस्फोटाख्यव्यङ्ग्यस्य व्यञ्जकस्तु यः ।
शब्दस्तत्र ध्वनिरिति व्यवहारः कृतो बुधैः ॥

---

२७६ रस, भाव, तदाभास (अर्थात् रसाभास तथा भावाभास) और भाव-शान्ति आदि (अर्थात् भावोदय, भाव-शान्ति, भाव-सन्धि तथा भाव-शबलता) अलक्ष्य-क्रम होते है। जहाँ कि ये अलंकार्य होने से "रसवत्" आदि (अर्थात् रसवत् प्रेय, ऊर्जस्वित् तथा समाहित) अलंकारों से भिन्न रूप में स्थित हैं।

२७७ आभास (रसाभास तथा भावाभास), भाव-शान्ति आदि का यहाँ क्रम लक्षित नहीं होता है, यदि उनका व्यंग्य-क्रम लक्षित हो तो "सलंक्ष्यक्रम-व्यंग्य" होगा। भावोदय आदि प्राधान्य तथा अलंकार्य होने से स्थित है। जहाँ रसादि होंगे, वहाँ यह व्यंग्य ही होगा।

२७८ जहाँ वाक्यार्थ की प्रधानता से रसादि अंगभूत होते है, तो वह "गुणीभूत-व्यंग्य" काव्य-भेद कहलाता है। और मुख्य रस के विद्यमान होने पर भी भाव-शान्ति आदि प्रधानता (अंगित्व) को प्राप्त हो जाते हैं। (उस दशा में ये सब "रसवत् अलंकार" कहलाते हैं।)

२७९ अर्थान्तर-संक्रमित तथा अत्यन्त-तिरस्कृत—ये दोनों गुणीभूतव्यंग्य में अंगांगित्व को प्राप्त होते हैं।

**(उत्तम काव्य)**

२८० जहाँ वाच्य (अर्थ) की अपेक्षा व्यंग्य-अर्थ अधिक चमत्कार-युक्त होता है, वह "ध्वनि-काव्य" कहलाता है।

२८१ "बुध" अर्थात् वैयाकरणों ने प्रधानभूत "स्फोट" रूप व्यंग्य का जो व्यंजक-शब्द होता है, उस शब्द के लिए "ध्वनि"—इस शब्द का व्यवहार (प्रयोग)

यन्न्यग्भावितवाच्यस्य व्यङ्ग्यस्य व्यञ्जनक्षमम् ।
शब्दार्थयुगलं तच्च ध्वनिरित्यभिधीयते ॥
२८२ ध्वनिः स्यादुत्तमं काव्यं स प्रबन्धः सुदुर्लभः ।
२८३ वाच्यादनतिशायी च व्यङ्ग्योऽर्थो यत्र दृश्यते ।
तत्काव्यं तु गुणीभूतव्यङ्ग्यं तन्मध्यमं भवेत् ।
२८४ यत्र शब्दस्य वैचित्र्यं यत्रार्थस्य विचित्रता ॥
यत्र व्यङ्ग्यं न प्रतीतं तत्काव्यमधमं स्मृतम् ।
२८५ अनुस्वानाभसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्थितिस्तु यः ॥
शब्दार्थोभयशक्त्युत्थस्त्रिधा स कथितो बुधैः ।
यः शब्दशक्तिमूलानुरणनात्मा स च ध्वनिः ॥
तथार्थशक्तिमूलानुरणनात्मापि च ध्वनिः ।
शब्दार्थशक्तिमूलानुरणनात्मापि च ध्वनिः ॥

---

किया है। (इसी मत का अनुकरण कर, साहित्य शास्त्र में) वाच्यार्थ को गौण बना देने वाले, व्यंग्यार्थ की अभिव्यक्ति (व्यंजन) कराने में समर्थ शब्द तथा अर्थ—दोनों को "ध्वनि" कहा जाता है।

२८२ यह ध्वनि काव्य "उत्तम-काव्य" होता है। वह प्रबन्ध (उत्तम-काव्य) अत्यन्त दुर्लभ होता है।

**(मध्यम)**

२८३ जहाँ वाच्यार्थ से अधिक चमत्कारी व्यंग्यार्थ नही होता है, वह "गुणीभूत-व्यंग्य" काव्य कहलाता है और वह "मध्यम-काव्य" होता है।

**(अधम)**

२८४ जहाँ शब्द की विचित्रता और अर्थ की विचित्रता होती है तथा व्यंग्य (अर्थ) प्रतीत नही होता है, वह "अधम-काव्य" कहलाता है।

**(अलक्ष्यक्रम-ध्वनि के भेद)**

२८५ जो अनुस्वानाभ संलक्ष्यक्रम-व्यंग्य-ध्वनि भेद है वह विद्वानों द्वारा—१. शब्द-शक्त्युत्थ २. अर्थ-शक्त्युत्थ ३. उभय-शक्त्युत्थ होने से तीन प्रकार कहा गया है :

१. जो शब्द-शक्तिमूल अनुरणन-रूप होता है, वह "शब्द-शक्त्युत्थ-संलक्ष्यक्रम-व्यंग्य-ध्वनि" कहलाता है।

२. जो अर्थ-शक्तिमूल अनुरणन-रूप होता है, वह "अर्थशक्त्युत्थ-संलक्ष्यक्रम-व्यंग्य-ध्वनि" कहलाता है।

३. जो शब्द और अर्थ-शक्तिमूल अनुरणन-रूप होता है, वह "उभय-शक्त्युत्थ-संलक्ष्यक्रम-व्यंग्य-ध्वनि" कहलाता है।

२८६ अलङ्कारोऽथ वस्त्वेव शब्दाद्यत्रावभासते ।
२८७ परस्परस्य प्राधान्यात्प्रधानेतरकल्पना ॥
व्यङ्ग्ये रसालङ्कारादौ ध्वनिकाव्यं तदुत्तमम् ।
स चेल्लक्ष्यो भवेन्मध्यस्तस्मिन्वाच्ये तथाऽधमः ॥
२८८ अगूढमपरस्याङ्गं वाच्यसिद्धयङ्गमस्फुटम् ।
सन्दिग्धतुल्यप्राधान्ये काक्वाक्षिप्तमसुन्दरम् ॥
व्यङ्ग्यमेवं गुणीभूतव्यङ्ग्यस्याष्टौ भिदाः स्मृताः ।
उदाहरणमेतेषां काव्यबन्धेषु दृश्यते ॥
२८९ एवं ध्वनिकृदाचार्यैर्व्यङ्ग्यभेदाः समीरिताः ।
स्वरूपमुक्तं वाच्यादेस्तत्तद्भेदाश्च दर्शिताः ॥
२९० एतेभ्योऽन्यत्तु तात्पर्यं वाक्यार्थोऽस्तीति जानते ।
एतेभ्योऽन्यस्तु कथितस्तात्पर्यार्थोऽपि केषुचित् ॥
२९१ समन्वये पदार्थानां पदार्थोऽपि च तत्त्वतः ।
विशेषरूपो वाक्यार्थस्तात्पर्यमिति मन्वते ॥

---

**(शब्द-शक्त्युत्थ के भेद)**

२८६ जहाँ शब्द से वस्तु अथवा अलंकार प्रधान-रूप से प्रतीत होते हैं (वहाँ वस्तु तथा अलंकार के आश्रय से ध्वनि के अनेक भेद हो जाते हैं)।

२८७ (इस प्रकार) परस्पर की प्रधानता से प्रधान और गौण की कल्पना होती है। रस-अलंकारादि में व्यंग्य प्रधान होने पर 'ध्वनि-काव्य'—'उत्तम काव्य', लक्ष्य होने पर 'मध्यम' तथा वाच्य होने पर 'अधम-काव्य' कहलाते हैं।

**(गुणीभूत के भेद)**

२८८ १—अगूढ़ २—अपरस्यांग ३—वाच्य-सिद्धयंग ४—अस्फुट ५—सन्दिग्ध-प्राधान्य ६—तुल्य-प्राधान्य ७—काक्वाक्षिप्त तथा ८—असुन्दर। इस प्रकार गुणीभूत-व्यंग्य रूप मध्यम-काव्य के आठ भेद कहे गये हैं। इनके उदाहरण काव्य-प्रबन्धों में देखे जाते हैं।

२८९ इस प्रकार ध्वनिकार-आचार्यों ने व्यंग्य-भेद कहे है। वाच्यादि के स्वरूप को कह दिया और उस-उस के भेदों को कह दिया गया।

२९० इनसे भिन्न दूसरा तात्पर्य वाला वाक्यार्थ होता है ऐसा जाना जाता है, तथा इनसे भिन्न किन्हीं के मत में अन्य 'तात्पर्यार्थ' होता है।

२९१ किन्हीं (भट्टमीमांसक) के मत में पहले पदों से पदार्थो की प्रतीति होती है, पुनः पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध होने पर पदार्थ भी तत्त्वतः विशेष प्रकार का तात्पर्यार्थ—रूप वाक्यार्थ प्रतीत होता है; ऐसा माना जाता है।

२९२ पदार्था ये पदानां स्युरन्वितानां परस्परम् ।
त एव वाक्यार्थात्मानो नान्योऽर्थोऽस्तीति केचन ॥
२९३ सर्वस्यैव च शब्दस्य स्वार्थवृत्तिविभागतः ।
तात्पर्यार्थो भवेच्छ्रोतुः विवेक्तुः प्रीतिकारकः ॥
२९४ श्रोतृत्वं तदिति प्राहुः शब्दतात्पर्यवेदिनः ।
शब्दशक्तिमहिम्ना यद्व्यङ्ग्याद्यर्थविवेचनम् ॥
तदेव च विवेक्तृत्वमाहुरर्थविवेचकाः ।
२९५ व्यङ्ग्यतात्पर्यतद्भेदशब्दशक्तिनिरूपणम् ॥
कवेर्विवक्षितार्थो यः तत्तात्पर्यमुदाहृतम् ।
२९६ तात्पर्यस्य स्वरूपं यत्तद्विशेषश्च तद्भिदा ॥
यथाऽवगतमस्माभिः परस्तात्कथयिष्यते ।
२९७ इत्थं कल्पलतायां तु वाच्याद्यर्थचतुष्टयम् ॥
निर्णीतं वाचकादेश्च शब्दस्यापि चतुष्टयम् ।
तच्च काव्यप्रकाशेन मयाऽप्यत्र प्रदर्शितम् ॥
२९८ दोषा गुणाश्चालङ्काराः शब्दार्थोभयरूपतः ।
क्वचिद्रसाश्च तद्योग्या योग्यताऽत्र विचार्यते ॥

---

२९२ किन्हीं (प्रभाकर) के मत में अन्वित-पदों का जो परस्परान्वित पदार्थ होता है । वह ही अपना वाक्यार्थ होता है, अन्य कोई अर्थ नहीं होता है ।

२९३ सभी शब्द का अपनी अर्थवृत्ति के विभाग से श्रोता का, विवेचक का प्रीतिकारक तात्पर्यार्थ होता है ।

२९४ शब्द-तात्पर्यविदों ने 'श्रोतृत्व' उसको कहा है—जो शब्द-शक्ति की महिमा से व्यंग्यार्थ का विवेचन करता है और वही अर्थविवेचकों द्वारा 'विवेक्तृत्व' कहा जाता है ।

२९५ व्यंग्य, तात्पर्य, उसके भेद तथा शब्द-शक्ति का निरूपण हो गया । कवि का जो विवक्षित अर्थ होता है वह 'तात्पर्य' कहलाता है ।

२९६ तात्पर्य का स्वरूप, उसकी विशेषता और उसके भेद यथा-ज्ञान हमारे द्वारा आगे कहे जायेंगे ।

२९७ इस प्रकार कल्पलता मे वाच्यार्थ आदि (वाच्य, लक्ष्य, व्यंग्य तथा तात्पर्यार्थ) चतुष्टय का तथा वाचक आदि (वाचक, लाक्षणिक, व्यंजक, तात्पर्यक) शब्द के चतुष्टय का निर्णय किया गया है । और वह (निर्णय) काव्य-प्रकाश तथा मेरे (शारदातनय) द्वारा यहाँ कहा गया है ।[४४]

२९८ अब शब्दगत और अर्थगत दोष, गुण, अलंकार तथा कहीं रस और उनकी योग्यता व अयोग्यता का विचार करते है ।

२९९ आक्षेपतः समाधानादर्थेष्वतिशयो भवेत् ।
आक्षेपश्च च समाधानमतोऽर्थस्याभिधीयते ॥
३०० स्वतः शुद्धस्य वर्णस्य को दोषः को गुणो भवेत् ।
रसादेराश्रयत्वं तदमूर्तस्य कथं भवेत् ॥
विभुत्वात्तस्य वर्णस्य क्वाचित्कत्वं कथं भवेत् ।
अलङ्कारोऽपि नैव स्यादलङ्कार्याविनिश्चयात् ॥
दोषादेराश्रयो वर्णः पदं वाऽथ किमुच्यते ।
वाक्यं वा किमलङ्कारो नैव वर्णस्य युज्यते ॥
पदे चेत्तत्पदं कीदृक्तत्स्वरूपं निरूप्यताम् ।
वर्णः पदं किं वर्णौ वा वर्णा वा पदमुच्यते ॥
अव्याप्तेरप्यतिव्याप्तेः पदं दुष्यति लक्षणे ।
सुप्तिङन्तं पदमिति यदि स्यात्पदलक्षणम् ॥
सुबन्तं पदमस्तीस्ति तिङन्तमपि चापरम् ।
समुच्चयेन न पदं सुप्तिङन्तात्मकं भवेत् ॥
लक्षणं व्यभिचारि स्यादतिव्याप्त्यादिदोषतः ।
पदे वाक्ये च वाक्यार्थे दोषः कीदृक्स्वरूपवान् ॥

---

२९९ आक्षेप से तथा समाधान से अर्थों मे अधिक चमत्कार उत्पन्न हो जाता है। अतः अर्थ के आक्षेप और समाधान को कहते है।

३०० स्वतः शुद्धवर्ण का क्या दोष होता है, क्या गुण होता है? रसादि से उस अमूर्त (वर्ण) की आश्रयता कैसे सिद्ध होती है? उस वर्ण के विभु होने से क्वचित्कत्व कैसे सिद्ध होता है? अलंकार्य का निश्चय न होने से अलंकार भी नही होता है। दोषादि का आश्रय क्या वर्ण या पद कहा जाता है? अथवा वाक्य या अलंकार कहा जाता है? दोषादि का आश्रय वर्ण मानना उचित नहीं है। यदि पद में (आश्रय) होता है, तो वह पद किस प्रकार का होता है उस (पद) के स्वरूप का निरूपण करो। क्या वर्ण पद होता है? या दो वर्ण या अधिक वर्ण पद कहे जाते हैं? यह (पद का) लक्षण करने पर अव्याप्ति या अतिव्याप्ति दोष से ग्रसित हो जाता है। यदि पद का लक्षण "सुप्तिङ्न्तं पदम्" अर्थात् सुवन्त और तिङ्न्त की पद-संज्ञा होती है"—होता है तो एक सुवन्त पद होगा और दूसरा तिङ्न्त। लेकिन दोनों के समुच्चय से 'सुप्ति-ङ्न्तात्मक' पद नहीं होगा। इसलिए यह लक्षण अतिव्याप्ति आदि दोष से ग्रसित हो जाता है। पद में, वाक्य में और वाक्यार्थ में दोष किस प्रकार के स्वरूप वाला होता है। स्थान में और पदादि में वह गुण किस प्रकार के स्वरूप वाला होता है। यदि उस (वाक्य) के दोषादि होते हैं, तो वाक्य का

स्थाने पदादौ स गुणः कीदृगात्मा च वर्तते ।
वाक्यस्य लक्षणं कीदृक्तस्य दोषादयो यदि ॥
समूहो यः पदानान्तु तद्वाक्यमिति लक्षणम् ।
वाक्यं द्वाभ्यां त्रिचतुरैः पञ्च षट्सप्तभिश्च वा ॥
अष्टभिर्वा भवेत्तस्माल्लक्षणं व्यभिचारि तत् ।
एकप्रयोजनाभावादन्यथा वाक्यलक्षणम् ॥
३०१ दोषो गुणो वाऽलङ्कारो रसो वाऽथ कदाचन ।
पदे वाक्ये च वाक्यार्थे नहि शब्दात्मको भवेत् ॥
आश्रयाश्रयिसम्बन्धो न भवेच्छब्दयोः क्वचित् ।
३०२ अथ तद्व्यतिरेकश्चेद्दोषादिरिह कथ्यते ॥
भिन्नाधिकरणत्वेन सम्बन्धो न घटिष्यते ।
अतो दोषादयः शब्दे व्यर्थाः स्युः कल्पिता अपि ॥
इति ब्रुवन्तमुद्दिश्य तत्सम्बन्धोऽभिधीयते ।
३०३ वक्तृसम्बन्धवशतः शब्दे दोषादिकल्पना ॥
दोषादिर्वक्तृधर्मः स्याद्वक्त्रधीनतयाऽस्य हि ।
स्वार्थे स्ववृत्त्ययोग्यत्वं येन शब्दस्य दृश्यते ॥
स दोषः कथ्यते वक्तृप्रयोगाधीन एव सः ।

---

लक्षण किस प्रकार का होता है ? पदों का जो समूह है वह "वाक्य" कहलाता हैं—यदि वाक्य का यह लक्षण होता है तो प्रश्न यह उठता है कि वह वाक्य दो, तीन, चार, पाँच, छः, सात या आठ पदों के समूह वाला होता है—इस प्रकार का कोई निर्णय लक्षण में न होने से वह लक्षण दोष-ग्रस्त हो जाता है तथा वाक्य का एक प्रयोजन न होने से भी वाक्य का लक्षण अन्यथा हो जाता है।

३०१ कदाचन पद मे, वाक्य में और वाक्यार्थ में दोष, गुण, अलंकार या रस होता है, तो वह शब्दात्मक नहीं होता। (क्योंकि) आश्रयाश्रयि सम्बन्ध कही दो शब्दों में नहीं होता।

३०२ इस प्रकार यहाँ उस (शब्द) के व्यतिरेक तथा दोषादि को कहते हैं। भिन्न अधिकरण से (शब्द तथा वक्ता का) सम्बन्ध घटित नहीं होगा (अतः शब्द में दोषादि व्यर्थ और कल्पित हो जायेंगे।—ऐसा सोचकर उस (शब्द और वक्ता) के सम्बन्ध को कहते है।

३०३ शब्द में वक्ता के सम्बन्ध से दोषादि की कल्पना होती है। वक्तृ-अधीनता से इस शब्द के दोषादि वक्ता के धर्म होते हैं। अपने अर्थ में जिससे शब्द की स्ववृत्ति की अयोग्यता देखी जाती है। वह दोष कहा जाता है और वह वक्तृ प्रयोगाधीन ही होता है।

३०४ स्वार्थे स्ववृत्तियोग्यत्वद्वारा शब्दस्य यद्भवेत् ॥
प्रत्यायकत्वसामर्थ्यसौलभ्यं स गुणो भवेत् ।
वाच्याद्यतिशयो येन दृश्यते शब्दहेतुकः ॥
स एवार्थगुणो ज्ञेयः तत्तदर्थेषु दृश्यते ।
३०५ येऽर्था इवादिशब्दानान्तेऽलङ्कारा इति स्मृताः ॥
प्रयुञ्जते तान्कवयः शब्दार्थोभयरूपतः ॥
३०६ कविप्रयोगचातुर्यात्स नीरक्षीरवद्रसः ॥
शब्दार्थेपूपयुज्येत प्रायो व्यङ्ग्यः स सर्वदा ।
वर्णे गुणो न दोषो वा तौ स्यातां पदवाक्ययोः ॥
रसादयोऽपि वाक्यादिप्रबन्धेषूपयोगिनः ।
कविसन्दर्भवशतो दृश्यन्ते यत्रतस्ततः ॥
तस्मादमी वक्तृधर्मा नैते स्युः शब्दगोचराः ।
वक्तुर्विवक्षाधीनं यच्छब्दे दोषाधिरोपणम् ॥
तस्माद्दोषादयो वक्तृपराधीना न शब्दगाः ।
३०७ तस्मादलङ्कृतिगुणरसवत्काव्यनिर्मितिः ॥
ध्वनिरूपैव कर्तव्या निर्दोषा कीर्तिसम्पदे ।

---

३०४ अपने अर्थ में स्ववृत्ति की योग्यता से शब्द की जो प्रत्यायकता, समर्थता तथा सुलभता देखी जाती है वह "गुण" कही जाती है। जिससे शब्द-हेतुक वाच्यादि का अतिशय (चमत्कार) देखा जाता है, वही "अर्थ-गुण" जानना चाहिए। उन-उन अर्थों में (वह गुण) देखा जाता है।

३०५ इवादि शब्दों के जो अर्थ हैं, वे "अलंकार" कहे जाते है। कविजन उनको शब्दगत और अर्थगत प्रयुक्त करते हैं।

३०६ कवि की प्रयोग-चातुरी से वह (अलंकार) नीर-क्षीर के समान "रस" कहलाता है। वह व्यंग्य प्रायः शब्दों और अर्थो में उपयुक्त होता है। गुण या दोष सर्वदा वर्ण में नही होते, वे दोनों पद और वाक्य में होते है। रस आदि भी वाक्यादि प्रबन्धों में उपयोगी होते हैं। कवि के सन्दर्भ से वे यत्र-तत्र देखे जाते हैं। इसलिए ये (दोषादि) वक्ता के धर्म होते हैं न कि शब्द-गोचर। शब्द में वक्ता की विवक्षा के अधीन जो दोषादि का आरोपण होता है, वह दोषादि वक्ता के ही आधीन है न कि शब्दगत।

३०७ इसलिए यश की प्राप्ति के लिए निर्दोष, अलंकार, गुण तथा रसयुक्त ध्वनि-रूप ही काव्य की रचना करनी चाहिए।

३०८ ध्वनिर्निरूप्यतेऽत्रैव व्यञ्जकत्वेन चोदितः ।।
क्रमेणोच्चार्यमाणेषु वर्णेष्वर्थस्य वाचकः ।
आदिमः किं द्वितीयः किं तृतीयः किं तथाऽन्तिमः ।।
प्रत्यायकत्वशक्तिस्तु कस्मिन्नेतेषु दृश्यते ।
क्रमेण श्रूयमाणत्वाद्वर्णानां नश्वरत्वतः ।।
समुच्चयेन वर्णानां वाचकत्वं न युज्यते ।
सापेक्षत्वादादिमस्य स्वार्थे वृत्तिर्न जायते ।।
मध्यमानामपि स्वार्थप्रतीतौ स्यादनिश्चयः ।
अन्तिमश्चेदथैकस्य सम्बन्धोऽनर्थको भवेत् ।।
अर्थासंस्पर्शितैवास्माद्धेतोः शब्दस्य निश्चिता ।
३०९ मैवं मन्यस्व शब्दस्य स्वार्थस्पर्शित्वमुच्यते ।।
अर्थप्रतीतिः श्रोतॄणां शब्दोच्चारादनन्तरम् ।
जायते तस्य हेतुर्यः सोऽर्थापत्तिप्रमाणकः ।।
स वर्णव्यतिरेकात्मा कोऽपि स्यात्सोऽपि च ध्वनिः ।
ध्वनिः सामान्यरुपस्स्याद्वर्णास्तद्व्यक्तयः स्मृताः ।।
स वर्णव्यञ्जनद्वारा तमर्थं व्यञ्जयेत्स्फुटम् ।
स ध्वनिः स्फोट इत्यत्र शाब्दिकैः परिभाष्यते ।।

---

३०८ यहाँ ध्वनि का निरूपण करते हैं, (वह) व्यंजक-रूप में कह दी गयी है। क्रम से उच्चार्यमाण वर्णों में अर्थ का वाचक क्या प्रथम वर्ण होता है ? या द्वितीय, या तृतीय या फिर अन्तिम। इनमें से किसमे प्रत्यायकत्व शक्ति देखी जाती है। क्रम से श्रूयमाण होने से वर्णो की नश्वरता सिद्ध होती है। समुच्चय से वर्णो की वाचकता उचित नही होती है। सापेक्षता होने से प्रथम वर्ण की अपने अर्थ में वृत्ति उत्पन्न नहीं होती है। मध्यम वर्णो का अपने अर्थ की प्रतीति में अनिश्चय होता है। अन्तिम एक वर्ण का सम्बन्ध अनर्थक होताहै। इसलिए शब्द की अर्थ से असंस्पर्शिता ही निश्चित होती है।

३०९ ऐसा मत सोचो, शब्द की अपने अर्थ से स्पर्शिता कही जाती है। शब्दोच्चारण के बाद श्रोताओं में अर्थ की प्रतीति उत्पन्न होती है। उसका जो हेतु है, वह "अर्थापत्ति" प्रमाण है। वह वर्ण व्यतिरेक-रूप है; कोई भी है, वही ध्वनि है। ध्वनि सामान्य-रूप है, उसकी अभिव्यक्ति वर्ण से कही जाती है। वह वर्ण व्यंजना (शक्ति) द्वारा उस अर्थ को व्यक्त करता है। अतः वैयाकरण परिभाषा करते हैं कि वह स्फोट "ध्वनि" है अर्थात् प्रधान-भूत "स्फोट" का अभिव्यंजक शब्द "ध्वनि" कहलाता है।

३१० इत्थं शब्दार्थसम्बन्धो ध्वनिकृद्भिर्निरूपितः ।
तदुक्तेन प्रकारेण संक्षेपादत्र दर्शितः ॥

इति श्रीशारदातनयविरचिते भावप्रकाशने
शब्दार्थसम्बन्धतद्भेदप्रकारनिर्णयो
नाम षष्ठोऽधिकारः समाप्तः ।

---

३१० इस प्रकार ध्वनिकारों द्वारा निरूपित शब्द और अर्थ का सम्बन्ध उक्त प्रकार से संक्षेप में यहाँ कह दिया ।

श्री शारदातनय-विरचित भावप्रकाशन में शब्दार्थसम्बन्धतद्भदप्रकार-
निर्णय नामक षष्ठ अधिकार समाप्त हुआ ।

श्रीः

## अथ सप्तमोऽधिकारः

---

१ उक्ता रसा रसव्यक्तिर्नाट्येनैवेत्युदीरिता ।
अवस्थानुकृतिर्नाट्यमिति सामान्यलक्षणम् ।।
रामादितादात्म्यापत्तिर्नटे या नाट्यमुच्यते ।
रूपकं तद्भवेद्रूपं दृश्यत्वात्प्रेक्षकैरिदम् ।।

२ रूपकत्वं तदारोपात्कमलारोपवन्मुखे ।
दशधैवेति मुनिना तद्भेदनियमः कृतः ।।
रसाश्रयत्वमप्युक्तं रसादेराश्रयत्वतः ।
तदेवं दशधा भिन्नं वाक्यार्थाभिनयात्मकम् ।।

३ रसाश्रया यद्यपि स्युर्नाटिकातोटकादयः ।
नाटकादिष्वथैतेषामन्तर्भावान्न ते पृथक् ।।

---

१ रस कह दिये, रसाभिव्यक्ति नाट्य से ही कही गई है ।
अवस्था के अनुकरण को 'नाट्य' कहते हैं[1]—यह नाट्य का सामान्य लक्षण है । नट में रामादि पात्रों की जो 'तादात्म्यापत्ति' होती है, उसे 'नाट्य' कहा जाता है ।[2]
यह (नाट्य) प्रेक्षकों द्वारा दृश्य होने से 'रूप' कहलाता है । वही (नाट्य-रूप) 'रूपक' कहलाता है ।[3]

२ मुख पर कमल के आरोप के समान आरोप होने के कारण नाट्य को 'रूपक' कहते है। जैसे—रूपक अलंकार में मुख पर कमल का आरोप कर दिया जाता है, वैसे ही नाट्य में नट पर रामादि पात्रों का आरोप कर दिया जाता है, अतः नाट्य को 'रूपक' कहते है ।[4]
उस (नाट्य) के मुनि (आचार्य भरत) ने दस प्रकार के भेद-नियम कहे हैं । रसाश्रयता भी कह दी है, रसादि की आश्रयता से वाक्यार्थ-अभिनय-रूप वह (नाट्य) दस प्रकार का कहा गया है ।

३ यद्यपि नाटिका, तोटक आदि रसों के आश्रित होते है लेकिन इनका नाटकादि में अन्तर्भाव हो जाता है, अतः वे नाटकादि से पृथक् नहीं होते हैं ।

४ नाटके च प्रकरणे नाटिकायाः पुरातनैः ।
अन्तर्भावः कृतस्तस्यां तोटकस्यापि दर्शितः ॥
५ नाटिकाया नाटकस्याभेदः प्रकरणस्य वा ।
सट्टकस्तोटकस्यैव भेद इत्यभिधीयते ॥
तोटकस्योच्यते सद्भिरन्तर्भावोऽपि नाटके ।
नाटकादेरयं भेदो नाटिका रूपकं भवेत् ॥
नाटिकाप्रतिमत्वाच्च सट्टकोपि तथाविधः ।
६ नाटके तोटकस्यान्तर्भावाद्रूपकमेव सः ॥
दिव्यमानुषसंयोगस्तोटकं नाटकानुगम् ।
नवाष्टसप्तपञ्चाङ्कं दिव्यमानुषसङ्गमम् ॥
तोटकं नाम तत्प्राहुर्भेदो नाटकसम्भवः ।
७ नृत्यभेदा भवेयुस्ते डोम्बीश्रीगदितादयः ॥
८ यद्यद्रसात्मकं तत्तद्वाक्यार्थाभिनयात्मकम् ।
यद्यद्भावाश्रयं तत्तत्पदार्थाभिनयात्मकम् ॥
९ नृत्यं भावाश्रयं नृत्तं रसाश्रयमुदाहृतम् ।
नृत्यनृत्तविभागश्च बहुभिर्बहुधोदितः ॥

---

४ प्राचीन विद्वानों ने नाटक और प्रकरण में नाटिका का अन्तर्भाव किया है, उस (नाटिका) में तोटक का भी अन्तर्भाव दिखाया है।

५ नाटिका नाटक का या प्रकरण का अभिन्न-रूप है। सट्टक तोटक का ही भेद कहा जाता है। विद्वानों द्वारा तोटक का अन्तर्भाव भी नाटक में कहा जाता है। नाटक आदि का यह नाटिका-भेद 'रूपक' कहलाता है। नाटिका का प्रतिरूप होने से 'सट्टक' भी उसी प्रकार का होता है अर्थात् 'रूपक' कहलाता है।

६ नाटक में तोटक का अन्तर्भाव होने से वह (तोटक) 'रूपक' ही है। नाटक का अनुकरण करने वाला यह 'तोटक' दिव्य और मनुष्य (पात्रों) के संयोग वाला होता है। 'तोटक' वह कहलाता है जिसमें नौ, आठ, सात या पाँच अंक होते हैं तथा दिव्य और मनुष्य पात्रों का संयोग होता है। वह (तोटक) नाटक से उत्पन्न भेद ही कहलाता है।

(नृत्य तथा नृत्त)

७ वे डोम्बी, श्रीगदित आदि नृत्य के भेद होते हैं।

८ जो-जो रसात्मक होता है, वह-वह वाक्यार्थ-अभिनयात्मक होता है। जो-जो भाव के आश्रित होता है, वह-वह पदार्थ-अभिनयात्मक होता है।

९ नृत्य भाव के आश्रित होता है और नृत्त रस के आश्रित कहा जाता है। नृत्य तथा नृत्त का भेद बहुत लोगों ने बहुत प्रकार से कहा है। वे (नृत्य तथा

तद्द्वयं नाटकादीनां भूयसा ह्युपकारकम् ।
नृत्यनृत्तविभागस्तु परस्तात्कथयिष्यते ॥
पूर्वरङ्गे नाटकादावुपयोगोऽत्र दृश्यते ।
नाटकाद्युपयोगोऽत्र गायकानां प्रदर्श्यते ॥
नृत्तं गीतञ्च वाद्यञ्च नाटकाद्युपकारकम् ।
गेयं प्राणाः प्रयोगस्य सर्वं वा गेयमुच्यते ॥
गेयसाध्यं हि धर्मार्थकाममोक्षचतुष्टयम् ।
तस्माद्गेयसमुत्पत्तिः संक्षेपेणात्र कथ्यते ॥
इह तत्त्वानि षट्त्रिंशच्छिवः शक्तिः सदाशिवः ।
ईश्वरः शुद्धविद्येति शुद्धान्येतानि पञ्च च ॥
माया कालोऽथ नियतिः कला विद्या ततः परम् ।
रागः पुरुष एतानि शुद्धाशुद्धानि सप्त वै ॥
ततः प्रकृतिरेतस्याः प्रकृतेस्तु गुणत्रयम् ।
गुणत्रयेऽपि भिद्यन्ते रुपनामक्रियाः सदा ॥
ईदृग्विलक्षणां शक्तिं यदा सङ्क्रमते पुमान् ।
प्राज्ञतैजसविश्वत्वभेदत्रयमथान्वगात् ॥

---

नृत्त) दोनों नाटक आदि के बहुत उपकारी होते हैं। नृत्य तथा नृत्त के भेद आगे कहेंगे। यहाँ पूर्वरंग में, नाटक के आदि में इनका (नृत्य तथा नृत्त का) उपयोग देखा जाता है। यहाँ नाटक आदि में गायकों का उपयोग देखा जाता है। नृत्त, गीत और वाद्य—ये नाटकादि के उपकारक है। 'गेय' प्रयोग का प्राण हैं या सब कुछ 'गेय' कहा जाता है। 'गेय' का धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष—यह पुरुषार्थ चटुष्टय साध्य है। इसलिए यहाँ संक्षेप में गेय की उत्पत्ति कहते हैं।

(प्रत्यभिज्ञा-दर्शन के अनुसार) छत्तीस तत्त्व[6] होते है। ये छत्तीस शिव-तत्त्व कहलाते हैं—(१) शिव-तत्त्व[7] (२) शक्ति-तत्त्व[8] (३) सदाशिव[9] (४) ईश्वर[10] (५) शुद्ध-विद्या[11]—ये पाँच शुद्ध तत्त्व है। (६) माया[12] (७) काल[13] (८) नियति[14] (९) कला (१०) विद्या (११) राग (१२) पुरुष[15]—ये सात शुद्धाशुद्ध तत्त्व हैं। तदनन्तर (१३) प्रकृति (१४-१६) इस प्रकृति के तीन गुण—सत्त्व, रज तथा तम (१७-२५) पुनः रूप, नाम तथा क्रिया-भेद से त्रिगुण (सत्त्व, रज तथा तम) विभक्त होते हैं। (२६-२८) जब पुरुष इस प्रकार की विलक्षण शक्ति को संक्रमित करता है तो प्राज्ञ, तैजस तथा विश्व—इन तीन भेद-रूपों को प्राप्त होता है। इन दोनों (तैजस तथा विश्व) का प्रधान तथा अन्य वस्तुओं में व्याप्त एक 'प्राज्ञ' ही है। शेष इसमें असम्पूर्ण है—इस प्रकार की इनकी प्रवृत्ति है। तैजस सात प्रकार का होता है—बुद्धि,

प्रधानमनयोर्व्याप्तं प्राज्ञ एकोऽन्यवस्तुनि ।
शिष्टस्त्वस्मिस्त्वसंपूर्ण इत्थमेषां प्रवर्तनम् ॥
तैजसः सप्तधा भिन्नो बुद्धिगर्वखवायुभिः ।
वह्न्यम्भःक्षितिभिश्चैते कार्यकारणमूर्तयः ॥
एतेषां समवायात्तु विश्व आसीच्च तन्मयः ।
सोऽपि त्रैविध्यमन्विच्छन्विराट्पुरुष ईश्वरः ॥
बीजत्रयेण भिन्नः स्यात्सोमसूर्याग्निरूपिणा ।
स रुद्रोपेन्द्रपद्मोत्थगुणत्रयविभेदिना ॥
विश्वाख्ये पार्थिवे चाण्डे प्राणिनो भूतमूर्तयः ।
चतुष्प्रकारसम्भिन्ना नश्वरास्तु प्रजज्ञिरे ॥
जीवत्वमेषामपरं प्रतिभेदमियात्प्रभुः ।
कालप्रेरितयोर्वायुर्दम्पत्योः सङ्गमान्मिथः ॥
पौरुषीं प्राकृतीं शक्तिं शुक्लशोणितरूपिणीम् ।
वायुद्वयेन सहितं गर्भाशयमुपानयेत् ॥
अनादयश्च क्षेत्रज्ञा बहवः कर्मभाविताः ।
सन्ति कालार्थिनः शेषाः कश्चित्कालेन चोदितः ॥
गर्भाशयं स्वयं पित्रोर्मलाभ्यां सह संविशेत् ।
तत्र नित्यो भवेद्वायुः प्राणापानात्मकः स्वयम् ॥

---

अहंकार, आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी—ये कार्य तथा कारण रूप हैं। इन सभी के समवाय से 'विश्व' तन्मय था। वह (विश्व) भी तीन प्रकार का हुआ—विराट, पुरुष तथा ईश्वर। पुनः वह सोम, सूर्य तथा अग्नि-रूप बीजत्रय से विभक्त हुआ। उसने रुद्र, उपेन्द्र तथा पद्मोत्थ गुण-त्रय-भेद से विश्व नामक पार्थिव ब्रह्माण्ड में चार प्रकार के शरीरों (जरायुज, अण्डज, उद्भिज और स्वेदज) से युक्त नश्वर पंचभौतिक शरीरधारी प्राणियों को उत्पन्न किया। प्रभु ने इनमें जीवन एक-दूसरे से भिन्न किया है। काल से प्रेरित वायु-दम्पति (स्त्री-पुरुष) के परस्पर सम्बन्ध से शुक्ल (शुक्र) और शोणित-रूप—पौरुषी और प्राकृती शक्ति को दो वायु (प्राण) के साथ गर्भाशय में ले जाया जाता है। क्षेत्रज्ञ (जीव) अनादि हैं, उनमें से बहुत से कर्मों से भावित होते हैं और शेष काल के आधीन होते हैं। कोई काल से प्रेरित होकर स्वयं माता-पिता के मल के साथ गर्भाशय में प्रविष्ट हो जाता है। उनमें प्राण और अपान-रूप वायु नित्य होता है। इस कारणार्थ से युक्त गुण-भूत

गुणभूतात्मके बीजे कारणार्थसमन्विते ।
सर्वव्याप्ता पराशक्तिरस्मिन् क्षेत्रज्ञतामियात् ।।

११ द्वाभ्यां त्रयाणां व्यक्तिः स्यात्त्रिभ्यो भवति पञ्चकम् ।
पञ्चभ्यः पञ्चकानान्तु चतुष्कं प्रतिपद्यते ।।
शुक्लार्तवौ द्वयं तत्र त्रितयन्तु गुणत्रयम् ।
भूतानि श्रवणादीनि शब्दवागादिपञ्चकम् ।।
भाषणादीनि वाक्यादिचतुष्टयमुदाहृतम् ।
तत्संशयप्रमातृत्वनिश्चयानुभवार्थकृत् ।।
ईदृग्विलक्षणो जन्तुः जरायुग्रस्तदेहवान् ।
कालपाकेन पूर्णाङ्गो जायतेऽयमवाङ्मुखः ।।

१२ षण्णवत्यङ्गुलायामं सर्वेषाञ्च शरीरिणाम् ।
शरीरं तस्य मध्यः स्यादाधारः कन्दसंज्ञितः ।।
वलयत्रितयाकारः सोमसूर्याग्निमण्डलैः ।
वह्नेः शिखा तस्य मध्ये नीपान्तःकेसराकृतिः ।।
परा प्रकृतिरेषा स्यादम्बिकेत्यपरे विदुः ।

---

बीज में सर्वव्याप्त रहने वाली (सर्वव्यापिका) पराशक्ति 'क्षेत्रज्ञता' को प्राप्त होती है।

(पिण्डोत्पत्ति)

११ दो से तीन की अभिव्यक्ति होती है, तीन से पचक होता है। पाँच से पंचकों का चतुष्क प्रतिपादित होता है। वहाँ शुक्ल तथा आर्तव (वीर्य और रज) से दो, तीन गुणों से तीन, पंच महाभूत, श्रवणादि—पंच ज्ञानेन्द्रिय, शब्दादि पंचतन्मात्रा, वागादि—पंच कर्मेन्द्रिय से पंचक; भाषणादि, वाक्यादि चतुष्टय, कहा जाता है। उनके संशय, प्रमातृत्व, निश्चय तथा अनुभव अर्थ वाला इस प्रकार का विलक्षण प्राणी जरायु से ग्रसित शरीर वाला, काल की परिपक्वता से पूर्ण अंग वाला नीचे मुख किये जन्म लेता है।

(जरायुज-शरीर-वर्णन)

१२ सभी शरीरधारियों का शरीर ९६ अंगुल-परिमाण वाला होता है, उसका मध्य-भाग (कटि-भाग) आधार होता है, जो 'कन्द' कहलाता है। चन्द्र, सूर्य तथा अग्नि मण्डलों से त्रिवलि आकार होता है। उसके मध्य में अग्नि की शिखा होती है, जो कि कदम्ब-पुष्प के अन्तर्गत पराग जैसी होती है। यह परा-प्रकृति होती है, दूसरे लोग इसे 'अम्बिका' कहते है।

१३ बहिस्तिर्यक्चरन्वायुः शरीरान्तः शिवाज्ञया ॥
प्राणादिभेदात्पञ्चात्मा शरीरं व्याप्य तिष्ठति ।
१४ येनप्राणिति सर्वश्च स प्राणो मूर्धनि स्थितः ॥
उरःकण्ठचरो बुद्धिहृदयेन्द्रियचित्तधृक् ।
ष्ठीवनक्षवथूद्गारनिश्वासान्तःप्रवेशकृत् ॥
१५ उरः स्थानमुदानस्य नासानाभिगलांश्चरेत् ।
वाक्प्रवृत्तिप्रयत्नोर्जाबलवर्णस्मृतिप्रदः ॥
१६ व्यानो बहिः स्थितः कृत्स्नदेहचारी महाजवः ।
गत्यवक्षेपणोत्क्षेपनिमेषोन्मेषणादिकृत् ॥
प्रायः सर्वाः क्रियास्तस्मिन्प्रतिबद्धाः शरीरिणाम् ।
१७ समानोऽग्निसमीपस्थः कोष्ठे चरति सर्वदा ॥
अन्नं गृह्णाति पचति विवेचयति मुञ्चति ।

---

(पंच-वायु)

१३ शिव की आज्ञा से शरीर के अन्दर रहने वाली वायु बाहर तिरछी संचरण करती हुई प्राणादि के भेद से पंच-रूपा होकर शरीर में व्याप्त होकर रहती है ।

(प्राण-वायु)

१४ जिसके (नाम से) सभी 'प्राणी' कहलाते हैं, वह 'प्राण' वायु सिर में रहती है । यह छाती और कण्ठ में संचरण करती है । बुद्धि, हृदय, इन्द्रिय तथा चित्त (मन) को धारण करती है । थूकना, छींकना (खांसना), उद्गार, (डकार लेना), निश्वास तथा (श्वास का) अन्दर प्रवेश करना[१६] (अन्दर ले जाना) आदि इसके कर्म होते है ।

(उदान-वायु)

१५ उदान-वायु का स्थान उर (छाती) है । यह नासिका, नाभि तथा कण्ठ में संचरण करती है । वाक्-प्रवृत्ति, प्रयत्न, ऊर्जा, बल, वर्ण तथा स्मृति को प्रदान करती है ।

(व्यान-वायु)

१६ व्यान-वायु बाहर स्थित[१७] रहती है, समस्त शरीर में संचरण करती है, अतिवेग वाली होती है । गति (चलना), अदक्षेपण (अंग को नीचे ले जाना), उत्क्षेप (अंग को ऊपर ले जाना), निमेष (आँख को बन्द करना) तथा उन्मेषण (आँख को खोलना) आदि—इसके कर्म होते हैं । प्रायः शरीरधारियों की सभी क्रियाएँ इसी के अधीन होकर होती हैं ।

(समान-वायु)

१७ समान-वायु पाचक अग्नि के समीप रहने वाली है, तथा यह सर्वदा कोष्ठ में संचरण करती है । यह अन्न को ग्रहण करती है, पचाती है, विरेचन—सार और किट्ट में भेद करती है, (किट्ट भाग को मल-मूत्र के रूप में) नीचे प्रवृत्त करती है ।

१८ अपानोऽपानगःश्रोणिबस्तिमेढ्रोरुगोचरः ॥
शुक्लार्तवशकृन्मूत्रगर्भनिष्क्रामणक्रियः ।
१९ दश जीवनधामानि शिरोरसनबन्धनम् ॥
कण्ठोष्ठहृदयं नाभिः बस्तिः शुक्लो गुदौजसी ।
२० दश स्थूलशिरा हृत्स्थास्ताः सर्वाः सर्वतो वपुः ॥
रसात्मकं वहन्त्योजस्तन्निबद्धं हि चेष्टितम् ।
भिद्यन्ते तास्ततः सप्त शतान्यासां भवन्ति तु ॥
सिराजालधरा नाम तिस्रश्चाभ्यन्तराश्रयाः ।
इडा च पिङ्गला चेति सुषुम्ना चेति नामतः ॥
सुषुम्ना मध्यमा नाडी शिखां वह्नेः समाश्रिता ।
शिखा प्राणेन संसृष्टा नादाख्यां लभते स्फुटम् ॥
सुषुम्नावर्त्मनैवोर्ध्वं याति व्योमाम्बुजावधि ।
योगिनां नादरूपेण स्वानुभूतिविधायिनी ॥

---

(अपान-वायु)

१८ अपान-वायु अपान-स्थान (गुदा) में रहती है, और यह श्रोणि, बस्ति, मेढ्र तथा उरुगोचर होती है। इसकी शुक्ल (शुक्र), आर्तव, मल, मूत्र तथा गर्भ-निकालना (निष्क्रामण) क्रियाएँ होती हैं।[१८]

(स्थान)

१९ जीवन के दस स्थान होते हैं—शिरोबन्धन, रसना—जीभ के बन्धन, कण्ठ, ओष्ठ, हृदय, नाभि, बस्ति, शुक्ल (शुक्र), गुदा तथा ओज।[१९]

(नाडियां)

२० हृदय में स्थित दस स्थूल नाडियां हैं। वे सभी (नाडियाँ, सम्पूर्ण शरीर मे सब ओर रसात्मक (रस-रूप) ओज[२०] को ले जाती है। उस (ओज) से शरीर की सर्वचेष्टाएँ—कायिक, वाचिक और मानसिक व्यापार—सम्पन्न होती हैं। इन (नाडियों) का विभाग होता है, तदनन्तर ये (नाडियाँ) सात सौ हो जाती है। इनमें जालधरा नामक नाड़ी होती है तथा आभ्यन्तर के आश्रित इडा, पिगला और सुषुम्ना नाम से तीन प्रकार की नाडियाँ होती हैं।[२१] (सुषुम्ना नाड़ी गुदा के निकट से मेरुदण्ड के भीतर होती हुई मस्तिष्क के ऊपर चली गयी है। इसी स्थान (गुदा-स्थान) के निकट से सुषुम्ना के वाम भाग से इडा और सुषुम्ना के दक्षिण भाग से पिंगला—दोनों नासिका-पर्यन्त चली गयी हैं। अतः (इडा तथा पिंगला के वाम-दक्षिण भाग में रहने से) सुषुम्ना मध्यमा नाड़ी कहलाती है। यह अग्नि की शिखा के आश्रित रहती है। वह अग्नि-शिखा प्राण (वायु) के साथ मिलकर नाद[२२] नामक स्फुट को प्राप्ति होती है

इतरेषां कलारूपान् वर्णान्विसृजति क्रमात् ।
नादः श्रुतिसमुत्पत्तिः श्रुतिभ्यः स्वरसम्भवः ॥
नाडीभ्यः श्रुतिसम्भूतिर्नाडीनां स्थानमुच्यते ।
२१ स्थानानि सर्ववर्णानां सप्त व्यक्तिकराणि तु ॥
कण्ठताल्वोष्ठमूर्धानो दन्ताश्चेति पृथक्पृथक् ।
एकं स्यात्कण्ठतालुभ्यां कण्ठोष्ठाभ्यामथापरम् ॥
दन्तोष्ठजिह्वास्थानानां सम्भवाः स्युः पृथक्पृथक् ।
चतस्रो जत्रुबन्धिन्यो नाड्यः कण्ठमुपाश्रिताः ॥
तालुमूलस्य बन्धिन्यस्तिस्रस्तत्रैव च स्थिताः ।
ओष्ठयोरुभयोर्नाड्यौ बन्धिन्यौ द्वे व्यवस्थिते ॥
चतस्रो मूर्धबन्धिन्यो नाड्यो ब्रह्मपदाश्रयाः ।
नाड्यश्चतस्रस्तिष्ठन्ति दन्तानाबध्य सर्वतः ॥
कण्ठताल्वोरन्तरा स्युर्नाड्यस्तिस्रः सुसङ्गताः ।
कण्ठोष्ठयोर्द्वे बन्धिन्यौ नाड्यौ तत्रैव तिष्ठतः ॥
एवं द्वाविंशतिर्नाड्यो मध्यनाड्यां हृदि स्थिताः ।
युगपन्मरुदाहत्या नादस्तासु प्रवेक्ष्यति ॥

---

(वह नाद) सुषुम्ना के मार्ग से आकाश-कमल (सहस्रार का शून्य चक्र) की ओर ऊपर को जाता है । योगियों की नाद-रूप से स्वानुभूति जानी जाती है । अन्यों का (नाद) क्रमशः कला-रूप[२३] वर्णों[२४] (शब्दों) को उत्पन्न करता है । नाद श्रुतियों[२५] को उत्पन्न करता है । श्रुतियों से स्वर[२६] उत्पन्न होते हैं । नाडियों से श्रुतियाँ उत्पन्न होती हैं । नाडियों का स्थान कहा जाता है ।

**(वर्ण-स्थान)**

२१ सभी वर्णो को व्यक्त करने वाले सात स्थान होते है—कण्ठ, तालु, ओष्ठ, मूर्धा, दन्त—ये अलग-अलग होते है, तथा एक कण्ठ और तालु का युग्म स्वरूप होता है, दूसरा कण्ठ और ओष्ठ का युग्म स्वरूप होता है । (इस प्रकार ये सात—सभी वर्णो के स्थान होते हैं ।) दन्त, ओष्ठ तथा जिह्वा स्थानों की उत्पत्ति अलग-अलग होती है । चार प्रकार की जत्रुबन्धिनी (हँसुली को बाँधने वाली) नाडियाँ कण्ठ के आश्रित होती है । तालु-मूल को बाँधने वाली तीन प्रकार की नाडियाँ वहीं (तालु) में ही स्थित रहती हैं । दोनों ओष्ठों को बाँधने वाली दोनों नाडियाँ दो प्रकार से व्यवस्थित होती हैं । चार प्रकार की मूर्धा—बन्धिनी नाडियाँ ब्रह्म-पद (सहस्रार-चक्र) के आश्रित होती हैं । चार प्रकार की नाडियाँ सर्वतः दाँतों को बाँधकर रहती हैं । सुसंगत (अच्छी तरह मिली हुई) तीन प्रकार की नाडियाँ कण्ठ और तालु के बीच में

त्रुटिकालमिताः स्युस्तु श्रुतयः श्रुतिगोचराः ।
यदूर्ध्वं हृदयग्रन्थेः कपालफलकादधः ।।
प्राणाश्चरन्ति तत्रैता व्यज्यन्ते श्रुतयः पृथक् ।
व्यक्तिस्थानेषु वर्णानां स्वसंज्ञा भवन्ति ताः ।।
२२ कण्ठे सज्जति यो नादः स षड्जः स्याच्चतुश्श्रुतिः ।
ऋषभस्त्रिश्रुतिस्तालुमूले तस्य त्रिसम्भवात् ।।
२३ शब्दो गौस्तां बिभ्रदोष्ठे गान्धारो द्विश्रुतिर्भवेत ।
मूर्धमध्यस्थितो नादो मध्यमः स्याच्चतुश्श्रुतिः ।।
२४ पञ्चभिर्जायते दन्ततालुकण्ठोष्ठमूर्धभिः ।
चतुश्श्रुतिः पञ्चमः स्याद्दन्तपङ्क्तिसमाश्रयः ।।
२५ कण्ठतालुधृतो नादो धैवतस्त्रिश्रुतिर्भवेत् ।
नादो निषण्णः कण्ठोष्ठे निषादो द्विश्रुतिर्भवेत् ।।

---

रहती हैं । कण्ठ तथा ओष्ठ को बाँधने वाली दो प्रकार की नाडियाँ वहीं (कण्ठ और ओष्ठ में) रहती हैं । इस प्रकार मध्य-नाड़ी में बाईस प्रकार की नाडियाँ हृदय में स्थित रहती है । उनमें (अर्थात् बाईस प्रकार की नाडियों में) एक साथ वायु से आहत नाद प्रवेश करता है । श्रुतिगोचर श्रुतियाँ त्रुटि-काल-परिमाण वाली होती हैं । जहाँ हृदय-ग्रन्थि के ऊपर, कपालफलक के नीचे प्राण-वायु संचरण करती है, वहाँ ये श्रुतियाँ पृथक् व्यक्त होती हैं । व्यक्त-स्थानों में वर्णो की वे स्वर-संज्ञा होती हैं ।

**(सप्त-स्वर)**

२२ जो नाद कण्ठ में संचरण करता है, वह 'षड्ज'[२७] होता है और (षड्ज) चतुः-श्रुति होता है ।
'ऋषभ'[२८] त्रिश्रुति होता है, तालु-मूल में उसकी तीन (नाडियों) से उत्पत्ति होती है ।

२३ जो ओष्ठ पर 'गो' शब्द को धारण करता है, उसे 'गान्धार'[२९] कहते है, यह द्विश्रुति होता है ।
जो नाद 'मूर्धा' के मध्य में स्थित रहता है, वह 'मध्यम'[३०] कहलाता है, वह चतुःश्रुति होता है ।

२४ जो (नाद) दन्त, तालु, कण्ठ, ओष्ठ तथा मूर्धा से उत्पन्न होता है, वह 'पंचम'[३१] होता है तथा यह चतुःश्रुति होता है और यह दन्त-पंक्ति के आश्रित रहता है ।

२५ जो नाद कण्ठ तथा तालु पर धारण किया जाता है, यह 'धैवत'[३२] कहलाता है, यह 'त्रिश्रुति' होता है ।
जो नाद कण्ठ तथा ओष्ठ पर रखा जाता है, वह 'निषाद'[३३] कहलाता है, यह द्विश्रुति होता है ।

२६ स्वर्यमाणतया तत्तत्स्थानेषु मरुदाहृतेः ।
स्वरसंज्ञां लभन्ते ते तत्तन्नामपुरस्कृताः ॥
२७ अन्ये धातुभ्य उत्पन्नाः स्वरा इत्येव जानते ।
धातवः सप्त भूतानामन्तः सप्ताग्नयः स्थिताः ॥
केचिदग्नय इत्येवं केचिदूष्मेति मन्वते ।
त्वगसृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्लानि धातवः ॥
२८ धमन्यः स्युश्चतुर्विंशदरवन्नाभिमाश्रिताः ।
शरीरमनुगृह्णन्ति ताः सर्वा ह्यत्र सर्वतः ॥
तासूर्ध्वमेका मूर्धानमेकाऽधःकोष्ठमश्रिता ।
ओजांसि सप्तधातूनां वर्धयन्त्यन्तरा स्थिता ॥
२९ उरस्योधातुरन्योऽपीत्येके प्राहुर्हृदाश्रयः ।
आयुर्वेदे तत्स्वरूपं त्रिप्रकारमुदाहृतम् ॥
३० चतस्रः शुक्लवर्धन्यस्तास्तु कन्दसमाश्रयाः ।
तिस्रो धमन्यो वर्धन्यो मज्जाया नाभिमाश्रिताः ॥
अस्थीनि वर्धयन्त्यौ द्वे धमन्यौ हृदयं श्रिते ।

---

२६ वायु से आहत उन-उन स्थानों पर स्वर्यमाण होने से वे (स्वर) उस-उस नाम से पुरस्कृत होकर 'स्वर-संज्ञा' को प्राप्त होते हैं।

२७ अन्य (कोई) ऐसा मानते हैं कि स्वर धातुओं से उत्पन्न होते है।[३४] धातुयें[३५] सात होती हैं, प्राणियों के अन्दर सात अग्नियाँ[३६] रहती है। कोई अग्नियाँ कहते हैं, कोई इन्हीं को 'ऊष्मा' मानते हैं। त्वचा[३७], रक्त, मांस, चर्बी (मेदा) हड्डी (अस्थि), मज्जा तथा शुक्ल (शुक्र)—ये सात धातुएँ हैं।[३८]

२८ पहिये के अरों की तरह नाभि[३९] के आश्रित रहने वाली २४ धमनियाँ होती है। वे सभी यहाँ शरीर को चारों ओर से घेरे रहती हैं।[४०] उनमें से एक ऊर्ध्वगता मूर्धा के आश्रित रहती है, एक अधोगता कोष्ठ के आश्रित रहती है। ये सभी धमनियाँ बीच में स्थित होकर सप्त-धातुओं के ओज की वृद्धि करती हैं।

२९ किन्हीं ने एक और उरस्य[४१] धातु को भी कहा है, जो कि हृदय के आश्रित रहती है। आयुर्वेद में उसका स्वरूप तीन प्रकार का कहा जाता है।

३० चार प्रकार की धमनियाँ शुक्ल (शुक्र) की वृद्धि करती है, वे धमनियाँ कन्द के आश्रित होती हैं। तीन प्रकार की धमानियाँ मज्जा की वृद्धि करती हैं जो कि नाभि के आश्रित रहती हैं। हृदय के आश्रित रहने वाली दो प्रकार की धमनियाँ हड्डियों की वृद्धि करती हैं। कण्ठ के आश्रित चार प्रकार की धमनियाँ चर्बी की वृद्धि करती हैं। तालु-मूल-गता चार प्रकार की धमनियाँ

कण्ठे चतस्रो वर्धन्यो धमन्यो मेदसं श्रिताः ॥
चतस्रो मांसवर्धन्यो धमन्यस्तालुमूलगाः ।
मूर्ध्नि तिस्रोऽस्रवर्धन्यो धमन्योऽधोमुखाश्रिताः ॥
भ्रुवोर्मध्ये धमन्यौ द्वे त्वग्वर्धन्यौ व्यवस्थिते ।
दहराकाशमध्यस्थसहस्रदलशोभिते ॥
विस्फुरत्केसराश्लिष्टकर्णिके पङ्कजोदरे ।
निवातदीपवत्स्थायी सोमसूर्याग्निमण्डले ॥
३१ आत्मा निस्सङ्ग एवैकः साक्षी सर्वस्य कर्मणः ।
तस्य स्वामीति सङ्कल्पो मन आख्यां लभेत सः ॥
विषयेभ्यः प्रयत्नेन मन आत्माऽधितिष्ठति ।
मनोऽधितिष्ठति प्राणपूर्वान्पञ्चसमीरणान् ॥
ते धातून्व्याप्य धमनीमुखेभ्यस्तत्र सम्भवान् ।
अग्नीन्प्रज्वलयन्त्येव तेभ्यो नादः प्रवर्तते ॥
धमनीनामनेकत्वाद्ध्वनयः स्युरनेकधा ।
ध्वनयः श्रुतिसंज्ञन्तु लभन्ते तत्र तत्र च ॥
श्रुतिसङ्ख्याऽपि तत्रत्यधमनीसङ्ख्यया भवेत् ।

---

मांस की वृद्धि करती है। मूर्धा के आश्रित अधोमुखी तीन प्रकार की धमनियाँ रक्त की वृद्धि करती है। दोनों भ्रुकुटियों के बीच में रहने वाली दो धमनियाँ 'त्वचा' की वृद्धि करती है। ये दोनों धमनियाँ बहुत पतली होती है, आकाश (शून्य-चक्र) के मध्य में रहती है, सहस्रार-चक्र के सहस्रदल से सुशोभित है तथा कमलोदर में रहने वाले केसर (पराग) से मिले हुए कणों से कम्पित हैं। चन्द्र, सूर्य तथा अग्नि-मण्डल वाली ये दोनों धमनियाँ निष्कम्पित शिखा वाले दीपक की तरह स्थिर रहने वाली है।

३१ सभी कर्मो का एकमात्र निसंग आत्मा ही साक्षी होता है, उसका स्वामी संकल्प होता है, जो 'मन' कहलाता है। विषयों से, प्रयत्न से, मन आत्मा के ऊपर रहता है। मन प्राणादि पंच वायुओं के ऊपर रहता है। वे (प्राणादि पंच-वायु) सभी धातुओं को व्याप्त कर धमनियों द्वारा वहाँ सम्भावित अग्नियों को प्रज्ज्वलित करती हैं, तब अग्नियों से नाद (शब्द) प्रवृत्त होता है। धमनियों के अनेक होने से ध्वनियाँ अनेक होती हैं। (अग्नियों से प्रवृत्त होने वाली वे) ध्वनियाँ वहाँ-वहाँ 'श्रुति' संज्ञा को प्राप्त होती हैं। धमनियों की संख्या से ही श्रुतियों की संख्या भी निर्धारित होती है। उन-उन स्थानों के

उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितप्रचयाविति ॥
आख्यां लभन्ते श्रुतयस्तत्तत्स्थानाश्रयाः क्रमात् ।
३२ शुक्लधात्वग्निजो नादः स्वरः षड्जश्चतुःश्रुतिः ॥
मज्जाधात्वग्निजो नादो ऋषभस्त्रिश्रुतिस्वरः ।
३३ अस्थिधात्वग्निजो नादो गान्धारो द्विश्रुतिस्वरः ॥
मेदोधात्वग्निजो नादो मध्यमः स्याच्चतुश्श्रुतिः ।
३४ मांसधात्वग्निजो नादः पञ्चमः स्याच्चतुश्श्रुतिः ॥
रक्तधात्वग्निजो नादः त्रिश्रुतिर्धैवतस्वरः ।
३५ त्वग्धातुवह्निजो नादो निषादो द्विश्रुतिस्वरः ॥
३६ आधारगः शुक्रधातुर्मज्जाधातुस्तु नाभिगः ।
हृदाश्रयोऽस्थिधातुः स्यान्मेदोधातुस्तु कण्ठगः ॥
मांसधातुस्तालुमूले रक्तधातुस्तु मूर्धगः ।
भ्रूमध्यगः स्यात्त्वग्धातुः क्रमादेवं स्थिताः स्वराः ॥

---

आश्रित वे श्रुतियाँ क्रम से उदात्त[४२], अनुदात्त[४३], स्वरित[४४] तथा प्रचय[४५] नाम वाली होती हैं ।

३२ शुक्ल (शुक्र) धातु वाली अग्नि से उत्पन्न नाद 'षड्ज' स्वर कहलाता है, वह चतुःश्रुति होता है ।

मज्जा-धातु वाली अग्नि से उत्पन्न नाद 'ऋषभ' कहलाता है, वह त्रिश्रुति होता है ।

३३ हड्डी धातु वाली अग्नि से उत्पन्न नाद 'गान्धार' स्वर कहलाता है, वह द्विश्रुति होता है ।

चर्बी-धातु वाली अग्नि से उत्पन्न नाद 'मध्यम' स्वर कहलाता है, वह चतुःश्रुति होता है ।

३४ मांस-धातु वाली अग्नि से उत्पन्न नाद 'पंचम' स्वर कहलाता है, वह चतुःश्रुति होता है ।

रक्त-धातु वाली अग्नि से उत्पन्न नाद 'धैवत' स्वर कहलाता है, वह त्रिश्रुति होता है ।

३५ त्वचा-धातु वाली अग्नि से उत्पन्न नाद 'निषाद' स्वर कहलाता है, वह द्विश्रुति होता है ।

३६ शुक्र धातु आधार (मूलाधार) गत होती है, मज्जाधातु नाभिगत होती है, अस्थि (हड्डी) धातु हृदय के आश्रित होती है, चर्बी धातु कण्ठगत होती है । मांस-धातु तालु-मूल में रहती है, रक्त-धातु मूर्धा के आश्रित होती है । त्वचा धातु दोनों भ्रुकुटियों के मध्य में रहती है । इसी क्रम से धातुओं के स्थानोंः पर स्वरों की स्थिति रहती है अर्थात् धातुएँ जहाँ-जहाँ रहती हैं वहीं क्रमशः स्वर रहते हैं ।

३७ शुक्लस्यावरणं मज्जा तदावरणमस्थि च ।
अस्थ्नामावरणं भेदो मांसं तस्यावृतिर्भवेत् ।।
मांसावरणमस्त्रं स्यात्त्वक्चास्त्रावरणं भवेत् ।
तस्मात्त्वज्जः स्वरस्तारो मन्दः स्याच्छुक्लजः स्वरः ।
एवमुच्चैष्ट्वनीचैष्ट्वभावस्तेषां विलोक्यताम् ।
श्रुतीनां च स्वराणां च स्थितिरेषां स्वभावतः ।।
स्वर्यमाणतया तत्तत्स्थानेषु मरुदाहृतेः ।
स्वरसंज्ञां लभन्ते ते तत्तत्षड्जादिनामभिः ।।

३८ ध्वनेर्विवक्षावशतो ग्रामभेदप्रकल्पना ।
विवक्षयैव रागाणां मूर्च्छना तानकल्पना ।।

३९ मध्यमस्वरतो नादो यो निर्वर्तितुमीहितः ।
स एव मध्यमग्रामः षड्जग्रामो यथास्थितः ।।

४० त्रिचतुश्श्रुतिकौ मध्यग्रामे पञ्चधैवतौ ।

४१ अन्त्यादिक्रमयोगेन व्यत्ययात्सप्त मूर्च्छनाः ।।

---

३७ शुक्ल (शुक्र) का आवरण मज्जा, मज्जा का आवरण अस्थि (हड्डियाँ), अस्थि का आवरण चर्बी, चर्बी का आवरण मांस, मांस का आवरण रक्त (खून) तथा रक्त का आवरण त्वचा होती है। अतः त्वचा से उत्पन्न स्वर उच्च (तार) होता है, शुक्ल (शुक्र) से उत्पन्न स्वर मन्द (निम्न) होता है। इसी प्रकार उन (सभी धातुओं से उत्पन्न) स्वरों के उच्च तथा नीच (मन्द) इष्ट भावों को देखना चाहिए। इन सभी श्रुतियों और स्वरों की स्थिति स्वभावतः रहती है! वायु से आहत उन-उन स्थानों पर स्वर्यमाण होने से वे (स्वर) उस-उस षड्जादि नाम से 'स्वर-संज्ञा' को प्राप्त होते हैं।

३८ ध्वनि की विवक्षा से 'ग्राम-भेद'[४६] की कल्पना की जाती है तथा रागों[४७] की विवक्षा से मूर्च्छना[४८] और तान[४९] की कल्पना की जाती है।

(ग्राम)

३९ जो नाद मध्यम स्वर से निवृत्त होता है, वह 'मध्यम' ग्राम कहा जाता है। इसी प्रकार 'षड्ज' ग्राम होता है—अर्थात् जो नाद षड्ज स्वर से निवृत्त होता है, वह 'षड्ज' ग्राम कहलाता है।

४० मध्यम ग्राम में 'पंचम' तीन श्रुति का रह जाता है और धैवत चतुःश्रुतिक हो जाता है।

(मूर्च्छना)

४१ अन्त और आदि क्रम-योग से, इसके विपरीत (आदि और अन्त क्रम-योग) होने से सात स्वर 'मूर्च्छना' कहे जाते है।

४२ ग्राम्ययोरुभयोस्तानत्रये ताः सप्त सप्त च ।
तानत्रये द्वादशभिः स्वरैर्द्वादश मूर्च्छनाः ॥
गतागतीर्वितन्वन्ति तेन तास्तिर्यगायताः ।
श्रुतयो गानकालेऽत्र संयोगैक्यं भजन्ति ताः ॥

४३ स्मृतिव्यवसितारम्भस्पर्शभिन्नलयक्रमात् ।
षड्भिरङ्गैः सुसम्पन्नाः श्रुतयः परिकीर्तिताः ॥

४४ स्मृतिर्ध्वनेस्तारतम्यविमर्श इति कथ्यते ।
नाडीमुखेभ्यो नादस्य व्यक्तिर्व्यवसितं भवेत् ॥
श्रुत्यैक्यभावनौत्सुक्यमारम्भ इति कीर्तितः ।
स्पर्शस्तत्तद्ध्वनिस्पर्शो व्यक्तिस्थानेषु सप्तसु ॥
भिन्नो ध्वनेः प्रभेदः स्याच्चतुस्त्रिद्विप्रकारतः ।
श्रुतीनां लीयमानत्वं लयो नीचोच्चभावतः ॥

४५ तास्त्रिधा स्युः पुनर्भिन्नन्यूनाधिकविभागतः ।
भिन्ना द्विश्रुतिकास्तत्र न्यूनास्त्रिश्रुतिसिंज्ञताः ॥
चतुःश्रुतीका अधिकाः स्वरांशा श्रुतयस्त्विमाः ।

---

४२ दोनों ग्रामों की तीन तानों में वे मूर्च्छनाएँ सात-सात प्रकार की होने से चौदह प्रकार की होती हैं—अर्थात् मध्यम-ग्राम तथा षड्ज-ग्राम में मूर्च्छनाएँ सात-सात प्रकार की होती हैं ।

तीन तानों में बारह स्वरों से युक्त होने से 'द्वादश-स्वर-मूर्च्छना' कहलाती है । उससे वे मूर्च्छनाएँ तिरछी होकर गति और अवगति का वितरण करती हैं अर्थात् गति और अवगति को फैलाती हैं । यहाँ गान-काल में वे श्रुतियाँ एकतानता को प्राप्त हो जाती है ।

(श्रुति)

४३ स्मृति, व्यवसित, आरम्भ, स्पर्श, भिन्न तथा लय क्रम से—छै अंगों से युक्त श्रुतियां ६ प्रकार की होती हैं ।

४४ ध्वनि के तारतम्य की भावना (विमर्श) को 'स्मृति' कहा जाता है । नाडियों द्वारा नाद (स्वर) को अभिव्यक्ति 'व्यवसित' कहलाती है । श्रुति की एक-भावना (एकतानता) की उत्सुकता 'आरम्भ' कही जाती है । सप्त स्वरों की अभिव्यक्ति के सात स्थानों पर उस-उस ध्वनि का स्पर्श 'स्पर्श' कहलाता है । चार, तीन तथा दो प्रकार से होने वाले ध्वनि के भेद को 'भिन्न' कहते हैं । उच्च तथा नीच भाव से होने वाली श्रुतियों की लयता को 'लय' कहते हैं ।

४५ पुनः वे श्रुतियाँ भिन्न, न्यून तथा अधिक विभाग से तीन प्रकार की होती हैं । द्विश्रुति वाली 'भिन्न' श्रुति होती है । त्रिश्रुति 'न्यून' कहलाती है । चतुश्रुति वाली 'अधिक' कहलाती है ।

स्वरांशा (स्वर से होने वाली) श्रुतियाँ ये हैं—

४६ स्वरितेनानुदात्तेन भिन्नसंज्ञाः प्रकीर्तिताः ॥
उदात्ताच्चानुदात्ताच्च स्वरितान्न्यूनसंज्ञिताः ।
उदात्तानुदात्त (?) स्वरितप्रचयेनाधिकाः स्मृताः ॥
४७ यथाश्रुतिभवाः शुद्धरागा इति समीरिताः ।
भिन्नाधिकाः क्रमभवा गौडरागाः प्रकीर्तिताः ॥
अधिकन्यूनसंसृष्टिमया वेसरसंज्ञिताः ।
भिन्नन्यूनोपगमनाद्भिन्नरागा इति स्मृताः ॥
साधारणास्स्युर्व्यत्यस्तभिन्नन्यूनाधिकात्मकाः ।
४८ उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितप्रचयावपि ॥
निहतं कम्पितञ्चैव तथाऽकम्पितमेव च ।
तानि स्वराणामङ्गानि सन्ति संज्ञान्तराण्यपि ॥
४९ आद्यन्तान्वयभेदेन न्यूनभिन्नाधिकेन च ।
मन्द्रमध्यमतारेण छायासङ्ख्याक्रमेण च ॥
उदात्तेनानुदात्तेन स्वरितप्रचयेन च ।
कम्पिताकम्पितेनैव स्वरेभ्यो रागसम्भवः ॥
५० आद्यन्तान्वयभेदस्तु मूर्च्छनैवेति कीर्त्यते ।

---

४६ स्वरित तथा अनुदात्त से युक्त 'भिन्न' श्रुति कहलाती है। उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित होने के कारण 'न्यून' कहलाती है। उदात्त, अनुदात्त, स्वरित तथा प्रचय से 'अधिक' कहलाती है।

(राग)

४७ यथाश्रुति (श्रुति के क्रम से) उत्पन्न राग[५०] कहलाता है। भिन्न तथा अधिक (श्रुति) के क्रम से उत्पन्न राग 'गौडराग'[५१] कहा जाता है। अधिक तथा न्यून (श्रुति) के मिश्रण से उत्पन्न राग 'वैसर'[५२] राग कहा जाता है। भिन्न तथा न्यून (श्रुति) से युक्त राग 'भिन्न-राग'[५३] कहा जाता है। परस्पर विरुद्ध भिन्न, न्यून तथा अधिक (श्रुति) से युक्त 'साधारण'[५४] राग कहा जाता है।

(स्वरों से उत्पन्न राग)

४८ उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, प्रचय, निहत, कम्पित तथा अकम्पित-नाम वाले स्वरों के अंग है।

४९ आदि तथा अन्त के अन्वय-भेद से; न्यून, भिन्न तथा अधिकश्रुति-भेद से; मन्द्र, मध्यम तथा (उच्च) (तार) स्वर-भेद से; छाया तथा संख्या-क्रम से; उदात्त, अनुदात्त स्वरित तथा प्रचय से; कम्पित तथा अकम्पित स्वरों से 'राग' उत्पन्न होता है।

५० आदि तथा अन्त का अन्वय-भेद 'मूर्च्छना' ही कहलाती है। न्यून, भिन्न तथा अधिक को पहले कहा जा चुका है। मन्द्र, मध्य तथा उच्च (तारा)—ये

न्यूनभिन्नाधिकत्वन्तु पुरस्तादेव दर्शितम् ॥
मन्द्रमध्यमतारं तत्स्थानत्रयमितीरितम् ।
रागव्यक्तिकृतालापश्छायेति परिभाष्यते ॥
षाडवौडुवसम्पूर्णभेदः सङ्ख्येति कीर्त्यते ।
अत्रोदात्तादयः सप्त प्रसिद्धा इति नेरिताः ॥
५१ ग्रहांशस्तारमन्द्रौ च षाडबौडविते अपि ।
अल्पत्वञ्च बहुत्वञ्च न्यासोपन्यास एव च ॥
एतद्रागविभागार्थं दशकं जातिलक्षणम् ।
एतैः सप्तशतं रागाः सङ्ख्याता गीतकोविदैः ॥
५२ रागाः सम्पूर्णनामानः स्वरसप्तकसंयुताः ।
तानान्येकोनपञ्चाशत्कथ्यन्ते पूर्णनामसु ॥
द्विचत्वारिंशता तानैः भाषाः षड्भिः स्वरैर्भवेत् ।
पञ्चत्रिंशन्मितैस्तानैर्विभाषाः पञ्चभिः स्वरैः ॥
अष्टाविंशतिभिस्तानैरनुभाषा चतुस्स्वरैः ।
द्वादशारसमुत्पन्ना द्वादशस्वरपूरिताः ॥
तानाः चतुरशीतिस्तु तेऽपि स्युर्मध्यमादयः ।

---

तीन राग के स्थान कहे जाते है। राग को व्यक्त करने वाला आलाप 'छाया' कहा जाता है। षाडव, औडुव, सम्पूर्ण-भेद 'संख्या' कहा जाता है। उदात्तादि ये सात स्वर तो प्रसिद्ध ही है, अतः यहाँ नहीं कहे हैं।

(जाति)

५१ ग्रह, अंश, तार, मन्द्र, षाडव, औडवित, अल्पत्व, बहुत्व, न्यास तथा उपन्यास ये राग को विभक्त करने के लिए दस प्रकार के जाति-लक्षण'[५५] है।[५६] इन्हीं (जाति-लक्षणों) से गीतकोविदों ने सात सौ राग गिनाये है।

५२ सप्त स्वरों से युक्त 'पूर्ण' नाम के राग कहलाते है। 'पूर्ण' रागों में उनचास (४९) ताने कही जाती हैं। बयालीस (४२) तानों से 'भाषा' कही जाती है। (भाषा आलाप—प्रकार का वाचक है इसी प्रकार विभाषा और अनुभाषा शब्द भी आलाप प्रकारों के वाचक हैं) जो छै (६) स्वरों से युक्त होती है। पैंतीस (३५) मिततानों से 'विभाषा' कही जाती है, जो पाँच स्वरों से युक्त होती है। अठाईस (२८) तानों से 'अनुभाषा' कही जाती है, जो चार (४) स्वरों से युक्त होती है। बारह आर से उत्पन्न तथा बारह स्वरों से पूरित तानें चौराहसी (८४) होती हैं, वे भी मध्यम आदि होती है।

५३ पदं यतिर्गतिः स्थानं लयः कालस्तथा त्रिधा ॥
सप्तविंशदलङ्कारा गमकाः सप्त चैव हि ।
द्वाविंशन्मार्गगमका द्वाविंशच्छ्रुतिगामिनः ॥
एतेषामेकतायोगो यथा गीतेऽवगम्यते ।
तथैव ते प्रयोक्तव्या गायकैर्गीतकोविदैः ॥
५४ तद्भवं तत्समं देशीत्येतत्स्यात्पदलक्षणम् ।
पदं स्वराधिकरणमर्थप्रत्ययकारि यत् ।
५५ तिस्रः स्युर्यतयो नाम्ना द्वन्द्वभिन्नसमा इति ।
तासां मार्गास्त्रयोऽपि स्युः चित्रवार्तिकदक्षिणाः ॥
५६ आद्यन्तयोश्च मध्ये च लयपाणिपदैः समा ।
वाद्यप्राधान्यभूयिष्ठा चित्रे ज्ञेया समा यतिः ॥
५७ क्वचिच्चैवावतिष्ठेत क्वचिच्चैव प्रधावति ।
वाद्यगेयात्मिका वृत्तौ भिन्ना स्रोतोवहा यतिः ॥

---

(गीत में पदादि के एकता-योग की आवश्यकता)

५३ पद, यति, गति, स्थान, लय, तीन प्रकार का काल, सत्ताईस (२७) अलंकार, सात गमक, बाईस (२२) मार्गगमक, बाईस (२२) श्रुतिगामी—इन सभी की एकता का योग जैसे गीत में जाना जाता है, वैसे ही उन सभी का गायक तथा गीतज्ञों द्वारा प्रयोग किया जाना चाहिए।

(पद)

५४ तद्भव, तत्सम, और देशी—यह पद का लक्षण है। स्वर के आश्रित, अर्थ का ज्ञान कराने वाला 'पद' कहलाता है।

(यति)

५५ द्वन्द्व, भिन्न तथा समा—नाम से यदि तीन प्रकार होती है। चित्र, वार्तिक तथा दक्षिण—ये उन (यति) के मार्ग होते हैं।

५६ आदि, मध्य एवं अन्त में समान लय, पाणि एवं पद से युक्त; वाद्य-प्रधान तथा चित्र मार्ग में होने वाली यति 'समा' समझनी चाहिए।

५७ वाद्य, गेय-रूपा; वार्त्तिक मार्ग में होने वाली तथा स्रोत कहीं अर्थात् जलवृद्धि से पूर्व विलम्बित गति से चलता है, परन्तु कही अर्थात् जल वृद्धि होने पर उसका वेग बढ़ जाता है, इसी प्रकार आदि में बिलम्बित लय, मध्य में मध्य लय एवं अन्त में द्रुत लय वाली स्रोतोवहा यति 'भिन्ना' नाम से जानी जाती है।

५८ अव्यक्तवर्णा द्वन्द्वाख्या गुरुभिर्लघुभिर्युता ।
लम्बिता गेयभूयिष्ठा गोपुच्छा दक्षिणे यतिः ।।

५९ सिंहो मृगस्तथा भृङ्गो रुथशशकट एव च ।
एतेषां गतयः पञ्च गीते गीतिविदीरिताः ।

६० स्थानमुक्तं लयस्त्रेधा द्रुतं मध्यं विलम्बितम् ।

६१ कालस्त्रिधा द्विमात्रश्च चतुर्मात्रोऽष्टमात्रिकः ।।
चित्रे च वार्तिके मार्गे दक्षिणे च नियम्यते ।

६२ प्रसन्नं मधुर रक्तं गम्भीरं विशदं लघु ।।
स्पष्टमुल्लासि ललितं गर्वोजस्वि समं मृदु ।
प्रौढं प्ररूढमात्तं च विदग्धं शुद्धमुद्धतम् ।।
विदर्भितं पल्लवितं नवं कोरकितं कलम् ।
निरपेक्षं निराकाङ्क्षं निरालम्बनमेव च ।।
सप्तविंशदलङ्कारा ह्येत एव गुणाः स्मृताः ।
द्वाभ्यां त्रिभिः चतुर्भिः स्यादलङ्कारोऽथ पञ्चभिः ।।

---

५८ अव्यक्त वर्ण वाली, गुरु तथा लघु से युक्त, लम्बी, गेय-प्रधान, दक्षिण मार्ग में होने वाली तथा गौ की पूंछ अन्त में विस्तृत होती है, फलतः आदि में द्रुत, मध्य मे मध्य एवं अन्त में बिलम्बित लय वाली गौपुच्छा यति 'द्वन्द्वा' नाम से जानी जाती है ।[५७]

(गति)

५९ गीत में सिंह, मृग, भ्रमर, रथ तथा गाड़ी (शकट)—इनकी गति के समान पाँच गतियाँ गीतिज्ञों द्वारा कही जाती है ।

(स्थान तथा लय)

६० स्थान को कहा जा चुका है, 'लय' तीन प्रकार की होती है:—द्रुत, मध्य तथा बिलम्बित ।

(काल)

६१ काल तीन प्रकार का होता है—द्विमात्रिक, चतुःमात्रिक तथा अष्टमात्रिक । और यह काल चित्र, वार्तिक तथा दक्षिण मार्ग में नियमित होता है ।

अलंकार (२७)

६२ प्रसन्न, मधुर, रक्त, गम्भीर, विशद (स्वच्छ), लघु, स्पष्ट, उल्लासि, ललित, गुरु, ओजस्वि, सम, मृदु, प्रौढ़, प्ररूढ़, आत्त, विदग्ध, शुद्ध, उद्धत, विदर्भित, पल्लवित, नव (नवीन), कोरकित, कल, निरपेक्ष, निराकाङ्क्ष, निरालम्बन —ये (२७) अलंकार हैं, ये ही गुण कहे जाते है । दो, तीन, चार या पाँच के

समुच्चितैस्त एव स्युर्गुणा गीतेः पृथक्पृथक् ।
अलङ्काराः प्रयुज्यन्ते छायालापेषु धातुषु ॥
६३ षट्त्रिंशत्स्युरलङ्कारा वर्णेषु भरतोदिताः ।
वर्णाश्रयानलङ्कारान्वदन्त्यन्ये त्रयोदश ॥
६४ कम्पितः स्फुरितो लीनः त्रिभिन्नस्त्रिरिपुस्तथा ।
आन्दोलितश्चाहतश्च गमकाः सप्त कीर्तिताः ॥
स्वरूपं कथ्यते नैषां व्याख्यातत्वादनेकशः ।
६५ निस्वानितं च स्फुरितं विततं विधुतं तथा ॥
भ्रामितं दीर्घललितमुरस्तारं शिरोगुरु ।
उल्लोलिताक्षिप्तके च लीलोत्सारितकुञ्चिते ॥
प्रतिश्रुतमुरःक्षिप्तं कण्ठाक्षिप्तकमेव च ।
समाक्षिप्तं कोमलञ्च मूर्धाक्षिप्तं विकृष्टकम् ॥
उद्वर्तितं परावृत्तमपवर्तितमेव च ।
एतानि मार्गगमका इति विद्वद्भिरीरिताः ॥
मूर्च्छनाक्रमतस्तत्तत्स्वरश्रुतिसमाश्रयाः ।
६६ मानपञ्चकसंयुक्तं तुीतिपञ्चकसंयुतम् ॥
चतुरायामसम्भिन्नं छन्दोभिश्चाष्टभिर्युतम् ।

---

समुच्चय से अलंकार होते है और वे ही (अलंकार) पृथक्-पृथक् गीति के गुण हो जाते है। छाया-आलाप धातुओं में अलंकारो का प्रयोग किया जाता है

६३ आचार्य भरत ने वर्णो में (३६) अलंकार कहे हैं। कोई (अन्य) वर्णाश्रित अलंकारों को (१३) बताते हैं। (गमक (७))

६४ कम्पित, स्फुरित, लीन, तीन प्रकार के भिन्न, तीन प्रकार के रिपु, आन्दोलित तथा आहत—ये सात गमक कहे जाते है। अनेक प्रकार से व्याख्या होने से उनके स्वरूप को नही कहते हैं।

**मार्ग गमक** (२२)

६५ निस्वानित, स्फुरित, वितत, विद्युत, भ्रामित, दीर्घ-ललित, उरस्तार, शिरोगुरु, उल्लोलित, आक्षिप्तक, लीलोत्सारित, कुचित, प्रतिश्रुत, उर.क्षिप्त, कण्ठाक्षिप्तक, समाक्षिप्त, कोमल, मूर्धाक्षिप्त, विकृष्टक, उद्वर्तित, परावृत्त तथा अपवर्तित—ये बाईस (२२) मार्गगमक विद्वानों द्वारा कहे जाते है। ये (मार्गगमक) मूर्च्छना क्रम से उन उन स्वर, श्रुतियों के आश्रित होते है।

**(गीत)**

६६ पाँच प्रकार के मान से युक्त, पाँच प्रकार की रीति से युक्त, चतुरायाम से

ध्वनिशारीरसम्मिश्रं विचित्रस्वरवर्तनम् ॥
तत्तच्छायापरिष्कारललितं गीतमुच्यते ।
६७ समानमुच्छ्रितं लम्बं भिन्नं चैवापकृष्टकम् ॥
मानपञ्चकमेतत्तु कथितं गीतकोविदैः ।
६८ समानं तद्भवेत्स्थानं ध्वनिशारीरसाम्यकृत् ॥
तेषां कस्यचिदुत्सृष्टिरुच्छ्रितं परिकीर्तितम् ।
स्थाने स्थाने लम्बते चेद्ध्वनिस्तल्लम्बमीरितम् ॥
ध्वनिशारीरसंश्लेषो यस्तद्भिन्नमितीर्यते ।
यत्रापकृष्यते गीते ध्वनिस्तदपकृष्टकम् ॥
६९ रीतयो गौडपाञ्चाललाटवैदर्भमिश्रजाः ।
७० आगतिश्च गतिश्चापि व्यावृत्तिर्व्याकुलीनता ॥
एतद्गीतप्रयोगेषु चतुरायामसंज्ञिताः ।
७१ अतलं तरलं चैवमुल्लोलमलगं तथा ॥
उग्राणं लिप्सितं चैव घट्टितञ्च विघट्टितम् ।

---

युक्त, आठ प्रकार के छन्दों से युक्त, ध्वनि-शरीर से मिश्रित, विचित्र स्वरों वाला, उस-उस छाया के परिष्कार से ललित—'गीत' कहा जाता है।

**(मान पंचक)**

६७ समान, उच्छ्रित, लम्ब, भिन्न तथा अपकृष्टक—ये पांच 'मान' गीतिज्ञों द्वारा कहे जाते हैं।

**(समानादि)**

६८ जो स्थान ध्वनि-शरीर की समानता करता है वह 'समान' होता है। उनमें से किसी की उत्सृष्टि अर्थात् किसी को छोड़ देना 'उच्छ्रित' कहा जाता है। स्थान-स्थान पर जब ध्वनि शब्द करती है या लटकने लगती है तो 'लम्ब' कहा जाता है। ध्वनि-शरीर का जो संश्लेषण (मिलना) है, वह 'भिन्न' कहा जाता है। जहाँ गीत में ध्वनि को खीचा जाता है, वह 'अपकृष्टक' कहलाता है।

**(रीति पंचक)**

६९ गौड़ी, पांचाली, लाटी, वैदर्भी तथा मिश्रिता—ये पाँच रीतियाँ हैं।

**(चतुरायाम)**

७० आगति, गति, व्यावृत्ति तथा व्याकुलीनता—इन (चार) की गीत के प्रयोगों में 'चतुरायाम' संज्ञा दी गई है।

**छन्द (८)**

७१ अतल, तरल, उल्लोल, अलग, उग्राण, लिप्सित, घट्टित तथा विघट्टित—

एतानि रागगीतेषु छन्दांसीति च मन्वते ॥
छन्दोगतिविशेषोऽत्र न मात्रावर्णकल्पितः ।
७२ धातुमातृषु यो रागः तालमानविनाकृतः ॥
तत्संसृष्टवदाभाति गीते तदतलं विदुः ।
७३ तरलीक्रियते यत्र तालादिस्तारतम्यतः ॥
तरलं तत्तदुल्लोलमुल्लोलो यत्र यो ध्वनिः ।
७४ रागस्थानेष्वलग्नो यो लयतालवशानुगः ॥
तदाश्रया गतिर्गीतेरलगं कथ्यते बुधैः ।
७५ उग्राणं तद्यदुग्रेण रागतालप्रकल्पनम् ॥
रागान्तरं लिप्सते यद्रागस्तल्लिप्सितं विदुः ।
७६ रागान्तरेण व्याविद्धं गीतं घट्टितमुच्यते ॥
विघट्टितं विरुद्धेत तालेन स्याद्विघट्टितम् ।
७७ भिन्नमुच्चं तथावर्तं कीलं चाकुलमेव च ॥
मुदितञ्च द्रुतं चैव दोषाः सप्तैव गीतिजाः ।

---

ये (आठ) राग-गीतों में 'छन्द' माने जाते है। यहाँ छन्द एक विशेष गति को कहा जाता है, मात्रा या वर्ण से नहीं जाना जाता।

(अतल)

७२ धातु-मात्राओं में जो राग बिना ताल, मान के किया जाता है, और गीत में वह मिला हुआ-सा प्रतीत होता है तो उसे 'अतल' जानो।

(तरल)

७३ जहाँ तालादि के तारतम्य से (राग को) तरल बना दिया जाता है, उसे 'तरल' कहा जाता है।

(उल्लोल)

जहाँ जो ध्वनि चंचल (उल्लोल) हो जाती है, उसे 'उल्लोल' कहते है।

(अलग)

७४ जो (राग) लय, ताल के कारण राग के स्थानों पर लग्न नहीं होता है, उस (राग) के आश्रित गीति की गति विद्वानों द्वारा 'अलग' कही जाती है।

(उग्राण)

७५ जो राग, ताल उग्रता से कहा जाता है, वह 'उग्राण' कहलाता है।

(लिप्सित)

जो राग दूसरे राग में लिप्त हो जाता है, उसे 'लिप्सित' जानते हैं।

(घट्टित)

७६ दूसरे रागों से आविद्ध (बंधा हुआ) गीत 'घट्टित' कहा जाता है।

(विघट्टित)

विरुद्ध ताल से विघट्टित गीत 'विघट्टित' कहा जाता है।

(गीति-दोष)

७७ भिन्न, उच्च, आवर्त, कील, आकुल, मुदित तथा द्रुत—ये सात गीति से उत्पन्न दोष कहे जाते हैं।

७८ ईदृक्स्वरूपं भोजाद्यैः स्वप्रबन्धेषु नोदितम् ॥
भट्टाभिनवगुप्तार्यपादैरेतत्प्रकाशितम् ।
इतःपरं विशेषास्तु भोजसोमेश्वरादिभिः ॥
व्याख्याता भरतादीनां मतेनेति विरम्यते ।
मयापि शारदीयाख्ये प्रबन्धे सुष्ठु दर्शितम् ॥
सङ्गीतं तस्य भेदाश्च तत्रैवालोक्यतां बुधैः ।
आयामभेदगत्यादेः स्वरूपं कथयिष्यते ॥

७९ नटो गीतेन वाद्येन नृत्तेनाभिनयेन च ।
रङ्गे रामाद्यवस्थाभिरनुकार्याभिरञ्जसा ॥
रामादितादात्म्यापत्तेः प्रेक्षकान्रसयिष्यति ॥
सभापतिः सभा सभ्या गायका वादका अपि ॥
नटी नटाश्च मोदन्ते यत्रान्योन्यानुरञ्जनात् ।
अतो रङ्ग इति ज्ञेयः पूर्वं यत्स प्रकल्प्यते ॥
तस्मादयं पूर्वरङ्ग इति विद्वद्भिरुच्यते ।

८० कला पाताः पादभागाः परिवर्ताश्च सूरिभिः ॥
पूर्वं क्रियन्ते यद्रङ्गे पूर्वरङ्गो भवेदतः ।

---

७८ भोजादि ने अपने ग्रन्थों में इस प्रकार के स्वरूपों को नही कहा है। आचार्य-भट्ट अभिनव-गुप्त ने ये कहे हैं। भोज, सोमेश्वर आदि ने यहाँ से अधिक विशेषताओं के साथ भरतादि के मत से व्याख्या की है, अतः हम व्याख्या नही करते हैं। मैंने भी अपने 'शारदीय' नामक ग्रन्थ में इनको अच्छी तरह कह दिया है। संगीत और उसके भेद विद्वान लोग वहीं देख लें। आयाम-भेद, गति आदि का स्वरूप कहा जायेगा।

(पूर्वरंग)

७९ नट रंगमंच पर गीत, वाद्य, नृत्य तथा अभिनय से अनुकार्य रामादि की अवस्था का अनुकरण इस ढंग से करता है कि उसके आनन्द से दर्शकों को नट में रामादि की 'तादात्म्यापत्ति' का अनुभव होने लगता है और सभापति, सभा, सभ्य, गायक, वादक, नटी तथा नट सभी परस्पर आनन्द से प्रसन्न होते हैं। इसीलिए इसे 'रंग-भूमि' कहते हैं, और इसका रंग-भूमि में अभिनय से पूर्व प्रयोग होता है, इसीलिए समष्टि रूप से इसे विद्वानों द्वारा 'पूर्वरंग' कहा जाता है।

८० विद्वान-लोग रंगभूमि मे कला, पात, पादभाग तथा परिवर्त्त का अभिनय के पूर्व प्रयोग करते हैं, अतः समष्टि रूप से इसे 'पूर्वरंग' कहा जाता है।[५८]

८१ तस्य द्वाविंशदङ्गानि प्रत्याहारमुखानि तु ॥
प्रत्याहारोऽवतरणमारम्भाश्रावणे अपि ।
वक्त्रपाणिस्ततस्तत्र भवेत्तु परिघट्टना ॥
सङ्घट्टना ततो मार्गासारितञ्च ततो भवेत् ।
शुष्कापकृष्टकं तत्रोत्थापनं परिवर्तनम् ॥
नान्दी प्ररोचना तत्र त्रिगतासारिते अपि ।
गीतं ध्रुवा त्रिसाम स्याद्रङ्गद्वारमतःपरम् ।
सवर्धमानकं चारिर्महाचारिस्ततःपरम् ।
एतान्यङ्गानि कथ्यन्ते पूर्वरङ्गस्य सूरिभिः ॥
८२ निमेषकालो मात्रा स्यान्मात्रे द्वे यत्कला भवेत् ।
द्विमात्रा स्यात्कला चित्रे चतुर्मात्रा तु वार्तिके ॥
अष्टमात्रा तु विद्वद्भिर्दक्षिणे समुदाहृता ।
निमेषाः पञ्च विज्ञेया गीतकाले कलान्तरम् ॥
८३ तत्रावापोऽथ निष्क्रामो विक्षेपश्च प्रवेशनम् ।
चतुर्विकल्प इत्येवं निश्शब्दः परिकीर्तितः ॥

---

८१ उस (पूर्वरंग) के प्रत्याहारादि बाईस (२२) अंग होते हैं—
१. प्रत्याहार २. अवतरण ३. आरम्भ ४. आश्रावणा ५. वक्त्रपाणि ६. परिघट्टना ७. संघोटना ८. मार्गासारित ९. शुष्कापकृष्टक १०. उत्थापन ११. परिवर्तन १२. नान्दी १३. प्ररोचना १४. त्रिगत १५. आसारित १६. गीत १७. ध्रुवा १८. त्रिसाम १९. रंग-द्वार २०. वर्धमानक २१. चारी २२. महाचारी—विद्वानों द्वारा ये पूर्वरंग के अंग कहे जाते हैं।

**(कला)**

८२ जितनी देर में आँख झपकती है, उसे 'मात्रा' कहते हैं अर्थात् निमेष-मात्र काल को 'मात्रा' कहते है। दो मात्राओं में एक 'कला' होती है। चित्र (मार्ग) में दो मात्राओं से एक कला होती है। वार्तिक (मार्ग) में चार मात्राओं से एक कला होती है। दक्षिण (मार्ग) में आठ मात्राओं से एक कला होती है—ऐसा विद्वान लोग कहते हैं। गीतकाल में कलान्तर पंच-निमेष-मात्र समझना चाहिए।

**(निश्शब्द)**

८३ आवाप, निष्क्राम, विक्षेप तथा प्रवेशन—चार प्रकार वाला 'निश्शब्द' कहलाता है।

८४ शम्या तालो ध्रुवश्चैव सन्निपातस्तथैव हि ।
सशब्दलक्षणा ह्येते विज्ञेयास्तु चतुर्विधाः ॥
८५ निष्क्रामश्च प्रवेशश्च द्विकलौ परिकीर्तितौ ।
एषामन्तरपातास्तु पातसंज्ञाः प्रकीर्तिताः ॥
८६ गुरुप्लुतानि मित्वाऽथ द्विमात्रं परिकल्पयेत् ।
पादभागैश्चतुर्भिस्तैर्मात्रामपि च लक्षणैः ॥
८७ परिवर्तो भवेत्तालपरिवृत्तिः पुनः पुनः ।
८८ कुतपस्य तु विन्यासः प्रत्याहार उदाहृतः ॥
कुतपो मुरजादीनां भाण्डादीनां चयः स्मृतः ।
यदा ह्रियन्ते भाण्डाद्याः प्रत्याहारस्ततो भवेत् ॥
८९ अत्रावतरण तत्स्याद्गायकानां निवेशनम् ।
बहुकार्यसमारम्भ आरम्भ इति कथ्यते ॥
वाद्यानां मुरजादीनां प्रस्तुतिः कार्यमुच्यते ।

---

**(सशब्द)**

८४ शम्या, ताल, ध्रुव तथा सन्निपात—चार प्रकार वाला 'सशब्द' का लक्षण जाना जाता है ।

८५ निष्क्राम तथा प्रवेश––ये दोनों द्विकल कहे जाते हैं ।

**(पात)**

इन (शम्या, ताल, ध्रुव तथा सन्निपात) के अन्तरपात की 'पात' संज्ञा कही जाती है ।

**(पादभाग)**

८६ गुरु तथा प्लुत को दिखाकर 'द्विमात्रा' की कल्पना करनी चाहिए और मात्रा की उन (उपर्युक्त) लक्षणों से चार पादभागो से कल्पना करनी चाहिए ।

**(परिवर्त)**

८७ ताल का बार-बार दुहराया जाना 'परिवर्त' होता है ।

**(प्रत्याहार)**

८८ कुतप (वाद्य-यन्त्रों) के विधिवत् स्थापन को 'प्रत्याहार' कहा जाता है । मुरज, भाण्ड आदि के समूह को 'कुतप' कहा जाता है । जब भाण्डादि को ले जाया जाता है तो 'प्रत्याहार' कहलाता है ।

**(अवतरण)**

८९ गायकों की बैठने की व्यवस्था को 'अवतरण' कहा जाता है ।

**(आरम्भ)**

बहु-कार्य के प्रारम्भ को 'आरम्भ' कहा जाता है । मुरज आदि वाद्यों की प्रस्तुति (आलाप) को 'कार्य' कहा जाता है ।

९० आस्रावणं नाम भवेद्यस्मिन्नातोद्यरञ्जनम् ।।
तन्त्र्यादेर्दण्डहस्ताद्यैर्दीप्तिरातोद्यरञ्जनम् ।
९१ विभागो वाद्यवृत्तीनां वक्त्रपाणिरिहोच्यते ।।
समोपपरिपूर्वाश्च पाणयस्त्रिविधाः स्मृताः ।
९२ तन्त्र्योजस्करणार्थं यत्सा प्रोक्ता परिघट्टना ।।
९३ अत्र पाणिविभागो यो मतः सङ्घट्टना बुधैः ।
सङ्घट्टनाविधिर्वीणागत इत्येव केचन ।।
९४ योगोऽत्र तन्त्रीभाण्डानां मार्गासारितमुच्यते ।
कलापातविभागोऽत्र भवेदासारितक्रिया ।।
९५ अनर्थवर्णापाकृष्टिर्भवेच्छुष्कापकृष्टकम् ।
शुष्कापकृष्टकं ते न ते नेत्युच्चारणं भवेत् ।।

---

(आश्रावणा)

९० जिसमें वादन के पूर्व वाद्यों की एकरूपता लाई जाती है, उसे 'आश्रावणा' कहते है। तन्त्री (वीणा) आदि की दण्ड, हस्त आदि से दीप्ति वादन के पूर्व वाद्यों की एकरूपता कही जाती है।

(वक्त्रपाणि)

९१ वाद्यों की विभिन्न वृत्तियों के विभाग को 'वक्त्रपाणि' कहा जाता है। पाणि (हाथ की अंगुलियाँ) तीन प्रकार की कही जाती हैं—सम्पूर्व, उपपूर्व तथा परिपूर्व।

(परिघट्टना)

९२ तन्त्री-वाद्य-यन्त्रों को ओजपूर्ण बनाने के लिए जो विधि है, वह 'परिघट्टना' कहलाती है।

(संघोटना)

९३ जो पाणि-विभाग है, उसे विद्वान 'संघोटना' कहते है।
कोई (अभिनवगुप्त) कहते हैं कि वीणा-गत विधि को वीणा-वाद्य में 'संघोटना' समझना चाहिए अर्थात् संवादी स्वरों के अनुसन्धान के लिए उस पर किये गये पंच प्रहारों के योग को 'संघोटना' समझना चाहिए।

(मार्गासारित)

९४ वीणा तथा भाण्ड (अवनद्ध) वाद्यों की मिश्रित ध्वनि का प्रयोग 'मार्गासारित' कहलाता है। कला-पात का विभाग 'आसारित' क्रिया कही जाती है।

(शुष्कापकृष्ट)

९५ अनर्थ (अर्थहीन) वर्णो की अपाकृष्टि 'शुष्कापकृष्ट' कहलाती है। 'ते न ते न' इति·······इस प्रकार के उच्चारण को 'शुष्कापकृष्ट' कहते हैं।

९६ यस्मादुत्थापयन्त्यादौ प्रयोगं नान्दिपाठकाः ।
तस्मादुत्थापकं ज्ञेयं वागङ्गव्यक्तिकारकम् ॥
९७ यस्मात्तु लोकपालेभ्यः परिवृत्य चतुर्दिशम् ।
नमस्कुर्वन्ति तस्मात्तु परिवर्तनमुच्यते ॥
९८ नन्दी वृषो वृषाङ्कस्य जगदादौ जगत्पतेः ।
नृत्यतः कल्पनायोगाज्जगाम किल रङ्गताम् ॥
तस्य तद्रूपसम्बन्धात्पूजा नान्दीति कथ्यते ।
९९ देवतादिनमस्कारमङ्गलारम्भपाठकैः ॥
या क्रिया नन्द्यते नाट्यारम्भे नान्दीति सा स्मृता ।
१०० या पूर्वरङ्गसम्बन्धाद्द्वाविंशत्यङ्गवर्तिनी ॥
सभ्यान्नन्दयतीत्येवं सापि नान्दीति कीर्त्यते ।
१०१ यद्यप्यङ्गानि भूयांसि पूर्वरङ्गस्य नाटके ॥
तथाप्यवश्यं कर्तव्या नान्दी विघ्नोपशान्तये ।

---

(उत्थापना)

९६ जिससे नान्दी पाठ करने वाले रंग-भूमि में पहले प्रयोग (अभिनय) का उत्थापन (प्रारम्भ) करते हैं, उस वाचिक तथा आंगिक अभिनय की अभिव्यक्ति का कारण 'उत्थापन' जाना जाता है।

(परिवर्तन)

९७ जिस विधि से नाट्यकर्ता चारों दिशाओं की ओर घूम-घूमकर लोकपालों को नमस्कार करते हैं, उसे 'परिवर्तन' कहा जाता है।

(नान्दी)

९८ जगत् के प्रारम्भ में नृत्य करते हुए जगत्पति शंकर के कल्पना-योग से वृष नन्दी आनन्द को प्राप्त हुआ, उसके तद्रूप सम्बन्ध से होने वाली पूजा को 'नान्दी' कहा जाता है।

९९ नाटक के प्रारम्भ में देवता आदि के लिए नमस्कारात्मक या मंगलात्मक जो श्लोक-पाठ पाठकों द्वारा किया जाता है, वह आनन्द प्रदान करता है, वह 'नान्दी' कहा जाता है।

१०० बाईस अंग वाले पूर्व-रंग के सम्बन्ध से जो सभ्यजनों को आनन्द प्रदान करती है, वह भी 'नान्दी' कही जाती है।

१०१ यद्यपि नाटक में पूर्व-रंग के बहुत से अंग हैं, फिर भी विघ्न-शान्ति के लिए नान्दी का अवश्य प्रयोग करना चाहिए।

१०२ नान्दीश्लोको विघातव्यश्चन्द्रनामाङ्क एव सः ॥
यथैव चन्द्रसम्बन्धो लक्ष्यते व्यज्यतेऽथवा ।
नान्दीश्लोके तथा यत्नः कर्तव्यः कविभिस्सदा ॥
चन्द्रायत्ततया नाट्ये प्रवृत्ते रससम्पदाम् ।
एतदुत्थापनाद्यङ्गचतुष्कं नान्दिपाठकैः ॥
विधेयमस्मात्प्रीयन्ते ब्रह्माद्याः सर्वदेवताः ।
१०३ सूत्रधारः पठेत्तत्र मध्यमं स्वरमाश्रितः ॥
नान्दीं पदैर्द्वादशभिरष्टभिर्वाप्यलङ्कृताम् ।
१०४ तत्सङ्ख्यातैर्भवेन्नान्दी वाक्यैः क्वापि विवक्षया ॥
समपादाऽथवा नान्दी भवेदिति च केचन ।
१०५ प्ररोचना सा यत्रैव प्रख्यातोदात्तवस्तुनः ॥
प्रशंसया प्रेक्षकाणामुन्मुखीकरणं तु यत् ।
१०६ सूत्रधारो नटश्चैव तथा वै पारिपार्शिवकः ॥
कुर्वन्ति यत्र सल्लापं तदेतत्त्रिगतं स्मृतम् ।
१०७ आसारितं बहिर्गीतविधिरित्युच्यते बुधैः ॥

---

१०२ वह नान्दी-श्लोक चन्द्र के नाम से ही अंकित होना चाहिए। जिस प्रकार चन्द्रमा से सम्बन्ध लक्षित हो अथवा व्यक्त हो उसी प्रकार नान्दी श्लोक में कविजनों को सदा यत्न करना चाहिए। नान्दी पाठकों को रस-सम्पत्ति के चन्द्रमा के अधीन होने से नाट्य में प्रवृत्त होने पर यह उत्थापनादि चार अंगों से युक्त नान्दी-पाठ करना चाहिए। इससे ब्रह्मा आदि सभी देवता प्रसन्न होते हैं।[५९]

१०३ सूत्रधार को मध्यम स्वर का आश्रय लेकर बारह या आठ पदों से अलंकृत नान्दी का पाठ करना चाहिए।

१०४ कहीं बारह या आठ वाक्यों की विवक्षा से 'नान्दी' कही जाती है, अथवा कोई यह कहते हैं कि समान-पदों वाली 'नान्दी' होती है।

**(प्ररोचना)**

१०५ जहाँ प्रसिद्ध-उदात्त-नाट्य-वस्तु की प्रशंसा से दर्शको को अपनी ओर उन्मुख (आकर्षित) किया जाता है, वह 'प्ररोचना' कहलाती है।

**(त्रिगत)**

१०६ जहाँ सूत्रधार, नट तथा पारिपार्श्विक आपस में संलाप करते हैं, उस प्रयोग-विधि को 'त्रिगत' कहा जाता है।

**(आसारित)**

१०७ विद्वान-लोग बहिर्गीत[६०]-विधि को 'आसारित' कहते है।

१०८ अत्र गीतिविधिः पूर्वैर्बहुशो भरतादिभिः ।
व्याख्यातस्तत्र बैपुल्यान्नास्माभिरभिधीयते ॥
मन्द्रकादिषु गीतेषु सर्वेष्वेष विधिः स्मृतः ।
१०९ अधिका चापकृष्टा च प्रावेशिक्यावसानिकी ॥
अन्तरा चेति पञ्चैता ध्रुवा नाटकसंश्रिताः ।
११० त्रिसाम स्यात्त्रिनृतं च त्रिलयं च त्रिपाणि यत् ॥
वागङ्गसत्त्वाभिनयैस्त्रिनृत्तमभिधीयते ।
१११ यस्मादभिनयो यत्र प्रथमं त्ववतार्यते ॥
रंगद्वारमतो ज्ञेयं वागङ्गाभिनयात्मकम् ।
११२ सुकुमारं विजानीयाच्छृङ्गाररससम्भवम् ॥
स्मराश्रये च दम्पत्योर्नृत्तं हर्षात्मकं भवेत् ।
११३ पत्यौ सन्निहिते यस्मिन्नृतुकालादिदर्शनम् ॥
गीतकार्याभिसम्बन्धं नृत्तं तत्र प्रयोजयेत् ।

---

(गीति-विधि)

१०८ पूर्व के भरतादि आचार्य 'गीति-विधि' की अनेक प्रकार से व्याख्या कर चुके हैं, अतः विस्तार-भय से हम यहाँ 'गीति-विधि' को नहीं कहते है। मन्द्रकादि सभी गीतों में यह विधि कही जाती है।

(ध्रुवा)

१०९ नाटक के आश्रित 'ध्रुवा' पाँच प्रकार की होती है—अधिका, अपकृष्टा, प्रावेशिकी, आवसानिकी तथा अन्तरा।

(त्रिसाम)

११० त्रिनृत, त्रिलय तथा त्रिपाणि को 'त्रिसाम' कहा जाता है। वाचिक, आंगिक तथा सात्त्विक अभिनय भेद से 'त्रिनृत्त' जाना जाता है।

(रगद्वार)

१११ क्योंकि सर्वप्रथम वाचिक व आंगिक अभिनय की अवधारणा इसी स्थल से प्रारम्भ होती है, अतः इसको 'रगद्वार' नाम से जाना जाता है।

(नृत्तोचित देश और काल)

११२ श्रृंगार-रस से उत्पन्न नृत्त सुकुमार जाना जाता है। कामाश्रित होने पर दम्पत्ति (नायक और नायिका) का नृत्त हर्षात्मक होता है।

११३ जहाँ पति के सन्निकट होने पर ऋतु-काल आदि का दर्शन हो, वहाँ गीत-कार्य से सम्बद्ध नृत्त का प्रयोग करना चाहिए।

११४ दूत्याश्रयं यदा च स्यादृतुकालादिदर्शनम् ॥
औत्सुक्यचिन्तासम्बन्धात्तत्र नृत्तं प्र(न)योजयेत् ।
११५ खण्डिता विप्रलब्धा च कलहान्तरितापि वा ॥
यस्मिन्नङ्के भवेन्नारी तत्र नृत्तं न योजयेत् ।
११६ सखीप्रवृत्ते सल्लापे दयिते प्रोषिते सति ॥
सद्भिर्नि(र्न)योज्यते नृत्तं प्रियेऽसन्निहितेऽपि च ।
११७ देवस्तुत्याश्रयं गीतं यदङ्गं यत्र दृश्यते ॥
माहेश्वरैरङ्गहारैरुद्धतैस्तत्प्रयोजयेत् ।
११८ यत्र शृङ्गारसम्बन्धं गानं स्त्रीपुरुषाश्रयम् ॥
देव्या कृतैरङ्गहारैर्ललितैस्तत्प्रयोजयेत् ।
११९ ततस्त्रिसाम्ना देवस्य पुष्पाञ्जलिमुदीरियेत् ॥
तिरस्कृतरसोत्कर्षः किञ्चिदामोदसूचकः ।
पुष्पाञ्जलिभवः श्लोकः कार्य आशीःपुरस्सरः ॥
ततः पुष्पाञ्जलिं मुक्त्वा रङ्गपीठं परीत्य च ।
प्रणम्य देवताभ्यश्च कर्तव्योऽभिनयस्तदा ॥

---

११४ जहाँ ऋतुकाल आदि का दर्शन दूती के आश्रित हो, तब औत्सुक्य और चिन्ता से सम्बद्ध नृत्त का प्रयोग करना चाहिए।

११५ जिस रंग-मंच पर खण्डिता, विप्रलब्धा तथा कलहान्तरिता नारी हों, वहाँ नृत्त का प्रयोग नही करना चाहिए।

११६ सखी के द्वारा वार्तालाप में प्रवृत्त होने पर, पति के परदेश जाने पर तथा प्रिय के सन्निहित न रहने पर सज्जनों को नृत्त का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

११७ जहाँ देवताओं की स्तुति के आश्रित गीत देखा जाता है, वहाँ महेश्वर-विहित उद्धत अंगहारों के द्वारा नृत्त का प्रयोग करना चाहिए।

११८ जहाँ स्त्री-पुरुष के आश्रित शृंगार-विषयक गीत हो, वहाँ देवी (पार्वती) कृत ललित अंगहारों के द्वारा नृत्त का प्रयोग करना चाहिए।

(पुष्पांजलि)

११९ तदनन्तर त्रिसाम (त्रिनृत्त, त्रिलय तथा त्रिपाणि) से देवताओं की पुष्पांजलि कही जानी चाहिए। तिरस्कृत-रस का उत्कर्ष-रूप, कुछ प्रसन्नता का सूचक तथा आशीर्वादपूर्वक पुष्पांजलि से सम्बधित श्लोक-पाठ करना चाहिए। तद-नन्तर रंगपीठ पर चारों ओर पुष्पांजलि छोड़कर और देवताओं को प्रणाम करके अभिनय-कार्य प्रारम्भ करना चाहिए।

१२० यत्राभिनेयं गेयं स्यात्तत्र वाद्यं न योजयेत् ।
अङ्गहारप्रयोगे तु भाण्डवाद्यं प्रयोजयेत् ।।
समं रक्तं विभक्तञ्च स्फुटं शुद्धं प्रहारजम् ।
नृत्ताङ्गग्राहि वाद्यज्ञैर्योज्यं वाद्यं तु ताण्डवे ।।
१२१ आसारितादि वा गीतं नृत्तं वाद्यमथापि वा ।
वर्धतेऽभिनयो वा स्यात्स भवेद्वर्धमानकः ।।
१२२ एकवाद्यप्रचारो यः स चारीत्यभिधीयते ।
मण्डलादिप्रचारो यः स महाचारिरिष्यते ।।
१२३ इति द्वाविंशदङ्गात्मा पूर्वरङ्गः प्रकीर्तितः ।
एवं यः पूर्वरङ्गन्तु विधिना सम्प्रयोजयेत् ।।
नाशुभं प्राप्नुयादत्र पश्चात्स्वर्गं च गच्छति ।
१२४ इत्थं रङ्गविधानस्य सम्बन्धादिप्रसिद्धये ।।
गोत्रं नाम च बध्नीयात्पूजावाक्यं सभासदाम् ।
नायकस्य च यन्नाम गर्भनिर्दिष्टलक्षणम् ।

---

(वाद्य-नियम)

१२० जहाँ अभिनेय गेय हो, वहाँ वाद्य का प्रयोग नही करना चाहिए। अंगहारों के प्रयोग में भाण्ड-वाद्य का प्रयोग करना चाहिए। ताण्डव (नृत्त) में वादज्ञों द्वारा सम, रक्त, विभक्त, स्फुट, शुद्ध, प्रहारज तथा नृत्त के अंगों को ग्रहण करने वाले वाद्य का प्रयोग किया जाना चाहिए।

(वर्धमानक)

१२१ आसारित आदि गीत, नृत्त, वाद्य या अभिनय की जो वृद्धि करता है, वह 'वर्धमानक' कहलाता है।

(चारी)

१२२ एक वाद्य का जो संचरण होता है, वह 'चारी' कहलाती है।

(महाचारी)

मण्डल आदि का जो संचरण करता है वह 'महाचारी' कहलाता है।

१२३ इस प्रकार बाईस-अंग-रूप पूर्वरंग को कह दिया गया। इस प्रकार जो पूर्वरंग का विधिपूर्वक प्रयोग करता है, वह अशुभ को प्राप्त नहीं करता और बाद में स्वर्ग को जाता है।[६१]

(गोत्रादि-कथन)

१२४ इस प्रकार रंग-भूमि के विधान के सम्बन्ध आदि की प्रसिद्धि के लिए सभासदों के गोत्र, नाम तथा पूजावाक्य बांधने चाहिए। गर्भ से निर्दिष्ट लक्षण

वाञ्छाकलापः प्रथमः कलाविधिरनन्तरः ।
वाञ्छाशून्या न दृश्यन्ते व्यवहाराः कदाचन ।।
१२५ वाञ्छाकलापस्तु कवेरभीष्टार्थप्रकाशनम् ।
स्वाभिधेयगतत्वेन तद्द्विधा परिपठ्यते ।।
१२६ स्वगतं तु स्वगोत्रादि स्वस्य कीर्तिप्रकाशनम् ।
अभिधेयगतं तत्तत्काव्यनाम्ना प्रकाशनम् ।।
तन्नाम नाटकाद्यन्तर्गर्भितार्थोपसूचकम् ।
यदा हि रामाभ्युदयं नाम नाटकमित्यतः ।।
वाच्यवाचकसम्बन्धो नाट्यविद्भिर्विभाव्यते ।
कीर्तिः फलं तया स्वर्गस्थितिरत्र प्रयोजनम् ।।
१२७ यद्यप्यङ्गानि भूयांसि पूर्वरङ्गस्य नाटके ।
'नान्द्यन्ते' शब्दबोधार्थमुक्तान्यङ्गानि लेशतः ।।
१२८ प्ररोचनार्थो नान्द्यन्तः प्रत्याहारादि कथ्यते ।
अथ नान्द्यन्तशब्दोऽत्र षष्ठीतत्पुरुषोऽपि वा ।।
१२९ इत्थं रङ्गं विधायादौ सूत्रधारे विनिर्गते ।

---

वाला नायक का जो नाम है, उसमे प्रथम 'वाञ्छाकलाप' है, दूसरा 'कलाविधि' है। वाञ्छाशून्य व्यवहार (नाम) कभी नहीं देखे जाते।

१२५ 'वाञ्छाकलाप' तो कवि के अभीष्ट अर्थ को प्रकट करता है। वह दो प्रकार का कहा जाता है।……………स्वगत और अभिधेयगत।

१२६ 'स्वगत' अपने गोत्रादि तथा अपनी कीर्ति को प्रकट करता है। 'अभिधेयगत' उस-उस काव्य के नाम से प्रकट होता है। वह नाम नाटकादि के अन्तर्निहित अर्थ को स्पष्ट करता है। जैसे—'रामाभ्युदय' नामक नाटक है, इससे नाट्यविद् वाक्य-वाचक सम्बन्ध को जानते हैं। कीर्तिफल है, और उससे स्वर्ग की प्राप्ति प्रयोजन है।

(नान्द्यन्ते)

१२७ यद्यपि नाटक में पूर्व-रंग के बहुत से अंग कहे गये हैं लेकिन 'नान्द्यन्ते'—शब्द के ज्ञान के लिए अंशतः (कुछ) अंग कहे गये है।

१२८ प्ररोचना और प्रत्याहारादि से 'नान्द्यन्त' कहा जाता है, क्योंकि पूर्व-रगों के अंगों में प्ररोचना नान्दी के पश्चात् आती है और नान्दी प्रत्याहारादि (११ अगों) के पश्चात् आती है अथवा 'नान्द्यन्त' शब्द से यहाँ षष्ठीतत्पुरुष समास (नान्द्या अन्ते अर्थात् नान्दी पाठ के पश्चात्) से भी जाना जाता है।

१२९ इस प्रकार सूत्रधार पूर्वरंग का विधान करके चला जाता है। उसके पीछे

तद्वन्नटः प्रविश्यान्यः सूत्रधारसमाकृतिः ॥
सूचयेद्वस्तु बीजं वा मुखं पात्रमथापि वा ।
१३० अत्र वस्तुस्वरूपन्तु प्रथमं सम्यगुच्यते ॥
१३१ वस्तु तत्स्यात्प्रबन्धस्य शरीरं कविकल्पितम् ।
इतिवृत्तं तदेवाहुर्नाट्याभिनयकोविदाः ॥
१३२ चरितं नायकादीनामितिवृत्तमिति स्मृतम् ।
प्रयोजनवशात्तत्तु वर्तमानमपि क्वचित् ॥
वृत्तवत्कल्प्यमिति यदितिवृत्तं तदुच्यते ।
१३३ गोपुच्छवद्विधातव्यं काव्यादि कविभिः सदा ॥
पश्चाद्भागे प्रबन्धस्य कर्तव्यास्ते रसादयः ।
१३४ इतिवृत्ताभिधं वस्तु यत्काव्ये तद्द्विधा भवेत् ॥
आधिकारिकमेकन्तु प्रासङ्गिकमथापरम् ।
तत्राधिकारिकं मुख्यमङ्गं प्रासङ्गिकं विदुः ॥
वृत्तान्तो नायकादीनामत्र स्यादाधिकारिकः ।
उपनायकवृत्तान्तः प्रासङ्गिक उदाहृतः ।

---

सूत्रधार के समान आकृति वाला कोई अन्य नट प्रवेश करके वस्तु, बीज, मुख या पात्र की सूचना देता है ।[६२]

१३० अब यहाँ सर्वप्रथम वस्तु का स्वरूप भली प्रकार कहते हैं ।

**(वस्तु)**

१३१ वस्तु (कथावस्तु) नाटक (प्रबन्ध) का कवि-कल्पित शरीर कही जाती है । नाट्य तथा अभिनय के ज्ञाताओं ने उसे 'इतिवृत्त' कहा है ।

**(इतिवृत्त)**

१३२ नायक आदि का चरित-वर्णन 'इतिवृत्त' कहा जाता है । कही प्रयोजनवश जो वर्तमान (चरित) भी वृत्त (कहानी) की तरह कल्पित होता है तो वह 'इतिवृत्त' कहा जाता है ।

१३३ कविजनों को सदा काव्यादि की रचना 'गोपुच्छ' की तरह करनी चाहिए और उनको नाटक (प्रबन्ध) के पीछे के भाग में रसादि का उल्लेख करना चाहिए ।

१३४ काव्य में जो इतिवृत्त नाम से वस्तु कही जाती है, वह दो प्रकार की होती है । एक आधिकारिक, दूसरी प्रासंगिक । प्रधान (कथावस्तु) को आधिकारिक तथा उसके अंगभूत जो कथावस्तु होती है, उसे प्रासंगिक कहते हैं ।[६३] नायक आदि का वृत्तान्त 'आधिकारिक' कथावस्तु कही जाती है और उपनायक का वृत्तान्त प्रासंगिक कथावस्तु कही जाती है । नायिका-नायक आदि का वृतान्त जो त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ तथा काम) से युक्त हो और

नायिकानायकादीनां वृत्तान्तो यस्त्रिवर्गभाक् ।
काव्यव्यापी स एवैष आधिकारिक उच्यते ॥
यश्चोपनायकादीनां वृत्तान्तो नायकार्थकृत् ।
स नान्तरीयकश्चार्थः प्रासङ्गिक उदाहृतः ॥
आजन्मनोऽभिषेकान्तं रामस्यैवाधिकारिकम् ।
प्रासङ्गिकन्तु सुग्रीवविभीषणविचेष्टितम् ॥
१३५ प्रासङ्गिकाभिधं वस्तु नाटके भवति त्रिधा ।
पताकाप्रकरीयुक्तपताकास्थानकक्रमात् ।
१३६ सानुबन्धं पताकाख्यं प्रकरी च प्रदेशभाक् ।
१३७ उपनायकवृत्तान्तो नायकस्य फलार्थिनः ॥
साधको लभ्यते स्वार्थे सा पताकेति कथ्यते ।
नायकस्य कथामध्ये तत्समानस्य या कथा ॥
आफलोदयपर्यन्ता सा पताकेति कथ्यते ।
पताका मद्रराजस्य शल्यस्य चरितं यथा ॥
१३८ फलं प्रकल्प्यते यस्याः परार्थायैव केवलम् ।
अनुबन्धविहीनां तां प्रकरीमिति निर्दिशेत् ॥

---

वह नाट्य के प्रारम्भ से फल-प्राप्ति पर्यन्त चलने वाला हो, वही 'आधिकारिक' कथावस्तु कहलाती है । उपनायक आदि का वृतान्त जो नायक के प्रयोजन के लिए हो और वह प्रयोजन अपृथक् हो, उसे 'प्रासंगिक' कथावस्तु कहा जाता है । जन्म से लेकर अभिषेक-पर्यन्त राम की कथा 'आधिकारिक'—कथा-वस्तु है और सुग्रीव तथा विभीषण की चेष्टाएँ 'प्रासंगिक'—कथावस्तु है।

१३५ नाटक में प्रासंगिक नाम की कथावस्तु तीन प्रकार की होती है—वह क्रमशः पताका, प्रकरी तथा पताकास्थानक है ।

(पताका, प्रकरी)

१३६ जो प्रासंगिक-कथा अनुबन्ध सहित होती है तथा नाटक में दूर तक चलती है, वह 'पताका' कहलाती है तथा जो कथा केवल एक ही प्रदेश तक सीमित रहती है, वह 'प्रकरी' कहलाती है ।[९४]

१३७ उपनायक का वृत्तान्त फल की इच्छा वाले नायक के स्वार्थ में साधक होता है तो वह 'पताका' कहलाती है । नायक की कथा के बीच में जो उसके समान की कथा फल-प्राप्ति पर्यन्त चलती रहती है, वह 'पताका' कहलाती है । जैसे—मद्रराज शल्य का चरित 'पताका' का उदाहरण है ।

१३८ जिसका फल केवल दूसरे के लिए ही कल्पित किया जाता है, उस अनुबन्ध-विहीन 'प्रकरी' को निर्दिष्ट करना चाहिए । जो कथावस्तु पूर्व में किसी बड़े

येन केनाप्यनल्पेन हेतुना पूर्वमुद्गतम् ।
पश्चान्न दृश्यते यत्तु तद्वस्तु प्रकरी भवेत् ।।
प्रकरी कुलपत्यङ्के जटायोश्चरितं यथा ।
१३९ यथा पताका कस्यापि शोभाकृच्चिह्नरूपतः ।।
स्वस्योपनायकादीनां वृत्तान्तस्तद्वदुच्यते ।
शोभायै वेदिकादीनां यथा पुष्पाक्षतादयः ।।
तथाऽत्र वर्णनादिस्तु प्रबन्धे प्रकरेर्भवेत् ।
१४० आगन्तुकेन भावेन यदभिव्यक्तिकारणम् ।।
वस्तुनो भाव्यवस्थस्य पताकास्थानकन्तु तत् ।
तत्पताकाप्रकर्यादेर्भाव्यवस्थस्य वस्तुनः ।।
सूचनोपायमेवाहुः पताकास्थानकं बुधाः ।
अतीतानागते कार्ये कथ्येते यत्र वस्तुना ।।
अन्यापदेशव्याजेन पताकास्थानकन्तु तत् ।
यत्रार्थे चिन्तितेऽन्यस्मिंस्तद्वदन्यः प्रवर्तते ।।
आगन्तुकेन भावेन पताकास्थानकं तु तत् ।
तत्तुल्यसंविधानञ्च तथा तुल्यविशेषणम् ।।

---

हेतु से अर्थात् किसी बड़े प्रयोजन के लिए कही जाये और बाद में दिखायी न पड़े, वह 'प्रकरी' कहलाती है। जैसे—'कुलपत्यंक'[६५] में जटायु का चरित 'प्रकरी' का उदाहरण है।

१३९ जिस प्रकार पताका किसी की चिह्न-रूप होने से शोभा-कारक होती है, उसी प्रकार अपने उपनायक आदि का वृत्तान्त कहा जाता है। जैसे बेदिका आदि की शोभा के लिए पुष्प, अक्षत, आदि होते हैं, वैसे ही नाटक में वर्णन आदि प्रकरी की शोभा के लिए होते हैं।

**(पताका स्थानक)**

१४० सादृश्यादि के कारण 'आगन्तुक' अर्थात् प्रतीयमान अचिन्तितोपनत पदार्थ द्वारा जो भावी वस्तु की अभिव्यक्ति का कारण होता है, वह 'पताका-स्थानक' कहा जाता है। विद्वान लोग पताका तथा प्रकरी आदि की भावी वस्तु की सूचना के उपाय को ही 'पताका-स्थानक' कहते हैं। जहाँ किसी अन्य बहाने से वस्तु द्वारा अतीत तथा अनागत (भविष्य) कार्य कहे जाते हैं, उसे 'पताका-स्थानक' कहते हैं। जहाँ प्रयोग करने वाले पात्र को तो अन्य अर्थ अभिलषित हो, लेकिन सादृश्यादि के कारण 'आगन्तुक' अर्थात् प्रतीयमान अचिन्तितोपनत पदार्थ के द्वारा कोई दूसरा ही प्रयोग हो जाय, उसे 'पताकास्थानक' कहते

इति द्विधा यदन्योक्तिरूपं तत्प्रथमं भवेत् ।
यत्समासोक्तिरूपन्तु तत्स्यात्तुल्यविशेषणम् ॥
१४१ पताकास्थानकस्यान्ये चातुर्विध्यं प्रजानते ।
"सहसैवार्थसम्पत्तिर्गुणवृत्त्युपचारतः ।
पताकास्थानकमिदं प्रथमं परिकीर्तितम् ॥
वचःसातिशयं श्लिष्टं काव्यबन्धसमाश्रयम् ।
पताकास्थानकमिदं द्वितीयं परिकीर्तितम् ॥
अर्थोपक्षेपणं यत्र लीनं सविनयं भवेत् ।
श्लिष्टप्रत्युत्तरोपेतं तृतीयमिदमिष्यते ॥
द्व्यर्थो वचनविन्यासः सुश्लिष्टः काव्ययोजितः ।
उपन्याससुयुक्तं यत् तच्चतुर्थमुदाहृतम् ॥"
१४२ आदितस्त्रितयं तुल्यसंविधानात्मकं भवेत् ॥
चतुर्थं न भवेत्तुल्यविशेषणसमन्वितम् ।
१४३ उद्दामोत्कलिकेत्यादि लतारत्नावलीगतम् ॥
यदुच्यते द्वितीयेऽङ्के तत्स्यात्तुल्यविशेषणम् ।

---

है।[६६] यह 'तुल्य इतिवृत्त' और 'तुल्य-विश्लेषण' भेद से दो प्रकार का होता है। जो अन्योक्ति-रूप है, वह प्रथम भेद होता है तथा जो समासोक्ति-रूप है, वह 'तुल्य-विशेषण' होता है।

१४१ कोई (भरतमुनि) 'पताकास्थानक' को चार प्रकार का मानते है।
जहाँ उप-चार के द्वारा सहसा ही अधिक गुणयुक्त अर्थ-सम्पत्ति उत्पन्न हो, वह प्रथम 'पताकास्थानक' होता है।
जहाँ काव्य-बन्धों में आश्रित अतिशय शिलष्ट-वचन हों, वहाँ दूसरा 'पताका-स्थानक' होता है।
जो किसी दूसरे अर्थ का 'उपक्षेपक' (सूचना देने वाला), 'लीन' (अव्यक्तार्थक) और विनय (विशेष निश्चय) से युक्त वचन हो, जिसमें उत्तर भी श्लेष-युक्त हो, वह तीसरा 'पताकास्थानक' होता है।
जहाँ काव्योचित सुन्दर श्लेषयुक्त द्वयर्थक वचनों का उपन्यास हो, जो सुन्दर उपन्यास होता है, वह चौथा 'पताकास्थानक' होता है।[६७]

१४२ इन चारों भेदों में प्रथम से लेकर तीसरे तक—तीनों 'तुल्य-संविधानात्मक' हैं, चौथा 'तुल्य विशेषण' से युक्त है।

१४३ (रत्नावली नाटिका) के द्वितीय अंक में[६८] 'उद्दामोत्कलिका' इत्यादि उदाहरण में जो लता के विशेषण कहे गये हैं, वे विशेषण (अन्य प्रेमातुरा नायिका) रत्नावली के भी होते है। अतः यहाँ जो कहा है, वह 'तुल्य-विशेषण' के कारण है।

१४४ यत्सिद्धिचिन्ता यत्काले तत्काले तस्य सिद्धये ॥
विधीयते यदन्योक्तिस्तत्तुल्यं संविधानकम् ।
१४५ 'अपि नाम स गृह्येत' इति कौटिल्यचिन्तया ॥
'गहीदो' इति सिद्धार्थकोक्तिस्तुल्यविधानकम् ।
१४६ यदाधिकारिकं वस्तु द्विधैव परिकीर्तितम् ॥
प्रत्येकं तत्त्रिकं त्रेधा भिद्यते कार्ययोगतः ।
प्रख्यातोत्पाद्यमिश्रत्वभेदात्त्रिविधमुच्यते ॥
१४७ प्रख्यातमितिहासादिरुत्पाद्यं कविकल्पितम् ।
मिश्रं च सङ्करादेवं नवधा वस्तु कल्पितम् ॥
१४८ तस्मादपीह वस्त्वन्यद्दिव्यमर्त्योभयात्मकम् ।
अनन्तत्वादथैतेषामूह्या लक्ष्यानुसारतः ॥
१४९ अत्राधिकारिकस्यापि तथा प्रासङ्गिकात्मनः ।
वस्तुनो भरतः प्राह फलं तस्य भिदा अपि ॥

---

१४४ जिस समय जिसकी सिद्धि की चिन्ता होती है उस समय उसकी सिद्धि के लिए जो अन्योक्ति का विधान किया जाता है, वह 'तुल्य-इतिवृत्त' (संविधान) होता है ।

१४५ 'अपि नाम स गृह्येत' इति-अर्थात् 'क्या उसे ग्रहण करना चाहिए ।' इस प्रकार कौटिल्य की चिन्ता से सिद्धार्थक की उक्ति है कि 'गृहीत (गहीदो)' अर्थात् ग्रहण कर लिया (यह 'तुल्य-विधानक' है ।)

१४६ जो कथावस्तु आधिकारिक, पताका तथा प्रकरी (प्रासंगिक के दो भेद) भेद से तीन प्रकार की कही गयी है वह प्रत्येक फिर से कार्ययोग के कारण तीन-तीन प्रकार की होती है । प्रख्यात, उत्पाद्य तथा मिश्र भेद से वे तीन प्रकार जाने जाते हैं ।

१४७ 'प्रख्यात' इतिहास, पुराण आदि से ग्रहीत होता है; 'उत्पाद्य' कवि की स्वयं की कल्पना से होता है तथा 'मिश्र' में दोनों (प्रख्यात तथा उत्पाद्य) का मिश्रण रहता है ।[६९]

इस प्रकार कथावस्तु नौ प्रकार की कही गयी है ।

१४८ साथ ही वह 'कथावस्तु' दिव्य, मर्त्य तथा दिव्यादिव्य होती है । इस प्रकार इन सभी के अनन्त भेद हो जाने से ये लक्ष्य के अनुसार ही कही गयी है ।

१४९ यहाँ आधिकारिक तथा प्रासंगिक कथावस्तु के फल और उसके भेद भी भरत ने कहे हैं ।

१५० फलं त्रिवर्गस्तच्छुद्धमेकानेकानुबन्धि च ।
त्रिभिर्द्वाभ्यामथैकेन तेषामन्योन्यसङ्करात् ।।
एवं द्वादशधा वस्तुफलभेदाः प्रकल्पिताः ।
१५१ बीजमस्येतिवृत्तांशः त्रिवर्गस्येरितं बुधैः ।।
फलं यदितिवृत्तस्य स त्रिवर्ग इतीरितः ।
१५२ उपक्षिप्तन्तु यत्स्वल्पं विस्तारं यात्यनेकधा ।।
हेतुर्यत्स्यात्त्रिवर्गस्य तद्बीजमिति कथ्यते ।
१५३ विस्तारो बहुधा तस्य नायकादिविभेदतः ।।
स स्वामात्योभयायत्तसंसिद्धेर्नायकस्य तु ।
तत्तदुत्साहरुपोऽयं विस्तार इति कथ्यते ।।
बीजमुप्तं यथा स्कन्धशाखापुष्पादिरूपतः ।
बहुधा विस्तृतिं गच्छेत्फलायान्तेऽवकल्पते ।।
तथा नायकमित्रादिरूपोऽन्ते फलवान् भवेत् ।
बीजञ्च वेणीसंहारे सत्पक्षा इति दर्शितम् ।।

---

१५० धर्म, अर्थ तथा काम—इन तीनों की प्राप्ति कथावस्तु का फल है। यह फल कहीं तीनों, कहीं दो और कहीं एक के परस्पर मिश्रण से शुद्ध, एक और अनेकानुबन्धी होता है।[७०] इस प्रकार कथावस्तु के फल-भेद बारह प्रकार के कहे गये हैं।

**(बीज)**

१५१ विद्वानों द्वारा इस त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ तथा काम) के इतिवृत्तांश को 'बीज' कहा जाता है।

जो इतिवृत्त का फल है, वह त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ तथा काम) कहा जाता है।

१५२ जो रूपक के प्रारम्भ में निर्दिष्ट होता है और आगे चलकर अनेक प्रकार के विस्तार को प्राप्त होता है, तथा जो मुख्य फल त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ तथा काम) का साधक (हेतु) होता है, वह 'बीज' कहलाता है।

१५३ नायक आदि के भेद से उसका बहुत प्रकार से विस्तार होता है।

अपने मन्त्री और अपने तथा अपने मन्त्री—दोनों के आश्रित होकर कार्य-सिद्धि के लिए नायक का वह-वह उत्साह-रूप 'विस्तार' कहा जाता है। जैसे—बोया हुआ 'बीज' तना, शाखा तथा पुष्पादि रूप से अनेक प्रकार के विस्तार को प्राप्त हो जाता है, और अन्त में फल को उत्पन्न करता है, वैसे ही मित्रादि-रूप नायक अन्त में फलवान (फल को प्राप्त करने वाला) होता है। वेणी संहार नाटक में[७१] 'सत्पक्षाः'—इत्यादि उदाहरण 'बीज' कहा जाता है।

१५४ फले प्रधाने विच्छिन्ने बीजस्यावान्तरैः फलैः ।
तस्याविच्छेदको हेतुः बिन्दुरित्याह कोहलः ।।
बिन्दुर्मानविपत्तिभ्यां द्विरूपः कथ्यते बुधैः ।
क्रोधेन मानजो बिन्दुः शोकेन स्याद्विपत्तिजः ।।
१५५ लाक्षागृहानलेत्यादि बिन्दोः सामान्यलक्षणम् (?) ।
१५६ कृष्टा येनेति पाञ्चाली व्याहृता गौरिति क्रुधा ।।
शोकेन द्रौपदीकेशाम्बराकर्षणपातकिन् ।
इति बिन्दोर्द्विरूपत्वमन्यत्रोह्यमिदं यथा ।।
१५७ बीजं बिन्दुः पताका च प्रकरी कार्यमेव च ।
अर्थप्रकृतयः पञ्च कथाभेदस्य हेतवः ।।
एते कथाशरीरस्य हेतवः परिकीर्तिताः ।
१५८ साधनत्वाद्धि बीजस्य प्रथमं तदुपक्षिपेत् ।।
साध्यत्वादेव कार्यस्य सर्वान्ते तत्प्रयोजयेत् ।
अविच्छेदाय रचयेद्बिन्दुं मध्ये तयोरपि ।।
तत्र तत्र यथायोगं पताकाप्रकरीर्न्यसेत् ।

---

(बिन्दु)

१५४ बीज के अवान्तर फलों से प्रधान फल के विच्छिन्न हो जाने पर उस फल का अविच्छेदक हेतु 'बिन्दु' कहलाता है—ऐसा कोहल ने कहा है। मान तथा विपत्ति भेद से 'बिन्दु' विद्वानों द्वारा दो प्रकार का कहा जाता है। क्रोध से 'मानज' बिन्दु होता है और शोक से 'विपत्तिज' बिन्दु होता है।

१५५ 'लाक्षागृहानल'[७२]—'इत्यादि उदाहरण मे 'बिन्दु' का सामान्य लक्षण घटित होता है।

१५६ 'कृष्टा येन—' इत्यादि उदाहरण मे पांचाली को गौ-रूप में जो कहा गया है, वह क्रोध-भाव से कहा गया है तथा शोक-भाव से कहा गया है कि 'अरे ! द्रौपदी के वस्त्र और केश के आकृष्ट करने वाले महापापी !'

बिन्दु का यह द्विरूपत्व (मानज तथा विपत्तिज) अन्यत्र भी कहा गया है।

१५७ कथा-भेद की हेतु-रूप पाँच अर्थ-प्रकृतियाँ होती हैं—बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी तथा कार्य। यह कथा-शरीर की हेतु कही जाती हैं।

१५८ बीज के साधन होने से सर्वप्रथम 'बीज' को कहना चाहिए। कार्य के साध्य होने से सबसे अन्त में 'कार्य' को कहना चाहिए। कथा की अविच्छिन्नता के लिए 'बिन्दु' को बीज तथा कार्य के मध्य में कहना चाहिए तथा यथायोग्य वहाँ-वहाँ 'पताका' और 'प्रकरी' का प्रयोग करना चाहिए।

१५९ उक्ता ह्यर्थप्रकृतयस्तत्प्रवृत्तिश्च दर्शिता ॥
यथा हि विश्वामित्रस्य प्रोत्साहोपचितः स्वतः ।
रामाद्युत्साहरूपोऽर्थो बीजमित्यभिधीयते ॥
यद्द्वितीये तृतीयेऽङ्के जात्याद्यच्छेदकारणम् ।
अनुयायी भवेद्बिन्दुश्चतुर्थाङ्कावधि क्वचित् ॥
यथा हि वीरचिते चतुर्थेऽङ्के विलोक्यते ।
विष्कम्भे माल्यवद्वाक्ये सा वत्सा इत्युदीरिते ॥

१६० सुग्रीवादेर्य उत्साहो रामाद्युत्साहसाह्यकृत् ।
सानुबन्धः फलप्राप्तेः सा पताकेति कथ्यते ॥

१६१ यथा जटायोर्वृत्तान्तः सीतापहरणे कृतः ।
हनूमतो वा प्रकरी यथा सागरलङ्घने ॥

१६२ ताताज्ञामधिमौलीति वाक्ये कार्यं विलोक्यते ।
ताताज्ञामधिमौलि मौक्तिमर्णिं कृत्वा महापोत्रिणो
दंष्ट्राविध्य[द्ध]विलासपत्रकबरी दृष्टा भृशं मेदिनी ।
सेतुर्दक्षिणपश्चिमौ जलनिधी सीमन्तयन्निर्मितः
कल्पान्तं च कृतं समस्तमदशग्रीवोपसर्गं जगत् ॥

---

१५९ इस प्रकार अर्थ प्रकृतियाँ कह दीं, अब इनकी प्रवृत्ति कहते है । जैसे—विश्वामित्र की स्वतः उत्साहवृद्धि रामादि के उत्साह-रूप के लिए 'बीज' कही जाती है । द्वितीय और तृतीय अंक में जात्यादि की अविच्छिन्नता का जो कारण होता है, वह 'बिन्दु' होता है । यह कहीं चौथे अंक में भी प्राप्त होता है जैसा कि 'महावीरचरित' के चतुर्थ अंक में देखा जाता है । विष्कम्भ में माल्यवान वाक्य कहता है—'हा वत्सा'[७३]—इत्यादि ।

१६० सुग्रीव आदि का जो उत्साह रामादि की उत्साह-वृद्धि में सहायता करता है, वह सानुबन्ध फल-प्राप्ति के कारण 'पताका' कहा जाता है ।

१६१ जैसे—सीताहरण के समय जटायु का वृत्तान्त या सागर-लंघन के समय हनुमान का वृतान्त 'प्रकरी' कहा जाता है ।

१६२ 'ताताज्ञामधिमौलि—' इत्यादि उदाहरण में 'कार्य' देखा जाता है ।
(राम ने) पिता की आज्ञा को शिरोधार्य करके वराहावतार-रूप विष्णु के दाढ़ों से विद्ध शोभा से चित्रित पृथ्वी को बार-बार देखा, समुद्र की दक्षिणी और पश्चिमी सीमा निर्धारित करते हुए सेतु का निर्माण किया और सृष्टचन्त तक के लिए जगत् को रावण के उपद्रवों से मुक्ति दी । (अनर्घराघव, ७.१५०) ।

१६३ अत्र धर्मार्थनिष्पत्तिः फलत्वेन प्रकल्पिता ॥
अवस्थाः पञ्च कार्यस्य प्रारब्धस्य फलार्थिभिः ।
आरम्भयत्नप्राप्त्याशानियताप्तिफलागमाः ॥

१६४ कार्यस्य नायकादीनां व्यापारापेक्षया पुनः ।
पञ्चावस्था भवन्तीति भरतादिभिरुच्यते ॥

१६५ औत्सुक्यमात्रबन्धस्तु यद्बीजस्य नियुज्यते ।
महतः फलयोगस्य स खल्वारम्भ इष्यते ।

१६६ अपश्यतः फलप्राप्तिं यो व्यापारः फलं प्रति ।
परं चौत्सुक्यगमनं स प्रयत्नः प्रकीर्तितः ॥

१६७ ईषत्प्राप्तिश्च या काचिदर्थस्य परिकल्प्यते ।
सत्तामात्रेण नं प्राहुर्विधिवत्प्राप्तिसंभवम् ॥

१६८ नियुक्ता नु फलप्राप्तिर्यदा ह्येवं प्रपश्यति ।
नियतां नु फलप्राप्तिं सगुणां तां विनिर्दिशेत् ॥

---

१६३ यहाँ फलरूप में धर्म तथा अर्थ की निष्पत्ति कही गयी है। फल चाहने वाले पुरुषों के द्वारा आरम्भ किये गये कार्य की पाँच अवस्थाएँ होती है—आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति तथा फलागम ।

१६४ नायक आदि के व्यापार की अपेक्षा से कार्य की पुनः पाँच अवस्थायें होनी है—ऐसा भरतादि आचार्य कहते हैं ।

**(आरम्भ)**

१६५ जो बीज के अत्यन्त फलभाग का उत्सुकता-मात्र बन्ध (रचना) होता है, वह 'आरम्भ' कहलाता है ।

**(प्रयत्न)**

१६६ उस फल की प्राप्ति को न देखते हुए, उस फल के प्रति बड़ी उत्सुकता के साथ (नायक का) जो उपाय योजनायुक्त व्यापार या चेष्टा होती है, वह 'प्रयत्न' कहलाती है ।

**(प्राप्त्याशा)**

१६७ जहाँ (नायक के) भाव मात्र से कुछ-कुछ फल प्राप्ति कही जाती है उसे विधिवत् 'प्राप्तिसंभव' (प्राप्त्याशा) कहते हैं ।

**(नियताप्ति)**

१६८ जब फल की प्राप्ति निश्चित हो जाती है अर्थात् जब नायक फल की प्राप्ति को निश्चित देख लेता है, तो उसे गुण-युक्त 'नियत-फल प्राप्ति' कहते हैं ।

१६९ अभिप्रेतं समग्रं च प्रतिरूपं क्रियाफलम् ।
दृश्यते यन्निवृत्तेति फलयोगः स उच्यते ।।
१७० सर्वस्यैव हि कार्यस्य प्रारब्धस्य फलार्थिभिः ।
यथानुक्रमशो ह्येताः पञ्चावस्था भवन्ति हि ।।
१७१ शकुन्तलायाः क्षत्रेण परिग्राह्यक्षमत्वतः ।
आरम्भोऽसंशयं क्षत्रेत्यादिदुष्यन्तभाषिते ।।
१७२ प्रयत्नो माधवेनैव मालत्याः सङ्गमाशया ।
प्राणैस्तपोभिरित्यादि यत्तत्कामन्दकीवचः ।।
१७३ प्रीते विधातरीत्यादि प्राप्त्याशा माल्यवद्वचः ।
१७४ सन्देहनिर्णयो जातः साभिलाषं भवेति च ।।
दुष्यन्तभाषितं यत्र नियताप्तिरियं भवेत् ।
१७५ भीमस्य वेणीसंहारे फलयोगोऽत्र दर्शितः ।।
१७६ अवस्थापञ्चकं ह्येतदर्थप्रकृतिभिस्सह ।
निबन्धनीयं कविभिर्यथैवान्योन्यमन्वितम् ।।
१७७ तदन्वयवशादर्थप्रकृतीनां यथाक्रमम् ।
एकैकस्य भवेत्सन्धिरेकैक इति निर्णयः ।।

---

(फलयोग)

१६९ नाटक की समाप्ति के समय जब सम्पूर्ण अभिप्रेत प्रतिरूप-क्रियाफल दिखाई देता है, वह 'फलयोग' कहा जाता है ।

१७० फल चाहने वाले पुरुषों के द्वारा आरम्भ किये गये समस्त कार्य की, जैसी कि क्रमशः कही गई हैं, ये पाँच अवस्थाएँ होती हैं ।[७४] उदाहरण के लिए—

१७१ 'असंशयं क्षत्र—'[७५]इत्यादि श्लोक में दुष्यन्त के बचन का कहना 'आरम्भ' है क्योंकि शकुन्तला क्षत्रिय के द्वारा पत्नी-रूप में स्वीकार करने योग्य है ।

१७२ मालती का माधव के साथ संगम होने की आशा से 'प्राणैस्तपोभिः'[७६]— इत्यादि उदाहरण में जो कामन्दकी का वचन है वह 'प्रयत्न' है ।

१७३ 'प्रीते विधातरि'[७७]—इत्यादि उदाहरण में माल्यवान का वचन 'प्राप्त्याशा' है ।

१७४ जहाँ दुष्यन्त कहता है कि 'हे हृदय तू अभिलाषा कर । अब सन्देह का निर्णय हो गया है'[७८] । यह 'नियताप्ति' है ।

१७५ 'वेणीसंहार' में भीम का वचन 'फलयोग' कहा गया है ।

१७६ कविजनों को पंच अर्थ-प्रकृतियों के साथ परस्पर अन्वित पंच अवस्थाओं को कहना चाहिए ।

१७७ अर्थ प्रकृतियों के उस अन्वय के कारण अर्थप्रकृतियों से क्रमशः एक-एक से एक-एक सन्धि का निर्णय किया जाना चाहिए ।

१७८ अथार्थप्रकृतीनां तदवस्थापञ्चकस्य च ।
अन्वयो ह्यु पसंहारक्रमारम्भक्रमाश्रयः ।।
१७९ पञ्चावस्थासमेतार्थप्रकृतीनां यथाक्रमम् ।
यथासङ्ख्येन जायन्ते मुखाद्याः पञ्च सन्धयः ।।
१८० अन्तरैकार्थसम्बन्धः सन्धिरेकान्वये सति ।
अन्वितानां कथांशानां परमे तु प्रयोजने ।।
संबन्धस्सन्धिरित्युक्तोऽवान्तरैकप्रयोजनः ।
१८१ एककार्यान्वितेष्वत्र कथांशेषु प्रयोगतः ।।
अवान्तरैककार्यस्य सम्बन्धः सन्धिरिष्यते ।
१८२ मुखं प्रतिमुखं गर्भः सावमर्शोपसंहृतिः ।।
विवक्षितोऽयमुद्देशक्रमोऽवस्थाक्रमो यथा ।
१८३ नानार्थरसहेतुस्तु बीजोत्पत्तिर्मुखं भवेत् ।।
अंहो अअं सो राओत्ति रत्नावल्यां मुखं स्मृतम् ।

---

१७८ इस प्रकार पंच अर्थप्रकृतियों तथा पंच अवस्थाओं का अन्वय (मिश्रण) उपसंहार-क्रम तथा आरम्भ-क्रम के आश्रित होता है ।

१७९ बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी तथा कार्य—ये पाँच अर्थ प्रकृतियाँ जब क्रम से आरम्भ यत्व, प्राप्त्याशा, नियताप्ति तथा फलागम—इन पाँच अवस्थाओं से मिलती हैं तो क्रमशः मुख, प्रति-मुख, गर्भ, विमर्श तथा उपसंहृति (उपसंहार)—इन पाँच सन्धियों की रचना होती है ।[79]

(सन्धि)

१८० किसी एक परम प्रयोजन से परस्पर सम्बद्ध (अन्वित) कथांशों का जब किसी दूसरे एक प्रयोजन से सम्बन्ध किया जाय, तो वह सम्बन्ध 'सन्धि' कहलाता है ।[80]

१८१ यहाँ किसी एक कार्य से परस्पर सम्बन्ध (अन्वित) कथांशों में जब प्रयोगतः किसी दूसरे एक कार्य का सम्बन्ध जोड़ा जाय, तो वह सम्बन्ध 'सन्धि' कहा जाता है ।

१८२ मुख, प्रतिमुख, गर्भ, अवमर्श तथा उपसंहृति—ये पाँच सन्धियाँ हैं । यह सन्धियों का क्रम वैसा ही कहा गया है जैसा कि पच अवस्थाओं का क्रम है ।

(मुख)

१८३ जहाँ अनेक अर्थ और अनेक रसों की उत्पत्ति के हेतु बीज (अर्थ प्रकृति-विशेष) की उत्पत्ति हो, उसे 'मुख-सन्धि' कहते हैं । जैसे—
रत्नावली में सागरिका का यह बचन 'अंहो अअं सो राओ·······।'[81] इत्यादि 'मुख-सन्धि' कहा गया है ।

१८४ बीजोत्पत्तिर्न हेतुः स्याद्रसानां मुखसन्धिभाक् ॥
तेषां त्रिवर्गसम्बन्धः प्रायो यस्मान्न दृश्यते ।
मैवं कामोपयोग्यत्र शृङ्गारो दृश्यते रसः ॥
अर्थोपयोगी वीरः स्याद्रौद्रोऽपि स्यात्क्वचित्क्वचित् ।
रक्षारुपेण धर्मार्थोपयोगी करुणो भवेत् ॥
अद्भुतोऽपि मनः प्रीतिप्रदत्वात्कामसाह्यकृत् ।
ते भयानकबीभत्सहास्याः काव्येषु योजिताः ॥
तत्तन्नेतृमनोवृत्तिवशात्प्रायस्त्रिवर्गगाः ।
अतो रसानां हेतुत्वं मुखसन्धेर्भवेदपि ॥
१८५ बीजारम्भोदाहृतिर्या मुखसन्धेश्च सा भवेत् ।
अङ्गानि द्वादशैतस्य बीजारम्भसमन्वयात् ॥
उपक्षेपः परिकरः परिन्यासो विलोभनम् ।
युक्तिः प्राप्तिः समाधानं विधानं परिभावना ॥
उद्भेदः करणं भेद इत्यङ्गानि मुखस्य तु ।
१८६ बीजन्यास उपक्षेपस्तद्बाहुल्यं परिक्रिया ।
तन्निष्पत्तिः परिन्यासो गुणाख्यानं विलोभनम् ।

---

**(बीज की रसोत्पत्ति-हेतुता)**

१८४ मुख-सन्धि कहलाने वाली बीज की उत्पत्ति रसो की उत्पत्ति का हेतु नही होती, क्योंकि उन (रसों) का प्राय. त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ तथा काम) सम्बन्ध नहीं दिखाई देता। लेकिन ऐसा नही है—शृगार-रस कामोपयोगी देखा जाता है। अर्थोपयोगी वीर-रस होता है, कही-कहीं रौद्र भी अर्थोपयोगी होता है। रक्षा-रूप में धर्म तथा अर्थ का उपयोगी करुण-रस होता है। अद्भुत-रस मन को प्रसन्नता प्रदान करने के कारण काम का सहायक होता है। तथा काव्य में कहे गये वे भयानक, बीभत्स तथा हास्य-रस उस-उस नेतृगत मनोवृत्ति के कारण प्रायः त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ तथा काम) के उपयोगी होते हैं। अतः मुख-सन्धि की भी रसोत्पत्ति-हेतुता होती है।

१८५ बीज तथा आरम्भ के जो उदाहरण हैं, वह मुख-सन्धि के भी हैं। बींज तथा आरम्भ के सम्बन्ध से इस मुख-सन्धि के बारह अंग है। उपक्षेप, परिकर, न्यास, विलोभन, युक्ति, प्राप्ति, समाधान, विधान, परिभावना, उद्भेद, भेद तथा करण—ये बारह मुख-सन्धि के अंग है।

१८६ बीज के न्यास (रखना) को 'उपक्षेप' कहते हैं, बीज की वृद्धि को 'परिक्रिया' या 'परिकर' कहते है। बीज की निष्पत्ति 'परिन्यास' कहलाती है। गुण-कथन को 'विलोभन' कहते हैं। प्रयोजन के सम्यक् निर्णय को 'युक्ति' कहते

सम्प्रधारणमर्थानां युक्तिरित्यभिधीयते ॥
बीजागमः समाधानं प्राप्तिः कोऽपि सुखागमः ।
परिभावोऽद्भुतावेशो विधानं सुखदुःखकृत् ॥
करणं प्रकृतारम्भ उद्भेदो गूढभेदनम् ।
भेदः प्रोत्साहनाऽङ्गानि कथितानि यथार्थतः ॥

१८७ वस्तुनेतृरसादीनामानुगुण्येन योजयेत् ।
विवक्षितोऽत्र नाङ्गानां क्रम इत्येव निर्णयः ॥

१८८ लक्ष्यालक्ष्य इवोद्भेदस्तस्य प्रतिमुखं भवेत् ।
दृश्यादृश्यतया बीजव्यक्तिः प्रतिमुखं भवेत् ॥
प्रत्यङ्कोपनिबद्धानां तत्तत्कार्यानुसारतः ।
प्रयोजनानां निष्पत्तिर्दृश्यत्वमिह कथ्यते ॥
बहूनां तादृगर्थानामनिष्पत्तिरदृश्यता ।

१८९ यथा सागरिकायान्तु वत्सराज्य दर्शनात् ॥
समागमेच्छा बीजन्तु दृश्यादृश्यतया स्थितम् ।

---

है। बीज के आगम को 'समाधान' कहते हैं। समाधान का अर्थ है—युक्ति के साथ बीज को रखना। किसी भी सुख के प्राप्त होने को 'प्राप्ति' कहते हैं। आश्चर्यजनक बात को देखकर कुतूहल-युक्त बातों के कथन को 'परिभाव' कहते हैं। सुख-दुःख के कारण को 'विधान' कहते हैं। प्रस्तुत कार्य के प्रारम्भ कर देने को 'करण' कहते है। छिपी हुई बात को खोल देने को 'उद्भेद' कहते हैं। उत्साहयुक्त वचनों के कथन को 'भेद' कहते हैं। इस प्रकार से मुख-सन्धि के बारह अंग यथार्थतः कह दिये गये।[८२]

१८७ ये अंग वस्तु, नेता तथा रस आदि के अनुरूप प्रयुक्त होने चाहिए। यहाँ इन अंगों का क्रम नहीं कहा गया है—यही निर्णय (निश्चय) है।

**(प्रतिमुख)**

१८८ उस बीज का किंचित लक्ष्य और किंचित अलक्ष्य-रूप में उद्भिन्न होना 'प्रतिमुख-सन्धि' कहलाता है। किंचित दृश्य और किंचित अदृश्य-रूप में बीज की अभिव्यक्ति 'प्रतिमुख' सन्धि कहलाती है। तद्-तद् कार्यानुसार प्रत्येक अंक में उपनिबद्ध प्रयोजनों की निष्पत्ति 'दृश्य' कहलाती है और उस प्रकार से अर्थों की अ-निष्पत्ति 'अदृश्य' कहलाती है। जैसे—

१८९ रत्नावली में वत्सराज के दर्शन से सागरिका में होने वाली समागम की इच्छा-रूप बीज दृश्यादृश्य रूप में उद्भिन्न होने से 'प्रतिमुख' सन्धि है।

१९० बिन्दुयत्नानुगमादङ्गान्यस्य त्रयोदश ॥
विलासः परिसर्पश्च विधूतं शमनर्मणी ।
नर्मद्युतिः प्रगमनं निरोधः पर्युपासनम् ॥
पुष्पं वज्रमुपन्यासो वर्णसंहार इत्यपि ।
१९१ रतिचेष्टा विलासः स्याद्दम्पत्योर्नवसङ्गमे ॥
परिसर्पस्तु बीजस्य दृष्टनष्टानुसर्पणम् ।
१९२ विधूतमरतिर्यूनोस्सुरताप्राप्तिसम्भवा ॥
यूनोररत्युपशमः शम इत्युच्यते बुधैः ।
१९३ परिहासवचो नर्म धृतिस्तज्जा द्युतिर्भवेत् ॥
युक्तोत्तरं प्रगमनं निरोधः स्यान्निरोधनम् ।
अनुनीतिः पर्युपास्तिः पुष्पं सातिशयं वचः ॥
प्रत्यक्षनिष्ठुरं वज्रमुपन्यासः प्रसादनम् ।
वर्णसंहार इत्युक्तो नानाजातीयसङ्गमः ॥
१९४ एतेषाञ्च क्रमो न स्याद्व्युत्क्रमस्यापि दर्शनात् ।

---

१९० यह सन्धि बिन्दु नामक अर्थप्रकृति तथा प्रयत्न नामक अवस्था के मिश्रण से पैदा होती है। इसके तेरह अंग हैं—विलास, परिसर्प, विधूत, शम, नर्म, नर्मद्युति, प्रगमन, निरोध, पर्युपासन, पुष्प, वज्र, उपन्यास तथा वर्णसंहार।

१९१ दम्पत्ति के प्रथम समागम के समय रति की चेष्टा 'विलास' कहलाती है। जहाँ बीज एक बार दृष्ट हो गया हो, किन्तु पुनः दृष्ट होकर नष्ट हो जाय और उसकी खोज की जाय, तो यह खोज 'परिसर्प' कहलाती है।

१९२ युवक-युवती के बीच सुरत की अ-प्राप्ति के कारण उत्पन्न होने वाली अरति 'विधूत' कहलाती है।

युवक-युवती के बीच उत्पन्न अरति के उपशम (शान्ति) को विद्वान लोग 'शम' कहते है।

१९३ परिहास-युक्त वचन को 'नर्म' कहते है। परिहास से उत्पन्न धृति को 'नर्म-द्युति' कहते हैं। बीज के अनुकूल उत्तर-प्रत्युत्तर-युक्त वचन को 'प्रगमन' कहते हैं। हित की रोक हो जाने पर 'निरोधन' होता है। अनुनय-विनय पर्युपास्ति का 'पर्युपासन' कहलाता है। विशेषतायुक्त वचन के कथन को 'पुष्प' कहते हैं। सम्मुख निष्ठुर वाक्य के कथन को 'वज्र' कहते हैं। प्रसन्न करने को 'उपन्यास' कहते हैं। विभिन्न जाति के सम्मिलन को 'वर्ण-संहार' कहते है।[८३]

१९४ इन अंगों का क्रम नहीं है, व्युत्क्रम के दर्शन से पौवापर्य हो जाता है। नर्मद्युति

पौर्वापर्यं भवेन्नर्मद्युत्यन्ते विधुतादिके ॥
विलासादेः प्रधानत्वं नेत्रादिवशतो भवेत् ।
१९५ गर्भः स्याद्दृष्टनष्टस्य बीजस्यान्वेषणं मुहुः ॥
१९६ बीजस्यैवान्तरायादेरस्य प्रतिमुखान्तरे
दृश्यादृश्यतया दृष्टनष्टस्यान्वेषणं हि सः ॥
व्यपायशङ्काऽनुवृत्तेर्विच्छेदस्यानुवृत्तितः ।
पौनःपुन्यं मुहुरिति गर्भस्तादृश ईरितः ।
१९७ स्यादत्रोत्सर्गतः प्राप्तिः पताकाया विकल्पतः ।
तथाप्यस्या निवेशः स्यात्प्राप्त्याशाया नियोगतः ॥
प्राप्त्याशायामवस्थायां गर्भसन्धाविहाथवा ॥
अपताके निवेशः स्याद्बिन्दोर्बीजस्य वा क्वचित् ॥
समन्वयेऽर्थप्रकृतेः प्राप्त्याशाया इतोरितः ।
अभावस्तु पताकाया यथा मालविकादिषु ।
सद्भावो दृश्यते तस्या मालतीमाधवादिषु ।
तस्मात्पताका स्यान्नेति विकल्पं प्राह कोहलः ॥

---

बाद में है, विधूत पहले है। विलास आदि की प्रधानता नेता आदि के कारण होती है।

(गर्भ-सन्धि)

१९५ जब बीज के दिखने के बाद फिर से नष्ट हो जाने पर उसका अन्वेषण पुनः-पुनः किया जाय तो 'गर्भ'-सन्धि होती है।

१९६ जिस बीज को प्रतिमुख-सन्धि में विघ्न आदि के कारण कभी पनपता और कभी मुरझाता (लक्ष्यालक्ष्य रूप में) देखा जाता है, वही बीज फिर दिखाई देने पर नष्ट हो जाता है और नष्ट की खोज की जाती है तो वह 'गर्भ-सन्धि' कहलाती है। बार-बार विघ्न की शंका से तथा विच्छेद के होने से जहाँ बीज का बार-बार आविर्भाव, तिरोभाव तथा अन्वेषण होता रहता है वह 'गर्भ-सन्धि' कही जाती है।

१९७ यहाँ गर्भ-सन्धि में पताका का होना आवश्यक नहीं है, पताका रह भी सकती है, नही भी रह सकती है। लेकिन प्राप्त्याशा का रहना तो नितान्त आवश्यक है।

प्राप्त्याशा-अवस्था में अथवा पताका-रहित गर्भ-सन्धि मे बिन्दु या बीज का प्रवेश होता है और कहीं (पताका) अर्थप्रकृति तथा प्राप्त्याशा (अवस्था) का समन्वय पाया जाता है। पताका का अभाव—जैसा कि 'मालविकाग्नि-मित्र' आदि नाटकों मे देखा जाता है। पताका का भाव—जैसा कि 'मालतीमाधव' आदि नाटकों में देखा जाता है। इसीलिए कौहल का मत है कि 'गर्भसन्धि' मे पताका विकल्प से रहती है, वहाँ वह रह भी सकती है, नहीं भी रह सकती है।

१९८ गर्भसन्धेः प्रसिद्धत्वान्नोदाहरणमुच्यते ।
तृतीयाङ्के तु मालत्या(व्या) गर्भसन्धिर्विलोक्यते ॥
शरीरं क्षाममित्यादि क्व सेत्यन्तं यदन्तरा ।

१९९ अङ्गानि द्वादशैतस्य गर्भसन्धेर्यथाक्रमम् ॥
अभूताहरणं मार्गो रूपोदाहरणे क्रमः ।
संग्रहश्चानुमानञ्च तोटकाधिबले तथा ॥
उद्वेगसम्भ्रमाक्षेपा इत्यङ्गानि भवन्ति तु ।

२०० अभूताहरणं छद्म तदा तत्त्वस्य कत्थनम् ।
अभूताहरणं तत्स्याद्वाक्यं यत्कपटाश्रयम् ।
तत्वार्थकीर्तनं मार्गो रूपं सन्देहकृद्वचः ॥
द्वित्रार्थसमवाये तु वितर्को रूपमुच्यते ।
यत्तु सातिशयं वाक्यं तदुदाहरणं भवेत् ॥
क्रमः सञ्चिन्तिततार्थाप्तिर्भावज्ञानमथापरे ।
सङ्ग्रहः सामदानोक्तिरभ्यूहो लिङ्गतोऽनुमा ॥
चेष्टयाऽन्यातिसन्धानं वदन्त्यधिबलं बुधाः ।
संरम्भयुक्तं वचनं यत्तत्तोटकमुच्यते ॥
उद्वेगोऽरिकृता भीतिः शङ्कात्रासौ च सम्भ्रमः ।

---

१९८ गर्भ-सन्धि के प्रसिद्ध होने से उदाहरण नही कहते है। 'मालविकाग्निमित्र नाटक के तृतीय अंक में 'गर्भ-सन्धि' देखी जाती है।[८४] 'शरीरं क्षाम'—से लेकर 'क्वसा' तक गर्भ-सन्धि का उदाहरण है।

१९९ इस गर्भ-सन्धि के यथाक्रम बारह अंग होते है—अभूताहरण, मार्ग, रूप, उदाहरण, क्रम, संग्रह, अनुमान, तोटक, अधिबल, उद्वेग, सभ्रम तथा आक्षेप।

२०० तत्त्व के कपटयुक्त वचन के कथन को 'अभूताहरण' कहते हैं। जो कपट के आश्रित वाक्य होता है, वह 'अभूताहरण' होता है। तत्त्व-गर्भित बात के कथन को 'मार्ग' कहते हैं। सन्देहास्पद बात के कथन को 'रूप' कहते है। दो-तीन प्रयोजनों के इकट्ठे हो जाने पर होने वाला तर्क-वितर्क 'रूप' कहलाता है। उत्कर्षयुक्त वचन के कथन को 'उदाहरण' कहते है। अभिलषित वस्तु की प्राप्ति को 'क्रम' कहते है। दूसरों के मत में—भाव के ज्ञान का होना 'क्रम' कहलाता है। साम-दान से युक्त उक्ति को 'संग्रह' कहते हैं। चिह्न विशेष के द्वारा किसी बात का अनुमान करना 'अनुमान' कहलाता है। चेष्टापूर्वक दूसरों को धोखा देना बुधजनों द्वारा 'अधिबल' कहलाता है। क्रोधयुक्त वचन को 'तोटक' कहते हैं। शत्रु से उत्पन्न मय को 'उद्वेग' कहते है। शंका और

गर्भबीजसमुत्क्षेपादाक्षेप इति कीर्तितः ।।
गर्भसन्धेरिहाङ्गाना क्रमोऽपि न विवक्षितः ।
२०१ क्रोधेनावमृशेद्यत्र व्यसनाद्वा विलोभनात् ।।
गर्भनिर्भिन्नबीजार्थः सोऽवमर्श इति स्मृतः ।
गर्भनिर्भिन्नबीजार्थः सम्बन्धो व्यसनादिजः ।।
विचारनिर्णयो यस्तु सोऽवमर्श इति स्मृतः ।
२०२ यथा हि वेणीसंहारे तीर्णे भीष्ममहार्णवे ।।
इत्यादिनैव षष्ठेऽङ्के सोऽवमर्शो विलोक्यते ।
२०३ तत्रापवादसम्फेटौ विद्रवद्रवशक्तयः ।।
द्युतिः प्रसङ्गश्छलनं व्यवसायो विरोधनम् ।
प्ररोचना विचलनमादानञ्च त्रयोदश ।।
२०४ दोषप्रख्याऽपवादः स्यात्सम्फेटो रोषभाषणम् ।
विद्रवो वधबन्धादिर्द्रवो गुरुतिरस्कृतिः ।।
विरोधशमनं शक्तिस्तर्जनोद्वेजने द्युतिः ।
अप्रस्तुतार्थकथनं प्रसङ्ग इति कथ्यते ।।

---

त्रास के होने को 'संभ्रम' कहते हैं। गर्भ में रहने वाले बीज के स्पष्ट होने को 'आक्षेप' कहते है। यहाँ गर्भ-सन्धि के अंगों का क्रम नही कहा गया है।[८५]

(अवमर्श)

२०१ जहाँ क्रोध से, व्यसन से या विलोभन (लोभ) से फल-प्राप्ति के विषय में विचार-विमर्श किया जाय तथा जहाँ गर्भ-सन्धि के द्वारा बीज को प्रकट कर दिया गया हो, वहाँ 'अवमर्श' सन्धि कहलाती है। जहाँ गर्भ-सन्धि के द्वारा बीज को प्रकट कर लिया गया हो, तथा जहाँ व्यसन आदि से उत्पन्न सम्बन्ध से फल-प्राप्ति के विषय में विचार-निर्णय किया गया हो, वह 'अवमर्श' सन्धि कहलाती है। जैसे—

२०२ 'वेणीसंहार' के छठे अंक के 'तीर्णे भीष्ममहार्णवे[८६]—'इत्यादि उदाहरण (श्लोक) में वह 'अवमर्श-सन्धि' देखी जाती है।

२०३ इस 'अवमर्श-सन्धि' के—अपवाद, संफेट, विद्रव, द्रव, शक्ति, द्युति, प्रसग, छलन, व्यवसाय, विरोधन, प्ररोचना, विचलन तथा आदान—ये तेरह अंग होते हैं।

२०४ दोष के कथन को 'अपवाद' कहते हैं। रोष से युक्त कथनोपकथन को 'संफेट' कहते हैं। किसी पात्र का वध, बन्धन आदि 'विद्रव' कहलाता है। गुरुजनों के अपमान करने को 'द्रव' कहते है। विरोध के शान्त हो जाने को 'शक्ति' कहते है। किसी पात्र का तर्जन तथा उद्वेजन करना 'द्युति' कहलाता है। अप्रस्तुत

व्यवसायः स्वशक्त्युक्तिश्छलनं चावमाननम् ।
व्यवसायः परिज्ञेयः प्रतिज्ञाहेतुसम्भवः ।।
संरब्धानामवज्ञा या तद्विरोधनमुच्यते ।
परस्परस्य सङ्ग्रामः संरम्भेण विरोधनम् ।।
आमन्त्रणं यत्साध्यस्य सिद्धवत्सा प्ररोचना ।
विकत्थना विचलनमादानं कार्यसंग्रहः ।।
एषां क्रमप्रधानत्वे प्रक्रिया पूर्ववद्भवेत् ।
२०५ बीजवन्तो मुखाद्यर्था विप्रकीर्णा यथायथम् ।।
ऐकार्थ्यमुपनीयन्ते यत्र निर्वहणन्तु तत् ।
बीजयुक्ता मुखाद्यर्थाः परमे च प्रयोजने ।।
लभन्ते यत्र सम्बन्धं तन्निर्वापणमुच्यते ।
२०६ यदा हि रामाभ्युदये सुग्रीवश्च विभीषणः ।।
कपयो राक्षसा रामाभिषेकाभ्युदयं ययुः ।
उपसंहृतिसन्धेश्च संज्ञा निर्वहणन्त्विति ।।

---

प्रयोजन के कथन को 'प्रसंग' कहा जाता है। अपनी शक्ति के कथन को 'व्यवसाय' कहते है। जहाँ कोई पात्र किसी दूसरे की अवज्ञा या अपमान करता है तो वह 'छलन' कहा जाता है। प्रतिज्ञा और हेतु से संभूत अर्थ को 'व्यवसाय' कहते है। क्रुद्ध-पात्रों की जो अवज्ञा है, वह 'विरोधन' कहलाती है। कुछ-पात्रों द्वारा क्रोधपूर्वक किया गया परस्पर संग्राम 'विरोधन' कहलाता है। किसी सिद्ध-पुरुष द्वारा होने वाले (साध्य) कार्य के विषय में इस प्रकार के कथन से कि यह तो सिद्ध ही है अर्थात् यह कार्य तो हुआ ही है, आगे होने वाले कार्य को सिद्ध हुए के समान दिखलाना 'प्ररोचना' कहलाता है। आत्मश्लाघा करने को 'विचलन' कहते है। कार्य-संग्रह की 'आदान' कहते है। इनके क्रम की प्रधानता के विषय में पहले की तरह ही प्रक्रिया समझनी चाहिए।[८७]

### (निर्वहण-सन्धि)

२०५ बीज से युक्त मुख आदि अर्थ, जो पूर्वकथित चारों सन्धियों में यत्र-तत्र बिखरे हुए है, जब एक अर्थ के लिए एक साथ समेटे जाते है तो वह 'निर्वहण' सन्धि होती है। जहाँ बीज से युक्त मुख आदि अर्थ परस्पर प्रधान-अर्थ के लिए सम्बन्ध स्थापित करते है, वह 'निर्वहण' सन्धि कहलाती है। जैसे—

२०६ 'रामाभ्युदय' नाटक में जब सुग्रीव, विभीषण, वानर तथा राक्षस राम के राज्याभिषेक के समय गये हैं, वहाँ 'उपसंहृति' सन्धि के स्थान पर 'निर्वहण' सन्धि है।

२०७ सन्धिर्विबोधो ग्रथनं निर्णयः परिभाषणम् ।
प्रसादानन्दसमयाः कृतिभाषोपगूहनाः ॥
पूर्वभावोपसंहारौ प्रशस्तिश्च चतुर्दश ।
२०८ सन्धिर्बीजोपगमनं विबोधः कार्यमार्गणम् ॥
ग्रथनं तदुपक्षेपस्तच्छब्दः कार्यवाचकः ।
निर्णयस्त्वनुभूताख्यः पुनः पुनरितीरितः ॥
परिवादकृतं यत्स्यात्तदाहुः परिभाषणम् ।
परिभाषा मिथो जल्पः प्रसादः पर्युपासनम् ॥
आनन्दो वाञ्छितावाप्तिस्समयो दुःखनिर्गमः ।
कृतिर्लब्धार्थशमनं तत्स्थिरीकरणं तु वा ॥
मानाद्यर्थस्य सम्प्राप्तिर्भाषेति परिभाष्यते ।
कार्यदृष्टयद्भुतप्राप्ती पूर्वभावोपगूहने ॥
वरप्रदानलाभादिः कार्यसंहार उच्यते ।
प्रशस्तिर्वीर्यविजयमङ्गलादिप्रशंसनम् ॥
२०९ नेत्रादिवशतोऽमीषां प्राधान्यञ्च क्रमोऽपि च ।
यथासम्भवमाधेयो विकल्पश्च समुच्चयः ॥
तेषां लक्ष्येषु दृष्टत्वान्नान्यथा कल्पयेत्सुधीः ।

---

२०७ इस 'निर्वहण' सन्धि के चौदह अंग हैं—सन्धि, विवोध, ग्रथन, निर्णय, परिभाषण, प्रसाद, आनन्द, समय, कृति, भाषा, उपगूहन, पूर्वभाग, उपसंहार तथा प्रशस्ति ।

२०८ बीज की उद्भावना को 'सन्धि' कहते है । कार्य-अन्वेषण को 'विबोध' कहते हैं । उस कार्य का उपसंहार करना 'ग्रथन' कहलाता है उसका शब्द कार्य वाचक होता है । अनुभूत बात का पुनः-पुनः कथन 'निर्णय' कहलाता है । जो परिवाद (निन्दा) युक्त वाक्य होता है, वह 'परिभाषण' कहा जाता है । पात्रों में परस्पर जल्प (आपसी बातचीत) 'परिभाषा' कहलाता है । प्रसन्न करने के प्रयत्न को 'प्रसाद' कहते है । अभिलषित वस्तु की प्राप्ति 'आनन्द' कहलाती है । दुःख का समाप्त हो जाना 'समय' कहलाता है । लब्ध अर्थ के शमन करने को अथवा लब्ध अर्थ के स्थिरीकरण को 'कृति' कहते हैं । मान आदि अर्थ की प्राप्ति को 'भाषा' कहा जाता है । कार्य के दर्शन को 'पूर्वभाव' तथा अद्भुत-वस्तु की प्राप्ति को 'उपगूहन' कहते हैं । वरदान की प्राप्ति आदि 'कार्य-संहार' कहलाता है । पराक्रम, विजय तथा मंगल (कल्याण) आदि की आशंसा 'प्रशस्ति' कहलाती है ।[८८]

२०९ इन अंगों का प्राधान्य, क्रम, विकल्प तथा समुच्चय यथासम्भव नेता आदि के अनुरूप होना चाहिए । उनके लक्ष्यों में दृष्ट होने से विद्वानों को अन्यथा कल्पना नहीं करनी चाहिए ।

२१० उक्ताऽङ्गानां चतुष्षष्टिः षोढा चैषां प्रयोजनम् ।।
एतान्युक्तानि शृङ्गारप्रकाशे भोजभूभृता ।
इष्टस्यार्थस्य रचना वृत्तान्तस्यानुपक्षयः ।।
रागप्राप्तिः प्रयोगस्य गोप्यानां चैव गोपनम् ।
आश्चर्यवदभिज्ञानं प्रकाश्यानां प्रकाशनम् ।।
२११ एवं प्रयोजनं षोढा सन्ध्यङ्गानामुदाहृतम् ।
यथाऽङ्गहीनः पुरुषो न च कार्यक्षमो भवेत् ।।
अङ्गहीनं तथा काव्यं न प्रयोगाक्षमं भवेत् ।
काव्यं यदनुदात्तार्थं सम्यगङ्गैः समन्वितम् ।।
दीप्तत्वात्तत्प्रयोगस्य शोभामेति न संशयः ।
उदात्तमपि यत्काव्यं स्यादङ्गैः परिवर्जितम् ।।
हीनत्वात्तत्प्रयोगस्य न सतां रञ्जयेन्मनः ।
तस्मात्सन्धिप्रयोगेषु यथायोगं यथारसम् ।।
काव्याङ्गानि प्रयुञ्जीत द्वित्रैर्हीनं न दुष्यति ।
२१२ यावन्त्यङ्गानि पठ्यन्ते तावतामेव कोविदैः ।।
निबन्धः कार्य इत्येव निर्णयो भोजभूभुजः ।

---

२१० ऊपर कहे गये इन (६४) चौसठ अंगों[89] के ६ प्रकार के प्रयोजन होते है।[90] ये भोजराज द्वारा अपने 'शृंगार-प्रकाश' में कहे गये है।

(१) इष्ट अर्थ की रचना (२) वृत्तान्त का अनुपक्षय (ह्रास न करना।)
(३) प्रयोग के अनुराग की प्राप्ति (४) गोपनीय अंशों का गोपन (५) आश्चर्य की तरह पहचानना (अभिज्ञान) (६) तथा प्रकाशनीय अंशों का प्रकाशन।

२११ इस प्रकार सन्धि-अंगों के ६ प्रयोजन कहे गये हैं। जैसे अंगहीन पुरुष कार्य करने में समर्थ नही होता, वैसे ही अंगहीन काव्य प्रयोग के लिए उपयुक्त नही होता है। जो काव्य उचित अंगों से युक्त अनुदात्त-अर्थवाला होता है, वह प्रयोग की दीप्तता के कारण शोभा को प्राप्त होता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। जो काव्य अंगों से रहित उदात्त-अर्थवाला भी होता है, तो वह प्रयोग की हीनता के कारण सज्जनों के मन को प्रसन्न नहीं करता है। इसलिए सन्धि-प्रयोगों मे यथायोग, यथारस काव्य के अंगों का प्रयोग करना चाहिए,[91] दो-तीन अंगों से हीन होने पर काव्य दूषित नहीं होता।

२१२ राजा भोज का यह निर्णय है कि विद्वानों ने जितने भी अंग कहे है सभी का प्रबन्ध में प्रयोग करना चाहिए। कविजनों द्वारा प्रबन्धों में रसानुगत उपक्षे-पादि सन्ध्यगो, आधिकारिक तथा प्रासंगिक इतिवृत्तों का प्रयोग किया जाना

उपक्षेपादयोऽप्यत्र प्रबन्धेष्वाधिकारिकाः ॥
प्रासङ्गिकाश्च कविभिः प्रयोक्तव्या रसानुगाः ।
तथा सन्ध्यन्तराङ्गानि प्रयुञ्ज्यात्तत्र तत्र तु ॥
साम चापि प्रदानञ्च भेदो दण्डो वधस्तथा ।
प्रत्युत्पन्नमतित्वञ्च गोत्रस्खलितमेव च ॥
मायोपधिर्भयं हासः क्रोधो भ्रान्तिस्तथैव च ।
ओजस्संवरणं चैव तथा हेत्ववधारणम् ॥
दूतो लेखस्तथा स्वप्नस्तथा चित्रं मदोऽपि च ।
सन्ध्यन्तराणि सन्धीनां विशेषास्त्वेकविंशतिः ॥

२१३ सन्धीनां यानि वृत्तानि प्रबन्धेष्वनुपूर्वशः ।
स्वसम्पद्गुणयुक्तानि तान्यङ्गानि प्रयोजयेत् ॥

२१४ द्वेधा विभागः कर्तव्यः सर्वस्यापीह वस्तुनः ।
सूच्यमेव भवेत्किञ्चिद्दृश्यश्रव्यमथापरम् ॥

२१५ नीरसोऽनुचितस्तत्र संसूच्यो वस्तुविस्तरः ।
नीरसं लौकिकोपेतमशास्त्रीयञ्च यद्भवेत् ॥
तद्वस्तु सूचनीयं स्यादित्याहुर्भरतादयः ।
दृश्यस्तु मधुरोदात्तरसभावनिरन्तरः ॥

---

चाहिए। साथ ही वहाँ-वहाँ सन्ध्यन्तर से अंगों का भी प्रयोग करना चाहिए। वे (सन्ध्यन्तर) ये है—साम, दान, भेद, दण्ड, वध, प्रत्युत्पन्न-मतित्व, गोत्रस्खलित, माया, उपधि, भय, हास, क्रोध, भ्रान्ति, ओज, संवरण, हेत्ववधारण, दूत, लेख, स्वप्न, चित्र तथा मद—ये सन्धियों के सन्ध्यन्तर विशेष रूप से २१ हैं।

२१३ प्रबन्धों में सन्धियों के जो वृत्त पहले कहे गये हैं अपनी सम्पत्ति तथा गुणों से युक्त उन अंगों का प्रयोग करना चाहिए।[९२]

२१४ इस समस्त कथावस्तु का पुनः दो प्रकार से विभाजन करना चाहिए। प्रथम वह होना चाहिए जिसके द्वारा केवल सूचना-मात्र दी जा सके तथा दूसरा वह होना चाहिए जो सबके सुनने योग्य होने से दिखाया जा सके। इस प्रकार प्रथम को 'सूच्य' तथा दूसरे को 'दृश्य' कहते है।

२१५ वे वस्तुएँ जो नीरस है तथा अनुचित है, वे 'संसूच्य या सूच्य' कहलाती हैं।[९३] भरतादि आचार्य कहते हैं कि जो वस्तु नीरस है, लौकिक तथा अशास्त्रीय है, वह 'सूचनीय' कहलाती है। ऐसी कथावस्तु जो मधुर और उदात्त-रस तथा भाव से परिपूर्ण होती है, वह 'दृश्य' कहलाती है।

२१६ अर्थोपक्षेपकैः सूच्यं पञ्चभिः प्रतिपादयेत् ।
विष्कम्भचूलिकाऽङ्कास्याङ्कावतारप्रवेशकैः ।।
२१७ सूच्यार्थसूचनोपायाः सूरिभिः पञ्च कीर्तिताः ।
२१८ वृत्तवर्तिष्यमाणानां कथांशानां निदर्शकः ।।
संक्षेपार्थस्तु विष्कम्भो मध्यपात्रप्रयोजितः ।
तत्र संक्षेपशब्दो यः स प्रयोजनवाचकः ।।
२१९ वृत्तवर्तिष्यमाणाङ्कद्वयशेषार्थसूचकः ।
विष्कम्भोऽङ्कद्वयस्यान्तर्यथायोगं प्रवेशकः ।।
२२० द्विधा भवेत्स विष्कम्भः शुद्धः सङ्कीर्ण इत्यपि ।
२२१ शुद्धोऽनेकैरथैकेन मध्यपात्रेण योजितः ।।
नीचमध्यमपात्रेण सङ्कीर्णस्तादृशेन च ।
२२२ कपालकुण्डलाशुद्धविष्कम्भः पितृकानने ।।
उन्मत्तमाधवे सौदामिनीसङ्कीर्ण इत्यपि (?) ।

---

२१६ सूच्य कथावस्तु की सूचना पाँच प्रकार के अर्थोक्षेपकों (अर्थ—कथावस्तु के उपक्षेपक (सूचक)) के द्वारा दी जाती है। वे अर्थोपक्षेपक है—विष्कम्भ (विष्कम्भक), चूलिका, अकांस्य, अंकावतार तथा प्रवेश।[९४]

२१७ सूच्यार्थ की सूचना के विद्वानों ने पाँच उपाय कहे है।

(विष्कम्भक)

२१८ जो कथा पहले हो चुकी है, अथवा जो आगे होने वाली हो, उसकी सूचना संक्षेप मे मध्यम पात्र के द्वारा दी जाती है, उसे 'विष्कम्भक' कहते है।[९५] वहाँ जो संक्षेप शब्द है वह प्रयोजन का वाचक शब्द है।

२१९ जिसमें बीती हुई तथा आगे आने वाली बातों की सूचना दी जाती है, तथा छूटी हुई बातों की सूचना दी जाती है, उसे 'विष्कम्भक' कहते हैं। यह दो अंक के बाद प्रयुक्त होता है। इसी प्रकार बीती हुई, आगे आने वाली तथा छूटी हुई बातों की सूचना देने वाला 'प्रवेशक' कहलाता है। यह दो अंकों के बीच में आता है।

२२० विष्कम्भक दो प्रकार का होता है—शुद्ध-विष्कम्भक और संकीर्ण-विष्कम्भक।

२२१ एक अथवा अधिक (दो) मध्यम-श्रेणी के पात्रों के द्वारा प्रयुक्त विष्कम्भक 'शुद्ध' कहलाता है। मध्यम श्रेणी के तथा अधम-श्रेणी के पात्रों के द्वारा प्रयुक्त विष्कम्भक 'संकीर्ण' कहलाता है।

२२२ शुद्ध विष्कम्भक का उदाहरण—'मालती-माधव' के पंचम अंक—'पितृकानन' में कपाल कुण्डला के द्वारा प्रयुक्त हैं। संकीर्ण विष्कम्भक का उदाहरण—'उन्मत्त-माधव' में सौदामिनी द्वारा प्रयुक्त है (?)।

२२३ विष्कम्भे नायकादीनां प्रवेशः कार्य एव च (न) ॥
शुद्धः सङ्कीर्णो वा द्वेधा विष्कम्भको ज्ञेयः ।
मध्यमपात्रः शुद्धः सङ्कीर्णो नीचमध्यकृतः ॥
कुतोऽपि स्वेच्छया प्राप्तः सम्बन्धो नोभयोरपि ।
विष्कम्भार्थः स विज्ञेयः कथांशस्यापि सूचकः ॥
२२४ वृत्तवर्तिष्यमाणाङ्कद्वयमध्ये निवेशनम् ।
विष्कम्भस्योक्तशेषार्थसूचनायोपपादितम् ॥
वृत्तवर्तिष्यमाणाङ्कद्वयमध्ये प्रवेशनम् ।
विष्कम्भस्यानुदात्तोक्त्या यन्नीचेनार्थसूचनम् ॥
ततः प्रवेशकः प्रायः प्रथमाङ्के निषिध्यते ।
निवेशः प्रथमाङ्केऽपि विष्कम्भस्यावधार्यते ॥
२२५ आदौ विष्कम्भकं कुर्यादिति भोजेन दर्शितम् ।
२२६ परिजनकथाऽनुबन्धः प्रवेशकस्तत्र विज्ञेयः ॥
अङ्कच्छेदं कृत्वा मासकृतं वर्षसञ्चितं वापि ।
तत्सर्वं कर्तव्यं वर्षादूर्ध्वं न तु कदाचित् ॥

---

२२३ विष्कम्भक में नायक आदि का प्रवेश ही कार्य है (विष्कम्भक में नायक आदि का प्रवेश ही नहीं करना चाहिए)। यह विष्कम्भक शुद्ध और संकीर्ण भेद से दो प्रकार का जाना जाता है। मध्यम-पात्र के द्वारा प्रयुक्त 'शुद्ध' और नीच तथा अधम-पात्रों के द्वारा प्रयुक्त 'संकीर्ण' विष्कम्भक कहलाता है।[९६] यह किसी फल के उद्देश्य से अपनी ही स्वेच्छा से रखा जाता है। इसमें नायक या प्रतिनायक के प्रवेश का सम्बन्ध नही रहता है तथा यह कथावस्तु के फल या उद्देश्य का संकेत देता है, इसीलिए इसे 'विष्कम्भक' कहते हैं।[९७]

२२४ भूत तथा भावी घटनाओं की सूचना देने वाला और दो अंकों के बीच मे प्रयुक्त होने वाला 'निवेशन अथवा प्रवेशन' होता है। विष्कम्भक की उक्त शेष कथा की सूचना देने वाला, भूत तथा भावी घटनाओं की सूचना देने वाला और दो अंकों के मध्य के प्रयुक्त होने वाला 'प्रवेशन' होता है। विष्कम्भक की अनुदात्त उक्ति से जो नीच-पात्र के द्वारा सूचना दिलायी जाती है, वह 'प्रवेशक' होता है, और यह प्रवेशक प्रायः प्रथम अंक में प्रयोग करने से रोका जाता है अर्थात् प्रायः प्रथम-अंक में प्रवेशक का प्रयोग नहीं होता है। विष्कम्भक का प्रयोग प्रथम-अंक में हो जाता है।

२२५ आचार्य भोज के मत में—प्रारम्भ में विष्कम्भक का प्रयोग करना चाहिए।

२२६ सेवकों की कथा से सम्बन्धित 'प्रवेशक' जाना जाता है। यह कथा अंकच्छेद करके मासकृत या वर्षकृत होनी चाहिए, एक वर्ष से ऊपर कदापि नहीं होनी चाहिए। यहाँ उत्तम, मध्यम-पात्रों का प्रयोग नहीं होता और न उदात्त-

नोत्तममध्यमपुरुषैराचरितो नाप्युदात्तवचनकृतः ।
प्राकृतभाषाचारप्रयोगमासाद्य कर्तव्यः ।।
विटमुनिदैवतपुरुषैः कञ्चुकिभिश्चार्थयुक्तिमासाद्य ।
संस्कृतवाग्भिरपीत्थं प्रवेशकः संविधातव्यः ।।
विटतापसवृद्धाद्यैर्मुनिकञ्चुकिभिस्तथा ।
प्रवेशकमपीच्छन्ति सन्तः संस्कृतभाषिभिः ।।

२२७ कालोत्थापननगरव्यत्यासारम्भकामविषयाणाम् ।
अर्थाभिधानभूतः प्रवेशकः स्यादनेकार्थः ।।

२२८ दिवसावसानकार्यं यद्यङ्के नोपपद्यते सर्वम् ।
अङ्कच्छेदं कृत्वा प्रवेशकैस्तद्विधातव्यम् ।।
बह्वाश्रयमप्यर्थं प्रवेशकैः संक्षिपेत्प्रबन्धेषु ।
अङ्केषु स प्रयुक्तो जनयति खेदं प्रयोगबन्धस्य ।।

२२९ यत्रार्थस्य समाप्तिर्न भवत्यङ्के प्रयोगबाहुल्यात् ।
वृत्तान्तः स्वल्पकथः प्रवेशकैस्संविधातव्यः ।।
बहुचूर्णपदो भेदो जनयति खेदं प्रयोगस्य ।
परिमितवागात्मकता प्रवेशकस्योच्यते सद्भिः ।।

---

वचनों का प्रयोग होता है । इसमें प्राकृत-भाषा के प्रयोगों को स्वीकार करके कार्य करना चाहिए ।[९८] विट, मुनि, देवता, पुरुष, कंचुकी तथा संस्कृत बोलने वाले पात्रो के द्वारा प्रयुक्त अर्थयुक्ति का सहारा लेकर प्रवेशक का प्रयोग करना चाहिए । विद्वान विट, तापस (तपस्वी), वृद्ध आदि, मुनि, कंचुकी तथा संस्कृत-भाषी द्वारा भी प्रवेशक का प्रयोग कराने की इच्छा करते है ।

२२७ काल, उत्थापन, नगर-विरोध, आरम्भ काम-विषयों के अर्थगत होने से 'प्रवेशक' अनेक अर्थो वाला होता है ।[९९]

२२८ यदि दिन छिप जाने से अंक में सभी कार्य नही हो पाता है तो अंकच्छेदन करके प्रवेशक के द्वारा उसको पूरा कर देना चाहिए । प्रबन्धों में प्रयुक्त बहु-आश्रित अर्थ को प्रवेशक के द्वारा संक्षिप्त कर देना चाहिए । अंकों में प्रयुक्त वह (प्रवेशक) प्रयोगबन्ध के दुःख को उत्पन्न करता है ।[१००]

२२९ जहाँ प्रयोग की बहुलता के कारण अंक में अर्थ की समाप्ति नहीं हो पाती है, वहाँ प्रवेशक के द्वारा वृत्तान्त को कम कर देना चाहिए । बहु चूर्ण (छोटे-छोटे) पदों से युक्त पद-भेद प्रयोग के दुःख को उत्पन्न करता है ।[१०१] विद्वानों द्वारा प्रवेशक की सींमित वागात्मकता स्वीकार की जाती है । युद्ध, राज्य-

युद्धं राज्यभ्रंशं मरणं नगरोपरोधनञ्चैव ।
अप्रत्यक्षकृतानि प्रवेशकैः संविधेयनि ॥

२३० अङ्कान्तरे मुखे वा प्रकरणमाश्रित्य नाटकं वाऽपि ।
विष्कम्भकस्तु नियतः कर्तव्यो मध्यमैरधमैः ॥
इत्थं प्रवेशविष्कम्भौ भरतेन प्रदर्शितौ ।

२३१ सदृशाभ्यां प्रयोज्यः स्यादङ्कसन्धौ प्रवेशकः ॥
प्रवेशकस्य पाठ्यं यत्तन्नातिप्रचुरं भवेत् ।
संक्षेपार्थस्तु बहुलं प्रेक्षकौत्सुक्यहेतवे ॥
संक्षिप्तसिन्धुराण्मत्स्यघटोत्कचवधो यथा ।

२३२ अवस्थां कालमालोच्य कार्यस्य गुरुलाघवे ॥
प्रवेशकादिकृत्यं यत्तदङ्केषु विधीयते ।

२३३ कार्यं प्रवेशकेनात्र वर्षादूर्ध्वं न किञ्चन ॥
प्रवेशकेन न वधो नायकस्य कदाचन ।
विधेयः कार्यमङ्के(न्ते)ऽत्र सन्धिर्वाऽप्यपसारणम् ॥
यथा विभीषणेनात्र सन्धिरुल्कामुखस्य च ।
दीर्घजिह्वस्य मारीचवञ्चिते नाटके कृतः ॥
नायिका च वसागन्धा नायको रुधिरप्रियः ।
तयोरिहाश्वत्थामाङ्के दृष्टं तदपसारणम् ॥

---

नाश, मृत्यु तथा नगरोपरोधन आदि अप्रत्यक्ष कृत्यों का प्रवेशक के द्वारा प्रयोग करना चाहिए ।

२३० दो अंकों के बीच में या अंक के प्रारम्भ में प्रकरण या नाटक का आश्रय लेकर मध्यम तथा अधम-पात्रों के द्वारा विष्कम्भक का प्रयोग किया जाना चाहिए । इस प्रकार से आचार्य भरत ने प्रवेशक तथा विष्कम्भक को कहा है ।[१०२]

२३१ अंक-सन्धि में प्रवेशक सादृश्य से प्रयोग के योग्य होता है । प्रवेशक का पाठ अधिक बड़ा नहीं होना चाहिए, क्योंकि दर्शकों की उत्सुकता के लिए संक्षिप्त-अर्थ ही बहुत होता है। जैसे सिन्धु-राज[१०३] तथा घटोत्कच का वध संक्षिप्त है ।

२३२ अंकों में कार्य की गुरुता तथा लघुता के लिए अवस्था तथा काल देखकर प्रवेशक आदि का प्रयोग होता है ।

२३३ यहाँ प्रवेशक के द्वारा एक वर्ष से ऊपर का प्रयोग कदापि नहीं करना चाहिए। प्रवेशक के द्वारा नायक का वध कदापि नहीं दिखाना चाहिए । सन्धि या अपसारण अंक के अन्त में दिखाना चाहिए । जैसे मारीचवंचित नाटक में विभीषण के साथ दीर्घ-जिह्वा वाले उल्कामुख की सन्धि है । 'वेणी-संहार' के अश्वत्थामा अंक में वसा-गन्धा नायिका और रुधिर-प्रिय नायक—दोनों का अपसारण दिखाया गया है ।

२३४ अन्तर्यवनिकासंस्थैः सूचनाऽर्थस्य चूलिका ।
२३५ अन्तर्यवनिकासंस्थैः सूतमागधबन्दिभिः ॥
अर्थोपक्षेपणं यत्र क्रियते सा हि चूलिका ।
एकैकानि शिरांसीति पद्यादौ सा च दृश्यते ॥
२३६ पूर्वाङ्कान्तप्रविष्टैर्यदुत्तराङ्कार्थसूचनम् ।
पूर्वाङ्कार्थानुवृत्त्यर्थं तदङ्कास्यमुदीरितम् ॥
२३७ अङ्कान्तपात्रैरङ्कास्यं छिन्नाङ्कार्थस्य सूचनम् ।
यथा हि वीरचरिते द्वितीयेऽङ्केऽवसानके ॥
रामभार्गवयोर्मध्ये सुमन्त्रेण प्रविश्य च ।
विश्वामित्रवसिष्ठौ च तदाह्वानेन सूचितौ ।
रामयोस्तत्र कलहाविच्छेदेनैव तौ पुनः ।
तृतीयाङ्कप्रवेशेन सुमन्त्रेणैव सूचितौ ॥
२३८ सूत्रणं सकलाङ्कानां ज्ञेयमङ्कमुखं बुधैः ।

---

(चूलिका)

२३४ नेपथ्य (यवनिका) के अन्दर बैठे हुए पात्रों के द्वारा अर्थ (कथावस्तु) की सूचना देने को 'चूलिका' कहते हैं।[१०४]

२३५ जहाँ नेपथ्य (यवनिका) के अन्दर बैठे हुए सूत, मागध तथा बन्दी-जनों आदि पात्रों के द्वारा अर्थ (कथावस्तु) की सूचना दी जाती है, वह 'चूलिका' कहलाती है।[१०५] जैसे—

'अनर्घ-राघवम्' के सप्तम अंक में [१०६]''एकैकानि शिरांसि—' इत्यादि श्लोक में चूलिका देखी जाती है।

(अंकास्य)

२३६ जहाँ पूर्व-अंक की समाप्ति के समय उस अंक में प्रविष्ट पात्रों के द्वारा पूर्व-अंक के अर्थ (कथावस्तु) की अनुवृत्ति के लिए दूसरे अंक के अर्थ (कथावस्तु) की सूचना दी जाय, वहाँ 'अंकास्य' कहलाता है।

२३७ जहाँ एक अंक की समाप्ति के समय उस अंक में प्रयुक्त पात्रों के द्वारा किसी छूटे हुए अर्थ (कथावस्तु) की सूचना दी जाय, वहाँ 'अंकास्य' कहलाता है।[१०७] जैसे—महावीरचरित के द्वितीय अंक के अन्त में सुमन्त (पात्र) राम तथा शतानन्द की कथा का विच्छेद कर और प्रवेश करके सूचना देता है कि विश्वामित्र और वशिष्ठ आपको भार्गव के साथ बुला रहे हैं। पुनः तृतीय अंक में सुमन्त्र की सूचना के अनुसार वे दोनों—राम तथा परशुराम कलह-विच्छेद के साथ बैठे हुए प्रवेश करते हैं।

२३८ समस्त अंकों का सूत्रण विद्वानों द्वारा 'अंक-मुख' जाना जाता है अर्थात् जहाँ एक ही अंक में सभी अंकों की सूचना दी जाय वह 'अंक-मुख' कहलाता है।

यथा 'सौदामिनी दाणि धारेइ सिरिपव्वदे' ।।
अवलोकितया पृष्टकामन्दक्युत्तरेण च ।
समासतः श्मशानादिकृतं सर्वाङ्कसूत्रणम् ।।
अत्र मुखं विश्लिष्टं यथोपरि श्लिष्यते त्रिधा वाक्यैः ।
पुरुषस्य वै तदङ्कं मुखमिति सन्तो ह्युपदिशन्ति ।।
२३९ अङ्कावतारस्त्वङ्कान्ते पातोऽङ्कस्याविभागतः ।
२४० पूर्वाङ्कस्यावसानोक्तकथाऽविच्छेदपूर्वकम् ।।
प्रवेशो भाविनोऽङ्कस्य सोऽङ्कावतार इष्यते ।।
२४१ समाप्यमान एकस्मिन्नितराङ्कस्य सूचनम् ।
समासतो हि नाटचज्ञैरङ्कावतर इष्यते ।
यथा मालविकायाश्च प्रथमाङ्कावसानके ।।
विदूषकप्रवेशादिनिष्क्रामान्तं यदुच्यते ।
पात्रकृत्यं द्वितीयेऽङ्के तत्सङ्गीतकमात्रतः ।।
आरभ्य गणदासादेरविच्छेदेन कल्पितः ।
अङ्कावतारो विष्कम्भाद्यनन्तरित एव सः ।।

---

जैसे—'मालती-माधव' नाटक के प्रथम अंक के प्रारम्भ में ही'[१०८] 'सौदामिनी दाणि धारेइ सिरिपव्वदे'' इत्यादि उदाहरण में कामन्दकी पूछे जाने पर अवलोकिता का उत्तर है। समासतः श्मशान आदि घटनाएँ सभी अंकों की सूत्र-रूप है। अंक-मुख पृथक ही है जैसा कि ऊपर वाक्यों से स्पष्ट होता है। पुरुष का वह अंक-मुख है—ऐसा सन्त उपदेश देते हैं।

(अंकावतार)

२३९ जहाँ प्रथम अंक की कथावस्तु का विच्छेद किये बिना दूसरे अंक की कथा-वस्तु चले, वहाँ 'अंकावतार' होता है।[१०९]

२४० जहाँ पूर्व-अंक की समाप्ति पर कथावस्तु का विच्छेद किये बिना पूर्व अंक के पात्र दूसरे अंक में प्रवेश करें तो वहाँ 'अंकावतार' होता है।

२४१ जहाँ एक अंक की कथावस्तु समाप्त होते हुए दूसरे अंक की समासतः सूचना दे अर्थात् एक अंक की कथा दूसरे अंक में बराबर चलती रहे, वह नाट्यज्ञों द्वारा 'अंकावतार' कहा जाता है। जैसे—मालविकाग्निमित्र में प्रथम अंक के अन्त में विदूषक प्रवेश करता है, भावी अंक की सूचना देता है और अन्त में चला जाता है। जो विदूषक ने कहा था उसके अनुसार संगीत के स्वरमात्र से द्वितीय अंक के प्रारम्भ में सारे पात्र, जो कि प्रथम अंक में वर्णित हैं, गणदास आदि प्रवेश करते हैं। इस प्रकार पूर्व-अंक की कथा अविछिन्न रूप में ही द्वितीय अंक में अवतरित हुई है, अतः अंकावतार है विष्कम्भक आदि नहीं।

२४२ समाप्यमाने पूर्वाङ्के यथा गौरीगृहाभिधे ।
भाव्यङ्कनायकावस्थासूचनं तद्विलोक्यताम् ॥

२४३ एतेष्वङ्कबहिर्भावः स्याद्विष्कम्भप्रवेशयोः ।
चूलिकायाः क्वचिद्बाह्ये क्वचिन्मध्ये निवेशनम् ॥
एभिस्तु सूचयेत्सूच्यं दृश्यमङ्कैः प्रदर्शयेत् ।
मध्ये च वेणीसंहारे दृश्यते चूलिका तथा ॥

२४४ इयमङ्कादिबाह्याङ्कमुखगर्भाङ्कसाम्यतः ।
कथाऽविच्छेदहेतोस्तु चूलिका भोजकल्पिता ॥

२४५ गर्भाङ्काङ्कमुखाभ्यामबहिष्काभ्यां स्वभावतस्त्वङ्कात् ।
इतिवृत्ताविच्छेदे हेतुतया चूलिका कथिता ॥

२४६ अङ्कमुखं गर्भाङ्कः कार्योऽस्मिन् चूलिकाऽपि वा कुशलैः ।
माभूदितिवृत्तानां विच्छेदो विस्तरो वेति ॥

२४७ अङ्कादिबाह्यावेवाङ्कमुखाङ्कावतरौ स्वतः ।
एभिस्तु सूचयेत्सूच्यं दृश्यमङ्कैः प्रदर्शयेत् ॥

---

२४२ पुनः जैसे 'नागानन्दम्' नाटक के 'गौरीगृहम्' अंक में पूर्व-अंक की कथावस्तु समाप्त होने पर भावी-अंक के नायक की सूचना दी है, उसे भी देखना चाहिए ।

२४३ इन पाँच अर्थोपक्षेपकों में से विष्कम्भक तथा प्रवेशक का प्रयोग अंक के बाहर होता है । चूलिका का प्रयोग कही अंक के बाहर और कहीं अंक के मध्य में होता है । इन अर्थोपक्षेपकों के द्वारा सत्य वस्तु की सूचना देनी चाहिए, अंकों के द्वारा दृश्य का मंच पर प्रदर्शन करना चाहिए ।[११०] वेणी-संहार के मध्य में चूलिका देखी जाती है ।

२४४ यह चूलिका कथा के अविच्छेद के हेतु होने से अंक आदि के बाहर, अंक-मुख में और गर्भांक में होती है, ऐसा भोज का मत है ।

२४५ यह चूलिका कथा के अविच्छेद के हेतु होने से गर्भांक और अंक-मुख से अव-हिष्क (बाहर न होना) तथा अंक से स्वभावतः बाहर होती है ।

२४६ नाटक में कुशल व्यक्तियों के द्वारा अंक-मुख, गर्भांक अथवा चूलिका का प्रयोग किया जाना चाहिए । क्योंकि इतिवृत्त का विच्छेद या विस्तार न हो ।[१११]

२४७ अंक आदि के बाहर ही अंक मुख और अंकावतार होते है । इनके द्वारा सूच्य को सूचित करना चाहिए और अंक के द्वारा दृश्य का प्रदर्शन करना चाहिए ।

२४८ एतद्द्वयं द्विधाभूतं श्राव्यमश्राव्यमेव च ।
सर्वस्य नियतस्येति क्रमात्तद्द्वयमुच्यते ॥
२४९ सर्वे सदस्या नियतोनट इत्यभिधीयते ।
२५० सर्वश्राव्यं प्रकाशं स्यादश्राव्यं स्वगतं मतम् ॥
श्राव्यं तु नियतस्यैतन्नाट्यधर्ममवेक्ष्य च ।
द्विधा विभज्यते तत्र जनान्तमपवारितम् ॥
२५१ त्रिपताकाकरेणान्यानपवार्यान्तिरा कथाम् ।
अन्योन्यामन्त्रणं यत्स्यात्तज्जनान्तिकमुच्यते ॥
२५२ रहस्यं कथ्यतेऽन्यस्य परावृत्यापवारितम् ।
२५३ वस्तुनिर्वाहकत्वाच्च नाट्यधर्मप्रसङ्गतः ॥
आकाशभाषितं तत्किं ब्रवीषीति ब्रवीति यत् ।
श्रुत्वेवानुक्तमप्येकः तत्स्यादाकाशभाषितम् ॥
२५४ इत्याद्यशेषमिह वस्तुविशेषजातं
रामायणादि च विभाव्य बृहत्कथाञ्च ।
आसूत्रयेत्तदनु नेतृरसानुगुण्यात्
चित्रां कथामुचितचारुवचःप्रपञ्चः ॥

---

२४८ ये दोनों (सूच्य एवं दृश्य) वस्तुएँ श्राव्य तथा अश्राव्य भेद से दो प्रकार की होती हैं। पुनः (श्राव्य) क्रमशः दो प्रकार की होती है—सबके सुनने योग्य (सर्व) श्राव्य होती है और सीमित लोगों के सुनने योग्य नियत-श्राव्य होती है।

२४९ सभी से तात्पर्य सदस्य (दर्शको) से है तथा नियत से तात्पर्य नट कहा जाता है।

२५० सर्वश्राव्य को प्रकाश तथा अश्राव्य को स्वगत कहते हैं। यह नियत-श्राव्य नाट्य-धर्म को देखकर दो भागों में बाँटी जाती है—जनान्त (जनान्तिक) तथा अपवारित।

२५१ अनामिका को छोड़ बाकी तीन अंगुलियों की ओट करके दो व्यक्तियों की गुप्त बातचीत को 'जनान्तिक' कहते है।

२५२ जहाँ मुँह को दूसरी ओर कर कोई पात्र दूसरे व्यक्ति की गुप्त बात कहता है, उसे 'अपवारित' कहते हैं।

२५३ वस्तु की चर्चा समाप्त होने के कारण तथा नाट्यधर्म के प्रसंग से आकाश-भाषित' कहते हैं—जहाँ कोई पात्र 'क्या कहते हों' ऐसा कहता हुआ दूसरे पात्र के बिना बातचीत करता है तथा उसके कथन के बिना भी सुनकर कथोपकथन करता है, उसे 'आकाशभाषित' कहते हैं।

२५४ इस प्रकार कथावस्तु के समस्त भेदों का पर्यालोचन कर तथा रामायण आदि एवं बृहत्कथा का अनुशीलन कर नेता तथा रस के अनुकूल उचित तथा सुन्दर कथोपकथन द्वारा सुन्दर कथा को कविजन निबद्ध करे।[११२]

२५५ न केवलं रसो नैव लक्ष्यं नैव च लक्षणम् ।
न नायकस्यैवोत्कर्षो वर्ण्यः सुकविना क्वचित् ॥
कथाशरीरं सर्वेषामानुगुण्येन कल्पयेत् ॥

इति श्रीशारदातनयविरचिते भावप्रकाशने
नाट्येतिवृत्तशरीरलक्षणाभिधानं नाम
सप्तमोऽधिकारः ।

---

२५५ सुकवि को कहीं न केवल रस, न लक्ष्य, न लक्षण तथा न केवल नायक के उत्कर्ष का ही वर्णन करना चाहिए, अपितु सभी गुणों के अनुरूप कथा-शरीर की रचना करनी चाहिए ।

श्री शारदातनय-विरचित भावप्रकाशन में नाट्येतिवृत्तशरीरलक्षणा-
भिधान नामक सप्तम-अधिकार समाप्त हुआ ।

श्रीः

# अथ अष्टमोऽधिकारः

---

१ कथाशरीरं काव्यस्य लक्षणञ्चोपपादितम् ।
भरतादिभिराचार्यैर्दर्शितेनैव वर्त्मना ।।
प्राथम्यान्नाटकस्यास्य तत्सम्यगभिधीयते ।
२ नाटकं सप्रकरणं भाणः प्रहसनं डिमः ।।
व्यायोगसमवकारौ वीथ्यङ्केहामृगा इति ।
तोटकं नाटिका गोष्ठी सल्लापः शिल्पकन्तथा ।।
डोम्बी श्रीगदितं भाणी प्रस्थानं काव्यमेव च ।
प्रेक्षकं सट्टकं नाटचरासकं लासकं तथा ।।
उल्लोप्यकञ्च हल्लीसमथ दुर्मल्लिकाऽपि च ।
मल्लिका कल्पवल्ली च पारिजातकमित्यपि ।।
३ रसात्मका दशैतेषु विंशद्भावात्मका मताः ।
तेषां रूपकसंज्ञाऽपि प्रायो दृश्यतया क्वचित् ।।
त्रिंशद्रूपकभेदाश्च प्रकाश्यन्तेऽत्र लक्षणैः ।

---

१ आचार्य भरतादि के मतानुसार काव्य के कथा-शरीर और उनके लक्षण को कह दिया गया । अब नाटक की प्राथमिकता होने से उस (नाटक) को भली भाँति कहते है ।

२ विद्वान तीस प्रकार के नाटक कहते है—१. नाटक २. प्रकरण ३. भाण ४. प्रहसन ६. डिम ६. व्यायोग ७. समवकार ८. वीथी ९. अंक १०. ईहा-मृग ११. तोटक १२. नाटिका १३. गोष्ठी १४. सल्लाप १५. शिल्पक १६. डोम्बी १७. श्रीगदित १८. भाणी १९. प्रस्थान २०. काव्य २१. प्रेक्षक २२. सट्टक २३. नाट्यरासक २४. लासक २५. उल्लोप्यक २६. हल्लीसक २७. दुर्मल्लिका २८. मल्लिका २९. कल्पवल्ली ३०. परिजातक ।

३ इन (नाटकों) में दस रस-रूप (रसात्मक) हैं और बीस भाव-रूप (भावात्मक) हैं । दृश्य होने के कारण कहीं इनकी रूपक संज्ञा भी होती है । अब यहाँ लक्षण-सहित रूपक के तीस भेद कहे जाते हैं ।

४ प्रकृतित्वादथान्येषां भूयो रसपरिग्रहात् ॥
सम्पूर्णलक्षणत्वाच्च पूर्वं नाटकमुच्यते ।
५ स्वेतरेषां प्राकृतानां नाटकस्योक्तधर्मतः ॥
अतिदेशक्रमात्स्वाङ्गसमर्पकतयोच्यते ।
विकासविस्तरक्षोभविक्षेपात्मकतोदितैः ॥
चेतोविकारैरङ्गाङ्गिभूताष्टरसयोगतः ।
रसाश्रयत्वं सम्पूर्णलक्षणत्वञ्च कथ्यते ॥
६ अर्थप्रकृत्यवस्थात्मसन्धिसन्ध्यङ्गवृत्तिमत् ।
अर्थोपक्षेपकैर्युक्तं पताकास्थानकादिभिः ।
रसालङ्कारसहितं नाटकं पूर्णलक्षणम् ॥
७ पञ्च पञ्च चतुष्षष्टिश्चतुःपञ्चैकविंशतिः ।
षट्त्रिंशन्नवतिर्यत्र तदाहुर्नाटकं बुधाः ॥
८ अर्थप्रकृतयोऽवस्थाः पञ्च पञ्चेति कीर्तिताः ।
अङ्गानि वृत्तयस्तत्र सन्धिसन्ध्यन्तराणि च ॥
चतुष्षष्टिश्चतुः पञ्च सैकविंशतिभिः क्रमात् ।
सङ्गीताङ्गानि नवतिः षट्त्रिंशद्भूषणानि च ॥

---

४ अन्य (रूपक-भेदों) की प्रकृति (कारण) होने से, पूर्ण-रस के ग्रहण करने से तथा सम्पूर्ण लक्षणों से युक्त होने से नाटक को पहले कहते हैं ।[1]

५ अन्य प्राकृतो के उक्त धर्म से, स्थान के अतिक्रमण से, अपने अंग की समर्पकता से, विकास, विस्तार, क्षोभ तथा विक्षेप के उदित होने से, चित्त में उत्पन्न हुए विकारों से तथा अंगागिभूत आठ रसों के योग से नाटक की रसाश्रयता तथा सम्पूर्ण लक्षणता कही जाती है ।

६ नाटक की पूर्ण लक्षणता जब सिद्ध होती है जबकि उसमें अर्थ-प्रकृतियाँ (५), अवस्थाएँ (५), सन्धियाँ (५), सन्ध्यंग (६४) तथा वृत्तियाँ (४) हों, और वह (नाटक) (पंच) अर्थोपक्षेपकों से युक्त हो, पताका-स्थानक आदि से युक्त हो तथा रस एवं अलंकार से युक्त हो ।

७ पाँच, पाँच, चौसठ, चार, पाँच, इक्कीस, छत्तीस और नब्बे अंग जहाँ निर्दिष्ट हों, उसे विद्वान लोग नाटक कहते है ।[2]

८ अर्थप्रकृतियाँ, अवस्थाएँ पाँच-पाँच कही जाती है । सन्ध्यंग, वृत्तियाँ, सन्धियाँ तथा सन्ध्यन्तर क्रमशः चौसठ, चार, पाँच तथा इक्कीस होते हैं । संगीतांग नब्बे तथा भूषण छत्तीस होते हैं—इन सभी अंगों से युक्त नाटक होता है अर्थात् जहाँ पाँच अर्थ-प्रकृतियाँ, पाँच अवस्थाएँ, चौसठ सन्ध्यंग, चार वृत्तियाँ, पाँच सन्धियाँ, इक्कीस सन्ध्यन्तर, नब्बे संगीतांग तथा छत्तीस भूषण निर्दिष्ट हों उसे नाटक कहते है ।

९ न तज्ज्ञानं न तिच्छल्पं न सा विद्या न सा कला ।
न तत्कर्म न योगोऽसौ नाटके यन्न दृश्यते ।।
अपि सिध्येत विदुषां मुक्तिरभ्यासकौशलात् ।
नतु नाटकविद्येयं सर्वलोकानुरञ्जनी ।।

१० नृपतीनां यच्चरितं नानारसभावचेष्टितैर्बहुधा ।
सुखदुःखोत्पत्तिकृतं विज्ञेयं नाटकं नाम ।।

११ रत्नावल्यादिषु प्रायश्चरितं रसभावयुक् ।।
सुखं मलयवत्याश्च दुःखं गरुडचञ्चुना ।
जीमूतवाहनस्यैतन्नागानन्दे विभाव्यते ।।

१२ नाटके च प्रकरणे पञ्चाद्या दश कीर्तिताः ।
अङ्काः स्युस्तत्र पञ्चाङ्कमेतन्मारीचवञ्चितम् ।।
षडङ्कं नाटकमिदं वेणीसंहारनामकम् ।
शाकुन्तलादि सप्ताङ्कमष्टाङ्कं नलविक्रमम् ।।
देवीपरिणयस्तत्र नवाङ्कं नाटकं स्मृतम् ।
दशाङ्कं नाटकमिदं बालरामायणादिकम् ।।
कुन्दमालाऽत्र सुश्लिष्टा सन्धिपञ्चकसंयुता ।
तथाच वेणीसंहारः षट्त्रिंशद्भूषणोज्ज्वलः ।।

---

९ न कोई ऐसा ज्ञान है, न कोई शिल्प है, न विद्या है, न कला है, न काम है और न कोई ऐसा योग है जो इस नाटक में न देखा जाता हो[३] । विद्वान अपने अभ्यास तथा ज्ञान के बल पर चाहे मुक्ति की सिद्धि या उपलब्धि सरलता से कर लें लेकिन समस्त लोक को आनन्द प्रदान करने वाली इस नाट्य-विद्या की (उपलब्धि या) पूर्णता की प्राप्ति कठिन है ।[४]

१० जहाँ सुख-दुःख तथा अनेक रस, भाव तथा चेष्टाओं से अभिव्यक्त होने वाला राजाओं का चरित्र प्रदर्शित किया जाता है, उसे नाटक जानना चाहिए ।[५] जैसे—

११ रत्नावली आदि में प्रायः चरित्र रस तथा भाव से युक्त है और नागानन्द में जीमूतवाहन का मलयवती से सुख तथा गरुड़ की वंचना[६] से दुःख जाना जाता है ।

१२ नाटक और प्रकरण में पॉच से लेकर दस तक अंक कहे जाते है। पाँच अंक वाला 'मारीचवचितम्' नाटक है। 'वेणीसहार' नाटक ६ अंक का है। शाकुन्तलादि सात अंक वाले है। 'नलव्रिक्रमम्' आठ अक का है। 'देवी परिणयम्' नाटक नौ अंक का कहा जाता है। बालरामायणादि नाटक दस अंक के हैं।

देवीपरिणयः सर्ववृत्तिनिष्पन्न उच्यते ।
प्रवेशकादिनिष्पत्तिर्नागानन्दे प्रदर्शिता ॥
१३ नयातिशयदाक्षिण्यसिद्ध्यभिप्रायगर्हणाः ।
उपदिष्टञ्च माला च सार्थापत्तिश्च सम्भ्रमः ॥
पश्चात्तापः प्रसिद्धिश्च हेतुदृष्टान्तसंशयाः ।
गुणातिपात आक्रन्दो विचारः प्राप्तिरेव च ॥
विशेषणं निरुक्तिश्च कपटञ्च मनोरथः ।
याञ्चा निदर्शनं चाशीरभिमानः स्पृहाऽपि च ॥
पृच्छाऽभिज्ञानमुद्दिष्टं शोभोदाहरणे तथा ।
नीतिरक्षरसङ्घातः क्षोभश्चार्थविशेषणम् ॥
प्रोत्साहनं गुणाख्यानं गुणोक्तिश्च निवेदनम् ।
गुणानुवादोपपत्तिपरिवादोद्यमा अपि ॥
अनुक्तसिद्धिः कार्यं च परिहारस्तथाश्रयः ।
उक्तिर्देशोऽनुवृत्तिश्च प्रहर्षश्च क्षमेति च ॥
चतुष्षष्टि(?)रलङ्काराः कथिता नाटकाश्रयाः ।
१४ यूनोः प्रियकरो योऽर्थः स नयः कथ्यते बुधैः ॥
विशेषकीर्तनं यत्स्यादर्थे सोऽतिशयः स्मृतः ।

---

'कुन्दमाला' सुश्लिष्ट तथा पाँच सन्धियों से युक्त है । इसी प्रकार वेणीसंहार छत्तीस उज्ज्वल भूषणों से युक्त है । देवी-परिणय में सभी वृत्तियाँ कही जाती हैं । नागानन्द में प्रवेशकादि की निष्पत्ति कही गयी है ।

[अलंकार (५४) ]

१३ नय, अतिशय, दाक्षिण्य, सिद्धि, अभिप्राय, गर्हण, उपदिष्ट, माला, सार्थापत्ति, सम्भ्रम, पश्चाताप, प्रसिद्धि, हेतु, दृष्टान्त, संशय, गुणातिपात, आक्रन्द, विचार, प्राप्ति, विशेषण, निरूक्ति, कपट, मनोरथ, यांचा, निदर्शन, आशीः, अभिमान, स्पृहा, पृच्छा, अभिज्ञान, उद्दिष्ट, शोभा, उदाहरण, नीति, अक्षरसंघात, क्षोभ, अर्थविशेषण, प्रोत्साहन, गुणाख्यान, गुणोक्ति, निवेदन, गुणानुवाद, उपपत्ति, परिवाद, उद्यम, अनुक्तसिद्धि, कार्य, परिहार, आश्रय, उक्ति, देश, अनुवृत्ति, प्रहर्ष तथा क्षमा—ये ५४ [चौंसठ (?)] प्रकार के नाटक के आश्रित अलंकार कहे जाते है ।[७]

१४ **नय**—युवक-युवती के बीच प्रिय करने वाला जो कार्य होता है; वह विद्वानों द्वारा 'नय' कहलाता है ।

**अतिशय**—किसी कार्य में विशेप प्रकार का जो कथन होता है, वह 'अतिशय' कहलाता है ।[८]

१५ चित्तानुवृत्तिर्दाक्षिण्यं सिद्धिरिष्टार्थसङ्गमः ॥
१६ स्वाद्येष्वर्थेष्वहंमानः सोऽभिप्राय इतीरितः ।
कुत्सैव गर्हणेत्युक्ता क्रोधान्मानाच्च मत्सरात् ॥
१७ लोकवेदमताख्यानमुपदिष्टमुदाहृतम् ।
गुणाभिधानं माला स्यादर्थानामिष्टसिद्धये ॥
१८ अर्थान्तरस्य कथने यत्रान्योऽर्थः प्रतीयते ।
वाक्यमाधुर्यसंयुक्ता सार्थापत्तिरिति स्मृता ॥
१९ वचनव्यवहारेषु स्खलनं यस्स सम्भ्रमः ।
अनुतापो गतार्थस्य पश्चात्ताप इतीरितः ॥
२० प्रसिद्धिर्लोकविख्यातैर्वाक्यैरर्थप्रसादनम् ।
पक्षप्रसाधको हेतुः दृष्टान्तः साम्यकीर्तनम् ॥

---

१५ **दाक्षिण्य**—चेष्टा और वाणी के द्वारा किसी के चित्त को प्रसन्न करना 'दाक्षिण्य' कहलाता है ।

**सिद्धि**—अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति (समागम) 'सिद्धि' कहलाती है ।

१६ **अभिप्राय**—स्वाद्यमान वस्तुओं में अपनी कल्पना करना 'अभिप्राय' कहा जाता है ।

**गर्हण**—क्रोध से, मान से तथा मत्सर से की गई निन्दा (कुत्सा) 'गर्हण' कहलाती है ।

१७ **उपदिष्ट**—लौकिक, वैदिक मत का कथन 'उपदिष्ट' कहा जाता है ।[९]

**माला**—अपना अभीष्ट सिद्ध करने के लिए अनेक अर्थो के गुणों का कथन 'माला' कहलाता है ।

१८ **सार्थापत्ति**—किसी अर्थ के कथन से जहाँ अन्य अर्थ की प्रतीति हो उसे 'अर्थापत्ति' कहते हैं, जब वह अर्थापत्ति वचनों की मधुरता (मधुर वचनों) से युक्त होती है तो 'सार्थापत्ति' कहलाती है ।[१०]

१९ **सम्भ्रम**—व्यवहार में बोले जाने वाले वाक्यों में स्खलन (त्रुटि) होती है, वह 'सम्भ्रम' कहलाता है ।

**पश्चाताप**—बीती हुई बात का शोक करना या गई हुई वस्तु के लिए पीछे से संताप करना 'पाश्चात्ताप' कहलाता है ।[११]

२० **प्रसिद्धि**—लोक-प्रसिद्ध वाक्यों के द्वारा वस्तु का परिचय कराना 'प्रसिद्धि' है ।[१२]

**हेतु**—पक्ष[१३] का साधक 'हेतु' कहलाता है ।

**दृष्टान्त**—सादृश्य—कथन 'दृष्टान्त' कहलाता है ।[१४]

२१ अनिश्चयेन वाक्यस्य समाप्तिः संशयः स्मृतः ।
गुणातिपातो व्यत्यस्तगुणाख्यानमुदाहृतम् ।।

२२ आक्रन्दोऽभीष्टविषयः शोकालाप उदाहृतः ।
यथोचितमुपन्यासो विचारः परिकीर्तितः ।।

२३ एकदेशादशेषस्य ज्ञानं प्राप्तिरुदाहृता ।
सिद्धार्थहेतूपन्यासविशेषोक्तिर्विशेषणम् ।।

२४ निरुक्तिर्निरवद्योक्तिः पूर्वोक्तार्थप्रसिद्धये ।
उक्तार्थस्यापलपो यः कपटं तदुदाहृतम् ।।

२५ मनोरथोऽन्यापदेशैः स्वाभिप्रायस्य सूचनम् ।
याञ्चेति कथ्यतेऽभीष्टसङ्गमप्रार्थनोभयोः ।।

२६ निदर्शनं तत्समानवस्तुरूपस्य कीर्तनम् ।
आशीरभीष्टविषयस्वायुराद्यर्थवर्धनम् ।।

---

२१ **संशय**—अनिश्चय में वाक्य की समाप्ति 'संशय' कहलाती है ।[15]

**गुणातिपात**—विपरीत गुणों का कथन 'गुणातिपात' कहलाता है ।[16]

२२ **आक्रन्द**—अभीष्ट वस्तु के प्रति शोक से विलाप करना 'आक्रन्द' कहा जाता है ।[17]

**विचार**—यथोचित सोचना (कहना) 'विचार' कहलाता है ।

२३ **प्राप्ति**—किसी एक अंश से सम्पूर्ण का ज्ञान कर लेना ही 'प्राप्ति' है ।

**विशेषण**—प्रसिद्धि-हेतु का कथन करके फिर कुछ विशेषता (किसी एक में) दिखलाने को 'विशेषण' कहते है ।[18]

२४ **निरुक्ति**—पूर्वोक्त-अर्थ की प्रसिद्धि के लिए निर्दोष उक्ति ही 'निरुक्ति' कहलाती है।

**कपट**—कही हुई वस्तु का उल्लंघन करना अर्थात् कही हुई बात से हट जाना 'कपट' कहलाता है ।

२५ **मनोरथ**—दूसरे बहानों से अपने अभिप्राय की सूचना 'मनोरथ' कहलाता है ।[19]

**यांचा**—अभीष्ट समागम के लिए की गई दोनों (नायक या नायिका) की प्रार्थना 'यांचा' कहलाती है ।

२६ **निदर्शन**—जहाँ समान वस्तुओं के रूप का निरूपण किया जाता है, उसे 'निदर्शन' कहते है ।

**आशीः**—अभीष्ट वस्तु, आयु आदि तथा अर्थ-वृद्धि के लिए दिये गये प्रियजनों के आशीर्वाद को 'आशीः' कहते हैं ।[20]

२७ अङ्गीकारोऽभिमानः स्यादर्थे हर्षादिभिः कृतः ।
रमणीयार्थविषयो रागो यः सा स्पृहा मता ॥

२८ अन्वेषणन्तु पृच्छा स्यादभिज्ञानं तु सूचनम् ।
उद्दिष्टमर्थनिर्देशः पारोक्ष्याच्चापरोक्ष्यतः ॥

२९ स्वप्रभावप्रकटनं शोभेति परिकीर्त्यते ।
दृढतुल्यार्थकृद्वाक्यमुदाहरणमुच्यते ॥

३० न्यायानुवर्तनं नीतिः लोकशास्त्राविरोधतः ।
स एवाक्षरसङ्घातो वाक्य श्लिष्टाक्षरञ्च यत् ॥

३१ आत्मन्यभूततद्भावभावनं क्षोभ ईरितः ।
विशिष्टार्थप्रमाकृद्यद्वाक्यमर्थविशेषणम् ॥

३२ त्वरानिवेदनं यत्तु तत्प्रोत्साहनमुच्यते ।
आख्यानं स्याद्गुणाख्यानं गुणोक्तिर्गुणकीर्तनम् ॥

---

२७ **अभिमान**—किसी वस्तु में 'हर्ष' आदि से उत्पन्न अहंकार 'अभिमान' कहलाता है।

**स्पृहा**—रमणीक वस्तुओं के प्रति जो अनुराग होता है, वह 'स्पृहा' कहलाती है।[२१]

२८ **पृच्छा**—अन्वेषण करना 'पृच्छा' कहलाता है।

**अभिज्ञान**—सूचना देना 'अभिज्ञान' कहलाता है।

**उद्दिष्ट**—परोक्षापरोक्ष रूप से वस्तु का वर्णन 'उद्दिष्ट' कहलाता है।

२९ **शोभा**—अपने प्रभाव को प्रकट करना 'शोभा' कहलाता है।

**उदाहरण**—जहाँ दृढ़ समानार्थक वाक्यों के द्वारा अभिमत अर्थ साधित हो, उसे 'उदाहरण' कहते है।

३० **नीति**—लोकशास्त्रानुसार न्यायपूर्वक अनुगमन (व्यवहार करना) 'नीति' कहलाता है।[२२]

**अक्षरसंघात**—जो श्लिष्ट अक्षरों से युक्त वाक्य होता है, उसे 'अक्षर-संघात' कहते हैं।[२३]

३१ **क्षोभ**—आत्मा में अविद्यमान भाव से भावित करना 'क्षोभ' है।[२४]

**अर्थ-विशेषण**—किसी विशेष लक्ष्य को लक्षित करके कहे जाने वाले वाक्य 'अर्थ-विशेषण' कहलाते हैं।

३२ **प्रोत्साहन**—किसी कार्य में शीघ्रता कराना अर्थात् उत्साहित करना 'प्रोत्साहन' कहलाता है।

**गुणाख्यान**—गुणों के कथन को 'गुणाख्यान' कहते है।

**गुणोक्ति**—गुणों के वर्णन को 'गुणोक्ति' कहते हैं।

३३ समावस्थानकथनं निबेदनमुदाहृतम् ।
गुणानुवादो यूनोर्यद्भूयो भूयो गुणस्तुतिः ।।
३४ उपपत्तिः स्वबुद्ध्याऽर्थे योग्यताधानमुच्यते ।
अपवादो मृषादोषस्तूत्साहस्तूद्यमो भवेत् ।।
३५ अनुक्तसिद्धिरुक्तार्थस्यान्यथासिद्धिरुच्यते ।
प्रयोजनाभिधानं यत्कार्यमित्यभिधीयते ।।
३६ परिहारः प्रतीतस्य कस्याप्यर्थस्य मार्जनम् ।
भीताभयप्रदानं यत्स आश्रय इतीरितः ।।
३७ उक्तिस्तत्त्वाभिधानं स्यात्स्तोतुन्निन्दितुमेव च ।
देशः स्याल्लिङ्गिनो ज्ञानाभिधानमिति कथ्यते ।
३८ अभ्यर्थनानुवृत्तिर्या साऽनुवृत्तिरुदाहृता ।
सन्तोषोक्तिः प्रहर्षः स्यादनर्थाच्छादनं क्षमा ।
३९ ईदृग्लक्षसंयुक्तं नाटकं सुप्रयोजितम् ।
प्रेक्षकस्य नटस्यापि प्राश्निकस्य कवेरपि ।।
स्याद्भुक्तये मुक्तये च तेषां लक्षणमुच्यते ।

---

३३ **निवेदन**—समान अवस्था के कथन को 'निवेदन' कहा जाता है।
**गुणानुवाद**—युवक-युवती के बीच बार-बार की जाने वाली गुण-स्तुति 'गुणानुवाद' कहलाती है।[२५]

३४ **उपपत्ति**—अर्थ-सिद्धि के लिए अपनी बुद्धि की योग्यता का प्रयोग 'उपपत्ति' कहा जाता है।
**अपवाद**—झूठा दोषारोपण 'अपवाद' कहलाता है।
**उद्यम**—उत्साह को 'उद्यम' कहते हैं।

३५ **अनुक्त-सिद्धि**—कहे हुए अर्थ की अन्यथा-सिद्धि 'अनुक्त-सिद्धि' कहलाती है।
**कार्य**—प्रयोजन का कहना 'कार्य' कहा जाता है।

३६ **परिहार**—किसी प्रतीत-अर्थ के परिमार्जन को 'परिहार' कहते है।
**आश्रय**—'आश्रय' वह कहलाता है जो डरे हुए को अभय-प्रदान करता है।

३७ **उक्ति**—'उक्ति' वह कही जाती है जो तत्त्व को बताती है कि यह स्तुति के योग्य है और यह निन्दा के योग्य है।
**देश**—लिंगि (संन्यासी) के ज्ञान का कथन 'देश' कहा जाता है।

३८ **अनुवृत्ति**—जो विनयपूर्वक अनुगमन होता है, वह 'अनुवृत्ति' कहा जाता है।
**प्रहर्ष**—सन्तोषपूर्वक उक्ति 'प्रहर्ष' कहलाती है।
**क्षमा**—अनर्थ के छिपाने को 'क्षमा' कहते हैं।[२६]

३९ इस प्रकार के लक्षणों से युक्त नाटक का प्रयोग किया जाता है। अब भुक्ति और मुक्ति अर्थात् भोग और मोक्ष के लिए प्रेक्षक, नट, प्राश्निक तथा कवि के लक्षणों को कहते हैं।

४० यशोधर्मरतः शान्तः श्रुताभिजनवृत्तवान् ।।
षडङ्गनाट्यकुशलः चतुरातोद्यविच्छुचिः ।
चतुरोऽभिनयज्ञश्च रसभावविवेचकः ।।
नैपथ्यदेशभाषाज्ञः कलाशिल्पविचक्षणः ।
शब्दच्छन्दोऽभिधानज्ञः सर्वसिद्धान्ततत्त्ववित् ।।
त्यक्तमत्सरदोषश्च स नाट्ये प्रेक्षकः स्मृतः ।
४१ एभिर्गुणैरुपेतश्च प्रयोगे वीतसाध्वसः ।।
इङ्गिताकारचेष्टाज्ञो नानाप्रकृतिशीलवित् ।
शिल्पविन्नायकादीनां तादात्म्यापत्तिभावकः ।।
चित्रविच्चित्रवर्णज्ञः तत्सङ्करविभागवित् ।
ईदृग्गुणविशिष्टस्तु नटो नाट्ये प्रशस्यते ।।
४२ नटप्रेक्षकयोरुक्तगुणैरेतैर्विभूषितः ।
यज्ञविन्नर्तकश्चैव छन्दोविच्छब्दविन्नृपः ।।

---

(प्रेक्षक)

४० नाट्य में 'प्रेक्षक' वह कहलाता है जोकि यशस्वी हो, धर्मरत हो, शान्त स्वभाव वाला हो, श्रुतिज्ञ तथा कुलीन हो, नाटक के षडंगों में कुशल हो; तत (वीणा आदि), आनद्ध (मुरजादि), सुषिर (वंशी आदि) तथा घन (घण्टा आदि)—चार प्रकार के संगीत-वाद्यों के प्रयोग में कुशल हो, पवित्र हो, चतुर और अभिनय का ज्ञाता हो, रसविवेचक तथा भाव-विवेचक हो, नेपथ्य का ज्ञाता हो, देश और भाषाओं को जानने वाला हो, कला तथा शिल्प विद्या में निपुण हो, शब्दशास्त्र (व्याकरण), छन्दशास्त्र और कोश का ज्ञाता हो, सभी सिद्धान्तों के तत्त्व को जानने वाला हो तथा मत्सर दोष से रहित हो।[२७]

(नट)

४१ नाट्य में 'नट' वह श्रेष्ठ होता है जो उपर्युक्त (प्रेक्षकगत) सभी गुणों से युक्त हो, अभिनय में निर्भीक हो, बाह्य और आभ्यन्तर चेष्टाओं का ज्ञाता हो, विभिन्न प्रकार की प्रकृति व शील का ज्ञाता हो, शिल्पविद्या में निपुण हो, नायक आदि के भावों के साथ तादात्म्यापत्ति ग्रहण करने वाला हो, चित्र-विचित्र वर्णो को जानने वाला हो, उनके मिश्रण तथा विभाग को जानने वाला हो। इस प्रकार के विशेष गुणों वाला 'नट' कहा जाता है।

(प्राश्निक)

४२ विशेष अभिनेताओं के अभिनय के विषय में कोई संघर्ष (विरोध) उत्पन्न हो जाने पर—उपर्युक्त नट तथा प्रेक्षक-गत सभी गुणों से विभूषित, यज्ञविद्,

इष्टार्थश्चित्रकृद्वेश्या गान्धर्वो राजसेवकः ।
समुत्पन्ने च सङ्घर्षे प्राश्निकास्ते भवन्ति हि ॥
४३ यज्ञविद्देवतायोगे नर्तकोऽभिनयादिषु ।
छन्दोविद्वृत्तबन्धेषु शब्दवित्पाठ्यविस्तरे ॥
विभूतिगुणसम्भोगवीर्यान्तःपुरचेष्टिते ।
नृपः स्वचरितेषु स्यादिष्टार्थस्संस्तवे सदा ॥
प्रमाणाकृतिचेष्टासु नानालङ्कारयोजने ।
नाट्यनैपथ्ययोगेषु चित्रकृत्तु प्रशस्यते ॥
कामोपचारे वेश्या तु गान्धर्वः स्वरतालयोः ।
सेवको विनयाचारे त एते प्राश्निका मताः ॥
४४ नानाशीलाः प्रकृतयः शीले नाट्यं प्रतिष्ठितम् ।
यद्यत्स्वशिल्पं नैपथ्यं कर्म वा चेष्टितं वचः ॥
तत्तन्नाट्येन साध्यं यत्स्वकर्मविषये स्थितम् ।
कामुकैश्च विदग्धैश्च श्रेष्ठिभिश्च विरागिभिः ।
शूरैर्ज्ञानवयोवृद्धै रसभावविवेचकैः ।
बालमूर्खाबलाभिश्च सेव्यं यन्नाट्यमुच्यते ।

---

नर्तक, छन्दशास्त्र का ज्ञाता, शब्द-शास्त्र (व्याकरण) के ज्ञाता, राजा, इष्टार्थ, चित्रकार, वेश्या, गान्धर्व तथा राजसेवक—ये सभी प्राश्निक कहलाते है।

४३ देवता-विषयक प्रयोग में यज्ञविद्, अभिनय आदि में नर्तक, वृत्त-बन्ध—(छन्दो-रचना) में छन्द-शास्त्र का ज्ञाता, पाठ के विस्तार में शब्दवेत्ता; विभूति (वैभव), गुण, सम्भोग, वीर्य (पराक्रम) तथा अन्तःपुर की चेष्टाओं में राजा, सदा अपने चरित्र के संस्तव (प्रशंसा) में इष्टार्थ; प्रमाण एवं आकृति की चेष्टा में, अनेक प्रकार की अलंकार-योजना में, नाट्य और नेपथ्य के प्रयोग में चित्रकार प्रशस्त (श्रेष्ठ) होता है। कामोपचार में वेश्या, स्वर और ताल में गान्धर्व तथा विनयोपचार में सेवक श्रेष्ठ कहे गये है—ये सब प्राश्निक कहलाते हैं।[२८]

**(प्रेक्षकों का रञ्जन-प्रकार)**

४४ अनेक प्रकार के स्वभाव वाली प्रकृतियाँ है, शील (स्वभाव) में ही नाट्य प्रतिष्ठित है। जो-जो अपने शिल्प, नेपथ्य, कर्म, चेष्टा तथा वचन है, वह सब नाट्य के द्वारा साध्य हैं, जो अपने कर्म के विषय में स्थित है। जो नाट्य (नाटक) कामुक, चतुर (विदग्ध), सेठ, वैरागी, शूर, ज्ञान और आयु मे वृद्ध, रस तथा भाव के विवेचक, बालक, मूर्ख तथा अबला से सेव्य कहा जाता है, उन-उन अर्थों में उनकी जिससे प्रसन्नता कही जाती है, वे ये हैं कि—तरुण

तत्तदर्थेषु तेषान्तु यस्मादेतत्प्रहर्षणम् ।
तुष्यन्ति तरुणाः कामे विदग्धाः समयाश्रिते ॥
अर्थेष्वर्थपराश्चैव मोक्षेत्वथ विरागिणः ।
शूरा बीभत्सरौद्रेषु नियुद्धेष्वाहवेषु च ॥
धर्माख्यानपुराणेषु वृद्धास्तुष्यन्ति नित्यशः ।
सत्त्वभावेषु सर्वेषु बुधास्तुष्यन्ति सर्वदा ॥
बाला मूर्खास्स्त्रियश्चैव हास्यनैथ्ययोः सदा ।
४५ यस्तुष्टौ तुष्टिमायाति शोके शोकमुपैति च ॥
क्रुद्धः क्रोधे भये भीरुः स श्रेष्ठः प्रेक्षकः स्मृतः ।
४६ तदीदृङ्नाटकारम्भप्रकारोऽत्र प्रदर्श्यते ॥
प्रयुज्य रङ्गं निष्क्रामेत्सूत्रधारः सहानुगः ।
स्थापकः प्रविशेत्तत्र सूत्रधारगुणाकृतिः ॥
दिव्यमर्त्ये स तद्रूपो मिश्रमन्यतरस्तयोः ।
सूचयेद्वस्तु बीजं वा मुखं पात्रमथापि वा ॥

---

(युवक) काम में प्रसन्न होता है। चतुर समय के अनुसार प्रसन्नता का अनुभव करता है। सेठ धन-सम्बन्धी बातों से प्रसन्न रहता है। वैरागी मोक्ष-सम्बन्धी विषय में प्रसन्नता का अनुभव करता है। शूर-वीर वीभत्स तथा रौद्र दृश्यों में प्रसन्न रहते है और नियुद्ध (बाहु-युद्ध) तथा युद्ध में प्रसन्नता का अनुभव करते हैं। वृद्ध पुरुष सदा धार्मिक प्रवचन तथा पुराण-कथाओं को सुनने में प्रसन्न होता है। विद्वान सर्वदा सभी सात्त्विक भावों में प्रसन्न होते हैं। बालक, मूर्ख तथा स्त्रियाँ हास्यास्पद दृश्य तथा नेपथ्य-सम्बन्धी दृश्यों से प्रसन्न रहती है।

४५ जो प्रसन्नता में प्रसन्न रहता है, शोक के समय शोक करता है, क्रोध में क्रोध करता है तथा भय के समय डरता है, वह श्रेष्ठ 'प्रेक्षक' कहा गया है।[२९]

४६ इस प्रकार अब नाटकारम्भ के भेद कहे जाते है—
सूत्रधार पूर्वरंग का विधान समाप्त करके अपने अनुयायियों के साथ चला जाता है। उसके पीछे सूत्रधार के गुण तथा आकृतिवाला 'स्थापक' प्रवेश करता है। यदि वर्णनीय वस्तु दिव्य हो तो वह देवता-रूप होकर और यदि मर्त्यलोक की वस्तु अभिनेय हो तो मनुष्य का रूप धारण करके एवं मिश्रवस्तु हो तो देवता या मनुष्य में से किसी एक का रूप धारण करके उसकी स्थापना करता है। यह 'स्थापक' वस्तु, बीज, मुख या पात्र की सूचना देता है।[३०]

४७ प्रीतिर्नाम सदस्यानामित्यादेर्वस्तु सूच्यते ।
४८ बीजन्तु वेणीसंहारे सत्पक्षा इति दर्शितम् ।।
४९ रत्नावल्यां मुखं द्वीपादन्यस्मादपि दर्शितम् ।
५० तवास्मि गीतरागेति पात्रं शाकुन्तले कृतम् ।।

---

४७ (१) **वस्तु-सूचना**—जैसे अनर्घराघव नाटक में निम्नलिखित पद्य के द्वारा नाटक की समस्त कथावस्तु का संक्षिप्त संकेत देता है:

"**प्रीतिनम्भि**—"[३१] इत्यादि अर्थात् "सदस्यों की प्रीति नाट्योपजीवी नटों की प्रियतमा हुआ करती है, उसे छीनकर ले जाने वाले उस दुष्ट को जीतकर मैं, उस प्रीतिरूप प्रियतमा को वापस लाना चाहता हूँ ।"

४८ (२) **बीज-सूचना**—जैसे वेणी-संहार नाटक में स्थापक नाटकीय कथावस्तु के बीज की सूचना देता है—

"**सत्पक्षा**—"[३२] इत्यादि अर्थात् "सुन्दर पक्ष सम्पन्न, मधुरालापी तथा हर्ष के कारण शीघ्रगामी राजहंस दिशाओं को सुशोभित करते हुए समय पाकर भूतल पर उतर रहे हैं, अथवा अच्छे-अच्छे प्रभावशाली राजाओं की सहायता से सम्पन्न, वाणीमात्र से 'मधुरभाषी' (किन्तु हृदय तो हलाहल विष से भरा हुआ है, सम्पूर्ण दिशाओं पर अधिकार जमाने वाले तथा पागल की भाँति कार्य करने वाले अर्थात् उच्छृंखल स्वभाव के धृतराष्ट्र-पुत्र (कौरव) मृत्यु के वश होकर पृथ्वी पर गिर रहे हैं ।"

४९ (३) **मुख-सूचना**—जैसे रत्नावली नाटिका में स्थापक मुख की सूचना देता है—

"**द्वीपादन्यस्माद्**—"[३३] इत्यादि अर्थात् "यदि प्रारब्ध अनुकूल हो तो वह दूसरे द्वीप से, समुद्र के मध्य से और दिशाओं के अन्त्य से भी अभीष्ट वस्तु को लाकर उपस्थित कर देता है ।"

(यहाँ जहाज टूट जाने पर भी समुद्र से निकली हुई रत्नावली का प्रारब्धवश वत्सराज के घर में आना और फिर यौगन्धरायण का व्यापारादिक यह सब रत्नावली का 'मुख' है ।)

५० (४) **पात्र-सूचना**—

इसमें स्थापक किसी पात्र की सूचना देते हुए प्रथम अंक में उसके भावी प्रवेशका संकेत देता है । जैसे शाकुन्तल में नट कह रहा है—

"हे नटी ! तेरे मनोहारी गीत-राग ने मेरा मन बलपूर्वक वैसे ही हरण कर लिया है जैसे राजा दुष्यन्त को यह अतितीव्रगामी हरिण दूर ले आया है ।"[३४]
(शाकुन्तल के प्रथम अंक में इस सूचना के बाद रथ पर बैठे दौड़ते हरिण का पीछा करता हुआ राजा दुष्यन्त मंच पर प्रविष्ट होता है । इस प्रकार स्थापक-नट की यह स्थापना पात्र-स्थापना कहलायेगी ।

५१ रङ्गं प्रसाद्य मधुरैः श्लोकैः काव्यार्थसूचकैः ।
ऋतुं कंचिदुपादाय भारतीं वृत्तिमाश्रयेत् ॥
श्लोकश्च भारतीवृत्त्या सत्पक्षेत्यादिनोच्यते ।

५२ भारती संस्कृतप्रायो वाग्व्यापारो नटाश्रयः ॥
या वाक्प्रधाना पुरुषप्रयोज्या स्त्रीवर्जिता संस्कृतपाठ्ययुक्ता ।
स्वनामधेयैर्भरतैः प्रयोज्या सा भारती नाम भवेत्तु वृत्तिः ॥
साङ्गैः प्ररोचनायुक्तैः वीथीप्रहसनामुखैः ।

५३ प्रेक्षकाद्युन्मुखीकारः प्रस्तुतार्थप्रशंसया ॥
प्ररोचना सा श्रीहर्षो निपुणेत्यादिनोच्यते ।

५४ प्रस्तुतिस्त्वीदृगर्थस्य या सा प्रस्तावना स्मृता ॥
मद्वर्ग्या रसपाठेति पद्ये प्रस्तावनोच्यते ।

५५ सूत्रधारो नटीयुक्तो वस्तु प्रस्तावनावधि ॥
कुरुते यत्र सद्वृत्तैस्तदामुखमुदाहृतम् ।

---

५१ वह स्थापक-नट काव्यार्थ की सूचना देने वाले मधुर श्लोकों से सभा को प्रसन्न करता हुआ किसी ऋतु को लेकर भारती वृत्ति का आश्रयण करे[३५]। "सत्पक्षा·····"इत्यादि श्लोक भारती वृत्ति से कहा गया है।

५२ नट के द्वारा प्रयुक्त संस्कृत भाषा वाला वाग्व्यापार 'भारती-वृत्ति' कहलाता है।[३६] जिसमें वाणी मुख्य-रूप में रहे, जो पुरुष पात्रों द्वारा प्रयुक्त की जाये, स्त्री का जिसमें सन्निवेश न हो, संस्कृत-पाठ्य से युक्त हो तथा नटों के द्वारा अपने ही नाम पर जिसका नामकरण किया गया हो उसे 'भारती' वृत्ति समझना चाहिए।[३७] इस भारती वृत्ति के प्ररोचना, वीथी, प्रहसन तथा आमुख—ये चार भेद पाये जाते हैं।

**(प्ररोचना)**

५३ काव्यार्थादि की प्रशंसा के द्वारा प्रेक्षकादि को प्रस्तुत (प्रकृत) वस्तु की ओर आकर्षित करना 'प्ररोचना' कहलाता है।[३८] जैसे—रत्नावली में "श्रीहर्षो निपुणेत्यादि—"[३९] प्ररोचना कहा जाता है।

५४ इस प्रकार के प्रकृत अर्थ की जो प्रस्तुति होती है, वह "प्रस्तावना" कहलाती है। जैसे—अनर्घराघव नाटक के "मद्वर्ग्या रसपाठ—"[४०] इत्यादि पद्य में प्रस्तावना कही जाती है।

**(आमुख)**

५५ जहाँ सूत्रधार नटी के साथ प्रस्तावना-पर्यन्त अच्छे वृत्तों के द्वारा वस्तु का कथन करता है, उसे 'आमुख' कहते हैं।

५६ सूत्रधारो नटी ब्रूते मारिषं वा विदूषकम् ॥
स्वकार्यप्रस्तुताक्षेपिचित्रोक्त्या यत्तदामुखम् ।
५७ नटी विदूषको वापि पारिपार्श्विक एव वा ॥
सूत्रधारेण सहिताः सल्लापं यत्र कुर्वते ।
चित्रैर्वाक्यैः स्वकार्योत्थैर्वीथ्यङ्गैरन्यथापि वा ॥
आमुखं तत्तु विज्ञेयं बुधैः प्रस्तावनाऽपि वा ।
५८ प्रवृत्तककथोद्घातप्रयोगातिशयैस्तथा ॥
वीथ्यङ्गैः षोडशैतेषां योगः प्रस्तावनोच्यते ।
५९ प्रवेशो यो वसन्तादिसाम्येन स्यात्प्रवृत्तकम् ॥
सत्पक्षेत्यादिना श्लोकेनायमर्थो यदीरितः ।
६० स्वेतिवृत्तसमं वाक्यमर्थं वा यत्र सूत्रिणः ॥
गृहीत्वा प्रविशेत्पात्रं कथोद्घातो द्विधोच्यते ।

---

५६ आमुख उसे कहते है, जहाँ सूत्रधार नटी, मार्ष (पारिपार्श्विक) या विदूषक के साथ बात करते हुए विचित्र उक्ति के द्वारा प्रस्तुत का आक्षेप कर अपने कार्य का वर्णन करे।[४१]

५७ जहाँ नटी, विदूषक या पारिपार्श्विक सूत्रधार के साथ अपने कार्य के विषय में विचित्र वाक्यों से बातचीत करें या वीथी के किन्हीं अगों से बातचीत करें या फिर किसी और ही प्रकार से बातचीत करें तो विद्वज्जन उसे 'आमुख' कहते है और उसी का नाम प्रस्तावना भी है।[४२]

५८ प्रस्तावना के तीन प्रकार हैं—प्रवृत्तक, कथोद्घात तथा प्रयोगातिशय तथा वीथी के तेरह अंग या प्रकार (उद्घात्यक, अवलगित, नालिका, अवस्यन्दित, असत्प्रलाप, वाक्केलि, मृदव, अधिबल, छल, त्रिगत, व्याहार, गण्ड तथा प्रपंच) प्रस्तावना के भी होते हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर प्रस्तावना के सोलह प्रकार होते है।

(प्रवृत्तक)

५९ 'प्रवृत्तक' नामक आमुख भेद वह होता है जहाँ बसन्त आदि ऋतु के वर्णन की समानता के आधार पर किसी पात्र के प्रवेश की सूचना दी जाय। जैसे—वेणी-संहार नाटक में "सत्पक्षा—" इत्यादि श्लोक से यही अर्थ कहा गया है। शरद्-ऋतु के वर्णन की समानता के आधार पर भीम प्रवेश करता है।

(कथोद्घात)

६० अपनी कथा के ही समान सूत्रधार के मुख से निकले हुए वाक्य या वाक्यार्थ को ग्रहण करके जब कोई पात्र मञ्च पर प्रवेश करता है तो उस प्रस्तावना को 'कथोद्घात' कहते हैं। यह दो प्रकार का होता है—वाक्यमूलक तथा वाक्यार्थमूलक।[४३] जैसे—

द्वीपादित्यादिवाक्येन यथा यौगन्धरायणः ॥
अर्थः क्रूरग्रहेत्यादि मुद्राराक्षसकल्पितः ।
आकर्ण्य चाणक्यपात्रप्रवेश उपलक्ष्यते ॥
६० एषोऽयमित्युपक्षेपात्सूत्रधारप्रयोगतः ।
पात्रप्रवेशो यत्रैष प्रयोगातिशयो मतः ॥
एष राजेव दुष्यन्तेत्यादिना स प्रतीयते ।
६२ प्रवृत्तककथोद्धातप्रयोगातिशयत्रिके ॥
भीमचाणक्यदुष्यन्तप्रवेशैर्लक्ष्यते क्रमात् ।
६३ अथात्रैतानि कथ्यन्ते वीथ्यङ्गानि त्रयोदश ॥
उद्धात्यकावलगिते प्रपञ्चत्रिगते छलम् ।
वाक्केल्यधिबले गण्डमवस्यन्दितनालिके ॥
असत्प्रलापव्याहारमृदवानि त्रयोदश ।

---

वाक्य का प्रयोग रत्नावली में पाया जाता है, जहाँ यौगन्धरायण सूत्रधार के ही वाक्य "द्वीपादन्यस्मादपि—" इत्यादि का प्रयोग अपनी उक्ति में करते हुए प्रवेश करता है ।

वाक्यार्थ का प्रयोग मुद्राराक्षस की प्रस्तावना में मिलता है। चाणक्य सूत्रधार के वाक्य के अर्थ को लेकर तदनुकूल उक्ति का प्रयोग करते हुए प्रविष्ट होता है। जैसे—"[४४]क्रूरग्रहः सः—" इत्यादि अर्थात् "नीच ग्रह वह प्रसिद्ध राहु इस समय सम्पूर्ण कलाओं वाले चन्द्रमा को बलपूर्वक ग्रसित करना चाहता है·······।" (नेपथ्य में) आह ! यह कौन है जो मेरे रहते हुए चन्द्र को (चन्द्रगुप्त को) पराजित करना चाहता है ?"

**(प्रयोगातिशय)**

६१ जहाँ सूत्रधार नटी से किसी प्रसंग की चर्चा करते हुए अभिनेय व्यक्ति का नाम लेकर संकेत करे कि "अरे ! ये तो वे ही हैं या उनके समान हैं" और उस कथन के साथ ही उस व्यक्ति के अभिनय करने वाले पात्र का प्रवेश हो जाय, उसे 'प्रयोगातिशय' कहते है ।[४५] जैसे—अभिज्ञान-शाकुन्तल के "[४६]एष राजेव दुष्यन्तः"—इत्यादि से प्रयोगातिशय प्रतीत होता है ।

६२ इस प्रकार प्रवृत्तक, कथोद्धात तथा प्रयोगातिशय के आश्रित क्रमशः भीम, चाणक्य तथा दुष्यन्त मञ्च पर प्रवेश करते हैं ।

६३ अब यहाँ पर वीथी के तेरह अंगों को कहते हैं ।
उद्धात्यक, अवलगित, प्रपंच, त्रिगत, छल, वाक्केलि, अधिबल, गण्ड, अवस्यन्दित नालिका, असत्प्रलाप, व्याहार तथा मृदव—ये तेरह वीथी के अंग हैं ।

६४ गूढार्थपदपर्यायमाला प्रश्नोत्तरस्य वा ।
यत्रान्योन्यसमालापो द्वेधोद्घात्यन्तदुच्यते ।

६५ अन्योन्यालापरूपैका स्यात्प्रश्नोत्तरमालिका ।
गूढार्थपदपर्यायमूलैकालापयोर्द्वयोः ।

६६ यथा हि पाण्डवानन्दे सा प्रश्नोत्तरमालिका ।।
"का भूषा बलिनां क्षमा परिभवः कोऽयं स्वकुल्यैः कृतः
किं दुःखं परसंश्रयो जगति कः श्लाघ्यो य आश्रीयते ।
को मृत्युर्व्यसनं शुचं जहति के यैर्निर्जिताः शत्रवः
कैर्विज्ञातमिदं विराटनगरे छन्नस्थितैः पाण्डवैः ।।"

६७ अथ विक्रमोर्वशीये राज्ञो विदूषकस्य सल्लापे ।
कामपदार्थप्रश्नाद्गूढार्थो लक्ष्यते नितराम् ।।

---

(उद्घात्यक)

६४ जहाँ दो पात्रों की परस्पर बातचीत इस ढंग की पायी जाय कि वहाँ या तो गूढार्थ पदों तथा उनके पर्याय (अर्थ) की माला बन जाय, या फिर प्रश्न तथा उत्तर की माला बन जाय, तो इस तरह दो तरह का 'उद्घात्यक' होता है।[४७]

६५ जहाँ परस्पर दो पात्र प्रश्नोत्तर-माला-रूप में सम्वाद करे, यह उद्घात्यक का प्रथम भेद है और जब दो पात्र परस्पर गूढार्थ पद या पर्याय-माला-रूप में सम्वाद करे तो दूसरे प्रकार का उद्घात्यक होता है।

६६ प्रश्नोत्तर-मालिका उद्घात्यक का उदाहरण पांडवानन्द नाटक में दिया गया है। जैसे—

"भूषण क्या है ? बलशालियों की क्षमा । तिरस्कार क्या है ? जो अपने ही कुल के बन्धु-बांधवों के द्वारा किया गया है । दुखः क्या है ? दूसरों के आश्रित रहना । संसार में प्रशंसनीय कौन है ? जिसका आश्रय लिया जाता है । मृत्यु क्या है ? व्यसन । शोक का त्याग कौन कर सकता है ? जो अपने शत्रुओं को जीत लेते हैं । ये सब बातें किसने जानली ? विराट नगर में अज्ञात रूप में छिपकर रहते हुए पाण्डवों ने ।"

६७ गूढार्थ पदों की प्रयोगमाला उद्घात्यक का उदाहरण विक्रमोर्वशीय नाटक में दिया गया है जहाँ राजा 'काम' के विषय में गूढार्थ पदों का प्रयोग कर फिर उसका व्याख्यान करता है । जैसे—

([४८]"**विदूषक**—हे मित्र, 'काम' कौन है, जिससे तुम दुःखी हो रहे हो, वह पुरुष है या स्त्री ।)

**राजा**—मित्र ! प्रेम का वह सुन्दर मार्ग जो केवल सुख की ओर ही प्रवृत्त होता है तथा मन में उत्पन्न होता है, काम कहलाता है ।

**विदूषक**—मैं यह नहीं जानता ।

**राजा**—मित्र, वह काम इच्छा से उत्पन्न होता है ।

**विदूषक**—तो क्या, जो जिसकी इच्छा करता है, उसकी वह कामना करता है ।

**राजा**—और क्या ।

**विदूषक**—तो समझ गया जैसे मैं भोजन-शाला में भोजन की इच्छा करता हूँ ।)

६८ यत्रैकत्र समावेशात्कार्यमन्यत्प्रसाध्यते ।
प्रस्तुतेऽन्यत्र वाऽन्यत्स्यात्तच्चावलगितं द्विधा ।।
प्रस्तुतार्थसमावेशादन्यकार्यस्य साधनम् ।
६९ कार्या सैकतलीनेति (?) प्रस्तुतार्थोपदेशतः ।।
सीतात्यागपरीवादादन्यकार्यस्य साधनम् ।
अप्रस्तुतसमावेशादन्यकार्यस्य साधनम् ।।
७० तवास्मि गीतरागेणेत्यादौ तत्तु विलोक्यते ।
अत्राप्रस्तुतदुष्यन्तमृगयाव्याजतोऽन्यतः ।।
प्रवेक्ष्यमाणपात्रस्य सूचनं तन्निवेशनम् ।

---

(अवलगित)

६८ जहाँ एक ही क्रिया के द्वारा एक कार्य के समावेश से किसी दूसरे कार्य की भी सिद्धि हो जाय, वह अवलगित का प्रथम भेद है। अथवा एक कार्य के प्रस्तुत होने पर वह न होकर दूसरा हो तो दूसरे प्रकार का अवलगित होता है। इस तरह अवलगित दो प्रकार का होता है।[४९] प्रस्तुत अर्थ की सिद्धि न होकर दूसरी सिद्धि हो और एक ही क्रिया से एक कार्य के समावेश से किसी दूसरे कार्य की भी सिद्धि हो।

६९ जैसे प्रथम प्रकार के अवलगित का उदाहरण अभिज्ञान-शाकुन्तल मे दिया गया है कि—

"[५०]**कार्यासैकतलीन**—" इत्यादि (?) अर्थात् "बालुमय स्थान पर सुखासीन हंस-युगल से शोभित मालिनी नदी लिखनी है, उसके दोनों ओर बैठे हुए हरिणों के जोड़े वाली गौरी (पार्वती) के गुरू अर्थात् हिमालय की पवित्र तलहटी भी लिखनी है।"

यहाँ पर प्रस्तुत अर्थ के उपदेश से अप्रस्तुत मालिनी और पाद (तलहटी) का "कार्या" इस एक क्रिया से सम्बन्ध कर दिया गया है।

पुनः इसी अवलगित का उदाहरण उत्तररामचरित से दिया जा सकता है, जहाँ वन-विहार की दोहद इच्छावाली गर्भिणी सीता के दोहद को पूर्ण करने के कार्य से वन में ले जाकर जनापवाद के कारण वहाँ छोड़ दिया गया है। यहाँ एक कार्य के समावेश (सीता-दोहद-पूर्ति-रूप) से दूसरा कार्य वन-त्याग भी सिद्ध हो गया है।

७० दूसरे अवलगित का उदाहरण जैसे अभिज्ञानशाकुन्तल में "तवास्मि गीत-रागेण—" इत्यादि के अनन्तर राजा का प्रवेश हुआ है। यहाँ अप्रस्तुत दुष्यन्त का मृगया के लिए प्रस्थान के बहाने से (अन्य से) प्रवेक्ष्यमाण पात्र की सूचना दी गयी है।

७१ प्रस्तुतार्थसमावेशादेकमन्यार्थसाधनम् ॥
अन्यदप्रस्तुतार्थस्य प्रवेशेनान्यसाधनम् ।
७२ असद्भूतं मिथः स्तोत्रं प्रपञ्चो हास्यकृन्मतः ॥
प्रपञ्चस्य स्वरूपन्तु नागानन्दे विभाव्यते ।
"निच्चं जो पिबइ सुरं जणस्स पिअसंगमञ्च जो कुणइ ।
मण्णे दो अवि देवा बलदेवो कामदेवो अ ॥"
७३ श्रुतिसाम्यादनेकार्थयोजनं त्रिगतं त्विह ॥
नटादित्रितयालापः पूर्वरङ्गे तदिष्यते ।
एतत्प्रस्तावनात्मेति कथ्यते नाट्यवेदिभिः ॥
त्रिगतं त्विन्दुलेखायां वीथ्यां राज्ञाऽभिधीयते ।
"किन्नु कलहंसनादो मधुरो मधुपायिनां नु झङ्कारः ।
हृदयगतवेदनायास्तस्या नु सनूपुरश्चरणः ॥"
७४ प्रियैरिवाप्रियैर्वाक्यैर्विलोभ्य छलना छलम् ॥
छलं च वेणीसंहारे भीमार्जुनवचो यथा ।

---

७१ अतः इस प्रकार प्रथम में एक प्रस्तुत कार्य के समावेश से अन्य कार्य की सिद्धि हुई है और पुनः अप्रस्तुत अर्थ के प्रवेश से अन्य कार्य की सिद्धि हुई है ।

(प्रपञ्च)

७२ "प्रपञ्च" वह वीथ्यंग है जहाँ पात्र आपस में एक-दूसरे की ऐसी अनुचित प्रशंसा करे जो हास्योत्पादक हो ।[५१]
इस प्रपञ्च का स्वरूप "नागानन्द" नाटक में देखा जाता है; जैसे—"मै दो को देव मानता हूँ, प्रथम बलदेव—जो नित्य सुरापान करते हैं, द्वितीय कामदेव—जो मनुष्य का प्रिय मिलन कराता है (नागानन्द, ३-१) ।"

(त्रिगत)

७३ शब्दो की समानता के कारण अनेक अर्थो की कल्पना करना 'त्रिगत' कहलाता है । नट आदि (नट, नटी और पारिपार्श्विक) तीन पात्रों के आलाप के कारण पूर्वरंग में भी त्रिगत पाया जाता है ।[५२] इसको नाट्यविद् प्रस्तावना की आत्मा कहते हैं ।
उदाहरण के लिए इन्दुलेखा वीथी में त्रिगत का प्रयोग राजा करता है—"क्या यह कल हंस का मधुर नाद है ? क्या यह भ्रमरियों की झंकार है ? क्या यह हृदयगत उस वेदना का नूपुर सहित चरण है ?"

(छल)

७४ प्रिय सदृश अप्रिय वाक्यों से किसी को लोभित कर छलना "छल" कहलाता है ।[५३] जैसे—वेणीसंहार में भीम तथा अर्जुन दुर्योधन को ढूँढते हुए निम्न उक्ति

"कर्ता द्यूतच्छलानां जतुमयशरणोद्दीपनः सोऽभिमानी
राजा दुश्शासनादेर्गुरुरनुजशतस्याङ्गराजस्य मित्रम् ।
कृष्णाकेशोत्तरीयव्यपनयनपटुः पाण्डवा यस्य दासाः
क्वास्ते दुर्योधनोऽसौ कथयत न रुषा द्रष्टुमभ्यागतौ स्वः ।।"

७५ विनिवृत्त्याऽस्य वाक्केलिर्द्विस्त्रिः प्रत्युक्तितोऽपि वा ।।
वाक्यापरिसमाप्तिर्वा स्याच्छलार्थाभिधायिनः ।
अनर्घराघवे सूत्रिपारिपार्श्विकयोर्यथा ।।
प्रत्युक्तिरूपा वाक्केलिः सर्वत्रैवं विलोक्यताम् ।
प्रक्रान्तवाक्यासमाप्तिमात्ररूपा क्वचिद्भवेत् ।।
सकुण्डलं सकवचमित्यादौ सा विलोक्यते ।
छलवाक्यासमाप्तिर्या स भवेद्विनिवर्तने ।।

---

का प्रयोग करते है, जो अप्रिय वाक्यों से युक्त है लेकिन बाहर से प्रिय सी लगती है—

"द्यूत रूपी कपटों का विधाता, लाख-निर्मित भवन का दाहकर्ता, दुःशासनादि सौ छोटे भाइयों का पूज्य अग्रज (गुरु), अंगराज कर्ण का मित्र, वह अहंकारी राजा दुर्योधन जो द्रोपदी के केश और वस्त्रों के अपहरण करने में चतुर है, तथा जिसके पाण्डव सेवक हैं, कहाँ है ? बतलाओ । क्रोध से नहीं, किन्तु केवल उनसे मिलने के लिए हम दोनों आये हुए है (वेणीसंहार, ५,२६) ।"

(वाक्-केलि)

७५ जहाँ वाक्य की विनिवृत्ति पायी जाय अर्थात् प्रकरण प्राप्त बात को कहते-कहते रुक जाय, अथवा जहाँ दो या तीन बार उक्ति-प्रत्युक्ति का प्रयोग पात्रों द्वारा किया जाय[५६] अथवा जहाँ छलपूर्वक कथन करने वाले के वाक्य की अपरिसमाप्ति हो, उसे "वाक्केलि" कहते हैं ।

वाक्य की विनिवृत्ति (वाक्केलि) का उदाहरण है—अनर्घराघव नाटक मे सूत्रि तथा पारपार्श्विक के बीच हुआ कथन ।

प्रत्युक्ति रूपा वाक्केलि को सर्वत्र ऐसे ही देख लेना चाहिए । कही प्रक्रान्त वाक्य की असमाप्ति-मात्र-रूप वाक्केलि होती है । वह 'सकुण्डलं सकवचम्—' इत्यादि में देखी जाती है ।

छलपूर्वक वाक्य की असमाप्ति जो होती है वह वाक्य-विनिवृत्ति मे होती है । जैसे—उत्तररामचरित के तृतीय अंक में कहा गया है, जहाँ सीता के साथ किये गये राम के बर्ताव का वर्णन करते हुए वासन्ती राम से कह रही है—
"तुमने सीता से कहा था कि तुम मेरा जीवन हो, तुम मेरा दूसरा हृदय हो, तुम मेरे नेत्रों के लिए कौमुदी हो और तुम मेरे अंगों में "अमृत हो"—इत्यादि

त्वं जीवितं चेत्यारभ्य रामं प्रति समीरितम् ।
वासन्तिकावचः शान्तमित्यप्रियनिवर्तनम् ।।
७६ अन्योन्यवाक्याधिक्योक्तिः स्पर्धयाऽधिबलं भवेत् ।
रामरावणयोरुक्तिः स्याद्दशग्रीवनिग्रहे ।।
७७ गण्डं प्रस्तुतसम्बधि भिन्नार्थं सहसोदितम् ।
सहभृत्यगणेत्यादिवाक्ये तत्तु विलोक्यते ।।
यथा स्वविजयोक्तिश्च पाण्डुपुत्रजयोक्तिकृत् ।
७८ यथोक्तस्यान्यथाव्याख्या यत्रावस्यन्दितं हि तत् ।।
गृहीतचित्रफलकं राजानमवलोक्य च ।
सुसङ्गतासागरिकासल्लापे तद्विलोक्यते ।।

---

सैकडों प्रिय वाक्यो से उस भोली-भाली को बहकाकर, हाय, तुमने उसी को— (वनवास दे दिया) अथवा शान्त हो, इससे आगे कहने से क्या लाभ ?"[५५] यहाँ वासन्ती वाक्य को कहते रुक जाती है और "शान्त हो" कहकर चुप हो जाती है । इससे अप्रिय कथन की निवृत्ति होती है ।

**(अधिबल)**

७६ स्पर्धा के कारण एक-दूसरे से बढ-चढकर यदि वाक्य बोले तो उसे 'अधिबल' कहते है ।[५६] जैसे—
अनर्घराघव नाटक के षष्ठ अंक में "दशग्रीवनिग्रह" में राम व रावण के विषय में पात्रों द्वारा किया गया परस्पर वार्तालाप इस ढंग का पाया जाता है कि वे एक दूसरे की स्पर्धा करते हुए अपने आधिक्य की सूचना देते है ।

**(गण्ड)**

७७ प्रस्तुत विषय से सम्बन्ध—रखने वाला सहसा उदित अन्यार्थक वाक्य "गण्ड" कहलाता है ।[५७] जैसे—
वेणीसंहार में दुर्योधन कहता है कि—
"सहभृत्यगणं सबान्धवं सहमित्रं ससुतं सहानुजम् ।
स्वबलेन निहन्ति संयुगे न चिरात्पाण्डु सुतः सुयोधनम् ।"
यहाँ दुर्योधन अपनी विजय के लिए कहता है लकिन प्रस्तुत पाण्डवजयोक्ति से यह उक्ति सम्बद्ध हो जाती है ।

**(अवस्यन्दित)**

७८ अपनी स्वाभाविक उक्ति का अन्यथा व्याख्यान करना '"अवस्यन्दित" कहलाता है ।[५८] जैसे—रत्नावली नाटिका में चित्रपट्ट पर बने हुए राजा को देखकर अर्थात् सागरिका के हाथ में राजा (उदयन) का चित्र देखकर सुसंगता सागरिका से पूछती है कि यह किसका चित्र है तो सागरिका दूसरे ढंग से कहती है कि मदन-महोत्सव में यह भगवान कन्दर्प का चित्र है । पुनः सुसगता भी दूसरे ढंग से कहती है कि मैं इस चित्र को रति-युक्त करती हूँ—ऐसा कहकर रति के बहाने सागरिका चित्र बनाती है ।

७९ सोपहासनिगूढार्था नालिकैव प्रहेलिका ।
विलोक्यते नालिकेयं मुद्राराक्षसनाटके ।।
'हंहो ब्रह्मण मा कुप्येत्यारभ्य प्रश्नयुक्तिभिः ।
अपरक्तांश्चन्द्रगुप्ताज्जानामीत्यन्तमुच्यते ।।
८० असम्बद्धकथालापोऽसत्प्रलाप इतीरितः ।
मूर्खजनसन्निकर्षे हितमपि यत्र प्रभाषते विद्वान् ।
नच गृह्यतेऽस्य वचनं विज्ञेयोऽसत्प्रलापोऽसौ ।।
यथा हि रामाभ्युदये सीतापहरणोद्यतः ।।
मारीचेन सहायेन निषिद्धो रावणः क्रुधा ।
प्रालपद्विपरीतं यदसल्लापः स उच्यते ।।
भुक्ता मया हि गिरयः स्नातोऽहं वह्निना पिबामि नभः ।

---

(नालिका)

७९ हास्य से युक्त, छिपे अर्थ वाली पहेली भरी उक्ति को 'नालिका' कहते हैं ।[५९] जैसे मुद्राराक्षस नाटक में हास्य से युक्त तथा गूढ़ार्थ पहेली 'बताओ चन्द्र किसे अच्छा नही लगता' इसका प्रयोग चर के द्वारा किया जाता है जहाँ चन्द्र का गूढ़ार्थ चन्द्रगुप्त (मौर्य) से है ।

(**चर**—अरे ब्राह्मण ! कुपित न होओ, सभी सब कुछ नही जानते, कुछ तुम्हारे आचार्य चाणक्य जानते हैं और कुछ हम जैसे व्यक्ति भी जानते हैं ।
**शिष्य**—(क्रोध के साथ) क्या तुम गुरूजी की सर्वज्ञता नष्ट करना चाहते हो ?
**चर**—अरे ब्राह्मण ! यदि तुम्हारे आचार्य सब कुछ जानते हैं तो बतावें कि किस व्यक्ति को चन्द्र अच्छा नहीं लगता ?
**शिष्य**—इसे जानने से क्या लाभ ?
इन बातों को सुनकर चाणक्य समझ गया कि चर के कहने का तात्पर्य यह है कि "मैं चन्द्रगुप्त के शत्रुओं को जानता हूँ ।"[६०])

(असत्प्रलाप)

८० असम्बद्ध (उटपटांग) बात कहने को 'असत्प्रलाप' कहते हैं ।[६१]

जब कोई विद्वान किसी मूर्ख के समक्ष हित की बात कहे, लेकिन वह मूर्ख उस (विद्वान) की बात को ग्रहण नहीं करे तो उसे 'असत्प्रलाप' समझना चाहिए। जैसे—रामाभ्युदय नाटक में 'सीता का अपहरण करने के लिए उद्यत रावण मारीच द्वारा सहायता के लिए मना कर देने पर क्रुद्ध होकर जो विपरीत बोला है वह 'असत्प्रलाप' है ।

पुनः निम्न उन्मादोक्ति में 'असत्प्रलाप' है—

हरिहरहिरण्यगर्भा मत्पुत्रास्तेन नृत्यामि ।।
असम्बद्धकथालापोऽसत्प्रलापोऽत्र दृश्यते ।
८१ अन्यार्थमेव व्याहारो हास्यलोभकरं वचः ।।
मालव्यां गन्तुमिच्छन्त्यां गणदासविदूषकौ ।
यत्र सल्लपतस्तस्या हास्यलोभकरं वचः ।।
यावद्वीक्षेत राजानं व्यापारस्तत्र दृश्यते ।
८२ दोषा गुणा गुणा दोषा यत्र स्युर्मृदवं हि तत् ।।
यथा हि नायकानन्दे गुणा दोषाय कीर्तिताः ।
कस्मैचित्कपटायेति लक्ष्मीमुद्दिश्य केनचित् ।।

---

"मै पर्वतों को खा चुका हूँ, अग्नि से स्नान कर चुका हूँ, आकाश को पी रहा हूँ । ब्रह्मा, विष्णु, महेश मेरे पुत्र है, इसलिए मैं नॉच रहा हूँ ।"
यहाँ असम्बद्ध बात कहने से 'असत्प्रलाप' देखा जाता है ।

(व्याहार)

८१ दूसरे का प्रयोजन सिद्ध करने के लिए हास्यपूर्ण और लोभजनक वचन बोलने को 'व्याहार' कहते है ।[६२]
जैसे मालविकाग्निमित्र में लास्य प्रयोग के बाद मालविका जाना चाहती है, उसको जाते देख विदूषक कहता है—
"अभी नही थोड़ी देर रुककर उपदेश सुनकर जाओ ।"
यहाँ से शुरू करके (गणदास और विदूषक के उत्तर-प्रत्युत्तर पर्यन्त) गणदास विदूषक से कहता है—
आर्य ! कोई गलती हुई हो तो कहें।
विदूषक—सर्वप्रथम ब्राह्मण की पूजा का विधान है, इसका अवश्य इन्होंने उल्लंघन किया है । (मालविका मुस्कराती है)[६३]
यहाँ विदूषक के द्वारा हास्य तथा लोभकारी वचनो के कहते हुए तक राजा को मालविका का दर्शन कराना मात्र उद्देश्य है, अतः 'व्याहार' है ।

(मृदव)

८२ जहाँ दोप को गुण और गुण को दोष समझा जाता हो, उसे 'मृदव' कहते है।[६४]
जैसे—अनर्घराघव नाटक के नायकानन्द अंक में गुण दोष के लिए कहे गये है । कोई (विभीषण) राम की उक्ति को स्मरण कर लक्ष्मी को उद्देश्य करके कहता है—
"किसी बड़े कपट को लक्ष्य बनाकर भगवान विष्णु की छाती में रहने वाली लक्ष्मीदेवी ! यदि आप नाराज न हों तो आपको नमस्कार करके पूछूँगा कि आप जो कमलवासिनी बनी हुई हैं सो कमल आपका विद्यागृह है क्या ? और आप नीचे से नीचे उतरती जाती है सो इस कला में आपके आचार्य जल तो नही है ।"[६५]

यथा शाकुन्तले दोषा गुणाय परिकीर्तिताः ।
मेदश्छेदकृमेत्यादिमृगयागुणकीर्तनैः ॥

८३ तेषामन्यतमेनार्थं पात्रं वाऽऽक्षिप्य सूत्रभृत् ।
प्रस्तावनाऽन्ते निर्गच्छेत्ततो वस्तु प्रपञ्चयेत् ॥

८४ प्रख्यातन्तु विधातव्यं वृत्तमत्राधिकारिकम् ।

८५ अभिगम्यगुणैर्युक्तो धीरोदात्तः प्रतापवान् ॥
कीर्तिकामो महोत्साहः त्रय्यास्त्राता महीपतिः ।
प्रख्यातवंशो राजर्षिर्दिव्यो वा यत्र नायकः ॥

८६ तत्प्रयत्नेन कर्तव्यमितिहासादिवृत्ततः ।
यत्तत्रानुचितं किञ्चिन्नायकस्य रसस्य वा ।
विरुद्धं तत्परित्याज्यमन्यथा वा प्रकल्पयेत् ।

---

पुनः, जैसे अभिज्ञान शाकुन्तल में निम्न पद्य में दोप गुण के लिए कहे गये हैं—

"शरीर चर्बी छटने से कृश उदर वाला अतएव हल्का एव उद्योग-योग्य हो जाता है, भय तथा क्रोध में वन्य जन्तुओं का विकार-युक्त चित्त परिलक्षित होता है और यह धनुर्धारियों के लिए उत्कर्ष की बात है कि उनके बाण चल लक्ष्य पर भी सधते हैं। व्यर्थ ही लोग आखेट (मृगया) को व्यसन की संज्ञा देते है। ऐसा विनोद अन्यत्र कहाँ ?"[६६]

यहाँ मृगया व्यसन होते हुए भी गुण रूप कही गयी है।

८३ इस प्रकार उपर्युक्त वीथी के अंगों में से किसी एक के द्वारा अर्थ और पात्र का प्रस्ताव करके प्रस्तावना के अन्त में सूत्रधार को चले जाना चाहिए। और उसके बाद कथावस्तु का अभिनय प्रारम्भ हो जाना चाहिए।

८४ इतिहास-पुराणादि में प्रसिद्ध कथावस्तु को ही नाटक की आधिकारिक-वस्तु रखना चाहिए।

८५ नाटक का नायक धीरोदात्त होना चाहिए। नायक के अन्दर अच्छे-अच्छे गुण, प्रताप और कीर्ति प्राप्त करने की इच्छा, महान उत्साह-सम्पन्न और वेद का रक्षक होना चाहिए। इसके अतिरिक्त उसका जन्म प्रसिद्ध कुल में होना चाहिए। नाटक का नायक राजा या राजर्षि अथवा दिव्य पुरुष होना चाहिए।

८६ इतिहासादि में प्रसिद्ध कथावस्तु के अनुसार ही कथावस्तु का प्रयत्नपूर्वक प्रयोग करना चाहिए। उस कथावस्तु के अन्दर यदि कहीं नायक के गुण या नाटकीय रस का विरोधी वृत्तान्त दिखाई देता हो तो उसे छोड़ देना चाहिए। अथव यदि उसका वर्णन करने की इच्छा हो तो उसे ऐसे ढंग से प्रस्तुत करे कि उसकी विरुद्धता लक्षित न हो।[६७]

८७ उपादेयञ्च हेयञ्च निश्चित्यात्यन्तमग्रतः ॥
प्रकाशयेदुपादेयं तिरस्कुर्यात्तथेतरत् ।
८८ कथाशरीरं विभजेद्बीजबिन्द्वादिपञ्चधा ॥
मुखादिपञ्चभिः साङ्गैर्नियतं तत्तदाख्यया ।
पताकावृत्तमप्यूनमेकाद्यैरनुसन्धिभिः ॥
सन्ध्यन्तराणि साङ्गानि भवेयुरनुसन्धयः ।
सन्ध्यङ्गैरूनमेवात्र पताकावृत्तमावहेत् ॥
ततः सन्ध्यन्तराण्यत्र यथायोगं प्रयोजयेत् ।
असन्धिमेव प्रकरीं सर्वत्रापि प्रयोजयेत् ॥
८९ एवं विभक्तेतिवृत्तस्यादौ विष्कम्भकं न्यसेत् ।
अङ्कं वा विन्यसेद्विद्वान्यथावत्कार्ययुक्तितः ॥
९० प्रस्तावनाया मध्यं यन्नाटकोपक्रमात्मकम् ।
तदेवात्रादिशब्देन विष्कम्भस्थानमीरितम् ॥

---

८७ नाटक के रचियता को चाहिए कि वह प्रख्यात कथा के आदि से अन्त तक उपादेय और हेय अंश का निश्चय करके उपादेय को कहे और हेय को छोड़ दे।

८८ कथा के शरीर को बीज, बिन्दु आदि (पंच अर्थप्रकृतियों) पाँच भागों में विभक्त कर देना चाहिए। फिर वह अंग सहित मुख आदि पंच सन्धियों के द्वारा उस-उस नाम से निश्चित किया जाता है। पताका नामक भेद में पाँचों सन्धियाँ हों यह आवश्यक नही। वह प्रधान वृत्त की अपेक्षा एक, दो, तीन या चार सन्धियों से न्यून हो सकता है। अतः सन्ध्यन्तर तथा अंगों सहित पंच सन्धियों का इतिवृत्त में प्रयोग होना चाहिए। पताका नामक इतिवृत्त को प्रधानवृत्त की अपेक्षा एक, दो, तीन या चार सन्ध्यंगो से न्यून ही समझना चाहिए। तदनन्तर पताका नामक इतिवृत्त में सन्ध्यन्तरों का यथायोग प्रयोग करना चाहिए। प्रासंगिक-कथा के प्रकरी नामक भेद में सन्धि का सन्निवेश नही होना चाहिए।

८९ इतिवृत्त का इस प्रकार विभाजन करके विद्वान नाटक के प्रारम्भ में यथावत् कार्य की युक्ति के अनुसार या तो विष्कम्भक की योजना करे या अंक की व्यवस्था करे।

९० प्रस्तावना का मध्य, जो नाटक का उपक्रम रूप है, वही यहाँ 'आदि' शब्द से अर्थात् नाटक के आरम्भ में विष्कम्भक का स्थान जाना जाता है। जहाँ पर नीरस वस्तु की सूचना हो वहाँ विष्कम्भक की योजना करनी चाहिए। जहाँ पर

नीरसं सूच्यते यत्र तत्र विष्कम्भकं न्यसेत् ।
यत्रादितो रसस्तत्र भवेदङ्कस्तु सामुखः ॥

९१ अपेक्षितं परित्यज्य नीरसं वस्तुविस्तरम् ।
यदा सन्दर्शयेच्छेषं कुर्याद्विष्कम्भकं तदा ॥
यदा तु सरसं वस्तु मूलादेव प्रवर्तते ।
आदावेव तदाऽङ्कः स्यादामुखाक्षेपसंश्रयः ॥
पूर्ववृत्ताश्रयमपि किञ्चिदुत्पाद्यवस्तु च ।
विधेयं नाटकमिति मातृगुप्तेन भाषितम् ॥

९२ प्रागेव सीताहरणाद्यद्विभीषणवर्णनम् ।
तद्वस्तूत्पाद्यमेतत्तु रामानन्दे प्रदृश्यते ॥

९३ प्रत्यक्षनेतृचरितो बिन्दुव्याप्तिपुरस्कृतः ।
अङ्को नानाप्रकारार्थसंविधानरसाश्रयः ॥

९४ निर्दिष्टनेतृचरितो नानारूपप्रयोजकः ।
अलङ्काररसाधारो यः सोऽङ्क इति कथ्यते ॥

९५ नायकदेवीपरिजनपुरोहितामात्यसार्थवाहानाम् ।
नैकरसान्तररसहितो ह्यङ्कः खलु वेदितव्यः सः ॥

---

सरस वस्तु आरम्भ से ही हो वहाँ पर आमुख सहित अक की रचना करनी चाहिए।

९१ वस्तु के उस विस्तृत भाग को, जो अपेक्षित भी हो और नीरस भी हो, छोड़कर अवशिष्ट अपेक्षित भाग से विष्कम्भक की रचना करनी चाहिए। और जहाँ पर सरस वस्तु आरम्भ से ही हो वहाँ पर आमुख में की गई सूचना का आश्रय लेकर अंक की रचना करनी चाहिए।[६८] पूर्ववृत्त का या किसी उत्पाद्य वस्तु का आश्रय लेकर नाटक की रचना करनी चाहिए—ऐसा मातृगुप्त कहते है।

९२ जैसाकि रामानन्द नाटक में देखा जाता है कि प्रारम्भ में ही सीताहरण से उत्पन्न जो विभीषण-वर्णन है, वह उत्पाद्य-वस्तु है।

९३ अंक में नाटकादि के नायक का चरित प्रत्यक्ष रूप से पाया जाता है। इसमें बिन्दु नामक अर्थ-प्रकृति व्याप्त पायी जाती है तथा यह नाना प्रकार के नाटकीय प्रयोजन के सम्पादन तथा रस दोनों का आश्रय होता है।[६९]

९४ जिसमें नाटकादि के नायक का चरित निर्दिष्ट होता है, जो नाना प्रकार के प्रयोजन का करने वाला होता है, तथा जो अलंकार और रस का आधार होता है, उसे 'अंक' कहते हैं।

९५ इसमें केवल मुख्य पात्रों का ही चरित निर्दिष्ट नहीं होता, बल्कि (इसमें) नायक, महादेवी तथा उनकी परिचारिकाओं, पुरोहित, अमात्य,, सार्थवाह (सेनापति) आदि पात्रों के विविध रसों से पूर्ण चरित भी निर्दिष्ट किये जाते हैं। इन सभी लक्षणों से युक्त भी 'अंक' का स्वरूप समझना चाहिए।[७०]

९६ अङ्क इति रूढिशब्दो भावैश्च रसैः प्ररोहयत्यर्थान् ।
नानाविधानयुक्तो यस्मात्तस्माद्भवेदङ्कः ।।
९७ अङ्कः प्रबन्धचिह्नत्वाद्रसस्याश्रयतोऽपि वा ।।
९८ यत्रार्थस्य समाप्तिर्यत्र च बीजस्य भवति संहारः ।
किञ्चिदवलग्नबिन्दुः सोऽङ्क इति सदाऽवगन्तव्यम् ।।
९९ अङ्काश्रयस्य कर्तव्यो रसस्य स्थायिनोऽङ्गिनः ।
पोषो विभावानुभावसात्त्विकव्यभिचारिभिः ।।
१०० अनुभावविभावाभ्यां स्थायिना व्यभिचारिभिः ।
गृहीतमुक्तैः कर्तव्यमङ्गिनः परिपोषणम् ।।
१०१ अत्र वस्तुरसादीनामेकस्याभिनिवेशिनः ।
इतरेणोपमर्दस्तु न कर्तव्यः कदाचन ।।
न चातिरसतो वस्तु दूरविच्छिन्नतां नयेत् ।
रसं वा न तिरोदध्याद्वस्त्वलङ्कारलक्षणैः ।।

---

९६ 'अंक'—यह रूढि शब्द है जो कि भाव और रसो से अर्थो को उत्पन्न करता है तथा जो अनेक प्रयोग तथा उद्देश्यो से युक्त होता है। इसीलिए इसे 'अंक' कहा जाता है।[७१]

९७ प्रबन्ध का चिह्न होने से या रस का आश्रय होने से भी 'अंक' कहलाता है।

९८ जहाँ किसी एक कार्य या उद्देश्य के पूर्ण हो जाने के कारण समाप्ति हो जाती हो, जहाँ बीज का अर्थात् प्रधान कार्य का अंशतः उपसंहार होता हो एवं जो बिन्दु से थोडा अपना सम्बन्ध रखता हो, उसे 'अक' कहते हैं।[७२]

९९ इस प्रकार अक-व्यवस्था के बाद विद्वान को चाहिए कि वह विभाव, अनुभाव, सात्त्विक-भाव तथा व्यभिचारी-भाव के द्वारा अंक के आश्रित अंगी-रस के स्थायी-भाव का परिपोषण करे।

१०० कवि को चाहिए कि वह नाटक के अगी-रस के स्थायी भाव की पुष्टि करे। यह पुष्टि वह अनुभाव, विभाव तथा व्यभिचारी-भाव एवं अंगी स्थायी-भाव से भिन्न स्थायी-भाव के द्वारा करे। इनमे से वह कुछ को ग्रहण कर सकता है, कुछ को त्याग सकता है, इस प्रकार उन विभिन्न अनुभावों, विभावों तथा तथा व्यभिचारी-भावों का मिश्रण व त्याग वह आवश्यकतानुसार कर सकता है।[७३]

१०१ यहाँ (नाटक में) वस्तु, रस आदि में से किसी एक का ही वस्तु-सम्बन्ध रहन। चाहिए, किसी अन्य से उसका मर्दन नहीं होना चाहिए। अतः रस का इतना अधिक परिपोषण भी नहीं किया जाय कि कथावस्तु ही विच्छिन्न हो जाय; और न वस्तु, अलंकार या नाटकीय लक्षणों से रस को ही तिरोहित कर दिया जाय।[७४]

१०२ नोपमादिरलङ्कारो न स्यादतिशयादिकः ॥
क्षमागुणवदाक्रन्दशोभोदाहरणादयः ।
अलङ्काराः स्युरङ्कस्य ते स्युर्नाटककाव्ययोः ॥
१०३ वीरशृङ्गारयोरेकः प्रधानोऽङ्गी च नाटके ।
अङ्गमन्येऽद्‌भुतरसः सन्धौ निर्वहणे भवेत् ॥
१०४ एवं नानाविधरसभावाधिकरणे कविः ।
अङ्के निषिद्धं विज्ञाय विधेयञ्च प्रयोजयेत् ॥
दूराध्वानं वधं युद्धं राज्यदेशादिविप्लवम् ।
संरोधं भोजनं स्नानं सुरतं चानुलेपनम् ॥
अम्बरग्रहणादीनि प्रत्यक्षाणि न निर्दिशेत् ।
नाधिकारिवधः क्वापि कर्तव्यः कविभिस्तथा ॥
आवश्यकं तु यत्कार्यं न त्याज्यं तत्कदाचन ।
१०५ अधिकारिवधस्यापि क्वचित्स्यात्कल्पनं मतम् ॥
अर्वाक्प्रहारात्स पुनः प्रत्युज्जीविष्यते यदि ।

---

(अंकालंकार)

१०२ अक के उपमा आदि अलंकार नही हैं, न अतिशयोक्ति आदि है बल्कि अक के क्षमा, गुणवान, आक्रन्द, शोभा तथा उदाहरण आदि अलंकार है, वे ही नाटक तथा काव्य के अलंकार हैं।

(अंक-रस)

१०३ नाटक में अंगी-रस एक ही चाहिए, वह चाहे शृगार हो या वीर। और अन्य रसों को अंगीरस के अंग-रूप में ही रखना चाहिए। निर्वहण-सन्धि में अद्‌भुत-रस की रचना होनी चाहिए।

१०४ इस प्रकार नाना प्रकार के रस तथा भावों के सम्बन्ध में कवि को अंक में निषिद्ध तथा विधेय को जानकर प्रयोग करना चाहिए। निपिद्ध क्या हैं; जैसे—दूर का रास्ता, वध, युद्ध, राज्य व देश की क्रान्ति, नगरी का घेरा डाल देना, भोजन, स्नान, सुरत, अनुलेपन और वस्त्रधारण करना इत्यादि वस्तुओं को प्रत्यक्ष रूप से मंच पर नहीं दिखाना चाहिए। तथा कवि को अधिकारी नायक के वध की सूचना कदापि अर्थात् प्रवेशकादि के द्वारा भी नहीं देनी चाहिए और आवश्यक जो देव-कार्य, पितृ-कार्य आदि हैं उनको कभी भी नहीं छोड़ना चाहिए। उनका दिखाना आवश्यक है।[७५]

१०५ यदि कहीं अधिकारी नायक के वध की सूचना दे दी जाती है तो पुनः वह नायक पूर्व-प्रहार से जीवित हो जायेगा।

१०६ नायकस्य यदेकाहचरितप्रतिपादकः ॥
एकप्रयोजनाश्लिष्टस्तत्रैवासन्ननायकः ।
विदूषकादिभिः पात्रैः प्रयोज्यश्च चतुस्त्रिभिः ॥
समस्तपात्रनिष्क्रामावसानोऽङ्कोऽभिधीयते ।
१०७ पताकास्थानकान्यत्र बिन्दुरन्ते च बीजवत् ॥
प्रयुज्यते यदि भवेत्तत्राङ्क इति कोहलः ।
१०८ एवमङ्काः प्रयोक्तव्याः प्रवेशादिपुरस्कृताः ॥
प्रधानभूतावङ्केऽस्मिन्विष्कम्भश्च प्रवेशकः ।
नायकैकाहचरितरूप आसन्ननायकः ॥
रसादिनिबिडो बीजबिन्दुव्याप्तिपुरस्कृतः ।
पात्रैश्च नायकासन्नैः प्रयोज्यश्च चतुस्त्रिभिः ॥
पताकास्थानकस्फीतो विष्कम्भादिपुरस्कृतः ।
समस्तपात्रनिष्क्रामावसानोऽङ्क इतीरितः ॥
१०९ पञ्चाङ्कमेतेदपरं दशाङ्कं नाटकं परम् ।

---

(अंक-कार्य-काल)

१०६ एक अंक में नायक के एक ही दिन की कथा होनी चाहिए । साथ ही वह कथा एक ही प्रयोजन से सम्बन्धित होनी चाहिए और उस अंक में नायक को भी अवश्य उपस्थित रखना चाहिए । विदूषक आदि केवल तीन या चार ही पात्रों को वहाँ रहना चाहिए । समस्त पात्रों के निकल जाने के समय तक अंक कहा जाता है अर्थात् अंक-समाप्ति पर सभी पात्र वहाँ से (रंग-मञ्च से) चले जाते हैं ।

१०७ इसी प्रकार यदि यथोचित स्थान पर पताकास्थानक तथा बीज के ही सदृश बिन्दु को रखा जाता है और बिन्दु की रचना अंकों के अन्त में होती है तो वहाँ अंक होता है—ऐसा कौहल का मत है ।[७६]

१०८ इसी प्रकार से प्रवेशक आदि के साथ अंकों की रचना करनी चाहिए । प्रधान-भूत इस अंक में विष्कम्भक और प्रवेशक की रचना करनी चाहिए । एक ही अंक में नायक के एक ही दिन की कथा होनी चाहिए । अंक में नायक को अवश्य उपस्थित रखना चाहिए । रसादि से युक्त, बीज तथा बिन्दु की व्याप्ति के साथ नायक के समीप केवल तीन या चार ही पात्रों को वहाँ रहना चाहिए । पताका-स्थानक से युक्त, विष्कम्भादि के साथ और समस्त पात्रों के चले जाने तक 'अंक' कहा जाता है ।

(अंक-संख्या)

१०९ नाटक कम से कम पाँच अंकों का तथा अधिक से अधिक दस अंक का होना चाहिए । इसमें पाँच अंकों का नाटक निम्न कोटि का होता है, दस अंकों का श्रेष्ठ ।

११० वीरशृङ्गारयोरन्यतराङ्गि रसनिर्भरम् ॥
शोभितं चाप्यलङ्कारैरुपमारूपकादिभिः ।
रामायणेतिहासादिसुप्रसिद्धाधिकारिकम् ॥
दिव्यमर्त्यादिविख्यातधीरोदात्तादिनायकम् ।
अर्थोपक्षेपकैर्युक्तं षट्त्रिंशद्भूषणोज्ज्वलम् ॥
अर्थप्रकृत्यवस्थातत्सन्धिसन्ध्यन्तरान्वितम् ।
पताकास्थानकयुतं साङ्गवृत्तिप्रवृत्तिमत् ॥
अन्यूनदशपञ्चाङ्कं नान्दीप्रस्तावनायुतम् ।
यद्रूपकविशेषः स्यात्तन्नाटकमिति स्मृतम् ॥

१११ एकाहचरितैकाङ्कः कार्यश्चैत्रावली यथा ।
अङ्कः स्याद्वासरार्धेन यथा गौरीगृहाभिधः ॥
यद्विक्रमोर्वशीयाख्यं तत्पञ्चाङ्कं प्रकल्पितम् ।
षडङ्कं दृश्यते लोके रामाभ्युदयनाटकम् ॥
शाकुन्तलादिसप्ताङ्कमष्टाङ्कं नलविक्रमम् ।
देवीपरिणयस्तत्र नवाङ्कं नाटकं स्मृतम् ॥
बालरामायणं नाम दशाङ्कं नाटकं स्मृतम् ।

---

**(नाटक-लक्षण)**

११० नाटक वीर या श्रृंगार रस में से किसी एक अंगी-रस के आश्रित होता है और यह उपमा, रूपक आदि अलंकारों से अलंकृत होता है। नाटक की कथा रामायण, इतिहास आदि में प्रसिद्ध होती है। इसके दिव्य, मर्त्य आदि विख्यात धीरोदात्त आदि नायक होते हैं। यह अर्थोपक्षेपकों (विष्कम्भकादि) से युक्त होता है, छत्तीस (३६) उज्ज्वल भूषणों से सुशोभित होता है। नाटक पंच अर्थ-प्रकृतियों, पंच अवस्थाओं, पंच सन्धियों तथा सन्ध्यन्तरों से युक्त होता है। इसमें पताकास्थानक होता है। इसमें अंग सहित समस्त वृत्तियाँ, प्रवृत्तियाँ पायी जाती हैं। इसमें अधिक से अधिक दस अंक तथा कम से कम पाँच अंक होते हैं। यह नान्दी, प्रस्तावना से युक्त होता है। जो रूपक-विशेष होता है, वही 'नाटक' कहलाता है।

१११ एक ही अंक में नायक के एक ही दिन की कथा-वर्णन का उदाहरण 'चैत्रावली' अंक है। केवल आधे दिन की कथा-वर्णन वाला अंक 'गौरी-गृह' प्राप्त होता है। 'विक्रमोर्वशीय' नाटक में पाँच अंक हैं। 'रामाभ्युदय' नाटक में ६ अंक हैं। शाकुन्तलादि में सात तथा 'नलविक्रमम्' में आठ अंक है। 'देवी-परिणय' नौ अंक वाला नाटक है। 'बालरामायण' दस अंक वाला नाटक है।

११२ अतो हि नाटकस्यास्य प्राथम्यं परिकल्पितम् ।।
नाट्यवेदं विधायादावृषीनाह पितामहः ।
धर्मादिसाधनं नाट्यं सर्वदुःखापनोदनम् ।।
आसेवध्वं तदृषयस्तस्योत्थानं तु नाटकम् ।
११३ दिव्यमानुषसंयोगो यत्राङ्कैरविदूषकैः ।।
तदेव तोटकं भेदो नाटकस्येति हर्षवाक् ।
तदव्यापकमित्यन्ये नाद्रियन्ते विपश्चितः ।।
११४ नवाष्टसप्तपञ्चाङ्कं दिव्यमानुषसङ्गमम् ।
तोटकं नाम तत्प्राहुर्भेदं नाटकसम्भवम् ।।
इत्येक आहुराचार्या अन्ये त्वेवं प्रचक्षते ।
दिव्यमानुषसंयोगस्तोटकं नाटकानुगम् ।।
११५ नवाङ्कं तोटकं दृष्टं मेनकानहुषाह्वयम् ।
तोटकं मदलेखाऽऽख्यं यत्तत्स्तम्भितरम्भकम् ।।
क्रमादष्टाङ्कसप्ताङ्कौ दृश्येते ह्यविदूषकौ ।
यद्विक्रमोर्वशीयाख्यं पञ्चाङ्कं तोटकं स्मृतम् ।।

---

११२ अत. इस नाटक की प्राथमिकता कही जाती है। सर्वप्रथम इस नाट्य-वेद को कहकर भगवान पितामह (ब्रह्मा) ने ऋषियों से कहा—
हे ऋषिगण ! धर्मादि पुरुषार्थ (चतुष्टय) के साधनभूत और सभी लौकिक दुखों के अपहर्ता नाट्य का आप सेवन कीजिये। इस नाट्य का मुख्य या उत्कृष्ट रूप 'नाटक' माना गया है।[७७]

(तोटक)

११३ जहाँ देवता और मनुष्यों का संयोग रहता है तथा जिससे प्रत्येक अक मे विदूषक नही रहता है, वही नाटक का 'तोटक'—भेद कहलाता है—ऐसा हर्ष का मत है।

लेकिन अन्य विद्वान उक्त-तोटक के अव्यापक लक्षण से सहमत नहीं है।

११४ नौ, आठ, सात या पाँच अकों से युक्त, देवता और मनुष्यों के संयोग वाला नाटक से उत्पन्न "तोटक" नामक भेद कहा जाता है—ऐसा किसी एक आचार्य का मत है।

अन्य (कोई) आचार्य ऐसा कहते हैं कि—दिव्य (देवता) और मनुष्यों के संयोग वाला, नाटकानुगामी "तोटक" कहा जाता है।[७८]

११५ 'मेनकानहुष' नौ अक वाला तोटक है। 'मदलेखा' आठ अंक वाला तथा 'स्तम्भितरम्भकम्' सात अंक वाला तोटक है। इन दोनों के प्रत्येक अंक में विदूषक की प्राप्ति नही होती। 'विक्रमोर्वशीय' पाँच अंक वाला तोटक है।

११६ सुबन्धुर्नाटकस्यापि लक्षणं प्राह पञ्चधा ।
पूर्णं चैव प्रशान्तं च भास्वरं ललितं तथा ।।
समग्रमिति विज्ञेया नाटके पञ्च जातयः ।
११७ पूर्णस्य नाटकस्यास्य मुखाद्याः पञ्च सन्धयः ।।
उदाहरणमेतस्य कृत्यारावणमुच्यते ।
११८ प्रशान्तरसभूयिष्ठं प्रशान्तं नाम नाटकम् ।।
न्यासो न्याससमुद्भेदो बीजोक्तिर्बीजदर्शनम् ।
ततोऽनुद्दिष्टसंहारः प्रशान्ते पञ्च सन्धयः ।।
सात्वतीवृत्तिरत्र स्यादिति द्रौहिणिरब्रवीत् ।
११९ स्वप्नवासवदत्ताख्यमुदाहरणमत्र तु ।।
आच्छिद्य भूपात्सव्यसना देवी मागधिकाकरे ।
न्यस्ता यतस्ततो न्यासो मुखसन्धिरयं भवेत् ।।
न्यासस्य च प्रतिमुखं समुद्भेद उदाहृतः ।
पद्मावत्या मुखं वीक्ष्य विशेषकविभूषितम् ।।
जीवत्यंवन्तिकेत्येतज्ज्ञातं भूमिभुजा यथा ।

---

११६ सुबन्धु नाटक के पाँच प्रकार के लक्षण कहते है—नाटक मे पूर्ण, प्रशान्त, भास्वर, ललित तथा समग्र—ये पाँच जातियाँ समझनी चाहिए ।

(पूर्ण-नाटक)

११७ इस 'पूर्ण-नाटक' की मुख आदि पाँच सन्धियाँ होती हैं—इसका उदाहरण 'कृत्या-रावण' कहा जाता है।

(प्रशान्त-नाटक)

११८ 'प्रशान्त'—नाटक वह कहलाता है जिसमें शान्त-रस की अधिकता होती है। तदनन्तर प्रशान्त नाटक में न्यास, न्याम-समुद्भेद, बीजोक्ति, बीजदर्शन, अनुद्दिष्ट-संहार—ये पाँच सन्धियाँ होती हैं और इसमें सात्वती-वृत्ति का प्रयोग होता है—ऐसा द्रौहिणि कहते है ।

११९ प्रशान्त-नाटक का उदाहरण 'स्वप्नवासवदत्तम्' है। जब राजा उदयन के विपत्ति ग्रस्त होने से देवी वासवदत्ता को मागधिका (पद्मावती) के हाथों में सौपा जाता है, वह न्यास है, यही मुख-सन्धि है। विशेष तिलक से भूषित पद्मावती के मुख को देखकर राजा उदयन यह जान जाता है कि अवन्तिका (वासवदत्ता) जीवित है—यह प्रतिमुख-सन्धि है और न्यास-समुद्भेद है। पुनः उदयन उत्कण्ठावश उद्वेग के साथ कहता है कि "वासवदत्ते ! इधर आओ, तुम कहाँ जा रही हो"—इत्यादि बीजोक्ति है। दर्शन, स्पर्श तथा

उत्कण्ठितेन सोद्वेगं बीजोक्तिर्नामकीर्तनम् ॥
एहि वासवदत्ते क्व क्व यासीत्यादि दृश्यते ।
सहावस्थितयोरेकप्राप्त्याऽन्यस्य गवेषणम् ॥
दर्शनस्पर्शनालापैरेतत्स्याद्बीजदर्शनम् ॥
"चिरप्रसुप्तः कामो वे वीणया प्रतिबोधितः ।
तान्तु देवीं न पश्यामि यस्या घोषवती प्रिया ॥"
किन्ते भूयः प्रियं कुर्यामितिवाग्यत्र नोच्यते ।
तमनुद्दिष्टसंहारमित्याहुर्भरतादयः ॥

१२० माला नायकसिद्धचङ्गग्लानिस्तस्याः परिक्षयः ।
मात्रावशिष्टसंहारे भास्वरे पञ्च सन्धयः ॥

१२१ एकस्मिन्नायके ख्याते तत्सामान्यप्रतापवान् ।
यदि स्यात्प्रतिपक्षश्च सा मालेति प्रकीर्तिता ॥
यथा हि चन्द्रगुप्तस्य न(च)न्दनः प्रतिपूरुषः ॥

१२२ नायकं छलयित्वेष्टसिद्धिर्या परिपन्थिनः ।
एषा नायकसिद्धिः स्यान्मारीचेनेव रावणः ॥

---

आलाप से साथ-साथ रहने वाली दो वस्तुओं में से एक की प्राप्ति होना और दूसरे की खोज करना 'बीज-दर्शन' कहलाता है । जैसे—'स्वप्नवासवदत्तम्' में राजा उदयन कहता है कि—

"वीणा ने चिरप्रसुप्त मेरी कामना को जगा दिया है, परन्तु वह देवी (वासवदत्ता) मुझे दिखायी नही देती, जिसको यह घोषवती प्रिय थी।" (स्वप्न-वासवदत्तम्, ६·३) ।

यहाँ साथ साथ रहने वाली घोषवती (वीणा) और देवी (वासवदत्ता) में से उदयन को वीणा की प्राप्ति हुई है तत्पश्चात् वासवदत्ता के लिए वह चिन्तित है अतः बीज-दर्शन है ।

जहाँ यह नहीं कहा जाता कि 'मैं तुम्हारा क्या प्रिय करूँ'—वह भरत आदि के मत मे 'अनुद्दिष्ट-संहार' कहलाता है ।

**(भास्वर-नाटक)**

१२० 'भास्वर'-नाटक में पाँच सन्धियाँ होती हैं—माला, नायक-सिद्धि, अंग-ग्लानि, अंग-ग्लानि-परिक्षय तथा मात्रावशिष्ट-संहार ।

१२१ यदि एक प्रसिद्ध नायक के रहने पर उसके समान प्रतापशाली दूसरा अर्थात् शत्रु होता है उसे 'माला' कहते है । जैसे—मुद्राराक्षस नाटक में प्रधान नायक चन्द्रगुप्त का प्रतिद्वन्द्वी चन्दनदास (नन्दन) है ।

१२२ नायक को छलकर शत्रु की जो इष्टसिद्धि होती है यह 'नायक-सिद्धि' कहलाती है । जैसे—रावण ने मारीच की सहायता से राम को छल लिया था ।

१२३ गर्भस्याङ्गैर्विमर्दादिदर्शनं ग्लानिरिष्यते ।
कपिभिर्वार्धिमुत्तीर्य लङ्कावेष्टनमेव तत् ॥

१२४ परिक्षयोऽत्र मोहादिर्नायकस्य रिपोर्बलात् ।
स नागपाशबन्धादौ रामलक्ष्मणयोरिव ॥

१२५ मात्रावशिष्टसंहारसन्धिरेकं तु नाटके ।
शत्रुबन्दीकृतस्त्रीणां तस्य शत्रोर्वधादथ ॥
तत्परीक्षास्थितिर्मात्रावशिष्टमिति कथ्यते ।
यथा सीतापरीक्षैव रावणान्तरे कृता ॥

१२६ भारतीवृत्तिभूयिष्ठं वीराद्भुतरसाश्रयम् ।
भास्वरं नाटकं बालरामायणमिदं यथा ।

१२७ ललितं कैशिकीवृत्तिशृङ्गारैकरसाश्रयम् ।
ऊर्वशीविप्रलम्भोऽत्र तदुदाहरणं यथा ॥

१२८ विलासो विप्रलम्भश्च विप्रयोगो विशोधनम् ।
उद्दिष्टार्थोपसंहारो ललिते पञ्च सन्धयः ॥

१२९ विलासो नायकादीनां यथर्तु रतिसेवनम् ।
यथा श्रीवत्सराजस्य वसन्तोत्सववर्णनम् ॥

---

१२३ गर्भ के अंगों से विमर्दन आदि का दर्शन 'ग्लानि' कही जाती है। जैसे बन्दरों का समुद्र पार करके लका में प्रवेश।

१२४ शत्रु के बल से नायक को मूर्च्छा आदि हो जाना 'परिक्षय' कहलाता है। जैसे—राम और लक्ष्मण का नागपाश-बन्धन आदि।

१२५ नाटक में 'मात्रावशिष्टसंहार' सन्धि एक होती है। शत्रु का वध कर देने के पश्चात् शत्रु के द्वारा बन्दी की हुई स्त्री की परीक्षा लेना 'मात्रावशिष्ट' कहलाता है। जैसे—रावण का वध करने के पश्चात् सीता की परीक्षा।

१२६ भास्वर-नाटक में भारतीवृत्ति की अधिकता होती है तथा यह वीर या अद्भुत रस के आश्रित होता है। जैसे—'बालरामायणम्'।

**(ललित-नाटक)**

१२७ ललित-नाटक में कैशिकी-वृत्ति पायी जाती है तथा यह केवल शृंगार-रस के ही आश्रित होता है। जैसे—उदाहरण के लिए 'उर्वशी का विप्रलम्भ'।

१२८ ललित-नाटक में विलास, विप्रलम्भ, विप्रयोग, विशोधन तथा उद्दिष्टार्थोप-संहार—ये पाँच सन्धियाँ होती हैं।

१२९ नायक आदि का ऋतु के अनुसार रति-सेवन 'विलास' कहलाता है। जैसे—श्री वत्सराज (उदयन) का वसन्तोत्सववर्णन।

१३० ईर्ष्यया छन्दतो यूनोः विप्रलम्भः पृथक्स्थितिः ।
यथाहि वत्सराजस्य देव्या वासवदत्तया ।।
१३१ विप्रलम्भस्तु यासा(शापा)दिवत्सरान्तमसङ्गतिः ।
यथा शर्मिष्ठया देव्या ययातेर्वार्षपर्वणः (?) ।।
१३२ परिवादभयाद्दोषशोधनं स्याद्विशोधनम् ।
यथा रामेण वैदेह्या लङ्कावासविशोधनम् ।।
१३३ यथा हि विक्रमोर्वश्यामुद्दिष्टार्थोपसंहृतिः ।।
ऊर्वशीयं चिरं गेहे सहधर्मचरी तव ।
भवत्वितोन्द्रसन्देशः तं पूरूरवसं प्रति ।।
१३४ सर्ववृत्तिविनिष्पन्नं सर्वलक्षणसंयुतम् ।
समग्रं तत्प्रतिनिधिः महानाटकमुच्यते ।।
१३५ उपक्षेपः परिकरः परिन्यासो विलोभनम् ।
एतान्यङ्गानि कार्याणि सर्वनाटकजातिषु ।।
१३६ युक्तिः प्राप्तिः समाधानं विधानं परिभावनम् ।
एतान्यवश्यकार्याणि प्रशान्ते नाटके बुधैः ।।

---

१३० युवक-युवती के बीच ईर्ष्या से या स्वच्छन्दता से होने वाली पृथक्-स्थिति 'विप्रलम्भ' कहलाती है। जैसे—वत्सराज का देवी वासवदत्ता से अलग होना।

१३१ युवक-युवती के बीच शापादि के कारण वर्षों तक होने वाली भेंट 'विप्रलम्भ' कहलाती है। जैसे—ययाति का शर्मिष्ठा से वर्ष भर न मिलना (?)।

१३२ निन्दा या भय से होने वाली दोष-शुद्धि 'विशोधन' कहलाती है। जैसे—राम ने लंका-वास के कारण होने वाली जननिन्दा से वैदेही (सीता) का शोधन किया था।

१३३ 'उद्दिष्टार्थोपसंहार' का उदाहरण 'विक्रमोर्वशीय' में प्राप्त होता है। जैसे—इन्द्र ने पुरुरवा को सन्देश भेजा था कि यह उर्वशी तेरे घर में बहुत समय तक तुम्हारी सहधर्मचारिणी हो।

**(समग्र-नाटक)**

१३४ जिसमें सभी वृत्तियाँ पायी जाती हैं तथा जो सभी लक्षणों से युक्त होता है, उसे 'समग्र-नाटक' कहते हैं और इस नाटक के प्रतिनिधि को 'महानाटक' कहा जाता है।

१३५ उपक्षेप, परिकर, परिन्यास तथा विलोभन—ये अंग सभी नाटकों की जातियों में प्रयुक्त करने चाहिए।

१३६ युक्ति, प्राप्ति, समाधान, विधान तथा परिभावना—ये अंग विद्वानों को प्रशान्त नाटक में अवश्य प्रयुक्त करने चाहिए।

१३७ आज्ञापवादः सम्फेटः प्रसङ्गो विद्रवस्तथा ।
सङ्ग्रहश्चेति साङ्गानि सम्यग्योज्यानि भास्वरे ।।

१३८ विरोधं प्रणयञ्चैव पर्युपासनमेव च ।
पुष्पं वज्रञ्च बध्नीयादवश्यं ललिते सुधीः ।।

१३९ सर्वेषां यत्र रूपाणि दृश्यन्ते विविधानि च ।
नाटकं नृत्तचाराख्यं तत्समग्रमितीरितम् ।।

अथ प्रकरणलक्षणम् ।।

१४० इतिवृत्तमथोत्पाद्यमत्र प्रकरणे मतम् ।
वणिक्सचिवविप्राणामेकः स्यात्तत्र नायकः ।।
धीरशान्तश्च सापायो धर्मकामार्थतत्परः ।
शेषं नाटकवत्सन्धिप्रवेशकरसादिकम् ।।
माधवो धीरशान्तश्च द्विजातिः कामतत्परः ।
अपायोऽघोरघण्टादिव्यापारोऽत्र विभाव्यते ।।

१४१ नायिका द्विविधा नेतुः कुलस्त्री गणिका तथा ।
क्वचिदेकैव कुलजा वेश्या क्वापि द्वयं क्वचित् ।।

---

१३७ आज्ञापवाद, सम्फेट, प्रसंग, विद्रव तथा संग्रह—ये अग भास्वर-नाटक में भलीभाँति प्रयुक्त होने चाहिए ।

१३८ विरोध, प्रणय, पर्युपासन, पुष्प तथा वज्र—इन अगों को विद्वान ललित-नाटक में अवश्य बाँधे ।

१३९ जहाँ सभी (नाटकों) के विविध-रूप देखे जाते है और जिसको नृत्तचार-नाटक कहते हैं, वह 'समग्र' कहा जाता है ।

**(प्रकरण-लक्षण)**

१४० प्रकरण में इतिवृत्त उत्पाद्य (कल्पित) होता है । इसका नायक वैश्य, मन्त्री, ब्राह्मण, इनमें से एक होता है । एक नायक धीर-प्रशान्त कोटि का होता है तथा विघ्नों से युक्त होता है । यह नायक धर्म, अर्थ तथा काम (त्रिवर्ग) में तत्पर होता है । इसमें शेष बातें जैसे सन्धि, प्रवेशक तथा रसादि को नाटक के समान ही रखा जाता है ।[७९] जैसे—
'मालती-माधव' में माधव धीर-प्रशान्त कोटि का नायक है, ब्राह्मण है तथा काम में तत्पर है । और यहाँ अघोरघण्ट कापालिक के फन्दे में फँसना आदि घटनाएँ विघ्न जानी जाती है ।

१४१ प्रकरण में नायक की नायिका दो प्रकार की होती है या तो वह कुलीन स्त्री होती है या गणिका होती है। किसी प्रकरण में केवल कुल-स्त्री, किसी में केवल वेश्या और किसी में दोनों (कुल स्त्री व गणिका) ही नायक की नायिका

कुलजाऽऽभ्यन्तरा वेश्या बाह्या नातिक्रमोऽनयोः ।
आभिः प्रकरणं त्रेधा द्वाभ्यां सङ्कीर्णमुच्यते ।।
सङ्कीर्णं तत्प्रकरणं यत्स्याद्धूर्तसमाकुलम् ।
वेश्याकुलस्त्रियोर्योगो न स्यात्प्रकरणे स्वतः ।।

१४२ शिल्पादिव्यपदेशेन भवेद्वेश्यासमागमः ।
भाषेत प्राकृतं वेश्या संस्कृतं कुलनायिका ।।

१४३ यत्तु कविरात्मबुद्ध्या वस्तु शरीरञ्च नायकञ्चैव ।
स्वयमुत्पाद्य विरचयेत्तज्ज्ञेयं प्रकरणं नाम ।।

१४४ दासविटश्रेष्ठियुतं वेशस्त्र्युपचारकारणोपेतम् ।
मन्दकुलस्त्रीचरितं काव्यं कार्यं प्रकरणे तु ।।

१४५ मध्यमपुरुषैर्नित्यं योज्यो विष्कम्भकोऽत्र तत्त्वज्ञैः ।
संस्कृतवचनानुगतः सङ्क्षेपार्थः प्रवेशकवत् ।।
इति प्रकरणे शुद्धविष्कम्भो भोजर्निमतः ।।

---

होती है। कुल स्त्री आभ्यन्तरा नायिका होती है, वेश्या बाहरी नायिका। इस प्रकार प्रकरण की नायिका या तो कुल स्त्री या गणिका या दोनों होंगी, इनका व्यतिक्रम नही किया जा सकता। इस प्रकरण के तीन भेद हुए—प्रथम, जिसमें कुल स्त्री नायिका होती है—यह शुद्ध भेद हुआ। द्वितीय, जिसमें गणिका नायिका हो वह विकृत तथा तृतीय—जिसमें दोनों (कुलस्त्री व गणिका) नायिका हों उसे संकीर्ण कहते है।[८०] संकीर्ण प्रकरण वह होता है जिसमें धूर्त-विट शकारादि का समावेश होता है। इसीलिए इस प्रकरण में कुलस्त्री और गणिका का योग होता है, यह योग स्वतः नहीं होता।

१४२ शिल्पादि कार्य के बहाने से वेश्या का समागम होता है। यह वेश्या प्राकृत-भाषा का प्रयोग करती है। कुल-स्त्री संस्कृत बोलती है।

१४३ जहाँ कवि अपनी बुद्धि से नायक और उसके शरीर (कार्य) को स्वयं उत्पन्न (तैयार) करके एक कथावस्तु की रचना करता है, वह प्रकरण जाना जाता है।[८१]

१४४ यह प्रकरण दास, विट तथा सेठों (धनपतियों) से युक्त होता है और वेश्याओं के उपचार के कारणों से युक्त होता है। साथ ही इसमें अच्छे कुल की स्त्रियों के बुरे चरित सम्बन्धी काव्य का समावेश भी होना चाहिए।[८२]

१४५ प्रकरण में तत्त्वज्ञों को हमेशा मध्यश्रेणी के पात्रों द्वारा प्रयुक्त विष्कम्भक का प्रयोग करना चाहिए। प्रवेशक की तरह यह (विष्कम्भक) संक्षेप में कथांशों की सूचना देता है, इसकी भाषा सदा संस्कृत होती है। इस प्रकार भोज का मत है कि प्रकरण में शुद्ध विष्कम्भक का ही प्रयोग होना चाहिए।[८३]

१४६ नोदात्तनृपोपेतं न दिव्यचिरतं न राजसम्भोगः ।
बाह्यजनसम्प्रयुक्तं विज्ञेयं प्रकरणं नाम ॥

१४७ शकारः कुट्टिनी चेटी धर्मशास्त्रबहिष्कृताः ।
विटचेटादयो बाह्या नित्यं प्रकरणे मताः ॥

१४८ वेशोपचारकुशलो मधुरो दक्षिणः कविः ।
ऊहापोहक्षमो वाग्मी चतुरस्त्रो विटो मतः ॥

१४९ उज्ज्वलवेषाभरणः कुप्यत्यनिमित्ततः प्रसीदति च ।
प्राकृतभाषाचारो भवति शकारो बहुगुणाढ्यः ॥

१५० आगमलिङ्गविहीनं देशकुलन्यायलोकविपरीतम् ।
व्यर्थैकार्थमपार्थं भवति हि वचनं शकारस्य ॥

१५१ मध्यमपुरुषैर्योज्यः शुद्धो विष्कम्भकस्तु तत्त्वज्ञैः ।
संस्कृतवचनानुगतः प्रयोजनार्थः प्रवेशकस्तद्वत् ॥

१५२ उत्पाद्यमितिवृत्तं तु धीरः शान्तश्च नायकः ।
अपायबहुलक्लेशधर्मकामार्थतत्परः ॥

---

१४६ प्रकरण न किसी उदात्त राजा से युक्त होता है, न किसी दिव्य चरित से और न इसमें कोई राज-संभोग होते है, वल्कि यह प्रकरण बाह्यजन से सम्बन्धित होता है।[८४]

१४७ प्रकरण में बाह्य-जन—शकार, कुट्टिनी, चेटी, धर्मशास्त्र द्वारा बहिष्कृत जन, विट तथा चेट आदि पात्र कहे जाते हैं।

१४८ वेश्याओं की सेवा करने में कुशल, मधुरभाषी, चतुर, कवि, वाद-विवाद (ऊहापोह) करने में समर्थ, बातचीत करने में चतुर तथा चारों ओर मे समादृत पुरुष 'विट' कहलाता है।

१४९ उज्ज्वल वेश-भूषा तथा आभूषण धारण करने वाला, अकारण क्रोध करने वाला तथा प्रसन्न होने वाला, प्राकृत भाषा बोलने वाला तथा वहुगुणवान 'शकार' कहलाता है।

१५० शकार के वचन वेद-पुराण से असम्मत, देश, कुल, न्याय तथा लोक के विपरीत और व्यर्थ के प्रयोजन के लिए या प्रयोजन-रहित होते है।

१५१ तत्त्वज्ञों को प्रकरण में हमेशा मध्यम श्रेणी के पात्रों द्वारा प्रयुक्त शुद्ध-विष्कम्भक का प्रयोग करना चाहिए। प्रवेशक की तरह यह (विष्कम्भक) प्रयोजन-सिद्धि के लिए कथांशों की सूचना देता है, इसकी भाषा सदा संस्कृत होती है।

१५२ प्रकरण में इतिवृत्त कल्पित होता है। इसका नायक धीर और शान्त कोटि का होता है तथा बहुत क्लेश तथा विघ्नों से युक्त होता है। यह नायक धर्म, अर्थ तथा काम (त्रिवर्ग) में तत्पर होता है। अनेक विकल्पों से युक्त होता है।

समुच्चयविकल्पाभ्यां प्राप्तवेशकुलाङ्गनम् ।
शकारविटचेटादितत्तत्पात्रसमाकुलम् ।।
राजसम्भोगसङ्कीर्णं विष्कम्भादिविनाकृतम् ।
अन्यूनाधिकपञ्चाङ्कत्वादिलक्षणसंयुतम् ।।
ईदृशं रूपकं यत्तु तद्वै प्रकरणं भवेत् ।
१५३ पद्मावतीपरिणयो विप्रस्य चरितं भवेत् ।।
तथैव मृच्छकटिका वणिजां चरितं भवेत् ।
कुलस्त्रीनायिकं तत्तु मालतीमाधवाभिधम् ।।
यथा तरङ्गदत्ताख्यं गणिकानायिकं कृतम् ।
तथैव मृच्छकटिका विहितोभयनायिका ।।

अथ नाटिकालक्षणम् ।।

१५४ नाटकस्य प्रकरणस्योभयोः संकरात्मिका ।
लक्ष्यते नाटिकाऽप्यत्र सङ्कीर्णान्यनिवृत्तये ।।
१५५ प्रख्यातो धीरललितः शृङ्गारोऽङ्गी सलक्षणः ।
नायको धीरललितो वृत्तमुत्पाद्यमेव च ।।
शृङ्गारोऽङ्गी रसोऽङ्गानि वीररौद्रादयो मताः ।
वृत्तिश्च कैशिकी स्वाङ्गैर्नर्मस्पुञ्जादिभिर्युता ।।

---

इसमें नायक की नायिका दो प्रकार की होती है—या तो वह कुलीन स्त्री होती है या गणिका होती है। इसमें शकार, विट, चेट आदि पात्रों का समावेश होता है। प्रकरण राज-सम्भोग से मिश्रित होता है, विष्कम्भक आदि से रहित होता है, अधिक से अधिक पाँच अंक आदि लक्षणों से युक्त होता है। इस प्रकार जैसा रूपक होता है वैसा ही प्रकरण होता है।

१५३ उदाहरण के लिए—'पद्मावती-परिणय' में ब्राह्मण का चरित है। 'मृच्छकटिका' में वैश्य का चरित है। 'मालतीमाधव' की नायिका कुल-स्त्री है। 'तरंग-दत्ता' की नायिका गणिका है। 'मृच्छकटिका' में नायिका दोनों प्रकार की है—कुल-स्त्री और गणिका।

**(नाटिका-लक्षण)**

१५४ नाटक और प्रकरण—दोनों की सकर-रूप नाटिका होती है। दूसरे उपरूपक का निराकरण करने के लिए यहीं पर संकीर्ण 'नाटिका' का लक्षण कर देते है।

१५५ इसका नायक प्रख्यात तथा धीरललित होता है। इसका अंगीरस श्रृंगार होता है।[८५] नाटिका का नायक धीरललित होता है और इसका इतिवृत्त कवि-कल्पित होता है। इसका अंगी-रस श्रृंगार होता है तथा वीर, रौद्र आदि अंग-रस होते हैं। इसमें कैशिकी वृत्ति पायी जाती है, जो अपने अंग नर्म-स्पुंज आदि से युक्त होती है।

१५६ देव्या प्रधानया नेतुस्तत्सदृश्या च मुग्धया ।
सङ्करोऽत्रानुरागोऽपि नवावस्थो भवेत्तयोः ॥
देवीभयेन साशङ्को नेता मुग्धासमागमे ।
१५७ चत्वारः सन्धयो लोपोऽवमर्शस्य भविष्यति ॥
न विटः पीठमर्दश्च सहायौ भवतः क्वचित् ।
नेतुः स्यान्नर्मसचिवो विरूपस्तु विदूषकः ॥
कैश्चिन्नाटकधर्मैस्तदविरोधिभिराश्रितम् ।
स्त्रीप्रायपात्रं देशर्तुवर्णनाकल्पशोभितम् ॥
रूपकं चतुरङ्कं यन्नाटिकेत्यभिधीयते ।
अत्रोत्पाद्येतिवृत्तत्वाच्छृङ्गारादिरसत्वतः ॥
प्रख्यातनृपनेतृत्वात्षट्त्रिंशद्भूषणत्वतः ।
तुल्यत्वं नाटकेनापि तथा प्रकरणेन च ॥
नाटिकायाः स्मृतं तत्र विशेषोऽयमुदाहृतः ।
तदुदाहरणं रत्नावली च प्रियदर्शिका ॥
१५८ सैव प्रवेशकेनापि विष्कम्भेन विनाकृता ।

---

१५६ प्रधान-रूप से नायक की नायिका देवी (महारानी) होती है, इसी की भाँति नृपवंशजा दूसरी नायिका भी होती है, किन्तु वह मुग्धा होती है। दोनों के प्रति नायक का मिश्रित प्रेम रहता है, प्रारम्भ में यह प्रेम नवीन होता है, धीरे-धीरे वह परिपक्व होता जाता है। लेकिन मुग्धा के समागम के विषय में नायक सदा महारानी के भय से शंकित रहता है— (फलतः उसकी अनुराग-चेष्टा छिप-छिप कर चला करती है)।

१५७ इसमें चार सन्धियाँ होती हैं—मुख, प्रतिमुख, गर्भ तथा उपसंहृति। अवमर्श-सन्धि का इसमें लोप होगा। इसमें विट और पीठमर्द सहायक नहीं होते हैं। इसमें नायक का नर्म-सचिव विरूप या विदूषक होता है। यह नाटिका किसी नाटक-धर्म के और उसके अविरोधी धर्म के आश्रित होती है। इसमें प्रायः स्त्री पात्रों की प्रधानता रहती है। यह देश, ऋतु-वर्णन आदि से सुशोभित होती है। चार अंक का जो रूपक होता है वह 'नाटिका' कहलाता है। इसमें इतिवृत्त उत्पाद्य (कल्पित) होने से, श्रृंगार आदि रस होने से, प्रख्यात वंशोत्पन्न नृप-नायक होने से तथा ३६ भूषण होने से—यह नाटिका नाटक तथा प्रकरण के तुल्य कही जाती है। इसके विशेष उदाहरण—'रत्नावली' और 'प्रियदर्शिका' हैं।

१५८ यही नाटिका सट्टक नाम से भी जानी जाती है, जहाँ प्रवेशक तथा विष्कम्भक

अङ्कस्थानीयविन्यस्तचतुर्यवनिकान्तरा ।
प्रकृष्टप्राकृतमयी सट्टकं नामतो भवेत् ।।

अथ भाणलक्षणम् ।।

१५९ भाणस्तु धूर्तचरितं स्वानुभूतं परेण वा ।
यत्रोपवर्णयेदेको निपुणः पण्डितो विटः ।।
सम्बोधनोक्तिप्रत्युक्ती कुर्यादाकाशभाषितैः ।
सूचयेद्वीरशृङ्गारौ शौर्यसौभाग्यसंस्तवैः ।।
भूयसा भारतीवृत्तिरेकाङ्कं वस्तु कल्पितम् ।
मुखनिर्वहणे साङ्गे लास्याङ्गानि दशापि च ।।
कोहलादिभिराचार्यैरुक्तं भाणस्य लक्षणम् ।
१६० लास्याङ्गदशकोपेतं सम्यगुत्पाद्यवस्तु च ।।
भारतीवृत्तिभूयिष्ठं शृङ्गारैकरसाश्रयम् ।
परस्वात्मानुभूतार्थधूर्तचारित्रवर्णनम् ।।
तत्तद्विटोक्तिप्रत्युक्तिविहिताकाशभाषितम् ।
मुखनिर्वहणप्रायसन्धियुग्रूपकं च यत् ।।
एकाङ्कश्च भवेद्भाण इति विद्वद्भिरुच्यते ।

---

का प्रयोग नही होता है, अंक के स्थान पर चार यवनिका का विधान किया जाता है तथा केवल प्राकृत-भाषा का ही प्रयोग होता है।

**(भाण-लक्षण)**

१५९ 'भाण' वह रूपक है जहाँ कोई चतुर तथा बुद्धिमान विट अपने द्वारा अनुभूत अथवा किसी दूसरे के द्वारा अनुभूत धूर्त-चरित का वर्णन करे। यहाँ पर सम्बोधन, उक्ति व प्रत्युक्ति का सन्निवेश आकाश-भाषित से किया जाता है तथा भाण के द्वारा सौभाग्य तथा शौर्य का वर्णन कर श्रृंगार तथा वीर-रस की सूचना दी जाती है। इसमें भारतीवृत्ति की प्रधानता पायी जाती है तथा एक ही अंक की योजना की जाती है। इसकी कथावस्तु कवि-कल्पित होती है। इसमें मुख तथा निर्वहण सन्धि अपने अंगों के साथ रहती हैं तथा इसमें दस लास्यांगों का सन्निवेश भी होता है।[८६] इस प्रकार कोहल आदि आचार्यो ने भाण का लक्षण कहा है।

१६० जहाँ दस लास्यांगों का सन्निवेश होता है, जिसकी कथावस्तु कविकल्पित होती है, जिसमें भारतीवृत्ति की प्रधानता पायी जाती है। जो श्रृंगार-रस के आश्रित होता है। जिसमें अपने द्वारा अनुभूत अथवा किसी दूसरे के द्वारा अनुभूत धूर्त-चरित्र का वर्णन किया जाता है। जहाँ पर तद्-तद् विट की उक्ति-प्रत्युक्ति का सन्निवेश आकाश-भाषित से किया जाता है। और जो मुख तथा निर्वहण-सन्धि से युक्त रूपक होता है, उस एक अंक वाले रूपक को विद्वान 'भाण' कहते हैं।

१६१ भाणस्य लक्षणं चेदृग्भोजेनापि प्रकाशितम् ॥
१६२ गेयपदं स्थितपाठ्यमासीनं पुष्पगण्डिका ।
प्रच्छेदकं त्रिमूढञ्च सैन्धवाख्यं द्विमूढकम् ॥
उत्तमोत्तकं भाव्यमुक्तप्रत्युक्तमेव च ।
लास्यं दशविधं ह्येतदङ्गनिर्देशकल्पनम् ॥
१६३ वीणादिवाद्ययोगेन सहितं यत्र भाव्यते ।
ललितं नायिकागीतं तद्गेयपदमुच्यते ॥
१६४ चञ्चत्पुटादिना वाक्याभिनयो नायिकाकृतः ।
भूमिचारिप्रचारेण स्थितपाठ्यं तदुच्यते ॥
१६५ भ्रूनेत्रपादचलनविलासाभिनयान्वितम् ।
योज्यमासीनया पाठ्यमासीनं तदुदाहृतम् ॥
१६६ नानाविधेन वाद्येन नानातालयान्वितम् ।
लास्यं प्रयुञ्जते यत्र सा ज्ञेया पुष्पगण्डिका ॥
१६७ अन्यासङ्गमशङ्किन्या नायकस्यात्तरोषया ।
प्रेमच्छेदप्रकटनं लास्यं प्रच्छेदकं विदुः ॥

---

१६१ इसी प्रकार भोज ने भाण का लक्षण कहा है ।[८७]

१६२ लास्य में इन दस अंगों की कल्पना की जाती है—गेयपद, स्थित-पाठ्य, आसीन, पुष्पगण्डिका, प्रच्छेदक, त्रिमूढ, सैन्धव, द्विमूढक, उत्तमोत्तमक तथा उक्त-प्रत्युक्त ।

**(गेयपद)**

१६३ जब नायिका वीणा आदि वाद्य के योग के साथ सुन्दर गीत गाती है तो उसे 'गेयपद' कहा जाता है ।

**(स्थितपाठ्य)**

१६४ जब चंचल-पुट आदि के साथ भौमचारी प्रस्तुत करते हुए नायिका वाक्य-अभिनय को प्रस्तुत करती है तो उसे 'स्थित-पाठ्य' कहा जाता है ।

**(आसीन)**

१६५ जब नायिका बैठकर भौंह, नेत्र और पैर की व्यंजक मुद्राओं के साथ किसी गीत को प्रस्तुत करती है तो उसे 'आसीन' कहते हैं ।

**(पुष्प गण्डिका)**

१६६ जब अनेक प्रकार के वाद्य तथा भिन्न-भिन्न ताल और लय के साथ लास्य (नृत्य) को प्रस्तुत किया जाय तो उसे 'पुष्प गण्डिका' समझना चाहिए ।

**(प्रच्छेदक)**

१६७ नायक को अन्यासक्त समझकर क्रोध से युक्त जब नायिका प्रेम-विच्छेद को प्रकट करने वाले लास्य (नृत्य) को प्रस्तुत करती है, उसे 'प्रच्छेदक' कहते हैं।

१६८ अनिष्ठुरश्लक्ष्णपदं समवृत्तैरलङ्कृतम् ।
नाट्यं पुरुषभावाढ्यं त्रिमूढकमुदाहृतम् ॥

१६९ देशभाषाविशेषेण चलद्वलयशृङ्खलम् ।
लास्यं प्रयुज्यते यत्र तत्सैन्धवमुदाहृतम् ॥

१७० चारीभिर्ललिताभिश्च चित्रार्थाभिनयान्वितम् ।
स्पष्टभावरसोपेतं लास्यं यत्तद्द्विमूढकम् ॥

१७१ अपरिज्ञातपार्श्वस्थं गेयभावविभूषितम् ।
लास्यं सोत्कण्ठवाक्यं यदुत्तमोत्तमकं भवेत् ॥

१७२ कोपप्रसादजनितं साधिक्षेपपदाश्रयम् ॥
वाक्यं तदुक्तप्रत्युक्तं द्वयोः प्रश्नोत्तरात्मकम् ॥

१७३ स्वप्ने विलोक्य दयितं क्रियते यत्प्रबुद्धया ।
मनोभवार्तया भावस्तद्वै भाविकमुच्यते ॥

१७४ अपरैर्नृत्यभेदास्तु गुल्मशृङ्खलितालताः ।
भेद्यकञ्चेति चत्वारः कथ्यन्तेऽत्र मनीषिभिः ॥

---

(त्रिमूढक)

१६८ कोमल और मधुर पद वाला, समवृत्तों से अलंकृत तथा पुरुष-भावों से युक्त नाट्य 'त्रिमूढ़क' कहा जाता है।[88]

(सैन्धव)

१६९ देश की भाषा की विशेषता से चंचल वलय एवं शृंखला से युक्त लास्य जहाँ प्रयुक्ता होता है, उसे 'सैन्धव' कहते है।

(द्विमूढक)

१७० ललित चारियों से युक्त, भिन्न-भिन्न अभिनय से युक्त, स्पष्ट भाव और रस से युक्त लास्य (नृत्य) 'द्विमूढक' कहा जाता है।

(उत्तमोत्तक)

१७१ समीप में बैठे हुए को न जानकर, गेय भाव से विभूषित होकर उत्कण्ठावश नायिका का किया गया लास्य (नृत्य) 'उत्तमोत्तमक' कहा जाता है।

(उक्ति-प्रत्युक्ति)

१७२ नायक-नायिका दोनों के बीच कोप और प्रसन्नता से उत्पन्न और आक्षेप से युक्त होने वाले प्रश्नोत्तरात्मक विवाद को 'उक्ति-प्रयुक्ति' कहते हैं।

(भाविक)

१७३ काम से पीड़ित प्रबुद्धा नायिका स्वप्न में अपने प्रियतम को देखकर जिस भाव को प्रकट करती है, उसे 'भाविक' कहते हैं।

१७४ किन्हीं विद्वानों ने नृत्य के चार भेद और कहे हैं—गुल्म, शृंखलिता, लता तथा भेद्यक।

१७५ गुल्मः सम्भूय यन्नृत्तं शृङ्खलाऽन्योन्यबन्धनी ।
परस्पराङ्गवेष्टेन यन्नृत्यं सा लता मता ।
एकैकस्य बहिस्सङ्घान्नृत्तं यत्स च भेद्यकः ।
१७६ पिण्डीबन्धश्च गुल्मश्च पर्यायाविति केचन ।।
१७७ गुल्मबन्धो विलम्बे स्याच्छृङ्खला तु लयान्तरे ।
मध्यमे स्याल्लताबन्धो द्रुते स्याद्भेद्यकः स्मृतः ।।
१७८ भद्रासनेन यन्त्रेण तत्तच्छिक्षा विधीयते ।

अथ प्रहसनलक्षणम् ।।

१७९ भाणवत्स्यात्प्रहसनं तत्त्रिधा परिभिद्यते ।।
शुद्धं क्वाप्यथ सङ्कीर्णं क्वचिद्वैकृतमित्यपि ।
तत्र श्रोत्रियनिर्ग्रन्थशाक्यादीनां यथायथम् ।
भाषाचेष्टिततद्रूपहास्यवाक्यसमन्वितम् ।
चेटचेटीविटव्याप्तं शुद्धं प्रहसनंभवेत् ।।
उद्धात्यकादिवीथ्यङ्गैर्मिश्रं सङ्कीर्णमुच्यते ।
विटकामुकचेटादिवचोवेषधरैस्तु यत् ।।
परिव्राण्मुनिषण्डाद्यैः कृतं वैकृतमुच्यते ।

---

१७५ मिलकर (इकट्ठे होकर) जो नृत्य होता है, 'गुल्म' होता है; एक-दूसरे से बंध-बंध कर जो नृत्य होता है, वह 'शृंखलिता' होता है; परस्पर अंग के जोड़ने से जो नृत्य होता है, वह 'लता' कहलाता है। समुदाय से एक-एक करके बाहर होते हुए जो नृत्य होता है, वह 'भेद्यक' होता है।

१७६ कोई गुल्म को 'पिण्डीबन्ध' कहते हैं अर्थात् किसी के मत में गुल्म और पिण्डी-बन्ध दोनों पर्याय हैं।

१७७ गुल्म-बन्ध नृत्य विलम्बित लय में होता है, शृंखला लयान्तर में, लताबन्ध मध्यम लय में तथा भेद्यक नृत्य द्रुत लय में प्रयुक्त होता है।

१७८ ये नृत्य भद्रासन यन्त्र से सीखे जाते है।

(प्रहसन-लक्षण)

१७९ प्रहसन वस्तु, सन्धि, सन्ध्यंग, अंक तथा लास्यादि में भाण की ही तरह होता है। यह शुद्ध, संकीर्ण तथा विकृत भेदों से तीन प्रकार का होता है। शुद्ध-प्रहसन में श्रोत्रिय; बौद्ध, जैन, साधु आदि; चेट, चेटी और विट का जमघट होता है। इनकी भाषा के अनुरूप यहाँ चेष्टा पायी जाती है तथा इनका वचन हास्य युक्त होता है। उद्धात्यक आदि वीथ्यंगों से मिश्रित संकीर्ण-प्रहसन कहलाती है। जहाँ साधु, मुनि या नपुंसक पात्र निबद्ध हों ; जो विट, कामुक, चेट आदि के वचन व वेष का प्रयोग करें, वह प्रहसन विकृत कहलाता है।

१८० रसस्तु भूयसा कार्यः षट्प्रकारस्ततस्ततः ।
मुखं निर्वहणञ्चैव सन्धी द्वावस्य कीर्तितौ ।
अङ्कोऽप्येको भवेद्यस्य तत्तु प्रहसनं भवेत् ॥

१८१ सैरन्ध्रिका स्यात्सङ्कीर्णा शुद्धा सागरकौमुदी ।
कलिकेलिप्रहसनं यत्तद्वैकृतमीरितम् ॥

अथ डिमलक्षणम् ॥

१८२ उद्धतैर्देवगन्धर्वयक्षरक्षोमहोरगैः ।
भूतप्रेतपिशाचाद्यैर्डिमः षोडशनायकः ॥
शृङ्गारहास्यविधुरै रसैर्दीप्तैर्निरन्तरः ।
कैशिकीवृत्तिरहितो भारत्यारभटीयुतः ॥
लुप्तावमर्शसन्धिश्च चतुस्सन्धिसमन्वितः ।
अङ्गिरौद्ररसोपेतो बीभत्सादिनिरन्तरः ॥
प्रख्यातवस्तुविषयो न्यायमार्गीणनायकः ।
चन्द्रसूर्योपरागोल्कानिर्घातादिभिरुद्भटः ॥
उत्पातैर्घोरसङ्ग्रामसंरम्भभरितान्तरः ।
सप्रवेशकविष्कम्भश्चतुरङ्को डिमः स्मृतः ॥
इदं त्रिपुरदाहाख्ये लक्षण ब्रह्मणोदितम् ।

---

१८० प्रहसन में रस की प्रचुरता रहती है और हास्य के छहों भेद (हसित, अपहसित, उपहसित, अवहसित, अतिहसित तथा विहसित) होते हैं। प्रहसन में मुख और निर्वहण नामक दो सन्धियाँ होती हैं तथा एक अंक होता है।

१८१ 'सैरन्ध्रिका' संकीर्ण-प्रहसन है, 'सागरकौमुदी' शुद्ध-प्रहसन है तथा 'कलि-केलि' विकृत-प्रहसन है।

(डिम-लक्षण)

१८२ डिम में देवता, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, नाग, भूत, प्रेत, पिशाच आदि सोलह नायक (पात्र) होते हैं तथा वे बड़ उद्धत होते हैं। इसमें श्रृंगार व हास्य के अतिरिक्त शेष ६ रसों का प्रदीपन पाया जाता है। इसमें कैशिकी के अतिरिक्त अन्य वृत्तियाँ—सात्वती, आरभटी व भारती का समावेश होता है। अवमर्श-सन्धि के अतिरिक्त इसमें शेष ४ सन्धियाँ पायी जाती हैं। इसका अंगी-रस रौद्र होता है, बीभत्स आदि भी पाये जाते हैं। इसकी कथावस्तु इतिहास प्रसिद्ध होती है। न्यायप्रिय नायक होता है। इसमें चन्द्रग्रहण, सूर्यग्रहण, नक्षत्र-पात, घात आदि; महान उत्पात, घोर-संग्राम तथा उद्भ्रान्ति आदि के दृश्य दिखाये जाते हैं। प्रवेशक तथा विष्कम्भक से युक्त, चार अंक वाला

उदाहरणमेतस्य वृत्रोद्धरणमुच्यते ॥
तारकोद्धरणं तद्वत्तत्र तत्र विलोक्यताम् ।

अथ व्यायोगलक्षणम् ॥

१८३ व्यायोगस्येतिवृत्तं यत्तत्प्रख्यातमितीरितम् ॥
धीरोदात्ताश्च विख्याता देवा राजर्षयोऽथवा ।
नायकास्त्रिचतुष्पञ्च भवेयुर्न दशाधिकाः ॥
दिव्ययोनिकथाल्पस्त्रीपरिवारस्त्रिसन्धिकः ।
गर्भावमर्शरहितो विष्कम्भादिसमन्वितः ॥
एकाहचरितैकाङ्को भारत्यारभटीयुतः ।
युद्धाधर्षणसम्फेटविद्रवादिनिरन्तरः ॥
क्वाचित्कः स्वल्पश्रृङ्गारः षड्दीप्तरसनिर्भरः ।
अस्त्रीनिमित्तसङ्ग्रामो व्यायोगः कथितो बुधैः ॥

अथ समवकारलक्षणम् ॥

१८४ देवासुरेतिवृत्तं यत्प्रख्यातं लोकसम्मतम् ।
तत्स्यात्समवकारोऽस्य निर्विमर्शाश्च सन्धयः ॥

---

'डिम' कहलाता है। ब्रह्मा ने 'त्रिपुरदाह' में डिम के इसी लक्षण को बताया है।[८९] डिम का उदाहरण 'वृत्तोद्धरण' कहा जाता है उसी की तरह 'तारकोद्धरण' को भी वहाँ-वहाँ देखना चाहिए।

**(व्यायोग-लक्षण)**

१८३ व्यायोग की कथावस्तु इतिहास-प्रसिद्ध होती है, इसका विख्यात धीरोदात्त नायक होता है, वह देवता या राजर्षि होता है। इसमें नायक (पात्र) तीन, चार, पाँच होने चाहिए, दस से अधिक नहीं होने चाहिए। व्यायोग में किसी देवता की कथा होती है, स्त्री-पात्र कम होते हैं। इसमें गर्भ तथा अवमर्श सन्धियों के अतिरिक्त तीन सन्धियाँ पायी जाती हैं। यह विष्कम्भक आदि से युक्त होता है। इसकी कथा एक ही दिन की होती है तथा उसमें एक ही अंक होता है। इसमें भारती व आरभटी वृत्तियाँ पायी जाती हैं। इसमें युद्ध, चुनौती, क्रोध तथा पलायन आदि वर्णित होते है। इसमें कहीं-कही थोड़ा श्रृंगार-रस पाया जाता है अन्यथा हास्य-श्रृंगार वर्जित ६ रस इसमें होते हैं। इसमें जो युद्ध वर्जित होता है, वह युद्ध स्त्री-प्राप्ति के कारण नहीं होता। इस प्रकार इसे विद्वान लोग 'व्यायोग' कहते हैं।

**(समवकार-लक्षण)**

१८४ समवकार में देवता और असुरों से सम्वन्धित इतिहास-प्रसिद्ध कथावस्तु होती है। इसमें विमर्श-सन्धि नहीं होती है। इसमें मृदुल कैशिकी-वृत्ति पायी

मृद्वी स्यात्कैशिकी वृत्तिरङ्गी वीररसो भवेत् ।
प्रख्यातोदात्तचरिता मिलिता देवदानवाः ।।
पृथक्प्रयोजनास्तत्र नायका द्वादश स्मृताः ।
अङ्गान्यन्ये रसास्तत्र सात्त्वत्याद्याश्च वृत्तयः ।।
अङ्कैस्त्रिभिस्त्रिकपटस्त्रिशृङ्गारस्त्रिविद्रवः ।
अष्टादश स्युरेतस्मिन्नाडिकाः समुदायतः ।।
ताभिस्त्रिधा विभिन्नाभिः स्यङ्ककालो नियम्यते ।
मुखप्रतिमुखाभ्याञ्च प्रथमाङ्को द्विसन्धिकः ।।
कालस्तु प्रथमाङ्कस्य भवेद्द्वादश नाडिकाः ।
द्वितीयाङ्कश्चतसृभिर्नाडिकाभिः स्थितो भवेत् ।।
मुखं प्रतिमुखं गर्भः सन्धयोऽस्य त्रयोऽपि च ।
तृतीयाङ्कस्य कालोऽपि नाडिकाभ्यां प्रकल्प्यते ।।
सन्धेया निर्विमर्शाश्च चत्वारः सन्धयोऽत्र तु ।
१८५ मुहूर्तस्य तुरीयांशो नाडिका घटिकाद्वयम् ।।
१८६ वस्तुस्वभावदैवारिकृताः स्युः कपटास्त्रयः ।
कपटस्य स्वरूपं तु भ्रमो मोहात्मकः स्मृतः ।।
वस्तुस्वभावकपटः क्रूरसत्त्वादिसम्भवः ।

---

जाती है। इसका अंगी-रस वीर-रस होता है। इसके नेता—पात्र देवता और दानव होते हैं। ये नायक इतिहास-प्रसिद्ध होते हैं तथा संख्या में बारह होते हैं। इन सभी का फल भिन्न होता है। वीर-रस के अतिरिक्त इसके अन्य-रस अंग-रस होते हैं, इसमें सात्त्वती आदि वृत्तियाँ पायी जाती है। इसमें तीन अंक होते है जिसमें तीन बार कपट, तीन प्रकार शृंगार (धर्म, अर्थ तथा काम) तथा तीन बार पात्रों में विद्रव (पलायन) का संयोजन होता है।[९०] इन तीनों अंकों की कथा १८ नाडिका की होती है, उन भिन्न-भिन्न तीन प्रकार की कथाओं से तीन अंकों का काल निश्चित किया जाता है। इसके प्रथम अंक में मुख और प्रतिमुख ये दो सन्धियाँ होती हैं तथा इसकी कथा १२ नाडिका की होती है। द्वितीय अंक की कथा ४ नाडिका की होती है तथा इसमें मुख, प्रतिमुख तथा गर्भ सन्धियाँ होती हैं तथा तृतीय अंक की कथा २ नाडिका की होती है तथा इसमें विमर्श के अतिरिक्त अन्य चार सन्धियाँ होती हैं।

१८५ मुहूर्त्त के चतुर्थांश या दो घड़ी के बराबर एक 'नाडिका' होती है।[९१]

१८६ कपट—स्वाभाविक, दैविक तथा कृत्रिम (शत्रुकृत) इन भेदों से तीन प्रकार का होता है।[९२] कपट का स्वरूप मोहात्मक भ्रम कहलाता है। दुष्ट-प्राणी

दविकः कपटो वह्निवर्षवातादिसंभवः ॥
शत्रुजः कपटस्तत्र सङ्ग्रामादिसमुद्भवः ।
१८७ विद्रवः प्रायशस्तद्वत्तयोर्भेदोऽत्र कथ्यते ॥
जीवग्राहोऽथ मोहो वा कपटेन प्रकाश्यते ।
विद्रवस्तु फलं तत्तद्धेतोस्तस्मात्पलायनम् ।
१८८ शृङ्गारो धर्मकामार्थभेदेन त्रिविधो भवेत् ॥
व्रतनियमतपोयोगाद्यस्मिन्बहुधा निवेशितः कामः ।
पुत्रादिभोगसुखकृत्स ज्ञेयो भोग(धर्म)शृङ्गारः ॥
अर्थावाप्तिर्यस्मिन्कामेन निवेशितेन संभवति ।
तदधीनविभवभोगास्वादसुखेनार्थशृङ्गारः ॥
परदारद्यूतसुरामृगयाद्यास्वादकेलिविनिविष्टः ।
तत्तद्विषयास्वादनसुखललितः कामशृङ्गारः ॥
१८९ वीथ्यङ्गानि यथालाभमामुखं नाटकादिवत् ।
शृङ्गारत्रितयं यत्र नात्र बिन्दुप्रवेशकौ ॥
इत्थं समवकारस्य लक्षणं दर्शितं बुधैः ।

---

अर्थात् क्रूर स्वभाव वाले प्राणियों से उत्पन्न कपट 'स्वाभाविक' होता है। अग्नि, वर्षा, आंधी आदि से उत्पन्न कपट 'दैविक' कहलाता है। युद्ध आदि से उत्पन्न कपट शत्रुज (कृत्रिम) कहलाता है।

१८७ 'विद्रव' प्रायः कपट की तरह होता है। अब कपट और विद्रव के भेद को कहते हैं। जीवग्राह या मोह कपट के द्वारा प्रकाशित होता है। विद्रव उसका फल होता है इसीलिए उसके हेतु से पलायन होता है।

१८८ धर्म, अर्थ तथा काम—भेद से शृंगार तीन प्रकार का होता है। इसमें धार्मिक भाव से पुत्रादि, भोग तथा सुख की प्राप्ति के लिए किया जाने वाला व्रत, नियम, तपस्या, योग आदि धार्मिक कृत्यों का आचरण 'धर्म-शृंगार' जानना चाहिए। जहाँ निवेशित काम के द्वारा अर्थ-प्राप्ति संभावित होती है उसके अधीन वैभवों का भोग होता है, वैभव के भोग के आस्वाद के सुख से 'अर्थ-शृंगार' होता है। जिसमें पर-स्त्री-सेवन, द्यूत, सुरा-पान, मृगया आदि से प्राप्त आस्वाद तथा केलि-क्रीडा होती है, उन-उन विषयों से प्राप्त सुख और आस्वाद से शोभित 'काम-शृंगार' कहलाता है।

१८९ इसमें (प्रहसन की तरह) यथावश्यक वीथ्यंगों की योजना की जानी चाहिए तथा नाटक की तरह आमुख की योजना करनी चाहिए। इसमें धर्म, अर्थ तथा काम—तीन प्रकार का शृंगार पाया जाता है तथा बिन्दु नामक अर्थ-प्रकृति,

उदाहरणमेतस्य भवेदमृतमन्थनम् ।
प्रथमेऽङ्केऽत्र शृङ्गारकपटाश्च सविद्रवाः ॥
१९० युद्धजलसम्भ्रमो वा वाय्वग्निगजेन्द्रसम्भ्रमकृतो वा ।
नगरोपरोधजो वा विज्ञेयो विद्रवस्त्रिविधः ॥
१९१ उष्णिग्गायत्र्याद्यान्यन्यानि च यानि बन्धकुटिलानि ।
वृत्तानि समवकारे कविभिस्तानि प्रयोज्यानि ॥
वीथीप्रहसनाङ्गानि भवेयुर्वा नवा क्वचित् ।
अन्यथा वर्णयन्त्यन्ये कपटं विद्रवं बुधाः ॥
वस्तुक्रमसमुद्भूतो दैवसम्पादितस्तथा ।
तथा शत्रुकृतश्चेति कपटाः स्युस्त्रयः क्रमात् ॥
तथा हि चित्रशालाङ्के दण्डकाष्ठोपसङ्गमात् ।
ज्वरो विदूषकस्यैष कपटः प्रथमः स्मृतः ॥
दैवाद्वध्यशिलारोहो नागानन्दे प्रकल्पितः ।
जीमूतवाहनस्यैष द्वितीयः कपटः स्मृतः ॥
यथा पुंसवनाङ्केऽत्र चिन्तामूर्खस्य मायया ।
कैकयीमन्थरावेषधारणं कपटोऽन्तिमः ।
(वातादिजन्यसाम्यात्तु) विद्रवो नात्र कथ्यते ॥

प्रवेशक नामक सूचक (अर्थोपक्षेपक) नही पाया जाता है। इस प्रकार से विद्वानों ने 'समवकार' का लक्षण किया है। इसका उदाहरण है—'अमृतमन्थनम्'। इसके प्रथम अंक में विद्रव सहित शृंगार और कपट का वर्णन किया गया है।

१९० विद्रव तीन प्रकार का होता है—युद्ध तथा बाढ़ की घबराहट से उत्पन्न; आंधी, अग्नि तथा बड़े हाथी के दर्शन से उत्पन्न तथा नगर को घेर लिए जाने से उत्पन्न।[९३]

१९१ समवकार में कविजनों को उष्णिक् तथा गायत्री छन्द के अलावा अन्य जो काव्य-बन्ध के योग्य छन्द हैं उनका प्रयोग करना चाहिए।[९४] चाहे कहीं प्रहसन की तरह वीथी के अंग हों या न हों। दूसरे विद्वान कपट और विद्रव का दूसरी प्रकार से वर्णन करते हैं। 'कपट' तीन प्रकार का होता है—स्वाभाविक दैविक तथा शत्रुकृत (कृत्रिम)। जैसे मालविकाग्निमित्र नाटक के चित्र-शालांक में लकड़ी के डण्डे के प्रसंग से विदूषक का ज्वर प्रथम प्रकार का कपट कहा गया है। नागानन्द नाटक में देववश वध्य-शिला पर चढ़ना जीमूतवाहन का द्वितीय प्रकार का कपट कहा गया है। पुंसवनांक में चित्रजामुखि का माया से कैकयी तथा मन्थरा का वेश धारण करना अन्तिम कपट कहा गया है। आंधी आदि से उत्पन्न विद्रव की समानता से यहाँ विद्रव को नहीं कहते हैं।

अथ वीथीलक्षणम् ॥

१९२ मुखनिर्वहणे सन्धी वीथ्या वृत्तिस्तु कैशिकी ।
द्वाभ्यां प्रयोज्या पात्राभ्यां क्वचिदेकेन वा भवेत् ॥
अङ्गी सर्वरसस्पर्शो शृङ्गारोऽस्यः प्रधानतः ।
युक्ता लास्याङ्गवीथ्यङ्गैः सम्यगुद्धात्यकादिभिः ॥
भवेयुर्वा न वेत्यस्यां लास्याङ्गान्याह कोहलः ।
वीथ्याः शृङ्गाररूपत्वाद्विधेयानीति भोजराट् ॥
एकाङ्कैव भवेद्वीथी रसः सूच्योऽत्र सम्भृतः ।
यथा बकुलवीथी स्यादिन्दुलेखादयो यथा ॥

अथोत्सृष्टिकाङ्कलक्षणम् ॥

१९३ उत्सृष्टिकाङ्के प्रख्यातमितिवृत्तं क्वचिद्भवेत् ।
कदाचिदेतदुत्पाद्यमप्रख्यातं कवेर्धिया ॥
दिव्यैरयुक्तः पुरुषैः शेषैरन्यैः समन्वितः ।
कैशिकीवृत्तिहीनश्च सात्त्वत्यारभटीयुतः ॥
नियुद्धयुद्धसम्फेटप्रहारनिधनोद्भटः ।
प्रभूततरुणस्त्रीणां परिदेवितमेदुरः ॥
निर्वेदभाषितैः स्त्रीणां नानाव्याकुलचेष्टितैः ।

---

**(वीथी-लक्षण)**

१९२ वीथी में मुख तथा निर्वहण-सन्धि पायी जाती है तथा इसमे कैशिकी-वृत्ति होती है। इसमें दो-एक पात्रों की ही योजना करनी चाहिए। इसका प्रधानतः अंगी-रस शृंगार होता है वैसे यह सभी रसों का स्पर्श कर सकता है। यह (वीथी) लास्यांग तथा उद्धात्यक आदि वीथ्यंगों से युक्त हो या न हो लेकिन कोहल ने वीथी में लास्यांगों को स्वीकार किया है। भोज ने वीथी के शृंगार-रूप होने के कारण वीथी का विधान किया है। इस (वीथी) में एक अंक होता है तथा इसमें संभोग-शृंगार सूच्य रस होता है। जैसे—बकुलवीथी तथा इन्दु-लेखा आदि।

**(उत्सृष्टिकांक-लक्षण)**

१९३ उत्सृष्टिकांक रूपक में इतिवृत्त इतिहास-प्रसिद्ध होता है। परन्तु कवि को उसमें अपनी बुद्धि से कुछ कल्पित इतिवृत्त को भी जोड़ देना चाहिए। इसमें दिव्य पात्र नहीं होता परन्तु दूसरे सभी प्रकार के पात्र रहते हैं। इसमें कैशिकी वृत्ति के अतिरिक्त सात्त्वती तथा आरभटी वृत्तियाँ पायी जाती हैं। इसमें परस्पर युद्ध, संग्राम, क्रोध, प्रहार तथा भयंकर उत्पात के वर्णन के समय तरुण स्त्रियों का रुदन होना चाहिए तथा स्त्रियों का करुण क्रन्दन होना चाहिए। विभिन्न व्याकुलतागर्भक चेष्टाओं की योजना करनी चाहिए। कहीं

क्वचिद्भयानकप्रायः कर्तव्योऽभ्युदयान्तिमः ॥
एवमुत्सृष्टिकाङ्कस्तु कर्तव्यः काव्यवेदिभिः ।
अस्याङ्कमेकं भरतो द्वावङ्काविति कोहलः ॥
व्यासाञ्जनेयगुरवः प्राहुरङ्कत्रयं यदा ।
१९४ विष्कम्भकोऽत्र सङ्कीर्णः तत्र तत्र प्रवेशकः ॥
मुखनिर्वहणे सन्धी इति कोहलभाषितम् ।
ईहामृगवदित्यन्ये केऽप्याहुर्डिमसन्धिभिः ॥
१९५ यद्दिव्यनायककृतं कार्यं सङ्ग्रामबन्धुवधयुक्तम् ।
तद्भारते तु वर्षे कर्तव्यं काव्यबन्धेषु ॥
कस्माद्भारतमिष्टं वर्षेभ्यस्तस्य कर्मभूमित्वात् ।
न वधादयः क्वचित्स्युः निबन्धनीयाः प्रयोज्याश्च ॥
भवेयुः क्वापि यद्येते प्रत्युज्जीवन्त्यनन्तरम् ।
लक्ष्मणस्य वधः शक्त्या रावणेन यथा कृतः ॥
यत्प्रत्युज्जीवनान्तोऽभूत्तत्तु रामानुजाह्वये ।
जीमूतवाहनस्यापि नागानन्दे वधो यथा ॥
तत्प्रत्युज्जीवनान्तश्च तथैवान्यत्र कल्प्यताम् ।
चन्द्रापीडस्य मरणं यत्प्रत्युज्जीवनान्तिमम् ॥

---

अभ्युदय के नाश का भयानक दृश्य प्रस्तुत करना चाहिए। इस प्रकार काव्यवेत्ताओं को उत्सृष्टिकांक की योजना करनी चाहिए। भारत के अनुसार इसमें एक अंक होना चाहिए लेकिन कोहल के अनुसार दो अंक होने चाहिए। व्यास, आजनेय गुरुजनों ने तीन अंक का विधान इसमें कहा है।

१९४ कोहल के मत में इसमें सकीर्ण-विष्कम्भक तथा वहाँ-वहाँ प्रवेशक की योजना होती है तथा मुख और निर्वहण सन्धि होती है। कोई कहते है कि इसमें ईहामृग के समान मुख, प्रतिमुख तथा निर्वहण सन्धि होती है। कोई कहते हैं कि इसमें डिम के समान विमर्श के अलावा चार सन्धियाँ होती हैं।

१९५ इस उत्सृष्टिकांक में यदि दिव्य-पात्रों द्वारा किये नये बन्धु-बान्धवों के वध से युक्त युद्ध का वर्णन किया जाय तो वह वर्णन काव्य-बन्धों में केवल भारत-वर्ष में ही किया जाना चाहिए। अन्य वर्षो में से भारतवर्ष ही क्यों इष्ट है, क्योंकि भारतवर्ष ही कर्मभूमि है।[६५] अन्यथा इसमें कहीं भी वध आदि का न निबन्धन करना चाहिए न प्रयोग। यदि कहीं वध का वर्णन किया जाय तो तदनंतर वह पात्र जीवित हो जाना चाहिए। जैसे 'रामानुज' उत्सृष्टिकांक में रावण ने अपनी शक्ति से लक्ष्मण का वध किया है, लेकिन कुछ समय पश्चात् उपचार से लक्ष्मण जीवित हो गये हैं। इसी प्रकार नागानन्द नाटक में जीमूत-वाहन का वध हो गया है तदनन्तर उसे जीवन मिल गया है। इसी प्रकार

कल्पितं भट्टबाणेन यथा शारदचन्द्रिका ।
१९६ दिव्येन मर्त्यस्य वधः काव्यस्यावश्यभावतः ।।
निबन्धेसूच्य एवाङ्कविच्छित्त्यैष प्रवेशकैः ।
यथा सगरपुत्राणां कपिलेन वधः कृतः ।।
प्रवेशकैः सूचितोऽङ्कच्छेदैर्गङ्गाभगीरथे ।
१९७ यथा वधः प्रयोज्यः स्यात्तथा बन्धादि कल्प्यताम् ।।
इत्याहुर्भारते वर्ष इति शंकुकभाषितम् ।
१९८ देशेष्वन्येषु कविभिर्न वधादिः प्रकल्प्यते ।।
हृद्या तत्तद्भूमिः शोभनगन्धा च काञ्चनी यस्मात् ।
उपवनसलिलक्रीडाविहारनारीरतिप्रमोदाश्च ।।
तेषु च वर्षेषु सतां भवति न दुःखं न वा शोकः ।
एते देशविशेषाः पुराणशास्त्रेतिहासपरिगणिताः ।।
कर्मारम्भो न भवेत्तेषु हि ते (सुवते) यत्फलं क्षोण्याः ।
सुरतोत्सवसम्भोगा देशेष्वेतेषु बन्धनीयास्स्युः ।
रत्युपचाराङ्गतया गीताङ्गानि प्रयोजनीयानि ।।
अन्ये रसा न प्रयोज्यास्तत्तद्देशविशेषतः ।
प्रायेणोत्सृष्टिकाङ्कस्तु वर्षे भारत एव हि ।।

---

अन्यत्र भी कल्पना कर लेनी चाहिए। वाणभट्ट ने शारदचन्द्रिका में चन्द्रापीड का मरण दिखाया है, बाद में उसे जीवित दिखाया है।

१९६ यदि काव्य के आवश्यक भाव के कारण देवता द्वारा किसी मनुष्य का वध दिखाने की आवश्यकता हो तो उस घटना को कवि को अंक को तोड़कर प्रवेशक द्वारा प्रस्तुत करना चाहिए। जैसे 'गंगाभागीरथ' में कपिल द्वारा सगर-पुत्रों का वध अंक छेदन कर प्रवेशक द्वारा सूचित किया गया है।

१९७ जैसे वध की योजना की जाती है वैसे ही बन्धादि की भी कल्पना कर लेनी चाहिए। लेकिन यह भारतवर्ष में ही करनी चाहिए—ऐसा शंकुक का मत है।

१९८ अन्य देशों में कवियों द्वारा वधादि की कल्पना नही की जाती है। क्योंकि उन-उन देशों में हृद्या (मनोहर), शोभनगन्धा (सुगन्धयुक्त) तथा कंचनमयी भूमि होती है। उपवन, सलिल-क्रीडा, विहार, स्त्री-रति, प्रमोद आदि होते हैं। सज्जनों को न दुःख होता है न शोक। इस प्रकार देश-विशेष पुराण-शास्त्र और इतिहास ग्रन्थों में गिनाये गये है।[९६] उन देशों में कर्मारम्भ नहीं होता। वे देश पृथ्वी के जिस फल को उत्पन्न करते है उन देशों में सुरतोत्सव, सम्भोग आदि का निबन्धन करना चाहिए। रति का उपचार एवं उनके अंग होने से गीतांगों का प्रयोग करना चाहिए। उन-उन देशों की विशेषता के कारण अन्य

अनुषङ्गेण कथितो विशेषोऽत्रावधारितः ॥

अथेहामृगलक्षणम् ॥

१९९ ईहामृगस्येतिवृत्तं प्रख्यातोत्पाद्यमिश्रितम् ।
मुखप्रतिमुखोपेतं तथा निर्वहणान्वितम् ॥
धीरोद्धतश्च प्रख्यातो दिव्यो मर्त्योऽथ नायकः ।
बलाद्दिव्याङ्गनाहेतुप्रवृत्तोद्दामसङ्गरः ॥
गणशः षट्चतुःपञ्चनायकाः प्रतिनायकाः ।
यथासमरसंरम्भतुल्यवृत्तिरसाश्रयाः ॥
वृत्तित्रययुतो हीनः कैशिक्या सहितोऽपि वा ।
भयबीभत्सरहिताः षडेवात्र रसाः स्मृताः ॥
अङ्काश्चत्वार एवात्र सविष्कम्भप्रवेशकाः ।
व्याजान्निर्वर्तितोद्दामसंरम्भारम्भसङ्गरः ॥
वधं प्राप्तस्य नो कुर्यान्नेतुः क्वापि यशस्विनः ।
उक्ता व्यायोगधर्मा ये ते स्युरीहामृगेऽपि च ॥
व्यायोगस्य विशेषोऽयमस्त्रीहेतुकसङ्गरः ।
ईहामृगश्च कथितो यथा कुसुमशेखरः ॥

---

रसों का प्रयोग नहीं करना चाहिए। प्रायः उत्सृष्टिकांक भारतवर्ष में ही प्रसंगतः कहा गया है, विशेष यहाँ बताया गया है।

(ईहामृग-लक्षण)

१९९ ईहामृग की कथा मिश्रित—प्रख्यात व कल्पित का मिश्रण होती है। इसमे मुख, प्रतिमुख तथा निर्वहण सन्धियाँ होती हैं। इसके नायक इतिहास-प्रसिद्ध मनुष्य और देवता होते हैं। इनकी प्रकृति धीरोद्धत होती है। इसमें बलपूर्वक किसी दिव्यांगना की प्राप्ति की इच्छा से नायक युद्ध में प्रवृत्त होता है। इसमें समूह रूप में छः, चार और पाँच नायक प्रतिनायक होते हैं। ये युद्ध और क्रोध के तुल्य वृत्ति और रस के आश्रित होते हैं। इसमें सात्त्वती, आरभटी तथा भारती—तीन वृत्तियाँ पायी जाती हैं—कहीं-कहीं कैशिकी-वृत्ति पायी जाती है, नहीं भी पायी जाती है। इसमें भयानक और बीभत्स-रस के अतिरिक्त अन्य षट्-रस पाये जाते हैं। इसमें चार अंक होते है तथा यह विष्कम्भक तथा प्रवेशक से युक्त होता है। इसमें युद्ध प्रारम्भ कराकर फिर किसी बहाने से प्रारम्भ हुए युद्ध को रोक देना चाहिए। किसी यशस्वी नायक का वध नही कराना चाहिए। जो व्यायोग के धर्म कहे गये हैं वही ईहामृग के समझने चाहिए। अन्तर केवल यह है कि व्यायोग में स्त्री के कारण युद्ध नही होता। जैसे कुसुमशेखर को ईहामृग कहा जाता है।

२०० भाणे वीथ्यां प्रहसने व्यायोगोत्सृष्टिकाङ्कयोः ।
डिमे समवकारे च तथैवेहामृगेऽपि च ।।
मुखं प्रतिमुखं गर्भोऽवमर्शश्चोपसंहृतिः ।
प्रयोज्याः सन्धयस्तज्ज्ञैरेकद्वित्र्यादिलोपतः ।।
एकलोपे चतुर्थः स्याद्द्विलोपे त्रिचतुर्थयोः ।
द्वितृतीयचतुर्थानां त्रिलोपे लोप इष्यते ।।

२०१ इत्थं विचिन्त्य दशरूपकलक्ष्ममार्ग-
मालोक्य वस्तु च विभाव्य बृहत्कथाञ्च ।
कुर्यादयत्नवदलङ्कृतिभिः प्रबन्धं
वाक्यैरुदारमधुरैः स्फुटमन्धवृत्तैः ।।

इति श्रीशारदातनयविरचिते भावप्रकाशने दशरूपकलक्षण-
कथनो नामाष्टमोऽधिकारः ।।

---

२०० नाट्यविदों को भाण, वीथी, प्रहसन, व्यायोग, उत्सृष्टिकांक, डिम, समवकार तथा ईहामृग में क्रमशः एक, दो या तीन आदि सन्धियों के लोप से मुख, प्रतिमुख, गर्भ, अवमर्श तथा उपसंहृति सन्धियों की योजना करनी चाहिए। एक सन्धि का लोप होने पर चतुर्थ (अवमर्श) सन्धि का लोप कहा जाता है, दो सन्धियों का लोप होने पर तृतीय तथा चतुर्थ (गर्भ और अवमर्श) सन्धियों का लोप कहा जाता है तथा तीन सन्धियों का लोप होने पर द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ (प्रतिमुख, गर्भ, अवमर्श) सन्धियों का लोप कहा जाता है।

२०१ कवि को इस प्रकार दश रूपकों के लक्षणों से चिह्नित मार्ग को भलीभाँति समझकर, कथावस्तु का निरीक्षण कर और वृहत्कथा का अनुशीलन कर स्वाभाविक (अयत्नज) अलंकारों से युक्त तथा स्पष्ट एवं सरल छन्द वाले, उदार एवं मधुर-अर्थ की क्षमता वाले तथा रमणीय वाक्यों के द्वारा प्रबन्ध (रूपक) की रचना करनी चाहिए।

श्री शारदातनय-विरचित भावप्रकाशन में दशरूपक-लक्षणकथन
नामक अष्टम अधिकार समाप्त हुआ।

श्रीः

## अथ नवमोऽधिकारः

---

१ भरतादिप्रणीतत्वादर्थे दोषो न कश्चन ।
शब्दे विभक्तिव्यत्यासाल्लिङ्गव्यत्यासतोऽपि वा ।।
धात्वर्थस्य विपर्यासाद्दोषो यद्यपि दृश्यते ।
सद्भिस्तत्क्षम्यतामत्र को लोके न प्रमाद्यति ।।
एतत्तु शारदादेव्याः प्रसादादेव दर्शितम् ।
तस्मादभ्यसनीयोऽयं भावज्ञानाय कोविदैः ।।

२ दशरूपेण भिन्नानां रूपकाणामतिक्रमात् ।
अवान्तरभिदाः काश्चित्पदार्थाभिनयात्मिकाः ।।
ते नृत्यभेदाः प्रायेण सङ्ख्यया विंशतिर्मताः ।
तोटकं नाटिका गोष्ठी सल्लापः शिल्पकस्तथा ।।
डोम्बी श्रीगदितं भाणो भाणी प्रस्थानमेव च ।
काव्यञ्च प्रेक्षणं नाटचरासकं रासकं तथा ।।
उल्लोप्यकञ्च हल्लीसमथ दुर्मल्लिकाऽपि च ।
कल्पवल्ली मल्लिका च पारिजातकमित्यपि ।।

---

१ भरतादि आचार्यों द्वारा प्रणीत होने से अर्थ में कोई दोष नहीं है। यद्यपि विभक्ति, लिग तथा धात्वर्थ के विपर्यय से शब्द में दोष देखा जाता है। उस दोष को यहाँ सज्जन क्षमा करें, क्योंकि संसार में त्रुटि कौन नहीं करता है। यह (ग्रंथ) तो सरस्वती की कृपा से ही कहा है। अतः विद्वानों को भाव-ज्ञान के लिए इस (ग्रंथ) का अभ्यास करना चाहिए।

२ दस रूप से भिन्न रूपकों के अतिक्रमण से अभिनयात्मक पदार्थ के कुछ अन्य भेद और है। वे नृत्य-भेद प्रायः संख्या में बीस कहे जाते हैं—तोटक, नाटिका, गोष्ठी, सल्लाप, शिल्पक, डोम्बी, श्रीगदित, भाण, भाणी, प्रस्थान, काव्य, प्रेक्षण, नाट्यरासक, रासक, उल्लोप्यक, हल्लीस, दुर्मल्लिका, कल्पवल्ली, मल्लिका, पारिजातक।

३ एता नामान्तरैः कैश्चिदाचार्यैः कथिता अपि ।
संविधानक्रमस्तासां न कदाचन भिद्यते ॥
४ नाटिकायास्तोटकस्य सट्टकस्य च लक्षणम् ।
अंशत्वान्नाटकस्यापि तथा प्रकरणस्य च ॥
आनुषङ्गिकमेतेषां लक्षणं तत्र दर्शितम् ।
५ डोम्बी श्रीगदितं भाणो भाणीप्रस्थानरासकाः ॥
काव्यं च सप्त नृत्यस्य भेदाः स्युस्तेऽपि भाणवत् ।
इत्याहुः केचिदन्ये तान्सर्वान्नृत्यात्मकान्विदुः ॥

गोष्ठी

६ अथोत्पाद्यकथैकाङ्का गोष्ठी श्रृङ्गारमन्थरा ।
रूपसौन्दर्यलावण्योपेतषट्पञ्चनायिका ॥
प्राकृतैर्नवभिः पुंभिः दशभिर्वाऽप्यलङ्कृता ।
गर्भावमर्शसन्धिभ्यां शून्या नोदात्तवाक्कृता ।
अत्र स्यात्कैशिकी वृत्तिः मृद्वी नान्यरसाश्रया ॥
न कुञ्जरघटाघातपात्रं भवति कन्दली ।
गोपीपतेर्विहरतो गोष्ठबालस्य चेष्टितम् ॥
यत्तु-यमलार्जुनादिदानवनिधनकृतं तत्तु गोष्ठी स्यात् ॥

---

३ ये ही कुछ आचार्यों द्वारा अन्य नाम से कहे गये है, लेकिन इनके विधान-क्रम में कोई भेद नहीं है ।

४ नाटक का और प्रकरण का अंश होने से नाटिका, तोटक तथा सट्टक के लक्षण प्रसंगतः वहीं (पिछले अध्याय में) कह दिये गये हैं ।

५ किसी का कहना है कि डोम्बी, श्रीगदित, भाण, भाणी, प्रस्थान, रासक तथा काव्य—ये सात नृत्य-भेद भी भाण की ही तरह हैं । कोई कहते हैं कि ये सभी (बीस उपरूपक) नृत्यात्मक ही जानने चाहिए ।

(गोष्ठी)

६ गोष्ठी में कल्पित कथा होती है, एक अंक होता है, शृंगार शिथिल होता है और रूपसौन्दर्य तथा लावण्य से युक्त पाँच, छः नायिकाएँ होती हैं । यह नौ या दस प्राकृत पुरुषों से अलंकृत (युक्त) होती है । इसमें गर्भ और विमर्श सन्धि नहीं होती है । यह उदात्त वचनों से रहित होती है । इसमें मृदुल कैशिकी वृत्ति पायी जाती है । यह अन्य रसों के आश्रित नहीं होती है । क्योंकि कन्दली (केली) हाथियों के समूह की आघात-पात्र नहीं होती है । गोपीपति (कृष्ण) की विहार करती हुई बाल-गोष्ठी की यमलार्जुन आदि दानवों की वधकृत जो चेष्टाएँ हैं, वह गोष्ठी कहलाती है ।[1]

## सल्लापकः

७ सल्लापस्येतिवृत्तं यत्ख्यातं चोत्पाद्यमेव वा ।
मिश्रं वा तत्र शृङ्गारहास्यौ नैवार्हतः क्वचित् ॥
शबलो वीररौद्राभ्यामङ्गान्यन्ये रसाः स्मृताः ।
प्रायः सपत्नशान्तश्च क्रुद्धपाषण्डनायकः ॥
दैवारिजन्यकपटयुद्धस्थानोपरोधवान् ।
सात्त्वत्यारभटीवृत्तिसहितश्च सविद्रवः ॥
अङ्कास्त्रयो द्वितीयेऽङ्के तालप्राचुर्ययुग्भवेत् ।
तृतीयोऽङ्कः सकपटः प्रथमोऽङ्कः सविद्रवः ।
चतुस्सन्धिः प्रतिमुखशून्यः सल्लापको भवेत् ॥

## शिल्पकः

८ शिल्पकश्चतुरङ्कः स्याच्चतुर्वृत्तिविराजितः ।
हास्यं विना रसैः पूर्णः स्वतो ब्राह्मणनायकः ॥
हीनोपनायकः क्वापि श्मशानादिसमाकुलः ।
ऊढा पुनर्भूः कन्या वा ताः स्युः सचिवविप्रजाः ॥
मालती माधवस्येव कमलस्य कलावती ।

---

(सल्लापक)

७ सल्लाप की कथावस्तु इतिहास-प्रसिद्ध, कविकल्पित या मिश्र होती है। इसमें शृगार और हास्य रस नही होते हैं। इसमें वीर तथा रौद्र अंगी-रस होते हैं तथा अन्य अंग-रस होते है। इसका नायक प्रायः शान्त-शत्रु और क्रोधी, पाखण्डी होता है। इसमें देव तथा शत्रु-जन्य कपट, युद्ध, नगरनिरोध और विद्रव होते है, तथा सात्त्वती और आरभटी वृत्तियाँ पायी जाती हैं। इसमे तीन अंक होते हैं—द्वितीय अंक में ताल-प्रचुरता होती है, तृतीय अंक में कपट होता है और प्रथम विद्रव-युक्त होता है। सल्लापक में प्रतिमुख सन्धि के अतिरिक्त अन्य चार सन्धियाँ होती है।

(शिल्पक)

८ शिल्पक में चार अंक होते है और चारों वृत्तियाँ होती है। यह हास्य-वर्जित-रसों से युक्त होता है। इसका नायक ब्राह्मण होता है। हीन पुरुष उपनायक होता है। इसमें श्मशानादि का वर्णन होता है। इसमें (नायिका) पुनर्विवाहिता-कन्या या सचिव और ब्राह्मण से उत्पन्न कन्या होनी चाहिए। जैसे—माधव की मालती और कमल की कलावती।

९ अङ्गानि सप्तविंशत्स्युरुत्कण्ठादीनि च क्रमात् ॥
उत्कण्ठा चावहित्थञ्च प्रयत्नाशंसने अपि ।
तर्कश्च संशयस्ताप उद्वेगो मौर्ख्य(ढ्य)मेव च ॥
आलस्यकम्पानुगतिविस्मयास्साधनं तथा ।
उच्छ्वासश्च तथाऽऽतङ्कः शून्यता च प्रलोभनम् ॥
नाट्यं सम्फेट आश्वासः सन्तोषातिशयस्तथा ।
प्रमदश्च प्रमादश्च युक्तिश्चापि प्रलोचना ॥
प्रशस्तिश्चेति कथितान्यङ्गान्यत्रैव शिल्पके ।
उदाहरणमेतेषां परस्तादेव वक्ष्यते ॥

## डोम्बी

१० डोम्ब्येव भाण्डिकोदात्तनायिकैकाङ्कभूषिता ।
कैशिकीभारतीप्राया वीरशृङ्गारमेदुरा ॥
श्लक्ष्णनेपथ्यभाङ्मन्दोत्साहा पूरुषनायिका ।
११ अङ्गानि तस्याःसप्त स्युः कामदत्ता यथा कृता ॥
विन्यासश्चाप्युपन्यासो विबोधः साध्वसस्तथा ।
अनुवृत्तिश्च संहारः समर्पणमिति क्रमात् ॥

---

९ उत्कण्ठा आदि क्रमशः इसके सत्ताईस अंग होते है—उत्कण्ठा, अवहित्था, प्रयत्न, आशंका, तर्क, संशय, ताप, उद्वेग, मूढता, आलस्य, कम्पानुगति, विस्मय, साधन, उच्छ्वास, आतंक, शून्यता, प्रलोभन, नाट्य, सम्फेट, आश्वास, संतोष, अतिशय, प्रमद, प्रमाद, युक्ति, प्रलोचना और प्रशस्ति—ये शिल्पक के अंग कहे गये हैं। इनके उदाहरण आगे कहेंगे।[२]

**(डोम्बी)**

१० डोम्बी की भाणिका की तरह उदात्त नायिका होती है। इसमें एक अंक होता है। इसमें प्रायः कैशिकी और भारती वृत्तियाँ होती हैं। इसके वीर और शृंगार रस होते है। इसमें सुन्दर नेपथ्य होता है। मन्द उत्साह वाली पुरुष-नायिका होती है।

११ इसके सात अंग होते है। उदाहरण; जैसे—'कामदत्ता'। विन्यास, उपन्यास, विबोध, साध्वस, अनुवृत्ति, संहार तथा समर्पण—ये क्रमशः सात अंग हैं।

१२ निर्वेदवाक्यं विन्यास इष्टार्थविरहार्तिजम् ।
कार्याख्यानमुपन्यासः तत्तदर्थप्रसाधने ॥
निवृत्तिः संशयभ्रान्त्योः विबोध इति कथ्यते ।
साध्वसः स्यादभूतस्य भूतोदाहरणं भयात् ॥
निदर्शनोपन्यसनमनुवृत्तिरिति स्मृता ।
यथाभिलषितावाप्तिः संहार इति कथ्यते ॥
समर्पणमुपालम्भः पीडया विरहोत्थया ।
अस्यां लास्याङ्गदशकं यथायोगं प्रयुज्यते ॥

### श्रीगदितम्

१३ अथ श्रीगदितं विद्यात्प्रसिद्धोदात्तनायकम् ।
भारतीवृत्तिबहुलमुदात्तवचनान्वितम् ॥
गर्भविमर्शसन्धिभ्यां शून्यं प्रख्यातनायकम् ।
एकाङ्कं विप्रलम्भाख्यरसप्रायं क्वचित्क्वचित् ॥
यस्मिन्कुलाङ्गना पत्युः शौर्यधैर्यादिकान्गुणान् ।
सखीनामग्रतो वक्ति तानुपालभतेऽथ वा ॥
विप्रलब्धा च तेनैव यदि तत्सङ्गमाशया ।
आसीना यत्र ललितं प्रियाभोगविभूषितम् ॥

---

१२ इष्टार्थ (प्रिय) के विरह तथा दुःख से उत्पन्न निर्वेद-पूर्ण वाक्यों का विस्तार करना 'विन्यास' है। उस-उस अर्थ-प्राप्ति के साधन में कार्य का कथन करना 'उपन्यास' है। संदेह और भ्रांति का निराकरण ही 'विबोध' कहलाता है। भय के कारण अभूत (असत्य) का भूत (सत्य) कथन 'साध्वस' कहा जाता है। देखे हुए के अनुसार कथन करना 'अनुवृत्ति' कहलाती है। अभिलाषा के अनुसार प्राप्ति 'संहार' कहलाता है। डोम्बी में दस लास्यांगों का यथायोग प्रयोग होता है।[3]

(श्रीगदित)

१३ श्रीगदित में विद्या के कारण प्रसिद्ध उदात्त नायक होता है। इसमें भारती वृत्ति की अधिकता होती है और यह उदात्त वचनों से युक्त होता है। प्रख्यात नायक वाला यह उपरूपक गर्भ और विमर्श सन्धियों से शून्य होता है। इसमें एक अंक होता है और कहीं-कहीं इसमें विप्रलम्भ नामक (शृंगार) रस होता है। इसमें कुलांगना सखियों के आगे अपने पति के शौर्य, धैर्य आदि गुणों का बखान करती है या फिर उसके गुणों की उलाहना करती है। इसमें विप्रलब्धा प्रिय-समागम की आशा से प्रिय के साथ भोग के उपयुक्त शृंगार से

उत्कठिता पठेद्गायेत्पाठ्यं वा गीतमेव वा ।
एवंविधं श्रीगदितं रामानन्दं यथा कृतम् ।।

भाणः

१४ हरिहरभानुभवानीस्कन्दप्रमथाधिपस्तुतिनिबद्धः ।
उद्धतकरणप्रायः स्त्रीवर्ज्यो वर्णनायुक्तः ।।
गुणकीर्तनप्रकाशनगाथाभिर्भूभृतां स्तुतिनिबन्धः ।
गायनसहोक्तियुक्तोदात्तेन विभूषितप्रायः ।।
त्रिचतुरपञ्चवितालैः विश्रामैः सप्तभिः परिच्छिन्नैः ।
अर्थोद्ग्राहनिवारणसङ्ख्यातैः कुत्रचिन्नियतः ।।
१५ समविश्रामैर्विविधैर्विभूषितः पञ्चमे विपरिवर्ते ।
गाथामात्राद्विपथकपाठ्येनालङ्कृतो ललितः ।।
१६ वर्णोऽथ मत्तपाली सभग्नतालावनन्तरं गाथा ।
अनुभग्नतालमात्रे प्रथमे स्याद्भग्नतालश्च ।।
१७ गाथाद्विपथवसन्ता विश्रामे स्युर्द्वितोये तु ।
मात्राविषमच्छिन्ना सभग्नताला भवेद्वृद्धया ।।
१८ मागधिका साध्या स्यात्तालविताने तृतीये तु ।
रथ्या द्विपथवसन्तकरथ्यातालाश्चतुर्थे स्युः ।।

---

सज्जित होकर सजी हुई बैठी रहती है तथा श्रीगदित में उत्कंठित या तो पाठ पढ़े या गीत गाये। इस प्रकार के श्रीगदित का उदाहरण है—'रामानन्द'।[६]

(भाण)

१४ भाण विष्णु, शंकर, सूर्य, भवानी (पार्वती), कार्त्तिकेय तथा प्रमथाधिप (शिव) की स्तुति से निबद्ध होता है। यह प्रायः उद्धत्तकरणों से युक्त, स्त्री-पात्रों से रहित होता है तथा शुद्ध वर्णनायुक्त होता है।[१] राजाओं के गुण-कीर्त्तन एवं गुण-प्रकाशन गाथाओं से युक्त होता है एवं राजाओं की स्तुति से निबद्ध होता है। प्रायः इसमें गायन सहोक्ति और युक्तोदात्त से अलंकृत होता है। भाण कहीं तीन, चार, पाँच विताल; सात विश्राम तथा अर्थोद्ग्राहनिवारण-संख्या से युक्त होता है।

१५ पंचम विपरिवर्त में अनेक प्रकार के सम विश्रामों से विभूषित, गाथा, मात्रा, द्विपथक पाठ्य से अलंकृत 'ललित' भाण होता है।

१६ प्रथम विश्राम में वर्ण, मत्तपाली, भग्नताल के बाद गाथा, अनुभग्न-ताल, मात्रा, और भग्नताल का प्रयोग होता है।

१७ द्वितीय विश्राम में गाथा, द्विपथक और वसंतक का प्रयोग होता है। वृद्धि से विषम मात्रा से विछिन्न सभग्न ताल होता है।

१८ तृतीय ताल-वितान में मागधिका साध्य होती है। चतुर्थ में रथ्या, द्विपथ, वसन्तक और रथ्या-ताल होती है।

१९ रथ्याऽथ भग्नतालो मार्गणिका द्विपथविषमाश्च ।
पञ्चमकेऽप्यथ षष्ठे रथ्यानवभग्नतालाः स्युः ॥

२० द्विपथकमार्गणिके च स्यातामथ सप्तमे च विश्रामे ।
रथ्याऽथ भग्नतालः शुद्धे भाणे क्रमप्रदिष्टोऽयम् ॥

२१ सङ्कीर्णभणितिभरितः सङ्करनामाऽयमुभयसंयोगात् ।
किंचिदनुद्धतभावः तालक्रमवर्जितश्च चित्रोऽयम् ॥

२२ इति शुद्धः सङ्कीर्णश्चित्रोऽयमिति त्रिधा भवेद्भाणः ।
यदि वैष शुद्धभाषः शुद्धः संकीर्णयाऽथ सङ्कीर्णः ॥
सर्वाभिर्भाषाभिश्चित्रैश्च विचेष्टितश्च चित्रः स्यात् ।
अयमुद्धतोऽथ ललितो भाणो ललितोद्धतश्च भिन्नः स्यात् ॥
अर्थानामौद्धत्याल्लालित्यादुभयभावाच्च ।

२३ यद्दुष्कराभिधेयं चित्रं चाप्युद्भटं च यद्भवति ॥
तद्भाणकेऽभिधेयं युतमनुतालैर्वितालैश्च ।
तस्यान्तर्भावो यो भाणेऽसौ नन्दिमालिनामा स्यात् ॥
भिन्नः कैश्चित्कथितो भरतमतं सम्यगविदित्वा ।
आकाशपुरुषमुद्दिश्य वस्तु यत्पठ्यतेऽथ वा क्रियते ॥
विशिष्टोद्भाव्यभावप्रयोगवान्नन्दिमाली सः ।

---

१९ पंचम में रथ्या, भग्नताल, मार्गणिका, द्विपथ और विषम ताल होते है । षष्ठ में रथ्या और नौभग्न-ताल होते है ।

२० सप्तम विश्राम में द्विपथक और मार्गणिका ताल होते हैं। इस प्रकार शुद्ध भाण में रथ्या और भग्नताल का क्रम दिखाया है।

२१ संकीर्ण कथन से युक्त दोनों के संयोग से संकर नामक 'भाण' होता है। कुछ उद्धत भावों से रहित और ताल के क्रम से रहित 'चित्र' भाण होता है।

२२ इस प्रकार शुद्ध, सकीर्ण और चित्र तीन प्रकार के भाण के भेद होते है। यदि यह शुद्ध भाषा से युक्त हो तो 'शुद्ध', संकीर्ण भाषा से युक्त हो तो 'संकीर्ण' और चित्र-विचित्र समस्त भाषाओं तथा विचित्र चेष्टाओं से युक्त हो तो 'चित्र' भाण होता है। यह भाण उद्धत, ललित और ललितोद्धत—तीन प्रकार का होता है।
जिसमें अर्थ उद्धत हो वह 'उद्धत', अर्थ ललित हो वह 'ललित' और दोनों अर्थ हों तो 'ललितोद्धत' भाण होता है।

२३ जहाँ दुष्कर अभिधेय होता है वह 'चित्र' होता है, और जो उद्भट होता है उस भाण में अभिधेय अनुताल और विताल से युक्त होता है।[६] उसका अन्तर्भाव

उद्धतप्रायकरणः क्वचित्स्त्रीवर्जवर्णनः ।।
गाथादिराजस्तुतिभिः निबद्धो गुणकीर्तनैः ।
सुगायनसहोक्त्यैव युक्तोदात्तेन भूषितः ।।
निबद्धो ब्रह्मरुद्रेन्द्रस्कन्दादिस्तुतिभिर्दृढम् ।
वितालैः पञ्चभिर्वा तु यद्वा त्रिचतुरैरपि ।।
विश्रामैः सप्तभिश्चैव परिच्छिन्नैस्तथान्तरा ।
अर्धोद्ग्राहादिसङ्ख्यानैर्नियतश्च क्वचित्क्वचित् ।।
भूषितः समविश्रामैः परिवर्ते च पञ्चमे ।
गाथामात्राद्विपथकपाठचेनालङ्कृतः क्वचित् ।।
वर्णोऽथ मत्तपाली वा भग्नतालावनन्तरम् ।
गाथानुभग्नतालाश्च मात्रा वा प्रथमे भवेत् ।।
विश्रामे भग्नतालाश्च गाथा द्विपथकस्तथा ।
वसन्तोऽपि च विश्रामे द्वितीये प्रविशन्त्यमी ।।
मात्रा च विषमच्छिन्ना भग्नतालस्ततःपरम् ।
रथ्या च मागधीत्येते विश्रामे स्युस्तृतीयके ।
रथ्या द्विपथकश्चापि वसन्तो रथ्यया सह ।
तालश्चतुर्थे विश्रामे प्रविशन्ति यथाक्रमम् ।।
रथ्या च भग्नतालश्च तथा मार्गणिकापि च ।

---

जो होता है वह भाण में 'नंदिमालि' नाम से जाना जाता है। कुछ लोगों ने भरत-मत को बिना सोचे-समझे उससे भिन्न कहा है। आकाश-पुरुष के उद्देश्य से जो वस्तु पढ़ी जाती है या प्रस्तुत की जाती है, विशिष्ट उद्भाव्य भावों के प्रयोग से युक्त वह 'नन्दिमालि' होती है।[७] उसमें प्रायः उद्धतकरण होता है, कहीं स्त्री का वर्णन नही होता है। गाथा आदि राजा की स्तुतियों अथवा गुण-कीर्त्तन से निबद्ध होती है। गायन सहोक्ति और युक्तोदात्त से विभूषित होता है। यह ब्रह्मा, रुद्र, इन्द्र स्कन्द आदि की स्तुतियों से निबद्ध होता है। पाँच या तीन-चार वितालों से युक्त होता है। सात विश्रामों से युक्त होता है तथा बीच में कही-कहीं अर्धोद्ग्राह आदि की संख्या निश्चित रहती है। पंचम परिवर्त में सम विश्रामों से विभूषित होता है। कहीं गाथा, मात्रा, द्विपथक पाठ से अलंकृत होता है। प्रथम विश्राम में वर्ण या मत्तपाली, भग्नताल के अनन्तर गाथा, अनुभग्न ताल या मात्रा होती है और भग्नताल रहता है। द्वितीय विश्राम में गाथा, द्विपयक तथा वसन्तक का प्रयोग होता है। तृतीय में विषम से छिन्न मात्रा, भग्नताल, रथ्या तथा मागधी होता है। चतुर्थ विश्राम में रथ्या, द्विपथक और रथ्या के साथ वसन्तक ताल का

द्विपथो विषमश्चापि विश्रामे पञ्चमे स्मृताः ॥

षष्ठेऽथ रथ्यातालश्च नवतालं ततः परम् ।

भग्नतालो द्विपथकस्तथा मार्गणिकाऽपि च ॥

विश्रामे सप्तमे रथ्या भग्नतालश्च कल्प्यते ।

एवं क्रमः शुद्धभाणे नाट्यविद्भिरुदाहृतः ॥

२४ भाणः शुद्धो भवेच्छुद्धभाषया कल्पितो यदि ।

भाणः सङ्कीर्णनामा स्याद्भाषासङ्करकल्पितः ॥

भाणश्चित्र इति ख्यातः सर्वभाषाविचित्रितः ।

उक्ततालक्रमाश्लिष्टः शुद्धभाण इति स्मृतः ॥

द्वयोस्त्रयाणां तालानां सङ्कीर्णः सङ्करोद्भवः ।

चित्रो भाणो भवेदुक्ततालक्रमविवर्जितः ॥

यस्मिन्नौद्धत्यमर्थानां स भाणस्तूद्धतो भवेत् ।

लालित्यं यत्र चार्थानां स भाणो ललितः स्मृतः ॥

यत्र लालित्यमौद्धत्यं स भाणो ललितोद्धतः ।

चित्रं यदभिधेयं स्याद्दुष्करं चोद्धतं च यत् ॥

भाणेऽभिधेयं तद्युक्तमनुतालैर्वितालकैः ।

---

यथाक्रम प्रवेश होता है। पंचम में रथ्या, भग्नताल, मार्गणिका, विषम द्विपथ होता है। षष्ठ में रथ्याताल और नवताल तदनन्तर भग्नताल, द्विपथक तथा मार्गणिका का प्रयोग होता है। सप्तम विश्राम में रथ्या और भग्नताल होता है। शुद्ध-भाण में यही क्रम नाट्यविदों ने बताया है।

२४ शुद्ध भाषा से कल्पित 'शुद्ध' भाण होता है, मिश्रित भाषा से कल्पित 'संकीर्ण' भाण होता है तथा सभी भाषाओं से चित्रित 'चित्र' भाण होता है। इनमें से जो उक्त प्रकार के तालक्रमों से युक्त होता है, वह 'शुद्ध' भाण है। और जो दो अथवा तीन तालों से मिला हुआ होता है, उसे 'संकीर्ण' भाण कहते हैं। तथा जो उक्त-ताल क्रम से रहित होता है, वह 'चित्र' भाण होता है। जहाँ पर अर्थ उद्धत हों, वह भाण 'उद्धत' होता है। अर्थ ललित हो तो वह भाण 'ललित' होता है तथा जहाँ अर्थ ललित और उद्धत हो, वह भाण 'ललितोद्धत' होता है। जहाँ पर अभिधेय दुष्कर एवं उद्धत हो, उसे 'चित्र' कहते है। भाण में वह अभिधेय अनुताल तथा विताल से युक्त होता है।

२५ यद्रूपकविशेषस्य भाणस्योक्तं स्वलक्षणम् ॥
अतिदेश्यमिहानुक्तमङ्कसन्ध्यादिकल्पनम् ।
भाणो यो नन्दिमाल्याख्यः सोऽन्तर्भूतोऽत्र लक्ष्यते ॥
पाठ्ये गीते क्रियायां यदुद्दिश्याकाशपूरुषम् ।
विशिष्टोद्भाव्यभावात्मा प्रयोगो यत्र दृश्यते ।
भाणः स नन्दिमालीति नाम्ना कविभिरुच्यते ॥

भाणिका

२६ प्रायो हरिचरितमिति स्वीकृतगाथादिवर्णमात्रश्च ।
सुकुमारतः प्रयोगाद्भाणोऽपि च भाणिका भवति ॥
दिव्याभिश्चारीभिर्विवर्जिता ललितकरणसंयुक्ता ।
तालान्तरालनृत्ता क्वचिदपि रथ्यादिसङ्कुलिता ।
अर्धोद्ग्राहनिवारणगायनवसन्तमत्तपालीभिः ।
विश्रामैश्च विहीना स्त्रीयोज्या वर्जितोत्तालैः ॥
वस्तूनि भाणिकायां नव दश वा नियमतो विधीयन्ते ।
नवमादिपञ्चमेषु स्थानेषु च भग्नतालः स्यात् ।
स्थानान्तरेषु तस्या लयका(ता)लो यदृच्छया क्रियते ।
विविधवचोविन्यासैः सभ्यजनोत्साहसम्पत्तिः ।
लास्याङ्गसन्धिनियमो भाणवदेवात्र भाणिकायां स्यात् ॥
अथ भाण्यङ्गिश्शृङ्गारा श्लक्षणनैपथ्यनायिका ।

---

२५ जिस रूपक-विशेष भाण का अपना लक्षण कहा गया है, यहाँ अतिदेश के कारण उसके अंक, सन्धि आदि को नहीं कहा गया है। जो 'नन्दिमाली' नाम का भाण है, उसका अन्तर्भाव यहाँ कहते हैं। पाठ्य, गीत, क्रिया में जो आकाश पुरुष के उद्देश्य से विशिष्ट-उद्भाव्य-भाव-रूप प्रयोग जहाँ देखा जाता है, उसे कविजन 'नन्दिमाली' नाम से भाण कहते हैं।

(भाणिका)

२६ प्रायः विष्णु (हरि) के चरित से युक्त तथा स्वीकृत गाथा आदि वर्ण और मात्राओं वाला भाण भी सुकुमार-प्रयोग को दिखाने के कारण 'भाणिका' कहलाता है।[८] यह (भाणिका) दिव्यचारियों से रहित तथा ललित करणों से युक्त होती है। यह ताल के मध्य (अन्तराल) नृत्यपाली, कहीं रथ्या आदि से युक्त होती है। यह अर्धोद्ग्राह-निवारण गायन, वसन्तक तथा मत्तपाली, विश्रामों से रहित होती है। इसमें स्त्री-पात्र रहते हैं तथा ताल नहीं होता है। भाणिका में नौ या दस वस्तुएँ नियम से होती है। नवम आदि पंचम स्थानों

गर्भावमर्शहीना च मुखादित्रयभूषिता ।।
स्वल्पवृत्तप्रबन्धा च पीठमर्दविटान्विता ।
विदूषकेण सहिता दशलास्यसमन्विता ।
पाञ्चालरीतिनियता भवेद्वीणावती यथा ।।

### प्रस्थानम्

२७ प्रस्थानं कैशिकीवृत्तियुतं हीनोपनायकम् ।
आपानकेलिललितं लयतालकलानुगम् ।।
दासादिनायकं द्व्यङ्कं विटचेटादिनायकम् ।
मुखनिर्वहणोपेतं शृङ्गारतिलकं यथा ।।

### काव्यम्

२८ काव्यं सहास्यशृङ्गारं सर्ववृत्तिसमन्वितम् ।
सभग्नतालद्विपदीखण्डमात्रापरिष्कृतम् ।।
गर्भावमर्शसन्धिभ्यां हीनमेकाङ्कमेव च ।
क्वचिल्लास्ययुतं वा स्याद्विटचेटीसमन्वितम् ।।

---

में भग्नताल होता है । स्थानान्तरों में उसका लय, ताल स्वेच्छा से किया जाता है । यह विविध वाक्य-विन्यास से युक्त होती है तथा सभ्यजन के उत्साह से युक्त होती है ।[९] भाणिका में भाण की तरह ही लास्यांग तथा सन्धियाँ रहती हैं । भाणिका में शृंगार अंगी-रस होता है, सुन्दरनेपथ्य से विभूषित नायिका होती है । इसमें गर्भ तथा अवमर्श के अतिरिक्त मुख, प्रतिमुख तथा निर्वहण— ये तीन सन्धियाँ पायी जाती है । यह अल्प-वृत्त (कथा) वाली होती है तथा इसमें विदूषक सहित पीठमर्द तथा विट पात्र होते है । इसमें दस लास्यांग होते है । यह पांचाली रीति से युक्त होती है; उदाहरणार्थ—वीणावती ।

### (प्रस्थान)

२७ प्रस्थान में कैशिकी वृत्ति होती है तथा हीन उपनायक होता है । यह सुरापान की केलिक्रीड़ा से युक्त होता है तथा इसमें लय, ताल आदि कलाएँ खूब होती हैं । इसमें दास आदि प्रकृति का नायक होता है तथा दो अंक होते हैं । इसमें विट, चेट आदि नायक होते हैं । यह मुख तथा निर्वहण सन्धियों से युक्त होता है; उदाहरणार्थ—शृंगार-तिलक ।[१०]

### (काव्य)

२८ काव्य में हास्य तथा शृंगार-रस होता है तथा सभी वृत्तियाँ पायी जाती हैं । यह भग्नताल, द्विपादिका तथा खण्डमात्रा नामक गीतों से पूर्ण होता है । इसमें गर्भ तथा अवमर्श सन्धियाँ नहीं रहती हैं अन्य तीन सन्धियाँ रहती हैं । यह एक अंक वाला होता है । इसमें कहीं लास्य (नृत्य) पाया जाता है । यह विट, चेटी से युक्त होता है । इसकी नायिका कुलांगना होती है तथा नायक ललित

कुलाङ्गनावेशयुतं ललितोदात्तनायकम् ।
एवं प्रकल्पयेत्काव्यं तद्गौडविजयो यथा ॥
२९ विप्रामात्यवणिक्पुत्रनायिकानायकोज्ज्वलम् ।
मुदितप्रमदाभाषाचेष्टितैरन्तराऽन्तरा ॥
ग्रथितं विटचेटादिवेषभाषाभिरेव वा ।
एवं वा कल्पयेत्काव्यं यथा सुग्रीवकेलनम् ॥

प्रेक्षणकम्

३० पदार्थाभिनयं यस्य ललितञ्च लयान्वितम् ।
कुरुते नर्तकी यत्र सोऽपि नर्तनकः पुनः ॥
लास्यं द्विधा स्याच्छलिकं समरथ्यासमन्वितम् ।
सुतालचतुरश्राभ्यां यत्र कर्तुं प्रवर्तते ॥
गर्भावमर्शरहितं सर्ववृत्तिसमन्वितम् ।
प्रभूतमागधीशौरसेनीकं रसभावयुक् ॥
द्विसन्धीति वदन्त्येतदुत्तमाधमनायकम् ।
भारत्यारभटीयुक्तं क्वचित्स्यात्तस्य सात्त्वती ॥
यथा वालिवधाख्यश्च नृसिंहविजयो यथा ।
पूर्णनेपथ्यपाठैर्वा नान्दी तस्य विधीयते ॥

---

और उदात्त प्रकृति का होता है । इस प्रकार काव्य की कल्पना करनी चाहिए; उदाहरणार्थ—'गौडविजय' ।

२९ काव्य में विप्र, अमात्य तथा वणिक्-उत्पन्न पुत्र व पुत्री, नायक व नायिका होते हैं । बीच-बीच में यह काव्य मुदित प्रमदा की भाषा व चेष्टाओं से युक्त होता है । या विट, चेट आदि के वेष तथा भाषा से युक्त होता है । इस प्रकार काव्य की कल्पना करनी चाहिए; उदाहरणार्थ—'सुग्रीवकेलनम्' ।

(प्रेक्षणक)

३० जहाँ नर्तकी सुन्दर लय के साथ जिसके पदार्थों का अभिनय करती है, उसे 'नर्तनक' कहते है। पुनः नर्तनक उसे कहते है जहाँ छलिक[११] और समरथ्या से युक्त दो प्रकार का लास्य होता है और क्रमशः सुताल तथा चतुरश्र ताल का प्रवर्त्तन होता है । इसमें गर्भ और अवमर्श सन्धि के अतिरिक्त अन्य तीन सन्धियाँ रहती है, तथा इसमें सभी वृत्तियाँ पायी जाती है। इसमें मागधी और शौरसेनी भाषा का बहुत प्रयोग होता है तथा यह रस और भाव से युक्त होता है। इसमे दो सन्धियाँ रहती हैं। इसका नायक उत्तम तथा अधम प्रकृति का होता है। इसमें भारती और आरभटी वृत्तियाँ पायी जाती हैं, कहीं सात्त्वती-वृत्ति भी पायी जाती है। उदाहरणार्थ—बालिवध और नृसिहविजय । इसमें पूर्ण

क्वचिद्गर्भावमर्शौ स्तः क्वचिद्वृत्तिचतुष्टयम् ।
क्वचिन्नेपथ्यवाक्याढ्यं न कदाचनसूत्रधृत् ।।
एवं प्रेक्षणकं विद्याद्यथा त्रिपुरमर्दनम् ।

नाट्य रासकम्

३१ षोडश द्वादशाष्टौ वा यस्मिन्नृत्यन्ति नायिकाः ।।
पिण्डीबन्धादिविन्यासै रासकं तदुदाहृतम् ।
३२ पिण्डनात्तु भवेत्पिण्डी गुम्फनाच्छृङ्खला भवेत् ।।
भेदनाद्भेद्यको जातो लता जालोपनाहृतः ।
३३ एते नृत्तात्मना कार्या नाट्यवन्तः क्रियाविधौ ।।
सुकुमारोद्धतैरङ्गैर्गायिकाभिर्विलक्षणाः ।
वाक्यस्या(नाट्यस्या)वधयो ह्येते पिण्डाद्या दृश्यजातयः ।।
नवभेदा विधीयन्ते ह्यनुकार्यानुरागिणः ।
३४ कामिनीभिर्भुवो भर्तुः चेष्टितं यत्र नृत्यते ।।
रागाद्वसन्तमालोक्य स ज्ञेयो नाट्यरासकः ।
चर्चरीमिति ताम्प्राहुर्वर्णतालेन तत्र तु ।।
प्रविशेत्कामिनीयुग्मं समचर्यादिशिक्षितम् ।

---

नेपथ्य-पाठ या नान्दी का विधान किया जाता है । कहीं इसमें गर्भ तथा अवमर्श सन्धियाँ रहती हैं, कहीं चारों वृत्तियाँ पायी जाती हैं । कहीं नेपथ्य-वाक्य का प्रयोग होता है । इसमें सूत्रधार कभी नहीं रहता है । इस प्रकार के लक्षण से प्रेक्षणक जाना जाता है; उदाहरणार्थ—त्रिपुरमर्दनम् ।[12]

(नाट्यरासक)

३१ जिसमें सोलह, बारह या आठ स्त्रियाँ (नायिकाएँ) पिण्डीबन्ध आदि की रचना द्वारा नृत्य करती हैं, उसे 'रासक' कहा जाता है ।[13]

३२ (नृत्य करनेवालियों के) एक साथ इकट्ठे हो जाने को 'पिण्डी' कहते हैं । एक-दूसरे के साथ गुँथ कर नृत्य करना 'शृंखला' कहलाती है । जिसमें नर्तकियाँ एक-दूसरे से पृथक् हो जायें, उसे 'भेद्यक' कहते हैं । परस्पर जाल जैसा गूँथा होने से जो नृत्य होता है, उसे 'लता' कहते हैं ।[14]

३३ सुकुमार और उद्धत अंगों वाली गायिकाओं से विलक्षण क्रियाविधि में नृत्त रूप से इनको नाट्य वाला बनाना चाहिए । ये पिण्डादि दृश्य-जातियाँ नाट्य की अवधि मानी जाती हैं । अनुकार्य का अनुराग रखने वाले नौ भेद किये जाते हैं ।

३४ बसन्त (ऋतु) को देखकर रागादि से स्त्रियों द्वारा राजाओं की चेष्टा का नृत्य किया जाता है, उसे 'नाट्य-रासक' कहते हैं ।[15] वर्ण और ताल के द्वारा सम-चर्या से शिक्षित, वामसंचार और दक्षिण-संचार वाले अंगों से परिष्कृत उन-उन कामिनी-युगलों का जहाँ प्रवेश कराते हैं, उसे 'चर्चरी' कहते है । उसी को

वामदक्षिणसञ्चारैरङ्गैस्तत्तत्परिष्कृतम् ॥
ततस्तदेव वर्णान्त आलीढद्वयसंस्थितम् ।
चोलिकाभिद्रुतं तालं वादकानां प्रदर्शयेत् ॥
पञ्चघातकसंज्ञार्थजनस्तस्मात्प्रवर्तते ? ।
३५ नृत्तेन विभजेत्खण्डैः चतुर्भिस्त्रिभिरेव वा ॥
अन्योन्याङ्गिकसञ्चारैर्हस्ततालैर्मिथः कृतैः ।
परिक्रम्य च निष्क्रामेत्ततोऽन्यद्वितयं विशेत् ॥
एककालस्तु निःसन्धिः प्रवेशो निर्गमस्तयोः ।
पुष्पाञ्जलिप्रयोगन्तु मात्रातालेन योजयेत् ॥
उभयोः पात्रयोः पश्चात्पात्राणि प्रविशन्ति हि ।
बद्धापणवतालेन रथ्यावर्णादिवर्णकैः ॥
शुष्कगीतप्रयोगेण ततो गायन्ति गायकाः ।
लताभिर्भेद्यकैः गुल्मैर्नानावृत्तप्रदर्शकैः ॥
पात्रैश्चैकत्र संयुक्तं पिण्डीबन्धन्तु कारयेत् ।
ततो मल्लाभिधं तालं शुष्कवर्णप्रयोगतः ॥
मुरजाक्षरवाद्यन्तु हन्याद्दण्डद्विदण्डकैः ।
एवं नृत्तक्रमेणाद्यो ह्यपसारः समाप्यते ॥
अपसारत्रयं चान्यदेवमेव प्रकल्पयेत् ।
तत्रापि पूर्ववन्नृत्तं कामतस्तु लयक्रमः ॥
कथयेद्रासकस्यान्ते शुभार्थं वचनक्रमम् ॥

---

'वर्णान्त' कहते है जिसमे आलीढ़ नामक दो राग मिला रहता है और चोलिका से अभिद्रुत वादकों के ताल का प्रदर्शन होता है। इसीलिए 'पंचघातक' संज्ञा के लिए प्रवृत्त होता है (?) ।

३५ नृत्य के द्वारा तीन या चार खण्डों में बँट जाना चाहिए। अन्योन्य के आंगिक संचार से और पारस्परिक किये हुए हस्त-ताल से परिक्रमा करते हुए बाहर निकलना चाहिए। तदनन्तर दूसरे युग्म को प्रवेश करना चाहिए। एक समय उन दोनों का मिलना, प्रवेश करना तथा निकलना होना चाहिए। मात्रा और ताल के साथ पुष्पांजलि का प्रयोग करना चाहिए। दोनों पात्रों के बाद अन्य पात्र प्रवेश करते है। तदनन्तर गायक बद्धापणव ताल, रथ्या-वर्ण आदि वर्णक तथा शुष्क गीत के प्रयोग के साथ गान करते हैं। पुनः लता, भेद्यक, गुल्म, नाना प्रकार के नृत्य-प्रदर्शक-पात्रों को एक स्थान पर इकट्ठा करके पिण्डीबन्ध नृत्य का प्रयोग कराना चाहिए। तदनन्तर शुष्कवर्ण के प्रयोग से 'मल्ल' नामक ताल का प्रयोग करना चाहिए। मुरजाक्षर वाद्य को दण्ड और दो दण्डकों से बजाना चाहिए। इस प्रकार नृत्य के क्रम से सर्वप्रथम अपसार समाप्त किया जाता है। यह अपसार तीन प्रकार का होता है, इसे अन्यत्र ही देख लेना चाहिए। वहीं पूर्ववत् नृत्य तथा कामतः (इच्छानुसार) लयक्रम जानना चाहिए। रासक के अन्त मे शुभ-प्रयोजन के लिए मंगलाचरण करना चाहिए।

३६ लब्ध्वा दुग्धमहोदधौ सुरगणैः पीत्वाऽमृतं यस्तदा
पिण्डीशृङ्खलिकाविशेषविहितो युक्तो लताभेद्यकैः ।
चित्रातोद्यविचित्रतैर्लययुतो भेदद्वयालङ्कृतः
चारीखण्डसुमण्डलैरनुगतः सोऽयं मतो रासकः ॥

रासकम्

३७ प्रथमानुरागजनितप्रवासशृङ्गारसंश्रयं यत्स्यात् ।
प्रावृड्वसन्तवर्णनपरमन्यद्वापि सोत्कण्ठम् ॥
अन्ते वीररसाढ्यं निबद्धमेतच्चतुर्भिरपसारैः ।
मुखनिर्वहणसमेतं प्रस्थानं भवति चैकाङ्कम् ॥

३८ आक्षिप्तिकाल्पवर्णो मात्राध्रुवकोऽथ भग्नतालश्च ।
वर्धनिका च ध्वनिका यत्तत्स्यात्तदिह काव्यमिति ॥

३९ युक्तं लयान्तरैरच्छध्वनिकास्थाननिर्मितैर्भवति ।
काव्यं विचित्ररागं चित्रमिति तदुच्यते कविभिः ॥

४० छन्नानुरागयुक्ताभिरुक्तिभिर्यत्र भूपतेः ।
आवर्ज्यते मनः सा तु मसृणा डोम्बिका मता ॥

---

३६ क्षीरसागर में देवताओं ने अमृत को प्राप्त करके और पी करके पिण्डी और शृखला विशेष से किया हुआ और लता तथा भेद्यक (नृत्यों) से युक्त, चित्र-आतोद्य से विचित्रित, लयों से युक्त, दो भेद से अलंकृत तथा चारी, खण्ड और मण्डल से जिसका अनुगमन किया था, वह 'रासक' माना जाता है।[१६]

(रासक)

३७ जो प्रथम अनुराग से उत्पन्न प्रवास और शृंगार-रस के आश्रित होता है तथा वर्षा और वसन्त के वर्णन अथवा और भी उत्कण्ठा-प्रदर्शक सामग्री से परिपूर्ण होता है। जिसके अन्त में वीर-रस रहता है। जो चार अपसारों से निबद्ध होता है। जिसमें मुख तथा निर्वहण सन्धियाँ रहती हैं तथा एक अंक होता है, वह 'प्रस्थान' होता है।[१७]

३८ जिसमें आक्षिप्तिका, अल्पवर्ण, मात्रा, ध्रुव, भग्नताल, वर्धनिका और ध्वनिका हो, उसे 'काव्य' कहते है।[१८]

३९ जो विभिन्न लय से युक्त तथा शुद्ध ध्वनिका-स्थान से निर्मित होता है, वह कविजनों द्वारा विचित्रराग वाला चित्र 'काव्य' कहलाता है।[१९]

४० जिसमें छन्नानुराग-गर्भक युक्तियों से राजा के मन को खिन्न किया जाता है, उसे कोमल (मसृणा) 'डौम्बिका' कहते हैं।

४१ नृसिंहसूकरादीनां वर्णना कल्प्यते यतः ।
नर्तकी(नृत्तगी)तेन भाणः स्याद‌ुद्धताङ्गप्रवर्तितः ॥
४२ गजादीनां गतिं तुल्यां कृत्वा प्रवसनं तथा ।
अल्पाविद्धं सुमसृणं तत्प्रस्थानं प्रचक्षते ॥
४३ सख्याः समक्षं पत्युर्यदुद्धतं वृत्तमुच्यते ।
मसृणं तु क्वचिद्धूर्तचरितं शिल्पकस्तु सः ॥
४४ बालक्रीडानियुद्धानि तथा सूकरसिंहजा ।
धवलादि(ध्वजादिना)कृता क्रीडा यत्र सा भाणिका स्मृता ॥
आढ्यप्रायं प्रेक्षणकं स्यात्प्रहेलिकयाऽन्वितम् ।
ऋतुवर्णनसंयुक्तं रामाक्रीडन्तु भाष्यते ॥
४५ मण्डलेन तु यन्नृत्तं तद्रासकमिति स्मृतम् ।
एककस्तस्य नेता स्याद्गोपस्त्रीणां यथा हरिः ॥
४६ अनेकनर्तकीयोज्यं चित्रताललयान्वितम् ।
आचतुष्षष्टियुगलाद्रासकं मसृणोद्धतम् ॥

---

४१ जिससे नृसिंह, सूकर आदि के वर्णन की कल्पना की जाती है, नर्तकी के नृत्य तथा गीत के द्वारा उद्धतांग से प्रवर्तित 'भाण' कहलाता है।

४२ गज आदि की गति के समान मन्द-मन्द सुमनोहर चाल चलना ही 'प्रस्थान' कहलाता है।

४३ सखी के समक्ष पति के जो उद्धत-चरित्र को कहा जाता है, कहीं कोमल या मनोहर धूर्त-चरित्र को कहा जाता है, उसे 'शिल्पक' कहते हैं।

४४ बालक्रीडा व बाल-युद्ध सूकर, सिंह-गत धवल आदि (ध्वजादि) से की गई क्रीडा जिसमें होती है, वह 'भाणिका' कहलाती है। प्रहेलिका से युक्त आढ्य-प्राय: 'प्रेक्षणक' कहा जाता है। ऋतु-वर्णन से युक्त 'आराम-क्रीडा' कही जाती है।

४५ मण्डल रूप में जो नृत्य होता है, वह 'रासक' कहा जाता है। उसका नायक (नेता) एक होता है; जैसे—गोपस्त्रियों अर्थात् गोपियों के नायक हरि (श्रीकृष्ण)[२०]।

४६ अनेक नर्तकियों से युक्त, चित्र-ताल तथा लय से युक्त चौसठ युगल-रूप तक मसृणोद्धत 'रासक' होता है।

उल्लोप्यकम्

४७ उल्लोप्यकं स्यादेकाङ्कमवमर्शविनाकृतम् ।
निष्प्रवृत्तिविधानञ्च शिल्पकाङ्गविभूषितम् ॥
हास्यशृङ्गारकारुण्ययुक्तमुज्ज्वलवेषवत् ।
बहुपुस्तं च चतुरोज्ज्वलनायकनायिकम् ॥
यथा देवीमहादेवं यथा चोदात्तकुञ्जरम् ।
४८ यस्मिन्नुल्लोप्यकं नाम त्र्यङ्गं गीतं प्रवर्तते ॥
तल्लक्षणं च गान्धर्वनिर्णये स्पष्टमीरितम् ।

हल्लीसम्

४९ अथ हल्लीसकं सप्तनवाष्टदशनायिकम् ॥
सानुदात्तोक्ति चैकाङ्कं कैशिकीवृत्तिभूषितम् ।
एकाङ्कं वा भवेद्द्व्यङ्कं विमर्शमुखसन्धिमत् ॥
सगेयलास्यं यतिमत्खण्डताललयान्वितम् ।
एकविश्रामसहितं यथा स्यात्केलिरैवतम् ॥
५० ललिता दक्षिणाः ख्याता नायकाः पञ्चषा अपि ।
विप्रक्षत्रवणिक्पुत्रास्सचिवायत्तसिद्धयः ॥
द्व्यङ्के मुखावमर्शौ स्त एकाङ्के गर्भनिर्गमः ।

---

(उल्लोप्यक)

४७ जिसमें एक अंक हो, जो अवमर्श-सन्धि से रहित हो और जिसमें निष्प्रवृत्ति-विधान हो । जिसमें शिल्पक (उपरूपक) के अंग हों तथा हास्य, शृंगार और करुणरस हों, उसे 'उल्लोप्यक' कहते हैं । इसमें पात्रों की चमकीली (उज्ज्वल) वेशभूषा रखी जाती है तथा अनेक पुस्तकर्म (मुखोटे तथा पलस्तर से तैयार वस्तुओं) का उपयोग किया जाता है । इसकी चतुर तथा उज्ज्वल नायक व नायिका होती है । उदाहरण के लिए—देवी-महादेव तथा उदात्तकुञ्जर ।

४८ जिसमें उल्लोप्यक नामक तीन अंग वाला गीत प्रवृत्त होता है, उसका लक्षण 'गान्धर्व-निर्णय' में स्पष्ट कहा है ।

(हल्लीस)[२१]

४९ हल्लीसक में सात, आठ, नौ या दस स्त्रियाँ (नायिकायें) रहती है । यह अनुदात्त उक्ति से युक्त होता है, इसमें एक अंक होता है तथा कैशिकी-वृत्ति पायी जाती है । इसमें एक या दो अंक होते हैं तथा विमर्श और मुख सन्धियाँ रहती है । इसमें गाने के साथ लास्य (नृत्य), यति, खण्ड-ताल, लय तथा एक विश्राम होता है; जैसे—केलिरैवत ।

५० इसमें ललित, दक्षिण, प्रसिद्ध पाँच छै नायक होते हैं जो ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य-पुत्र होते है तथा इसके कार्यो की सिद्धि मन्त्री के अधीन होती है । इसके द्वितीय अंक में मुख और अवमर्श सन्धियाँ रहती हैं, प्रथय अंक गर्भ-सन्धि से रहित होता है ।

## दुर्मल्लिका

५१ अथ दुर्मल्लिका नाम प्रौढनागरनायिका ।।
चतुरङ्का चतुस्सन्धिर्गर्भसन्धिविनाकृता ।
विटो विलसति स्वैरं प्रथमाङ्केऽत्र (त्रि)नाडिकाः ।।
विदूषको द्वितीयेऽङ्के विलसत्पञ्चनाडिकः ।
पीठमर्दो विहरति तृतीये सप्त नाडिकाः ।
विटादित्रितयक्रीडा चतुर्थे दश नाडिकः ।

५२ चौर्यरतिं प्रतिभेदं यूनोरनुरागवर्णनं क्वापि ।
यत्र ग्राम्यकथाभिः कुरुते किल दूतिका रहसि ।।
मन्त्रयति च तद्विषयन्यग्जातित्वेन याचते च वसु ।
लब्ध्वापि लब्धुमिच्छति या सा दुर्मल्लिका नाम्ना ।।
एनां दुर्मल्लिकामन्ये प्राहुर्मत्तल्लिकामिति ।।

५३ यस्यामुद्भाव्यः स्यात्पुरोहितामात्यतापसादीनाम् ।
प्रारब्धानिर्वाहः सापि च मत्तल्लिका भवति ।।
क्षुद्रकथा मत्तल्लिका येह महाराष्ट्रभाषया भवति ।
गोरोचने च कार्याऽनङ्गवती भावरसविद्या ।।

---

(दुर्मल्लिका)

५१ दुर्मल्लिका की प्रौढ़ और चतुर (नागर) नायिका होती है। इसमें चार अंक होते हैं। गर्भ सन्धि के अतिरिक्त चार सन्धियाँ होती हैं। प्रथम अंक तीन नाडिका (६ घड़ी) का तथा विट की क्रीडा से पूर्ण होता है। द्वितीय अंक पाँच[२२] नाडिका (१० घड़ी) का और विदूषक की क्रीडा से युक्त होता है। तृतीय अंक सात नाडिका का और पीठमर्द के विलास से युक्त होता है। चतुर्थ अंक दस नाडिका (२० घडी) का होता है, इसमें विटादि की तीन गुनी क्रीड़ा होती है।

५२ जिसमें कोई दूती एकान्त में ग्राम्य (अश्लील) कथाओं द्वारा कहीं युवक और युवतियों के प्रेम का वर्णन और उनके चौर्यरत का प्रकाशन करती है। उसके विषय में सलाह करती है, नीच जाति की होने से धन माँगती है। धन के मिल जाने पर भी और अधिक धन चाहती है, उसको 'दुर्मल्लिका' नाम से जाना जाता है।[२३] इस दुर्मल्लिका को दूसरे कोई 'मतल्लिका' कहते हैं।

५३ जिसमें पुरोहित, अमात्य तथा तापस (तपस्वी) आदि के उद्‌भाव्य प्रारब्धका निर्वाह न हो, उसे 'मत्तल्लिका' कहते हैं। जिसमें महाराष्ट्र-भाषा (प्राकृत-भाषा) में क्षुद्रकथा वर्णित हो, उसे 'मत्तल्लिका' कहते हैं और इसमें गौरोचन पर भाव और रस को जानने वाली अनंगवती करनी चाहिए।[२४]

## मल्लिका

५४ मल्लिका भोगश्रृङ्गारकैशिकीवृत्तिमन्थरा ।
एकद्वयङ्कक्रमाश्लिष्टविदूषकविटक्रिया ।।
गाथाद्विपथकोपेता रथ्यावासकतालयुक् ।
अनालक्ष्यकथा पूर्वं पश्चादालक्ष्यवस्तुका ।
गर्भावमर्शहीना च सन्धित्रयसमन्विता ।।
मणिकुल्यायां जलमिव न लक्ष्यते यत्र पूर्वतो वस्तु ।
पश्चात्प्रकाशते या सा मणिकुल्यापि मल्लिका ज्ञेया ।

## कल्पवल्ली

५५ कल्पवल्ली भवेद्धास्याश्रृङ्गाररसभावयुक् ।
उदात्तनायकोपेता पीठमर्दोपनायका ।।
अस्यां वासकसज्जा स्यान्नायिकाऽथाभिसारिका ।
द्विपदीखण्डगेयाढ्या रथ्यावासकतालयुक् ।।
लयत्रययुता लास्यदशकेन समन्विता ।
ईदृशी कल्पवल्ली स्याद्यथा माणिक्यवल्लिका ।
मुखसन्धिप्रतिमुखसन्धिनिर्वहणैर्युता ।
उदात्तवर्णनोत्कर्षा ललितोदात्तनायका ।।

---

(मल्लिका)

५४ मल्लिका का सम्भोग-श्रृगार अंगी-रस होता है, इसमे कैशिकी वृत्ति पायी जाती है। यह एक या दो अंक वाली होती है तथा विदूषक और विट की क्रीडा से युक्त होती है। यह गाथा (छन्द), द्विपथक (संगीत) तथा रथ्या-वासक-ताल से युक्त होती है। इसमें पहले अलक्ष्य कथा रहती है बाद में सलक्ष्य कथा। इसमें गर्भ और अवमर्श के अतिरिक्त तीन सन्धियाँ रहती हैं। जिसमे मणिमुल्या (मणिनदी) में रहने वाले जल की तरह पूर्ववस्तु दिखायी नहीं पड़ती है बाद में दिखायी पड़ती है, उस मणिकुल्या को 'मल्लिका' जानना चाहिए।[२५]

(कल्पवल्ली)

५५ कल्पवल्ली हास्य तथा श्रृंगार-रस और भाव से युक्त होती है। इसका उदात्त नायक होता है और पीठमर्द उपनायक होता है। इसमें वासकसज्जा या अभिसारिका नायिका होती है। यह द्विपदी, खण्डगीत, रथ्यावासकताल, तीन प्रकार के लय तथा दस प्रकार के लास्य से युक्त होती है। इस प्रकार की यह 'कल्पवल्ली' होती है। उदाहरण के लिए—'माणिक्यवल्लिका'। मुख, प्रति-मुख तथा निर्वहण सन्धियों से युक्त, उदात्त वर्णन से उत्कृष्ट तथा ललित और उदात्त नायकवाली 'कल्पवल्ली' कहलाती है।

## पारिजातकम्

५६ पारिजातलतैकाङ्कमुखनिर्वहणान्विता ।
वर्णमात्राखण्डतालवती गाथासमन्विता ॥
वीरशृङ्गारभूयिष्ठा देवक्षत्रादिनायका ।
कलहान्तरितावस्थानायिकोदात्तनायका ॥
अथवा भोगिनीस्वीयागणिकानायिकान्विता ।
ताः स्युरष्टौ चतस्रः स्युर्दण्डरासकनर्तनाः (?) ॥
सापसार त्रया चित्रकथागेयसमन्विता ।
क्वचिद्विदूषकक्रीडापरिहासमनोहरा ॥
पारिजातलता सेयं यथा गङ्गातरङ्गिका ।
पारिजातकमित्येव कैश्चिदेषाऽभिधीयते ॥
५७ सट्टकं नाटिकाभेदो नृत्यभेदात्मकं भवेत् ।
कैशिकीभारतीयुक्तहीनरौद्ररसादिकम् ॥
सर्वसन्धिविहीनं च नाटिकाप्रतिरूपकम् ।
शूरसेनमहाराष्ट्रवाच्यभाषादिकल्पितम् ॥
अङ्कस्थानीयविच्छेदचतुर्यवनिकान्तरम् ।
छादनस्खलनभ्रान्तिनिह्नवादेरसम्भवात् ॥
न वदेत्प्राकृतीं भाषां राजेति कतिचिज्जगुः ।

---

(पारिजातक)

५६ पारिजात-लता एक अंक वाली होती है तथा मुख और निर्वहण सन्धियों से युक्त होती है । यह वर्ण, मात्रा, खण्ड-ताल और गाथा (छन्द) से युक्त होती है । इसके वीर तथा श्रृंगार रस होते हैं तथा देवता और क्षत्रिय नायक होते है । इसकी कलहान्तरिता नायिका, उदात्त नायिका अथवा भोगिनी-स्वीया-गणिका नायिका होती है । ये संख्या में चार या आठ होती हैं जो दण्ड रासक नृत्य करने वाली होती हैं (?) । यह तीन अपसारसहित चित्र-कथा तथा गेय से युक्त होती है । कहीं विदूषक की क्रीड़ा और परिहास से मनोहर होती है । यह परिजात-लता कहलाती है; जैसे—गंग-तरंगिका । कोई इसे 'पारिजातक' ही कहते हैं ।

५७ सट्टक नाटिका का भेद और नृत्य-भेद-रूप होता है । यह कैशिकी तथा भारती वृत्तियों से युक्त होता है तथा रौद्र रसादि से हीन होता है । यह सभी सन्धियों से शून्य होता है और नाटिका का प्रतिरूपक है । इसकी शूरसैनी, महाराष्ट्री वाच्य भाषा होती है । इसमें अंक के स्थान पर चार यवनिका का प्रयोग होता है । छादन, स्खलन, भ्रान्ति, निह्नव आदि की असम्भावना से राजा को प्राकृत-भाषा नही बोलनी चाहिए—ऐसा किसी ने कहा है । राजा

मागध्या शौरसेन्या वा वदेद्राजेति केचन ॥
नाटिकाप्रतिरूपं यद्विशेषो रूपकस्य तत् ।
सट्टकं तेन तस्याहुः भाषां तां प्राकृतीं परे ॥
राजशेखरक्लृप्तं तद्यथा कर्पूरमञ्जरी ।
५८ प्रकारान्तरतो लक्ष्म रासकस्य परे जगुः ॥
अथ रासकमेकाङ्कं सूत्रधारेण वर्जितम् ।
सुश्लिष्टनान्दीयुक्तञ्च पञ्चपात्रं त्रिसन्धिकम् ।
पूर्णं भाषाविभाषाभिः कैशिकीभारतीयुतम् ।
वीथ्यङ्गमण्डितं मुख्यनायकं ख्यातनायिकम् ॥
गर्भविमर्शशून्यं च कलापोद्देशभूषितम् ।
उदात्तभावविन्यासभूषितं सोत्तरोत्तरम् ॥
एवं लक्षणमुद्दिष्टं रासकस्यात्र कैश्चन ।
५९ इति नानामतेनोक्ता नृत्यभेदाः प्रदर्शिताः ॥
वैकल्पिकं लक्ष्म तेषां न क्वचिच्च निषिध्यते ।
यथा नियमिता भाषाः संस्कृताद्याः पुरातनैः ॥
नायिकादिषु पात्रेषु नियमोऽत्र प्रदर्श्यते ।

को मागधी या शौरसैनी भाषा बोलनी चाहिए—ऐसा कोई कहते है। नाटिका का प्रतिरूप और रूपक का जो विशेष-रूप है, वह सट्टक है, उसकी भाषा प्राकृत होनी चाहिए—ऐसा कोई दूसरे कहते हैं। जैसे—राजशेखर विरचित 'कर्पूरमंजरी'।

५८ किन्ही दूसरों ने प्रकारान्तर से रासक का लक्ष्म (लक्षण) कहा है—
रासक एक अंक वाला तथा सूत्रधार से रहित होता है। यह सुश्लिष्ट नान्दी से युक्त होता है, इसमें पाँच पात्र होते है तथा तीन सन्धियाँ रहती हैं। यह भाषा और विभाषाओं से परिपूर्ण होता है। इसमें कैशिकी और भारती वृत्तियाँ पायी जाती हैं। यह वीथ्यगों से युक्त होता है। इसका मुख्य नायक और प्रसिद्ध नायिका होती है। इसमें गर्भ और अवमर्श सन्धियाँ नहीं रहती है तथा यह कलाप के उद्देश्य से पूर्ण होता है। यह उत्तरोत्तर उदात्त भावों की रचना से युक्त होता है। इस प्रकार किसी ने रासक का लक्षण कहा है।

५९ इस प्रकार विभिन्न मतानुसार नृत्य-भेदों को कह दिया। इसके वैकल्पिक लक्षण का कही भी निषेध नहीं किया जाता है। पूर्वाचार्यो ने नायिका आदि पात्रों में संस्कृत आदि भाषाएँ जैसे निश्चित की हैं, यहाँ उनका नियम कहते है।

६० पाठ्यं तु संस्कृतं नृणामनीचानां कृतात्मनाम् ॥
लिङ्गिनीनां महादेव्या मन्त्रिजावेश्ययोः क्वचित् ।
स्त्रीणां तु प्राकृतं प्रायः शौरसेन्यधमेषु च ॥
पिशाचात्यन्तनीचादौ पैशाचं मागधं तथा ।
यद्देश्यं नीचपात्रं स्यात्तद्देश्यं तस्य भाषितम् ॥
कार्यतश्चोत्तमादीनां कार्यो भाषाव्यतिक्रमः ।
परिव्राण्मुण्डशाक्येषु चेष्टे(टे)षु क्षत्रियेषु च ॥
विशिष्टाः परलिङ्गस्थाः संस्कृतं तेषु योजयेत् ।
ऐश्वर्येण प्रमत्तस्य दारिद्र्योपप्लुतस्य च ॥
उत्तमस्यापि पठतः प्राकृतं सम्प्रयोजयेत् ।
अतिरिक्तेषु तत्कार्यं पाठ्यं पुनरुक्तिसंयुक्तम् ॥
राजविप्रविटामात्यसुभटाधीतयोषिताम् ।
नटनर्तकधूर्तानां संस्कृतं पाठ्यमुच्यते ॥
देवदानवगन्धर्वसिद्धनागेशरक्षसाम् ।
कञ्चुकीयप्रतीहारलिङ्गिनीवणिजामपि ॥
विद्याधरीवर्षवरमहादेवीविलासिनाम् ।
योगिनां योगिनीनां च संस्कृतं सम्प्रयोजयेत् ॥
छद्मलिङ्गप्रविष्टानां निर्ग्रन्थानां जटावताम् ।

---

६० उत्तम तथा मध्यम (अनीच) श्रेणी के पण्डित पुरुषों की भाषा नाटकों में संस्कृत होनी चाहिए। कहीं संन्यासिनी, महादेवी, मन्त्रि-कन्या तथा वेश्याओं की भाषा भी संस्कृत होनी चाहिए। उत्तम तथा मध्यम श्रेणी की स्त्रियों की प्रायः प्राकृत-भाषा होती है और अधम श्रेणी की स्त्रियों की भाषा शौर-सैनी होनी चाहिए। पिशाच, अत्यन्त नीच-पात्र आदि की भाषा पैशाची तथा मागधी होती है। जो नीच-पात्र जिस देश का हो उसकी भाषा उस देश की होनी चाहिए। कार्यवश उत्तमादि पुरुषों की भाषा बदल देनी चाहिए। साधु, शाक्यभिक्षु, चेट, क्षत्रिय तथा विशिष्ट संन्यासी (लिंगस्थ) की भाषा संस्कृत होनी चाहिए। जो लोग ऐश्वर्य में मस्त हैं या जो दरिद्रता से उपहत हैं एवं जो उत्तम हैं उनकी भाषा प्राकृत होनी चाहिए। इनके अतिरिक्त की भाषा पुनरुक्ति से युक्त (प्राकृत) होनी चाहिए। राजा, विप्र, विट, अमात्य, सुभट (अच्छे योद्धा), शिक्षित स्त्री, नट, नर्तक तथा धूर्त की भाषा संस्कृत कही जाती है। देव, दानव, गन्धर्व, सिद्ध, नागेश, राक्षस, कंचुकीय, प्रतीहारी, संन्यासिनी, वणिक-कन्या, विद्याधरी, वर्षवर (नपुंसका) महादेवी, विलासिनी,

शाक्यचक्रचराणां च संस्कृतं न प्रयोजयेत् ॥
यो वेषविद्यासमयलिङ्गनिष्णातधीर्भवेत् ।
स चक्रचर इत्युक्तः प्रायो वैतण्डिकोऽपि च ॥
अधमानां कुविद्यानामज्ञानामल्पचेतसाम् ।
क्षुत्पीडाविकलाङ्गानां संस्कृतं न प्रयोजयेत् ॥
६१ भाषा या नायकादीनां तत्तन्नाट्योपयोगिनी ।
परस्परं च वर्ग्याणामाह्वानार्थाऽभिधीयते ॥
६२ नेतुर्या महिषी युक्ता रूपसम्पद्गुणादिभिः ।
तद्भृत्यवनितावर्गैः वक्तव्या भट्टिनीति सा ॥
यदृच्छाधिगमे प्रायः दुर्लभस्यैव वस्तुनः ।
नायिका वृत्तिसन्तोषान्नित्यमंमह इत्यलम् ॥
येन केनापि मान्येन प्राथ्र्यमानस्य वस्तुनः ।
अङ्गीकारेषु वक्तव्यं बाढमित्येव नायकैः ॥
बहुधा चिन्त्यमानस्य दुर्विज्ञेयस्य वस्तुनः ।
सहसा ज्ञानसम्पत्तावा इत्यार्यैर्निगद्यते ॥
कान्तेति नायको ब्रूते दक्षिणः पूर्ववल्लभः ।
शठः स्वस्यानभिप्रेतां प्रियेति वदति स्त्रियम् ॥
सावज्ञमङ्गीकरणे तज्ज्ञैरामेति कथ्यते ।
जातेति पुत्रवात्सल्यान्मात्रा पुत्रोऽभिधीयते ॥

---

योगी तथा योगिनी की भाषा संस्कृत होनी चाहिए।' ढोंगी संन्यासी, जटाधारी बौद्ध-भिक्षु तथा चक्रधारी शाक्य की भाषा संस्कृत नहीं होनी चाहिए। जो वेष, विद्या, संकेत (समय), लिंग के जानने वाले होते है, उन्हें प्रायः चक्रधर कहते हैं और 'वैतण्डिक' भी कहते हैं। अधम श्रेणी के छात्र, कुविद्या जानने वाले, अज्ञानी, अल्पचेतसी (अर्द्धविकसित मन वाले), भूख से व्याकुल तथा विकलांगों की भाषा संस्कृत नहीं होनी चाहिए।[२६]

६१ नायक आदि सभी वर्ग के पात्रों की उस-उस नाट्य की उपयोगी और परस्पर व्यवहार में प्रयोजनीय जो भाषा है, उसे कहते हैं।

६२ नायक की रूप-सम्पत्ति तथा गुण आदि युक्त जो रानी होती है, उसे उसके भृत्य और वनितावर्ग को 'भट्टिनी' कहकर पुकारना चाहिए। प्रायः दुर्लभ वस्तु के अपनी इच्छानुसार प्राप्त होने पर, नायिका वृत्ति के संतोष से नित्य 'अंमह' 'अलं' कहती है। जिस किसी मान्य-व्यक्ति के द्वारा प्राथ्र्यमान वस्तु के अंगीकार कर लेने पर नायक को 'बाढम्' शब्द का प्रयोग करना चाहिए। अर्थात् नायक को 'बाढम्' कहना चाहिए। या फिर अनेक प्रकार से चिन्त्यमान, दुर्विज्ञेय वस्तु का अकस्मात् ज्ञान हो जाने पर आर्य 'बाढम्' कहता है। दक्षिण, पूर्ववल्लभ नायक को 'कान्त' कहकर पुकारा जाता है। शठ अपनी अनभिप्रेता स्त्री को 'प्रिया' कहता है। अवज्ञा सहित अंगीकार करने पर तद्-ज्ञाता 'आम' कहता है। मां पुत्र-वात्सल्य के कारण पुत्र को 'जात' कहकर पुकारती है।

६३ हुमित्यवज्ञाविद्वेषकामचारादिभाषणे ।
हुमित्येवाभिधातव्यं सर्वैरिन्द्रियगोपने ॥
भर्तृमाताऽङ्गनाभिर्वा चेटीभिर्गणिकाऽथवा ।
वार्तासु सर्वदा काममज्जुकेत्यभिधीयते ॥
अभीष्टवस्तुसंसिद्धिविधावन्येन चोदितः ।
प्रथमः कल्प इत्येव प्रवदत्याप्तनायकः ॥
६४ आयुष्मन्निति वक्तव्यो रथी सारथिना सदा ।
समीपावस्थितेष्वेवमनेकेष्वाप्तबन्धुषु ॥
मनसा यन्नरो वक्ति स्वगतं तन्निगद्यते ।
६५ मनस्यवस्थितं कार्यं पुरतः पार्श्ववर्तिनाम् ॥
निश्शङ्कमुच्यते यत्तु तत्प्रकाशं विदुर्बुधाः ।
६६ त्रिपताकं करं कृत्वा यदन्यस्य मनोगतम् ।
अप्रकाशं नरो वक्ति तज्जनान्तिकमुच्यते ।
६७ अप्रत्यक्षेण पात्रेण सह रङ्गस्थितो नरः ॥
यद्वक्त्यभिमुखीकृत्य तदाकाश उदाहृतम् ।
६८ विद्यमानेषु मनसि कार्यजातेष्वनेकधा ॥
तदोपदमित्याहुः प्रधानं यन्मनोषिणः ? ।

---

६३ अवज्ञा, द्वेष, कामचार (स्वेच्छा) आदि से भाषण करने पर 'हुम्' कहना चाहिए। इन्द्रिय-गोपन के समय सभी को 'हुम्' कहना चाहिए। स्त्री अपनी, अपने पति की माता को अथवा चेटी गणिका (वेश्या) को हमेशा बातचीत में 'अज्जुका' शब्द से सम्बोधित करती है। अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति के विषय में कोई उसकी प्राप्ति का उपाय बताता है तो नायक 'प्रथमः कल्पः' 'ठीक विचार है' ऐसा कहता है।

६४ सारथी को हमेशा रथी से आयुष्मन् कहना चाहिए। समीप में बैठे हुए ही अपने अनेक बन्धु-बान्धवों के बीच जो व्यक्ति मन से कुछ कहता है, उसे 'स्वगत' कहते हैं।

६५ मन में अवस्थित किसी कार्य को समीपवर्ती किसी व्यक्ति के सामने निःसंकोच कहा जाता है, उसे विद्वान लोग 'प्रकाश' कहते हैं।

६६ त्रिपताका-कर से किसी अन्य की मनोगत (कथा) को जो व्यक्ति अप्रकाशित ढंग से कहता है, उसे 'जनान्तिक' कहा जाता है।

६७ अप्रत्यक्ष पात्र के साथ रंग-मंच पर स्थित पुरुष (पात्र) अप्रत्यक्ष पात्र को ही अभिमुख करके जो कुछ कहता है, वह 'आकाश' कहा जाता है।

६८ मन में विद्यमान अनेक प्रकार के कार्यों में जो प्रधान होता है, उसे विद्वान लोग 'उपदम्' कहते है (?)।

६९ भयाहङ्कारसम्मानमोहकण्ठग्रहादिषु ॥
हीहीशब्दः प्रयोक्तव्यः चेटचेटीविदूषकैः ।
७० पश्चात्तापप्रवासोर्वीचलनप्राणहानिषु ॥
नायिकाहृदये क्षेपः पुरोभाग इति स्मृतः ।
७१ नियमेनैव वक्तव्या हञ्जेति परिचारिका ॥
गणिकाभिरथाचार्या भीमार्येति निगद्यते ।
नरो (टो) विदूषकप्रायो यो नरः स वधूजनैः ॥
अङ्ग इत्येव वक्तव्यो हीनोऽपि ब्राह्मणो यदि ।
७२ पीठमर्दशठक्रूरधूर्तचेटीविटादिभिः ॥
निन्दायामथवा गर्वे ई शब्दः सम्प्रयुज्यते ।
७३ त्रिविधं ह्यक्षरं काव्ये विज्ञेयं नाटकाश्रयम् ॥
ह्रस्वदीर्घप्लुतं चैव रसभावविभावकम् ।
स्मृते चासूयिते चैव तथा च परिदेविते ॥
पठतां ब्राह्मणानां च प्लुतमक्षरमिष्यते ।
आकारश्च स्मृते कार्यमीकारश्चाप्यसूयिते ॥
परिदेविते च हाकारमोङ्कारोऽध्ययने तथा ।
ह्रस्वदीर्घप्लुतानीह यथाभावं यथारसम् ॥
पाठ्ययोगेषु सर्वेषु ह्यक्षराणि प्रयोजयेत् ।

---

६९ भय, अहंकार, सम्मान, मोह, कण्ठ-ग्रह आदि में चेट, चेटी तथा विदूषक इन सभी को 'ही ही' शब्द का प्रयोग करना चाहिए ।

७० पश्चाताप, प्रवास, पृथ्वी-कम्पन (भू-कम्प) तथा प्राण-हानि के समय नायिका के हृदय में होने वाला कम्पन 'पुरोभाग' कहा जाता है ।

७१ परिचारिका (दासी) को नियम से ही 'हञ्जा' कहना चाहिए। गणिका अपनी आचार्या को 'भीमार्या' कहकर सम्बोधित करती है । नट, प्रायः जो विदूषक है, यदि वह हीन-ब्राह्मण भी है तब भी बन्धूजनों को उस व्यक्ति को 'अंग' कहकर सम्बोधित करना चाहिए ।

७२ पीठमर्द, शठ, क्रूर, धूर्त, चेटी, विट आदि निन्दा अथवा गर्व में 'ई' शब्द का प्रयोग करते है ।[२७]

७३ काव्य में नाटकाश्रित तीन प्रकार के अक्षर जाने जाते हैं—ह्रस्व, दीर्घ तथा प्लुत । ये रस और भाव के विभावक होते हैं । स्मृति में, असूया में तथा परिदेवन में ब्राह्मणों को प्लुत अक्षर पढ़ना चाहिए । स्मृति में 'आ' कार का उच्चारण करना चाहिए । असूया मे 'ई' कार का, परिदेवन में 'हा' कार का तथा अध्ययन में 'ओ' कार का उच्चारण करना चाहिए । सभी पाठ्य-योग में रस तथा भाव के अनुसार ह्रस्व, दीर्घ तथा प्लुत अक्षरों का प्रयोग करना चाहिए ।

७४ लघ्वक्षरप्रायकृतमुपमारूपकाश्रयम् ॥
काव्यं कार्यं तु नाट्यज्ञैर्वीररौद्राद्भुताश्रयम् ।
गुर्वक्षरप्रायकृतं बीभत्से करुणेऽपि च ॥
कदाचिद्रौद्रवीराभ्यां क्रोधामर्षणजं भवेत् ।
रूपकादिसमावृत्तमार्यावृत्तसमाश्रयम् ॥
शृङ्गारे च रसे कार्यं काव्यं यन्नाटकाश्रयम् ।
उत्तरोत्तरसंयुक्तं वीरे काव्यं तु यद्भवेत् ॥
जगत्यतिजगत्योस्तत्संकृत्या वापि तद्भवेत् ।
तथैव युद्धसम्फेटावुत्कृत्या सम्प्रकीर्तितौ ॥
करुणे शक्वरी ज्ञेया तथैवातिधृतिर्भवेत् ।
यद्वीरे कीर्तितं छन्दः तद्रौद्रेऽपि प्रयोजयेत् ॥
शेषाणां चार्थयोगेन छन्दः कार्यं प्रयोक्तृभिः ।
७५ उपसर्गविशेषाः स्युर्नाटकाद्युपयोगिनः ॥
कवेर्विवक्षितार्थस्य सूचकांस्तान्ब्रुवेऽधुना ।
समुच्चया निपातानामित्येवं केचिदूचिरे ॥
निरर्थकास्तु शब्दा ये उपसर्गा इति स्मृताः ।
ते परस्परसंसर्गाद्धातुसंसर्गतः क्वचित् ॥
तत्तदर्थविशेषस्य वाचकाः स्युर्न तु स्वतः ।

---

७४ नाट्यविदों को प्रायः उपमा तथा रूपक अलंकारों के आश्रित तथा वीर, रौद्र और अद्भुत रस के आश्रित काव्य में लघु अक्षर का प्रयोग करना चाहिए। वीभत्स तथा करुण रस में प्रायः गुरु अक्षर का प्रयोग करना चाहिए। कभी यह (गुरु अक्षर) रौद्र तथा वीर रस के कारण क्रोध और अमर्ष से उत्पन्न होता है। शृंगार-रस में रूपक आदि से युक्त, आर्यावृत्त के आश्रित काव्य की रचना करनी चाहिए, जो नाटक के आश्रित होता है। वीर-रस में उत्तरोत्तर संयुक्त जो काव्य होता है, वह जगती, अतिजगती या दोनों के संकर-रूप छन्द में होता है। उसी प्रकार युद्ध और सम्फेट उत्कृती (छन्द) में कहे जाते हैं। करुणरस में शक्वरी (छन्द) जानना चाहिए, उसी प्रकार अतिधृति होती है। जो वीर-रस में छन्द कहा गया है, वही रौद्ररस में होना चाहिए। प्रयोक्ताओं को शेष के प्रयोग में अर्थ-योग से छन्द का प्रयोग करना चाहिए।

७५ नाटक आदि के उपयोगी कुछ विशेष-उपसर्ग होते हैं। कवि के विलक्षित अर्थ के सूचक उन (उपसर्ग) को अब कहते हैं। (ये उपसर्ग) निपातों के समुच्चय हैं—ऐसा किसी ने कहा है। जो निरर्थक शब्द हैं, वे उपसर्ग कहलाते हैं। वे कहीं परस्पर-संसर्ग के कारण तथा धातु-संसर्ग के कारण उस-उस अर्थ-विशेष के वाचक होते हैं, स्वतः नही।

७६ प्रत्यभिज्ञातदृष्टार्थस्मृतेषु स्यादये इति ॥
प्रार्थनाभिमुखीकारचिन्ताह्वानोपलब्धिषु ।
अये खल्वाभिमुख्ये च क्रोधे हर्षवितर्कयोः ॥
यदृच्छानुनयप्रीतिविषादोद्भाव्यसिद्धिषु ।
प्रागुक्तसूचने प्रश्ने विचारे नन्वितीर्यते ॥
सम्भाव्यातीतसिद्धार्थचिन्तासु ननु खल्विति ।
अपि किञ्चिदिति प्रश्ने स्वल्पे हेयेऽप्यनादरे ॥
अपि नाम प्रसिद्धं स्यादपि खल्विति काकुवाक्
किमिति प्रश्नयोगे स्याद्गौरवे लाघवेऽपि च ॥
किञ्चिच्च किमपीति स्यादौदासीन्यविचारयोः ।
वृत्ते यदपि किञ्चित्स्यात्प्रसिद्धे प्रार्थनाल्पयोः ॥
कर्तव्येऽपि च वक्तव्ये चिन्तायामपि किञ्चन ॥
सापेक्षसिद्धकथने प्रसिद्धे गोपनेऽपि च ॥
साम्ये प्रसिद्धे सम्भाव्ये स्वाभिलाषवितर्कयोः ।
अपि नाम भवेत्प्रश्नो वृत्तवर्तिष्यमाणयोः ॥

---

७६ पहचाने हुए, देखे हुए तथा याद किये हुए पदार्थ में 'अये' का प्रयोग होना चाहिए। प्रार्थना, सन्मुख कराना, चिन्ता, आह्वान, उपलब्धि, अभिमुख्य, क्रोध, हर्ष और वितर्क में 'अये खलु' का प्रयोग करना चाहिए। यदृच्छा, अनुनय, प्रीति, विपत्ति, उद्भाव्य, सिद्धि, प्रागुक्त की सूचना, प्रश्न तथा विचार मे 'ननु' का प्रयोग किया जाता है। सम्भाव्य, अतीत और सिद्ध वस्तु की चिन्ता में 'ननु खलु' का प्रयोग करना चाहिए। प्रश्न में, स्वल्प में, हेय वस्तु में तथा अनादर में 'अपि किञ्चित' का प्रयोग करना चाहिए। 'अपि नाम' यह प्रसिद्ध है। 'अपि खलु' यह काकु-उक्ति है। प्रश्न के योग में, गौरव और लाघव में 'किम्' का प्रयोग करना चाहिए। उदासीनता में, विचार में 'किञ्चित्' और 'किमपि' का प्रयोग करना चाहिए। प्रसिद्ध वृत्त में, प्रार्थना में और अल्प कथन में 'यदपि किञ्चित' का प्रयोग करना चाहिए। कर्तव्य में, वक्तव्य में, चिन्ता में, सापेक्ष-सिद्ध-कथन में तथा प्रसिद्ध-गोपन में 'किञ्चन्' का प्रयोग करना चाहिए। साम्य मे, प्रसिद्ध में, सम्भावना में, अपनी अभिलाषा और वितर्क में तथा भूत, भविष्य के प्रश्न में 'अपि नाम' का प्रयोग करना चाहिए। काकु, प्रश्न, प्रहर्ष और प्रग्रह में 'अपि खलु' का प्रयोग करना चाहिए। विस्मय, वितर्क और अनुशय में 'यदि किञ्चित' का प्रयोग करना चाहिए। इच्छानुसार काम करने वाले के पराभव (असफलता) मे फल की चिन्ता करनी चाहिए (?)। प्रसिद्ध में 'यदि नाम' का प्रयोग करना

काक्वामपि खलु प्रश्ने प्रहर्षे प्रग्रहेऽपि च ।
विस्मये यदि किञ्चित्स्याद्वितर्केऽनुशयेऽपि च ॥
उदर्कचिन्ता कर्तव्या कामकारपराभवे (?) ।
यदि नाम प्रसिद्धे स्याद्यदुतेति च वा(विचा)रणे ॥
प्रवृत्तादन्यचिन्तायां तद्वद्यद्वेति निश्चये ।
यदि किञ्चन संसिद्धे समृद्धे साम्यबाध्ययोः ॥
यदिदं खल्विति गते प्रभूते हृद्गते कृते ।
कारणेऽपि कथं तर्के विस्मये सम्पदुद्भवे ॥
इष्टार्थोपगमेऽशक्ये भाविकार्यप्रयोजने ।
नूनं प्रायोऽसमाप्तेऽर्थे नूनं खल्विति च स्मृते ॥
प्रायः खलु परामर्शे कृत्याकृत्यविचारणे ।
किन्नु खल्विति सम्भाव्ये किं खलु प्रश्नतर्कयोः ॥
तद्यावदिति निष्कर्षे वृत्तवर्तिष्यमाणयोः ।
आज्ञाकृत्ये यावदहं यावत्खल्विति चिन्तने ॥
यावन्नामेति साध्ये स्याद्यावन्नामेति निश्चये ।
यावदागामिकाले स्यात्कर्मारम्भावसानयोः ॥
तद्यावदिति सन्देशे तन्निर्देशनियोगयोः ।
कर्मविघ्नवितर्के स्याद्दुष्करेऽपि कथंचन ॥

---

चाहिए। सोच-विचार में 'यदुत' का प्रयोग करना चाहिए। प्रवृत्त होने से अन्य चिन्ता में, निश्चय में 'तद्वत्यद्वत्' का प्रयोग करना चाहिए। संसिद्धि, समृद्धि, साम्य और बाध्य में 'यदि किञ्चन' का प्रयोग करना चाहिए। प्रभूतगत और हृदयगत किये गये में 'यदिदं खलु' का प्रयोग करना चाहिए। कारण, तर्क, विस्मय, सम्पत्ति के उद्भव, इष्ट-वस्तु की प्राप्ति, अशक्य, भविष्य में होने वाले कार्य के प्रयोजन में 'कथं' का प्रयोग होता है। असमाप्त अर्थ में 'नूनं प्रायः' और स्मृति में 'नूनं खलु' का प्रयोग करना चाहिए। परामर्श, कृत्याकृत्य के विचार में 'प्रायः खलु' का प्रयोग करना चाहिए। सम्भावना में 'किन्नुखलु' और प्रश्न और तर्क में 'किं खलु' का प्रयोग होता है। भूत, भविष्य के निष्कर्ष में 'तथावत्' का प्रयोग करना चाहिए। आज्ञाकर्म में 'यावदहं' तथा चिन्तन में 'यावत्खलु' का प्रयोग करना चाहिए। साध्य अर्थ में 'यावन्नाम' और निश्चय अर्थ में 'यावन्नाम' का प्रयोग करना चाहिए। आगामिकाल और कर्म के प्रारम्भ और अन्त में 'यावत्' का प्रयोग होता है। सन्देश और उसके निर्देश व नियोग में 'तद्यावत् का प्रयोग होता है। कर्म के विघ्न के तर्क में और दुष्कर अर्थ में 'कथंचन' का प्रयोग करना चाहिए।

७७ इत्थमन्योन्यसंसर्गादुपसर्गाः पृथक्पृथक् ।
यथाविशेषार्थकृतस्तथा कविभिरूह्यताम् ॥
७८ नायकादेः परीवारसहितस्य च नाटके ।
पात्रस्य योग्यनामानि शास्त्रोक्तान्यभिदध्महे ॥
७९ प्रतापवीर्यविजयमानविक्रमसाहसाः ।
पराक्रमादयोऽन्तेऽङ्के भूषणोत्तंसशेखराः ॥
अङ्कुरा इति नेतृणामाह्वया विजयावहाः ।
धीरोद्धतादयश्चात्र नायकाः कविभिः स्मृताः ॥
दिव्या कुलस्त्री गणिकेत्येतास्तेषां च नायिकाः ।
ताश्च वीरावती वीरसेनाख्या विजयाह्वयाः ॥
भोगावती कान्तिमती कमला कामवल्लरी ।
इत्यादयो भोगिनीनामाख्याः स्युर्नाटकाश्रयाः ॥
८० दत्तासेनान्तनामानि वेश्यानां कल्पयेत्सुधीः ।
गम्भीरार्थानि नामानि चोत्तमानां प्रयोजयेत् ॥
यस्मान्नामानुसदृशं कर्म चैषां भविष्यति ।
महिषी भोगिनी नाम्ना व्याहार्या दिव्ययोषितः ॥

---

७७ इस प्रकार अन्योन्य से ये उपसर्ग अलग-अलग जैसा विशेष अर्थ करते हैं उसी प्रकार कवियों को कहना चाहिए ।

**(नायक आदि के उचित नाम)**

७८ नाटक में परिवार (दास-दासियों) सहित नायक आदि पात्रों के शास्त्रोक्त योग्य नामों को कहते हैं ।

७९ जिसके अन्त में प्रताप, वीर्य, विजयमान, विक्रम, साहस, पराक्रम आदि शब्द हों और मध्य में भूषण, उत्तंस, शेखर, अंकुर शब्द हों—इस प्रकार के नेताओ के नाम कविजनों द्वारा विजय-प्राप्त (विजयी) धीरोद्धत आदि नायकों के कहे जाते हैं । उन (नायकों) की दिव्य, कुलीन तथा गणिका—ये नायिकायें होती हैं, उनका वीरावती, वीरसेना और विजया नाम होता है । भोगावती, कान्तिमती, कमला, कामवल्लरी इत्यादि—ये भोगिनीयों के नाटकाश्रित नाम होते हैं ।

८० विद्वानों को वेश्याओं के 'दत्ता' 'या सेना' शब्द जिसके अन्त में हों ऐसे नामों की कल्पना करनी चाहिए । उत्तम (स्त्रियों) के लिए गम्भीर अर्थो से युक्त नामों की कल्पना करनी चाहिए जिससे नाम के सदृश इनका कर्म होगा। दिव्य स्त्रियों के लिए महिषी या भोगिनी नाम की कल्पना करनी चाहिए ।

८१ सिन्धुदत्तादि नामानो वणिजो नाटकाश्रयाः ।
शशिलेखा कुन्दलेखा मदलेखा मनोहरा ।।
कर्पूरमञ्जरीलेखा रैवत्या(चन्द्रलेखेत्या)द्याह्वयाः स्मृताः ।
लताकुसुमनामानि चेटीनामानि कारयेत् ।।

८२ सिद्धानन्ददृष्टिसिद्धमुखाख्या योगिनः स्मृताः ।
योगसुन्दरिका वंशप्रभा विकटमुद्रिका ।।
कल्पसुन्दरिकेत्याख्या योगिन्यो नाटकाश्रयाः ।

८३ कालप्रियश्चित्रवर्णः कपटेश्वर इत्यपि ।।
गन्धकेश्वर इत्याख्या नाटके नान्दिदेवताः ।

८४ वर्णकश्च प्रस्तरको नन्दकः करभोऽपि च ।।
तथा भासुरकश्चेति व्याहार्या हीनपूरुषाः ।
गोमायुको गोण्डक(मुख)श्च बिल्वकश्चित्रकोऽपि च ।।
इत्यादिनामभिर्भाष्याश्चण्डाला नाटकाश्रयाः ।

८५ चित्राङ्गदो रत्नचूडः तथा रत्नशिखण्डकः ।।
इत्यादिनामभिर्वाच्या नाटचे विद्याधराश्च ये ।
कपालशेखराद्याख्याः पाषण्डा नाटकाश्रयाः ।।

---

८१ नाटक के आश्रित बनियों के लिए प्रायः सिन्धु, दत्त आदि शब्द जिसके अन्त में हों—इस प्रकार के नामों की कल्पना करनी चाहिए । चेटी के लिए शशिलेखा, कुन्दलेखा, मदलेखा, मनोहरा, कर्पूरमजरी, कर्पूरलेखा, रैवती (चन्द्रलेखा) इत्यादि तथा लता व पुष्पवाचक नामों की कल्पना करनी चाहिए ।

८२ योगियों के लिए सिद्ध, आनन्द, दृष्टि, सिद्धमुख नामों की कल्पना की जाती है । नाटक के आश्रित योगी-स्त्रियाँ योगसुन्दरिका, वंशप्रभा, विकट-मुद्रिका, कल्पसुन्दरिका नाम से जानी जाती हैं ।

८३ नाटक मे नान्दि-देवता—कालप्रिय, चित्रवर्ण, कपटेश्वर, गन्धकेश्वर नाम से जाने जाते हैं ।

८४ हीन पुरुषों के लिए वर्णक, प्रस्तरक, नन्दक, करभ तथा भासुरक नामों की कल्पना करनी चाहिए । नाटक में चाण्डाल को गोमायुक, गोण्डक (गोमुख), बिल्वक तथा चित्रक इत्यादि नामों से पुकारना चाहिए ।

८५ नाटक में जो विद्याधर होते हैं, उनको चित्रांगद, रत्नचूड़ तथा रत्नशिखण्डक नाम से पुकारना चाहिए । नाटकाश्रित पाखण्डी (पुरुष) के लिए कपालशेखर आदि नाम की कल्पना करनी चाहिए ।

८६ निर्ग्रन्थो गन्धको वैद्यः कायस्थश्च कृषीवलः ।
शाक्यश्च कारुर्बन्दी च स्मृता ह्यधमनायकाः ॥
८७ क्षीरोदस्तैत्तिलश्चैव जाल्मलिर्विनयन्धरः ।
इत्यादिनामभिर्भाष्या नाट्ये कञ्चुकिनो जनाः ॥
वात्स्यायनश्च शाकल्यो मौद्गल्यश्च वसन्तकः ।
गालवश्चेत्येवमादिनामानः स्युर्विदूषकाः ॥
विपुला वत्सलेत्यादि नाम धात्र्याः प्रकल्पयेत् ।
हिरण्यशृङ्गोऽञ्जनाद्रिरित्याख्याः स्युर्महीधराः ॥
८८ आर्येति वाच्या विद्वांसो ब्राह्मणा गुरवोऽपि च ।
भगवन्निति वाच्याः स्युर्देवता मुनयोऽपि च ॥
सम्भाष्याः शाक्यनिर्ग्रन्था भदन्तेति प्रयोक्तृभिः ।
सेनापतिरमात्यश्च स्यालो भावेति भाष्यते ॥
नाट्यवित्कर्मकुशलः किञ्चिन्न्यूनस्तु मारिषः ।
समानस्तु वयस्येति सखे हण्डेति भाष्यते ॥
८९ वत्स पुत्रक तातेति नाम्ना गोत्रेण वा पुनः ।
शिष्यश्चार्थोपकारी च व्याहार्यो गुरुभिस्सदा ॥

---

८६ अधम नायक के लिए निर्गन्ध, गन्धक, वैद्य, कायस्थ, कृषीवल, शाक्य तथा कारुर्बन्दी नाम की कल्पना की जाती है।

८७ नाट्य में कचुकी को क्षीरोद, तैत्तिल, जाल्मलि, विनयधर इत्यादि नाम से पुकारना चाहिए। विदूषक के लिए वात्स्यायन, शाकल्य, मौद्गल्य, वसन्तक, गालव इत्यादि नामों की कल्पना की जाती है। धात्री के लिए विपुलता तथा वत्सला इत्यादि नामों की कल्पना करनी चाहिए। महीधर के लिए हिरण्यशृंग, अञ्जनाद्रि इत्यादि नामों की कल्पना की जाती है।

८८ विद्वान, ब्राह्मण तथा गुरुजनों को 'आर्य' कहकर पुकारना चाहिए। देवता और मुनियो को 'भगवन्' कहकर पुकारना चाहिए। प्रयोक्ताओं को बौद्ध और जैन साधुओं को 'भदन्त' कहकर पुकारना चाहिए। सेनापति और अमात्य (मंत्री) को स्याल और भाव शब्द से पुकारा जाता है। नाट्य-कर्म में कुशल व्यक्ति को 'नाट्यविद्' नाट्य-कर्म की कुशलता में कुछ न्यून व्यक्ति को 'मारिष' तथा नाट्य-कर्म की कुशलता में समान व्यक्ति को 'वयस्य', 'सखा' तथा 'हण्डा' कहकर पुकारा जाता है।

८९ गुरु को सदा शिष्य और अर्थोपकारी-व्यक्ति को 'वत्स', 'पुत्रक' तथा 'तात' कहकर, या फिर नाम या गौत्र से पुकारना चाहिए।

९० स्वभावचपलो नेतुः प्रियायाः कलहप्रियः ।
दक्षिणः कार्यविच्चैव सर्वदा भोजनप्रियः ।।
सर्वभाषाविकल्पज्ञः सर्वेषां परिहासकः ।
सत्यासत्यवचोवक्ता पण्डितः स्याद्विदूषकः ।।
९१ अनिबन्धनमर्थानां सतामपि विशेषतः ।
निबन्धनं पदार्थानामसतामपि तत्त्वतः ।।
सतो निबन्धनं तद्वदसतोऽप्यनिबन्धनम् ।
एवं कवीनां समयस्त्रिधैव परिकल्प्यते ।।
९२ वसन्ते चूतपुष्पादेरनुत्पादो न दुष्यति ।
अनिबन्धनमेतत्स्यात्सतोऽप्यर्थस्य तत्त्वतः ।।
९३ समुद्रनद्योः शैवालपद्मादेरप्यवर्णनम् ।
अयशःपापयोः कार्ष्ण्यं हासकीर्त्योश्च शुक्लता ।।
यदप्यवर्णनीयं स्याल्लौहित्यं क्रोधरागयोः ।
भूभृन्मात्रे सुवर्णादिवर्णनं न निबध्यते ।।
उदकाशयमात्रेऽपि हंसादिर्नैव वर्ण्यते ।
कुमुदादिविकासस्तु रात्रावेवेति वर्ण्यते ।।
शिखण्डिताण्डवं वर्षास्वेवेति परिकल्प्यते ।

---

९० विदूषक स्वभाव से चंचल (चपल), नायक और प्रिया के लिए कहलप्रिय, दक्षिण (चतुर), कार्यविद्, स्वभाव का पेट् (भोजनप्रिय), सभी भाषाओं को जानने वाला, सभी की हँसी बनाने वाला, सत्य तथा असत्य वाणी बोलने वाला तथा पण्डित होता है।

**(कवि-समय)**

९१ अर्थो के निबन्धन तथा अनिबन्धन के विषय में कवियों का समय तीन प्रकार का कहा जाता है—(अ) विशेष रूप से सत्य अर्थो का अनिबन्धन, (ब) तत्त्वतः असत्य पदार्थो का निबन्धन, तथा (स) सद्-अर्थो का निबन्ध तथा असद्-अर्थो का अनिबन्धन।

९२ बसन्त-ऋतु में आम्र-बौर आदि की अनुत्पत्ति दोष नहीं कही जाती। क्योंकि यह विशेष रूप से सद्-अर्थ का अनिबन्धन कहा जाता है।

९३ समुद्र तथा नदी में शैवाल, कमल आदि का वर्णन नहीं होता है। अपयश और और पाप में 'कार्ष्णर्य' (कृष्णता) तथा हास्य और कीर्ति में शुक्लता का वर्णन होता है। क्रोध और राग में लालिमा का वर्णन नही होता है। भूभृत्-मात्र के वर्णन में सुवर्ण (स्वर्ण) आदि का वर्णन नहीं किया जाता है। जलाशय-मात्र के वर्णन मे हंस आदि का वर्णन नहीं किया जाता है। कुमुद आदि का विकास रात्रि में ही वर्णित होता है, मयूर-नृत्य वर्षा में ही कल्पित होता है।

९४ अथ शिल्पकडोम्ब्योस्त्वङ्गानां लक्षणमुच्यते ॥

९५ उत्कण्ठा माधवस्यापि तत्पश्येयमितीर्यते ।
अवहित्थं तदेव स्याद्यत्पाणिर्न निवारितः ॥
इत्यादि(?)प्रणयक्रोधाच्छादनं तद्विभाव्यते ।

९६ स प्रयत्नोऽनिरुद्धस्य दर्शने चित्रलेखिता ॥
दम्पत्योर्योग्यसम्पर्कप्रार्थनाऽऽशंसनं भवेत् ।
यथा कुलेन कान्त्या च वयसेत्यादि कथ्यते ॥

९७ वितर्कः कास्विदित्यादि दुष्यन्तवचनं यथा ।
किमेषा कौमुदी किंवा लावण्यसरसी सखे ॥
इत्यादि रामाराधायां संशयः कृष्णभाषिते ।

९८ विशेषोऽनुशयोक्तेर्यस्सन्ताप इति कथ्यते ॥
तं विना कैकयीपुत्रमिति रामेण भाषितम् ।

---

९४ अव हम शिल्पक और डोम्बी के अंगों के लक्षण को कहते है ।

**(उत्कण्ठा)**

९५ माधव के यह कहने पर कि····[२८] 'तत्पश्येयम्····'अर्थात् 'कामदेव के मगलग्रह-स्वरूप प्रिया का मुख फिर भी देख लू'··· माधव की 'उत्कण्ठा' प्रकट होती है।

**(अवहित्था)**

'अवहित्था' वही है जैसे····[२९] 'यत्पाणिन निवारितः····' अर्थात् 'जिसका हाथ नही रोका····।' इत्यादि (?) से प्रणय से क्रोध का आच्छादन जाना जाता है ।

**(प्रयत्न)**

९६ वह 'प्रयत्न' है; जैसे—अनिरुद्ध के दर्शन पर चित्रलेखिता ने किया है ।

**(आशंसन)**

दम्पत्ति के बीच योग्य सम्पर्क के लिए की गई प्रार्थना 'आशंसन' कही जाती हैं । जैसे—'कुलेन कान्त्या च वयसा'····। इत्यादि में जाना जाता है ।

**(वितर्क)**

९७ जैसे दुष्यन्त के वचन कि '[३०]कास्विद्········ ।' अर्थात्········यह महिला कौन है ? ········वितर्क है ।

**(संशय)**

'रामाराधा' मे कृष्ण के बोलने पर कि 'किमेषा········ ।' अर्थात् 'मित्र ! क्या यह कौमुदी (चाँदनी) है या फिर लावण्य रूप कोई छोटी बावडी है··· ' इत्यादि मे संशय' है ।

**(सन्ताप)**

९८ विशेष प्रकार के दुःख का कथन 'सन्ताप' कहा जाता है। जैसे—राम ने कहा है कि····'तं बिना कैकयी पुत्रम्········' 'उसके बिना कैकयी पुत्र को········'।

९९ उद्वेगो हा हतोऽस्मीति कपिंजलवचो यथा ॥
मौढ्यं स्रगियमित्यादि यदजेनापि भाषितम् ।
अङ्गानि चन्दनाम्भोभिः सिञ्चेत्यादिवचो यथा ॥
१०० वैवर्ण्यं यन्मनोऽङ्गानां तदालस्यमुदाहृतम् ।
तद्दृश्यते परीवारप्रार्थनाभिः क्रियास्विति ॥
१०१ मनसश्चलनं कम्पोऽकाण्डेनाकामतो भवेत् ।
अकामोपनतेनैव साधोरित्यादिनोच्यते ॥
१०२ यथा वामेन वानीरमित्याद्यनुगतिस्स्मृता ।
यथैव कुलपत्यङ्के दोर्दण्डाः क्वेति विस्मयः ॥
१०३ प्राणैस्तपोभिरित्यादि यद्वचः साधनं भवेत् ।
आश्वासनं विह्वलस्य यत्स उच्छ्वास ईरितः ॥
प्रीतिर्नाम सदस्यानामित्यादिवचनं यथा ।

---

(उद्वेग)

९९ 'उद्वेग'....जैसे—कपिञ्जल के वचन कि .. '[31]हाय ! मैं मारा गया ......' इत्यादि हैं ।

(मौढ्य)

मौढ्य... ... जैसा कि अज ने कहा है कि '[32]स्रगियम.... .. ' .......'यदि यह माला मारने वाली है तो हृदय पर रखी हुई मुझको क्यों नहीं मारती ? अथवा ईश्वर की इच्छा से विष भी कही पर अमृत हो जाता है और अमृत भी विष हो जाता है । जैसे—
'अंगानि चन्दनाम्भोमि सिञ्च'... अर्थात् 'अगों को चन्दन के जल-कणों से सींचो....इत्यादि वचन है ।

(आलस्य)

१०० मन और अंगों की जो विवर्णता है वह 'आलस्य' कहा जाता है । जैसे—माधव मालती की कामव्यथा के विकार की सम्भावना के कारण कहता है कि '[33]भोजन आदि क्रियाओं में परिजनों की प्रार्थनाओं से कष्ट से उसकी प्रवृत्ति है ।' इत्यादि ।

(कम्प)

१०१ बिना समय के तथा बिना किसी इच्छा के मन का चंचल होना 'कम्प' कहलाता है । जैसे बिना किसी इच्छा के 'कि साधोः.....' इत्यादि कहा जाता है ।

(अनुगति)

१०२ जैसे—कुबडे के द्वारा बेंत का अनुकरण इत्यादि 'अनुगति' कही जाती है ।

(विस्मय)[34]

जैसे—कुलपति-अंक में कि 'दोर्दण्डा क्व ... ... '.... ...' कहाँ तो बाजूबन्द धारण किए हुए 'भुजदण्ड' इत्यादि में विस्मय है ।

(साधन)

१०३ जैसे—'[35]प्राणैस्तपोभिः.....' इत्यादि वचन 'साधन' कहलाते हैं ।

(उच्छ्वास)

विह्वल (बैचेन) को आश्वासन प्रदान करना ही 'उच्छ्वास' कहलाता है । जैसे... '[36]प्रीतिर्नाम सदस्यानाम्........' इत्यादि ।

१०४ क्रूरकर्मकृतत्रासः सुकुमारस्य वस्तुनः ।।
यस्स आतङ्क इत्युक्तो राहोश्चन्द्रकलादिवत् ।
यथा सीतापि तत्रासेत्यादावपि च दृश्यते ।।

१०५ शून्यता विस्मृतिः सर्वकर्मणां सर्वदा स्मृता ।
माधवस्य परिच्छेदातीत इत्यत्र दृश्यते ।।

१०६ प्रलोभनं गुणाख्यानपूर्वमिष्टार्थलम्बनम् ।
विजित्य पृथिवीं सर्वामित्यादौ तद्विलोक्यते ।।

१०७ नाट्यं स्वपौरुषोत्कर्षावेशस्य प्रतिपादनम् ।
तद्रामोऽहं यदीत्यादि महानाटककल्पितम् ।।

१०८ सम्फेटः कथितः सद्भिः क्रोधादिभिरतिक्रमः ।
यथार्घ्यमर्घ्यमित्यादौ जामदग्न्यव्यतिक्रमः ।।

---

(आतंक)

१०४ सुकुमार वस्तु के प्रति क्रूर कर्म करना, भय दिखाना, 'आतंक' है। जैसे—"[३७]राहु के मुख में चन्द्रकला। जैसे—'सीतापि तत्रास·······' इत्यादि में देखा जाता है।

(शून्यता)

१०५ सर्वदा सभी कर्मों की विस्मृति ही 'शून्यता' है। जैसे—माधव का वचन कि "[३८]परिच्छेदातीत········' अर्थात् "निश्चयात्मक ज्ञान को लांघने वाला, समस्त वाक्यों का अगोचर, पुनर्जन्म में और इस जन्म में भी जो अनुभवगम्य नही है, विवेक-नाश से बढ़े हुए महामोह से विषम कोई विकार अन्तःकरण को जड़ बनाता है और ताप को भी उत्पन्न करता है।"

(प्रलोभन)

१०६ गुणगानपूर्वक अभीष्ट वस्तु का सहारा देना 'प्रलोभन' कहलाता है। जैसे—'विजित्य पृथिवीं सर्वाम्········' इत्यादि में देखा जाता है।

(नाट्य)

१०७ अपने पौरुष, उत्कर्ष तथा आवेश का प्रतिपादन करना ही 'नाट्य' कहलाता है। जैसे—"[३९]तद्रामोऽह यदि ·······' इत्यादि महानाटक में कहा गया है।

(सम्फेट)

१०८ सज्जनों द्वारा क्रोध आदि में मर्यादा का उल्लघन किया जाना 'सम्फेट' कहा जाता है। जैसे—"[४०]परशुराम ने अर्घ्यग्रहण करने के लिए बार-बार प्रार्थना करते हुए दशरथ की उपेक्षा कर क्रोध से चिनगारी के समान जलती हुई आंखों से राम की ओर देखा।'

१०९ शोकप्रणोदनं वाक्यं यत्स आश्वास उच्यते ।
शपे सत्येन ते देवि क्षिप्रमेष्यति राघवः ।।
चमूं प्रकर्षन् महतीमित्यादि हनुमद्वचः ।
११० सन्तोषातिशयो हर्षाद्व्यापारो निस्त्रपाभरः ।।
तं दृष्ट्वा शत्रुहन्तारमित्यादौ स तु दृश्यते ।
१११ मदप्रकर्षः प्रमदः पुरस्तात्स च वर्णितः ।।
प्रियप्रायेति वाक्यादौ मदस्त्रैण उदाहृतः ।
११२ प्रमादः स्यात्पिशाचादेर्यदृच्छागमजं भयम् ।।
सत्त्वान्त्रै. कल्पितेत्यादि मालतीमाधवादिवाक् ।
११३ योग्यतापादनं युक्तिरन्योन्यस्य पदार्थयोः ।।
तुल्यशीलवयोजातामित्यादौ तद्विलोक्यते ।
११४ गुणैरतिशयारोपः पदार्थस्य प्ररोचना ।।
नेदं मुखमितीत्यादौ दृश्यते सा प्ररोचना ।

---

(आश्वास)

१०९ शोक-हरण करने वाले वाक्य 'आश्वास' कहलाते है। जैसे—हनुमान ने सीता को आश्वासन देते हुए कहा कि—"हे देवी ! मैं सत्य की शपथ खाकर तुमसे कहता हूँ कि राम महान सेना का संचालन कर शीघ्र जायेंगे।"

(सन्तोषातिशय)

११० हर्ष के कारण निःसंकोच व्यापार 'संतोषातिशय' कहलाता है। जैसा कि वह 'तं दृष्ट्वा शत्रुहन्तारम्.......' अर्थात् 'उस शत्रु-हन्ता को देखकर........' इत्यादि में देखा जाता है।

(प्रमद)

१११ मद का प्रकर्ष 'प्रमद' कहलाता है........वह पहले कह दिया गया है। जैसे—'प्रियप्राय........' वाक्य के प्रारम्भ में स्त्री का मद कहा गया है।

(प्रमाद)

११२ पिशाच आदि के स्वेच्छापूर्वक विचरण से उत्पन्न भय 'प्रमाद' कहलाता है। जैसा कि मालती-माधव में वर्णित है कि—"[४१]अंतड़ियों से सौभाग्य-द्योतक हस्तसूत्रों की रचना करने वालीं, मरी हुई स्त्रियों के हस्त-रूप रक्त कमलों को स्पष्ट रूप से कर्णाभूषण के तौर पर धारण करने वाली, रुधिरपंकों को केसर के तौर पर सेवन करने वाली ये पिशाच ललनायें आतंकित रूप से विचरण कर रही हैं।

(युक्ति)

११३ दो पदार्थों के बीच एक-दूसरे की योग्यता का उपादान 'युक्ति' कहलाता है। जैसा कि वह 'तुल्यशीलवयोजाताम्........' इत्यादि में देखा जाता है।

(प्ररोचना)

११४ पदार्थ के गुणों का अतिशय आरोप 'प्ररोचना' कहलाती है। जैसा कि वह प्ररोचना' "नेदं मुखं....... " इत्यादि में देखी जाती है।

११५ स्तुतिर्विद्याभिजात्यादेः प्रशस्तिरिति कथ्यते ।।
उत्पत्तिर्देवयजनादित्यादौ सा विलोक्यते ।
इत्थमर्थान्विचार्याथ शिल्पकाङ्गानि योजयेत् ।।
११६ राज्याद्भ्रंशो वने वासेत्यादौ विन्यास उच्यते ।
कार्याख्यानमुपन्यास इति विद्वद्भिरुच्यते ।।
एष कञ्चुकिना तातस्तिष्ठतीत्यादिनोच्यते ।
११७ पापैर्निवृत्तिरेषात्र विबोध इति कथ्यते ।।
सन्देहनिर्णयो जात इत्यादौ सा विलोक्यते ।
... ... ... ........................... .. ... .......... ।।
सा व्याहृता प्रतिवचो न सन्दध इतीर्यते ।
११८ निदर्शनस्योपन्यासो ह्यनुवृत्तिरुदाहृता ।।
नीलमेघाश्रिता विद्युदित्यादौ सा विलोक्यताम् ।
११९ क्रियासमाप्तिः संहारः फलस्यावाप्तिरेव वा ।।
देवताभ्यो वरं प्राप्येत्यादौ संहार इष्यते ।

---

(प्रशस्ति)

११५ विद्या मे निपुण तथा कुलीन आदि की स्तुति 'प्रशस्ति' कहलाती है। जैसा कि वह '[४२] उत्पत्तिर्देवयजनाद्.......' इत्यादि में देखी जाती है।
इस प्रकार अर्थों का विचार करके इन शिल्पक के अंगों की योजना करनी चाहिए।

(विन्यास)

११६ 'राज्याद्भ्रंशों वने वास.......' इत्यादि मे विन्यास कहा जाता है।

(उपन्यास)

कार्य का कथन करना ही विद्वानों द्वारा 'उपन्यास' कहलाता है। जैसा कि—'एष कञ्चुकिना तातस्तिष्ठति......' इत्यादि से कहा जाता है।

(विबोध)

११७ पाप से निवृत्ति ही 'विबोध' कहलाती है। जैसा कि वह '[४३] सन्देह-निर्णयो जातः......' इत्यादि मे देखी जाती है।
.. .............. ... ....... .................. .. .......................(?)
जैसा कि वह '[४४] व्याहृता प्रतिवचो न सन्दध.......' अर्थात् 'शिव के कुछ पूछने पर पार्वती बोलती नही थी ......' इत्यादि में कही जाती है।

(अनुवृत्ति)

११८ दृष्टान्त-निरूपण को 'अनुवृत्ति' कहा जाता है। जैसा कि उसे "नीलमेघा-श्रिता विद्युत ......" इत्यादि में देखना चाहिए।

(संहार)

११९ क्रिया की समाप्ति या फल की प्राप्ति 'संहार' कहलाती है। जैसा कि.... .. "देवताभ्योवरं प्राप्य......." इत्यादि में संहार कहा जाता है।

१२० लीलादिभिरुपालम्भः समर्पणमुदाहृतम् ॥
धन्या केयं स्थितेत्यादौ दृश्यते तत्समर्पणम् ।
भाण्य(डोम्ब्य)ङ्गान्येवमालोच्य यथार्थानि प्रयोजयेत् ।

१२१ देवा धीरोद्धता ज्ञेया धीरोदात्ता नृपादयः ।
अमात्यसेनापतयो ललिताश्च स्वभावतः ॥
धीरप्रशान्ता विज्ञेया ब्राह्मणा वणिजश्च ये ।
कथारसवशात्तेऽपि व्यत्यस्ताः स्युः क्वचित्क्वचित् ॥

१२२ नायकानामथैतेषा चत्वारः स्युर्विदूषकाः ।
विदूषकस्तु देवानां सत्यावाक्च त्रिकालवित् ॥
कृत्याकृत्यविशेषज्ञ ऊहापोहविशारदः ।
यथादृष्टार्थवादी च नाट्यवित्परिहासकः ॥
विदूषकस्तु भूपानामग्राम्यपरिहासकः ।
अर्थेषु स्त्रीषु शुद्धश्च देवीपरिजनप्रियः ॥
ईर्ष्याकलहकारी स्यादन्तःपुरचरः सदा ।
नर्मवित्प्रणयक्रोधे देव्याः किञ्चित्प्रसादकः ॥

---

(समर्पण)

१२० लीलापूर्वक उलाहना देना 'समर्पण' कहा जाना है। जैसा कि वह समर्पण.... '४५ धन्या केयं स्थिता.... ....', अर्थात् "भगवान शंकर ने पार्वती द्वारा पूछे गये प्रश्न पर कि सिर पर कौन स्त्री है ? गंगा का छिपाने की इच्छा से लीला-पूर्वक शशिकला का नाम लिया।" इत्यादि में देखा जाता है।
इस प्रकार डोम्वी के अंगों का अवलोकन कर यथार्थ का प्रयोग करना चाहिए।

(नायक-जाति)

१२१ देवता जाति के पात्र "धीरोद्धत" नायक कहे जाते है। राजा आदि पात्र 'धीरोदात्त' नायक कहे जाते हैं। मंत्री, सेनापति आदि स्वभाव से 'धीर-ललित' जाति के नायक कहे जाते है। जो ब्राह्मण और वणिक् (वैश्य) पात्र होते है, वे 'धीर-प्रशान्त' जाति के नायक जाने जाते है। कहीं-कही कथा और रस के कारण नायक-जाति की यह व्यवस्था वदल भी जाती है।

१२२ इन चार प्रकार के नायकों के विदूषक भी चार प्रकार के होते है। देवता पात्र का विदूषक सत्यवादी, त्रिकालज्ञ, कृत्याकृत्य-विशेषज्ञ, ऊहापोह-विशारद (विचार-विमर्श में प्रवीण), जैसा देखे वैसा कहने वाला (यथादृष्टार्थवादी), नाट्य-विद् और परिहासक होता है। राजा का विदूषक अग्राम्य-परिहासक (असभ्य मजाक करने वाला), धन और स्त्रियों के प्रति पवित्र (शुद्ध), देवी (रानियों) की सेविकाओं के लिए प्रिय, ईर्ष्या और कलह कराने वाला तथा

भूपतेर्भोगिनीनां च मिथः प्रीति रतिं तथा ।
क्वचिच्च घटयत्येव क्वचिद्विघटयत्यपि ॥
विदूषकश्च भूपानामेवमादिगुणो भवेत् ।
१२३ अश्लीलवाक्च दम्पत्योरपराधं व्यनक्ति च ।
भक्ष्याभक्ष्यप्रियो नित्यं मर्मस्पृङ्नर्म वक्ति च ।
अर्थलाभे प्रीतिदानं रमयत्येव भोगिनीः ॥
परिहासप्रायवाक्यः परिहासकथारुचिः ।
एवमादिरमात्यादेर्विदूषकगुणक्रमः ॥
१२४ शठो विरूपवेषश्च विरूपाङ्गवचःक्रमः ।
विरूपपरिहासश्च विरूपाभिनयान्वितः ॥
इत्यादिभिर्गुणैर्युक्तो वणिजश्च विदूषकः ॥
१२५ दिव्यमर्त्यमयी यत्र क्रियते कविभिः कथा ।
आख्यायिकैव सोच्छ्वासाऽथाङ्कावन्दुरिति स्मृता(?) ॥
१२६ यत्र श्रुतीतिहासार्थाः पेशला वाप्यपेशलाः ।
निबद्धा वर्णनोपेताः सर्गबन्धः स इष्यते ॥

---

सर्वदा अन्तःपुर मे विचरण करने वाला होता है । यह नर्मविद् देवी को प्रणय-क्रोध मे कुछ प्रसन्न करने वाला होता है, तथा भूपति (राजा) और महारानी के बीच परस्पर प्रीति और रति-भाव को कहीं जागरित करता है और कही फूट डाल देता है । राजा का विदूषक इस प्रकार के गुणों से युक्त होता है ।

१२३ जो अश्लील वाक्य बोलता है, दम्पत्ति (नायक व नायिका) के अपराध को व्यक्त करता है, जो भक्ष्याभक्ष्य-प्रेमी होता है, नित्य मर्मस्पर्शी तथा नर्म वचन बोलता है । अर्थलाभ होने पर प्रीतिपूर्वक दान देता है, भोगिनी के साथ रमण करता है । जो प्रायः हास्यास्पद वाक्य और हास्यास्पद कथा में रुचि रखता है आदि इस प्रकार के गुणों से युक्त विदूषक अमात्य आदि का होता है ।

१२४ शठ, विरूप वेशधारण करने वाला, निरूपांग, ऊटपटांग बोलने वाला, ऊटपटांग हँसी करने वाला, ऊटपटांग अभिनय करने वाला आदि गुणों से युक्त विदूषक वैश्य का होता है ।

**(आख्यायिका)**

१२५ जिसमें कविजनों द्वारा दिव्य और मनुष्य-सम्बन्धी कथा वर्णित की जाती है, उसे 'आख्यायिका' कहते हैं, यहाँ कथा-भागों का नाम 'उच्छ्वास' या फिर 'अंक' या 'अवन्दुर' रखा जाता है (?) ।

**(सर्गबन्ध काव्य)**

१२६ जो काव्य श्रुति और इतिहास सम्बन्धी कोमल या अकोमल अर्थों वाले वर्णन से युक्त होता है, उसे 'सर्गबन्ध' कहते हैं ।[४६]

१२७ सर्गबन्धेन तुल्यो यः प्राकृतेन निबध्यते ।
आश्वासबन्धः स इति सेतुबन्धवदुच्यते ॥
१२८ अपभ्रंशेन बद्धो यः मात्राच्छन्दोभिरन्वितः ।
स सन्धिबन्धो विज्ञेयो यथाऽब्धिमथनादिकः ॥
१२९ वृत्तान्ता विप्रकीर्णाः स्युः संहिता यत्र कोविदैः ।
सा संहितेत्यभिहिता रघुवंशो यथा कृतः ॥
१३० यत्र श्लोककृतो युक्तिसमुदायो रसान्वितः ।
एकप्रघट्टके सोऽयं सङ्घात इति कथ्यते ॥
१३१ नानाप्रघट्टकैर्बद्धः कोश इत्यभिधीयते ।
१३२ आख्यायिका च शास्त्रं च गद्येनैवाभिधीयते ॥
महाकाव्यादि पद्येन ताभ्यां चम्पूर्निबध्यते ।
प्राकृतेन कृते काव्ये लम्बच्छेदः प्रशस्यते ॥
विवक्षितार्थक्रमवत्कोशे पद्धतिरिष्यते ।
मन्त्रार्थगुम्फनप्राये सन्दर्भे पटलं भवेत् ॥
यत्र लक्षणमुच्येत परिच्छेदोऽत्र लक्ष्यते ।

---

(आश्वास-बन्ध)

१२७ सर्गबन्ध के समान जो काव्य प्राकृत (भाषा) में निबद्ध होता है, वह 'आश्वास-बन्ध' कहलाता है। जैसे—सेतुबन्ध।[४७]

(सन्धिबन्ध)

१२८ अपभ्रंश-भाषा में निबद्ध जो काव्य मात्रिक-छन्द से युक्त होता है, उसे 'सन्धि-बन्ध' जाना जाता है। जैसे—अब्धिमथन आदि।[४८]

(संहिता)

१२९ कवि द्वारा यत्र-तत्र बिखरी हुई कथा को एक स्थान पर वर्णित कर देना 'संहिता' कहलाती है। जैसे—रघुवंश।

(संघात)

१३० जब किसी एक घटना को युक्तियों के समूह और रस से युक्त कर श्लोकबद्ध कर दिया जाता है, उसे 'संघात' कहा जाता है।

(कोश)

१३१ अनेक घटनाओं से निबद्ध 'कोश' कहलाता है।

१३२ आख्यायिका और शास्त्र केवल गद्य में ही लिखे जाते हैं, महाकाव्य आदि पद्य में रचे जाते हैं तथा चम्पू-काव्य गद्य और पद्य में निबद्ध किये जाते हैं। प्राकृत-भाषा में निबद्ध काव्य के विच्छेद को 'लम्ब' कहा जाता है। कोश में विवक्षित-अर्थ के क्रम के समान 'पद्धति' होती है। मन्त्र और अर्थ से गुम्फित सन्दर्भ में 'पटल' होता है। जिस काव्य में लक्षण कहे जायें, वहाँ 'परिच्छेद'

ग्रन्थस्य दुर्बोधार्थस्य व्याख्या यत्राभिधीयते ॥
तत्राधिकार इति च विच्छेदः कथ्यते बुधैः ।
शास्त्रेषु तत्तदर्थस्य नाम्ना वाद इतीरितः ॥
अध्यायैर्वा पर्वभिर्वा पुराणच्छेदकल्पना ।
अध्यायैरितिहासादौ विच्छेदः कथ्यते बुधैः ॥
उच्छ्वासाश्वासविच्छेदग्रन्थाः स्युर्यमकादयः ।
अङ्कच्छेदो विधातव्यः प्रबन्धेऽभिनयात्मके ॥
१३३ इत्यादिभेदा दृश्यन्ते विच्छेदस्य क्वचित्क्वचित् ।
केचिद्दर्शनसिद्धाश्च केचित्सामयिका अपि ।
इत्यादि सर्वमवधार्य कविः प्रबन्धं
कुर्याद्यथा बुधजनः शृणुयात्सुखेन ।
विद्वज्जनश्रवणवर्त्मसुखात्प्रबन्धो
नेतुः कवेरपि विधास्यति भुक्तिमुक्ती ॥

इति श्रीशारदातनयविरचिते भावप्रकाशने
नृत्यभेदस्वरूपप्रकारनिर्णयो
नाम नवमोऽधिकारः ।

---

रखा जाता है । जहाँ ग्रन्थ के दुर्बोध अर्थ की व्याख्या की जाती है, वहाँ 'विच्छेद' को विद्वान 'अधिकार' कहते हैं । शास्त्रों में उस-उस अर्थ के नाम से 'वाद' कहा जाता है । पुराण-विच्छेद अध्यायों और पर्वो से कल्पित होता है । विद्वान लोग इतिहास आदि में विच्छेद को 'अध्याय' कहते हैं । उच्छ्वास, आश्वास नामक विच्छेद वाले ग्रंथ यमक आदि अलंकारों से युक्त होते हैं । अभिनयात्मक-प्रबन्ध (नाट्य-ग्रंथ) में विच्छेद 'अंक' से जानना चाहिए ।

१३३ काव्य विच्छेद के इत्यादि भेद देखे जाते हैं । कहीं-कहीं कोई दर्शन-सिद्ध होते है और कोई सामायिक होते है । इस प्रकार इत्यादि सभी भेदों को हृदय मे धारण करके कवि को अपना प्रबन्ध तैयार करना चाहिए, जिससे बुधजन उसे सुखपूर्वक सुने । विद्वानों के श्रवण मात्र से प्राप्त सुख से प्रबन्ध नायक तथा कवि दोनो को भुक्ति और मुक्ति प्रदान करेगा ।

श्री शारदातनय-विरचित भावप्रकाशन में नृत्य-भेद-स्वरूप-प्रकार
निर्णय नामक नवम अधिकार समाप्त हुआ ।

श्रीः

## अथ दशमोऽधिकारः

---

१ उक्ता नाट्यस्य नृत्तस्य भेदाः सर्वे यथार्थतः ।
भरतादिभिराचार्यैः प्रणीतेनैव वर्त्मना ॥
मार्गदेशीविभागेन ते द्विधा परिकीर्तिताः ।
तेषां प्रबन्धभेदानां प्रयोगक्रम उच्यते ॥
२ पुरा मनुर्महीपालः सप्तद्वीपवतीं भुवम् ।
पालयन्दुर्भरेणास्या भारेणा श्रान्तचेतनः ॥
केनास्य भूमिभारस्य विश्रान्तिसुखमाप्नुयाम् ॥
इति सञ्चिन्त्य पितरं सवितारमुदैक्षत ॥
तदैवाभ्यागमत्तत्र भास्करः पुत्रवत्सलः ।
मनुर्न्यवेदयत्तस्मै भूभारक्लेशमात्मनः ॥
स मनोर्भारखिन्नस्य विश्रामोपायमब्रवीत् ।
३ पुरा दुग्धाब्धिनाथस्य नाभीकमलसम्भवः ॥
ब्रह्माऽसृजदिमान् लोकान् जङ्गमस्थावरात्मकान् ।

---

१ नाट्य तथा नृत्य के सभी भेद यथार्थतः कह दिये। भरतादि आचार्यो द्वारा प्रणीत मार्ग से वे सभी मार्ग और देशी भेद से दो प्रकार के कहे जाते हैं, उन प्रबन्ध-भेदों का प्रयोग-क्रम कहते हैं।

२ प्राचीन काल में राजा मनु सात-द्वीप वाली पृथ्वी का पालन करते हुए, उस (पृथ्वी) के दुर्भर बोझ से थके मन वाले ऐसा सोचते हुए कि 'किस प्रकार इस भूमि-भार से विश्रान्ति-सुख प्राप्त करूँ ?' —अपने पिता सूर्य की प्रतीक्षा करने लगे। तो उसी समय पुत्र-वत्सल सूर्य वहाँ आ गये। मनु ने अपने पिता सूर्य से भूमि-भार से उत्पन्न अपने क्लेश (दुःख) का निवेदन किया। सूर्य ने भूमि-भार से खिन्न मन वाले मनु को विश्रान्ति-प्राप्ति का उपाय बताया :

३ प्राचीन काल में भगवान विष्णु के नाभि-कमल से उत्पन्न ब्रह्मा ने जंगम-स्थावर स्वरूप इन लोकों की सृष्टि की। इन सभी लोकों के पालन-पोषण रूपी व्यापार से खिन्न (दुःखी) होकर ब्रह्मा विश्रान्ति-सुख-प्राप्ति की इच्छा

एतेषां पालनायासव्यापारपरिखेदितः ।।
विश्रान्तिसुखमन्विच्छन्नुपागच्छच्छ्रियः पतिम् ।
प्रजापालनखेदस्य विश्रामाय व्यजिज्ञपत् ।।
अचिन्तयद्देवदेवः श्रान्तं वीक्ष्यात्मसम्भवम् ।
केनैवास्य विनोदेन विश्रामः सम्भवेदिति ।।
विचिन्त्य भावं स्वक्षेत्रभाविनं विधिमब्रवीत् ।
गच्छ ब्रह्मन् पुरारातिमम्बिकापतिमीश्वरम् ।।
स ते विश्रान्तिसुखदमुपायमुपदेक्ष्यति ।
इत्थमाज्ञापितो ब्रह्मा देवदेवमुमापतिम् ।।
अभिष्टूयात्मनः खेदं सर्वं तस्मै व्यजिज्ञपत् ।
विज्ञाय शम्भुस्तत्खेदं नन्दिकेश्वरमभ्यधात् ।।
मत्सकाशादधीतं त्वं नाटचवेदमशेषतः ।
अध्यापयैनं ब्रह्माणं सप्रयोगं सविस्तरम् ।।
स तथेत्यब्जजन्मानमध्यापयदशेषतः ।
अध्याप्यावोचदेतस्य वेदस्यैव प्रयोगतः ।।
जगतां पालनायासविश्रान्तिसुखमाप्नुहि ।

---

से भगवान लक्ष्मीपति (विष्णु) के पास गये और प्रजा-पालन के दुःख से विश्राम प्राप्त करने के लिए निवेदन किया। देवेश (विष्णु) आत्मज ब्रह्मा की थकान को देखकर सोचने लगे कि 'किस विनोद (मनोरंजन) से इस (ब्रह्मा) को विश्रान्ति प्राप्त हो ?'—ऐसा सोचते हुए विष्णु स्व-क्षेत्र-सम्भव ब्रह्मा से बोले—ब्रह्मन् ! तुम त्रिपुरारी, अम्बिकापति भगवान शंकर के पास जाओ, वह तुमको विश्रान्ति-सुख-प्राप्ति का उपाय बतायेंगे। इस प्रकार आज्ञापित ब्रह्मा ने देवदेव, उमापति भगवान शंकर की स्तुति कर, उनसे अपने समस्त दुःख का निवेदन किया। शंकर ने ब्रह्मा के दुःख को समझकर अपने शिष्य नन्दिकेश्वर को आज्ञा दी कि हे नन्दिकेश्वर ! तुमने मुझसे समस्त नाट्य-वेद का अध्ययन किया है अतः तुम ब्रह्मा को प्रयोग और विस्तार के साथ नाट्यवेद पढ़ाओ। नन्दिकेश्वर ने—'तथेति'—ऐसा कहकर कमल-सम्भव-ब्रह्मा को सम्पूर्ण नाट्य-वेद पढ़ाया और नाट्य-वेद पढ़ाकर बोले कि—इस नाट्य-वेद के प्रयोग से तुम लोकों के पालन-पोषण से उत्पन्न दुःख से विश्रान्ति-सुख प्राप्त करो।

४ इत्थं स नन्दिनाऽऽज्ञप्तः समागम्य स्वमन्दिरम् ॥
नाट्यवेदप्रयोक्तारं भारतीसहितोऽस्मरत् ।
स्मृतमात्रे मुनिः कश्चिच्छिष्यैः पञ्चभिरन्वितः ॥
पुरोऽवतस्थे भारत्या सहितस्याब्जजन्मनः ।
तानब्रवीन्नाट्यवेदं भरतेति पितामहः ॥
तेऽधीत्य नाट्यवेदं तत्प्रयोगांश्च पृथग्विधान् ।
पुरावृत्तानि देवानां प्रबन्धेषूपदिश्य ते ॥
रसैर्भावैरभिनयैः प्रयोगैश्च पृथग्विधैः ।
नाट्यवेदोदितैः सम्यक्पद्मयोनिमतूतुषन् ॥
तुष्टस्तेभ्यो वरं प्रादादभीष्टं पद्मविष्टरः ।
नाट्यवेदमिमं यस्माद्भरतेति मयेरितम् ॥
तस्माद्भरतनामानो भविष्यथ जगत्त्रये ।
नाट्यवेदोऽपि भवतां नाम्ना ख्यातिं गमिष्यति ॥
इत्यादिश्य ततो ब्रह्मा तैरेव भरतैः सह ।
विनोदयति लोकानां रक्षाव्यसनजं श्रमम् ॥

५ त्वमप्याराध्य तं देवं मनो ब्रह्माणमच्युतम् ।
विज्ञाप्य वसुधाभारक्लेशविश्रामहेतवे ॥

---

४ इस प्रकार ब्रह्मा ने नन्दिकेशर से आज्ञा प्राप्त कर और अपने स्थान (मन्दिर) पर आकर भारती सहित नाट्यवेद के प्रयोक्ताओं का स्मरण किया। स्मरण मात्र से पाँच शिष्यों से युक्त कोई मुनि भारती सहित ब्रह्मा के सम्मुख उपस्थित हुए। पितामह (ब्रह्मा) उनसे बोले कि—'नाट्यवेदं भरत' अर्थात् तुम लोग नाट्यवेद धारण करो। उन्होंने नाट्यवेद तथा उनके भिन्न-भिन्न प्रयोगों का अध्ययन कर और देवताओं की प्राचीन कथाओं का प्रबन्धों में संकलन कर नाट्यवेद से उदित रस, भाव, अभिनय और भिन्न-भिन्न प्रयोगों से ब्रह्मा को भलीभाँति प्रसन्न किया। ब्रह्मा ने प्रसन्न होकर उन सभी को अभीष्ट वर प्रदान किया और बोले—मैंने यह जो कहा था कि 'नाट्यवेदं भरतं' अर्थात् 'तुम लोग नाट्यवेद धारण करो', उससे तीन लोक मे तुम्हारा नाम 'भरत' होगा और नाट्यवेद भी आप लोगों के नाम से ख्याति प्राप्त करेगा। ऐसा आदेश देकर तदनन्तर ब्रह्मा उन्हीं भरतों के साथ लोक-रक्षा रूपी व्यसन से उत्पन्न श्रम से विश्रान्ति-सुख प्राप्त करते हैं।

५ हे मनु ! तुम भी उन देव (शंकर) की आराधना कर और अच्युत ब्रह्मा से निवेदन कर, भूमि-भार से उत्पन्न दुःख से विश्राम प्राप्त करने के लिए उन

तेन प्रणीतैर्भरतप्रयोगैर्भुविकल्पितैः ।
आत्मानं भूभरश्रान्तं विनोदय यथासुखम् ।।
६ इत्थमादिश्य च मनुं दिनेशस्त्रिदिवं ययौ ।
मनुर्ब्रह्मसदोऽभ्येत्य प्रणिपत्य पितामहम् ।।
आत्मनो भूभरश्रान्ति व्यजिज्ञिपदशेषतः ।
चतुर्मुखोऽपि विज्ञाय मनोर्भूमिभरक्लमम् ।।
आहूय भरतान् सर्वानिदं वचनमब्रवीत् ।
यात यूयं महीं विप्रा मनुना त्रिदिवादितः ।।
भारतं वर्षमाश्रित्य वर्तध्वं मनुना सह ।
इति सञ्चोदितास्तेन भरताः पद्मयोनिना ।।
अयोध्यां मानवेन्द्रेण मनुना सार्धमाययुः ।
तत्र राजर्षिचरितं पुरा कल्पान्तरे कृतम् ।।
प्रबन्धेषूपदिश्यैतत्तत्तन्नेतृपरिच्छदम् ।
रसैर्भावैरभिनयैः प्रयोगैश्च विचित्रितैः ।।
नाट्यवेदोपदिष्टेन सदा सङ्गीतवर्त्मना ।
भूभारवहनश्रान्ति मनोः सम्यगपानुदन् ।।
परिगृह्य ततः शिष्यान्भरतान्कांश्चन द्विजान् ।
देशे देशे नरेन्द्राणां विनोदं तैरचीकरत् ।।
तत्र प्रयुक्तसङ्गीतं देशरीतिपरिष्कृतम् ।
प्रयोगाणां च वैचित्र्याद्देशीत्याख्यामुपागमत् ।।

---

ब्रह्मा के द्वारा प्रणीत पृथ्वी पर कल्पित भरत-प्रयोगों से अपनी भू-भार की थकान को दूर करो और यथासुख मनोरंजन करो।

६ इस प्रकार सूर्य मनु को आदेश देकर स्वर्ग-लोक चले गये। मनु ने ब्रह्मा के लोक में जाकर और पितामह को प्रणाम कर अपनी भू-भार की समस्त थकान का निवेदन किया। ब्रह्मा ने भी मनु की भूमि-भार से उत्पन्न खिन्नता को समझकर, सभी भरतों का आह्वान कर इस प्रकार कहा—तुम सब विप्र मनु के साथ स्वर्ग से पृथ्वी पर जाओ और भारतवर्ष के आश्रित होकर मनु के साथ वास करो। ब्रह्मा के इस प्रकार कहने पर भरत मानवेन्द्र मनु के साथ अयोध्या आ गये। वहाँ पूर्व-कल्प में एक राजर्षि का चरित हुआ था, उस चरित को प्रबन्ध मे रचकर, उस-उस नेता की वेशभूषा धारण कर रस, भाव, अभिनय और विचित्र प्रयोगों से; नाट्यवेद में कहे गये संगीत के मार्ग से उन भरतों ने मनु की भूभार से उत्पन्न थकान को दूर किया। तदनन्तर कुछ द्विज भरत-शिष्यों को ग्रहण कर उन भरतों ने देश-देश में राजाओं का मनोरंजन किया। वहाँ पर प्रयुक्त हुआ संगीत देश की रीति से अलंकृत किया गया था अतः प्रयोगों की विचित्रता के कारण उसे 'देशी' नाम से कहा गया।

७ नाट्यवेदाच्च भरताः सारमुद्धृत्य सर्वतः ।
सङ्ग्रहं सुप्रयोगार्हं मनुना प्रार्थिता व्यधुः ॥
एकं द्वादशसाहस्त्रैः श्लोकैरेकं तदर्धतः ।
षड्भिः श्लोकसहस्त्रैर्यो नाट्यवेदस्य सङ्ग्रहः ॥
भरतैर्नामतस्तेषां प्रख्यातो भरताह्वयः ।
यदिदं भारते वर्षे मनुना सुप्रकाशितम ॥
८ सङ्गीतशास्त्रं सर्वत्र राज्ञां विश्रान्तिसौख्यदम् ।
तस्मादिदं विनोदार्थं राज्ञामेव पुरा कृतम् ॥
विश्रमाय महीभारविश्रान्तानां सुखप्रदम् ।
अस्य सङ्गीतशास्त्रस्य प्रयोक्तृणां च लक्षणम् ॥
स्वरूपं कर्म चैतेषां यथावत्प्रतिपाद्यते ।
९ सूत्रधारः प्रथमतो नटः पश्चात्ततो नटी ॥
स पारिपार्श्विकः पश्चात्ततस्ते च कुशीलवाः ।
विदूषकेण सहिता नाट्यकर्मोपयोगिनः ॥
१० नाट्यकर्मप्रयोक्ता यः स तद्विद्भिरुदीर्यते ।
शैलूषो भरतो भावो नट इत्यादिनामभिः ॥
११ नानाशीलस्य लोकस्य भावान् भासयतीह यः ।
भूमिकास्ताः प्रविश्यातः शैलूष इति कथ्यते ॥

---

७ मनु द्वारा प्रार्थना किये जाने पर भरतों ने नाट्य-वेद से सर्वतः सार को उद्धृत करके सुष्ठु प्रयोगों के योग्य एक संग्रह तैयार किया। जिसमें एक बारह हजार श्लोकों से युक्त था और एक उसका आधा अर्थात् ६ हजार श्लोकों से युक्त था। ६ हजार श्लोकों से युक्त जो नाट्य-वेद का संग्रह था, उनका नाम भरतों के नाम से 'भरत' प्रसिद्ध हुआ। जो यह भारतवर्ष में मनु के द्वारा प्रकाशित किया गया।[1]

८ संगीत-शास्त्र सर्वत्र राजाओं को विश्रान्ति-सुख प्रदान करता है। इसलिए यह राजाओं के ही मनोरंजन के लिए पहले कहा जाता है। भूमि-भार का वहन करने से थके मन वालों के विश्राम के लिए सुख प्रदान करता है। इस संगीतशास्त्र के तथा प्रयोक्ताओं के लक्षण, स्वरूप और कर्म यथावत् प्रतिपादित करते हैं।

९ सूत्रधार, नट, नटी, पारिपार्श्विक तथा कुशीलव विदूषक सहित नाट्यकर्म के उपयोगी पात्र कहे जाते हैं।

१० नाट्य-कर्म का जो प्रयोक्ता है वह उन विद्वानों द्वारा शैलूष, भरत, भाव, नट इत्यादि नामों से पुकारा जाता है।

**(शैलूष)**

११ नाट्य में जो उन दूसरे रूपों को धारण कर विभिन्न-स्वभाव वाले लोक के भावों को प्रकट करता है, वह 'शैलूष' कहलाता है।

१२ भाषावर्णोपकरणैर्नानाप्रकृतिसम्भवम् ।
वेषं वयः कर्म चेष्टां बिभ्रद्भरत उच्यते ॥
१३ अतीतं लोकवृत्तान्तं रसभावसमन्वितम् ।
स्वभाववन्नाटयति यतस्तस्मान्नटः स्मृतः ॥
१४ सूत्रयन्काव्यनिक्षिप्तवस्तुनेतृकथारसान् ।
नान्दीश्लोकेन नान्द्यन्ते सूत्रधार इति स्मृतः ॥
१५ आसूत्रयन् गुणान्नेतुः कवेरपि च वस्तुनः ।
रङ्गप्रसाधनप्रौढ़ः सूत्रधार इहोच्यते ॥
१६ भरतेनाभिनीतं यद्भावं नानारसाश्रयम् ।
परिष्करोति पार्श्वस्थः स भवेत्पारिपार्श्विकः ॥
१७ चतुरातोद्यविद्वाग्मी प्रियवाग्गीततालवित् ।
उपधार्य प्रयोक्ता यः स सूत्रधृगितीरितः ॥
१८ उज्ज्वला रूपवन्तश्च नृपोपकरणक्रियाः ।
मेधाविनो विधानज्ञा स्वस्वकर्मणि पण्डिताः ॥

---

(भरत)

१२ भाषा, वर्ण तथा उपकरण से विभिन्न-प्रकृति से उत्पन्न वेष, अवस्था, कर्म और चेष्टा को धारण करने के कारण 'भरत' कहा जाता है।

(नट)

१३ जो रस और भाव से युक्त अतीत लोकवृत्त का स्वभाववत् अभिनय करता है, उसे 'नट' कहते है।

(सूत्रधार)

१४ नान्दी-श्लोक के द्वारा नान्दी के अन्त में काव्य में निक्षिप्त वस्तु, नेता, कथा तथा रस को सूत्र में धारण करने वाला 'सूत्रधार' कहलाता है।

१५ नेता, कवि और वस्तु के गुणों को सूत्र रूप में धारण करता हुआ जो रंगमंच के प्रसाधन में प्रौढ़ होता है, वह 'सूत्रधार' कहलाता है।

(पारिपार्श्विक)

१६ जो पार्श्वस्थ (सूत्रधार का सहायक) भरत द्वारा अभिनीत, विभिन्न रसो के आश्रित भाव का परिष्कार करता है, वह 'पारिपार्श्विक' कहलाता है।

(सूत्रधार)

१७ जो चार प्रकार के आतोद्य (विधान) को जानने वाला, वाक्पटु (वाग्मी), प्रिय बोलने वाला, गीत तथा ताल का ज्ञाता, उपधार्य तथा प्रयोक्ता होता है, वह 'सूत्रधार' कहलाता है।

(नट)

१८ जो उज्ज्वल, रूपवान, राजोचित क्रियाओं में कुशल, मेधावी, विधान को जानने वाले, अपने-अपने कर्म में पण्डित, सूत्रधार का हित करने वाले, दक्ष,

सूत्रधारहिता दक्षायथोद्देशप्रयोगिनः ।।
एभिरेव गुणैर्युक्ता नटा नाट्ये भवन्ति हि ।।
१९ भूमिकाभिरनेकाभिः कर्मवागङ्गचेष्टितैः ।
यथाप्रकृतिसन्धानकुशलास्ते कुशीलवाः ।।
चतुरातोद्यभेदज्ञास्तत्कलासु विशारदाः ।
करणाभिनयज्ञाश्च सर्वभाषाविचक्षणाः ।।
२० नटानुयोक्त्री कृत्येषु नटस्य गृहिणी नटी ।
२१ विदूषकोऽपि सर्वत्र विनोदेषूपयुज्यते ।।
विटश्च कामसाचिव्यकरणेनोपयुज्यते ।
२२ तदात्वप्रतिभो नर्मचतुर्भेदप्रयोगवित् ।।
वेदविन्नर्मवेदी यो नेतुः स स्याद्विदूषकः ।
खलतिः पिङ्गलाक्षश्च हास्यानूकविभूषितः ।।
पिङ्गकेशो हरिश्मश्रुर्नर्तकश्च विदूषकः ।

---

यथोद्देश प्रयोग करने वाले—इन गुणों से युक्त होते है, वे नाट्य में 'नट' कहलाते है ।

(कुशीलव)

१९ जो अनेक प्रकार की भूमिकाओं (दूसरे पात्रों के रूप को धारण करने) से तथा कर्म, वाचिक और आंगिक चेष्टाओं से स्वभावोचित कार्य करने में कुशल होते हैं, वे 'कुशीलव' कहलाते हैं । ये चार प्रकार के आतोद्य (विधान) के भेद को जानने वाले, उनकी कलाओं में प्रवीण (विशारद), करण और अभिनय के ज्ञाता तथा सभी भाषाओं के विशेषज्ञ होते हैं ।

(नटी)

२० कार्यो में नट की वैतनिक-अध्यापिका (अनुयोक्त्री) और नट की गृहिणी 'नटी' कहलाती है ।

२१ विदूषक का उपयोग सर्वत्र मनोरंजन के लिए होता है और विट काम-साचिव्य कार्य के लिए उपयुक्त होता है ।

(विदूषक)

२२ तात्कालिक-प्रतिभा से सम्पन्न, नर्मविद्, चार प्रकार के प्रयोगों (कायिक, वाचिक, सात्त्विक और आहार्य) को जानने वाला, वेदविद् तथा नर्म (केलि-क्रीडा) को जानने वाला—जो नायक का सहायक होता है, वह 'विदूषक' कहलाता है । गंजा, भूरी (पिंगल) आँखों वाला, हास्यास्पद स्वभाव से विभूषित, भूरे केशों वाला, शेर जैसी दाढ़ी-मूँछ वाला तथा नर्तक, 'विदूषक' होता है ।

२३ वेश्योपचारकुशलो मधुरो दक्षिणः कविः ।।
प्रतिपत्तिपरो वाग्मी चतुरश्च विटो मतः ।
माल्यभूषोज्ज्वलः कुप्यत्यनिमित्तं प्रसीदति ।।
विटः प्राकृतवादी च प्रायो बहुविकारवान् ।
एते नाट्यप्रयोक्तारो राज्ञां स्युः सुखभोगिनाम् ।।
२४ प्रथमं तस्य(त्र)राजानं प्रकृतिं च त्रिधा स्थिताम् ।
महिषीञ्च महादेवीं देवीञ्च सहभोगिनीम् ।।
आश्रितां नाटकीयाञ्च कामुकां शिल्पकारिकाम् ।
विज्ञाय चान्तःपुरिकाः पश्चाच्च परिचारिकाः ।।
शय्यापालीं छत्रपालीं तथा चामरधारिणीम् ।
संवाहिकां गन्धयोक्त्रीं माल्याभरणयोजिके ।।
एता विज्ञाय तत्पश्चाद्विद्यात्तदनुचारिकाः ।
नानाकक्ष्यामधिष्ठात्र्यः तथोपवनभूमिकाः ।।
देवतायजनक्रीडाहर्म्यप्रासादमालिकाः ।
एता विज्ञाय भूपानां विद्यात्सञ्चारिका अपि ।।
वीटिकादायिनीर्वेत्रधारिणीरसिधारिणीः ।
आह्वायिकाः प्रेक्षणिकास्तथा यामिनिकीरपि ।।

---

(विट)

२३ वेश्याओं की सेवा-शुश्रुषा करने में कुशल, मधुर, दक्षिण (चतुर), कवि, समादृत (सम्मानित), वाक्पटु तथा चतुर 'विट' कहलाता है। माला तथा आभूषण से उज्ज्वल (सुशोभित), अकारण क्रोध करने वाला और हँसने वाला, प्राकृत-भाषा बोलने वाला तथा प्रायः बहु-विकारों से युक्त 'विट' होता है। ये सुख-भोगी राजाओं के नाट्य-प्रयोक्ता होते है।

२४ सर्वप्रथम वहाँ राजा, तीन प्रकार की विद्यमान प्रकृति, महिषी, महादेवी, देवी, सहभोगिनी, आश्रिता, नाटकीया, कामुका तथा शिल्पकारका—इन अन्त पुरिकाओं को जानकर; पुनः, शय्यापाली, छत्रपाली, चामरधारिणी, संवाहिका, गन्धयोक्त्री, मालायोक्त्री तथा आभरणयोक्त्री—इन परिचारिकाओं को जानकर; तत्पश्चात्, विभिन्न कक्षों की अधिष्ठात्रियों, उपवन की अधिष्ठात्रियों तथा देवता, यज्ञ, क्रीडा, महल (हर्म्य) और प्रासाद की अधिष्ठात्रियों—इन अनुचारिकाओं को जानकर; तदनन्तर, वीटिकादायिनियों (पान देने वालियों), वैत्रधारिणियों, असिधारिणियों (तलवार धारण करने वालियों), आह्वायिकाओं, प्रेक्षणिकाओं तथा यामिनियों—इन संचारिकाओं को जानना चाहिए।

२५ एताः सञ्चारिका राज्ञस्तथैता ह्यनुचारिकाः ।
अवियुक्ताश्चरन्त्येताः सर्वावस्थासु भूभृतः ॥

२६ महत्तर्यः प्रतीहार्यो वृद्धा आयुक्तिका अपि ।
कञ्चुकीया वर्षवराः किराताः कुब्जवामनाः ॥
औपस्थापकिनिर्मुण्डा अभ्यागाराश्च मूकिनः ।
एते ह्यन्तःपुरचरास्तेषां लक्षणमुच्यते ॥

२७ अभिगम्यगुणोपेतो नेता वा प्रेक्षकोऽपि वा ।
विजिगीषुर्महोदात्तः सम्यक्सङ्गीतवेदिता ॥
चतुर्णामपि वर्णानां राजा सङ्गीतमर्हति ।
तस्य त्रिधा स्यात्प्रकृतिरुत्तमाधममध्यमा ॥

२८ स्त्रीणां तथा स्यादेतासां शीलं भावान्विशेषतः ।
ज्ञात्वा ततस्ताः प्रकृतीः सुखेनाभिनयेन्नटः ॥

२९ मूर्धाभिषिक्ता महिषी तुल्यशीलकुलान्विता ।
अनभिज्ञा सपत्नीनां सहधर्मचरी भवेत् ॥

३० अन्तःपुरहिता साध्वी शान्तिस्वस्त्ययनैर्युता ।
अनीर्ष्या पतिशीलज्ञा महादेवी पतिव्रता ॥

---

२५ राजा की ये सचारिकायें तथा अनुचारिकायें राजा की सभी अवस्थाओं में अवियुक्त होकर विचरण करती है ।

२६ महत्तरी, प्रतीहारी, वृद्धा, आयुक्तिका, कञ्चुकीय, वर्षवर, किरात, कुबडे, बौने, औपस्थापिक, निर्मुण्ड (संन्यासी), अभ्यागार तथा गूँगे—ये अन्तःपूरचर अन्तःपुर में रहने वाले) हैं ।
अब उनके लक्षण कहते है ।

२७ पूज्य-गुणों से युक्त नेता या प्रेक्षक, विजय की इच्छा करने वाला, उदात्त प्रकृति वाला, संगीत शास्त्र को भलीभाँति जानने वाला, चारों वर्णो का राजा संगीत के योग्य होता है । उसकी तीन प्रकार की प्रवृत्ति होती है—उत्तम, मध्यम तथा अधम ।

२८ इसी प्रकार (राजा की) स्त्रियों की तीन प्रकार की प्रवृत्ति होती है—उत्तम, मध्यम तथा अधम । नट विशेष-रूप से इन (स्त्रियों) के शील और भावों को, तदनन्तर उन प्रकृतियों को जानकर सुखपूर्वक अभिनय करे ।

**(महिषी)**

२९ मूर्धाभिसिक्ता, समान शील तथा कुलवाली, सपत्नियों से अनभिज्ञ, सहधर्मचारिणी राजा की स्त्री 'महिषी' कहलाती है ।

**महादेवी**

३० अन्तःपुर का हित करने वाली, साध्वी, शान्ति तथा स्वस्त्ययन से युक्त, ईर्ष्या न करने वाली, पति के शील-स्वभाव को जानने वाली, पतिव्रता राजा की स्त्री 'महादेवी' कहलाती है ।

३१ एभिर्गुणैर्युता किञ्चित्तत्सत्कारविवर्जिता ।
गर्विता रतिसम्भोगतत्परा च समत्सरा ।।
रूपयौवनसम्पन्ना राज्ञा देवीति कथ्यते ।
३२ नित्यं प्रसाधनवती शीलरूपगुणान्विता ।।
स्वयं प्रवृत्तसुरता प्रवृत्ते भोगवर्त्मनि ।
सपत्नीनामसहना भोगिनीति निगद्यते ।।
३३ भोगोपस्करसंस्कर्त्री नृपतेश्छन्दवर्तिनी ।
गतेर्ष्या भोगकुशला दयालुश्चाश्रिता भवेत् ।।
३४ नृपतेर्गीतवस्तूनि गायिनी रतिमन्दिरे ।
स्वाभिः शृङ्गारचेष्टाभिः पत्युर्मन्मथवर्धिनी ।।
मुखपाठेन नृत्यन्ती नाटकीयेति कथ्यते ।
३५ निषीदन्तं निषीदन्ती गच्छन्तमनुयायिनी ।।
भुञ्जानमनुभुञ्जाना शयानमनुशायिनी ।
सा कामुकेति विज्ञेया देशकालानवेक्षिणी ।।

---

(देवी)

३१ इन (उपर्युक्त) गुणों से युक्त, कुछ उस सत्कार से वंचित, गर्विता, रति-क्रीड़ा में तत्पर रहने वाली, मत्सर-युक्त तथा रूप-यौवन से सम्पन्न राजा की स्त्री 'देवी' कहलाती है।

(भोगिनी)

३२ नित्य शृगार करने वाली; शील, रूप तथा गुणों से सम्पन्न, भोग में प्रवृत्त होने पर स्वयं सुरत में प्रवृत्त होने वाली, सपत्नियों को सहन न करने वाली रानी 'भोगिनी' कही जाती है।

(आश्रिता)

३३ भोग की सामग्री का संस्कार करने वाली, राजा के अनुकूल रहने वाली, ईर्ष्यारहिता, भोग में कुशल तथा दयालु रानी 'आश्रिता' कहलाती है।

(नाटकीया)

३४ सुरत-महल में राजा के गीत-भाव को गाने वाली, अपनी शृंगार की चेष्टाओं से पति के काम-भाव को बढाने वाली, मुख-पाठ से नृत्य करती हुई रानी 'नाटकीया' कहलाती है।

(कामुका)

३५ राजा के बैठने पर बैठने वाली, चलने पर चलने वाली, भोजन करने पर भोजन करने वाली, सोने पर सोने वाली, देश तथा काल का ज्ञान न रखने वाली स्त्री 'कामुका' जानी जाती है।

३६ वासोऽङ्गरागाभरणमाल्यशिल्पविधायिनी ।
विचित्रसुरतक्रीडा पत्युर्वैचित्र्यदायिनी ।।
शयनासनशिल्पज्ञा सा भवेच्छिल्पकारिका ।
आसां स्वभावमालोच्य यथाभावं प्रयोजयेत् ।।
३७ राज्ञो महिष्यास्सर्वत्र सर्वावस्थासु सर्वदा ।
स्वाधिकारैर्यथायोगं घटन्ते परिचारिकाः ।।
आसां शीलं स्वभावञ्च यथाभावं प्रयोजयेत् ।
सञ्चारिकाणां कर्माणि तत्र तत्र प्रयोजयेत् ।।
सञ्चारिका यथा योज्यास्तथा स्युरनुचारिकाः ।
३८ कामोपभोगसम्भोगगुह्यागुह्यसमर्थने ।।
या राज्ञा विनियुज्यन्ते ताः स्युः प्रेक्षणिकाः स्त्रियः ।
३९ प्रीत्याऽऽन्तःपुरिका नित्यमाशीःस्वस्त्ययनादिभिः ।।
पृच्छन्त्यः कुशलं देवीस्ता महत्तर्य ईरिताः ।
४० ता नियोज्यास्सदा राज्ञा सर्वान्तःपुररक्षणे ।।
याः पञ्चमाब्दादधिका दशमाब्दावराः स्त्रियः ।

---

(शिल्पकारिका)

३६ वस्त्र, अंगराग, आभूषण, माला में शिल्प-विधान करने वाली, विचित्र सुरत-क्रीड़ा करने वाली, पति को विचित्रता प्रदान करने वाली, शय्या तथा आसन के शिल्प को जानने वाली स्त्री 'शिल्पकारिका' कहलाती है।

इन सभी के स्वभाव को देखकर यथाभाव प्रयोग करना चाहिए।

३७ राजा तथा महिषी की सर्वत्र सभी अवस्थाओं में सर्वदा अपने-अपने कार्यो से परिचारिकायें यथायोग्य काम में लगी रहती हैं। (इन परिचारिकाओं) के शील और स्वभाव का यथाभाव प्रयोग करना चाहिए। संचारिकाओं के कर्मो का वहाँ-वहाँ प्रयोग करना चाहिए। संचारिकाओं को जैसे काम में लगाया जाय वैसे ही अनुचारिकाओं को काम में लगाना चाहिए।

(प्रेक्षणिका)

३८ जो स्त्रियाँ काम, उपभोग, सम्भोग, गुह्यागुह्य कार्यो में राजा के द्वारा नियुक्त की जाती हैं, वे 'प्रेक्षणिका' कहलाती है।

(महत्तरी)

३९ प्रेमपूर्वक अन्तःपुर मे वास करने वाली, नित्य आशीर्वाद, स्वस्त्ययन आदि से देवियो की कुशलता पूछने वाली 'महत्तरी' कहलाती है।

(प्रतीहारी)

४० राजा द्वारा सर्वदा समस्त अन्तःपुर की रक्षा के लिए वे स्त्रियाँ नियुक्त की जानी चाहिए, जो पाँच वर्ष से अधिक तथा दस वर्ष से कम आयु वाली कुमारी

कुमार्यस्ताः कुमारीणां प्रतीहार्य इति स्मृताः ।
प्रत्यन्तःपुरिकं तास्तु सुखदुःखसमन्विताः ।
निवेदयन्ति वृत्तान्तं कुमार्या सह सर्वदा ॥
४१ अजातरतिसम्भोगा निभृता लज्जयाऽन्विताः ।
अन्तःपुरविहारिण्यः कुमार्यः कुलजाः स्मृताः ॥
ता लालनीया नृपतेरवरोधवधूजनैः ।
४२ पूर्वराजनयज्ञाश्च तैः क्रमेणैव मानिताः ॥
पूर्वराजोपचारज्ञा यास्ता वृद्धा इतीरिताः ।
कथयन्त्यः कथाश्चित्रा वाक्यैः प्रहसनैरपि ॥
विनोदयन्ति ता राज्ञः स्त्रियोऽन्तःपुरवर्तिनीः ।
४३ फलमूलौषधीमाल्यगन्धाभरणवाससाम् ॥
भाण्डायुधासनानां स्युरष्टावायुक्तिकाः स्मृताः ।
ताश्चान्तःपुरचारिण्यः नियोज्यास्तेषु कर्मसु ॥
४४ अकामा ब्राह्मणाश्चैव कञ्चुकोष्णीषवेत्रिणः ।
ज्ञानविज्ञानसम्पन्नाः कञ्चुकीयाः स्मृता बुधैः ॥

---

स्त्रियाँ हों। वे कुमारियों की 'प्रतीहारी' कहलाती है। सुख-दुःख में साथ रहने वाली वे प्रतीहारी सदा कुमारियो के साथ अन्तःपुर के वृत्तान्तों का निवेदन करती है।

(कुमारी)

४१ अनुत्पन्न रति-सम्भोग वाली, शान्त, लज्जाशीला, अन्त.पुर मे विहार करने वाली, कुलीन 'कुमारी' कहलाती है। राजा के अन्तःपुर की वधुओं द्वारा उनका लालन-पालन किया जाना चाहिए।

(वृद्धा)

४२ पूर्वज राजाओं की नीति को जानने वाली, उन पूर्वजों द्वारा क्रमशः सम्मानित तथा पूर्वज राजाओं के उपचार (व्यवहार) को जानने वाली जो स्त्रियाँ होती है, वे 'वृद्धा' कहलाती है। वे (वृद्धाएँ) हास्यास्पद वाक्यों के साथ विचित्र कथाएँ सुनाती हुई राजा की अन्त.पुरवासिनी स्त्रियों का मनोरंजन करती है।

(आयुक्तिका)

४३ फल-मूल, औषधि, माला-गन्ध, आभूषण, वस्त्र, भाण्ड, आयुध (अस्त्र-शस्त्र), आसन की व्यवस्था के लिए नियुक्त की गयीं ये आठ प्रकार की स्त्रियां 'आयुक्तिका' कहलाती है। अन्त पुर में रहने वाली वे (आयुक्तिकायें) उन कार्यों में नियुक्त की जानी चाहिए।

(कञ्चुकीय)

४४ निष्कामी, ब्राह्मण; कंचुक (चौगा), पगडी तथा बेंत धारण करने वाले तथा ज्ञान-विज्ञान से सम्पन्न व्यक्ति विद्वानों द्वारा 'कंचुकीय' कहे जाते है।

४५ अल्पसत्त्वाः स्त्रीस्वभावाः क्लीबा निष्कामिनः स्वतः ।
जात्या वा कामनिर्मुक्तास्ते तु वर्षवराः स्मृताः ॥
४६ वन्यमूलफलाहाराः पल्लीपर्वतवासिनः ।
चित्रस्त्रीकाः सुभाषाज्ञाश्चिबुकाः कर्कशाङ्गकाः ॥
ते किराता बलाद्राज्ञा वारं वारं नियोजिताः ।
४७ कञ्चुकीया नृपाभ्याशवर्तिनोऽन्तःपुराश्रयाः ॥
भवनान्तरकृत्येषु नियोज्याः प्रेष्यकर्मणि ।
साहाय्ये कामचारस्य राज्ञः प्रच्छन्नकामिनः ॥
वारव्यत्यासकथने स्त्रीणां वर्षवराः स्मृताः ।
४८ राजावरोधभोग्यानां भाण्डाभरणवाससाम् ॥
सद्योऽन्तःपुरदण्डेषु किराता योजिता नृपैः ।
४९ परिहासविनोदेषु स्त्रीणां स्युः कुब्जवामनाः ॥
५० अविद्धकर्णः क्लीबश्च ह्रस्वो विकटदन्तकः ।
तुन्दिलोऽभ्यन्तरचर औपस्थापिक उच्यते ॥

---

(वर्षवर)

४५ इकहरे शरीर वाले (अल्पसत्त्व), स्त्री जैसे स्वभाव वाले, क्लीव (नपुंसक), निष्कामी स्वतः या जाति से काम से मुक्त व्यक्ति 'वर्षवर' कहलाते है।

(किरात)

४६ जंगली कन्द-मूल फल का आहार करने वाले, नदी के किनारे तथा पर्वतों पर वास करने वाले, विचित्र स्त्री वाले, सुन्दर भाषा जानने वाले, कर्कश चिबुक तथा कठोर अंगों वाले—वे 'किरात' राजा द्वारा बलात् बार-वार नियुक्त किये जाते है।

४७ कंचुकीय राजा के समीपवर्ती होते हैं तथा अन्तःपुर के आश्रित रहते है। ये अन्तःपुर के कार्यो में तथा प्रेष्य-कर्म मे नियुक्त किये जाने चाहिए। विषयासक्त प्रच्छन्न-कामी राजा की सहायता के लिए स्त्रियों के वार-विरोध के कथन मे 'वर्षवर' नियुक्त किये जाते हैं।

४८ राजा के अवरोध (अन्तःपुर) के भोग्य-भाण्ड, आभरण तथा वस्त्रों के लिए तथा तत्काल अन्तःपुर के दण्ड में राजाओं द्वारा 'किरात' नियुक्त किये जाते हैं।

४९ स्त्रियों के परिहास और मनोरंजन के लिए कुबड़े तथा बौने नियुक्त किये जाते हैं।

(औपस्थापिक)

५० न छिदे हुए कानों वाला, नपुसक, बौना, बड़े-बड़े दाँतों वाला, तोंदू तथा अन्तःपुर में विचरण करने वाला पुरुप 'औपस्थापिक' कहलाता है।

५१ अज्ञातकामा निष्कोशा निर्मुण्डा इति च स्मृताः ।
५२ वधूपस्थापने राज्ञामौपस्थापिक उच्यते ॥
प्रस्थापने वधूनां स निर्मुण्डो योज्यते नृपैः ।
५३ पुंस्त्रीलिङ्गविलुप्ताङ्गाः स्वल्पश्मश्रुस्तनान्विताः ॥
अभ्यागारा इति ज्ञेया अभ्यागाराधिकारिणः ।
५४ नियोगकारका राज्ञां सर्वावस्थासु सर्वदा ॥
मूकाःकुहकलीलाभिः सर्वत्र परिहासकाः ।
तेषां भावं परिज्ञाय तथैवाभिनयेन्नटः ॥
५५ राजा सेनापतिश्चैव युवराजः पुरोहितः ।
प्राश्निकाः प्राड्विवाकास्त आयुक्ताः सचिवास्तथा ॥
एते सभासदः कार्याः प्राश्निकाः प्रागुदाहृताः ।
५६ नानाभावविशेषज्ञा नानाशिल्पविचक्षणाः ॥
शयने चासने वाऽपि लेख्येऽलङ्कारयोजने ।
परिहासेङ्गितज्ञाने चतुरातोद्यवेदने ॥
नृत्ते गीते च कुशला नानाभावविचक्षणाः ।
मनस्विनो मानधना ऊहापोहविशारदाः ॥
अर्थेषु स्त्रीषु शुद्धाश्च सदस्याः कथिता बुधैः ।

---

(निर्मुण्ड)

५१ काम से अपरिचित तथा कोश (संग्रह) से परे रहने वाले 'निर्मुण्ड' कहलाते है।

५२ राजाओं की बधुओं के निकट रहने के लिए 'औपस्थापिक' कहा जाता है। वधुओ को भेजने के लिए राजाओं द्वारा वह 'निर्मुण्ड' नियुक्त किया जाता है।

(अभ्यागार)

५३ स्त्री-पुरुष के चिह्नो से रहित अगों वाले, थोड़ी दाढी-मूँछ वाले, स्वल्प स्तनों से युक्त, अभ्यागार (घर) के अधिकारी 'अभ्यागार' जाने जाते है।

(मूक)

५४ राजाओ की सभी अवस्थाओ में सर्वदा आज्ञाकारी तथा कुहक (छली) लीलाओ से सर्वत्र हँसी करने वाले 'मूक' कहलाते हैं।
उन सभी के भाव को जानकर नट को उसी प्रकार का अभिनय करना चाहिए।

५५ राजा, सेनापति, युवराज, पुरोहित, प्राश्निक, प्राड्विवाक, आयुक्त तथा सचिव इन सभी सभासदो के बारे में कहना है, प्राश्निक के बारे मे पहले कह चुके है।

(सदस्य)

५६ विभिन्न-भावों के विषय मे विशेष ज्ञान रखने वाले, विभिन्न-शिल्पों में कुशल; शय्या, आसन, लेख, अलंकार-योजना, परिहास, इगित-ज्ञान, चार प्रकार की आतोद्यविद्या, नृत्य तथा गीत में कुशल, विभिन्न भावों में कुशल, मनस्वी, मानी, विचार-विमर्श मे प्रवीण, धन व स्त्रियों के विषय में शुद्ध (ईमानदार व सच्चरित्र) विद्वानों द्वारा सभा के 'सदस्य' कहे जाते हैं।

५७ वैतालिका बन्दिनश्च नान्दीमङ्गलपाठकाः ॥
सूताश्च मागधाश्चैव सदस्याः स्युः कदाचन ।

५८ तत्तत्प्रहरकयोग्यैरागैस्तत्कालवाचिभिः श्लोकैः ।
सरभसमेव वितालं गायन्वैतालिको भवति ॥
वक्त्रं वाऽपरवक्त्रं वा नेपथ्ये गातुमर्हति ॥

५९ वन्द्यमानेश्वरक्ष्मापवंशवीर्यगुणस्तवैः ।
वन्द्यभूभृद्गुणोत्कर्षश्रावका बन्दिनः स्मृताः ॥

६० आशीःपुरस्कृतैर्वाक्यैर्मङ्गलार्थप्रकाशकैः ।
मङ्गलानि प्रशंसन्तो नान्दीमङ्गलपाठकाः ॥

६१ नन्दनोयानि वाक्यानि मङ्गलानि च भूभृताम् ।
पठन्ति भोगार्थानीति नान्दीमङ्गलपाठकाः ॥

६२ सुखस्वापविदो राज्ञां सुप्रभातप्रशंसकाः ।
सूताः सवनयोग्यानां कर्मणां बोधकाः स्मृताः ॥

६३ राज्ञः पुरजनस्यापि मङ्गलाचारशंसिनः ।
मान्यैर्मागधिकागीतैर्मागधा इत्युदीरिताः ॥

---

५७ वैतालिक, बन्दीजन, नान्दी व मंगल पाठ करने वाले, सूत व मागध—ये भी कभी सभा के 'सदस्य' कहे जाते है ।

**(वैतालिक)**

५८ उस-उस समय (प्रहर) के योग्य रागो के द्वारा तथा तत्काल बोले जाने वाले श्लोको से शीघ्रता के साथ विताल से गान करने वाला 'वैतालिक' कहलाता है । नेपथ्य के समय वक्त्र या अरपवक्त्र छन्द गाने के योग्य होता है ।

**(बन्दीजन)**

५९ ईश्वर की वन्दना करते हुए राजाओ के वश, पराक्रम तथा गुणो से सम्बन्धित स्तवको (स्तुतियो) द्वारा वन्दना कर राजाओं के गुणोत्कर्ष को सुनाने वाले 'बन्दीजन' कहलाते है ।

**(नान्दी-मंगलपाठक)**

६० आशीर्वादपूर्वक मगलार्थक वाक्यों के द्वारा मंगल (कल्याण) की आशंसा करने वाले 'नान्दी-मंगलपाठक' कहलाते हैं ।

६१ राजाओं के मंगल, आनन्द तथा योग के लिए जो पाठ पढ़ते है, वे 'नान्दी-मंगलपाठक' कहलाते हैं ।

**(सूत)**

६२ अपने सुख को न जानने वाले, राजाओं की सुबह प्रशंसा करने वाले तथा यज्ञीय कर्मों से अवगत कराने वाले 'सूत' कहलाते है ।

**(मागध)**

६३ प्रसिद्ध (मान्य) मागधिका[२] गीतों के द्वारा राजा तथा उसकी प्रजा के मंगल (कल्याण) की आशंसा करने वाले 'मागध' कहलाते है ।

६४ एवं सपरिवारस्य नेतुश्च प्रेक्षकस्य च ।
स्वभावमवगम्यैव नाट्येनाभिनयेन्नटः ॥
६५ वर्णकैरञ्जनैः स्नानैर्भूषणैश्चाप्यलङ्कृतः ।
गाम्भीर्यौदार्यसम्पन्नो राजवत्तु भवेन्नटः ॥
एवं स्वभावतो राज्ञां नित्यमेवोज्ज्वलो भवेत् ।
राजोपचारोऽभिनेयो यथाभावं यथारसम् ॥
६६ राजा सपरिवारश्च भरतश्च कुशीलवैः ।
नाट्यकृत्याभिन्निष्पन्नं ( विशन्तो रङ्गमण्टपम् ) ॥
६७ यत्र रज्यन्ति भावेन ( गानवादननर्तनैः ) ।
सभ्याः सभापतिसखाः स देशो रङ्गमण्टपः ॥
चतुरश्रत्र्यश्रवृत्तभेदात्सोऽपि त्रिधा भवेत् ।
६८ परमण्टपिकैः सद्भिः पौरजानपदैः सह ॥
राज्ञः सङ्गीतकं यत्र वृत्ताख्यो रङ्गमण्टपः ।
६९ वारकन्याऽमात्यवणिक्सेनापतिसुहृत्सुतैः ॥
यत्र सङ्गीतकं राज्ञां चतुरश्रः स कथ्यते ।

---

६४ इस प्रकार सपरिवार नेता व प्रेक्षक के स्वभाव को जानकर ही नट को नाट्य द्वारा अभिनय करना चाहिए ।

६५ वर्णक (लेप), अञ्जन, स्नान, भूषण आदि से अलंकृत तथा गम्भीरता व उदारता से सम्पन्न राजा के समान नट को होना चाहिए । राजाओं के इस प्रकार के स्वभाव से नट को नित्य ही उज्ज्वल होना चाहिए तथा यथाभाव, यथारस राजोचित उपचारो से अभिनय करना चाहिए ।

**(रंगमण्डप)**

६६ सपरिवार राजा और कुशीलवो के साथ भरत नाट्य-कृत्यो से निष्पन्न 'रंगमण्डप' पर प्रवेश करते हैं ।

६७ जहाँ सभ्यों (सामाजिकों) तथा सभापति के मित्रों को भाव के साथ गान, वादन तथा नृत्य से आनन्द प्राप्त होता है, वह स्थान (देश) 'रंगमण्डप' कहलाता है । वह (रगमण्डप) (१) चतुरश्र (चौकोर) (२) त्र्यश्र (त्रिकोण), तथा (३) वृत्त (आयताकार) भेद से तीन प्रकार का होता है ।[३]

**(वृत्त)**

६८ जहाँ परमण्डपिक सज्जनों, पौरवासियो के साथ राजा का सामूहिक संगीत (संगीतक) होता है, वह 'वृत्त' नामक रंगमण्डप कहलाता है ।

**(चतुरश्र)**

६९ जहाँ वारकन्याओ (गणिकाओं), अमात्य (मंत्री), वणिक् (वैश्य), सेनापति, मित्र तथा पुत्रों के साथ राजाओ का सामूहिक-संगीत (संगीतक) होता है, वह 'चतुरश्र' रगमण्डप कहलाता है ।

७० ऋत्विक्पुरोहिताचार्यैः सहान्तःपुरिकाजनैः ॥
७१ महिष्या सह यत्र स्यात्त्र्यश्रोऽसौ रङ्गमण्टपः ।
मार्गप्रक्रियया कार्यं सङ्गीतं त्र्यश्रमण्टपे ॥
चतुरश्रे मार्गदेशमिश्रं सङ्गीतकं भवेत् ।
मिश्रे तु चित्रं संयोज्यं वृत्ताख्ये रङ्गमण्टपे ॥
७२ ये नाट्यभेदाः कथितास्तेषु सङ्गीतकक्रियाः ।
त्रिमार्गतालनियमसिद्धत्वान्मार्गसंज्ञिताः ॥
नृत्तभेदाः क्वचिन्मार्गाः क्वचिद्देश्या भवन्ति ते ।
७३ मार्गप्रक्रियया शुद्धं सङ्गीतं यदि कल्प्यते ॥
शुद्धप्रयोक्ता भरतः सूत्रधृक्सकुशीलवः ।
देशरीतिविमिश्रं चेच्छुद्धं मिश्राख्यतामियात् ॥
७४ नटनर्तकनर्तक्यः चित्रसूत्रभृता सह ।
नाट्यं शुद्धमिति ख्यातं नृत्यं चित्रमिति स्मृतम् ॥
७५ नाट्यस्य प्रविभागस्तु यथाशास्त्रं प्रदर्श्यते ।

---

(त्र्यश्र)

७० जहाँ ऋत्विक्, पुरोहित, आचार्य तथा अन्त.पुरवासियो के साथ और महिषी के साथ राजा का सामूहिक संगीत (मंगीतक) होता है, वह 'त्र्यश्र' रंग-मण्डप कहलाता है।

७१ 'त्र्यश्र' मण्डप पर मार्ग-प्रक्रिया से सगीत का प्रयोग करना चाहिए। 'चतुरश्र' रंगमण्डप पर मार्ग तथा देशी—दोनों प्रक्रियाओं के मिश्रण से संगीतक होना चाहिए। 'वृत्त' नामक रंगमण्डप पर मिश्र (संगीत) में चित्र (नृत्य) की योजना करनी चाहिए।

७२ जो नाट्य-भेद कहे गये हैं, उनमें जो संगीतक की प्रक्रियाएँ हैं, वे त्रिमार्गीय[४] ताल-नियम से सिद्ध होने के कारण 'मार्ग' प्रक्रिया कहलाती हैं। जो नृत्य-भेद है वे कही 'मार्ग' और कही 'देशी' कहलाते है।

७३ मार्ग-प्रक्रिया से शुद्ध संगीत यदि कल्पित किया जाता है तो उस शुद्ध-संगीत के प्रयोक्ता भरत, सूत्रधार तथा कुशीलव होते है। यह शुद्ध-संगीत देश की रीति से मिश्रित होता है तो 'मिश्र' संगीत के नाम से जाना जाता है।

७४ नट, नर्तक तथा नर्तकी चित्र सूत्रधार के साथ नाट्य का प्रयोग करते है तो वह (नाट्य) 'शुद्ध' कहलाता है और नृत्य का प्रयोग करते हैं तो वह (नृत्य) 'चित्र' कहलाता है।

७५ शास्त्र के अनुसार नाट्य का विभाजन दिखाते हैं।

७६ नाटकस्थितवाक्यार्थपदार्थाभिनयात्मकम् ॥
नटकर्मैव नाट्यं स्यादिति नाट्यविदां मतम् ।
७७ पदार्थमात्राभिनयरूपं नर्तककर्म यत् ॥
तन्नृत्तनृत्यभेदेन तद्द्वयं द्विविधं भवेत् ।
तत्र भावाश्रयो मार्गो देशी तद्रहिता मता ॥
त्रिमार्गतालनियतं मार्गमित्यभिधीयते ।
देशीभवत्पुनस्तालल्यैराश्रयमिष्यते ॥
पुनरेतद्द्वयं द्वेधा मधुरोद्धतभेदतः ।
मधुरं लास्यमाख्यातमुद्धतं ताण्डवं विदुः ॥
सर्वं त्रिधा भवेदेतद्गीतवाद्योभयान्वयात् ।
७८ रसप्रधानाभिनयं मार्ग नृत्तं नटाश्रयम् ॥
भावाभिनेयं मार्ग तन्नृत्यं यन्नर्तकाश्रयम् ।
रसभावसमायुक्तमङ्गचालनसंश्रयम् ॥
मार्गदेशीविमिश्रं तु नटनर्तकसंयुतम् ।
७९ ललितैरङ्गहारैश्च निर्वर्त्यं ललितैर्लयैः ॥
वृत्तिः स्यात्कैशिकी गीतिर्यत्र तल्लास्यमुच्यते ।

---

७६ नाटक मे स्थित वाक्यार्थ, पदार्थ का अभिनय रूप नट का कर्म ही 'नाट्य' कहलाता है—ऐसा नाट्यविदों का मत है।

७७ पदार्थ-पात्र का अभिनय रूप नर्तक का जो कर्म है, वह नृत्त तथा नृत्य भेद से दो प्रकार का होता है। वे दोनों (नृत्त तथा नृत्य) दो प्रकार के होते है। वहाँ भाव के आश्रित मार्ग (नृत्य) होता है और भाव से रहित देशी (नृत्त) कहलाता है। त्रिमार्गीय ताल से निश्चित 'मार्ग' कहा जाता है और ताल तथा लय के आश्रित 'देशी' कहलाता है। पुनः ये दोनों (मार्ग तथा देशी) मधुर तथा उद्धत भेद से दो प्रकार के होते हैं। मधुर लास्य कहलाता है और उद्धत ताण्डव जाना जाता है। ये सभी (१) गीत, (२) वाद्य, तथा (३) गीत-वाद्य-मिश्रित भेद से तीन प्रकार के होते हैं।

७८ रस-प्रधान अभिनय रूप मार्ग-नृत्त नट के आश्रित होता है। जो नर्तक के आश्रित होता है, वह भावाभिनय रूप मार्ग-नृत्य होता है। रस तथा भाव से युक्त और अंग-संचालन (गात्र-विक्षेप) के आश्रित मार्ग और देशी का मिश्र रूप (नृत्य) नट और नर्तक के आश्रित होता है।

**(लास्य)**

७९ जहाँ ललित (सुकुमार) अगहारों से तथा ललित लयों से सम्पन्न कराकर कैशिकी-वृत्ति की गीति का प्रयोग किया जाता है, वह 'लास्य' कहलाता है।

८० उद्धतैः करणैरङ्गहारैर्निर्वर्तितं यदा ॥
वृत्तिरारभटी गीतकाले तत्ताण्डवं विदुः ।
८१ उभयं पूर्वरङ्गस्य नाटकादौ भविष्यतः ॥
नटकर्मात्मकत्वात्तद्द्वयं नाट्यमितीरितम् ।
८२ ताले गीते च वाद्ये च नृत्ते चाभिनयक्रमे ॥
सुकुमारप्रयोगो यो नियतो लास्यमुच्यते ।
८३ तच्छृङ्खलालतापिण्डीभेद्यकैः स्याच्चतुर्विधम् ॥
लता रासकनाम स्यात्तत्त्रेधा रासकं भवेत् ।
दण्डरासकमेकन्तु तथा मण्डलरासकम् ॥
एकन्तु योषिन्नियमान्नाट्यरासकमीरितम् ।
शृङ्खला भेद्यकञ्चापि दशधा भिद्यते पुनः ॥
तद्गेयपदमित्यादिलास्याङ्गत्वेन कथ्यते ।
पिण्डीबन्धे तु बहुधा भेदस्तत्ताण्डवस्य तु ॥
८४ पिण्डीबन्धात्मकं नृत्तं तद्देवत्वप्रहर्षणम् ।
भवेज्जर्जरपूजायां तत्तद्गतिपरिक्रमे ॥
८५ भावभेदात् लास्यभेदो बहुधा कथ्यते बुधैः ।

---

(ताण्डव)

८० जब उद्धत करण और अंगहारो से सम्पन्न कराकर गीत के समय आरभटी-वृत्ति का प्रयोग किया जाता है, वह 'ताण्डव' जाना जाता है ।

८१ ये दोनों (नृत्य) नाटकादि में पूर्वरग के होंगे । वे दोनों (नृत्य) नट के कर्मरूप होने के कारण 'नाट्य' कहे जाते है ।

८२ ताल, गीत, वाद्य, नृत्त और अभिनय-क्रम मे जो सुकुमार-प्रयोग निश्चित होता है, वह 'लास्य' कहा जाता है ।

८३ वह (लास्य) शृखला, लता, पिण्डी तथा भेद्यक भेद से चार प्रकार का होता है। लता (लास्य) 'रासक' नाम से जाना जाता है, वह रासक तीन प्रकार का होता है—(१) दण्डरासक, (२) मण्डलरासक, तथा (३) स्त्रियों के नियम के कारण नाट्य-रासक । पुनः शृंखला और भेद्यक (लास्य) दस प्रकार के होते है । वे 'गेयपद' इत्यादि के लास्य के अंग रूप से कहे जाते हैं। पिण्डीवन्ध (लास्य) के बहुत से भेद होते है और उस ताण्डव (नृत्य) के भी बहुत भेद होते हैं ।

८४ पिण्डीबन्धात्मक जो नृत्त होता है वह देवताओं की प्रसन्नता के लिए होता है । इसका प्रयोग इन्द्रध्वज-पूजा मे तथा उस-उस गति-परिक्रम में होना चाहिए ।

८५ विद्वानों द्वारा भाव-भेद से लास्य के भेद बहुत प्रकार के कहे जाते है ।

८६ तदेव नियमैर्हीनं देशे रुच्या प्रवर्तितम् ॥
गुण्डलीनृत्तमित्युक्तं तत्स्याद्देशेष्वनेकधा ।
देशीतालैश्च वाद्यैश्च देशीगीतैश्च कल्पितम् ॥
चतुष्षष्ट्यङ्गसंयुक्तगतिश्चा(?)लयरीतिमत् ।
८७ शुद्धं चित्रं च मिश्रञ्च गुण्डलीनर्तनं त्रिधा ॥
८८ कदाचित्कन्दुकक्रीडा कदाचिद्वर्णमानतः ।
तत्तद्देशगुणोत्थाभिर्लीलाभिः परिकल्प्यते ॥
८९ नाट्यं नृत्यञ्च नृत्तञ्च बृन्दहीनं न शोभते ।
अतो बृन्दं प्रकल्प्यं स्यादित्याहुर्भरतादयः ॥
९० नटाश्च नर्तकाश्चैव गायका वादकादयः ।
यस्मिन्प्रयोगे मिलितास्तत्र तद्वृन्दमुच्यते ॥
९१ तदेवाभ्यन्तरं बाह्यमिति द्वेधा विभिद्यते ।
अभ्यन्तरे स्यात्स्त्रीबृन्दं बाह्ये स्त्रीमर्त्यमिश्रितम् ॥
९२ ज्येष्ठमध्यकनिष्ठादिभेदाद्वृन्दं त्रिधाभवेत् ।
९३ अङ्गैरुपाङ्गैः प्रत्यङ्गैर्गीतमात्रानुगामिभिः ॥
पदार्थाभिनयो नृत्यं डोम्बीश्रीगदितादिषु ।

---

(गुण्डली नृत्त)

८६ वही (लास्य) बिना किन्ही नियमों के देश में रुचि से प्रवृत्त किया जाता है तो 'गुण्डली नृत्त' कहलाता है। वह (गुण्डली-नृत्त) देशो में अनेक प्रकार का होता है। यह देशी ताल, वाद्य तथा गीतों से कल्पित होता है। यह चौसठ अगों से युक्त और गति, लय तथा रीति वाला होता है।

८७ यह 'गुण्डली-नृत्त' तीन प्रकार का होता है—(१) शुद्ध, (२) चित्र, तथा (३) मिश्र।

८८ कभी कन्दुक-क्रीडा से, कभी वर्णमान से, उस-उस देश के गुणों से उत्पन्न लीलाओं से यह नृत्त कल्पित किया जाता है।

(वृन्द)

८९ नाट्य, नृत्य तथा नृत्त वृन्द के बिना सुशोभित नहीं होते, अतः वृन्द की कल्पना करनी चाहिए—ऐसा भरतादि आचार्यो ने कहा है।

९० नट, नर्तक, गायक तथा वादक आदि जिस प्रयोग में मिलते है, वहाँ वह 'वृन्द' कहलाता है।

९१ वही (वृन्द) दो प्रकार का होता है—(१) अभ्यन्तर, तथा (२) बाह्य। अभ्यन्तर में स्त्री-वृन्द होता है तथा बाह्य में स्त्री और पुरुष—दोनों का मिश्रित वृन्द होता है।

९२ ज्येष्ठ, मध्य तथा कनिष्ठ आदि भेद से वृन्द तीन प्रकार का होता है।[१]

९३ गीत तथा मात्रा के अनुसार अंग, उपांग तथा प्रत्यंगों से प्रस्तुत किया गया पदार्थाभिनय रूप नृत्य डोम्बी, श्रीगदित आदि (उपरूपकों) में प्रयुक्त होता है।

९४ अङ्गविक्षेपमात्रं यल्लयतालसमन्वितम् ॥
तन्नृत्तं नाटकाद्येषु रूपकेषु प्रयुज्यते ।
९५ अङ्गप्रत्यङ्गविक्षेपशून्यो योऽभिनयेन च ॥
तन्नृत्तं तत्र नृत्यन्तु यथोक्ताभिनयान्वितम् ।
९६ ताण्डवं तत्त्रिधा चण्डप्रचण्डोच्चण्डभेदतः ॥
तत्र ह्यारभटी वृत्तिस्तथैव परिकल्प्यते ।
९७ विलम्बितो लयो यत्र नृ(ग्र)हश्चातीतकल्पितः ॥
तद्वदारभटी यत्र तत् स्यात् चण्डताण्डवम् ।
९८ समग्रहो मध्यलयस्तथैवारभटीयुतः ॥
प्रचण्डताण्डवं तत्स्यादिति तत्र प्रयोजितम् ।
९९ अनागतो ग्रहो यत्र लयो यत्र द्रुतो भवेत् ॥
तादृश्यारभटी यत्र तत्स्यादुच्चण्डताण्डवम् ।
१०० एतत्त्रयं भवेत्त्रेधा गीतवाद्योभयान्वयात् ॥
१०१ करणाद्यङ्गहाराश्च गीतवाद्यल(द्योभ)यान्विताः ।
यत्रोद्धतं प्रयुज्यन्ते क्रमात्तत्ताण्डवत्रयम् ॥

---

९४ ताल तथा लय से युक्त अग-विक्षेप मात्र जो नृत्त होता है, वह (नृत्त) नाटिकादि रूपकों में प्रयुक्त होता है।

९५ अग, प्रत्यग के विक्षेप से शून्य एवं अभिनय रूप जो नृत्य होता है, वह 'नृत्त' कहलाता है। वहाँ नृत्य यथोक्त अभिनय से युक्त होता है।

(ताण्डव के भेद)

९६ चण्ड, प्रचण्ड तथा उच्चण्ड भेद से ताण्डव (नृत्य) तीन प्रकार का होता है। वहाँ आरभटी-वृत्ति की वैसी ही कल्पना की जाती है।

९७ जहाँ विलम्बित लय तथा अतीत-ग्रह[७] की कल्पना की जाती है, उसके समान जहाँ आरभटी-वृत्ति का प्रयोग होता है, वह 'चण्ड' ताण्डव कहलाता है।

९८ जहाँ सम-ग्रह[८] तथा मध्य-लय होती है, वैसी ही आरभटी-वृत्ति से युक्त वह 'प्रचण्ड' ताण्डव होता है—इस प्रकार वहाँ प्रयोग होता है।

९९ जहाँ अनागत-ग्रह[९] तथा द्रुत-लय होती है, वैसी आरभटी वृत्ति का जहाँ प्रयोग होता है, वह 'उच्चण्ड' ताण्डव कहलाता है।

१०० ये तीनों (चण्ड, प्रचण्ड तथा उच्चण्ड) ताण्डव (नृत्य) गीत, वाद्य तथा उभयान्वित (गीत-वाद्य से युक्त) भेद से तीन प्रकार के होते है।

१०१ जहाँ गीत, वाद्य तथा गीत-वाद्य (उभय-रूप) से युक्त करणादि अंगहारों का उद्धत रूप से प्रयोग किया जाता है। वे क्रमशः तीनों (चण्ड, प्रचण्ड तथा उच्चण्ड) ताण्डव होते हैं।

१०२ चण्डाख्यं ताण्डवं वीररौद्रमिश्ररसे भवेत् ।
प्रचण्डताण्डवं ख्यातं रौद्रबीभत्समिश्रणे ॥
उच्चण्डं रौद्रबीभत्सभयानकसमुच्चये ।
१०३ करणैरङ्गहारैश्च द्रुतं त्रिगुणवेगतः ॥
आकाशचारीभ्रमरीयुतमुच्चण्डताण्डवम् ।
१०४ प्लुतलङ्घितभूयिष्ठकरणं भ्रमरीयुतम् ॥
प्रचण्डताण्डवं भौमचारीयुग्द्रुतमानतः ।
१०५ नृत्ताङ्गैः करणैरङ्गहारैर्युक्चण्डताण्डवम् ॥
१०६ हास्यशृङ्गारसंसर्गे लास्यनृत्तं प्रशस्यते ।
शृङ्गारे चाद्भुते चापि तद्भिदा विनियुज्यते ॥
१०७ उद्धतप्रायकरणं रुच्या यद्देश्यकल्पितम् ।
करणं वक्तृगं चेति तद्देशीताण्डवं विदुः ॥
१०८ देशीताललयोपेतं देशभाषाविमिश्रितम् ।
तद्वीराद्भुतशृङ्गारहास्येषु विनियुज्यते ॥
१०९ नृत्यभेदे क्वचित्कैश्चित्प्रायो देश्युपयुज्यते ।
न कदाचन सर्वत्र रूपकेषूपयुज्यते ॥

---

१०२ चण्ड नामक ताण्डव वीर तथा रौद्र रस के मिश्रण मे प्रयुक्त होता है। प्रचण्ड ताण्डव रौद्र तथा वीभत्स रस के मिश्रण में प्रयुक्त होता है। उच्चण्ड (ताण्डव) रौद्र, वीभत्स तथा भयानक रस के मिश्रण मे प्रयुक्त होता है।

१०३ करण तथा अंगहारो से सम्पन्न, तीन गुने वेग से द्रुत (लय) वाला, भ्रमरी[10] नामक आकाशचारी से युक्त 'उच्चण्ड' ताण्डव कहलाता है।

१०४ प्लुत से लंघित अनेक करणों वाला, भ्रमरी (आकाशचारी) से युक्त, भौमचारी[11] से युक्त, द्रुत (लय) वाला होने से 'प्रचण्ड' ताण्डव कहलाता है।

१०५ नृत्त के अंग, करण तथा अंगहारों से युक्त 'चण्ड' ताण्डव कहलाता है।

१०६ हास्य तथा शृंगार रस के मिश्रण में लास्य-नृत्त श्रेष्ठ होता है। शृंगार तथा अद्भुत रस में भी उसके भेद प्रयुक्त किये जाते है।

१०७ जो उद्धत-प्राय करण देश की रुचि से कल्पित किया जाता है तथा वक्तृ-गत करण होता है, वह 'देशी' ताण्डव जाना जाता है।

१०८ देशी ताल तथा लय से युक्त तथा देश की भाषा से मिश्रित वह (देशी-ताण्डव) अद्भुत, शृंगार तथा हास्य रस में प्रयुक्त होता है।

१०९ नृत्य के भेदों में कही किन्हीं के द्वारा प्रायः देशी (नृत्य) का उपयोग कहा जाता है। लेकिन सर्वत्र रूपकों में उसका उपयोग कभी नहीं होता।

११० ईदृक्ताण्डवलास्यादिभेदाङ्गेषूपयोगिनाम् ।
समाजं शृङ्ग(वृन्द)मित्याहुः तत्त्रिधा पञ्चधाऽपि वा ।।

१११ उत्तमोत्तममाद्यं स्यादुत्तमाख्यमतः परम् ।
मध्यमोत्तममध्यं च कनिष्ठं चेति पञ्चधा ।।
शृङ्ग(बृन्द)मेतत्समुद्दिष्टं कोलाहलमतः परम् ।

११२ मुख्या द्वादश गातारो द्वादशैव तु गायिकाः ।।
अष्टाविहालका(?)श्चापि ततः षड्वश(ड्वांशि)का अपि ।
ओताकाराश्च पञ्च स्युः ततः पाटहिकास्त्रयः ।।
यत्र मार्दङ्गिकाः षट् स्युर्बृन्दं स्यादुत्तमोत्तमम् ।

११३ षङ्गातारोऽष्ट गायिन्यः पञ्च षड्वा विहालकाः ।।
चत्वारो वांशिकाश्चापि चोताकारचतुष्टयम् ।
मार्दङ्गिकाश्च चत्वारः ततः पाटहिकद्वयम् ।।
इदमुत्तममाख्यातं वृन्दं वृन्दविशारदैः ।

११४ पञ्च स्युर्मुख्यगातारः पञ्चापि समगायिनः ।।
गायिकावांशिकीनां च यत्र स्युः षट् च पञ्चकम् ।
ओताकारत्रयं चापि तथा पाटहिकत्रयम् ।।
मार्दङ्गिकत्रयं यत्र बृन्दं स्यान्मध्यमोत्तमम् ।

---

११० इस प्रकार के ताण्डव, लास्य आदि भेदागों में उपयोगी (व्यक्तियों के) समाज को 'वृन्द' कहा जाता है। वह (वृन्द) तीन या पाँच प्रकार का होता है ।

१११ उत्तमोत्तम, उत्तम, मध्यमोत्तम, मध्य तथा कनिष्ठ—इस प्रकार पाँच भेद होते हैं। यह वृन्द परम कोलाहल से युक्त कहा गया है।

(उत्तमोत्तम)

११२ जिसमें बारह मुख्य गायक, बारह गायिकायें, आठ विहालक, छै वांशिक, पाँच ओताकार, तीन पाटहिक तथा छै मार्दङ्गिक होते है, 'उत्तमोत्तम' वृन्द कहते हैं।

(उत्तम)

११३ जिसमें छै गायक, आठ गायिकायें, पाँच या छै विहालक, चार वांशिक, चार ओताकार, चार मार्दङ्गिक तथा दो पाटहिक होते है, उसे वृन्दविशारद 'उत्तम' वृन्द कहते हैं।

(मध्यमोत्तम)

११४ जिसमें पाँच मुख्य गायक, पाँच समगायक, छै गायिकायें, पाँच वांशिकी, तीन ओताकार, तीन पाटहिक तथा तोन मार्दङ्गिक होते है, वह 'मध्यमोत्तम' वृन्द होता है।

११५ द्वौ गायकौ च गायिन्यौ तिस्रः स्युस्समगायिकाः ।।
त्रयो विहालका वंश्याः तिस्रश्चापि विहालिकाः ।
ओताकारत्रयं यत्र मार्दङ्गिकचतुष्टयम् ।।
यत्र पाटहिकद्वन्द्वं बृन्दमेतत्तु मध्यमम् ।
११६ एको मुख्यो भवेद्गाता द्वौ स्याता समगायकौ ।।
गायकौ वांशिकौ द्वौ द्वावोताकारद्व(त्र)यं तथा ।
एकः पाटहिको यत्र मार्दङ्गिकयुगं तथा ।।
एको विहालको यत्र कनिष्ठं बृन्दमुच्यते ।
११७ द्विपञ्चाशच्चतुस्त्रिंशत्त्रिंशत्षड्विंशतिस्तथा ।।
चतुर्दशाष्टादश वा सङ्ख्या बृन्देषु पञ्चसु ।
११८ मुख्यगाता समं गाता गायिनी वांशिकस्तथा ।।
ओताकारः पाटहिको यत्र मार्दङ्गिकद्वयम् ।
हुडुक्किकाकोहलिकौ यत्र जर्झरिकाद्वयम् ।।
वैणिकौ यत्र सुसमौ बृन्दं तत्स्यात्कनिष्ठकम् ।
११९ मुख्यानुवृत्तिचातुर्यं तत्प्रयोगप्रगल्भता ।।
तालानुवर्तनन्यूनपदपूरणनैपुणम् ।

---

(मध्यम)

११५ जिसमें दो गायक, दो गायिकायें, तीन समगायिकायें, तीन विहालक, तीन वांशिक (वंश्य), तीन विहालकायें, तीन ओताकार, चार मार्दङ्गिक तथा दो पाटहिक होते हैं, वह 'मध्यम' वृन्द कहलाता है।

(कनिष्ठ)

११६ जिसमे एक मुख्य गायक, दो समगायक, दो गायक, दो वांशिक, तीन ओताकार, एक पाटहिक, दो मार्दङ्गिक तथा एक विहालक होता है, उसे 'कनिष्ठ' वृन्द कहा जाता है।

११७ इन पाँचो वृन्दो मे (व्यक्तियो की) संख्या क्रमशः बावन, चौतीस, तीस, छब्बीस तथा चौदह या अठारह होती है।

(कनिष्ठ)

११८ जिसमे एक मुख्य गायक, एक समगायक, एक गायिका, एक वांशिक, एक ओताकार, एक पाटहिक, दो मार्दङ्गिक, दो हुडुक्कीक, दो कोहलिक, दो जर्झरिक (घर्घरिक), दो वैणिक तथा दो सुसम होते है, वह 'कनिष्ठ' वृन्द कहलाता है।

(वृन्द-गुण)

११९ मुख्यानुवृत्ति की चतुरता, उसके प्रयोग में प्रगल्भता, तालानुवर्तन की निपुणता, न्यून पद को पूरण करने की निपुणता, लय तथा ताल की एकाग्रता, एक जैसी

लयतालावधानं च सादृश्यैक्यविभावना ॥
भिन्नरागज्ञता स्थानत्रितयप्राप्तिशक्तता ।
एते बृन्दगुणाः प्रोक्ता बृन्दकोलाहलं विना ॥
१२० एतन्मार्गस्य देश्याश्च सामान्यमभिधीयते ।
नाट्याभिधाननिष्पत्तेरेतद्द्वितयमीरितम् ॥
१२१ नृत्तनृत्यविभागेन द्विधा मार्ग उदाहृतः ।
नृत्तं तु ताण्डवं नृत्यं लास्यमित्यभिधीयते ॥
१२२ अङ्गविक्षेपमात्रं यत्तालमानलयैर्युतम् ।
नृत्तं तदुद्धतैरङ्गहाराद्यैस्ताण्डवं भवेत् ॥
१२३ प्रेरणं प्रापणं देशीताण्डवं स्यादनुद्धतैः ।
१२४ लास्यं लताभेद्यकादि लास्याङ्गसहितं विदुः ॥
तदेव भूमिचारीभिर्मृद्वीभिर्ललितालयैः ।
देशीलास्याङ्गसंयुक्तं देशीलास्यमितीरितम् ॥
प्रायेण तत्कुण्डलीति देशरीत्यैव कल्प्यते ।
भाणादिनृत्यभेदेषु प्रायो लास्यं प्रयुज्यते ॥
ताण्डवं पूर्वरङ्गे स्याद्रूपकेषु रसानुगम् ।
१२५ यत्र ध्रुवाः प्रयुज्यन्ते चतस्रो गीतयोऽपि च ॥
तालमार्गाश्च सलयाः स मार्ग इति कथ्यते ।

---

भावना, भिन्न-भिन्न रागो का ज्ञान तथा तिगुने स्थान-प्राप्ति की क्षमता—वृन्द के कोलाहल के बिना ये सभी वृन्द के गुण कहे जाते है ।

१२० इस (वृन्द) के मार्ग तथा देशी भेदों की समता (सामान्य) कही जाती है। नाट्य तथा अभिधान की निष्पत्ति से यह दुगुना कहा जाता है ।

१२१ नृत्त तथा नृत्य भेद से मार्ग दो प्रकार का कहा जाता है। नृत्त को ताण्डव कहते है तथा नृत्य को लास्य कहा जाता है ।

१२२ ताल, मान तथा लय से युक्त अंग-विक्षेप मात्र जो नृत्त होता है, वह उद्धत अंग-हारादि से 'ताण्डव' कहलाता है।

१२३ अनुद्धत (अंगहारादि) से आगे बढ़ाना (प्रेरण) बढ जाना (प्रापण) 'देशी' ताण्डव कहलाता है।

१२४ लास्यांगों सहित लता, भेद्यक, आदि (नृत्य) 'लास्य' जाना जाता है। वही (लास्य) मृदुल-भूमिचारी, ललित-लय तथा देशी लास्यांगो से युक्त 'देशी' लास्य कहा जाता है । प्रायः वह 'कुण्डली' कहा जाता है और देश की रीति से ही कल्पित किया जाता है । भाणादि नृत्य के भेदो में प्रायः 'लास्य' का प्रयोग किया जाता है। ताण्डव पूर्वरंग में प्रयुक्त होता है और रूपकों में रस के अनुसार नृत्य का प्रयोग होता है ।

**(मार्ग में ध्रुवा का उपयोग)**

१२५ जिसमें ध्रुवा,[१२] चार प्रकार की गीति[१३] तालमार्ग तथा लयो[१४] का प्रयोग किया जाता है, वह 'मार्ग' कहलाता है ।

१२६ ध्रुवाः पञ्च प्रयोक्तव्या रसाभिनयसिद्धये ॥
प्रावेशिकी तु प्रथमा द्वितीयाऽऽक्षेपिकी स्मृता ।
प्रासादिकी तृतीया तु चतुर्थी चान्तरा ध्रुवा ॥
नैष्क्रामिकी पञ्चमीति ज्ञेयाः क्वापि क्वचिद्ध्रुवाः ।
१२७ नानार्थरससंयुक्ता पात्राणां नाटचकर्मणि ॥
प्रवेशसूचनी गाथा या सा प्रावेशिकी स्मृता ।
१२८ उल्लङ्घितक्रमो यस्यामन्य आक्षिप्यते लयः ॥
ध्रुवा साऽऽक्षेपिकी नाम विज्ञेया नृत्तवेदिभिः ।
१२९ आक्षेपवशतो यासामन्तरं समुपागता ॥
रङ्गं प्रसादयति या सैव प्रासादिका ध्रुवा ।
१३० सर्वासामन्तरा वस्तुरसादिवशकल्पिता ॥
आन्तरा सा ध्रुवा ज्ञेया नाटचाभिनयरञ्जनी ।
१३१ प्रस्तुतार्थस्य निर्योगे सर्वस्याङ्कान्तनिष्क्रमे ॥
या निष्क्रामगुणोपेता सैव नैष्क्रामिकी ध्रुवा ।

---

१२६ रस तथा अभिनय की सिद्धि के लिए पाँच प्रकार की ध्रुवा का प्रयोग करना चाहिए—(१) प्रावेशिकी, (२) आक्षेपिकी, (३) प्रासादिकी, (४) आन्तरा, तथा (५) नैष्क्रामिकी—इस प्रकार कही-कही ध्रुवाएँ जानी जाती हैं।

(प्रावेशिकी)

१२७ नाट्य-कर्म मे पात्रो के प्रवेश की सूचना देने वाली विभिन्न अर्थों और रसों से युक्त जो गाथा (गीत) होती है, वह 'प्रावेशिकी' ध्रुवा कहलाती है ।

(आक्षेपिकी)

१२८ जिसमे क्रम का उल्लंघन कर अन्य लय का आक्षेप किया जाता है, वह नृत्त-वेत्ताओ द्वारा 'आक्षेपिकी' ध्रुवा जानी जाती है।

(प्रासादिकी)

१२९ जिसमें आक्षेपवश कुछ अन्तर आ जाता है और जो रगमंच को प्रसन्न करती है, वह 'प्रासादिकी' ध्रुवा कहलाती है।

(आन्तरा)

१३० वस्तु रस आदि के कारण जिस समस्त (ध्रुवा) में अन्तर की कल्पना की जाती है, वह नाट्य के अभिनय को रंग देने वाली 'आन्तरा' ध्रुवा जानी जाती है।

(नैष्क्रामिकी)

१३१ प्रस्तुत अर्थ का विच्छेद होने पर अंक के अन्त में समस्त पात्रों के निष्क्रमण के समय जो निष्क्राम के गुणों से युक्त होती है, 'नैष्क्रामिकी' ध्रुवा कहलाती है।

१३२ अलङ्कारा लया वर्णा गीतयो यतिपाणयः ।।
अपरस्परसम्बन्धा यस्मात्तस्माद् ध्रुवा स्मृता ।
१३३ जातिः स्थानं प्रमाणं च प्रकारो नामकल्पना ।।
ज्ञेया ध्रुवाणां नाट्यज्ञैर्विकल्पाः पञ्चहेतुकाः ।
१३४ वृत्ताक्षरप्रमाणं यत्सा जातिरिति संज्ञिता ।।
१३५ प्रवेशक्षेपनिष्क्रामप्रासादिकमथान्तरम् ।
इति पञ्चविधं गा(स्था)नं केचिदाहुर्मनीषिणः ।।
१३६ षट्कलाऽष्टकला चेति प्रमाणमिति कथ्यते ।
१३७ प्रकारः स प्रयोगो यः समार्धविषमादिकः ।।
१३८ ध्रुवाविधाने कथितं नाम ज्ञेयं ध्रुवागतम् ।
स्वेच्छानामानि कतिचिद्विद्यावृत्तविशेषतः ।।
१३९ गीतरोदनसम्भ्रान्तिप्रेषणोत्पातविस्मयाः ।
यत्र यत्र ध्रुवास्तत्र न योज्या नाट्ययोक्तृभिः ।।

---

(ध्रुवा)

१३२ जिसमे अलकार, लय, वर्ण, गीति, यति तथा पाणि अविचल रूप से सम्बद्ध रहते है, उसे 'ध्रुवा' कहा जाता है।[१५]

(ध्रुवा के विकल्प-हेतु)

१३३ जाति, स्थान, प्रमाण, प्रकार तथा नामकल्पना—इन पाँचो कारणो से नाटज्ञों द्वारा ध्रुवाओ के अनेक भेद जाने जाते है।[१६]

(जाति)

१३४ जो वृत्ताकार-प्रमाण होता है, वह 'जाति' नाम से जाना जाता है।[१७]

(स्थान)

१३५ कोई विद्वान प्रवेश, आक्षेप, निष्क्राम, प्रासादिक तथा आन्तर–इन पाँच प्रकारों को 'स्थान' कहते है।[१८]

(प्रमाण)

१३६ षट्कला और अष्टकला—यह 'प्रमाण' कहा जाता है।

(प्रकार)

१३७ सम, अर्द्धसम, विषम इत्यादि जो प्रयोग है, वह 'प्रकार' कहलाता है।

(नाम)

१३८ ध्रुवा के विधान मे ध्रुवागत कहा गया 'नाम' जाना जाता है। विद्या-वृत्त की विशेषता से कुछ अपनी इच्छा के नाम होते हैं।[१९]

१३९ जहाँ-जहाँ गीत, रोदन, सम्भ्रान्ति, प्रेषण, उत्पात तथा विस्मय हों, वहाँ नाट्य-प्रयोक्ताओं को ध्रुवाओं का प्रयोग नही करना चाहिए।

१४० यानि गीतकलाङ्गानि नानातोद्यानि तान्यथ ।
विज्ञेयानि ध्रुवासुष्ठुवृत्तैश्छन्दोगतैरिह ।।
१४१ नास्ति किञ्चिदवृत्तं यद्वाद्यमानकृताश्रयम् ।
गानं यद्वृत्ततो वाद्यं तद्वृत्तेन प्रयोजयेत् ।।
छन्दोवृत्तानि सर्वाणि विज्ञेयानि ध्रुवास्विह ।
१४२ यद्वृत्तप्रभवं वाद्यमङ्गवाद्यसमं तथा ।।
पूर्वरङ्गान्ततो वाद्यं ततो नृत्तं प्रयोजयेत् ।
१४३ गीतवाद्याङ्गसंयोगः प्रयोग इति कथ्यते ।
१४४ भाषा च शौरसेनीति ध्रुवाणामभिधीयते ।
दिव्यानां सप्रमाणं च ज्ञेयं संस्कृतभाषया ।।
गानं मर्त्यस्य कथितमर्धसंस्कृतभाषया ।
छन्दःप्रमाणसंयुक्तं स्तुत्याशीर्वादसंयुतम् ।।
देवद्विजमहीपानां संस्कृतं गानमिष्यते ।
वैश्यानां तु भवेद्गानमर्धप्राकृतसंस्कृतैः ।।
पैशाच्या भाषया गानं शूद्राणां मागधी तु वा ।
इतरेषामपभ्रंशभाषया गानमिष्यते ।।
अपभ्रष्टा विभाषा वा शकारादेरुदीर्यते ।

---

१४० जो गीत-कला के अंग तथा विभिन्न आतोद्य है, उन्हें यहाँ सुष्ठु-वृत्त तथा छन्दोगत होने से ध्रुवा समझना चाहिए ।

१४१ जो वाद्यमान (आतोद्य) के आश्रित होता है, वह बिना वृत्त के किञ्चित नही होता । जिस वृत्त से गान का प्रयोग होता है, उसी वृत्त से वाद्य का प्रयोग करना चाहिए । यहाँ ध्रुवाओं में सभी छन्द और वृत्तों को जानना चाहिए ।

१४२ जिस वृत्त से उत्पन्न वाद्य तथा समान अंग-वाद्य होता है, पूर्वरंग के पश्चात् वाद्य, तदनन्तर नृत्त का प्रयोग करना चाहिए ।

१४३ गीत तथा वाद्य के अंग-संयोग को 'प्रयोग' कहा जाता है ।

१४४ ध्रुवाओं की शौरसेनी भाषा कही जाती है । दिव्यों (देवताओं) का प्रमाण-सहित गान संस्कृत भाषा में जाना जाता है । मनुष्य का गान अर्द्ध-संस्कृत भाषा मे कहा जाता है । देव, ब्राह्मण (द्विज) तथा राजाओं का छन्द तथा प्रमाण से युक्त और स्तुति तथा आशीर्वाद से युक्त गान संस्कृत भाषा में कहा जाता है । वैश्यों का गान अर्द्धप्राकृत तथा अर्द्धसंस्कृत भाषा में होता है । शूद्रों का गान पैशाची या मागधी भाषा में होता है । अन्यों का गान अपभ्रंश-भाषा में कहा जाता है । शकारादि की अपभ्रष्टा या विभाषा की जाती है ।

१४५ उपमेयगुणा ये स्युः नेत्रादीनां गुणाश्रयाः ।।
उत्तमाधममध्यानां स्त्रीणामपि च तत्त्वतः ।
यथावदवगम्यैते प्रयोज्या नाटचकोविदैः ।।
१४६ नेत्रादेर्देवतौपम्ये सूर्याग्निपवनाः स्मृताः ।
रक्षोदैत्योद्धतानां च मेघपर्वतसागराः ।।
सिद्धगन्धर्वयक्षादेः कुञ्जरर्षभशाखिनः ।
राजहंसर्षभगजशार्दूलाः पृथिवीभुजाम् ।।
एत एव प्रयोज्याः स्युरुदात्तोत्तमयोरपि ।
नागशार्दूलवृषभान्न दिव्येषु प्रयोजयेत् ।।
क्रव्यादा महिषर्क्षाश्च विप्राणां रुरवः स्मृताः ।
१४७ सारसाः शिखिनः क्रौञ्चाश्चक्राह्वाः कुमुदाकराः ।।
मध्यमैरुपमेयाः स्युः प्रयोज्या नाटचकर्मणि ।
१४८ कोकिलाः षट्पदाः काका बकाश्चाषाश्च कौशिकाः ।।
अधमैरुपमेयाः स्युस्तत्तदर्थानुकूलतः ।
१४९ शर्वरी वसुधा ज्योत्स्ना पद्मिनी द्यौः करेणुका ।।
नायिकानामुदात्तानामुपमेयगुणाः स्मृताः ।

---

१४५ जो 'उपमेयगुण तत्त्वत' नेता आदि पात्रों के तथा उत्तम, मध्यम और अधम स्त्रियों के गुणों के आश्रित होते हैं, उन्हें यथावत् (भलीभाँति) समझकर नाट्यज्ञों को प्रयोग करना चाहिए।

१४६ देवता-नेता आदि की उपमा में सूर्य, अग्नि तथा पवन उपमेय कहे जाते हैं। राक्षस, दैत्य तथा उद्धत प्रकृति वालों के मेघ, पर्वत तथा सागर उपमेय कहे जाते है। सिंह, गन्धर्व तथा यक्ष आदि के कुञ्जर (हाथी), ऋषम (वैल) तथा शाखी (वृक्ष) उपमेय होते है। राजाओं के राजहंस, ऋषभ, गज तथा शार्दूल उपमेय कहे जाते हैं। उदात्त तथा उत्तम (नायकों) के लिए भी इन्हीं (उपमेयों) का प्रयोग करना चाहिए। दिव्य प्रकृति के नायको के लिए नाग, शार्दूल तथा वृषभ (उपमेयों) का प्रयोग नही करना चाहिए। ब्राह्मणो के क्रव्याद (कच्चा मास खाने वाला), महिष (भैसा), रीछ तथा रुरु (मृग) उपमेय कहे जाते है।

१४७ नाट्य-कर्म मे मध्यम (नायकों) के लिए सारस, मोर, क्रौच, चकवा तथा कुमुदाकर (कमलों से भरा हुआ सरोवर) उपमेयो का प्रयोग करना चाहिए।

१४८ अधम (नायकों) के उस-उस अर्थ की अनुकूलता से कोयल, भ्रमर, काक (कौआ), बक (बगुला), आष तथा उल्लू उपमेय होते हैं।

१४९ उदात्त प्रकृति की नायिकाओं के शवरी, वसुधा (पृथ्वी), ज्योत्स्ना (चाँदनी), पद्मिनी, द्यौ (स्वर्ग) तथा करेणुका उपमेय-गुण कहे जाते है।

१५० दीर्घिका कलिका मल्ली सारसी शिखिनी मृगी ।।
नायिकानां मध्यमानामुपमेयाः स्युरर्थतः ।
१५१ भ्रमरी कुररी काकी परपुष्टा च मालिका ।।
वेश्यानामधमानां स्युरुपमेयगुणा अमी ।
१५२ यद्वस्तु सुभगं हृद्यम्मतं दैवतमानुषैः ।।
उपमेयं भवेत्तच्च गीतवृत्तिषु गायनैः ।
१५३ एवं विभाव्य भरतैर्यथाभावं यथारसम् ।।
यथार्थमेतन्नाट्यं च प्रयोज्योऽभिनयः सदा ।
१५४ वृक्षत्वशिंशुपात्वादेर्यथा तादात्म्यमुच्यते ।।
तथा भवेत्काव्यबन्धे तादात्म्यं रसभावयोः ।
१५५ वागङ्गसत्त्वाभिनया भावाः स्युर्नाट्यकोविदैः ।।
रसोऽभिनेयो वागङ्गसत्त्वाहार्यसमुच्चयात् ।
उभौ पदार्थवाक्यार्थवाच्यौ भवितुमर्हतः ।।
१५६ स्थायी वा सात्त्विको वापि सञ्चारी वा क्वचित्क्वचित् ।
भावो वाक्यार्थतामेति तत्तद्भावविशेषतः ।।
केवलं न रसः काव्ये वाक्यार्थत्वमुपैष्यति ।

---

१५० मध्यम नायिकाओ के अर्थतः दीर्घिका (बावडी), कलिका (कली), मल्ली (मल्लिका), सारसी, मोरनी तथा मृगी उपमेय होते है ।

१५१ अधम वेश्याओ के भ्रमरी, कुररी, काकी (कौओ), परपुष्टा (कोयल) तथा मालिका— ये उपमेय गुण होते है ।

१५२ जो वस्तु देवता तथा मनुष्यों के द्वारा सुभग (सुन्दर) तथा हृदयाकर्षक कही जाती है, वह गीत तथा वृत्तियों मे गायको द्वारा उपमेय कही जाती है।

१५३ इस प्रकार समझकर भरतो को सदा यथाभाव, यथारस तथा यथार्थतः इस नाट्य का प्रयोग और अभिनय करना चाहिए ।

१५४ वृक्षत्व, शिशुपात्व आदि का जैसे तादात्म्य कहा जाता है, उसी प्रकार काव्य-बन्ध मे रस और भाव का तादात्म्य होना चाहिए ।

१५५ नाट्यज्ञो द्वारा वाचिक, आगिक तथा सात्त्विक अभिनय भाव कहलाते है । वाचिक, आगिक, सात्त्विक तथा आहार्य अभिनय के समुच्चय से रस का अभिनय होना चाहिए । दोनों (रस तथा भाव) क्रमशः पदार्थ तथा वाक्यार्थ— वाच्य होने के योग्य है ।

१५६ स्थायी-भाव, सात्त्विक-भाव या संचारी-भाव कहीं-कहीं उस-उस भाव की विशेषता से वाक्यार्थता को प्राप्त होता है। काव्य में केवल रस ही वाक्यार्थता को प्राप्त नहीं होता । अलंकार वाक्यार्थ होता है और गुण भी

अलङ्कारोऽपि वाक्यार्थः स्याद्गुणोऽपि च वाक्यतः ॥
वाक्यवाक्यार्थवशतो ध्वन्यन्ते तेऽपि कुत्रचित् ।
भावा रसाश्च योज्यास्स्युर्नृत्यनृत्तात्मना नटैः ॥
१५७ उदाहरणमेतेषां दिङ्मात्रमभिधीयते ।
१५८ तादात्म्यं भावरसयोर्भारविः स्पष्टमूचिवान् ॥

यथा—

'प्रियेऽपरा यच्छति वाचमुन्मुखी
निबद्धदृष्टिः शिथिलाकुलोच्चया ॥
समादधे नांशुकमाहितं वृथा
विवेद पुष्पेषु न पाणिपल्लवम् ॥'

वाचं यच्छतः प्रियस्यावलोकनायोन्मुख्या निबद्धदृष्टित्वश्लथकेशपाशत्वपुष्पस्पर्शानभिज्ञत्वविभाव्यमानस्तम्भसम्भ्रमाङ्गसादादिभावैः सम्भोगशृङ्गारः प्रकाश्यत इति तादात्म्यम् ॥

१५९ वाक्यार्थता स्थायिनोऽपि कालिदासेन दर्शिता ॥
'व्याहृता प्रतिवचो न सन्दधे गन्तुमैच्छदवलम्बितांशुका ।

---

वाक्य से होता है । वाक्य तथा वाक्यार्थ से वे कहीं ध्वनि हो जाते है । नटों को भाव तथा रसो की नृत्य तथा नृत्त के रूप मे योजना करनी चाहिए ।

१५७ इन सभी के दिङ्मात्र उदाहरण प्रस्तुत किये जाते है

१५८ (१) भाव तथा रस का तादात्म्य भारवि ने स्पष्ट कहा है । जैसे—किरातार्जुनीय मे किसी अप्सरा का प्रेमो के साथ होने वाली अवस्था का वर्णन—
"कोई दूसरी अर्थात् एक अप्सरा अपने प्रिय के वार्तालाप मे तन्मनस्क होकर एकटक देखने लगी और उसकी ओर मुँह किये हुए खडी हो गयी । उसकी नीवी खिसक गयी । वह उसे सम्हालना भूल गयी । 'फूलों की तरह पल्लव के सदृश उसका हाथ ठीक नही पड़ रहा था'—यह भी उसे न मालूम हो सका अर्थात् इतना वह उसके प्रेमालाप मे आसक्त थी कि अपने शरीर की तथा कार्य की भी सुधि उसे न रही ।"
यहाँ वार्तालाप करते हुए प्रिय के अवलोकन के लिए प्रियोन्मुखी नायिका से तथा निबद्ध-दृष्टि (एकटक देखना), शिथिल केश-पाश (केश-पाश का शिथिल होना) तथा पुष्प-स्पर्श की अनभिज्ञता से विभाव्यमान स्तम्भ, सम्भ्रम तथा अंगसाद आदि भावों मे 'सम्भोग-शृंगार' प्रकट होता है । इस प्रकार प्रस्तुत उदाहरण मे भाव तथा रस का तादात्म्य स्पष्ट हुआ है ।

१५९ (२) स्थायी-भाव की वाक्यार्थता महाकवि कालिदास ने स्पष्ट की है । जैसे—कुमार-सम्भव मे पार्वती की अवस्था का वर्णन—
"जब शंकर पार्वती को पुकारते थे तो वह उत्तर ही नही देती थी, जब शंकर उसके आँचल को पकड़ लेते थे, तो वह उठकर जाना चाहती थी और एक शय्या पर सोते समय वह दूसरी ओर मुँह करके सोती थी । इस तरह यद्यपि वह शकर का रतिक्रीडा में विरोध ही करती थी, किन्तु फिर भी इन क्रियाओं के द्वारा शकर में रति को उत्पन्न करती थी ।"

सेवते स्म शयनं पराङ्मुखी सा तथापि रतये पिनाकिनः ॥'
एभिर्भावविशेषैरेषा रतयेऽभूदिति स्थायिनो वाक्यार्थता ।

१६० सात्त्विकभावस्य वाक्यार्थता यथा—
'प्रयच्छतोच्चैः कुसुमानी'ति भारविर्दर्शिता ।
बाष्पाकुललोचनत्वं सात्त्विको भावः ।

१६१ बृहद्बकुलवीथ्यां सञ्चारिणां वाक्यार्थता यथा—'गमनमलसं शून्या दृष्टि'रित्यादि अत्र सञ्चारिण एव वाक्यार्थः । 'पाणिपीडनविधेरनन्तर'मित्यत्र कामदौहृदसुखमन्वभूदिति सम्भोगश्रृङ्गारो वाक्यार्थः । 'गगनं गगनाकारं सागरः

---

प्रस्तुत उदाहरण में रतिक्रीडा में विरोधी इस प्रकार के विशेष भावों से भी रति ही उत्पन्न हुई है, अतः यहाँ स्थायी-भाव की वाक्यार्थता सिद्ध होती है ।

१६० (३) सात्त्विक-भाव की वाक्यार्थता: जैसे—
"एक अप्सरा, जिस समय उसका प्रेमी गन्धर्व-भ्रम से उसकी सपत्नी के नाम से उसे तारस्वर से सम्बोधित कर पुष्पो का गुच्छा प्रदान कर रहा था, मानकर कुछ भी नहीं बोली और आँखों में आँसू भरकर केवल पैर से भूमि खोदने लगी ।"[२०]

प्रस्तुत उदाहरण मे भारवि ने सात्त्विक-भाव की वाक्यार्थता स्पष्ट की है । यहाँ 'आँखों मे आँसू भर जाना' सात्त्विक-भाव है ।

१६१ (४) विशाल बकुल-वृक्षो की पंक्ति के समान बहुसंख्यक संचारी-भावो की वाक्यार्थता; जैसे—
"गमन आलस्य युक्त, दृष्टिशून्य, शरीर प्रसाधन के सौन्दर्य से रहित और श्वास अधिक रूप से चल रहा है । यह क्या है ? अथवा इससे भिन्न क्या होगा ? लोक में कामदेव की आज्ञा विचरण कर रही है और यौवन विकारपूर्ण है । सुन्दर और प्रिय वे वे चन्द्र आदि प्रसिद्ध पदार्थ धैर्य को हटा रहे है ।"[२१]
प्रस्तुत उदाहरण मे आलस्य, शून्यता आदि सचारी-भाव ही वाक्यार्थ है ।

(५) "पाणिग्रहण संस्कार के पश्चात् पर्वतराज हिमालय की पुत्री पार्वती का शरीर शंकर के प्रति उनके सहज प्रेम-भाव तथा साथ ही उत्पन्न होने वाले संकोच के कारण अतीव मनोहर हो उठा ।"[२२]
प्रस्तुत उदाहरण में पार्वती को कामवश दोहद-सुख का अनुभव हुआ है अतः यहाँ 'सम्भोग-श्रृंगार' की वाक्यार्थता सिद्ध होती है ।

(६) "आकाश आकाश के समान (विशाल) है, समुद्र समुद्र के समान (गम्भीर) है, राम और रावण का युद्ध राम और रावण के ही युद्ध के समान (भीषण) है ।"[२३]
यहाँ उपमा-अलंकार ही वाक्यार्थ है ।

(७) "अधर किसलय तुल्य वर्ण का है । दोनों बाहुएँ कोमल शाखाओं की

सागरोपमः' इत्यत्र उपमाऽलङ्कार एव वाक्यार्थः। 'अधरः-किसलयरागः कोमलविटपानुकारिणा'वित्यत्र रूपकालङ्कार एव वाक्यार्थः। एवमुभयालङ्कारा ऊह्याः ॥

१६२ शब्दो गुणीभवेत्स्वस्ववाच्यार्थगुणगौरवात् ।
यथा—'तन्वी श्यामा शिखरिदशने'त्यत्रालम्बनगतविशिष्टगुणाभिधायकतया प्रसादाख्यः शाब्दो गुणविशेषो वाक्यार्थ इत्यवगम्यते ।

१६३ यथाक्रममथैतेषां ध्वनिवाक्यार्थतोच्यते ॥
'यान्त्या मुहुर्बलितकन्धरमाननं त'दित्यत्र 'हृदये गाढं निहितः कटाक्ष' इत्यत्र च वाक्यार्थ उभयोरपि स्थायिनी रतिर्वाक्यार्थतया व्यज्यते ।

---

अनुकारिणी है। पुष्प के समान चित्ताकर्षक यौवन इसके समस्त अगों मे व्याप्त है।"[२४]

यहाँ रूपक-अलकार ही वाक्यार्थ है।

इसी प्रकार दोनो प्रकार (शब्दालकार तथा अर्थालंकार) के अलकारों को समझना चाहिए।

१६२ (८) स्व-स्व-वाच्यार्थ-गुण के गौरव से शब्द गुणी होता है। जैसे—मेघदूत में यक्ष मेघ से अपनी पत्नी के चिह्नों को कहते हुए कहता है—

"दुबली-पतली, युवावस्था को प्राप्त, तीखे दाँत, पके हुए विम्ब के समान निचले होंठ, पतली कमर, भयभीत हरिणी के समान नयन, गहरी नाभि एवं नितम्ब-भार से मन्द-मन्द गति वाली, स्तनों से कुछ झुकी सी तथा युवतियों में ब्रह्मा की प्रथम रचना सी जो (स्त्री) वहाँ (घर में) हो उसे.......मेरी पत्नी समझना।"[२५]

प्रस्तुत उदाहरण में आलम्बनगत विशिष्ट गुणों के कथन से प्रसाद नामक विशेष शब्द गुण वाक्यार्थ जाना जाता है।

१६३ (९) अब क्रमशः इन सभी की ध्वनि-वाक्यार्थता कही जाती है—

"बारम्बार ग्रीवा को परिवर्तित कर जाती हुई और परिवर्तित वृत्त वाले कमल के सदृश सुन्दर मुख को धारण करने वाली निविड नेत्र लोमों से युक्त सुन्दरी ने अमृत और विष से लिप्त कटाक्ष मेरे हृदय मे दृढ़ता से जैसे प्रवेशित कर दिया है।"[२६]

प्रस्तुत उदाहरण में 'हृदय में दृढतापूर्वक निहित कटाक्ष'—यह वाक्यार्थ दोनों की (माधव और मालती की) स्थायी-रति रूप वाक्यार्थता को व्यंजित (ध्वनित) करता है।

१६४ जाओ सोवि विलक्खो मए वि हसिऊण गाढमुपगूढो ।
पढमोसरिअस्स णिअसणस्स गण्ठि विमग्गन्तो ।।
अत्र सोऽपि विलक्षो जात इति वाक्यार्थादङ्गसादवैवर्ण्यादि सात्त्विकविशेषो व्यज्यते ।

१६५ निशि निशि विरहे तव प्रियाया
भवति विलोचनमिन्दुकान्तलीलम् ।
भवति च वदनं सरोजमस्या
बिसतनुसूत्रसमा तनुश्च तन्वी ।।
अत्र लोचनमिन्दुकान्तं भवति वदनं सरोजं भवति बिससूत्रसमा तनुरिति वाक्यैः बाष्पजाड्यकार्श्यपाण्डिमोद्भाव्यव्याध्यादयो भावा व्यज्यन्ते इति सञ्चारिणां ध्वनितास्थितिः प्रदर्श्यते ।।

१६६ अहअं लज्जालुइणी तस्सअ उम्मच्छराइ पेम्माइ ।
सहिआअणो वि णिउणो हलाओ किं पाअराएण ।।
अत्र सख्यः किं पादरागेणेति निषेधरूपाद्वाक्यादुभयोरपि सम्भोगसम्पद्व्यज्यत । इति रसध्वनिः ।

---

१६४ (१०) कोई सखी अपने और प्रिय के परस्पर-अनुराग से उत्पन्न निज सौभाग्य को प्रकट करती हुई किसी सखी से कहती है—
"हे सखी ! प्रिय के दर्शन मात्र से ही जब मेरे अधोवस्त्र की ग्रन्थि खुल गई तो वह लज्जित हो गये और मैंने हँसकर उनका गाढालिंगन कर लिया।"
प्रस्तुत उदाहरण मे 'वह लज्जित हो गये' इस वाक्यार्थ से अंगसाद, वैवर्ण्य आदि विशेष सात्त्विक-भाव व्यंजित होते हैं ।

१६५ (११) "प्रतिरात्रि तेरे विरह में प्रिया के नेत्र इन्दु-कान्ति के समान शुभ्र वर्ण वाले हो जाते है, उसका मुख कमल की आभा के समान सुशोभित होता है तथा वह तन्वी विसतन्तुओं के समान कृश शरीर वाली हो जाती है।"
प्रस्तुत उदाहरण में 'लोचनमिन्दुकान्तं भवति', 'बदनं सरोजं भवति' तथा 'विससूत्र-समातनु'—इन वाक्यों से वाष्प, जडता, कृशता, पाण्डुता, ओद्भाव्य तथा व्याधि आदि भाव व्यंजित होते है । इस प्रकार सचारी-भावों की ध्वनि-स्थिति प्रकट की जाती है ।

१६६ (१२) कोई स्वाधीन-भर्तृका (नायिका) अपने प्रिय के गाढ़ानुराग की तथा अपने सौभाग्य की सूचना देती हुई पैरों में महावर लगाती हुई प्रसाधिका से 'कहती है—
'अरी ! पादराग से क्या लाभ ? रहने दे । सखियाँ बड़ी चतुर है, किंचित चिह्न मात्र से वह सब रहस्य समझ जाती है । मै लज्जालु हूँ और उनके उत्कट प्रेम है ।"
प्रस्तुत उदाहरण मे नायिका का यह कहना है कि 'किं पादरागेण'—इस निषेधात्मक वाक्य से दोनों (नायक और नायिका) का सम्भोग व्यंजित होता है। यह रस ध्वनि है ।

१६७ 'लावण्यसिन्धुरपरैव हि केयमत्र
यत्रोत्पलानि शशिना सह सम्प्लवन्ते ।
उन्मज्जति द्विरदकुम्भतटी च यत्र
यत्रापरे कदलिकाण्डमृणालदण्डाः ।।'

अत्रोपमानभूतोत्पलशशिद्विरदकुम्भकदलकाण्डमृणालदण्डैरुपमेया नेत्रवक्त्रस्तनोरुबाहा व्यज्यन्त इति कदाचिदलङ्कारोऽपि ध्वनिर्भवति ।।

१६८ 'समुद्र इव गाम्भीर्ये धैर्येण हिमवानिव ।
विष्णुना सदृशो वीर्ये सोमवत्प्रियदर्शनः ।।'

एतैरुपमानैः सर्वसत्त्वाश्रययोग्यत्वस्थिरप्रतिज्ञत्वविपत्प्रतीकारसामर्थ्यसर्वाभिगम्यत्वादयो व्यज्यन्त इत्यलङ्कारोऽपि व्यञ्जकः ।

१६९ 'महासत्त्वोऽतिगम्भीरः क्षमावानविकत्थनः ।
स्थिरो निगूढाहङ्कारो धीरोदात्तो दृढव्रतः ।।'

अत्रार्थगुणनाम्ना शब्दविशेषेण स्वस्ववाच्यगुणा-

---

१६७ (१३) नदी के किनारे स्नानार्थ आयी हुई किसी तरुणी को देखकर किसी रसिकजन की यह उक्ति है। इसमे युवती का स्वय नदी रूप में वर्णन है— "यहाँ यह नयी कौन सी लावण्य की नदी आ गयी है, जिसमें चन्द्रमा के साथ कमल तैरते है, जिसमें हाथी की गण्डस्थली उभर रही है और जहाँ कुछ और ही प्रकार के कदलीकाण्ड तथा मृणालदण्ड दिखायी देते हैं।"
प्रस्तुत उदाहरण मे उपमानभूत उत्पल, शशि, द्विरदकुम्भ, कदल-काण्ड तथा मृणालदण्ड से क्रमशः नेत्र, मुख, स्तन, ऊरु तथा भुजा रूप उपमेय व्यजित होते है। इस प्रकार कभी अलकार भी ध्वनि होता है।

१६८ (१४) "(वह) गम्भीरता में समुद्र के समान, धैर्य मे हिमालय के समान, पराक्रम में विष्णु के समान तथा दर्शन में चन्द्रमा के समान प्रिय है।"
प्रस्तुत उदाहरण मे समुद्र, हिमालय, विष्णु तथा चन्द्रमा आदि उपमानों से क्रमशः सभी प्राणियों को आश्रय प्रदान करने की योग्यता, स्थिर प्रतिज्ञा, विपत्तियों का प्रतीकार करने की सामर्थ्य तथा सभी की सेवा करने की योग्यता आदि उपमेय व्यंजित होते है। अतः अलकार भी व्यंजक होता है।

१६९ (१५) "धीरोदात्त कोटि का नायक महासत्त्व, अत्यन्त गम्भीर, क्षमाशील, अविकत्थन, स्थिर, निगूढ़ अहंकार वाला तथा दृढ़व्रत होता है।"
प्रस्तुत उदाहरण में अर्थगुण नामक शब्द विशेष से अपने-अपने वाच्य-गुण के आश्रयभूत समवायि महाबलत्व, दुखगाहत्व, अपराधसहनशीलता, सत्यवादिता,

श्रयभूतसमवायिमहाबलत्वदुरवगाहत्वापराधसहत्वसत्यवादित्वान-तिलङ्घनीयत्वसर्वस्वदानक्षमत्वाभेद्यत्वादयोऽर्था व्यज्यन्ते। अत्र गुणगुणिनोस्तादात्म्याद्गुणा अपि व्यज्यन्त इत्यर्थः।

ईदृगर्थाश्च दृश्यन्ते प्रबन्धेषु महाकवेः ॥
१७० नृत्तनृत्यविभागोऽयं विज्ञेयो नाट्यकोविदैः ॥
नृत्तनृत्यविभागात्मा नाट्ये योऽभिनयो भवेत्।
स मार्गसंज्ञां लभते सर्वातोद्यसमन्वितः।
१७१ सुकुमारप्रयोज्यं यत्तन्नृत्यमिति कथ्यते ॥
प्रयोज्यमुद्धतं यत्तु तन्नृत्तमिति कथ्यते।
नृत्यप्राधान्यतो नाट्यप्रयोगो रूपकादिषु ॥
प्रयोगस्तोटकादीनां नृत्यप्राधान्यतो भवेत्।
उभयत्र प्रयोक्तव्यं देशरीतियुतं नटैः ॥
विशेषतस्तोटकादि देशरीतिमदुच्यते।
देशभाषाक्रियायुक्तं गीते वाद्ये च नर्तने ॥
तोटकादि प्रयोक्तव्यं नटैर्नाट्यविशारदैः।
देशान्पृथग्विजानीयान्नटस्तद्रीतिवित्तये ॥
१७२ देशो भारतवर्षाख्यो नवसाहस्रयोजनः।
आसेतोराहिमगिरेरायामः परिकीर्तितः ॥

---

अनतिलङ्घनीयता, सर्वस्वदान की क्षमता, आभेद्यत्व आदि व्यंजित होते हैं। यहाँ गुण-गुणी के तादात्म्य-गुण भी व्यजित होते है। इस प्रकार के अर्थ महाकवि के प्रबन्धों में देखे जाते है।

१७० नाट्यवेत्ताओं को नृत्त तथा नृत्य का यह विभाग जानना चाहिए। नाट्य मे नृत्त तथा नृत्य का विभाग रूप जो अभिनय होता है, वह सभी आतोद्य से युक्त 'मार्ग' नाम से जाना जाता है।

१७१ जो सुकुमार प्रयोग होता है, वह 'नृत्य' कहा जाता है। जो उद्धत प्रयोग होता है, वह 'नृत्त' कहा जाता है। रूपक आदि में नृत्य की प्रधानता से नाट्य का प्रयोग होता है। तोटक आदि का प्रयोग नृत्य की प्रधानता से होता है। नटो को दोनों स्थानों पर देश की रीति से युक्त प्रयोग करना चाहिए। विशेषतः तोटक आदि देश की रीति से युक्त कहे जाते है। गीत, वाद्य तथा नर्तन मे नट तथा नाट्यविशारदों को देश की भाषा तथा क्रिया से युक्त तोटकादि का प्रयोग करना चाहिए। उन (देशों) के रीति-ज्ञान के लिए नट को देशों का पृथक्-पृथक् ज्ञान करना चाहिए।

१७२ भारतवर्ष नामक देश की हिमालय से लेकर सेतुबन्ध तक नौ हजार योजन लम्बाई कही जाती है तथा पूर्व से पश्चिम तक सात हजार योजन चौड़ाई कही

तारः पूर्वापराद्यन्तः सप्तसाहस्रयोजनः ।
वसन्ति मर्त्याः सर्वत्र प्राप्ते कृतयुगे सुखम् ।।
त्रेतायुगे द्वापरे च हिमाक्रान्तिभयाज्जनाः ।
पादं पादं विसृज्यैते श्रयन्ते दक्षिणापथम् ।।
योजनानां सहस्रे द्वे सपञ्चाशच्छतद्वयम् ।
प्राप्ते कलियुगे मर्त्याश्चरन्ति वसुधातले ।।
यक्षा विद्याधराः सिद्धा गन्धर्वाश्च महर्षयः ।
क्रीडन्ति स्त्रीगणैः सार्धमुत्तरापथभूमिषु ।।
अस्य भारतवर्षस्य चतुर्थो दक्षिणापथः ।
चतुष्षष्टिभिदाभिन्नो नानाजनपदाश्रयः ।।
पाण्ड्याः सकेरलाश्चोलाः सिन्धुसिंहलपामराः ।
कलिङ्गयवनम्लेच्छपारसीकशकाह्वयाः ।।
गौडलाटविदर्भाश्च कामरूपान्ध्रकोङ्कणाः ।
कर्णाटसुह्मकाम्भोजहूणकारूशगुर्जराः ।।
ससौराष्ट्रमहाराष्ट्रहिम्मीरावन्त्यनूपजाः ।
अङ्गा वङ्गाश्च बङ्गालाः काशीकोसलमैथिलाः ।।
किरातवर्ध्रकारट्टकुरुपाञ्चालकेकयाः ।
औढ्रमागधसौवीरदशार्णमगधाह्वयाः ।।
नेपालजैनबाह्लीकपल्लवक्रथकैशिकाः ।
सुशूरसेनकाजानकारूशयवनादयः ।।
यदवश्चक्रकुरवपार्वतीयाः सहैमनाः ।

---

जाती है। सतयुग आने पर मनुष्य सर्वत्र सुखपूर्वक वास करते है। त्रेता और द्वापर के आने पर मनुष्य हिम-आक्रान्ति के भय से चोटी-चोटी को छोड़कर दो हजार दो सौ पचास योजन तक फैले हुए दक्षिणापथ का आश्रय लेते है। कलियुग आने पर मनुष्य पृथ्वी पर विचरण करते है। उत्तर-दिशा की भूमि पर यक्ष, विद्याधर, सिद्ध, गन्धर्व तथा महर्षिजन स्त्रियों के साथ क्रीड़ा करते है। इस भारतवर्ष के चतुर्थांशदक्षिणापथ पर चौसठ प्रकार का जनसमूह निवास करता है—पाण्ड्य, केरल, चोल, सिन्धु, सिंहल, पामर, कलिंग, यवन, म्लेच्छ, पारसी, कशक, गौड, लाट, विदर्भ, कामरूप, आन्ध्र, कोंकण, कर्णाट, सुह्य, काम्भोज, हूण, कारुश, गुर्जर, सौराष्ट्र, महाराष्ट्र, हिम्मीर, आवन्ती, अनूपज, अग, बग, बंगाल, काशी, कोसल, मैथिल, किरात, वर्ध्रकारट्ट, कुरु, पाञ्चाल, कैकय, औद्र, मागध, सौवीर, दशार्ण, मगध, नेपाल, जैन, बाह्लीक, पल्लव,

काश्मीरमरुकेङ्कणनग्नाश्च सहमङ्कणाः ॥
महेन्द्रदुहितुस्सेतोरेते मध्यमुपाश्रिताः ।
एतेऽष्टादशभिर्भाषाभेदैर्व्यवहरन्ति च ॥
ता भाषास्तेषु केषाञ्चिद्देशानां नामभिः कृताः ।
१७३ द्रमिडाः कन्नडान्ध्राश्च हूणहिम्मीरसिंहलाः ॥
पल्लवा यवना जैनाः पार्वतीयाः सपामराः ।
कषवर्ध्रककाम्भोजशकनग्नाः सवाकटाः ॥
एतेऽष्टादशभाषाणामाश्रयाः सहकोङ्कणाः ।
एता भाषाश्च सर्वत्र म्लेच्छभाषेत्युदाहृताः ॥
१७४ तत्तद्देशेषु सङ्गीतं तत्तद्भाषाभिरन्वितम् ।
देशीति देशिकमपि कथयन्ति मनीषिणः ॥
१७५ भाषा नाट्योपयोगिन्यः स्युः षट्पञ्चाथ सप्त वा ।
संस्कृतप्राकृताख्या च पैशाची मागधी तथा ॥
शौरसेनीति पञ्च स्युरपभ्रंशयुताश्च षट् ।
अपभ्रंशाह्वयां भाषां सप्तमीमपरे विदुः ॥
१७६ एता नागरकग्राम्योपनागरकभेदतः ।
त्रिधा भवेयुरेतासां व्यवहारो विशेषतः ॥

---

क्रथ, कैशिक, शूरसेन, काजान, कारुश, यवन, यदव, चक्र, कुरव, पार्वतीय, हैमन, काश्मीर, मरु, केंकाण, नग्न तथा हमंकण—ये सभी महेन्द्र-सुता के सेतु के मध्य मे वास करते है और अठारह प्रकार की भाषाओं से परस्पर व्यवहार करते है। वे भाषाएँ उन (देशों) में से कुछ देशों के नामों से जानी जाती हैं।

१७३ द्रमिड, कन्नड, आन्ध्र, हूण, हिम्मीर, सिंहल, पल्लव, यवन, जैन, पार्वतीय, पामर, कष, वर्ध्रक, काम्भोज, शक, नग्न, वाकट तथा कोंकण—ये सभी अठारह भाषाओं के आश्रय कहे जाते हैं। ये भाषाएँ सर्वत्र म्लेच्छ-भाषा कहलाती है।

१७४ विद्वान उन-उन देशों में उन-उन भाषाओं से युक्त सगीत को 'देशी' या 'देशिक' कहते है।

१७५ पाँच, छै या सात भाषाएँ नाट्य के लिए उपयोगी होती हैं। संस्कृत, प्राकृत, पैशाची, मागधी तथा शौरसेनी—ये पॉच भाषाएँ होती है, छठी अपभ्रंश कहलाती है। कोई दूसरे जन अपभ्रंश को सातवी भाषा स्वीकार करते है।

१७६. नागरक, ग्राम्य तथा उपनागरक भेद से इन भाषाओं का व्यवहार विशेषतः तीन प्रकार का होता है।

१७७ एवं देशविभागांश्च देशभाषा दशाष्ट च ।
देश्योपचारान्देश्यांश्च तालान्सङ्गीतकानि च ।।
सङ्ख्याश्च परिवर्तानां गीते मात्राः कलाकृताः ।
विश्रामानपि तत्सङ्ख्यान् गीते वाद्ये कलावशात् ।।
गीते धातुषु सर्वत्र समार्धविषमादिषु ।
प्रवेशांश्च विदारीणां कालसङ्ख्याः समात्रिकाः ।।
वितालमनुतालांश्च भग्नतालक्रमानपि ।
यथावदभिगम्यैतान्प्रयुञ्जयान्नाटचकोविदः ।।
१७८ पौरजानपदानाञ्च देशे देशे महीभृताम् ।
आचारश्चोपचारश्च व्यवहारा अलङ्क्रियाः ।।
आकाराश्चैव वेषाश्च विहाराश्च पृथक्पृथक् ।
तांस्तान्विशेषान् जानीयात्तत्तद्देशानुरूपतः ।।
तां तां प्रकृतिमास्थाय नाटचेनाभिनयेन्नटः ।
१७९ वैभाषिकाद्विभाषाश्च यथावत्परिकल्पयेत् ।।
शकाराभीरचण्डालपुलिन्दाश्शबरास्तथा ।
हालिका भैरवाश्चेति सप्त वैभाषिकाः स्मृताः ।।
विश्रामे गीतपाठ्यादेः सदस्यानां नटादिभिः ।
परिहासाय योक्तव्या देशभाषाभिरन्विताः ।।

---

१७७ इस प्रकार देश-विभाग, आठ-दस देश-भाषाएँ, देशोपचार, देशी-ताल और संगीतक, परिवर्तों की संख्या, गीत में मात्रा तथा कला, गीत तथा वाद्य में कलावश विश्राम तथा उनकी संख्या, गीत तथा सम, अर्धसम, विषम आदि सर्वत्र धातुओं में प्रवेश, विदारिओं की मात्रा तथा कालसंख्या, विताल, अनु-ताल तथा भग्नतालक्रम—इन सभी को यथावद् समझकर नाट्यविद को प्रयोग करना चाहिए ।

१७८ देश-देश में पौरवासियों तथा राजाओं के आचार, उपचार, व्यवहार, अलंकार, आकार, वेष तथा विहार—उन-उन विशेषों को उस-उस देश की अनुरूपता से अलग-अलग समझना चाहिए और उस-उस प्रकृति का आश्रय लेकर नट को नाट्य से अभिनय करना चाहिए ।

१७९ वैभाषिक (विभाषा बोलने वाला) से विभाषाओं की यथावत् कल्पना करनी चाहिए । शकार, आभीर, चण्डाल, पुलिन्द, शबर, हालिक तथा भैरव—ये सात 'वैभाषिक' कहे जाते हैं । नट आदि को गीत, पाठ्य आदि के विश्राम मे सदस्यों के परिहास (मनोरंजन) के लिए देश की भाषाओं से युक्त इन (वैभाषिकों) का प्रयोग करना चाहिए ।

१८० शकारा गिरिकुञ्जेषु शकारप्रायभाषिणः ।
रक्ताक्षाः कृष्णकेशाश्च तुन्दिला दन्तुरास्तथा ॥
कार्पासकर्परप्रायवसनाः सहयोषितः ।
१८१ आभीराः काननस्रोतस्विनीतीरनिवासिनः ॥
सगोकुला हास्यवेषाः सहपुत्रकलत्रिणः ।
भाषां चषभषप्रायां व्याहरन्ति यतस्ततः ॥
१८२ ग्रामोपान्तवने वासः क्रूरवेषा गवाशनाः ।
ह्रस्वकालाङ्गतेजाश्च(?) श्वपचप्रायभाषिणः ॥
कदन्नभोजिनो वन्याश्चण्डाला इत्युदीरिताः ।
१८३ गिरिकाननवेश्मानः मधुमैरेयपायिनः ॥
बकुलप्रायवसनाः सस्त्रीका गीतसादराः ।
पुलिन्दाः स्युः सरमरप्राया भाषामुपाश्रिताः ॥
१८४ पर्वतप्रायवसनाः पल्लीपर्वतवासिनः ।
शार्दूलमृगयाक्रीडाः फलाहाराः फलप्रियाः ॥
शबराश्चर्मरप्रायकेशा लेलेतिभाषिणः ।

---

(शकार)

१८० पर्वत और कुजों में निवास करने वाले, प्रायः शकार भाषा बोलने वाले, लाल आँखों वाले, काले केश वाले, तुन्दिल (तौदू), दन्तुर (भयकर दाँतों वाले), प्रायः कपास के टुकड़ों से बने वस्त्रों को धारण करने वाले तथा स्त्रियों के साथ रहने वाले पुरुष 'शकार' कहलाते है ।

(आभीर)

१८१ जंगलो मे तथा नदी-किनारे निवास करने वाले, गौओं के झुण्ड के साथ रहने वाले, हास्यास्पद वेशभूषा धारण करने वाले, स्त्री-पुत्रों के साथ रहने वाले, प्रायः चाहे जहाँ चष-भष भाषा का जो प्रयोग करते हैं, वे 'आभीर' कहलाते हैं ।

(चण्डाल)

१८२ गाँव के समीप वाले वन में जो वास करते है, जो कूर वेश-भूषा धारण करते है, जो गौ-मांस का भक्षण करते है, जो थोड़े-थोड़े काले अंग वाले होते हैं (?), प्रायः जो श्वपच भाषा का प्रयोग करते हैं, जो खराब भोजन करते है तथा जो जंगली हैं, वे 'चण्डाल' कहे जाते है ।

(पुलिन्द)

१८३ पर्वत और जंगलो में निवास करने वाले, मधु तथा मदिरा का पान करने वाले, बकुल की छाल के वस्त्र पहनने वाले, स्त्रियों के साथ रहने वाले, आदर के साथ गीत गाने वाले तथा प्राय· सरमर भाषा का प्रयोग करने वाले 'पुलिन्द' कहलाते है ।

(शबर)

१८४ जिनकी प्रायः पर्वतीय वेशभूषा होती है, जो पर्वत तथा नदी-किनारे वास करने वाले हैं, जो सिंह के साथ आखेट-क्रीड़ा करते हैं, जो फल-प्रिय होते हैं तथा फल जिनका आहार होता है, प्राय. चर्म से रगे जिनके केश होते है तथा 'लेला' —इस प्रकार की भाषा का जो प्रयोग करते हैं, वे 'शबर' कहलाते है ।

१८५ शैलारण्यतटीवासाः श्यामाकाहारशीलिनः ।।
साजगोमहिषास्सर्वे कार्पासादितुषप्रियाः ।
हलहल्लेतिभाषन्तो हालिकाः सकुटुम्बिनः ।।
१८६ पुरे जनपदेऽरण्ये वसन्तः स्वैरचारिणः ।
मांसाशिनो मधुरता मतमांसबलिक्रियाः ।।
विदूरलोकयात्राश्च रुरुशार्दूलमेखलाः ।
अविस्पष्टपदालापा भैरवा इत्युदीरिताः ।।
एते विशेषतः कार्या हासहेतोः सभासदाम् ।
१८७ नातीव संस्कृताद्या वा भाषा नातीव देशजा ।।
कथाप्रवर्तिनी गोष्ठ्यां भाषा स्यादुभयात्मिका ।
शब्दरूपा यत्र भावास्तिष्ठन्ति च दुहन्ति च ।।
अभीष्टमर्थिनां लोके सा गोष्ठीति निगद्यते ।
१८८ सभ्याः सभापतिसखाः श्रुतशीलकुलोन्नताः ।।
यत्रासते प्रीयमाणास्तां गोष्ठीं प्रविशेत्सुधीः ।
१८९ या गोष्ठी लोकविद्विष्टा या च स्वैरविसर्पिणी ।।
परहिंसात्मिका या च न तत्रावतरेद्बुधः ।

---

**(हालिक)**

१८५ पर्वत जगल तथा नदी-किनारे वास करने वाले, सवा (चावल) का आहार करने वाले; बकरी, गौ तथा भैंस—सभी को पालने वाले, कार्पास आदि तथा अनाज की भूसी के प्रिय, 'हलहल्ला'—इस प्रकार की भापा बोलने वाले तथा कुटुम्बियों के साथ रहने वाले 'हालिक' कहलाते है ।

**(भैरव)**

१८६ नगर, कस्बा तथा जंगल मे निवास करते हुए स्वेच्छानुसार विचरण करने वाले, मांस का भक्षण करने वाले, मधु-पान करने वाले, मांस-बलि-क्रिया में विश्वास रखने वाले, दूर-दूर की लोक-यात्रा करने वाले, रुरु (मृग) तथा शार्दूल (शेर) जैसी मेखला वाले तथा अस्पष्ट बोलने वाले 'भैरव' कहलाते हैं । इन सभी का विशेषतः सभासदों के परिहास के लिए प्रयोग करना चाहिए ।

**(गोष्ठी)**

१८७ गोष्ठी मे न अत्यन्त संस्कृत-भाषा, न अत्यन्त देशगत भाषा का प्रयोग करना चाहिए, अपितु कथा को प्रवृत्त करने वाली उभय रूप भाषा का प्रयोग करना चाहिए अर्थात् सस्कृत तथा देशगत—दोनो भाषाओं का प्रयोग करना चाहिए। जहाँ शब्द-रूप भाव रहते है और दुहे जाते है । लोक में अभीष्ट-अर्थ चाहने वालों की वह 'गोष्ठी' कही जाती है ।

१८८ जिसमे सभ्य, सभापति, मित्र, श्रुतिशील, कुलीन, उन्नत तथा प्रेमीजन उठते-बैठते हैं, उस गोष्ठी में सुधीजनों (सज्जनों) को प्रवेश करना चाहिए ।

१८९ जो गोष्ठी लोक से द्वेष रखने वाली है अर्थात् लोक द्वेषी है, जो स्वेच्छाचारिणी है तथा जो परहिंसात्मिका है, उसमे सज्जनों को नहीं जाना चाहिए ।

१९० त्रिवर्गसाधनी या च या लोकैरपि सत्कृता ।।
तस्यां गोष्ठ्यां प्रकथयन्कथां बहुमतो भवेत् ।
१९१ यस्मात्सर्वान्न पश्यन्ति सर्वे गोष्ठ्यां सभासदः ।।
तस्मात्तां सर्वतो भावैः प्रीणयेन्नाट्यवित्तमः ।
१९२ इत्थमुक्तक्रमोपेतं नाट्यं सर्वरसाश्रयम् ।।
प्रेक्षकस्य प्रयोक्तुश्च कवेः स्याद्भुक्तिमुक्तिदम् ।
१९३ ग्रन्थेऽस्मिन्नविभिन्नोऽपि योऽर्थो बहुश ईरितः ।।
न तस्य पुनरुक्तत्वं मतान्तरसमर्थनात् ।
सन्ति चैकशतं शिष्या भरतस्य महामुनेः ।।
तेषां मतैरभिन्नोऽपि भिन्नवत्प्रतिभाति सः ।
न स्वातन्त्र्यान्न मौढ्याच्च कोऽप्यर्थो निहितः क्वचित् ।।
भट्टाभिनवगुप्तार्यपादप्रोक्तेन वर्त्मना ।
१९४ अयं प्रबन्धः कथितः शारदायाः प्रसादतः ।।
यः कश्चिदवगन्ता चेत्प्रबन्धस्यास्य तत्त्वतः ।
स माननीयो भवति राजभिर्भावकोविदैः ।।

इति श्रीशारदातनयविरचिते भावप्रकाशने
नाट्यप्रयोगभेदप्रकारविशेषनिर्णयो
नाम दशमोऽधिकारः ।

---

१९० जो त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ तथा काम) की साधन-रूपा है तथा जो लोक में सम्मान को प्राप्त है, उस गोष्ठी मे कथा को कहते हुए आदर प्राप्त करना चाहिए।

१९१ गोष्ठी मे सभासद जिस सबके कारण सभी को नही देखते हैं, उस सबको नाट्यविद् सर्वत भावो से प्रेम करें।

१९२ इस प्रकार उक्त क्रम से युक्त तथा सभी रसों के आश्रित नाट्य प्रेक्षक, प्रयोक्ता तथा कवि को भुक्ति तथा मुक्ति प्रदान करने वाला होता है।

१९३ इस ग्रन्थ मे जो अविभिन्न-अर्थ बहुत बार कहा गया है, उसको मत-मतान्तर के समर्थन के कारण पुनरुक्ति नहीं समझना चाहिए। महामुनि भरत के सौ शिष्य है, उनके मतों में अभिन्न-अर्थ भी भिन्न जैसा प्रतीत होता है। कोई भी अर्थ कही न स्वतन्त्रता से निश्चित किया गया है न अज्ञानता से अपितु भट्ट-अभिनवगुप्ताचार्यपाद के कहे गये मार्ग से निश्चित किया गया है।

१९४ यह प्रवन्ध शारदा की प्रसन्नता से कहा गया है। जो कोई इस प्रबन्ध को तत्वतः समझेगा, वह राजाओं और भावज्ञों द्वारा मानवीय होगा अर्थात् सम्मान को प्राप्त करेगा।

श्री शारदातनय-विरचित भावप्रकाशन में नाट्यप्रयोग-भेदप्रकारविशेष-निर्णय नामक दशम अधिकार समाप्त हुआ।

# टिप्पणी

# प्रथम अधिकार

[१] ग्रन्थ की निर्विघ्न परिसमाप्ति के लिए विघ्नविध्वंसकारी मंगलाचरण प्रयोजनीय है, अतः ग्रन्थकार ने मगल करने की इच्छा से अपने इष्ट देवता विघ्न-विनायक गणेश का स्मरण किया है, साथ ही उन्होंने इसी मंगल श्लोक से ग्रन्थ के प्रतिपाद्य-विषय की ओर भी संकेत किया है। ग्रन्थकार ने यहाँ गीत, वाद्य और नृत्य का उल्लेख किया है। आचार्य अभिनवगुप्त ने गीत, वाद्य और नृत्य से 'नाट्य' को सम्पन्न माना है। (द्रष्टव्य—**अभिनव-भारती**, जी. ओ. एस., खण्ड १, पृष्ठ १३)। अमरकोशकार का कथन है कि गीत, वाद्य और नृत्य—इन तीनों के समुदाय का नाम ही 'नाट्य' है। (**अमरकोश**—१, ७, १०)। अतः स्पष्ट है कि प्रस्तुत मंगल-श्लोक से ग्रन्थ के प्रतिपाद्य-विषय—'नाट्य'—की ओर भी सकेत किया गया है।

(i) **गीत**—गृहांशादिदशलक्षणलक्षितस्वरमात्रसंनिवेशविशेषो रागः ।

तैः स्वरैः पदैस्तालैर्मार्गैरेवं चतुर्भिरंगैरुपेतं ध्रुवादिसंज्ञकं गीतम् ।

—संगीतरत्नाकर की **कल्लिनाथकृत टीका**, अड्यार-संस्करण, खण्ड २, रागविवेकाध्याय, पृष्ठ ३३

दशांश-लक्षण-लक्षित स्वर-संनिवेश (राग या जाति), पद, ताल एवं मार्ग इन चार अंगों से युक्त गान 'गीत' कहलाता है।

(ii) **वाद्य**—ततं वीणादिकं वाद्यमानद्धं मुरजादिकम् ।

वंश्यादिकं तु शुषिरं कांस्यतालादिक घनम् ।

चतुर्विधमिदं वाद्यवादित्रातोद्यनामकम् ।

—**अमरकोश**, नाट्य-वर्ग, १, ७, ४-५

तत, आनद्ध, सुषिर और घन—ये चार 'वाद्य' है।

(iii) **नृत्य**—'भावाश्रयं नृत्यम्' (**दशरूपक** १, ९) 'नृत्य' भावों पर आश्रित होता है। इसका यह अर्थ हुआ कि जिस अभिनय द्वारा किसी पदार्थ की अभिव्यक्ति से सहृदय सामाजिक के भावों को अभिव्यंजित किया जाता है, उसे 'नृत्य' कहते हैं। अभिनयदर्पण में ऐसे अभिनय को 'नृत्य' कहा गया है, जिसमें रस, भाव और व्यंजना का प्रदर्शन हो :

'रसभावव्यंजनादियुक्तं नृत्यमितीर्यते ।'

—**अभिनय-दर्पण**, इलाहाबाद, १९६७, कारिका–१६

[२] **हेला**—प्रत्येक व्यक्ति का भाव जो शृंगार-रस से उत्पन्न होता है तथा जिसकी अभिव्यक्ति ललित अभिनय द्वारा होती है, उसे 'हेला' कहते है।

यो वै हावः स एवैषा शृंगाररससंभवा ।

समाख्याता बुधैर्हेला ललिताभिनयात्मिका ।।

—**नाट्यशास्त्र**, कलकत्ता, १९६७, २४, ११

विश्वनाथ मनोविकारों के अत्यधिक स्फुट रूप से प्रकट होने को 'हेला' कहते है।

हेलात्यन्तसमालक्ष्यविकारः स्यात्स एव तु।

—**साहित्य-दर्पण**, निर्णय सागर, १६२२, ३, ६५

[३] **नट**—अभिनेता या अभिनय करने वाले व्यक्ति को 'नट' कहते हैं। गुण और रूप में वह सूत्रधार के अनुरूप होता है और रंगमंच के निर्माण तथा नाट्य-शाला के अभिनय-कार्य में वह सूत्रधार की सहायता करता है। वह सब प्रकार के रूप धारण करने वाला होता है। भरत, भारत, चारण, कुशीलव, शैलूष और नर्तक आदि उसके अनेक नाम है। साहित्य-दर्पण (६, २६) के अनुसार पूर्वरंग विधान के बाद जब सूत्रधार रगमंच पर उतर आता है, तब नट रंग-मच पर आकर नाटक-प्रयोग की आस्थापना करता है। इस दृष्टि से उसे स्थापक भी कहा जाता है।

[४] भावित का अर्थ है परिव्याप्त। लोक में कहा जाता है 'अहो ह्यनेन गन्धेन रसेन वा सर्वमेव भावितमिति' (**नाट्यशास्त्र**, जी. ओ. एस., पृष्ठ ३४४-३४५)—अरे इस गन्ध या रस से यह सब कुछ भावित हो गया है। इसका आशय हुआ कि वह गन्ध या रस, जिससे (भोज्य आदि) पदार्थ भावित किया गया है, उसमें वह सर्वत्र परिव्याप्त है। इस परिव्याप्ति का उदाहरण देते हुए आचार्य अभिनवगुप्त ने कहा है कि कस्तूरी की गन्ध से वस्त्र उसकी गन्ध नहीं हो जाता बल्कि उसके गुण से संक्रान्त हो जाता है और न उसके समान अन्य गुण की (वस्त्र मे) उत्पत्ति हो जाती है। पदार्थ जिस प्रकार गन्ध आदि से भावित होते हैं अर्थात् उनमें गन्ध आदि की व्याप्ति होती है, उसी प्रकार वस्त्र में कस्तूरी की परिव्याप्ति होती है।

[५] **भाव**—सुखदुःखादिकैर्भावैर्भावस्तद्भावभावनम्।

—**दशरूपक**, ४,४

काव्य या अभिनय में उपनिबद्ध आश्रय राम आदि के सुख-दुःख आदि भावों के द्वारा सामाजिक के हृदय के अन्तर्वर्ती तद्-तद् भावो के भावन को ही 'भाव' कहते है।

[६] **सामाजिक**—नाटक में सामाजिक का अर्थ दर्शक है। जिसे रस या नाटक का आनन्द प्राप्त हो, उसे सामाजिक कहते है।

[७] **षड्ज स्वर**—नासां कण्ठमुरस्तालु जिह्वां दन्तांश्चसंस्पृशन्।

षड्भ्यः संजायते यस्मातस्मात्षड्ज इति स्मृतः॥

—**अमरकोश**, रामाश्रमी—टीका, १, ७, १

जो स्वर नासिका, कण्ठ, उर, तालु, जिह्वा तथा दाँतों का स्पर्श करता हुआ इन्ही छै स्थानों से उत्पन्न होता है, उसे 'षड्ज' कहते हैं।

[८] (i) गोविन्द शब्द का अर्थ है जो उपनिषद्वाक्यों को प्रमाण-रूप में प्राप्त करता है। (द्रष्टव्य—**श्री रासपञ्चाध्यायी**—सांस्कृतिक अध्ययन, श्री रसिक बिहारी जोशी, दिल्ली, १६६१, पृष्ठ ७२)।

(ii) ग्रन्थ की निर्विघ्न परिसमाप्ति के लिए ग्रन्थकार ने अपने इष्ट देवता भगवान गोविन्द की वन्दना की है।

[९] ग्रन्थकार के अनुसार नाट्यवेद के आदिकर्त्ता (द्रष्टव्य—**भावप्रकाशन**, जी. ओ. एस., पृष्ठ २८४-२८६) होने के कारण भगवान शकर की वन्दना की गयी है।

[१०] समस्त शास्त्रों की अधिष्ठात्री होने के कारण भगवती शारदा का आराधन ग्रन्थ के आरम्भ मे उचित है—ऐसा सोचकर भगवती शारदा की वन्दना की गयी है।

[११] भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार भरत का नाट्यशास्त्र नाट्यवेद के नाम से सम्मानित रहा है। नाट्य-शास्त्र के अनुसार वह चार वेदों के अतिरिक्त पंचम तथा सार्ववर्णिक वेद है (द्रष्टव्य—**नाट्यशास्त्र**, १, १२, १६ तथा २५)।

[१२] **नाट्यशाला**—नाट्यवेश्म, नाट्यमण्डप, चतुरस्रशाला, पथ्यशाला, रंगशाला, रंगमण्डप, पेक्षागार, प्रेक्षागृह, दरीगृह और शिलावेश्म आदि अनेक नाम नाट्यशाला के लिए प्रयुक्त हुए हैं (भारतीय नाट्य-परम्परा और अभिनय-दर्पण, वाचस्पति गैरोला, इलाहाबाद, १०६७, भूमिका, पृष्ठ ६५)।

[१३] तुलना—**दशरूपक** ४।४।

[१४] तुलना—**नाट्यशास्त्र**—सप्तम अध्याय, जी. ओ. एस., पृष्ठ ३४२।

[१५] **अभिनव-भारती**, सप्तम अध्याय, (जी. ओ. एस.), पृष्ठ ३४३।

[१६] **विभाव**—भरत के अनुसार विभाव शब्द का अर्थ है विज्ञान अर्थात् विशेप ज्ञान। क्योंकि इसके द्वारा वाचिक तथा आगिक अभिनय पर आश्रित अनेक पदार्थ विभावित होते हैं अर्थात् विशेप रूप से जाने जाते है, अतः इसको विभाव नाम से कहा जाता है।

'विभावो विज्ञानार्थः।...............। यथा विभावितं विज्ञातमित्यनर्थान्तरम्।

बहवोऽर्था विभाव्यन्ते वागंगाभिनयाश्रयाः।
अनेन यस्मात्तेनायं विभाव इति संज्ञितः॥

—**नाट्यशास्त्र**, जी. ओ. एस., ७।४

हेमचन्द्र ने स्थायी एवं व्यभिचारी चित्तवृत्तियों को विशेष रूप से ज्ञापित कराने के कारण ही इसे विभाव कहा है।

'वागाद्यभिनयसहिताः स्थायिव्यभिचारिलक्षणाः चित्तवृत्तयोः विभाव्यन्ते विशिष्टतया ज्ञायन्ते—यैः ते विभावाः।'

—**काव्यानुशासन**, पृष्ठ ५६, निर्णयसागर, १९०१

यही शिंगभूपाल का मत है—

तत्र ज्ञेयो विभावस्तु रसज्ञापनकारणम्।

—**रसार्णवसुधाकर**, १।५६, सागरिका, अष्टम वर्ष, वि० २०२६

रस का विशेष रूप से ज्ञापन कराने वाला कारण 'विभाव' जाना जाता है।

[१७] **अनुभाव**—भरत के अनुसार अनुभावों के द्वारा वाचिक, आंगिक तथा सात्त्विक अभिनय अनुभावित होते है अर्थात् अनुभूति-योग्य बनाये जाते हैं अतः अनुभाव कहलाते हैं।

अनुभाव्यतेऽनेन वागंगसत्त्वकृतोऽभिनय इति—
वागंगभिनयेनेह यतस्त्वर्थोऽनुभाव्यते ।
शाखांगोपांगसंयुक्तस्त्वनुभावस्ततः स्मृतः ।।

—**नाट्यशास्त्र**, जी. ओ. एस. ७।५

[१८] तुलना—**सरस्वती-कण्ठाभरण,** ५।२६, स. ए. बरुआ, पब्लिकेशन बोर्ड आसाम, गोहाटी-३, १९६९ ।

[१९] **व्यभिचारी-भाव**—भरत ने व्यभिचारी पद की निष्पत्ति करते हुए बताया है कि 'वि' एवं 'अभि' उपसर्गो से गति तथा संचालन अर्थ में चर धातु से व्यभिचारी पद निष्पन्न होता है । जो रसों में, नाना रूप से वितरण करते है, और रसों को पुष्ट कर आस्वादन योग्य बनाते हैं, उन्हें 'व्यभिचारी-भाव' कहा जाता है ।

वि अभि इत्येतावुपसर्गौ । चर इति गत्यर्थो धातुः । विविधमाभिमुख्येन रसेषु चरन्तीति व्यभिचारिणः । वागंगसत्त्वोपेताः प्रयोगे रसान्नयन्तीति व्यभिचारिणः ।

—**नाट्यशास्त्र**, जी. ओ. एस., पृष्ठ ३५५

दशरूपककार, शिंगभूपाल तथा विश्वनाथ ने भरत की उक्ति को ही ग्रहण कर लिया है । (**दशरूपक** ४।७, **रसार्णवसुधाकर** २।३, **साहित्य-दर्पण** ३।१४०) ।

[२०] **सात्त्विक भाव**—भरत का कथन है कि समाहित मन से सत्त्व की निष्पत्ति होती है (इह हि सत्त्वं नाम मनःप्रभवम् । तच्च समाहितमनस्त्वादुत्यते—नाट्यशास्त्र, जी. ओ. एस., पृष्ठ ३७४-३७५) । मन के समाहित हुए बिना रोमांच आदि स्वाभाविक रूप से उत्पन्न नही हो सकते । दशरूपक, प्रताप-रुद्रीय तथा रसरत्नप्रदीपिका में भरत के इस मत का समर्थन किया गया है :

परगतदुःखहर्षादि भावनायामत्यन्तानुकूलान्तःकरणत्वं सत्त्वं ।

—**दशरूपक,** चौखम्बा प्रकाशन, १९६२, पृष्ठ २८८

परगतसुखादिभावनया भावितान्तःकरणत्वं सत्त्वं ।

—**प्रतापरुद्रीय,** मद्रास, १९१४, पृष्ठ १५९

सत्त्व परगतदुःखादिभावनायां अत्यन्तानुकूलान्तःकरणत्वं मनःप्रभवः ।

—**रसरत्नप्रदीपिका** (भा. वि. भवन), पृष्ठ १०

भोजराज ने सत्त्व की व्याख्या करते हुए कहा है—

रजस्तमोभ्यामस्पृष्टं मनः सत्त्वमिहोच्यते ।

—**सरस्वतीकण्ठाभरण,** ५।२०

रज और तम से रहित मन ही 'सत्त्व' कहलाता है ।

सांख्यदर्शन के अनुसार सत्त्व-गुण लघु है तथा प्रकाश है (सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रजः) ।

—**सांख्य-कारिका,** १३, स. टी. जी. मयङ्कर, पूना, (१९६४)

सांख्यदर्शन के सत्त्वगुण के लक्षण का अनुसरण करते हुए सागरनन्दी ने कहा है कि सत्त्व का अर्थ है वह गुण जिसमें प्रकाश हो :

सत्त्वं नाम प्रकाशको गुणः ।

—**नाटक-लक्षणरत्नकोश**, चौखम्बा प्रकाशन, १९७२, पृष्ठ २०३

इस प्रकार इस सत्त्व से युक्त रहने वाले भावों को 'सात्त्विक' भाव कहा जाता है ।

[२१] **उद्दीपन**—जो रस को उद्दीप्त करते है, उन्हे उद्दीपन विभाव कहते हैं, प्रत्येक रस के पृथक्-पृथक् उद्दीपन विभाव होते हैं ।

यो रसमुद्दीपयति स उद्दीपन विभाव· ।

—**रस-तरंगिणी**, भानुदत्त, द्वितीय तरंग, पृष्ठ २६४, वाराणसी, सं. २०२५

[२२] नृत्य करती हुई मालविका को देखकर अग्निमित्र कह रहा है—

दीर्घाक्षं शरदिन्दुकान्तिवदनं बाहू नतावंसयोः
संक्षिप्तं निबिडोन्नतस्तनमुरः पार्श्वे प्रमृष्टे इव ।
मध्यः पाणिमितो नितम्बि जघनं पादावरालांगुली
छन्दो नर्तयितुर्यथैव मनसः स्पष्टं तथाऽस्या वपुः ॥

—**मालविकाग्निमित्र,** अंक २, श्लोक ३

वाह ! यह तो सिर पैर तक एकदम सुन्दर है क्योंकि इसकी बड़ी-बड़ी आँखें, चमकता हुआ शरद् के चन्द्रमा के समान मुख, कन्धों पर झुकी हुई भुजाएँ, उभरते हुए कठोर स्तनों से जकड़ा हुआ वक्षःस्थल, पुछे हुए से पार्श्व-प्रदेश, मुठ्ठी भर की कमर, मोटी-मोटी जंघाएँ और थोड़ी झुकी हुई दोनों पैरों की अंगुलियाँ—बस ऐसी जान पड़ती है मानो इसका शरीर इसके सौन्दर्य को देखकर प्रसन्नता तथा खुशी से नाचते हुए मन का जैसा अभिप्राय होता है ठीक उसी अभिप्राय के अनुरूप बनाया गया हो ।

[२३] पण्डितों की सभा मे वस्त्रादिकों का आडम्बर रचकर निशंक आते हुए किसी मूर्ख को देखकर किसी परिहासप्रिय पुरुष का वचन है :

गुरोर्गिरः पञ्च दिनान्यधीत्य वेदान्तशास्त्राणि दिनत्रयं च ।
अभी समाघ्राय च तर्कवादान् समागताः कुक्कुटमिश्रपादाः ॥

—**साहित्य-दर्पण**, पृष्ठ १८४

आगे से हट जाओ ! कुक्कुटमिश्र जी पधार रहे है !! आपने प्रभाकर गुरु की समस्त विधाएँ (मीमांसा) पाँच दिन मे ही चूस (पढ) ली हैं और तीन दिन में सम्पूर्ण वेदान्त-शास्त्र को साफ कर दिया है एवं आपने न्याय के समग्र तर्कवाद भी सूँघ रखे हैं ।

[२४] परशुराम के लिए राम कहते है :

"त्यागः सप्तसमुद्रमुद्रितमहीनिर्व्याजदानावधि·" इति ।

—**दशरूपक**, पृष्ठ २८३

सातो समुद्रपर्यन्त पृथ्वी का निष्कारण—बिना किसी दृष्ट फल की इच्छा के—दान कर देना आपके त्याग का परिचायक है ।

[२५] वलि वामन को देखकर कह रहा है—

चित्र महानेष वतावतारः क्व कान्तिरेषाऽभिनवैव भंगि ।
लोकोत्तरं धैर्यमहो प्रभावः काऽप्याकृतिर्नूतन एष सर्गः ॥

—**काव्य-प्रकाश,** वामनाचार्य झलकीकर, पूना, १९६५, पृष्ठ ११०

अहो ! यह महान् अवतार तो अद्भुत (चित्रं) है। यह कान्ति और कहाँ है ? (लोकोत्तर है)। इसकी भंगिमा (गमन-उपवेशनादि) विलक्षण या अपूर्व ही है ! धैर्य अलौकिक है। अहो ! इसका प्रभाव, यह आकृति कोई विलक्षण ही है, कोई यह नवीन सृष्टि है।

[२६] राम-वनवास के शोक से व्याकुल राजा दशरथ की की गयी देवनिन्दा है—

विपिने क्व जटानिबन्धनं तव चेदं क्व मनोहरं वपुः।
अनयोर्घटना विधेः स्फुटं तनु खड्गेन शिरीषकर्तनम् ॥

—**साहित्य-दर्पण**, पृष्ठ १८५

कहाँ जंगल में जाकर जटाओं का बाँधना, और कहाँ तुम्हारा यह सुकुमार मनोहर शरीर ! विधाता का इन दोनों का जोड़ना वैसा ही है जैसा तलवार से शिरीष के कोमल फूल का काटना।

[२७] अपने पिता द्रोणाचार्य के अपमानपूर्वक सिर काटे जाने से क्रुद्ध होकर अश्वत्थामा कह रहा है—

कृतमनुमत दृष्टं वा यैरिदं गुरूपातकं
मनुजपशुभिर्निर्मर्यादैर्भवद्भिरुदायुधैः
नरकरिपुणा सार्धं तेषां सभीमकिरीटिना—
मयमहमसृङ्मेदोमांसैः करोमि दिशां बलिम् ॥

—**वेणीसंहार,** अंक ३, श्लोक २४

जिन नरपशुओं ने मर्यादा की सीमा का विच्छेद करके इस ब्रह्महत्यारूप महापातक को स्वयं सम्पादित किया है; अथवा उसके लिए अनुमति प्रदान की है, अथवा शस्त्र-सम्पन्न होते हुए भी प्रत्यक्ष अवलोकन किया है, वासुदेव, भीम और अर्जुन के साथ-साथ उनके मांस, मज्जा और रुधिरादिक से मैं दिक्पालों को बलि-वितरण कर दूँगा।

[२८] उत्कृत्योत्कृत्य कृत्तिं प्रथममथ पृथूच्छोथभूयांसि मांसा—
न्यंसस्फिक्पृष्टपिण्डाद्यवयवसुलभान्युग्रपूतीनि जग्ध्वा।
आर्तः पर्यस्तनेत्रः प्रकटितदशनः प्रेतरंकः करंका—
दंकस्थादस्थिसंस्थं स्थपुटगतमपि क्रव्यमव्यग्रमत्ति ॥

—**मालतीमाधव**, अंक ५, श्लोक १६

देखो तो सही, यह दरिद्र प्रेत अपने अंक में रखे हुए इस मुर्दे के देह की चमड़ी उधेड़-उधेड़ कर पहले तो कन्धे, नितम्ब, पीठ, पिंडली आदि अवयवों के मोटे-मोटे सूजे हुए, अतएव सुलभ, दुर्गन्धयुक्त सड़े मांस को खा चुका और उसके खाने पर भी भूख से व्याकुल आँखें फाडे, दाँत निकाले, अब हड्डियों में चिपके और जोड़ों में घुसे मांस को भी बिना किसी व्यग्रता के बड़े चाव से चबा रहा है।

[२९] स्वगेहात्पन्थानं तत उपचितं काननमथो
गिरिं तस्मात्सान्द्रद्रुमगहनमस्मादपि गुहाम् ॥
तदन्वंगान्यंगैरभिनिविशमानो न गणय—
त्यरातिः क्वालीये तव विजययात्राचकितधीः ॥

—**दशरूपक**, पृष्ठ २९०

तुम्हारी विजययात्रा से चकित बुद्धिवाला शत्रु राजा डरकर घर से मार्ग पर, मार्ग से घने जंगल में, वहाँ से भी घने पेड़ो मे घिरे पर्वत पर तथा पर्वत से गुफा में जाकर छिप गया है। वहाँ भी जाकर वह अपने अंगों को अंगों मे समेट लेने पर भी यह नहीं गिन पाता, यह नही सोच पाता कि तुम्हारे डर से कहाँ छिपे।

[३०] **आलम्बन**—जिसका अवलम्ब या सहारा लेकर रस उत्पन्न होता है उसे आलम्बन विभाव कहते हैं। प्रत्येक रस के पृथक्-पृथक् आलम्बन होते हैं।

यमालम्ब्य रस उत्पद्यते स आलम्वन विभावः।

—**रसतरंगिणी**, द्वितीय तरंग, पृष्ठ २५८

[३१] तुलना—**भोज का श्रृंगार-प्रकाश**, १७वाँ प्रकाश, मैसूर १९६९, पृष्ठ ६७९। शिगभूपाल ने मन-आरम्भानुभाव के स्थान पर चित्तारम्भानुभाव नाम देने के अतिरिक्त शेष सभी नामों को ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया है।

—**रसार्णवसुधाकर**. पृष्ठ ३०

[३२] (क) तुलना—**दशरूपक** २।३३।

(ख) हरस्तु किञ्चित्परिलुप्तधैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः।
उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि।

—**कुमारसम्भव**, ३, ६७

चन्द्रोदय के आरम्भ मे समुद्र की तरह अधीर होकर शिव ने बिम्बाफल के समान अधर और ओष्ठ वाली पार्वती के मुख की ओर अपने नेत्रों को लगा दिया अर्थात् एकटक होकर मुख को देखने लगे।

[३३] (क) तुलना—**नाट्यशास्त्र**, कलकत्ता, २४।१० तथा **दशरूपक** २।३४।

(ख) "जं किं पि पेच्छमाणं भणमाणं रे जहातहच्चे अ।
णिज्झाअ णेहमुद्धं व अस्म मुद्धं णिअच्छेह।

—**दशरूपकावलोक**, पृष्ठ १२३

हे मित्र, वह नायिका जैसी ही कुछ विचित्र प्रकार से देखती है वैसी ही उसका बोलना भी कुछ विचित्रता लिए रहता है। मेरी बातों पर ध्यान देकर स्नेहमुग्धा भोली नायिका की ओर थोड़ा दृष्टिपात तो करो। यहाँ नायिका के दृष्टिपात में 'हाव' है।

[३४] (क) तुलना—**नाट्यशास्त्र**, कलकत्ता, २४।११, **दशरूपक** २।३४ तथा **रसार्णवसुधाकर** १।१९४।

(ख) 'तह झत्तिसे पअत्ता सत्वंग विब्भमा थणु ब्भेए।
संसहअबालभावा होइ चिरं जह सहीणं पि।

—**दशरूपकावलोक**, पृष्ठ १२४

नायिका के शरीर में स्तनों की उद्भिन्नता के साथ-साथ इतना शीघ्र विभ्रम, विलास, आदि भावो का संचार हुआ कि उसकी सखियाँ बहुत देर तक उसके बाल-भाव के विषय में सशंकित रहीं।

[३५] (क) तुलना—**दशरूपक** ४।३५।

(ख) अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररुहै—
रनाविद्धं रत्नं मधु नवमनास्वादितरसम्।

अखण्डं पुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनघं,
न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यति विधिः ॥

—**अभिज्ञानशाकुन्तल**, २, १०

उसका अनिन्द्य सौन्दर्य, न सूँघे हुए पुष्प, नखों से न काटे हुए पल्लव, बिना छिदे रत्न, जिसके रस का स्वाद नहीं लिया गया ऐसे नूतन मधु तथा बिना भोगे हुए अक्षय पुण्य-फल के समान है। न जाने विधाता इसका उपभोक्ता किसे बनायेगा ?

[३६] (क) तुलना—**दशरूपक** ४।३५।

(ख) निम्न पद्य मे नायिका में मन्मथ का अवतरण होने से उसकी मनोहारिता और सघन हो गयी है। यहाँ तक कि उसकी कान्ति को देखकर मानव तो क्या अन्धकार भी उसके अंगों के स्पर्श-सुख को प्राप्त करना चाहता है। लेकिन नायिका उसे अपने पास तक नही आने देती।

उन्मीलद्वदनेन्दुदीप्तिविसरैर्दूरै समुत्सारितं
भिन्नं पीनकुचस्थलस्य च रुचा हस्तप्रभाभिर्हतम्।
एतस्याः कलविङ्ककण्ठकदलीकल्पं मिलत्कौतुका—
दप्राप्तांगसुखं रुषेव सहसा केशेषु लग्नं तमः ॥

—**दशरूपक**, पृष्ठ १२५

नायिका के अंगों के स्पर्श सुख के अभिलाषी अन्धकार ने जब उसके मुख के पास जाने की इच्छा की तो वहाँ से उसे नायिका के प्रफुल्लित मुखरूपी चन्द्रमा की प्रकाश-किरणों ने दूर भगा दिया, उसके बाद जब वह उसके स्थूल कुचों के पास तथा हाथों के पास गया तो वहाँ पर भी उसके पीनपयोधर की कान्ति ने उसे फोड़ दिया और हाथ की कान्ति ने खूब पीटा। इस प्रकार हर जगह से तिरस्कृत कलावक पक्षी के कण्ठ के समान काला वह अन्धकार ऐसा लगता है मानो प्रकुपित हो कौतुक के साथ एकदम उस नायिका के बालों में ही जाकर चिपक गया हो।

[३७] (क) तुलना—**नाट्यशास्त्र**, कलकत्ता, २४।२६ तथा **रसार्णवसुधाकर**, १।१९६।

(ख) तारुण्यस्य विलासः समधिकलावण्यसंपदो हासः।
धरणितलस्याभरणं युवजनमनसो वशीकरणम् ॥

—**चन्द्रकला-नाटिका**, १, ९

वह चन्द्रकला यौवन का विलास है, अत्यधिक बढ़ी हुई लावण्य-सम्पत्ति का मधुर हास है, पृथ्वी का भूषण है और युवकों के मन का वशीकरण-मन्त्र है।

[३८] (क) तुलना—**नाट्यशास्त्र**, कलकत्ता, २४।२७ तथा **रसार्णवसुधाकर** १।१९७।

(ख) राजा दुष्यन्त ने वल्कल पहिने हुए तपस्विनी के वेष मे शकुन्तला को देखकर यह कहा है कि—

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति।

इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम् ॥
—**अभिज्ञानशाकुन्तल**, १, २०

सिवार से आच्छादित भी कमल मनोरम ही होता है। मलिन कलक भी मयंक की शोभा में अभिवृद्धि करता है। यह तन्वंगी वल्कल धारण करने पर भी बहुत मनोहर है। क्या वस्तु स्वभाव-सुन्दर-आकृति का आभूपण नही बन जाती है।

[३९] (क) तुलना—**दशरूपक** ४।३६।

(ख) तथा व्रीडा विधेयापि तथा मुग्धापि सुन्दरी।
कलाप्रयोगचातुर्ये सभास्वचवार्यकं गता ॥
—**दशरूपकावलोक**, पृष्ठ १२९

वह सुन्दरी देखने में तो बडी लजीली और भोली मालूम पड़ती है लेकिन सभा के अन्दर कला के प्रयोगों के चातुर्य में तो उसने आचार्य का स्थान प्राप्त कर लिया है।

[४०] ज्वलतु गगने रात्रौ रात्रावखण्डकलः शशी
दहतु मदन. किवा मृत्यो. परेण विधास्यति।
मम तु दयित श्लाघ्यस्तातो जनन्यमलान्वया
कुलममलिनं न त्वेवायं जनो न च जीवितम् ॥
—**मालतीमाधव**, २, २

हर रात आकाश मे सम्पूर्ण चन्द्रमा प्रदीप्त होता रहे और कामदेव भी जलाता रहे। मृत्यु से अधिक और क्या कर लेगा ? मुझे तो अपना प्रिय, अपने पिता, पवित्र वंश में उत्पन्न अपनी माता तथा अपना निर्मल कुल अभीष्ट है, यह जन तथा यह अपना जीवन प्रिय नहीं है।

[४१] (क) तुलना—**नाट्यशास्त्र**, कलकत्ता, २४।२९।

(ख) दिअहं खु दुक्खिआए सअलं काऊणगेहवावारम्।
गरुएवि मण्णुदुक्खे भरिमो पाअन्तसुत्तस्स ॥
— **गाथासप्तशती**, ३, २६

दिन भर गृह-कार्य करके थकी हुई, नायिका के भारी क्रोध व दुःख प्रिय के चरणपतित होने पर शान्त हो गये।

[४२] (क) तुलना—**नाट्यशास्त्र**, २४।१४ तथा **दशरूपक** २, २६।

(ख) मृणालव्यालवलया वेणीबन्धकपर्दिनी।
परानुकारिणी पातु लीलया पार्वती जगत् ॥
—**साहित्यदर्पण**, पृष्ठ १३१

कमलनाल का सर्प बनाकर उसे कंकण के स्थान पर धारण किये हुए और वेणी का जटाजूट बनाये हुए लीला से शंकर का अनुकरण करने वाली पार्वती जगत की रक्षा करे।

[४३] (क) तुलना—**नाट्यशास्त्र**, २४।१५ तथा **दशरूपक** २, ३७।

(ख) अत्रान्तरे किमपि वाग्विभवातिवृत।
वैचित्र्यमुल्लसितविभ्रममायताक्ष्याः।

तद्भूरिसात्त्विकविकारविशेषरम्य-
माचार्यक विजयि मान्मथमाविरासीत् ॥

—**मालतीमाधव**, १, २७

इस अवसर में उस सुन्दरी का अनिर्वचनीय, वचन सम्पत्ति को लंघन करने वाले वैचित्र्य से सम्पन्न, श्रृंगार चेष्टा विशेष से उद्भासित, स्तम्भ, स्वेद आदि प्रचुर सात्त्विक विकारों से युक्त, धैर्य को दूर करने वाला और विजयशील प्रसिद्ध कामदेव का आचार्यभाव आविर्भूत हो गया।

[४४] (क) तुलना—**नाट्यशास्त्र**, २४।१६।

(ख) कर्णार्पितो लोध्रकषायरुक्षे गोरोचनाभेदनितान्तगौरे।
तस्याः कपोले परभागलाभाद्बन्ध चक्षूंषि यवप्ररोहः ॥

—**कुमारसम्भव**, ७, १७

पार्वती के कानों पर लटकते हुए जौ के अंकुर और लोध से पुते तथा गोरोचन लगे हुए गोरे उसके कपोल इतने सुन्दर लगने लगे कि सभी की आँखें बरवस उसकी ओर खिच जाती थी।

[४५] श्रुत्वाऽऽयातं बहि. कान्तमसमाप्तविभूषया।
भालेऽञ्जनं दृशोर्लाक्षा कपोले तिलक. कृतः ॥ —**दशरूपकावलोक**, पृष्ठ १२६

प्रिय नायक को बाहर आया हुआ सुनकर, श्रृंगार करती हुई नायिका ने, जिसका श्रृंगार-कार्य समाप्त नही हुआ था, अञ्जन तो माथे पर लगा लिया और लाक्षारस (महावर) आँखों में आजली एवं तिलक कपोल पर लगा लिया।

[४६] (क) तुलना—**दशरूपक** २, ३६ तथा **रसार्णवसुधाकर**, १, २०४।

(ख) पाणिरोधमविरोधितवाञ्छ भर्त्सनाश्च मधुरस्मितगर्भाः।
कामिन· स्म कुरुते करभोरुर्हारि शुष्करुदितं च सुखेऽपि ॥

—**साहित्यदर्पण**, पृष्ठ १३३

जिसमे प्रियतम की इच्छा का विघात न हो इस ढंग से सुन्दरी उसका हाथ रोकती है। मधुर-मधुर मुस्कराहट के साथ झिड़कती है और सुख होने पर भी मनोहर शुष्करोदन करती है।

[४७] (क) तुलना—**नाट्यशास्त्र**, २४।१६ तथा **दशरूपक** २, ४०।

(ख) सुभग, त्वत्कथारम्भे कर्णकडूतिलालसा।
उज्जृम्भवदनांभोजा भिनत्यगानि साऽगना ॥

—**साहित्यदर्पण**, पृष्ठ १३४

हे सुभग ! तुम्हारी बात प्रारम्भ होते ही वह कामिनी कान खुजलाने लगती है, जंभाई लेने लगती है तथा उसके अग अंगड़ाई लेने लगते हैं।

[४८] (क) तुलना—**नाट्यशास्त्र**, २४।२०।

(ख) पल्लवोपमितिसाम्यसपक्षं दष्टवत्यधरबिम्बमभीष्टे।
पर्यकूजि सरुजेव तरुण्यास्तारलोलवलयेन करेण ॥

—**साहित्यदर्पण**, पृष्ठ १३४

पल्लव के समान होठ को जब प्रिय ने खण्डित किया तो युवती ने कंकण सहित हाथ से झनझनाहट उत्पन्न कर कष्ट को सूचित किया।

[४९] (क) तुलना—**नाट्यशास्त्र**, २४।२१ ।

(ख) कृताञ्जलिः कातरदृङ्निपातः प्राणेश्वरः पार्श्वमुपाजगाम ।
सखीमुखे कुण्डलरत्नरेखामेषा पुनः प्रेक्षितुमाचकाङ्क्ष ।।

—**रसतरंगिणी**, पृष्ठ ४४१

इधर भय से चकित आँखों वाला प्रेमी हाथ जोड़े पास आ पहुँचा उधर वह नायिका फिर अपनी सखी के मुख पर कुण्डल के रत्न की रेखा देखने को घूम गयी ।

[५०] (क) तुलना—**दशरूपक** २, ४२ ।

(ख) कलक्वणितमेखलं चपलचारुनेत्राञ्चलं
प्रसन्नमुखमण्डलं श्रवणसञ्चरत्कुण्डलम् ।
स्फुटत्पुलकबन्धुरं लपितशोभमानाधरं
विहस्य रतिमन्दिरे व्रजति कस्य शातोदरी ।।

—**रसतरंगिणी**, पृष्ठ ४४२

मधुर-ध्वनि से युक्त मेखलावाली, चचल रसीली चितवनवाली, प्रसन्न वदनवाली, कानों पर झूमते हुए कुण्डलवाली, प्रकाशमान पुलकों से भरी ऊँची-नीची नाभिवाली, मधुर भाषण से युक्त होठोंवाली वह कृशोदरी नायिका हँसती हुई किसके रतिमन्दिर की ओर बढी चली जा रही है ।

[५१] (क) तुलना—**दशरूपक** २, ४२ ।

(ख) लज्जा से युक्त विहृत का उदाहरण यह है :
आनन्दभाजो यदुनन्दनस्य कराऽवरोध न करेण कुर्य्याः ।
सखी लयन्तीमिति सञ्जघान चकोरनेत्रा चुलकोदकेन ॥

—**रसतरंगिणी**, पृष्ठ ४४३

जब सखी ने नायिका से कहा कि आनन्दकन्द यदुनन्दन श्रीकृष्ण का हाथ अपने हाथ से मत रोकना, तब चकोर के समान नेत्रों वाली नायिका ने उस पर चुल्लू का पानी फेंक मारा ।

[५२] (क) तुलना—**नाट्यशास्त्र,** २४।३२ ।

(ख) भूपतिः शोभते वेषैः क्लीवपक्षोऽयमुज्झताम् ।
प्रतापस्तु जगद्व्यापी शोभा पूष्ण इवातपः ॥

—**नाटकलक्षणरत्नकोश,** पृष्ठ १४०

राजा वेशभूषा से शोभित होते है, इस क्लीब पक्ष को छोड़ दीजिए, क्योंकि जैसे सूर्य की शोभा अपने प्रकाश से होती है वैसे ही राजा की शोभा अपने जगद्व्यापी प्रताप से ही होती है ।

[५३] (क) तुलना—**नाट्यशास्त्र,** २४।३३ ।

(ख) महर्षि वाल्मीकि के आश्रम में कुश को देखकर राम की उक्ति है :
दृष्टिस्तृणीकृतजगत्त्रयसत्त्वसारा
धीरोद्धता नमयतीव गतिर्धरित्रीम् ।
कौमारकेऽपि गिरिवद् गुरुतां दधानो
वीरो रसः किमयमेत्युत दर्प एव ॥

—**उत्तररामचरित,** ६, १९

इसकी दृष्टि ऐसी (दर्पयुक्त) है कि मानो वह तीनों लोकों के बल को तिनके के समान (तुच्छ) समझती है और इसकी चाल ऐसी धीर एवं उद्धत है कि पृथ्वी को झुका सी दे रही है। कौमार-अवस्था में ही पर्वत के समान गुरुता (गौरव) को धारण किये हुए यह क्या वीर रस जा रहा है या साक्षात् मूर्तिधारी दर्प ही है।

[५४] (क) तुलना—**रसार्णवसुधाकर**, १।२१८।

(ख) ऋजुता नयतः स्मरामि ते शरमुत्संगनिषण्णधन्वनः।
मधुना सह सस्मितां कथा नयनोपान्तविलोकित च तत्॥

—**कुमारसम्भव**, ४, २३

तुम्हारा यह गोद में धनुष रखकर बाण सीधा करना, बसन्त के साथ हँस-हँसकर बातें करना और बीच-बीच में मेरी ओर तिरछी चितवन से देखना मुझे भूलता नही है।

[५५] (क) तुलना—**नाट्यशास्त्र**, २४।३५।

(ख) सम्पत्स्वापत्सु तुल्यात्मा रामो धैर्य्यकुलाचलः।
विकारैः कैश्च नाक्षिप्तो वेदार्थ इव हेतुभिः॥

—**नाटकलक्षणरत्नकोश**, पृष्ठ १४१

राम धैर्य के कुल पर्वत है जो सम्पत्ति एवं आपत्ति में समान रूप से स्थिर रहते है। इन पर विकारों का कोई भी प्रभाव नही पड़ता जैसे वेदों का अर्थ दुष्ट हेतुओं से आक्षिप्त नहीं होता।

[५६] आहूतस्याभिषेकाय विसृष्टस्य वनाय च।
न मया लक्षितस्तस्य स्वल्पोऽप्याकारविभ्रमः॥

—**दशरूपक**, पृष्ठ ९६

राज्याभिषेक के लिए बुलाने के समय और वनवास के लिए प्रवासित करने के समय मैने उनके (राम के) चेहरे पर कोई भी विकार नही देखा।

[५७] (क) तुलना—**नाट्यशास्त्र**, २४।३७।

(ख) लावण्यमन्मथविलासविजृम्भितेन
स्वाभाविकेन सुकुमारमनोहरेण।
किंवा ममेव सखि योऽपि ममोपदेष्टा
तस्यैव कि न विषमं विदधीत तापम्॥

—**दशरूपकावलोक**, पृष्ठ ९७

हे सखि! स्वाभाविक सुकुमारता तथा मनोहर लावण्य आदि तथा मन को आन्दोलित करने वाले अपने विलासों के द्वारा जो (कामदेव) मुझे उपदेश दिया करता है वह क्या मेरे ही समान मेरे प्रियतम को भी विषम तापों से तापित नही करता होगा?

[५८] शिरामुखैः स्यन्दत एव रक्तमद्यापि देहे मम मांसमस्ति।
तृप्ति न पश्यामि तवैव तावत्किं भक्षणात्वं विरुतो गरुत्मन्॥

—**नागानन्द**, ५, १५

हे गरुड़! अभी भी मेरी नसो के किनारे से खून टपक रहा है, अभी

भी मेरे शरीर में मास बचा हुआ है, तुम भी अभी तृप्त नहीं हुए हो, ऐसा मेरा अनुमान है। फिर क्या कारण है कि तुम (मुझे) खाने से रुक गये हो।

[५९] (क) तुलना—**दशरूपक**, २,१३।

(ख) ब्रूत नूतनकूष्माण्डफलाना के भवन्त्यमी।
अगुलीदर्शनाद्येन न जीवन्ति मनस्विनः॥

—**दशरूपक**, पृष्ठ ९७

बताओ तो सही कितने लोग ऐसे है, जो नवीन कुम्हड़े के फलों की तरह है। मनस्वी लोग दूसरे लोगों के अंगुली-दर्शन आदि इशारों से नही जीते है।

[६०] तव सुचरितमङ्गुलीय नूनं
प्रतनु ममैव विभाव्यते फलेन।
अरुणनखमनोहरासु तस्या
श्च्युतमसि लब्धपदं यदंगुलीषु॥

—**अभिज्ञानशाकुन्तल** ६, ११

हे अंगूठी ! तेरा पुण्य मेरी तरह ही अवश्य न्यून है, यह तेरे द्वारा अनुभूत फल से ज्ञात होता है, जो कि तू लाल नाखूनों से मनोहर उस (शकुन्तला) की अंगुलियों मे स्थान पाकर गिर पड़ी थी।

[६१] मातर्मातर्दलति हृदयं, ध्वसते देहबन्धः,
शून्यं मन्ये जगदविकलज्वालमन्तर्ज्वलाभि॥
सीदन्नन्धे तमसि विधुरो मज्जतीवान्तरात्मा,
विष्वङ्मोहः स्थगयति, कथं मन्दभाग्यः करोमि॥

—**मालतीमाधव**, ९, २०

माता जी ! माताजी ! मेरा हृदय फटा जा रहा है ! देह के बन्धन ढीले पड़ रहे है। मैं संसार को शून्य समझ रहा हूँ। मैं भीतर ही भीतर जला जा रहा हूँ। मेरी व्याकुल अन्तरात्मा निबिड़ अन्धकार मे धँसी जा रही है। मुझे मोह चारों ओर से घेर रहा है। हा ! मैं भाग्यहीन क्या करूँ ?

[६२] आर्यामरण्ये विजने विमोक्तु श्रोतुं च तस्या. परिदेवतानि।
सुखेन लंकासमरेमृतं मामजीवयन्मारुतिरात्तवैरः॥

—**रसार्णवसुधाकर**, पृष्ठ ३७

निर्जन वन मे आर्या (सीता) को छोड़ने के लिए और उसके दुःखों को सुनने के लिए, लंका-युद्ध में सुखपूर्वक मरे हुए मुझको जीवन देते हुए हनुमान ने मेरे साथ वैर किया है।

[६३] (क) तुलना—**नाट्यशास्त्र**, २४।५३।

(ख) तमस्तमो नहि नहि मेचकाः कचा· शशी शशी नहि नहि दृक्सुखं मुखम्।
लते लते नहि नहि सुन्दरौ करौ नभो नभो नहि नहि चारु मध्यमम्॥

—**रसार्णवसुधाकर**, पृष्ठ ३८

अन्धकार है अन्धकार, नही नहीं काले केश हैं, चन्द्रमा है चन्द्रमा, नही नही नेत्रों को सुख देने वाला मुख है; लता है लता, नहीं नहीं सुन्दर हाथ हैं; आकाश है आकाश, नही नहीं सुन्दर कटि है।

[६४] (क) तुलना—**नाट्यशास्त्र**, २४।५४।

(ख) भिक्षां प्रदेहि ललितोत्पलपत्रनेत्रे !
पुष्पिण्यहं खलु सुरासुरवन्दनीय !
बाले ! तथा यदि फलं त्वयि विद्यते मे
वाक्यैरलं फलभुगीश ! परोऽस्ति याहि ॥

—**रसार्णवसुधाकर**, पृष्ठ ३७-३८

सुन्दर कमल-पत्र-नेत्र वाली ! भिक्षा दो।
सुरासुरवन्दनीय ! मैं पुष्पिणी (रजस्वला) हूँ।
बाले ! यदि तुम्हारे पास फल हो तो मुझे दो।
फलभुगीश ! बातें मत करो, आगे जाओ।

[६५] (क) तुलना—**नाट्यशास्त्र**, २४।५४।

(ख) त्व रुक्मिणी त्वं खलु सत्यभामा किमत्रगोत्रस्खलन ममेति।
प्रसादयन् व्याजपदेन राधां पुनातु देवः पुरुषोत्तमो वः ॥

—**रसार्णवसुधाकर**, पृष्ठ ३८

तुम रुक्मिणी हो, तुम सत्यभामा हो, क्या यहाँ मेरा गोत्रस्खलन है— इस प्रकार बहाने से राधा को प्रसन्न करते हुए देव पुरुषोत्तम (श्रीकृष्ण) तुम्हें पवित्र करें।

[६६] एतस्मान्मा कुशलिनमभिज्ञानदानाद्विदित्वा
मा कौलीनादसितनयने ! मय्यविश्वासिनी भूः।
स्नेहानाहुः किमपि विरहे ध्वंसिनस्ते त्वभोगा-
दिष्टे वस्तुन्युपचितरसाः प्रमेराशीभवन्ति ॥

—**मेघदूत**, उत्तरमेघ, ५५

हे कृष्णनयने ! पूर्वोक्त अभिज्ञान देने से मुझे कुशलयुक्त जानकर लोकाऽपवाद के कारण मेरे विषय में अविश्वास मत करो। लोग स्नेहों को वियोग होने पर किसी भी कारण से नष्ट होने वाले कहते है, परन्तु वे उपभोग न होने से अभीष्ट पदार्थ में अभिलाषा बढ़ने के कारण प्रेम के राशिरूप हो जाते है।

[६७] (क) तुलना—**नाट्यशास्त्र** २४।५५।

(ख) तनया तव याचते हरिर्गदात्मा पुरुषोत्तमः स्वयम्।
गिरिगह्वरशब्दसन्निभां गिरमस्माकमवेहि वारिधे ॥

—**रसार्णवसुधाकर**, पृष्ठ ३८

हे वारिधि ! पुरुषोत्तम भगवान गदाधर (विष्णु) स्वयं तेरी पुत्री की याचना करते हैं, गिरि-गुहा के शब्द के समान हमारी वाणी को तुम जानो।

[६८] एते वयममी दाराः कन्येयं कुलजीवितम्।
ब्रूत येनात्र वः कार्यमनास्था बाह्यवस्तुषु ॥

—**रसावर्णसुधाकर**, पृ० ३९

ये हम, यह हमारी पत्नी और हमारे कुल का प्राण यह लड़की, हम सभी बाह्य वस्तुओं के प्रति विरक्त है, जिस किसी से तुम्हारा कार्य हो, वह कहो।

[६९] (क) तुलना—**नाट्यशास्त्र**, २४।५७।

(ख) शुश्रूषस्व गुरून् कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने
भर्तुर्विप्रकृताऽपि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः।
भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भाग्येष्वनुत्सेकिनी
यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामाः कुलस्याधयः॥

—**अभिज्ञानशाकुन्तल**, ४, १७

पुत्री ! तू यहाँ से पतिगृह को पहुँचकर—अपने गुरुजनों की सेवा करना, अपनी सपत्नियों से प्रिय सखी का सा व्यवहार करना, तिरस्कृत होने पर भी क्रोध के आवेश में आकर पति के प्रतिकूल कार्य मत करना, अपने आश्रितों पर अत्यन्त उदार रहना, अपने ऐश्वर्य का अभिमान मत करना, इस प्रकार आचरण करने वाली युवतियाँ गृहिणी-पद को प्राप्त करती है और इसके विपरीत चलने वाली कुल के लिए अभिशाप होती है।

[७०] (क) तुलना—**नाट्यशास्त्र**, २४।५७।

(ख) कोशद्वन्द्वमियं दधाति नलिनी कादम्बचञ्चुक्षतं
धत्ते चूतलता नवं किसलयं पुंस्कोकिलास्वादितम्।
इत्याकर्ण्य मिथः सखीजनवचः सा दीर्घिकायास्तटे
चेलान्तेन तिरोदधे स्तनतटं बिम्बाधरं पाणिना॥

—**रसार्णवसुधाकर**, पृष्ठ ३९

हे सखि ! यह कमलिनी कलहंस के चञ्चु से क्षत दो कलिकाओं को धारण कर रही है, यह आम्रलता कोकिल द्वारा आस्वादित नवीन किसलय को धारण कर रही है—इस प्रकार बावड़ी के किनारे परस्पर कहे जाते हुए सखियों के वचनों को सुनकर उस (नायिका) ने अपने वस्त्र के छोर से पयो-धरों को और हाथ से बिम्ब फल के समान लाल अधर को ढँक लिया।

[७१] अहिणवमहुलोलुवो तुम तह परिचुम्बिअ चूअमंजरिं।
कमलवसइमेत्तणिव्वुदो महुअरः ! विम्हरिओ सि णं कहं ?॥

—**अभिज्ञानशाकुन्तल**, ५·१

हे भ्रमर ! नवीन मधु के लोभी तुम आम की मजरी का उस प्रकार चुम्बन करके, कमल में रहने मात्र से तृप्त होकर इसे कैसे भूल गए ?

[७२] तुलना—**काव्यमीमांसा**, जी. ओ. एस., १९१६, पृष्ठ ९।

[७३] **वृत्ति**—'विलासविन्यासक्रमोवृत्ति.'—**काव्यमीमांसा**, पृष्ठ ९।

[७४] **भारती**—भरतमुनि के अनुसार पुरुषों द्वारा प्रयुक्त संस्कृत-वाणी को 'भारती' वृत्ति कहते है। इस वृत्ति मे स्त्रियाँ वर्जित रहती हैं। इसका प्रयोग भरतों द्वारा होता है अतः उसका नाम 'भारती' है।

या वाक्प्रधाना पुरुषप्रयोज्या,
स्त्रीवर्जिता संस्कृतवाक्ययुक्ता।
स्वनामधेयैर्भरतैः प्रयुक्ता,
सा भारती नाम भवेत्तु वृत्तिः॥

—**नाट्यशास्त्र**, २२।२५

[७५] **सात्त्वती**—भरतमुनि के अनुसार जो सत्त्वगुण से युक्त तथा न्याय-सम्पन्न वृत्त

से युक्त होती है। जो हर्ष से उत्कट एवं शोक रहित है। उसे 'सात्वती' वृत्ति कहते है।

या सात्त्वतेनेह गुणेन युक्ता,
न्यायेन वृत्तेन समन्विता च।
हर्षोत्कटा संहृतशोकभावा,
सा सात्त्वती नाम भवेत्तु वृत्तिः।

—**नाट्यशास्त्र**, २२।३८

[७६] **कैशिकी**—भरतमुनि के अनुसार जो मनोरंजक नेपथ्य से विशेष चमत्कारिणी हो, स्त्रीगण से व्याप्त तथा गीत, नृत्य से परिपूर्ण हो एवं जिसका उपचार काममुखभोग का उत्पादक हो, वह 'कैशिकी' वृत्ति कहलाती है।

या श्लक्ष्णनेपथ्यविशेषचित्रा,
स्त्रीसंयुक्ता या बहुनृत्तगीता।
कामोपभोगप्रभवोपचारा,
तां कैशिकीं वृत्तिमुदाहरन्ति॥

—**नाट्यशास्त्र**, २२।४७

[७७] **आरभटी**—भरतमुनि के अनुसार जिसमें पुस्तकार्य, अवपात, प्लुति, लंघन आदि चेष्टाएँ माया, इन्द्रजाल तथा युद्ध-वैचित्र्य प्रदर्शित किया जाता है, उसे 'आरभटी' वृत्ति कहते हैं।

पुस्तावपातप्लुतलंघितानि
चान्यानि मायाकृतमिन्द्रजालम्।
चित्राणि युद्धानि च यत्र नित्यं
तां तादृशीमारभटी वदन्ति॥

—**नाट्यशास्त्र**, २२।५६

[७८] यहाँ शारदातनय ने भोज के मत को निर्दशित किया है। भोज ने पाँच प्रकार की वृत्तियाँ स्वीकार की हैं—भारती, आरभटी, कैशिकी, सात्त्वती तथा विमिश्रा।

मुखादिसन्धिषु च व्याप्रियमाणानां नायकोपनायकदीनां मनोवाक्काय-कर्मनिबन्धनाः पञ्च वृत्तयो भवन्ति, भारती, आरभटी, कैशिकी, सात्त्वती, विमिश्रा चेति।

—**शृंगार-प्रकाश**, १२वाँ प्रकाश, पृष्ठ ४८५

अतः यहाँ 'अर्थवृत्तेरभावात्तु वि (मि) श्रा तां पञ्चमी परे।' पाठ ठीक रहेगा।

(द्रष्टव्य—*Bhoja's Srngara Prakasa* by Dr. V. Raghavan, Madras, 1963, pp. 195-196)

[७९] जब भगवान विष्णु क्षीरसागर में शेष शय्या पर योगनिद्रा में सो रहे थे, तभी मधु-कैटभ नामक असुरों ने उन्हें युद्ध के लिए ललकारा। ब्रह्मा द्वारा जगाये जाने पर विष्णु ने अपने अद्भुत पराक्रम से दोनों का बध किया। इस युद्ध के अवसर पर विष्णु द्वारा प्रदर्शित चेष्टाओं से ही वृत्तियों की उत्पत्ति कही गयी है।

युद्ध के समय विष्णु द्वारा जोर से पैर रखने पर पृथ्वी के ऊपर अत्यधिक भार पड़ा और इसी भार के कारण 'भारती' वृत्ति का उदय हुआ। धनुपधारी विष्णु की तीव्र दीप्तिकर, बलयुक्त एव भयरहित वीरतापूर्ण चेष्टाओ से 'सात्त्वती' वृत्ति का जन्म हुआ तथा विचित्र, ललित तथा लीलायुक्त आंगिक अभिनयो के द्वारा विष्णु के शिखावधन से 'कैशिकी' वृत्ति निर्मित हुई। सरंभ एव आवेगपूर्ण चारी बाँधकर विचित्र-युद्ध करके विष्णु ने 'आरभटी' वृत्ति को उत्पन्न किया। (द्रष्टव्य—**नाट्यशास्त्र**, २२।२-२८)।

[८०] **प्रवृत्ति**—'वेषविन्यासक्रमः प्रवृत्ति.'

—**काव्यमीमांसा**, पृष्ठ ९

[८१] तुलना—**दशरूपक**, २।६३।

[८२] तुलना—**दशरूपक**, ४।३।

[८३] तुलना—**दशरूपक**, ४।२।

[८४] तुलना—**दशरूपक**, ४।४।

[८५] तुलना—**अवलोक सहित दशरूपक** ४।४-५।

[८६] (क) तुलना—**नाट्यशास्त्र**, ७।९५-१०६।

(ख) उदाहरण के लिए एक ही उदाहरण मे सभी सात्त्विक-भावों का उल्लेख प्राप्त है—

'वेवइ सेअदवदनी रोमाञ्चिअ गत्तिए ववइ।
विललुल्लुतु वलअ लहु वाहो अल्लीए रणेत्ति ॥
मुहऊ सामलि होई खणे विमुच्छइ विअग्धेण।
मुद्धा मुहअल्ली तुअ पेम्मेण साविण धिज्जइ ॥

हे युवक ! तेरे प्रेम के कारण वह (नायिका) बिल्कुल धैर्य धारण नही करती। उसके मुँह पर पसीना आ जाता है, उसके शरीर पर रोमांच हो आता है, तथा वह काँपने लगती है। उसका चंचल वलय बाहुरूपी लता मे मन्द-मन्द शब्द करता है। उसका मुँह काला पड़ जाता है तथा क्षण भर के लिए वह मूर्छित हो जाती है। उसकी मुखरूपी लता थोड़ा भी धैर्य नहीं रखती।

[८७] तुलना—**नाट्यशास्त्र**, जी. ओ. एस., खण्ड १, पृष्ठ ३५६-३७४।

[८८] तुलना—**दशरूपक**, ४।७।

[८९] तुलना—**दशरूपक**, ४।३४।

[९०] तुलना—**दशरूपक**, ४।३५-३६।

## द्वितीय अधिकार

[१] तुलना—**नाट्यशास्त्र**, सप्तम अध्याय, जी. ओ. एस., पृष्ठ ३७७–३७९।

[२] तुलना—**सरस्वतीकण्ठाभरण**, ५।१३८।

[३] (i) **'नैसर्गिकी-रति'**—

इयं महेन्द्रप्रभृतीनधिश्रियश्चतुर्दिगीशानवमत्य मानिनी।
अरुपहार्यं मदनस्य निग्रहात्पिनाकपाणिं पतिमाप्तुमिच्छति ॥

—**कुमारसम्भव**, ५, ५३

महेन्द्र आदि बड़े-बड़े चारों दिग्पालों को छोड़कर यह मानिनी (पार्वती) उन शिव को पति के रूप मे प्राप्त करना चाहती है जो अब कामदेव के नष्ट हो जाने पर केवल रूप दिखाकर नही रिझाये जा सकते ।

(ii) **'नैसर्गिकी'-प्रीति**—

आलक्ष्यदन्तमुकुलाननिमित्तहासै—
रव्यक्तवर्णरमणीयवचःप्रवृत्तीन् ।
अंकश्रयप्रणयिनस्तनयान्वहन्तो
धन्यास्तदगरजसा मलिनी भवन्ति ॥

—**अभिज्ञानशाकुन्तल**, ७, १७

बिना कारण हँसने से दिखायी पड़ने वाली नवोदित दन्तपंक्ति वाले, अव्यक्त शब्दों से रमणीय वाणी वाले और गोद में बैठने को उत्सुक पुत्रों को गोद में बिठाकर जो उनकी अंगधूलि से मलिन हो जाते हैं, वे धन्य है ।

[४] (I) **'सांसर्गिकी'-रति**—

भित्वा सद्यः किसलयपुटान्देवदारुद्रुमाणां
ये तत्क्षीरस्रुतिसुरभयो दक्षिणेन प्रवृत्ताः ।
आलिंग्यन्ते गुणवति ! मया ते तुषाराद्रिवाताः
पूर्वं स्पृष्टं यदि किल भवेदंगमेभिस्तवेति ॥

—**मेघदूत**, उत्तरमेघ, ४४

हे गुणवती ! देवदारुवृक्षों के पल्लवो को तत्क्षण विकसित कर उनके बहने वाले दूध से सुगन्धित जो हिमालय पर्वत के वायु दक्षिण मार्ग से बहते हैं, उन वायुओं का मै यही समझकर आलिगन करता हूँ कि इन्होंने पहले तुम्हारे अङ्ग का स्पर्श किया होगा ।

(ii) **'सांसर्गिकी-प्रीति**—

विश्वंभरा भगवतो भवतीमसूत,
राजा प्रजापतिसमो जनकः पिता ते ।
तेषा वधूस्त्वमसि नन्दिनि ! पार्थिवाना
ग्येषा कुलेषु सविता च गुरुर्वयं च ॥

—**उत्तररामचरित**, १, ९

हे आनन्दमयी सीते ! विश्व का भरण-पोषण करने वाली भगवती वसुन्धरा ने तुमको उत्पन्न किया है, ब्रह्मा के समान राजा जनक तुम्हारे पिता है, तथा तुम उन राजाओं की कुलवधू हो, जिनके कुल में भगवान भास्कर तथा हम (वसिष्ठ) गुरु है ।

[५] (i) **'औपमानकी'-रति**—

न नमयितुमधिज्यमस्मि शक्तो
धनुरिदमाहितसायकं मृगेषु ।
सहवसतिमुपेत्य यैः प्रियायाः
कृत इव मुग्धविलोकितोपदेशः ॥

—**अभिज्ञानशाकुन्तल**, २, ३

जिस धनुष पर प्रत्यञ्चा चढी है तथा बाण भी चढ़ा है, ऐसे धनुष को

उन मृगों पर चलाने में असमर्थ हूँ, जिन्होंने सहवास जन्य मैत्री प्राप्त करके शकुन्तला को स्वभावसुन्दर अवलोकन का उपदेश-सा दिया है ।

(ii) **'औपमानिकी'-प्रीति—**

अतिशयितसुरासुरप्रभावं, शिशुमवलोक्य तथैव तुल्यरूपम् ।
कुशिकसुतमखद्विषां प्रमाथे, धृतधनुषं रघुनन्दनं स्मरामि ॥

—**उत्तररामचरित,** ५, ८

सुर और असुरों में भी अधिक प्रभावशाली इस बालक (लव) को वैसे ही (रामचन्द्र के तुल्य ही) रूप में देखकर मैं विश्वामित्र—यज्ञ के शत्रुओं (राक्षसों) का विनाश करने के लिए धनुषधारी रामचन्द्र का स्मरण कर रहा हूँ ।

[६] (i) **'आभियोगिकी'-रति—**

यान्त्या मुहुर्वलितकन्धरमाननं त—
दावृत्तवृन्तशतपत्रनिभं वहन्त्या ।
दिग्धोऽमृतेन च विषेण च पक्ष्मलाक्ष्या
गाढं निखात इव मे हृदये कटाक्षः ॥

—**मालती-माधव,** १, ३०

बार-बार ग्रीवा को परिवर्तित कर जाती हुई और परिवर्तित वृन्त वाले कमल के सदृश सुन्दर मुख को धारण करने वाली निविड नेत्रलोमों से युक्त सुन्दरी ने अमृत और विष से लिप्त कटाक्ष मेरे हृदय में दृढ़ता से जैसे प्रवेशित कर दिया है ।

(ii) **'आभियोगिकी'-प्रीति—**

अन्तर्गतप्रार्थनमन्तिकस्थं
जयन्तमुद्वीक्ष्य कृतस्मितेन ।
आमृष्टवक्षोहरिचन्दनाङ्का
मन्दारमाला हरिणा पिनद्धा ॥

—**अभिज्ञानशाकुन्तल,** ७, २

पास में खडे हुए, मन ही मन माला की इच्छा करने वाले अपने पुत्र जयन्त की ओर देखकर मुस्कराते हुए इन्द्र ने अपने वक्षःस्थल पर लगे हुए हरिचन्दन से चिह्नित मन्दार-माला मुझे पहना दी ।

[७] (*i*) **'आध्यात्मिकी'-रति—**

का स्विदवगुण्ठनवती नातिपरिस्फुटशरीरलावण्या ।
मध्येतपोधनानां किसलयमिव पाण्डुपत्राणाम् ॥

—**अभिज्ञानशाकुन्तल,** ५, १३

पीले-पत्तों के मध्य नवीन किसलय के समान तपस्वियों के बीच यह घूँघट वाली, अतएव जिसके शरीर का सौन्दर्य बहुत अधिक नहीं प्रकट हो रहा है ऐसी महिला कौन है ?

(ii) **'आध्यात्मिकी'-प्रीति—**

अनेन कस्यापि कुलाङ्कुरेण
स्पृष्टस्य गात्रेषु सुखं ममैवम् ।

कां निर्वृत्ति चेतसि तस्य कुर्याद्
यस्यायमङ्कात् कृतिनः प्ररुढ़ः ॥

—**अभिज्ञानशाकुन्तल**, ७, १६

किसी भी कुल के अंकुर स्वरूप इस बालक का स्पर्श कर मेरे अगों को ऐसा सुख मिल रहा है तो जिस पुण्यात्मा की गोद से यह उत्पन्न हुआ है, उसके हृदय में कैसा अपूर्व आनन्द करता होगा ?

[८] (i) **'आभिमानिकी'-रति**—

अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगत सर्वास्ववस्थासु य—
द्विश्रामो हृदयस्य यत्र, जरसा यस्मिन्नहार्यो रस. ।
कालेनावरणात्ययात्परिणते यत्प्रेमसरि स्थित,
भद्रं तस्य सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत्प्रार्थ्यते ॥

—**उत्तररामचरित**, १, ३६

(सच्चा प्रेम) सुख-दुःख और सम्पूर्ण दशाओं (सम्पत्ति-विपत्ति) मे एकसा रहता है। हृदय जिसमें अपूर्व विश्राम प्राप्त करता है; वृद्धावस्था में भी जिसमे अनुराग की कमी नही होती; और जो समय बीत जाने पर (अथवा—विवाह से लेकर मरणपर्यन्त) संकोच-विकोच आदि आवरणो के हट जाने से प्रगाढ एवं उत्कृष्ट प्रेम मे स्थित रहता है—ऐसे कल्याणकारी दाम्पत्य-स्नेह की प्राप्ति सौभाग्य से ही किसी-किसी को होती है।

(ii) **'आभिमानिकी'-प्रीति**—

मया नाम जितं यस्य त्वयायं समुदीर्यते ।
जयशब्दः सहस्राक्षादगतः पुरुषान्तरम् ॥

—**विक्रमोर्वशीय**, २, १६

सुन्दरी ! जो 'जय' शब्द तुमने सहस्र आँख वाले इन्द्र को छोड़कर आज तक किसी दूसरे पुरुष के लिए नही कहा था, वह आज तुमने मेरे लिए कह दिया, इसलिए आज सचमुच मुझे जय मिल गयी ।

[६] (i) **'वैषयिकी'-रति**—

गीतान्तरेषु श्रमवारिलेशैः किंचित्समुच्छ्वासितपत्रलेखम् ।
पुष्पासवाघूर्णितनेत्रशोभि प्रियामुखं किंपुरुषश्चुचुम्ब ॥

—**कुमारसम्भव**, ३ ३८

किन्नर लोग गीतों के बीच में ही अपनी प्रियाओं के वे मुख चूमने लगे जिन पर थकावट के कारण पसीना छा गया था, जिन पर की गयी चित्रकारी धुल गयी थी और जिनके नेत्र पुष्पों की मदिरा से मतवाले होने के कारण बड़े लुभावने लग रहे थे ।

(ii) **'वैषयिकी'-प्रीति**—

अथ कोऽयमिन्द्रमणिमेचकच्छविर्ध्वनिनैव बद्धपुलकं करोति माम् ।
नवनीलनीरधरधीरगर्जितक्षणबद्धकुड्मलकदम्बडम्बरम् ॥

—**उत्तररामचरित**, ६, ७

यह इन्द्र नीलमणि के समान श्याम-वर्ण बालक कौन है ? इसकी गम्भीर

वाणी सुनकर मेरा समस्त शरीर ठीक वैसे ही रोमांचित हो रहा है जैसे कि नये नीले बादलों के गम्भीर गर्जन से कदम्ब-मुकुल ।

[१०] **साम्प्रयोगिकी**—

किमपि-किमपि मन्दं मन्दमासक्तियोगा—
दविरलितकपोलं जल्पतोरक्रमेण ।
अशिथिलपरिरम्भव्यापृतैकैकदोष्णो—
रविदितगतयामा रात्रिरेव व्यरंसीत् ॥

—**उत्तररामचरित**, १-२७

सुन्दरी ! जहाँ पास-पास कपोल से कपोल सटाकर तथा परस्पर एक-दूसरे की भुजाओं के दृढ आलिंगन में बँधकर धीरे-धीरे इधर-उधर की बातें करते हुए बिना पता चले हम दोनों की रात ही बीत जाया करती थी । (क्या वह समय याद है ?) ।

[११] **आभ्यासिकी**—

मेदश्छेदकृशोदरं लघु भवत्युत्थानयोग्यं वपुः,
सत्त्वानामपि लक्ष्यते विकृतिमच्चित्तं भयक्रोधयोः ।
उत्कर्षः स च धन्विनां यदिषवः सिध्यन्ति लक्ष्ये चले,
मिथ्यैव व्यसनं वदन्ति मृगयामीदृग्विनोदः कुतः ? ॥

—**अभिज्ञानशाकुन्तल**, २-५

शरीर चर्बी छँटने से कृश उदर वाला अतएव हल्का एवं उद्योग-योग्य हो जाता है; भय तथा क्रोध में वन्य-जन्तुओं का विकारयुक्त चित्त परिलक्षित होता है और यह धनुर्धारियों के लिए उत्कर्ष की बात है कि उनके बाण चल-लक्ष्य पर भी सधते है । व्यर्थ ही लोग मृगया को व्यसन कहते हैं, ऐसा विनोद अन्यत्र कहाँ ?

[१२] यहाँ शारदातनय ने कुछ परिवर्तन के साथ भोज का अनुसरण किया है । भोज ने रति को आठ प्रकार का कहा है—नैसर्गिकी, सांसर्गिकी, आभियोगिकी, आध्यात्मिकी, औपमानिकी, वैषयिकी, सांप्रयोगिकी और आभिमानिकी । तथा प्रीति को साम्प्रयोगिकी रहित व आभ्यासिकी सहित और रति के समान अन्य भेदों से युक्त आठ प्रकार का कहा है—नैसर्गिकी, सांसर्गिकी, आभियोगिकी, आध्यात्मिकी, औपमानिकी, वैषयिकी, आभिमानिकी और आभ्यासिकी । (द्रष्टव्य—**शृंगार-प्रकाश**, तेरहवाँ प्रकाश, पृष्ठ ५५०-५६५ तथा **सरस्वती-कण्ठाभरण** ५।१६५-१६६) । शारदातनय ने इन्हीं भेदों को दूसरे ढंग से प्रस्तुत किया है—उन्होने रति और प्रीति के साधारण भेद—जो सात (नैसर्गिकी, सांसर्गिकी, औपमानिकी, आभियोगिकी, आध्यात्मिकी, आभिमानकी तथा वैषयिकी) हैं, उन्हें एक साथ गिनाया है । पुनः साम्प्रयोगिकी और आभ्यासिकी भेदों को क्रमशः रति और प्रीति से सम्बद्ध कहा है । वात्स्यायन ने अपने कामसूत्र में रति और प्रीति को पर्यायवाची कहा है (**कामसूत्र**, निर्णयसागर, १८९१, पृष्ठ ८८) । उन्होने 'रति' को साम्प्रयोगिकी (**कामसूत्र**, पृष्ठ ८८) तथा 'प्रीति' को आभ्यासिकी कहा है, तथा प्रीति के चार भेद

बताये है—(१) आभ्यासिकी, (२) आभिमानिकी, (३) सम्प्रत्ययात्मिका, और (४) विषयात्मिका (**कामसूत्र**, पृष्ठ ६२)।

[१३] तुलना—भोज के अनुसार व्यग क्रीडा आदि से होने वाला चित्त का विकास 'हास' कहलाता है—

व्यगक्रीडादिभिश्चेतोविकासो हास उच्यते।

—**सरस्वतीकण्ठाभरण**, ५।१३६ (क)

हेमचन्द्र ने चित्त के विकास को 'हास' कहा है—

चेतसो विकासो हासः।

—**काव्यानुशासन**, पृष्ठ ८४

रामचन्द्र-गुणचन्द्र मन की प्रसन्नता और उन्माद आदि से उत्पन्न चित्त के विकास को 'हास' कहते है :

रञ्जनोन्मादानुविद्वश्चित्तस्य विकासो हास.।

—**नाट्य-दर्पण**, दिल्ली, १९६१, पृष्ठ ३३०

विश्वनाथ के अनुसार वाणी आदि के विकारों को देखकर चित्त का विकसित होना 'हास' कहा जाता है—

वागादिवैकृतैश्चेतोविकासो हास इष्यते।

—**साहित्य-दर्पण**, ३।१७६

[१४] स्मित, हसित, विहसित, उपहसित, अपहसित तथा अतिहसित।

—**नाट्यशास्त्र**, षष्ठ अध्याय, ५३

[१५] तुलना—**दशरूपक** ४।१।

[१६] नाट्यशास्त्र की आधी कारिका की समानता लिए है। (द्रष्टव्य—**नाट्यशास्त्र**, षष्ठ अध्याय, ३५)।

[१७] तुलना—**नाट्यशास्त्र**, जी. ओ. एस., खण्ड १, पृष्ठ २८८-२८९।

[१८] तुलना—**नाट्यशास्त्र**, षष्ठ अध्याय, कारिका ३७।

[१९] **द्रव्य**—'द्रव्यत्व' जातिमान और गुणवान 'द्रव्य' कहलाता है—

'द्रव्यत्वजातिमत्त्वं गुणवत्त्वं वा द्रव्यसामान्यलक्षणम्'।

—**तर्कसंग्रह**, सं. बोडास और ऐथले, पूना, १९६३, पृष्ठ ४

पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन ये नव ही द्रव्य है।

[२०] **सामान्य**—जो नित्य और एक होने पर भी नाना पदार्थों में रहे वह 'सामान्य' है।

नित्यमेकमनेकानुगतं सामान्यम्। —**तर्कसंग्रह**, पृष्ठ ६०

सामान्य दो तरह के हैं—परसामान्य और अपरसामान्य।

[२१] **विशेष**—जो नित्य द्रव्यों में रहते हुए दूसरों को व्यावृत्त करें, वे 'विशेष' हैं।

नित्यद्रव्यवृत्तयो व्यावर्तका विशेषाः। —**तर्कसंग्रह**, पृष्ठ ६१

विशेष केवल नित्य-द्रव्य में रहता है और वह अनन्त है। (पृथ्वी, जल, तेज और वायु के परमाणु; तथा आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन—ये सब नित्य द्रव्य हैं।)

[२२] **गुण**—'गुणत्व' जातिमान या द्रव्य और कर्म से भिन्न होते हुए भी सामान्य-वान 'गुण' कहलाता है—

'द्रव्यकर्मभिन्नत्वे सति सामान्यवान् गुण., गुणत्वजातिमान्वा ।'

—**तर्कसंग्रह**, पृष्ठ ५

गुण चौबीस प्रकार के होते है—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, सख्या, परिमाण, पृथकत्व, सयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, शब्द, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार ।

[२३] **कर्म**—चलने-फिरने आदि क्रिया का नाम 'कर्म' है । संयोग से भिन्न होते हुए भी संयोग का असमवायिकारण 'कर्म' है या 'कर्मत्व' जातिमान 'कर्म' है ।

चलनात्मक कर्म । —**तर्कसंग्रह**, पृष्ठ ६०

संयोगभिन्नत्वे सति संयोगासमवायिकारण कर्म ।

—**तर्कसंग्रह**, पृष्ठ ५

कर्म पाँच प्रकार के होते है—उत्क्षेपण, अपक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण और गमन ।

[२४] **समवाय**—नित्य सम्बन्ध का नाम 'समवाय' है । समवाय एक ही है ।

नित्यसम्बन्धः समवायः । —**तर्कसंग्रह**, पृष्ठ ६१

[२५] **पदार्थ**—नामवाली वस्तु को 'पदार्थ' कहते है ।

अभिधेयत्वं पदार्थसामान्यलक्षणम् । —**तर्कसंग्रह**, पृष्ठ २

पदार्थ छै (६) हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और सामान्य ।

[२६] तुलना—**नाट्यशास्त्र**, जी. ओ. एस., ७, २ ।

[२७] तुलना—**वही**, ७, १ ।

[२८] तुलना—**वही**, पृष्ठ ३४६ ।

[२९] तुलना—**वही**, ७, ४ ।

[३०] तुलना—**वही**, ७, ५ ।

[३१] तुलना—सर्वेऽपि सत्त्वमूलत्वाद् भावा यद्यपि सात्त्विकाः ।
तथाप्यमीषां सत्त्वैकमूलत्वाद् सात्त्विकाप्रथा ॥

—**रसार्णवसुधाकर**, १, ३१०-३११ ।

[३२] तुलना—**शृंगारप्रकाश**, एकादश प्रकाश, पृष्ठ ४२९-४३१ तथा **सरस्वती-कण्ठाभरण**, ५।१ ।

[३३] यहाँ सांख्यदर्शन के प्रकृति-विकृतिवाद का अनुसरण किया गया है (दृष्टव्य—**मूलप्रकृति**—विकृतिः.. ....। इत्यादि, **सांख्यकारिका**, ३ तथा त्रिगुणमविवेकि ........। इत्यादि, **सांख्यकारिका** ११ ।)

[३४] **बुद्धि**—निश्चयात्मक तत्त्व 'बुद्धि' है (अध्यवसायो बुद्धिः ।—**सांख्यकारिका**, २३) । संसार में व्यवहार करने वाले सभी लोग पहले ज्ञानेन्द्रियों से पदार्थो का प्रत्यक्ष करने के बाद 'यह ऐसा है ऐसा नही है'—इस प्रकार मन में संकल्प कर 'मै इस काम का अधिकारी हूँ'—ऐसा अभिमान करने के बाद 'मुझे यह अवश्य करना है'—ऐसा निश्चय कर बाद में उस कार्य में प्रवृत्त होते है । इन चारों प्रकार के व्यापारों मे से जो यह अन्तिम कर्तव्यता-निश्चय है यही बुद्धितत्त्व का विशेष धर्म है ।

[३५] **मन**—सकल्प करने वाला 'मन' है (संकल्पकम् मनः—**सांख्यकारिका**, २७)। सकल्प से मन लक्षित होता है। इन्द्रिय के द्वारा किसी विषय के 'यह वस्तु' इस प्रकार अस्पष्ट रूप से ज्ञात होने पर मन के द्वारा 'यह वस्तु ऐसी है, ऐसी नही'—इस प्रकार से उनका संकल्प अर्थात् विशेषण-विशेष्य रूप से विवेचन या स्पष्ट ज्ञान होता है।

[३६] **आलोचन**—ज्ञानेन्द्रियों द्वारा अविविक्त वस्तु अस्पष्ट या निर्विकल्प प्रत्यक्ष-ज्ञान 'आलोचन' कहा गया है। (बुद्धीन्द्रियाणां सम्मुग्धवस्तुदर्शनमालोचन-मुक्तम्—**तत्त्वकौमुदी**, सं. गंगानाथ झा, पूना, १९६५, पृष्ठ १०३)।

[३७] **अहंकार**—अभिमान को 'अहंकार' कहते है। (अभिमानोऽहंकारः—**सांख्यकारिका**, २४)। 'जो यह गृहीत और विचारित विषय है, इसमें से ही अधिकृत हूँ, मै ही इसे करने में समर्थ हूँ, ये विषय मेरे ही लिए है, मेरे अतिरिक्त अन्य कोई इसमें अधिकृत नहीं है, अतः मैं ही अधिकृत हूँ—इस प्रकार का यह अभिमान 'अहंकार' का असाधारण धर्म है।

[३८] तुलना—सात्त्विक एकादशकः प्रवर्तते वैकृतादहकारात्।
भूतादेस्तन्मात्रः स तामस तैजसादुभयम्॥
—**सांख्यकारिका**, २५

एक अहंकार के सात्त्विक, राजस और तामस—ऐसे तीन भेद है जिनमें से सात्त्विक अहंकार से एकादश इन्द्रियाँ तथा तामस अहंकार से पञ्च तन्मात्रायें उत्पन्न होती है। यद्यपि राजस अहंकार का कोई दूसरा कार्य नही है, तो भी सत्त्व तथा तमोगुण के स्वयं क्रिया रहित होने से सामर्थ्य होने पर भी वे अपने-अपने कार्यो को नही कर सकते इसलिए जब रजोगुण चंचल होने से सत्त्व तथा तमोगुण को चलाता है तब वे अपने-अपने कार्यो को करते है, अतः सत्त्व तथा तमोगुण में क्रिया को पैदा करने के कारण राजस अहंकार भी उक्त दोनों कार्यो की उत्पत्ति में कारण है।

[३९] यह कोई नाट्यशास्त्रीय-ग्रन्थ प्रतीत होता है, लेकिन इसके विषय में अधिक विवरण ज्ञात नही है।

[४०] **करण**—नृत्य में हस्त तथा पादों के मिलकर हलन-चलन करने को 'करण' कहते है—हस्तपादसमायोगो नृत्यस्य करणं भवेत्। —**नाट्यशास्त्र**, ४।३०

करण एक सौ आठ है।

[४१] **अंगहार**—छः, सात, आठ तथा नौ करणों से संयुक्त 'अंगहार' कहे गये है—
षड्भिर्वा सप्तभिर्वापि अष्टभिर्नवभिस्तथा।
करणैरिह संयुक्ता अगहाराः प्रकीर्तिताः॥
—**नाट्यशास्त्र**, ४।३३

अंगहार ३२ होते हैं।

[४२] **ताण्डव**—भगवान शंकर ने अंगहार, रेचक और पिण्डीबन्धों के संयोग से जिस नृत्य की सृष्टि की, उसे विधि-विधान पूर्वक, तण्डु मुनि को सिखाया। तण्डु मुनि ने उस नृत्त में गान तथा वाद्य-यन्त्रों का संयोग कर उसे 'ताण्डव' नृत्त के नाम से प्रचलित किया अर्थात् तण्डु मुनि द्वारा उद्भावित होने के कारण उसकी प्रसिद्धि 'ताण्डव' नाम से हुई।

सृष्ट्वा भगवता दत्तास्तण्डवे मुनये तदा ॥

\+ + +

नृत्तप्रयोगः सृष्टो यः स ताण्डव इति स्मृतः ॥

—**नाट्यशास्त्र**, ४।२६०-२६१

[४३] **लय**—तालक्रिया के अनन्तर किया जाने वाला विश्राम 'लय' कहलाता है।

[४४] **चारी**—पद, जंघा, ऊरू तथा कटि-भाग का एक साथ चेष्टा करना 'चारी' कहलाता है।

एवं पादस्य जंघायाः ऊरोः कट्यास्तथैव च।
समानकरणाच्चेष्टा चारीति पारिकीर्तिता॥

—**नाट्यशास्त्र**, ११।१

[४५] **गीति**—स्थायी, आरोही, अवरोही वर्णो से अलकृत पद एवं लय से युक्त गान क्रिया 'गीति' कहलाती है—

वर्णाद्यलंकृता गानक्रिया परलयान्विता।
गीतिरित्युच्यते...... . ....... .......... ॥

—**संगीत-रत्नाकर**, खण्ड १, स्वरगताध्याय, पृष्ठ २८०।

[४६] 'सूड' प्रबन्ध दो प्रकार का होता है—शुद्ध और छायालग। ऐलादि गीत 'शुद्ध' है तथा ध्रुवादि गीत 'सालग' है। 'सालग' छायालग शब्द का ही अपभ्रंश है। (द्रष्टव्य—**संगीतरत्नाकर**, प्रबन्धाध्याय, खण्ड २, पृष्ठ ३३८)।

[४७] तुलना—**नाटयशास्त्र**, ४।२६०-२६१।

[४८] तुलना—**अभिनवभारती**, जी. ओ. एस., खण्ड १, पृष्ठ २७२-२७६ तथा **काव्यप्रकाश**, झलकीकर, पूना, पृष्ठ ८८-९०।

[४९] तुलना—**अभिनवभारती**, जी. ओ. एस., खण्ड १, पृष्ठ २७६-२७७ तथा **काव्यप्रकाश**, पृष्ठ ९०।

[५०] **राग**—जीव के नित्यतृप्तित्व गुण के सकोच का कर्ता 'राग' तत्त्व कहलाता है, जिससे जीव विषय से अनुराग करने लगता है (**ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी**, सम्पादक, श्री कान्तिचन्द्रपाण्डे, इलाहाबाद, १९५० पृष्ठ २३७-२३८ तथा *Abhinavagupta—An Historical and Philosophical Study*, by K. C. Pandey, Varanasi, 1963, pp. 374)।

[५१] **विद्या**—जीव की सर्वज्ञता का सकोच करने वाला तत्त्व 'विद्या' है, जिसके कारण जीव किञ्चितज्ञ होता है। **ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी**, पृष्ठ २३७ तथा *Abhinavagupta*, pp. 374)।

[५२] **मल**—काश्मीरी शैव-दर्शन के अनुसार जीव के तीन प्रकार के मल होते है—आणव, माया और कार्म। जीव के ज्ञातृ-कर्तृ रूप को छिपाने वाला 'आणव' कहलाता है। जीव के आणवमल से सकुचित रूप रहने पर वस्तु से भिन्न अवस्तु का ज्ञान 'माया' है। वस्तुतः तीनों मलों का कारण 'माया' है। कर्तृ-शरीर में आत्म-तत्त्व से भिन्न बाह्य-जगत् का ज्ञान रहने पर धर्म-अधर्म रूप कर्म का ज्ञान—कि कर्म ही जन्म और भोग को प्रदान करने वाला है—'कार्म' मल है। (**ईश्वरप्रत्यभिज्ञा-कारिका**, ३, २, ४-५ तथा *Abhinavagupta*, pp. 307-311)।

[५३] **कला**—जीव के सर्वकर्तृत्व शक्ति को सकुंचित करने वाला तत्त्व 'कला' है, जिसके कारण जीव किंचित्कर्तृत्व शक्ति युक्त बन जाता है। (**ईश्वरप्रत्यभिज्ञा-विमर्शिनी**, पृष्ठ २३७ तथा *Abhinavagupta*, pp. 372-374)।

[५४] काश्मीरी शैव-दर्शन के अनुसार आत्म-तत्त्व मे ३१ तत्त्व अन्तर्भूत है—माया, कला, विद्या, राग, काल, नियति, पुरुष, प्रकृति, बुद्धि, अहंकार, मन, श्रोत्र, त्वक्, चक्षुः, जिह्वा, प्राण, वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, आकाश, वायु, वह्नि, सलिल तथा पृथ्वी (*Abhinavagupta*, pp. 370-381)।

[५५] काश्मीरी शैवदर्शन के अनुसार जीवात्मा माया से लेकर पृथ्वीपर्यन्त तत्त्वों से निर्मित जगत् का—जो कि दुखों से परिपूर्ण है; राग, विद्या और कला नामक तीन तत्त्वों से आनन्द लेता है। ठीक इसी प्रकार प्रेक्षक नाट्य में प्रदर्शित अनेक भावों का—जो कि रस-रूप हैं; राग, विद्या, और कला से आनन्द लेता है।

## तृतीय अधिकार

[१] परमात्मा के द्वारा साम, ऋक्, अथर्व तथा यजुः—वेदों से क्रमशः शृंगार, वीर, रौद्र तथा वीभत्स रसो की उत्पत्ति—यह शारदातनय की नवीन विचारणा है। अन्यत्र यह ज्ञात नही होती।

[२] तुलना—**नाट्यशास्त्र**, षष्ठ अध्याय, कारिका ४०।४१।

[३] 'त्रिपुरदाह' नामक डिम में शिव नायक है। इसका उल्लेख नाट्यशास्त्र में (४।१०) मे मिलता है तथा इसमें 'त्रिपुरदाह' के प्रदर्शन का उल्लेख भी मिलता है जो सम्भवतः प्राचीन तथा प्रथम नाट्य-रचना थी (विशेष द्रष्टव्य—भूमिका)।

[४] शृंगारादि रसों की उत्पत्ति के विषय में ग्रन्थकार की यह एकमात्र नवीन कल्पना है। यह गाथा अन्यत्र प्राप्त नहीं होती।

[५] नाट्यशास्त्र के अनुसार—जब व्यक्ति स्वय हँसता है, तो आत्मस्थ हास्य और दूसरे को हँसाता है, तो परस्थ हास्य कहलाता है।

'यदा स्वयं हसति तदाऽऽत्मस्थः। यदा तु परं हासयति तदा परस्थः।'

—**नाट्यशास्त्र**, खण्ड १, जी. ओ. एस., पृष्ठ ३१३

आचार्य अभिनवगुप्त ने उन विचारकों का विरोध किया है जो आत्मस्थ और परस्थ भेदों का अर्थ यह समझते है कि आत्मस्थ मे विकृत वेषादि विभावों के कारण विदूषक स्वयं हँसता है और परस्थ में दूसरों को हँसाता है। उनके अनुसार इस प्रकार आत्मस्थ तथा परस्थ रूप विभावों के दो भेद माने गये हैं, हास्य के नहीं। वह एक दूसरा तर्क देते है कि स्वामी का शोक परिजनों में भी शोक उत्पन्न करता है तो इस प्रकार शोक के प्रसंग में भी परस्थता मानी जानी चाहिए। अन्यत्र देवी आदि किसी अन्य में व्यक्त होने वाला हास्य परस्थ माना जाये, तो गम्भीर प्रकृति के स्वामी में सेवकों के अनुभावों से उत्पन्न होने वाला क्रोध (रौद्र रस) भी परस्थ माना जायेगा।

अतः आत्मस्थ और परस्थ की यह व्याख्या दोषपूर्ण है तथा स्वय जिसमे विभाव हो वह हास्य आत्मस्थ तथा दूसरा जिसमें विभाव हो परस्थ होता है, यह व्याख्या भी ठीक नहीं है। क्योकि दूसरे का हास्य भी आत्मस्थ हास्य मे विभाव होता है। इस आधार पर हास्य के भेद करने पर तो रति आदि सभी के ये भेद किये जा सकते है। अतः इन दो विभावों का अभिप्राय है कि विभावों को स्वतः न देखकर दूसरों को हँसते हुए देखकर लोग हँसने लगते है, ऐसा लोक व्यवहार में देखा जाता है और गम्भीर प्रकृति होने के कारण विभावादि से भी जो नही हँसते वे भी दूसरों को हँसाता देखकर थोड़ा मुसकरा ही देते है, क्योकि मनुष्यों का ऐसा स्वभाव देखा जाता है। उदाहरण के लिए खट्टे अनार आदि का स्वभाव ऐसा सक्रमणशील होता है कि उनको देखकर भी लोगों के मुँह में पानी आ जाता है। इसी प्रकार हास भी संक्रमणशील है और लकड़ी में अग्नि के समान फैल जाता है। अतः स्वगत रूप हास्य आत्मस्थ और संक्रमणशील हास्य परस्थ माना जाना चाहिए। (द्रष्टव्य —**अभिनवभारती**, खण्ड १, जी. ओ. एस., पृष्ठ ३१३-३१५)।

रसगंगाधरकार ने आचार्य अभिनवगुप्त का अनुसरण करते हुए कहा है कि हास्य-विषय को देखने से उत्पन्न हास्य आत्मस्थ और दूसरों को हँसता हुआ देखकर हँसने से परस्थ हास्य की सिद्धि होती है (द्रष्टव्य—**रसगंगाधर**, काव्यमाला सीरीज, १९४७, पृष्ठ ५८)।

[६] आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार प्रकृति-भेद से होने वाले हास्य के इन छै (६) भेदों में से स्मित, विहसित, अपहसित की आत्मस्थ सज्ञा दी गयी है और हसित, उपहसित, अतिहसित की परस्थ की संज्ञा दी गयी है (द्रष्टव्य—**अभिनवभारती**, पृष्ठ ३१६)।

[७] (क) आक्रमण करके शत्रु-सैन्य को पराजित कर देना 'पराक्रम' है।
(ख) शत्रु को सन्तप्त करने वाली प्रसिद्धि 'प्रताप' है।
(ग) इन्द्रियों का विजय 'विनय' है।
(घ) नीति में सन्धि आदि छः गुणों का उचित प्रयोग 'नय' कहलाता है।
(ङ) युद्ध आदि का सामर्थ्य 'शक्ति' है।
(च) राम जैसे नायकों में इन विभावों की पूर्ण स्थिति स्वीकार की जा सकती है।
(छ) अविचल रहना 'स्थैर्य' है।
(ज) युद्ध आदि की क्रिया 'शौर्य' है।
(झ) गम्भीरता के साथ मनोभावों को छिपाना 'धैर्य' है।
(ञ) शत्रु के प्रति अन्यथा आरोप करना 'आक्षेप' है।
(ट) दान देना 'त्याग' है।

—**अभिनवभारती**, जी. ओ. एस., खण्ड १, पृष्ठ ३२४-२५।

[८] (क) जिसकी प्राप्ति सम्भव हो, वह 'ईप्सित' कहलाता है।
(ख) जिसकी प्राप्ति असम्भव हो, वह 'मनोरथ' कहलाता है।
(ग) दिव्य-जन का अर्थ है—गन्धर्व आदि।

(घ) विमान का अर्थ दिव्य रथ है ।

(ङ) एक विशेष प्रकार से निर्मित मण्डप या ग्रह को 'सभा' कहते है ।

—**अभिनवभारती**, जी. ओ. एस., खण्ड १, पृष्ठ ३२९-३३०

[९] (क) जिन मनुष्यों में हिंसा भाव प्रधान होता है, उन्हें 'उद्धत' कहा गया है ।

(ख) झूठ बात को कहना 'अनृत-वाक्य' है ।

(ग) वाणी की कठोरता या मारने की धमकी देना 'परुषोक्ति' पद का अर्थ है।

(घ) गुणों में दोष-दर्शन 'मत्सर' है ।

—**अभिनवभारती**, खण्ड १, जी. ओ. एस., पृष्ठ ३१९-३२४

[१०] (क) 'व्यसन' का अर्थ है मृगया या जूआ आदि अनर्थजनक कार्य के साथ सम्बन्ध हो जाना ।

(ख) 'निश्वास' पद से शोक के बाद होने वाले ऊर्ध्वश्वास रूप उच्छ्वास को लक्षित किया गया है ।

(ग) 'स्मृतिलोप' शब्द से स्तम्भ तथा प्रलय का ग्रहण होता है ।

—**अभिनवभारती**, खण्ड १, जी. ओ. एस., पृष्ठ ३१७-३१९ ।

[११] यहाँ सभी रसो के लक्षणों के लिए नाट्यशास्त्र का अनुसरण किया गया है । (दृष्टव्य—**नाट्यशास्त्र**, जी. ओ. एस., पृष्ठ अध्याय, षष्ठ ३००), लेकिन उन लक्षणो के अन्तर्गत यथायोग्य सात्त्विक भावों का सन्निवेश ग्रन्थकार ने किया है ।

[१२] तुलना—**नाट्यशास्त्र**, षष्ठ अध्याय, कारिका ७७ (क) ।

[१३] भरत ने हास्य के अंग, नेपथ्य और वाक्य के अनुसार तीनों भेदों का उल्लेख किया है । ( दृष्टव्य—**नाट्यशास्त्र**, षष्ठ अध्याय, ७७ (ख) ) ।

[१४] भरत ने युद्ध, दान तथा धर्मवीर नामक तीन भेदों का वर्णन किया है (**नाट्यशास्त्र**, ६, ७९) भोज तथा शारदातनय ने धर्मवीर के स्थान पर दयावीर का वर्णन किया है। (दृष्टव्य—**सरस्वती कण्ठाभरण**, गोहाटी, १९६९, पृष्ठ २७१)। विश्वनाथ ने इस संख्या मे धर्मवीर को भी मिलाकर बीर-रस के युद्धवीर, दानवीर, दयावोर तथा धर्मवीर नामक चार भेद मान लिये हैं। (**साहित्यदर्पण**—तृतीय परिच्छेद, कारिका २३४) ।

[१५] भरतमुनि ने अद्भुत को दिव्य तथा आनन्दज—केवल दो प्रकार का बताया है । (द्रष्टव्य—**नाट्यशास्त्र**, षष्ठ अध्याय, कारिका ८२) ।

[१६] तुलना—**नाट्यशास्त्र**, षष्ठ अध्याय, कारिका ७७ (ख) ।

[१७] भरतमुनि ने करुण के धर्मोपघातज, अपचयोद्भव, शोककृत नामक तीन भेदो का नाम लिया है । (**नाट्यशास्त्र**, ६, ७८) ।

[१८] भरत तथा धनंजय ने वीभत्स के क्षोभज, शुद्ध तथा उद्वेगी नाम से तीन भेद किये है (**नाट्यशास्त्र**, षष्ठ अध्याय, कारिका ८, १ तथा **दशरूपक**, चतुर्थ-प्रकाश, कारिका ७३) । शारदातनय ने शुद्ध को त्याग कर केवल दो भेदों का उल्लेख किया है ।

[१९] भरत मुनि के अनुसार भयानक रस व्याज (कृत्रिम, प्रदर्शन), अपराध तथा त्रास द्वारा उत्पन्न होकर तीन प्रकार का होता है (द्रष्टव्य—**नाट्यशास्त्र**, ६, ८१) ।

[२०] (i) अभिनव ने यहाँ विष्णु का अर्थ कामदेव लिया है (**अभिनवभारती**, जी. ओ. एस., पृष्ठ २९८)।
(ii) वैष्णव धर्म के अनुसार भगवान विष्णु चतुर्व्यूहात्मक है—(१) वासुदेव, (२) संकर्षण, (३) प्रद्युम्न और (४) अनिरुद्ध—ये चार व्यूह के अंग हैं। परमात्मा श्रीकृष्ण ही वासुदेव, अनिरुद्ध, प्रद्युम्न अमितविक्रम है, वैसे ही कामदेव, कामपाल और कामी है, ऐसा विष्णु-सहस्र नाम से सिद्ध होता है। यथा—'अनिरुद्धोऽप्रतिरथ. प्रद्युम्नोऽमितविक्रम.' (श्लोक ८२), 'कामदेव· कामपाल. कामी' (८४)।

[२१] **तुलना**—**नाट्यशास्त्र,** जी. ओ. एस., षष्ठ अध्याय, कारिका ४४-४५।

[२२] तुलना—**अभिनवभारती,** जी. ओ. एस., खण्ड १, पृष्ठ २९८-२९९।

[२३] श्रृंगार-रस का वर्ण श्याम और हास्य का श्वेत कहा गया है, वीर-रस का वर्ण गौर और अद्भुत का पीत माना गया है। रौद्र-रस का वर्ण रक्त और करुण-रस का कपोत जाना जाता है तथा वीभत्स रस का नीलवर्ण और भयानक रस का कृष्ण कहा गया है। (द्रष्टव्य—**नाट्यशास्त्र,** षष्ठ अध्याय, कारिका ४२-४३)।

[२४] भरत मुनि ने क्रोध के रिपुज, गुरुज, प्रणयी-प्रभव, भृत्यज तथा कृत्रिम—पाँच भेदों का वर्णन किया है (**नाट्यशास्त्र**, सप्तम अध्याय, कारिका १५)। शारदातनय ने कृत्रिम के स्थान पर मित्रज क्रोध का वर्णन किया है। भोज ने क्रोध के ललित, अललित तथा ललितालतित—तीन भेदों का उल्लेख किया है। (द्रष्टव्य—**सरस्वतीकण्ठाभरण,** पृष्ठ २७२)।

[२५] तुलना—**नाट्यशास्त्र,** सप्तम अध्याय, कारिका १९-२०।

[२६] तुलना—**रसार्णवसुधाकर,** १, १८०।

[२७] तुलना—**नाट्यशास्त्र,** कलकत्ता, अध्याय २३, कारिका १२-१३।

[२८] मल्लिनाथ के अनुसार यह सौन्दर्य अन्यूनातिरिक्त है (द्रष्टव्य—**कुमारसम्भव,** सञ्जीवनी टीका, १, ३२) यह एक स्वरूपात्मक पूर्णता है, जो कि सौन्दर्य का गुण तथा उसकी विशेषता है। यह न तो बहुत अधिक है. और न बहुत कम। यह विभिन्न अंगों की एकता या पूर्णता है। (द्रष्टव्य—**कुमारसम्भव** १, ४९। "सर्वोपमाद्रव्यसमुच्चयेन यथाप्रदेश विनिवेशितेन। सा निर्मिता विश्व-सृजा प्रयत्नादेकस्थसौन्दर्यदिदृक्षयेव ॥")।

[२९] तुलना—**रसार्णवसुधाकर,** १, १८२।

[३०] **नाट्यशास्त्र** (८, १२) और **अभिनयदर्पण** (कारिका ४२) दोनों में ६ अग बताये गये है जिनकी नामावली समान है और जिनके नाम इस प्रकार है. १. सिर, २ दोनों हाथ, ३. वक्षस्थल, ४. दोनों पार्श्व, ५. दोनों कटिभाग, और ६. दोनों पैर। कुछ आचार्यो के मत में इन छः अंगों के अतिरिक्त ग्रीवा को भी अंगों मे परिगणित किया गया है।

[३१] आचार्य नन्दिकेश्वर ने प्रत्यंग के अन्तर्गत १. दोनों हाथ, २. दोनों बाहें, ३. पीठ, ४. उदर, ५. दोनों उरु, और ६. दोनो जंघाओं को परिगणित किया है। इनके अतिरिक्त कुछ आचार्यो ने दोनो कलाइयाँ, दोनो कुहनियाँ, दोनों घुटने

और ग्रीवा को भी प्रत्यगो के अन्तर्गत माना है। (द्रष्टव्य—**अभिनयदर्पण,** कारिका ४३-४४)।

[३२] कुछ आचार्यों ने केवल स्कन्ध-भाग को ही उपांग माना है। भरत ने उपांगो का उल्लेख किया है: १. सिर, २. हस्त, ३. उर, ४. पार्श्व, ५. कटि और ६. पैर (**नाट्यशास्त्र,** ८, १३)। आचार्य नन्दिकेश्वर ने उनकी संख्या बारह बतायी है: १. नेत्र, २. भवें, ३. आँखों की पुतलियाँ, ४. दोनो कपोल, ५. नासिका, ६. दोनो कुहनियाँ, ७. अधर, ८. दाँत, ९. जिह्वा, १०. ठोड़ी, ११. मुख, और १२. सिर। इनके अतिरिक्त नन्दिकेश्वर ने दोनों घुटने; उँगलियाँ और हाथ-पैरों के तलवे भी उपागों में माने है (द्रष्टव्य—**अभिनयदर्पण,** कारिका ४५-४६)।

[३३] तुलना—**रसार्णवसुधाकर,** १, १८४ (ख)—१८६।

[३४] तुलना—**रसार्णवसुधाकर,** १, १८४ (क)।

[३५] भरत मुनि ने मुखराग के स्वाभाविक, प्रसन्न, रक्त तथा श्याम—चार भेदों का उल्लेख किया है (**नाटयशास्त्र,** ८, १५८ (क))।

[३६] तुलना—**नाटयशास्त्र,** अष्टम अध्याय, कारिका १५८-१६०।

## चतुर्थ अधिकार

[१] तुलना—**सरस्वतीकण्ठाभरण,** ५।१३८ (क)।

[२] **स्पृहा**—

आत्मोपभोगकरणं स्पृशतीन्द्रियवर्त्मना।
या जहातीतरान् भोगान् सा स्पृहेत्यमिधीयते॥

—**भावप्रकाशन,** जी. ओ. एस., पृष्ठ २९।

[३] तुलना—**प्रतापरुद्रीय,** पृष्ठ १६३।

[४] तुलना—**दशरूपक,** ४।४८।

[५] तुलना—अहेतोर्मेति नेत्युक्तेर्हेतोर्वा मान उच्यते।

—**सरस्वतीकण्ठाभरण,** ५।४८।

मुहुः कृतो मेति-मेति (नेति) प्रतिषेधार्थवीप्सया।
ईप्सितालिङ्गनादीनां निरोधो मान उच्यते॥

—**रसार्णवसुधाकर,** २।२०२।

[६] तुलना—**सरस्वतीकण्ठाभरण,** ५।६६।

[७] Bhoja's *Srngara Prakasa* by V. Raghavan pp. 639-640।

[८] तुलना—**सरस्वतीकण्ठाभरण,** ५।८०।

[९] तुलना—"रञ्जरागे" इत्यस्मात् राजृदीप्तौ इत्येतस्माद्वा भावकरणयोर्घञि राग इति रूप भवति।

—**शृंगारप्रकाश,** १४वाँ प्रकाश, पृष्ठ ८५७।

राजते रञ्जतेर्वापि रागः करणभावयोः।
घञान्यत्कारके भावे नलोपेन नियम्यते॥

—**सरस्वतीकण्ठाभरण,** ५।६८

[१०] तुलना—(क) **साहित्यपदर्पण**, पृष्ठ १३८ ।

(ख) **नीलीराग** । जैसे—सीता और राम का ।

**कुसुम्भराग** । जैसे—आजकल अनेक दम्पत्तियों का ।

**मञ्जिष्ठाराग** । जैसे—राधा और कृष्ण का ।

[११] तुलना—ततश्चानुगतोऽनुरूपो वा रागः अनुरागः इति । अनु पश्चात् सह वा रागः अनुराग इति ।

—**श्रृंगारप्रकाश**, १८वाँ प्रकाश, पृष्ठ ८५७ ।

रागोऽनु सह पश्चाद्वानुरूपोऽनुगतोऽपि वा ।

—**सरस्वतीकण्ठाभरण**, ५।६७ ।

[१२] (क) तुलना—**दशरूपक**, ४।४७-४८ ।

(ख) (i) **देश विभाव**—

स्मरसि सुतनु ! तस्मिन्पर्वते लक्ष्मणेन,
प्रतिविहितसपर्यासुस्थयोस्तान्यहानि ?
स्मरसि सरसनीरां तत्र गोदावरी वा ?
स्मरसि च तदुपान्तेष्वावयोर्वर्तनानि ?

—**उत्तररामचरित**, १, २६ ।

सुन्दरी ! तुम उस 'प्रस्रवण' पर्वत में लक्ष्मण के द्वारा की गयी सेवा से प्रसन्न हम दोनों के उन सुखमय दिनों का, निर्मल जलवाली गोदावरी नदी का और उसके किनारे पर हमारे विहार का स्मरण करती हो ? (या नहीं) ।

(ii) **कला विभाव**—

व्यक्तिर्व्यञ्जनधातुना दशविधेनाप्यत्र लब्धामुना,
विस्पष्टो द्रुतमध्यलम्बितपरिच्छिन्नस्त्रिधायं लयः ।
गोपुच्छाप्रमुखाः क्रमेण यतयस्तिस्रोऽपि संपादिता—
स्तत्त्वौघानुगताश्च वाद्यविधयः सम्यक्त्रयो दर्शिताः ।

—**नागानन्द**, १, १४

संगीतशास्त्र में प्रसिद्ध दस प्रकार के व्यञ्जन धातुओं पुष्प, कल, तल, निष्कोटित, उद्भृष्ट, रेफ, अनुबन्ध, अनुस्वनित, विन्दु तथा अपमृष्ट के द्वारा वीणावादन के समय भाव की व्यञ्जना करायी गयी है । द्रुत, मध्य और लम्बित, ये तीनों प्रकार के लय भी बिलकुल स्पष्ट सुनायी पड़ रहे हैं । इसने गोपुच्छ आदि प्रमुख यतियों का भी सुन्दर सम्पादन किया है । इसी प्रकार वाद्य के विषय मे तत्त्व, ओघ तथा अनुगत—ये तीनों प्रकार के तत्त्व भी अच्छी तरह से दिखाये गये है ।

(iii) **काल-विभाव**—

मधु द्विरेफः कुसुमैकपात्रे पपौ प्रियां स्वामनुवर्तमानः ।
श्रृंगेण च स्पर्शनिमीलिताक्षीं मृगीमकण्डूयत कृष्णसारः ॥

—**कुमारसम्भव**, ३, ३६

भौरा अपनी प्यारी भौंरी के साथ एक ही फूल की कटोरी में मकरन्द पीने लगा । काला हरिण अपनी उस हरिणी को सीग से खुजलाने लगा जो उसके स्पर्श का सुख लेती हुई आँख मूँदे बैठी थी ।

(iv) **वेष-विभाव**—

अशोकनिर्भर्त्सितपद्मरागमाकृष्टहेमद्युतिकर्णिकारम् ।
मुक्ताकलापीकृतसिन्दुवार वसन्तपुष्पाभरणं वहन्ती ॥

—**कुमारसम्भव**, ३, ५३

उस समय पार्वती के शरीर पर लाल मणि को लज्जित करने वाले अशोक के पत्तों के, सोने की चमक को घटाने वाली कर्णिकार के फूलो के और मोतियो की माला के समान उजले सिन्धुवार के वासन्ती फूलों के आभूषण सजे हुए थे ।

(v) **उपभोग-विभाव**—

चक्षुर्लुप्तमषीकणं कवलितस्ताम्बूलरागोऽधरे,
विश्रान्ता कबरी कपोलफलके लुप्तेव गात्रद्युति· ।
जाने सम्प्रति मानिनि प्रणयिना कैरप्युपायक्रमे—
भग्नो मानमहातरुस्तरुणि ते चेत· स्थली वर्धितः ॥

—**दशरूपक**, पृष्ठ २६५ ।

हे तरुणि ! तेरी आँख का काजल साफ हो गया है, अधर भाग में लगी हुई पान की ललाई चाट डाली गयी है, कपोल-फलक पर केशपाश बिखरे पडे है और तुम्हारे शरीर की कान्ति ओझल हो गयी है । इन सारे चिह्नों से ऐसा प्रतीत होता है कि हे मानिनि ! तुम्हारे प्रियतम ने अनेक उपायों द्वारा, तुम्हारे चित्त की स्थली पर बढा हुआ मान का बड़ा वृक्ष तोड़ डाला है ।

(vi) **आनन्दस्वरूप (प्रमोदात्मा) रति**—

जगति जयिनस्ते ते भावा नवेन्दुकलादयः
प्रकृतिमधुराः सन्त्येतान्ये मनो मदयन्ति ये ।
मम तु यदिय याता लोके विलोचनचन्द्रिका,
नयनविषय जन्मन्येकः स एव महोत्सवः ॥

—**मालतीमाधव**, १, ३७

लोक मे अतिशय प्रसिद्ध नवीन चन्द्रकला आदि पदार्थ जयशील हैं । स्वभाव से सुन्दर और भी पदार्थ है ही जोकि मन को प्रसन्न करते है । परन्तु जो यह नेत्र-चन्द्रिका (मालती) लोक मे मेरे नेत्र-विषय को प्राप्त हो गई है, जन्मशाली पदार्थ मे एक वही सौख्य का कारण है ।

(vii) **युवतिविभाव**—

दीर्घाक्षि शरदिन्दुकान्तिवदनं बाहू नतावंसयो.
संक्षिप्तं निबिडोन्नतस्तनमुरः पार्श्वे प्रमृष्टे इव ।
मध्यः पाणिमितो नितम्बि जघनं पादावरालांगुली
छन्दो नर्तयितुर्यथैव मनसः स्पष्टं तथाऽस्या वपुः ॥

—**मालविकाग्निमित्र**, २, ३

वाह ! यह तो, सिर से पैर तक एकदम सुन्दर है क्योकि इसकी बड़ी-बडी आँखें, चमकता हुआ शरद् के चन्द्रमा के समान मुख, कन्धो पर झुकी हुई भुजाएँ, उभरते हुए कठोर स्तनो से जकडा हुआ वक्ष-स्थल, पुछे हुए से पार्श्व-

प्रदेश, मुट्ठी भर की कमर, मोटी-मोटी जघाएँ और थोड़ी-थोड़ी झुकी हुई दोनो पैरो की अंगुलियाँ—बस ऐसी जान पड़ती है मानो इसका शरीर इसके सौन्दर्य को देखकर प्रसन्नता तथा खुशी से नाचते हुए मन का जैसा अभिप्राय होता है ठीक उसी अभिप्राय के अनुरूप बनाया गया हो ।

(viii) **युवक-युवति विभाव**—

भूयो भूयः सविधनगरीरथ्यया पर्यटन्तं
दृष्ट्वा-दृष्ट्वा भवनवलभीतुङ्गवातायनस्था ।
साक्षात्कामं नवमिव रतिर्मालती माधवं य-
द्गाढोत्कण्ठालुलितललितैरङ्गकैस्ताम्यतीति ॥

—**मालतीमाधव**, १, १६

निकट की नगरी की गली से बार-बार घूमते हुए, साक्षात् अभिनव काम के समान सुन्दर माधव को भवन की छत के ऊँचे झरोखे से बार-बार देखकर रति के समान सुन्दर मालती अत्यधिक उत्कठित होकर अपने कोमल तथा सुन्दर अगो से पीड़ित रहती है ।

(ix) **युवक-युवती का परस्पर अनुराग**—

यान्त्या मुहुर्वलितकन्धरमानन त—
दावृत्तवृ तशतपत्रनिभ वहन्त्या ।
दिग्धोऽमृतेन च विषेण च पक्ष्मलाक्ष्या
गाढं निखात इव मे हृदये कटाक्ष: ॥

—**मालतीमाधव**, १, ३०

बार-बार ग्रीवा को परिवर्तित कर जाती हुई और परिवर्तित वृन्त वाले कमल के सदृश सुन्दर मुख को धारण करने वाली निविड़ नेत्र-लोमों से युक्त सुन्दरी ने अमृत और विष से लिप्त कटाक्ष मेरे हृदय में दृढ़ता से जैसे प्रवेशित कर दिया है ।

(x) **अंगों की मधुर चेष्टाएँ**—

स्तिमितविकसितानामुल्लसद्भ्रूलतानां
मसृणमुकुलितानां प्रान्तविस्तारभाजाम् ।
प्रतिनयननिपाते किंचिदाकुञ्चितानां
विविधमहमभूवं पात्रमालोकितानाम् ॥

—**मालतीमाधव**, १, २८

मैं निश्चल और विकसित, ऊपर चलने वाली भ्रूलताओ से युक्त, अनुराग से सुन्दर और अनिर्वाच्य सुखानुभूति से मुकुलित, अपाग देश में विस्तार से सम्पन्न और मेरे नेत्रों के संगम होने पर लज्जा से संकुचित मालती के अवलोकनों का अनेक प्रकार से आश्रय हो गया ।

[१३] तुलना—**दशरूपक**, ४, ५० ।

[१४] तुलना—**दशरूपक**, ४, ५५-५६ ।

[१५] (क) तुलना—**दशरूपक**, ४, ५८ ।

(ख) पणअकुविआण दोह्णवि अलिअपसुत्ताण माणइन्ताणम् ।
णिच्चकलणिरुद्धणीसासदिण्णअण्णाण को मल्लो ॥

—**गाथा-सप्तशती**, १, २७

दोनों (युवक-युवती) ही प्रणय से कुपित हैं, दोनों ही मिथ्या प्रसुप्त है और धीरे-धीरे रोक के लिए परस्पर के नि:श्वासों पर दोनों ही कान लगाये पड़े है, देखें इन दोनों मे कौन बहादुर है ।

[१६] (क) तुलना—**दशरूपक**, ४, ५६ ।

(ख) केलीगोत्तक्खलणे विकुप्पए केअवं अआणन्ती ।
दुट्ठ उअसु परिहासं जाआ सच्चं वि अ परुण्णा ॥

—**दशरूपक**, पृष्ठ २७५

अरे दुष्ट ! कुटिलता से अनभिज्ञ मेरी भोली-भाली प्रिय सखी से तूने परिहास मे किसी अन्य नायिका का गुण कथन कर दिया, फिर क्या था, वह भोली-भाली तेरे कथन को सत्य मानकर रो रही है ।

[१७] तुलना—**दशरूपक**, ४, ५६-६० ।

[१८] तुलना—**दशरूपक**, ४, ६१ ।

[१६] (क) तुलना—**दशरूपक**, ४, ६२ तथा **साहित्य-दर्पण**, ३, २०२ ।

(ख) इन्दीवरेण नयनं मुखमम्बुजेन
कुन्देन दन्तमधरं नवपल्लवेन ।
अङ्गानि चम्पकदलैः स विधाय वेधाः
कान्ते कथं रचितवानुपलेन चेतः ॥ —**दशरूपक**, पृष्ठ २७६

हे प्रिय ! ब्रह्मा ने तेरे नेत्रों को नील कमल से, मुख को लाल कमल से, तेरे दाँतों को कुन्द-कली से, अधर को नई लाल कोपल से तथा अवशिष्ट अंगों को चम्पक के पुष्पों से बनाया है, पर पता नही तेरे हृदय (चित्त) को पत्थर से कैसे बनाया ?

[२०] (क) तुलना—**दशरूपक**, ४, ६२ तथा **साहित्यदर्पण**, ३, २०२ ।

(ख) कृतेऽप्याज्ञाभङ्गे कथमिव मया ते प्रणतयो
धृताः स्मित्वा हस्ते विसृजसि रुषं सुभ्रुबहुशः ।
प्रकोपः कोऽप्यन्यः पुनरयमसीमाद्य गुणितो,
वृथा यत्र स्निग्धाः प्रियसहचरीणामपि गिरः ॥

—**दशरूपकावलोक**, पृष्ठ २७७

हे सुभ्रू ! आज्ञा का भग कर देने पर भी मैने किसी तरह तुम्हें कई बार प्रणाम किया था और तब तुम हँसकर गुस्से को हाथों-हाथ छोड़ देती थीं । ऐसा अनेक बार हुआ । पर इस बार तो पता नही, तुम्हारा यह गुस्सा दूसरे ही ढंग का है, यह अत्यधिक बढ़ा-चढा तथा नि.सीम दिखायी पड़ रहा है, जिस क्रोध में प्रिय सखियों के मधुर स्नेहपूर्ण वचन भी व्यर्थ हो गये है ।

[२१] (क) तुलना—**दशरूपक**, ४, ६२ तथा **साहित्य-दर्पण**, ३, २०२ ।

(ख) मुहुरुपहसितामिवालिनादै—
वितरसि नः कलिकां किमर्थमेनाम् ।
अधिरजनि गतेन धाम्नि तस्याः
शठ कलिरेव महांस्त्वयाऽद्य दत्तः ॥

—**शिशुपालबध**, ७, ५५

हे शठ ! बार-बार भ्रमरों से उपहसित इस मंजरी को हमें क्यों दे रहे

हो ? अरे दुष्ट ! तूने तो आज रात को उसके पास जाकर हमें बहुत बडी मजरी प्रदान कर ही दी है ।

[२२] (क) तुलना—**दशरूपक**, ४, ६२ तथा **साहित्यदर्पण**, ३, २०२ ।

(ख) णेउरकोडिविलग्गं चिहुरं दइअस्स पाअपडिअस्स ।
हिअअं माणपउत्थं उम्मोअं त्ति च्चिअ कहेइ ॥

—**गाथासप्तशती**, २, ८८

प्रिया के पैरों पर गिरे हुए, प्रिय के केश, जो प्रिया के नूपुरों में उलझ गये हैं, इस बात की सूचना दे रहे है कि नायिका के मानी हृदय को अव मान से छुटकारा मिल गया है।

[२३] (क) तुलना—**दशरूपक**, ४, ६३ तथा **साहित्य-दर्पण**, ३, २०३ ।

(ख) नायक मानिनि नायिका को अनेक उपायो से मनाकर नाराज हो चला जाता है। उसके जाने के बाद नायिका अपने किये हुए पर पश्चाताप कर रही है। सखी से कहती है—

किं गतेन नहि युक्तमुपैतु नेश्वरे परुषता सखि साध्वी ।
आनयैनमनुनीय कथ वा विप्रियाणि जनयन्ननुनेयः ॥

अब उसके पास (मनाने के लिए) जाने से क्या लाभ ? पर हे सखि, वहाँ न जाना भी ठीक नही है क्योंकि समर्थवान से कठोरता का व्यवहार भी ठीक नही होता, तो तुम उनके पास जाकर अनुनय विनय करके जिस प्रकार से हो सके उस प्रकार से लाओ। अथवा रहने दो, उसको बुलाने की आवश्यकता नही है। जिसने मेरे साथ ऐसा अप्रिय कार्य किया है उसकी प्रार्थना करना उचित नही है ।

[२४] (क) तुलना—**दशरूपक**, ४-६३ तथा **साहित्यदर्पण**, ३, २०३ ।

(ख) अभिव्यक्तालीकः सकलविफलोपायविभव-
श्चिरं ध्यात्वा सद्यः कृतकृतकसंरम्भनिपुणम् ।
इतः पृष्ठे-पृष्ठे किमिदमिति सन्त्रास्य सहसा,
कृताश्लेषां धूर्तः स्मितमधुरमालिङ्गति वधूम् ॥

—**दशरूपकावलोक**, पृष्ठ २७८

अपने अपराध के व्यक्त हो जाने पर नायक ने अपनी नायिका को प्रसन्न करने के लिए अनेक उपायों का सहारा लिया, पर जब किसी से भी सफलता न मिल सकी तो बहुत सोचने पर एक उपाय की सूझ उसके मन में आई। वह यह कि इसको भयभीत किया जाए। वह—"यह पीछे क्या है, यह इधर पीछे क्या है ?" इस तरह नायिका को एकदम डरा देता है। इससे डरकर नायिका उसकी ओर झुकती है, वह मुस्कराहट व मधुरता के साथ आलिगन करती हुई नायिका का आलिगन करता है।

[२५] तुलना—**दशरूपक**, ४, ६४-६६ ।

[२६] तुलना—**दशरूपक**, ४, ६७ ।

[२७] तुलना—**सरस्वतीकण्ठाभरण**, ५।८४-८८ ।

[२८] तुलना—**सरस्वतीकण्ठाभरण**, ५।५३-५४ ।

[२९] **नाटयशास्त्र** (२४,१६९-१७१), **दशरूपक** (पृष्ठ २६९) तथा **साहित्य-दर्पण**

(पृष्ठ १७१) में इच्छा तथा उत्कण्ठा के अतिरिक्त अभिलाष, चिन्तन, स्मृति, गुण-स्तुति, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता तथा मरण नामक दश काम-अवस्थाओं का उल्लेख मिलता है। शारदातनय ने इन दश अवस्थाओं के पूर्व इच्छा तथा उत्कण्ठा को जोड़ दिया है। इसके अतिरिक्त **कामसूत्र** (पृष्ठ २५६), **विष्णुधर्मोत्तरपुराण** (जी.ओ.एस. न. ८०, १९५८, तृतीय खण्ड, ३०, १७-२०), **सरस्वतीकण्ठाभरण** (५, ९९-१००) तथा **प्रतापरुद्रीय** (पृष्ठ १९४) में इन नामों के स्थान पर चक्षुप्रीति, मनःसङ्ग, निद्राभग, तनुता, व्यावृत्ति, लज्जानाश, उन्माद, मूर्च्छा तथा मरण नाम रखकर नवीनता लाने का प्रयत्न किया गया है। प्रतापरुद्रीय मे प्रलाप तथा सज्वर को जोड़कर ये अवस्थाएँ बाहर कर दी गयी है।

[३०] तुलना—**नाट्यशास्त्र**, २४, १६९-१९० ।

[३१] तुलना—**दशरूपक**, २, ४-५ ।

[३२] तुलना—**दशरूपक**, २, ८ ।

[३३] यहाँ 'धर्म' पाठ शुद्ध रहेगा।

[३४] **काव्यालंकार**,, १२, १६-५५, दिल्ली, १९६५ ।

[३५] **काव्यानुशासन**, पृष्ठ ३०८ ।

[३६] **काव्यालंकार**, १२, ३९ ।

[३७] तुलना—**दशरूपक**, २, १६ ।

[३८] **खण्डिता**—

लाक्षालक्ष्म ललाटपट्टमभितः केयूरमुद्रा गले
वस्त्रे कज्जलकालिमा नयनयोस्ताम्बूलरागो घनः ।
दृष्ट्वा कोपविधायि मण्डनमिदं प्रातश्चिरं प्रेयसो
लीलातामरसोदरे मृगदृशः श्वासाः समाप्ति गताः ॥

—रूपगोस्वामी प्रणीत **पद्यावली**, पद्य-संख्या २१६, वृन्दावन, १९५९

ललाटपटल के चारों ओर लाक्षा के चिह्न, गले में कङ्कण की छाप, मुख पर कज्जल की कालिमा, दोनों नयनों मे गाढ़ ताम्बूल-राग, प्रातःकाल कोपोत्पन्न करने वाले प्रियतम के ऐसे पूर्वोक्त विचित्र अभूषणों को देखकर, मृगाक्षी के सारे श्वास लीलाकमल में ही समाप्त हो गये।

[३९] **विप्रलब्धा**—

उत्तिष्ठ दूति यामो यामो यातस्तथापि नायातः ।
याऽतः परमपि जीवेज्जीवित नाथो भवेत्तस्याः ॥

—**दशरूपक**, पृष्ठ ११७

हे दूति ! उठ, यहाँ से चलें। एक पहर बीत गया, फिर भी वह नही आये। जो इसके बाद भी जीयेगी उसके वह प्राणनाथ होंगे।

[४०] **वासकसज्जा**—

तल्प कल्पय दूति ! पल्लवकुलैरन्तर्लतामण्डपे
निर्बन्धं मम पुष्पमण्डनविधौ नाद्यापि किं मुंचसि ?
पश्य क्रीडदमन्दमन्धतमसं वृन्दाटवीं तस्तरे
तद्गोपेन्द्रकुमारमत्र मिलितप्रायं मनः शङ्कते ॥

—**पद्यावली**, २१२

हे दूति ! इस लतामण्डप मे पल्लवो के द्वारा शय्या की रचना करो, एवं पुष्पो के द्वारा मेरा शृंगार करने के प्रकार में अपना आग्रह अब भी क्यों नहीं त्यागती है ? देख, खेल सा करते हुए गाढ अन्धकार ने सारे वृन्दावन को आच्छादित कर दिया । अतः गोपेन्द्रकुमार प्राय यहाँ समीप में ही आ गये हैं, मेरा मन ऐसी आशंका करता है ।

[४१] **स्वाधीनभर्तृका—**

अस्माकं सखि वाससी न रुचिरे, ग्रैवेयकं नोज्ज्वलं,
नो वक्रा गतिरुद्धतं न हसितं, नैवास्ति कश्चिन्मदः ।
किंत्वन्येऽपि जना वदन्ति सुभगोऽप्यस्याः प्रियो नान्यतो
दृष्टिं निक्षिपतीति विश्वमियता मन्यामहे दुःस्थितम् ॥

—**साहित्यदर्पण**, पृष्ठ ९९

हे सखि, न तो तेरे वस्त्र ही रमणीय है और न गले का भूषण उज्ज्वल है । न वक्र गति है और उद्धत हँसी ही है—तात्पर्य यह है कि प्रियतम को रिझाने वाली कोई बात नहीं है किन्तु और लोग भी यही कहते हैं (मैं तो जानती ही हूँ) कि "सुन्दर होने पर भी इसका प्रियतम दूसरी स्त्रियो की ओर दृष्टि भी नही डालता" बस, मैं तो इसी से संसार भर को दुःख में समझती हूँ ।

[४२] **कलहान्तरिता—**

अनालोच्य प्रेम्णः परिणतिमनादृत्य सुहृद-
स्त्वयाकाण्डे मानः किमिति सरले ! प्रेयसि कृतः ?
समाकृष्टा ह्येते विरहदहनोद्भासुरशिखाः,
स्वहस्तेनाङ्गारास्तदलमधुनारण्यरुदितैः ॥

—**अमरुशतक**, ८०

हे सरले ! तुमने प्रेम के परिणाम की आलोचना न करके एवं सुहृदों का अनादर करके, असमय मे ही अपने प्यारे के विषय मे मान क्यो धारण कर लिया ? हाय हाय ! तूने तो अपने हाथो से ही विरह रूप अग्नि से देदीप्यमान शिखा वाले इन मानरूप अंगारों को आकृष्ट कर लिया । अतः अब अरण्यरोदन से क्या प्रयोजन ?

[४३] **प्रोषितभर्तृका—**

तां जानीथाः परिमितकथां जीवितं मे द्वितीयं,
दूरीभूते मयि सहचरे चक्रवाकीमिवैकाम ।
गाढोत्कण्ठां गुरुषु दिवसेष्वेषु गच्छत्सु बालां
जातां मन्ये शिशिरमथितां पद्मिनी वान्यरूपाम् ॥

—**मेघदूत**, उत्तरमेघ, २०

हे प्रियमित्र पयोद ! मुझ सहचर के दूरवर्ती होने पर चकवी की तरह अल्पभाषिणी और अकेली उसको तुम मेरा दूसरा जीवन जान लो । गाढ़ी उत्कण्ठावाली वह युवती विरह के कारण दीर्घ इन दिनों के बीतने पर पाले से पीड़ित कमलिनी की भाँति दूसरे ही रूप को प्राप्त हो गयी होगी मैं ऐसा समझता हूँ ।

[४४] **विरहोत्कण्ठिता**—

सखि ! स विजितो वीणावाद्यैः कयाप्यपरस्त्रिया
पणितमभवत्ताभ्यां तत्र क्षपाललितं ध्रुवम् ।
कथमितरथा शेफालीषु स्खलत्कुसुमास्वपि
प्रसरति नभोमध्येऽपीन्दौ .प्रियेण विलम्ब्यते ?

—**पद्यावली**, २१३

हे सखि ! मुझे तो अनुमान होता है कि हमारे प्रिय आज किसी अन्य स्त्री से वीणा के वाद्य मे पराजित हो गये है, और उन दोनो के द्वारा यह बाजी लग गयी होगी कि जो हार जायेगा उसको आज की रात्रि का मगलमय महोत्सव मनाना होगा । यह मेरा निश्चित सिद्धान्त है । अन्यथा शेफाली (हारसिगार) के सारे पुष्प झड़ जाने पर और चन्द्रमा के आकाश के मध्य मे पदार्पण करने पर भी हमारे प्रिय क्यो विलम्ब करते ?

[४५] **अभिसारिका**—

उत्क्षिप्तं करकङ्कणद्वयमिदं बद्धा दृढ़ मेखला
यत्नेन प्रतिपादिता मुखरयोर्मञ्जीरयोर्मूकता ।
आरब्धे रभसान्मया प्रियसखि क्रीड़ाभिसारोत्सवे
चण्डालस्तिमिरावगुण्ठनपटक्षेपं विधत्ते विधुः ।।

—**साहित्यदर्पण**, पृष्ठ १२०

हाथ के कङ्कण ऊपर को चढ़ाये । ढीली कर्धनी कसके बाँधी । मुखर-मञ्जीरों का बजना जैसे तैसे रुका । हे प्रियसखि, इतना कहके ज्योंही मैंने क्रीड़ा के लिए अभिसरण प्रारम्भ किया है, त्योंही देखो, यह चण्डाल चन्द्रमा अन्धकार रूप परदे को हटा रहा है ।

[४६] **नाट्यशास्त्र**, २४, २१०-२३१ ।

## पंचम अधिकार

[१] तुलना—**नाट्यशास्त्र**, २५, ४३-५२ तथा
**नाटकलक्षणरत्नकोश**, पृष्ठ २२५-२२७ ।

[२] तुलना—**नाट्यशास्त्र**, २५, ४-७ ।

[३] तुलना—**नाट्यशास्त्र**, २५, १ ।

[४] तुलना—**नाट्यशास्त्र**, २४, २९७-३१४ ।

[५] तुलना—**नाट्यशास्त्र**, २४, ९९-१४५ ।

[६] **स्वस्तिकहस्त**—

खटकास्यौ पताकौ वा यद्वारालौ करौ यदा ।
मणिबन्धस्थितौ स्यातामितरेतरपार्श्वगौ ।।
उत्तानौ वामभागस्थौ यद्वा हृदयसंस्थितौ ।
तदा करः स्वस्तिकाख्योऽशोकमल्लेन कीर्तितः ।।

—**नृत्याध्याय**, अशोकमल्ल, इलाहाबाद, १९६९, २४३-२४४

यदि दोनों खटकामुख हस्तों या पताक हस्तों अथवा अराल हस्तो को

एक-दूसरे की बगल मे करके उनकी कलाइयो को बाँध कर उत्तान करके बायी ओर या हृदय पर रख दिया जाय, तो उस मुद्रा को अशोकमल्ल ने 'स्वस्तिक-हस्त' के नाम से कहा है।

[७] तुलना—**नाट्यशास्त्र**, २४, १५२-१६७।

[८] **साचि**—

तत् साचि यत् तिरश्चीनं पक्ष्मप्राप्तकनीनिकम्। —**नृत्याध्याय**, ५०२

यदि बरौनियों की ओर तारो को घुमाकर तिरछी चितवन से देखा जाय तो उसे 'साचि' कहते है।

[९] **सम**—

मध्यस्थतारकं सौम्य दर्शन सममीरितम्। —**नृत्याध्याय**, ५०१

यदि तारो को बीच मे अवस्थित करके सौम्य दृष्टि से देखा जाय तो उसे 'सम' कहते है।

[१०] **चलन**—

कम्पन चलनं ज्ञेयम्। —**नृत्याध्याय**, ४९५

तारों का काँपना 'चलन' कहलाता है।

[११] **आलोकित**—

यदीक्षण स्वभावस्थमुक्तमालोकित हि तत्। —**नृत्याध्याय** ५०६

स्वाभाविक स्थिति मे रहकर दृष्टिपात करना 'आलोकित' कहलाता है।

[१२] **उन्मीलन व मीलन**—

यदि दोनो पलकों को खोल दिया जाय तो 'उन्मीलन' और बन्द कर दिया जाय तो 'मीलन' कहलाता है। —**नृत्याध्याय**, ४८९

[१३] **अवलोकित**—

अधस्ताद्दर्शनं यत् स्यादवलोकितमीरितम्। —**नृत्याध्याय**, ५०४

नीचे पृथ्वी की ओर तारना 'अवलोकित' कहलाता है।

[१४] **लुठन**—

पलकों के भीतर तारों को मण्डलाकार में घुमाना 'लुठन' कहलाता है। —**नृत्याध्याय**, ४९४

[१५] **भ्रुकुटी**—

द्वितीयया सहामूलोत्क्षिप्ता भ्रूकुटिना ? (भ्रभ्रु कुटी) रुषि।

—**नृत्याध्याय**, ४८१

यदि एक भौ दूसरी भौ के साथ जड़ के ऊपर उठा दी जाय अर्थात् खूब तान दी जाय तो उसे 'भ्रुकुटी' कहते है। क्रोध के अभिनय में उसका विनियोग होता है।

[१६] **पतिता**—

पतिता भ्रूरधः प्राप्ता सद्वितीया क्रमेण वा। —**नृत्याध्याय**, ४७९

यदि दोनो भौ एक साथ या क्रमशः एक-एक करके नीचे झुकादी जायें तो उन्हे 'पतिता' कहा जाता है।

[१७] **विलोकित**—

तद् विलोकितमाख्यातं पृष्ठतो यन्निरीक्षणम्। —**नृत्याध्याय**, ५०५

तारो को घुमाकर पीछे देखना 'विलोकित' कहलाता है।

[१८] **निष्क्राम**—

निष्क्रामो निर्गमः प्रोक्तः —**नृत्याध्याय**, ४९६

तारो का बाहर निकलना 'निष्क्राम' कर्म कहलाता है।

[१९] **कुञ्चित**—

अन्वर्थौ कुञ्चितौ स्यातामनिष्टे प्रेक्षणे रसे।
गन्धे स्पर्शे तथा प्रोक्तौ वीरसिंहसुसूनुना ॥

—**नृत्याध्याय**, ४८६

सिकुड़ी हुई पलकें 'कुञ्चित' कहलाती है। अनिष्ट, निरीक्षण, रस, गन्ध तथा स्पर्श के अभिनय मे उनका विनियोग होता है।

[२०] **समुद्वृत्त**—

समुद्वृत्तं समुन्नतम्। —**नृत्याध्याय**, ४९६

तारो को ऊपर की ओर घुमाना या उन्नत करना 'समुद्वृत्त' कहलाता है।

[२१] **सम**—

पुरौ साहजिकौ स्याता समौ सहजगोचरौ। —**नृत्याध्याय**, ४८३

स्वाभाविक स्थिति में विद्यमान पलकें 'सम' कही जाती है। स्वाभाविक स्थिति के प्रदर्शन मे उनका विनियोग होता है।

[२२] **पात**—

पातोऽधोगमनम्। —**नृत्याध्याय**, ४९५

तारों को नीचे गिराना 'पात' कहलाता है।

[२३] **प्रवेशन**—

—अथ तत् स्यात् प्रवेशनम्।
पुटान्तरे प्रवेशो यः···· ·॥ —**नृत्याध्याय**, ४९५-९६

तारों का पलकों के भीतर प्रवेश करना 'प्रवेशन' कहलाता है।

[२४] तुलना—**नाट्यशास्त्र**, ८, ३८-१२०।

## षष्ठ अधिकार

[१] (क) तुलना—अङ्गेनाङ्गी रसः स्वेच्छावृत्तिवर्धितसम्पदा।
अमात्येनाविनीतेन स्वामीवाभासतां व्रजेत् ॥

—**रसार्णवसुधाकर**, २, २९३

अग-रस को स्वेच्छापूर्वक अगी रस से अधिक प्रतिष्ठा देना ही 'रसाभास' है, जैसे अमात्य का स्वामी के समान आचरण करना अनुचित समझा जाता है।

(ख) **रसाभास**—

'अनौचित्यादृते नान्याद् रसभङ्गस्य कारणम्।'

—**ध्वन्यालोक**, ज्ञानमण्डल, वाराणसी, सं० २०१९, पृष्ठ १९०

आचार्य अभिनव गुप्त ने कहा है कि अनौचित्य के साथ प्रवृत्त स्थायी-भाव का आस्वाद ही 'रसाभास' है—

'औचित्येन प्रवृत्तौ चित्तवृत्तेरास्वाद्यत्वे स्थायिन्या रसौ व्यभिचारिण्या भावः, अनौचित्येन तदाभासः।"

—**ध्वन्यालोक**, सं० कुप्पुस्वामी, मद्रास, १९४४, पृष्ठ १४४

मम्मट के अनुसार रस का अनुचित प्रवर्तन ही 'रसभास' है—

'तदाभासा अनौचित्यप्रवर्तिताः।' —**काव्यप्रकाश**, पृष्ठ १२१

रुय्यक ने अनौचित्य को 'रसाभास' कहा है—

'तदाभासो रसाभासो भावाभासश्च। आभासत्वमविषयप्रवृत्यानौचित्यम्।

—**अलंकारसर्वस्व**, डा० रेवाप्रसाद द्विवेदी, चौखम्बा प्रकाशन, १९७१, पृष्ठ ६९२

विश्वनाथ कहते है कि रस का अनुचित रूप से वर्णन 'रसाभास' कहलाता है।

'अनौचित्यप्रवृत्तत्वं आभासो रसभावयोः।'

—**साहित्यदर्पण**, पृष्ठ १९९

पण्डितराज जगन्नाथ जहाँ रस का आलम्बन विभाव अनुचित हो वहाँ उसे 'रसाभास' कहते है—

'अनुचितविभावालम्बनत्वं रसाभासत्वम्।

—**रसगंगाधर**, पृष्ठ ११९

[२] (क) तुलना—**शृंगारप्रकाश**, तेरहवाँ प्रकाश, पृष्ठ ११४२ तथा **सरस्वती-कण्ठाभरण**, ५, ७७-८२।

(ख) सम्भोग चार प्रकार का होता है—प्रथमानुरागानन्तर, मानानन्तर, प्रवासानन्तर तथा करुणानन्तर। 'सम्भोग' शब्द 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'भुज' धातु से भाव अर्थ में घञ् प्रत्यय होकर निष्पन्न होता है। 'सम्' उपसर्ग के चार अर्थ होते हैं—

(i) संक्षेप अर्थ में—सम्प्रीयते कथा गायकेन, गायक के द्वारा कथा अच्छी तरह प्रसन्न की जाती है।

(ii) संकर अर्थ मे—संसृज्यते सूपो लवणेन, सूप नमक से अच्छी तरह बनाया जाता है।

(iii) सम्पूर्ण अर्थ में—संह्रियते याग उपकरणौः, यज्ञ सामग्री से पूर्ण किया जाता है।

(iv) सम्यक् अर्थ में—सप्रयुज्यते दयित. कान्तया—प्रिय कान्ता के द्वारा भली-भाँति प्रयोग किया जाता है।

'भुज्' धातु चार अर्थो में प्रयुक्त होती है—

(i) पालन अर्थ मे—पृथ्वी भुनक्ति राजा, राजा पृथ्वी का पालन करता है।

(ii) कौटिल्य अर्थ में—मूलानि विभुजति रथः, रथ मूल को मोड़ता है।

(iii) अभ्यवहार अर्थ में—ओदनं भुङ्क्ते माणवकः, माणवक भात खाता है।

(iv) अनुभव अर्थ मे—सुखमुपभुङ्क्ते नागरिक., नागरिक सुख का उपभोग करता है।

इस प्रकार सम्भोग के निम्न-रूप होते है :

| | सम्भोग के भेद | प्रकृत्यर्थ | उपसर्गार्थ |
|---|---|---|---|
| १. | प्रथमानुरागानन्तर | पालन | सक्षेप |
| २. | मानानन्तर | कौटिल्य | सकर |
| ३. | प्रवासानन्तर | अभ्यवहार | सम्पूर्ण |
| ४. | करुणानन्तर | अनुभव | सम्यक् |

(१) नवीन अनुराग में युवक-युवती के बीच उपचार संक्षिप्त होता है और सम्भोग इस अवस्था में पाल्य होता है। जैसे—

मधुद्विरेफः कुसुमैकपात्रे पपौ प्रिया स्वामनुवर्तमान।
शृगेण सस्पर्शनिमीलिताक्षी मृगीमकण्डूयत कृष्णसारः ॥

—**कुमारसम्भव** ३, ३६

भौरा अपनी प्यारी भौरी के साथ एक ही फूल की कटोरी मे मकरन्द पीने लगा। काला हरिण अपनी उस हरिणी को सीग से खुजलाने लगा जो उसके स्पर्श का सुख लेती हुई आँख मूँदे बैठी थी।

(२) प्रेम की गति स्वतः कुटिल होती है, मान के बाद तो प्रेम और कुटिल हो जाता है। इस प्रकार यहाँ संकीर्णता आ जाती है। जैसे—

ददौ रसात्पङ्कजरेणुगन्धि गजाय गण्डूषजल करेणुः।
अर्द्धोपभुक्तेन बिसेन जाया संभावयामास—रथाङ्गनामा ॥

—**कुमारसम्भव**, ३, ३७

हथिनी बडे प्रेम से कमल के पराग में बसा हुआ सुगन्धित-जल अपनी सूँड से निकालकर अपने हाथी को पिलाने लगी और चकवा भी आधी कुतरी हुई कमल की नाल लेकर चकवी को भेट करने लगा।

(३) जब प्रिय प्रवास (यात्रा) पर जाता है, तो प्रिय-प्रियतमा—दोनो व्रत की तरह दूरी का अनुभव करते है, और जब दोनों एक दीर्घ अवधि के बाद मिलते है तो व्रत-पारणा (वृत्तान्तभोजन) का सा अनुभव करते है। इस प्रकार यहाँ सम्पूर्णता रहती है। जैसे—

गीतान्तरेषु श्रमवारिलेशैः किंचित्समुच्छ्वासितपत्रलेखम्।
पुष्पासवाघूर्णितनेत्रशोभि प्रियामुखं किम्पुरुषश्चुचुम्ब ॥

—**कुमारसम्भव**, ३, ३८

किन्नर लोग गीतों के बीच में ही अपनी प्रियतमाओं के वे मुख चूमने लगे जिन पर थकावट के कारण पसीना छा गया था, जिन पर चीती हुई चितकारी लिप गयी थी और जिनके नेत्र फूलों की मदिरा से मतवाले होने के कारण बडे लुभावने लग रहे थे।

(४) जब मृतप्रायः प्रिय पुनरुज्जीवन प्राप्त करता है, और दोनों—प्रिय एव प्रियतमा परस्पर मिलते हैं, तब वे दोनों भलीभाँति आनन्द का अनुभव करते हैं। जैसे—

पर्याप्तपुष्पस्तवकस्तनाभ्य स्फुरत्प्रवालौष्ठमनोहराभ्यः।
लतावधूभ्यस्तरवोऽप्यवापुर्विनम्रशाखाभुजबन्धनानि।

—**कुमारसम्भव** ३, ३९

वृक्ष भी अपनी झुकी हुई डालियों को फैला-फैलाकर उन लताओं से

लिपटने लगे जिनके बड़े-बड़े फूलों के गुच्छों के रूप में स्तन लटक रहे थे और पत्तो के रूप में जिनके सुन्दर ओठ हिल रहे थे ।

(द्रष्टव्य—Bhoja's *Srngara Prakasa*, by V. Raghavan pp. 643-645).

[३] तुलना—**सरस्वतीकण्ठाभरण**, ५, ८४-८७ ।

[४] **उत्क्षिप्ता**—

अन्वर्थलक्षणोत्क्षिप्ता क्रमाद्वाथान्यया सह ।
कोपे स्त्रीणा वितर्के च श्रवणे दर्शने निजे ॥
लीलादावपि हेलायां नियोज्यैषा मनीषिभि ॥ —**नृत्याध्याय**, ४७७

यदि भौहों को क्रमशः अथवा एक के साथ दूसरी को (अर्थात् एक साथ) ऊपर उठाया जाय तो उसे 'उत्क्षिप्ता' कहा जाता है । स्त्रियो के कोप, तर्क-वितर्क, श्रवण, आत्मदर्शन, लीला और अवज्ञा के भावों के अभिव्यंजन में मनीषियों ने उसका प्रयोग बताया है ।

[५] **त्रिपताक हस्त**—

अनामिका पताकस्य यदा वक्रा प्रजायते ।
त्रिपताकस्तदा प्रोक्तोऽशोकमल्लेन भूभुजा ॥ —**नृत्याध्याय**, १०७

यदि पताक हस्त मुद्रा मे अनामिका उँगली (के अगले दो पोरों) को झुका दिया जाय तो नृपति अशोकमल्ल के अनुसार उसे 'त्रिपताक हस्त' कहा जाता है ।

[६] **आकेकरा**—

आकुञ्चितपुटापाङ्गा सङ्गतार्धनिमेषिणी ।
मुहुर्व्यावृत्ततारा च दृष्टिराकेकरा स्मृता ॥

—**भाव-प्रकाशन** जी. ओ. एस. पृष्ठ १२९

[७] तुलना—**दशरूपक**, ४, ३४ ।

[८] तुलना—**दशरूपक**, ४, ३६ ।

[९] तुलना—**दशरूपक**, ४, ३७ ।

[१०] तुलना—तत्राभिधाविवक्षातात्पर्यप्रविभागव्यपेक्षासामर्थ्यान्वयैकार्थीभावदोष-हानगुणोपादानालङ्कारसावियोगरूपाः शब्दार्थयोर्द्वादश समर्थाः साहित्य-मित्युच्यते ।

—**शृंगारप्रकाश**, सातवाँ प्रकाश, पृष्ठ २२३

[११] गतः स कालो यत्रासीन्मुक्तानां जन्म वल्लिषु ।
वर्त्तन्ते साम्प्रत्तं तासां हेतवः शुक्तिसम्पुटाः ॥

—**शृंगारप्रकाश**, सातवाँ प्रकाश, पृष्ठ २४०

वह समय बीत गया जब मोतियों का जन्म लताओं में होता था अब तो उनका जन्म सीपियों के सम्पुट में होता है ।

[१२] युष्मच्छासनलङ्घनांभसि मया मग्नेन नाम स्थितं,
प्राप्ता नाम विगर्हणा स्थितिमतां मध्येऽनुजानामपि ।
क्रोधोल्लासितशोणितारुणगदस्योच्छिन्दतः कौरवा—
नद्यैकं दिवसं ममासि न गुरुः नाहं विधेयस्तव ॥ —**वेणीसंहार**, १, १२

हे युधिष्ठिर ! आज तक मे आपकी आज्ञा को पार करने रूप जल मे डूबा रहा और आपकी आज्ञा में स्थित छोटे भाइयों द्वारा भी तिरस्कृत होता रहा किन्तु क्रोध से उल्लसित रक्त से लाल रंग की गदा वाले तथा कौरवों का नाश करने वाले मेरे आप आज दिन न तो गुरू रहे और न मैं आज्ञाकारी ।

[१३] मथ्नामि कौरवशत समरे न कोपा–
दुश्शासनस्य रुधिर न पिबाम्युरस्तः ।
सञ्चूर्णयामि गदया न सुयोधनोरु,
सन्धि करोतु भवतां नृपतिः पणेन ॥ —**वेणीसहार**, १, १५

क्या मैं युद्ध मे क्रोध से सौ कौरवों का मर्दन न कर डालूँगा ? हृदय प्रदेश से क्या दु शासन का रक्तपान न करूँगा ? क्या में गदा से दुर्योधन की जाँघ का चूर्ण न बना डालूँगा ? आप लोगों के राजा (युधिष्ठिर) शर्त के साथ सन्धि करें (अर्थात् मै तो सन्धि नही करता) ।

[१४] लाक्षागृहानलविषान्नसभाप्रवेशैः
प्राणेषु वित्तनिचयेषु च नः प्रहृत्य ।
आकृष्टपाण्डववधूपरिधानकेशा.
स्वस्था भवन्तु मयि जीवति धार्तराष्ट्रा. ॥
—**वेणीसंहार**, १, ७

अरे ! पापी दुष्ट ! व्यर्थ मंगलपाठकारी ! नशे में नीच जिन धृतराष्ट्र के पुत्रो ने लाखनिर्मित महल, विषमिश्रित आहार तथा द्युतक्रीडार्थ सभागृह-प्रवेशों के द्वारा हम लोगों के प्राण और धन के अपहरण की चेष्टा करके द्रोपदी के वस्त्र और केशों को खींचा है वे मेरे जीते रहते हुए स्वस्थ हों ? कदापि नही ।

[१५] नवजलधर: सन्नद्धोऽयं न दृप्तनिशाचरः,
सुरधनुरिदं दूराकृष्टं न नाम शरासनम् ।
अयमपि पटुः धारासारो न बाणपरम्परा,
कनकनिकषस्निग्धा विद्युत्प्रिया न ममोर्वशी ॥ —**विक्रमोर्वशीय**, ४, ७

उद्यत यह नवीन बादल क्या उत्तेजित राक्षस तो नही ? यह इन्द्र-धनुष क्या दूर तक खींचा हुआ धनुष तो नहीं ? क्या यह मेघ-वृष्टि है ? या वाण-वृष्टि तो नही ? क्या यह स्वर्ण-कसौटी के समान स्निग्ध विद्युत है ? क्या यह मेरी प्रिया उर्वशी नहीं ।

[१६] सहभृत्यगणं सबान्धवं सहमित्रं ससुतं सहानुजम् ।
स्वबलेन निहन्ति संयुगे न चिरात्पाण्डुसुतः सुयोधनम् ॥ —**वेणीसंहार**, २, ५

पाण्डुनन्दन अपने पराक्रम से भाई, बन्धु, पुत्र तथा नौकरचाकर के साथ सुयोधन का शीघ्र वध करेगा ।

[१७] त्व जीवित त्वमसि मे हृदय द्वितीयं
त्व कौमुदी नयनयोरमृतं त्वमगे ।
इत्यादिभिः प्रियशतैरनुरुध्य मुग्धां
तामेव शान्तमथवा किमतः परेण ॥ —**उत्तररामचरित**, ३

'तुम मेरी प्राण हो, तुम मेरा दूसरा हृदय हो, तुम मेरे नेत्रों के लिए कौमुदी हो और तुम मेरे अंगों में अमृत हो।'—इत्यादि सैकडों चापलूसी भरे वाक्यों से उस भोली-भाली को वहकाकर आपने उसी को ...... अथवा रहने दो इससे आगे कहने से क्या लाभ ?

[१८] दिङ्मातंगघटाविभक्तचतुराघाटा मही साध्यते
सिद्धा साऽपि वदन्त एव हि वयं रोमांचिताः पश्यत ।
विप्राय प्रतिपाद्यते किमपरं रामाय तस्मै नमो,
यस्मादाविरभूत्कथाद्भुतमिद यत्रैव चास्तं गतम् ॥

—**भट्टप्रभाकरस्य, औचि—चर्चा**

जिसकी चार सीमाएँ चारो दिग्गजो तक पहुँची हुई है वह सम्पूर्ण पृथ्वी जीती जाती है !! और वह सब जीती हुई—देखो कहते-कहते हमारे रोमांच हो रहे है—ब्राह्मण को दे दी जाती है !!! यह अद्भुत कथा जिससे उत्पन्न हुई और जिसके साथ ही अस्त हो गई—और क्या कहें—उस अद्वितीय परशुराम को नमस्कार है।

[१९] प्रत्यग्रारिकृताभिमन्युनिधनप्रोद्भूततीव्रक्रुध·
पार्थस्याकृतशात्रवप्रतिकृतेरन्त· शुचा मुह्यतः ।
कीर्णा वाष्पकणैः पतन्ति धनुषि व्रीडाजडा दृष्टयो
हा वत्सेति गिरः स्फुरन्ति न पुनर्निर्यान्ति कण्ठाद्वहिः ॥

—**शा. प. निशानारायणस्य**

[२०] एद्दहमेत्तत्थणिआ एद्दहमेत्तेहिं अच्छिवत्तेहि ।
एद्दहमेत्तावस्था एद्दहमेत्तेहिं दिअएहि ॥ —**काव्य-प्रकाश**, पृष्ठ, ६७

इतने वड़े स्तनो वाली, इतनी बड़ी आँखो (से उपलक्षित वह तरुणी) इतने दिनों मे ऐसी हो गयी।

[२१] तुलना—**ध्वन्यालोक**, १, १३।

[२२] शान्त्यै वोऽस्तु कपालदाम जगतां पत्युर्यदीयां लिपि
क्वापि क्वापि गणाः पठन्ति पदशो नातिप्रसिद्धाक्षराम् ।
विश्वं स्त्रक्ष्यति वक्ष्यति क्षितिमपामीशिष्यते शिष्यते,
नागैरागिषु रंस्यतेऽत्स्यति जगन्निर्वेक्ष्यति द्यामिति ॥

—**सरस्वतीकण्ठाभरण**, पृष्ठ २३०

[२३] भम धम्मिअ वीसत्थो सौ सुणऔ अज्ज भारिओतेण ।
गोलाअडविअडकुडंगवासिणा दरिअसीहेण ॥ —**गाथासप्तशती**, २, ७५

पण्डित जी ! गोदावरी के किनारे कुञ्ज में रहने वाले मदमत्तसिंह ने आज उस कुत्ते को मार डाला है, अब आप निश्चिन्त होकर घूमिये।

[२४] लावण्यसिन्धुरपरैव हि केयमत्र,
यत्रोत्पलानि शशिना सह सप्लवन्ते ।
उन्मज्जति द्विरदकुम्भतटी च यत्र,
यत्रापरे कदलिकाण्डमृणालदण्डाः ॥

—वामन रचित **काव्यालंकार**, ४, ३-४, वाराणसी, १९७१

यहाँ यह नयी कौनसी लावण्य की नदी आ गयी है, जिसमें चन्द्रमा के

साथ कमल तैरते है, जिसमे हाथी की गण्डस्थली उभर रही है और जहाँ कुछ और ही प्रकार के कदलीकाण्ड तथा मृणालदण्ड दिखाई देते है ।

[२५] भक्तिप्रह्वाय दातु मुकुलपुटकुटीकोटरक्रोडलीना,
लक्ष्मीमाक्रष्टुकामा इव कमलवनोद्घाटन कुर्वते ये ।
कालाकारान्धकाराननपतितजगत्साध्वसध्वसकल्या. ।
कल्याण व: क्रियासु: किसलयरुचयस्ते करा भास्करस्य ॥—**सूर्यशतक**, ३

भक्ति मे नम्रजनो को प्रदान करने के लिए मानो मुकुल-पुट-कुटी के अन्दर संश्लिष्ट लक्ष्मी को अपनी ओर आकर्षित करने की इच्छा से ही कमल-समूहों का उद्घाटन करने वाली, काल तुल्य आकार वाले तम के मुख मे पतित भुवन-भय को नष्ट करने मे समर्थ एव नवपल्लव के समान कान्ति-वाली भगवान सूर्य की किरणें आपका कल्याण करें ।

[२६] दत्तानन्दा: प्रजाना समुचितसमयाकृष्टसृष्टै. पयोभि:
पूर्वाह्णे विप्रकीर्णा दिशि दिशि विरमत्यह्नि संहारभाजः ।
दीप्ताशोर्दीर्घदु खप्रभवभवभयोदन्वदुत्तारनावो
गावो व पावनानां परमपरिमितां प्रीतिमुत्पादयन्तु ॥ —**सूर्यशतक**, ९

समुचित समय मे आकृष्ट तथा पुन प्रदत्त जल के द्वारा प्रजाओ को आनन्द प्रदान करने वाली, दिन के पूर्वार्ध में प्रत्येक दिशा मे फैलकर दिवसा-वसान के समय सहृत होने वाली एव अत्यधिक दु.ख के उत्पत्ति-स्थान संसार से भयरूपी समुद्र के लिए नौका बनने वाली, आदित्य की रश्मियाँ आप समस्त पवित्र-जनों को अपरिमित प्रीति प्रदान करें ।

[२७] तुलना—**दशरूपकावलोक**, पृष्ठ २४१ ।

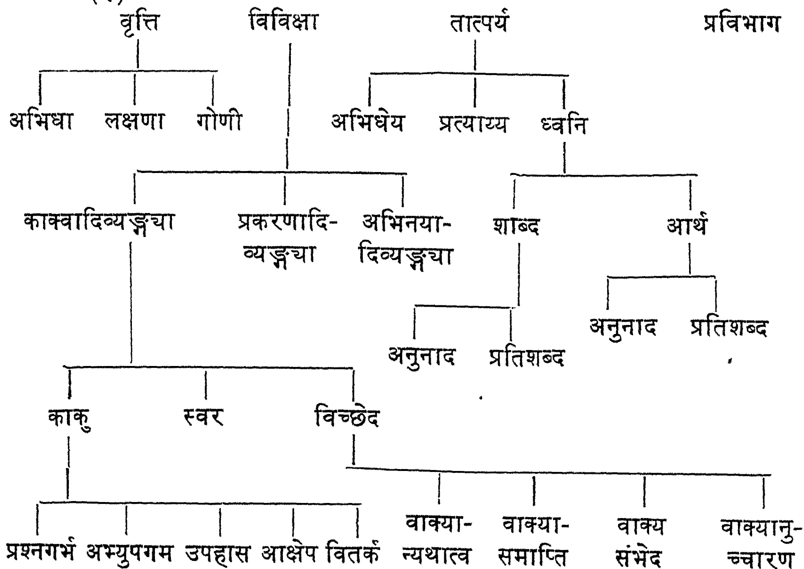
[२८] तुलना—**दशरूपकावलोक**, पृष्ठ २५० ।

[२९] तुलना—**शृंगारप्रकाश**, सातवाँ प्रकाश—ग्यारहवाँ प्रकाश, पृष्ठ २२३-४७० ।

[३०] (क) तुलना—**दशरूपक**, ४, ३८-३९ ।

(ख) शब्दार्थ-सम्बन्ध की भेदोपभेद तालिका निम्नवत् होगी :

(१)



(२) व्यपेक्षा, सामर्थ्य, अन्वय, एकार्थभावना।

(३) दोषहान, गुणोपादान (गुणदान), अलंकार-योग तथा रसावियोग।

[३१] शब्दार्थ-सम्बन्ध का भेद-वृक्ष इस प्रकार का होगा—

(१) **शब्द**—(i) वाचक, (ii) लक्षक, (iii) व्यंजक, (iv) गमक, (v) प्रत्यायक, (vi) द्योतक।

(२) **अर्थ**—(i) वाच्य, (ii) लक्ष्य, (iii) व्यंग्य, (iv) गम्य, (v) प्रत्याय्य, (vi) द्योत्य।

(३) **वृत्ति**—(i) अभिधा, (ii) लक्षणा, (iii) व्यक्ति, (iv) गति (v) प्रतीति, (vi) द्युति।

[३२] महाभाष्यकार के समर्थक केवल जाति शब्दवादियों को उत्तर देते हुए कहते हैं कि गुण-शब्द, क्रिया-शब्द आदि का ग्रहण जाति शब्द के रूप मे नहीं किया जा सकता। क्योंकि पय, शंख, बलाका आदि शुक्ल गुण परमार्थतः भिन्न-भिन्न नही है। उनमें भिन्नता आश्रय-भेद से जान पड़ती है जैसे एक ही मुख का प्रतिबिम्ब खड्ग, मुकुर आदि आश्रय-भेद से भिन्न-भिन्न जान पड़ती है। वस्तुतः शुक्ल एक ही है। शुक्ल व्यक्ति के एक ही होने के कारण अनेक मे समवाय सम्बन्ध से रहने वाली जाति का लक्षण गुण शब्दों में घट ही नहीं सकता। इसी तरह क्रिया भी आश्रय-भेद से भिन्न-भिन्न जान पड़ती है वस्तुतः वह भी एक ही है। इसलिए केवल जाति शब्द न मानकर भाष्योक्त मत स्वीकार करना चाहिए (गुणक्रियायदृच्छाशब्दानामपि जातिशब्दत्वाच्चतुष्टयी शब्दप्रवृत्ति नोपपद्यते। अत्राभिधीयते गुण-क्रिया-शब्द-संज्ञिव्यक्तीनामेव तत्तदुपाधिनिबन्धनभेदजुषामेकाकारतावगतिनिबन्धनत्वम्, न तु जातेरिति भगवतो महाभाष्यकारस्यात्राभिमतम्—अभिधावृत्त-मातृका, व्या. डा. रेवाप्रसाद द्विवेदी, चौखम्बा प्रकाशन, १९७३, पृष्ठ ९-१०)।

[३३] नैयायिकों के मत में न केवल जाति में शक्ति-ग्रह स्वीकार किया जा सकता है और न केवल व्यक्तियों में। केवल व्यक्ति में संकेत-ग्रह स्वीकार करने से आनन्त्य, व्यभिचार तथा एकाधिक शब्दों की निरर्थकता दोष आते हैं तो केवल जाति में संकेत-ग्रह स्वीकार करने पर शब्द से केवल जाति की उपस्थिति होने के कारण व्यक्ति का भान शब्द से नहीं हो सकता। जाति में शक्ति मानकर यदि व्यक्ति का भान आक्षेप से स्वीकार किया जाय तो उसका शाब्द-बोध में अन्वय नही हो सकेगा। क्योंकि 'शाब्दी हि आकांक्षा शब्देनैव पूर्यते' इस सिद्धान्त के अनुसार शब्द-शक्ति से लभ्य अर्थ का ही शाब्द-बोध में अन्वय हो सकता है। आक्षेप-लभ्य अर्थ शाब्द-बोध में अन्वित नही हो सकता है। अतः नैयायिकों के मतानुसार केवल व्यक्ति या केवल जाति किसी एक में शक्तिग्रह नही स्वीकार किया जा सकता, बल्कि जाति तथा आकृति से विशिष्ट व्यक्ति पद का अर्थ होता है। यह नैयायिक-सिद्धान्त है। (व्यक्त्याकृतिजातयस्तु पदार्थः—**न्यायसूत्र** २-२-६८, वाराणसी, १९६६)।

[३४] दस घट व्यक्तियो में घटः घटः इस प्रकार की एकाकार प्रतीति का कारण

नैयायिक आदि 'घटत्व-सामान्य' स्वीकार करते हैं। उनका 'सामान्य' या 'जाति' नित्य पदार्थ है क्योंकि 'नित्यत्वे सति अनेकसमवेतत्वम्' यह जाति का लक्षण है, परन्तु बौद्ध दर्शन का प्रथम सिद्धान्त 'क्षणभङ्गवाद' है। बौद्धों के मत मे सब कुछ क्षणिक है। संसार में कोई भी नित्य पदार्थ नही है। इस-लिए वे 'सामान्य' या 'जाति' को नित्य पदार्थ स्वीकार नहीं करते। उनके स्थान पर अनुगत-प्रतीति का कारण, वे 'अपोह' को स्वीकार करते है। 'अपोह' शब्द का अर्थ 'अतद्व्यावृत्ति' अर्थात् 'तदभिन्नभिन्नत्व' है। तत् शब्द से घट आदि का ग्रहण करना चाहिए। 'अतद्' का अर्थ 'अघट' अर्थात् घट भिन्न सम्पूर्ण जगत् उससे भिन्न फिर घट ही होगा। इसलिए प्रत्येक 'घट' अतद्व्यावृत्त या तद्भिन्न से भिन्न है। इसी कारण घट कहलाता है। इस प्रकार प्रत्येक घट मे 'अतद्व्यावृत्ति' या 'तदभिन्नभिन्नत्व' जिसे 'अपोह' भी कहते हैं, होने के कारण ही एकाकार प्रतीति होती है इसलिए बौद्धो के मत मे 'अपोह' ही शब्द का अर्थ होता है, उसी मे संकेत-ग्रह स्वीकार करना चाहिए।

—**काव्यप्रकाश**, बालबोधिनी, पृष्ठ ३८।

[३५] **मुख्यार्थ-बाध**

'मुख्यार्थ' शब्द में प्रयुक्त 'मुख्य' शब्द के दो अर्थ होते है—(अ) मुख= आरम्भ में प्रतीत होने वाला, 'मुखमिव मुख्यः' इस विग्रह से 'शाखादिभ्यो यः' सूत्र से 'य' प्रत्यय होकर 'मुख्य' शब्द सिद्ध होता है। (ब) मुख=प्रधान अर्थात् परम प्रतिपाद्य। किन्तु यहाँ 'मुख्य' का प्रयोग (प्रथम अर्थ) आरम्भ मे प्रतीत होने के कारण किया जाता है; जैसे—शरीर के सारे अवयवों में मुख सबसे पहले दिखाई देता है उसी प्रकार वाच्य, लक्ष्य, व्यङ्ग्य सभी अर्थो मे वाच्यार्थ सबसे पहले उपस्थित होने वाला अर्थ है, इसलिए मुख के समान होने से उसको 'मुख्यार्थ' कहा जाता है; (द्वितीय-अर्थ) परम प्रतिपाद्य अर्थ में नही, जैसा कि मुकुलभट्ट द्वारा प्रयुक्त 'मुख्य' शब्द परमप्रतिपाद्यतारूपी अर्थ भी निकलता है। मम्मट ने 'मुख्यार्थ' को वाच्यार्थ भी कहा, जिसका पर्याय है अभिधेयार्थ अर्थात् अभिधा द्वारा प्रतिपाद्य अर्थ, क्योंकि यह ऐसा शब्द है जिससे अर्थ की परमप्रतिपाद्यतारूपी प्रमुखता की ओर बुद्धि नही जा पाती (यत्र सोऽर्थः पूर्वमुपलभ्यमानत्वात्, न तु विश्रान्तिधामत्वात् मुख्य इति प्रसिद्धो वाच्योऽभिधेयोऽर्थ.।—**शब्द-व्यापारविचार**, व्या. डा. रेवाप्रसाद द्विवेदी, चौखम्वा-प्रकाशन, १९७४, पृष्ठ १)।

मुख्यार्थ क्या है ? साक्षात् संकेतित अर्थ 'मुख्यार्थ' कहलाता है ('स इति साक्षात् संकेतितः'—**काव्यप्रकाश**, द्वितीयोल्लास, कारिका ८ की वृत्ति तथा 'स साक्षात् संकेतित· एवार्थो मुख्यः'—**बालबोधिनी**, पृष्ठ ३९)। जिस शब्द से संकेत ग्रहीत नही रहता उससे अर्थ की प्रतीति नही होती अतः यह सिद्धान्त स्थिर होता है कि शब्द संकेत की सहायता से ही अर्थ की प्रतीति कराता है; इसी कारण 'मुख्यार्थ' या 'वाच्यार्थ' को 'समित-ध्वनि' या 'संकेतित-ध्वनि' कहा है—समित=सम्+इ+त=समय=संकेत से युक्त है ध्वनि=शब्द जिसमें, संकेतित—संकेत+इ+त=समय=संकेत से युक्त है ध्वनि=शब्द जिसमें (जातिः क्रिया गुणः संज्ञा वाच्योऽर्थः समितध्वनिः। अग्रहीतसकेतस्य

शब्दस्यार्थप्रतिपत्तेरभावात् सकेतसहाय एव शब्दोऽर्थः प्रतिपादयति । तेन समितः सकेतितो ध्वनिः शब्दो··· ····। —**शब्द व्यापार-विचार**, पृष्ठ १ ।

मुख्यार्थ-बाध क्या है ? मुख्यार्थ-बाध से सम्बन्धित दो मत है। १—जहाँ 'अन्वयानुपपत्ति' होती है अर्थात् जहाँ कही मुख्यार्थ का वाक्य के अन्य पदों के अर्थो के साथ अन्वय होने में बाधा होती है, वही मुख्यार्थ-बाध कहा जाता है । २—जहाँ 'तात्पर्यानुपपत्ति' होती है अर्थात् जहाँ कही मुख्यार्थ से तात्पर्य की उपपत्ति नही होती है वही मुख्यार्थ बाध कहा जाता है । प्रथम मत के अनुयायी काव्य-प्रकाश के अधिकाश टीकाकार तथा प्राचीन नैयायिक है; और द्वितीय मत के अनुयायी नव्य नैयायिक तथा वैयाकरण नागेश भट्ट है ।

उपर्युक्त दोनों मतों मे 'लक्षणा' की बीज-रूपा 'अन्वयानुपपत्ति' की अपेक्षा 'तात्पर्यानुपपत्ति' ही अधिक उपयुक्त है । क्यों ? इसके निम्न कारण हैं :

यदि 'अन्वयानुपपत्ति' को लक्षणा का बीज माना जायेगा तो 'यष्टीः प्रवेशय' इस प्रयोग में लक्षण नही हो सकेगी । कोई आदेश देता है कि 'लाठियों को बुलाओ' इसका अभिप्राय यह नही कि लाठियों को ही बुलाओ बल्कि लाठीधारियों (यष्टिधरा.) को बुलाओ । यह वक्ता का अभिप्राय है । यह अभिप्राय 'यष्टीः' पद की 'यष्टिधराः' अर्थ में लक्षणा करने से ही पूरा हो सकता है अन्यथा नही । परन्तु 'यष्टीः प्रवेशय' इस प्रयोग में अन्वयानुपपत्ति' नहीं है । सब पदों का अन्वय बन जाता है। इसलिए 'अन्वयानुपपत्ति' को लक्षणा का बीज मानने पर तो यहाँ लक्षणा का अवसर ही नही रहेगा । अतः 'तात्पर्यानुपपत्ति' को लक्षणा का बीज मानना ठीक है ।

पुनः 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' इस प्रयोग में 'तात्पर्यानुपपत्ति' है । कोई व्यक्ति अपना दही बाहर रखा छोड़कर किसी कार्यवश कही जा रहा है, वह चलते समय अपने साथी से कहता है कि 'जरा कौओं से दही को बचाना' । इसका अभिप्राय केवल कौओं से बचाना ही नही है अपितु कौए, कुत्ते आदि जो कोई दही को बिगाड़ने या खाने का प्रयत्न करें, उन सबसे दही की रक्षा करना, यह वक्ता का अभिप्राय है। यह अभिप्राय 'काक' पद की 'दध्युपघातक' अर्थ मे लक्षणा करने से ही पूरा हो सकता है अन्यथा नही । परन्तु 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' इस प्रयोग में 'अन्वयानुपपत्ति' नहीं है, सब पदों का अन्वय बन जाता है, इसलिए यदि 'अन्वयानुपपत्ति' को ही लक्षणा की बीज माने तो यहाँ लक्षणा का अवसर ही नहीं रह जाता । अतः 'तात्पर्यानुपपत्ति' ही लक्षणा की बीज है ।

इसी प्रकार 'छत्रिणो यान्ति' अर्थात् 'छतरी वाले जा रहे है' इसका अभिप्राय यह नही है कि सभी छतरी वाले लोग जा रहे हैं, बल्कि लक्षणा से 'छत्रिणः' शब्द से यह अर्थ भी होता है कि 'छतरी वाले तथा बिना छतरी वाले' लोग जा रहे है, क्योंकि वक्ता का यही अभिप्राय है। यहाँ भी 'तात्पर्यानुपपत्ति' है ।

पुनः 'विष भुङ्क्ष्व' इस प्रयोग में पिता पुत्र से कहता है कि 'विष खाओ' । इसका अभिप्राय यह नही कि 'विष खाओ और मर जाओ' अपितु

अभिप्राय यह है कि 'शत्रु के घर भोजन करने से तो विष खाओ' अर्थात् शत्रु के घर भोजन नही करना चाहिए। यह अभिप्राय लक्षणा से ही पूरा हो सकता है अन्यथा नहीं। परन्तु इस प्रयोग में 'अन्वयानुपपत्ति' नही है। सब पदों का अन्वय हो जाता है इसलिए यदि 'अन्वयानुपपत्ति' ही लक्षणा का बीज मानें तो यहाँ लक्षणा का अवसर ही नही आता, अतः 'तात्पर्यानुपपत्ति' ही लक्षणा का बीज है।

इन सभी उदाहरणों में 'अन्वयानुपपत्ति' न होने पर भी लक्षणा प्राप्त है, तो लक्षणा का बीज 'अन्वयानुपपत्ति' को ही मानने पर अव्याप्त-दोष आ जाता है, अतः 'तात्पर्यानुपपत्ति' को ही लक्षणा का बीज मानना अधिक उपयुक्त है (तात्पर्यानुपपत्तिर्लक्षणाबीजम्)।

इससे अधिक, जिन वाक्यों में 'अन्वयानुपपत्ति' है वहाँ 'तात्पर्यानुपपत्ति' भी दिखायी जा सकती है; जैसे—'गङ्गायां घोषः', प्रायः इस प्रयोग मे आलङ्कारिक कहते है कि 'गङ्गा' पद के 'जलप्रवाह' रूप मुख्यार्थ में घोष आदि का आधारत्व न होने से 'अन्वयानुपपत्ति' होने पर लक्षणा से 'गङ्गातटे घोषः' समझना चाहिए, परन्तु इस प्रयोग मे जैसे अन्वयानुपपत्ति है उससे कही अधिक 'तात्पर्यानुपपत्ति' भी है। यदि हम गङ्गा से मुख्यार्थ ग्रहण करते है तो 'तात्पर्यानुपपत्ति' के कारण लक्षणा से 'गङ्गा' पद से 'गङ्गातटे' ग्रहण करते हैं। लाघव प्रेम से 'अन्वयानुपपत्ति' की अपेक्षा लक्षणा की बीजरूप 'तात्पर्यानुपपत्ति' ही श्रेयस्कर है। वक्तृतात्पर्य को सिद्ध करने के बहुत से कारण है। इस प्रकार 'गङ्गायांघोषः' मे वक्तृतात्पर्य को सिद्ध करने का एक कारण स्वरूप 'अन्वयानुपपत्ति' सहायक है। 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' में प्रयोजना सिद्धि सहायक है। 'सैन्धवमानय' आदि में प्रकरण, काल, देश सहायक है।

यदि अन्वयानुपपत्ति को ही लक्षणा का बीज माना जाये तो एक और दोष उत्पन्न होता है। जैसे—'गंगायां घोषः' इस प्रयोग में वक्तृ-तात्पर्य होता है कि 'गंगा' पद से 'तीर' अर्थ समझना चाहिए और हम वस्तुतः 'गंगा' पद से 'तीर' लक्ष्यार्थ समझते हैं। अब यदि वक्तृ-तात्पर्य होता है कि 'घोष' शब्द से 'मकर' समझना चाहिए तो घोष से लक्ष्यार्थ 'मकर' होगा। यदि अन्वयानुपपत्ति को लक्षणा का बीज माना जायेगा तो वक्तृतात्पर्य समझने के लिए इस नियम का उल्लंघन हो जायेगा। अतः जब 'गंगा' पद से 'तीर' तथा घोष पद से 'मकर' लक्ष्यार्थ होना चाहिए, तब उसके निश्चय के लिए कोई लक्षण नहीं होगा। इसके लिए 'तात्पर्यानुपपत्ति' को ही लक्षणा का बीज मानना आवश्यक है।

—**काव्य-प्रकाश, बालबोधिनी**, पृष्ठ ४०-४२

[३६] **मुख्यार्थ-सम्बन्ध**—

मुख्यार्थ के साथ सम्बन्ध आचार्य भर्तृहरि ने पांच प्रकार का बताया है इसे क्रमश. अभिधेय, सादृश्य, समवाय, वैपरीत्य और क्रियायोग कहते हैं।

अभिधेयसम्बन्धात् सादृश्यात् समवायतः।
वैपरीत्यात् क्रियायोगाल्लक्षणा पञ्चधा मता॥

इनके जो स्थल मुकुलभट्ट ने बतलाए है, वे निम्नवत् हैं :

(१) सम्बन्धः सामीप्य=जैसे 'गंगायां घोषः', यहाँ 'गंगा' का अर्थ है 'गंगातट' क्योकि वह गंगा के समीप है। यहाँ सम्बन्ध सामीप्य ही है।

(२) सादृश्य='गौर्वाहीकः', जिसमें जड़ता को लेकर सादृश्य के आधार पर बिलूची को बैल कहा गया है।

(३) समवाय='छत्रिणः यान्ति', छतरी है केवल एक हाथ में, परन्तु कहा जा रहा है पूरे समुदाय को छत्रयुक्त। समुदाय के साथ एक व्यक्ति का सम्बन्ध समवाय ही हुआ करता है।

(४) वैपरीत्य='भद्रमुख', बन-ठन कर तैयार बदशकल के लिए प्रयुक्त यह शब्द उलटकर बदशकल रूपी व्यक्ति का बोध होता है। अभद्रमुख और भद्रमुख का सम्बन्ध वैपरीत्य ही हो सकता है।

(५) क्रियायोग='महति समरे शत्रुघ्नस्त्वमिति' यहाँ वीर व्यक्ति पर दशरथ के चतुर्थ पुत्र का आरोप हो रहा है क्योंकि उस पुत्र का वह शत्रु-हनन रूपी कार्य प्रस्तुत वीर पुरुष में भी है, जिसके कारण उसे शत्रुघ्न कहा गया है (शत्रून् हन्तीति शत्रुघ्नः)—(अभिधावृत्तमातृका, पृष्ठ ५०-५७ तथा शब्द-व्यापार-विचार, पृष्ठ ३०)।

[३७] **रूढ़ि या प्रयोजन**—

जैसे 'कर्मणि कुशलः' का अर्थ है कार्य मे दक्ष। 'कुशल' पद का व्युत्पत्तिगत अर्थ इससे भिन्न होता है 'कुशान् लाति आदत्ते वा इति कुशलः' अर्थात् जो कुशा ले आये वह कुशल होगा, कुशल के ले आने में भी किसी न किसी प्रकार की दक्षता रहती ही है। उसी दक्षता को ध्यान में रखकर 'कुशल' का अर्थ उपचार द्वारा 'दक्ष' माना जाने लगा है और 'कुशल' पद इस 'दक्ष' अर्थ में रूढ़ या प्रसिद्ध हो गया है। इस प्रकार यहाँ रूढि या प्रसिद्धि के कारण मुख्य अर्थ से भिन्न जो एक अमुख्य अर्थ की प्रतीति होती है उसकी प्रतीति में शब्द का लाक्षणिक व्यापार ही माना जायेगा।

यदि रूढ़ि नही होगा तो शब्द का कोई न कोई प्रयोजन अवश्य होना चाहिए, जैसे 'गंगायां घोषः' वाक्य में 'गंगा' पद से 'गगा का प्रवाह' अर्थ होगा, परन्तु गंगा के प्रवाह में आधारत्व की क्षमता नहीं है अतः मुख्यार्थ-बाध होगा और इस प्रकार के वाक्य के प्रयोग का कोई न कोई प्रयोजन अवश्य होगा। इससे समीप्यादि, शैत्यपावनत्वादि का बोध माना जायेगा। यदि 'गंगायां' के स्थान पर 'गंगातटे' का प्रयोग करें तो प्रथम 'गंगा' के जलप्रवाह में जो शैत्यपावनत्वादि धर्म है, उनका बोध नही हो पाता है और वक्ता के प्रयोजन, शैत्यादि के प्रति हम अपरिचित रह जाते है। दूसरी बात यह है कि 'गंगातटे' कहने से 'गंगा' के एक सुदूरवर्त्तीप्रदेश का भी अर्थ ज्ञात होता है जहाँ पर जल की शीतलता का कोई प्रभाव नही हो सकता है अतः सिद्ध हुआ कि शैत्यपावनत्व रूप विशेष प्रयोजन का बोध कराने के लिए ही इस प्रकार के शब्द का प्रयोग किया गया है (**काव्य-प्रकाश, बालबोधिनी,** पृष्ठ ४२-४३)।

[३८] यहाँ मम्मट 'लक्षणा' के लक्षण के विषय में आचार्य मुकुलभट्ट से पूर्णतः प्रभावित दिखाई पड़ते हैं। क्योंकि मम्मट ने मुकुलभट्ट के 'मुख्यार्थासम्भव' तथा

'मुख्यार्थसत्ति' को 'मुख्यार्थ-बाध' तथा 'मुख्यार्थ-योग' रूप में स्वीकार कर लिया है। रूढि और प्रयोजन का उल्लेख ज्यों का त्यों कर दिया है मिलाइये·

मुख्यार्थासंभवात् सेयं मुख्यार्थासत्तिहेतुका ।
रूढेः प्रयोजनाद् वापि व्यवहारे विलोक्यते ।।

—**अभिधावृत्तमातृका**, कारिका ९

[३९] यहाँ मम्मट द्वारा लक्षणा को शब्द पर आरोपित और 'सान्तरार्थ-निष्ठ' जो कहा गया है उसका मूल मुकुलभट्ट की मातृका ही प्रतीत होती है। मिलाइए—

एवमयं मुख्यलाक्षणिकात्मविषयोपवर्णनद्वारेण शब्दस्याभिधाव्यापारो द्विविधः प्रतिपादितो निरन्तरार्थविषयः सान्तरार्थनिष्ठश्च ।

—**अभिधावृत्तमातृका**, पृष्ठ ३

[४०] **लक्षणा के भेद**—

लक्षणा के भेदों का विषय सस्कृत-समीक्षा में एक प्रमुख मतभेद का विषय बना रहा है। न्याय, वेदान्त तथा साहित्यशास्त्र; सभी में 'लक्षणा' के अनेक प्रकार के भेद-उपभेद कहे गये है। न्याय तथा वेदान्त में लक्षणा के तीन भेद (जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा तथा जहदजहल्लक्षणा) माने गये हैं। साहित्यशास्त्र मे उसके भेद के सम्बन्ध मे मतैक्य नहीं है।

मुकुलभट्ट के अनुसार सर्वप्रथम लक्षणा के दो भेद—शुद्धा एवं उपचार-मिश्रा; पुन· शुद्धा के दो भेद-उपादाना तथा लक्षण-लक्षणा एवं उपचारमिश्रा के शुद्धोपचार तथा गौणोपचार दो वर्ग बनाते हुए सारोपा तथा साध्यवसाना रूप में चार भेद, इस प्रकार लक्षणा के कुल ६ भेद होते है।

मम्मट लक्षणा के ६ भेद स्वीकार करते है। किन्तु किस प्रकार तथा किस रूप में यह कहना कठिन है। क्योंकि इन्होंने कुछ अस्पष्ट पदावली का प्रयोग किया है, जिसके कारण 'काव्य-प्रकाश' के टीकाकारों ने भी भिन्न-भिन्न प्रकार से अपने विचार व्यक्त किये हैं। वह अस्पष्टता क्या है ?

'स्वसिद्धये पराक्षेपः परार्थ स्वसमर्पणम् ।
उपादानं लक्षणं चेत्युक्ता शुद्धैव सा द्विधा ।।
'कुन्ता प्रवेशय'··· ············इत्यादौ···········उपादानेनेयं लक्षणा ।
गङ्गायांघोषः··············· इत्यादौ··· ········लक्षणेनैषा लक्षणा ।

**उभयरुपाचेयं शुद्धा उपचारेणामिश्रितत्वात् ।**

'सारोपान्या तु यत्रोक्तौ विषयी विषयस्तथा ।
विषय्यन्तः कृतेऽन्यस्मिन्सा स्यात् साध्यवसानिका ।।
भेदाविमौ च सादृश्यात्संबन्धान्तरतस्तथा ।
गौणौ शुद्धौ च विज्ञेयौ,

इमावारोपाध्यवसानमूलौ सादृश्यहेतू 'गौर्वाहीकः' इत्यत्र, 'गौरयमित्यत्र च'। 'आयुर्घृतम्' आयुरेवेदमित्यादौ सादृश्यादन्यः कार्यकारणभावादिः परः सम्बन्धः। एवमादौ कार्यकारणभावादिपूर्वे आरोपाध्यवसाने ।

'**क्वचित् तादर्थ्यादुपचारः**'। यथा 'इन्द्रार्थास्थूणा इन्द्रः'। 'क्वचित्

म्वस्वामिभावात्' यथा 'राजकीयः पुरुषो राजा'। क्वचित् अवयवावयविभावात् यथा 'अग्रहस्तः' इत्यग्रमात्रावयवे हस्तः। क्वचित् तात्कर्म्यात् यथा 'अतक्षा तक्षा'।

'लक्षणा तेन षड्विधा'

"आद्यभेदाभ्यां सह।" (**काव्यप्रकाश**, पृष्ठ ४३-५४ तथा **शब्दव्यापार-विचार**, पृष्ठ ८-१४)।

उपर्युक्त शब्दावली के अनुसार मम्मट ने लक्षणा को सर्वप्रथम दो भागों मे विभाजित किया है—उपादान लक्षणा तथा लक्षण-लक्षणा, जो कि 'शुद्धा-लक्षणा' के ही भेद कहे गये है। पुनः वह शुद्धा लक्षणा के शुद्धत्व का हेतु देते है '**उभयरुपाचेयं शुद्धा**'। '**उपचारेणामिश्रित्वात्**' अर्थात् ये दोनों प्रकार की लक्षणा (उपादान एवं लक्षण लक्षणा) **उपचार** से मिश्रित न होने के कारण 'शुद्धा' है। उपचार का लक्षण '**उपचारो** हि नाम अत्यन्त विशकलितयोः पदार्थयोः सादृश्यातिशय महिम्ना भेदप्रतीतिस्थगमनमात्रम्' (**बाल-बोधिनी**, पृष्ठ ४६) यह किया गया है। इसका अभिप्राय यह है कि अत्यन्त भिन्न दो पदार्थो में अतिशय सादृश्य के कारण उनके भेद की प्रतीति का न होना 'उपचार' कहलाता है। जैसे—किसी बालक या पुरुष मे शौर्य-क्रौर्य आदि के सादृश्याति-शय के कारण 'सिहो माणवकः' यह बच्चा शेर है आदि प्रयोग उपचार मूलक होते है।

तत्पश्चात् सारोपा तथा साध्यवसानिका—दो प्रकार की लक्षणा कही गयी हैं जो कि सादृश्य सम्बन्ध के होने पर 'गौणी' तथा सादृश्येतर सम्बन्ध से 'शुद्धा' कहलाती है। ये चारो प्रकार की लक्षणा उपचार-मिश्रा है, यद्यपि मम्मट ने ऐसा कहीं स्पष्ट नही किया है, तथापि उपचार के आधार पर लक्षणा के शुद्धत्व तथा शुद्धभिन्न का निर्णय अवश्य किया है।

परन्तु मुकुलभट्ट 'उपचार' को 'शुद्धा' तथा 'गौणी' का भेदक धर्म स्वीकार नही करते हैं। उनके मत में उपचार का मिश्रण शुद्धा मे भी होता है और गौणी मे भी। इसलिए उन्होंने उपचार के शुद्धोपचार तथा गौणोपचार रूप से दो भेद किये है। उनके मत मे उपचार का अर्थ अन्य के लिए अन्य शब्द का प्रयोग होता है। जहाँ अन्य के लिए अन्य वाचक शब्द का प्रयोग सादृश्य के कारण होता है वहाँ 'गौण-उपचार' होता है और जहाँ सादृश्येतर सम्बन्ध कार्यकारण-भाव आदि के कारण अन्य के लिए अन्य शब्द का प्रयोग होता है, वहाँ 'शुद्धोपचार' होता है। इस प्रकार उपचार के भी शुद्ध और गौण रूप होने से उपचार को 'शुद्धा' तथा 'गौणी' का भेदक धर्म स्वीकार नही किया जा सकता है। इसलिए मुकुलभट्ट ने उपचार के स्थान पर 'ताटस्थ्य' अर्थात् लक्ष्यार्थ तथा लक्षकार्थ के भेद को 'शुद्धा' तथा 'गौणी' का भेदक धर्म स्वीकार किया है। उनके मतानुसार गौणी लक्षणा में सादृश्यातिशय के कारण लक्ष्य तथा लक्षक का अभेद प्रतीत होता है। परन्तु शुद्धा लक्षणा में अर्थात् उपादान लक्षणा तथा लक्षण-लक्षणा मे लक्ष्य तथा लक्षक में अभेद नही अपितु 'भेद' या 'ताटस्थ्य' होता है (**अभिधावृत्तमातृका**, पृष्ठ २०)।

परन्तु मम्मट इससे सहमत नहीं है, वह कहते है कि शुद्धा-लक्षणा के

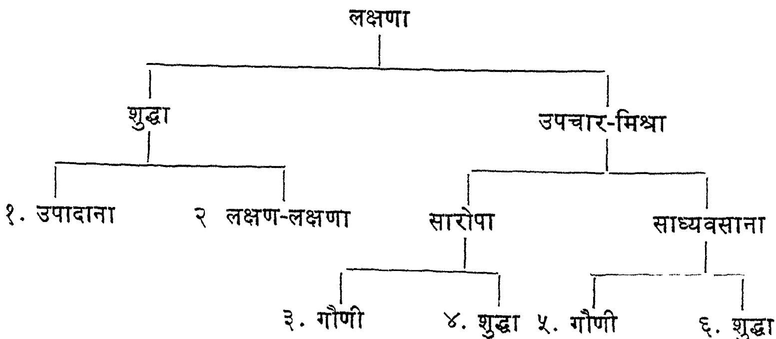
उपादान लक्षणा तथा लक्षण-लक्षणा इन दोनों भेदों में लक्ष्य-लक्षक में भेद-प्रतीति रूप 'ताटस्थ्य' नहीं माना जा सकता है। क्योंकि जैसे—'गंगायां घोषः' में गङ्गा के मुख्यार्थ 'प्रवाह' और लक्ष्यार्थ 'तट' में भेद (ताटस्थ्य) की प्रतीति नहीं होती अपितु गङ्गा का तट से अभेद प्रतीत होता है अर्थात् तट की गङ्गात्व (तत्त्व) के रूप में प्रतीति होती है और तभी शीतत्व, पावनत्वादि की तट में प्रतीति होती है। शीतलता आदि का बोध कराना ही लक्षणा का प्रयोजन है। यदि यहाँ गगा और तट में अभेद प्रतीति न होती और तट (लक्ष्यार्थ) का प्रवाह (मुख्यार्थ) से केवल सामीप्य सम्बन्ध ही प्रतीत होता तो '**गंगायां घोषः**' का वही अर्थ होता जो 'गङ्गातटे घोषः' का है। तब इस लक्षणा के प्रयोग में कोई विशेषता न होती। अतएव मुकुलभट्ट का यह मत कि जहाँ अभेद प्रतीति हो वहाँ गौणी लक्षणा और जहाँ भेद-प्रतीति हो वहाँ शुद्ध लक्षणा होती है, उचित नही है (**काव्यप्रकाश**, पृष्ठ ४६)।

फिर भी यहाँ मम्मट उपचार के विषय मे मुकुलभट्ट (**अभिधावृत्त-मातृका**, पृष्ठ १५-१६) से प्रभावित प्रतीत होते हैं। पुनः मम्मट उपचार का प्रयोग सादृश्य तथा सादृश्येतर सम्बन्ध के लिए करते है, जैसा कि '**क्वचित् तादर्थ्यादुपचारः**—' इत्यादि उसके शब्दों से स्पष्ट है।

इस प्रकार लक्षणा के ६ भेद हो जाते हैं।

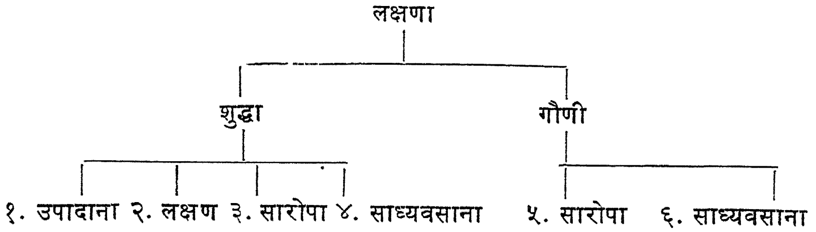
इस प्रकार हम देखते है कि मम्मट एक ओर तो 'उभयरूपा चेय शुद्धा। उपचारेणामिश्रितत्वात्' कहकर, वह 'शुद्धा-लक्षणा' को उपचार से अमिश्रित कहते है, और दूसरी ओर 'उपचार' का प्रयोग सादृश्य सम्बन्ध से रहने वाली गौणी लक्षणा के लिए तथा सादृश्येतर सम्बन्ध से रहने वाली 'शुद्धा-लक्षणा' के लिए भी करते है, जैसा कि 'क्वचित् तादर्थ्यादुपचारः·····' इत्यादि इनके शब्दों से स्पष्ट है। यहाँ यह कठिनाई उत्पन्न हो जाती है कि 'आयुघृतम् जैसे उदाहरणो का स्पष्टीकरण कैसे किया जाय? यदि उन्हें सादृश्येतर सम्बन्ध के कारण 'शुद्ध' कहा जाय तो उनमें दूसरी ओर उपचार भी है जबकि मम्मट स्वयं कहते हैं कि 'उभयरूपा चेयं शुद्धा'। 'उपचारेणामिश्रितत्वात्' और यदि उन्हें 'उपचार-मिश्रा' कहा जाय तो उसमें सादृश्येतर सम्बन्ध से 'शुद्धत्व' भी है। यही कठिनाई अस्पष्टता की द्योतक है। इसी अस्पष्टता के कारण मम्मट के द्वारा कहे गये लक्षणा के षड्भेदों के सम्बन्ध में काव्यप्रकाश के टीकाकारो में मतभेद है।

माणिक्यचन्द्र तथा जयन्त मम्मट के द्वारा कहे गये लक्षणा के षड्भेद को निम्नवत् प्रस्तुत करते है :



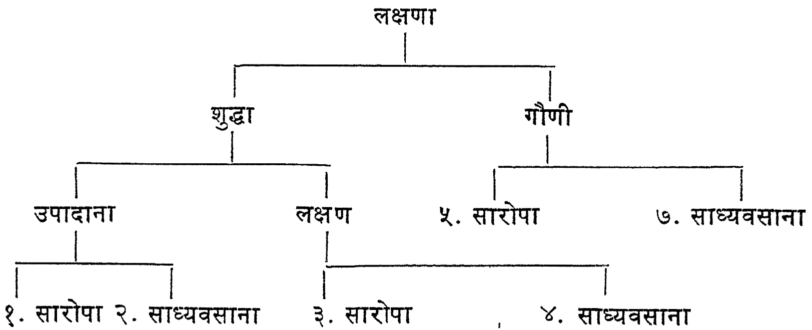
यहाँ माणिक्यचन्द्र मम्मट को मुकुलभट्ट का अनुयायी स्वीकार करते है (संक्षेपेणैवात्र लक्षणाविचारकृतः । विस्तरेण तु मुकुलादिरचितमातृकादि ग्रन्थेभ्यो ज्ञेयः । **काव्य-प्रकाश**, संकेत, पृष्ठ १८) । इस वर्गीकरण का समर्थन आधुनिक विद्वान डा. हरदत्त शर्मा, चन्दोरकर तथा आचार्य विश्वेश्वर आदि ने किया है।

लेकिन डा. वेलङ्कर (Velankar's notes on *Kavya Prakasa*, I, 2, pp. 19-81) का आक्षेप है कि काव्य-प्रकाश की पदावली से स्पष्ट है कि मम्मट ने वही पर भी 'उपचार-मिश्रा' लक्षणा का संकेत नही किया है, अपितु स्पष्टतः गौणी तथा शुद्धा लक्षणा का अलग-अलग उल्लेख किया है। ऐसी दशा में इसका अर्थ गौणोपचार तथा शुद्धोपचार लेना उचित नहीं कहा जा सकता। इसलिए मम्मट को मुकुलभट्ट का अनुयायी मानना ही अनुचित है। मम्मट के लक्षणा के षड्भेद को डॉ. वेलङ्कर निम्नवत् प्रस्तुत करते हैं :




डा. वेलङ्कर का लक्षणा का उपर्युक्त वर्गीकरण युक्तियुक्त प्रतीत नही होता है क्योंकि 'आयुर्घृतम्' एवं 'आयुरेवेदम्' उदाहरणों में उपचार मौजूद है जबकि मम्मट शुद्धा लक्षणा के शुद्धत्व का हेतु 'उपचार-हीनता' देते हैं।

गोविन्द ठक्कुर (**काव्य-प्रकाश**—द्वितीयोल्लास, पृष्ठ ६३, Ed. by H. D. Sharma, Poona) के अनुसार मम्मट के भेद इस प्रकार होंगे :




इस प्रकार हम देखते है कि मम्मट की अस्पष्ट पदावली के कारण यह निश्चय होना कठिन हो गया है कि मम्मट की षड्विधा-लक्षणा किस प्रकार तथा किस रूप में है। हाँ इतना अवश्य कहा जा सकता है कि मम्मट प्रयोजनवती-लक्षणा के ६ भेद स्वीकार करते है।

साहित्यदर्पणकार 'तेन षोडश भेदिता' (**साहित्यदर्पण**, द्वितीय परिच्छेद, कारिका १०) लिखकर लक्षणा के ६ भेदों के स्थान पर सोलह भेद स्वीकार करते हैं।

[४१] **ज्ञातता—**

घटादि विषयों का ग्रहण तो प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से हो जाता है, लेकिन ज्ञान का ज्ञान कैसे होता है इसी के समाधान में मीमांसको का कहना है कि 'अयं घटः' इस प्रकार का ज्ञान होने के बाद 'ज्ञातो मया घट.' इस प्रकार की प्रतीति होती है। इस प्रतीति में घट में रहने वाला 'ज्ञातता' नामक धर्म भासता है। यह धर्म 'अयं घटः' इस ज्ञान के होने से पहले नही था इस ज्ञान के बाद उत्पन्न हुआ है इसलिए ज्ञान उसका कारण है। कारण के बिना कार्य उत्पन्न नहीं होता इसलिए ज्ञान के बिना 'ज्ञातता' धर्म भी घट मे उत्पन्न नही हो सकता था। लेकिन ज्ञातता धर्म घट में उत्पन्न हुआ है, इस धर्म की प्रतीति 'ज्ञातो मया घटः' इस ज्ञान में हो रही है इसलिए उसका कारण ज्ञान अवश्य होना चाहिए। इस प्रकार 'ज्ञातता' की अन्यथा-अनुपपत्ति होने के कारण 'ज्ञातता' से ज्ञान का ग्रहण होता है (**तर्क-भाषा**, व्या. आचार्य विश्वेश्वर, चौखम्बा सीरीज, वाराणसी, १९६३, पृष्ठ १३७-१३८)।

[४२] **अनुव्यवसाय**

नैयायिकों के मत मे पहले 'अयं घट.' यह ज्ञान घट से उत्पन्न होता है। इस ज्ञान का विषय घट होता है। इस प्रथम ज्ञान को 'व्यवसायात्मक ज्ञान' कहते है। इसके बाद 'घटज्ञानवानहम्' या 'घटमहं जानामि' इस प्रकार का ज्ञान होता है। इस द्वितीय ज्ञान का विषय घट नही अपितु 'घटज्ञान' होता है। इस ज्ञान विषयक ज्ञान को 'अनुव्यवसाय' कहते है। इसी अनुव्यवसाय से ज्ञान का ग्रहण होता है (**तर्क-भाषा**, पृष्ठ १४१)।

[४३] तथाभूता दृष्ट्वा नृपसदसि पाञ्चालतनयां
वने व्याधैः साकं सुषिरमुषितं वल्कलधरैः।
विराटस्यावासे स्थितमनुचितारम्भनिभृतं
गुरुः खेदं खिन्ने मयि भजति नाद्यापि कुरुषु।

—**वेणीसंहार**, १, ११

[४४] तुलना—**काव्य-प्रकाश**, प्रथम उल्लास से पंचम उल्लास तक।

## सप्तम अधिकार

[१] तुलना—**दशरूपक**, १, ७।
[२] तुलना—**दशरूपकावलोक**, पृष्ठ ४।
[३] तुलना—**दशरूपक**, १, ७।
[४] तुलना—**दशरूपकावलोक**, पृष्ठ ४।
[५] तुलना—**दशरूपक**, १, ९।
[६] **तत्त्व—**

स्वकीय कार्य में, धर्मसमुदाय मे या स्वसमान गुणवाले वस्तु में, सामान्य रूप से व्यापक पदार्थ को 'तत्त्व' कहते है।

स्वस्मिन् कार्येऽथ धर्मौघे यद्वापि स्वसदृग्गुणे।
आस्ते सामान्यकल्पेन तननाद् व्याप्तृभावतः ॥
तत् तत्त्व क्रमशः पृथिवी प्रधानं पुशिवादयः।

—**तन्त्रालोक**, ९।४-५

[७] **शिव-तत्त्व**—

परमेश्वर के हृदय में विश्व-सृष्टि की इच्छा उत्पन्न होते ही उसके दो रूप हो जाते है—शिव-रूप और शक्ति-रूप। शिव प्रकाश रूप है। प्रभा के दो रूप होते है—अहमश और इदमंश। अहमश ग्राहक शिव है तथा इदमंश ग्राह्य शक्ति है। —*Abhinavagupta*, pp. 362-364.

[८] **शक्ति-तत्त्व**—

शक्ति विमर्शरूपिणी है। विमर्श का अर्थ है—पूर्ण अकृत्रिम अहं की स्फूर्ति। यह स्फूर्ति सृष्टिकाल में विश्वाकार स्थिति में विश्व-प्रकाश तथा संहारकाल में विश्वसंहरण रूप से होती है। इसी की चित्, चैतन्य, स्वातन्त्र्य, कर्तृत्व, स्फुरत्ता, सार, हृदय, स्पन्द आदि अनेक संज्ञाएँ है। विमर्श के द्वारा प्रकाश का अनुभव होता है और प्रकाश की स्थिति में विमर्श की कल्पना न्याय्य है। —*Abhinavagupta*, pp. 364.

[९] **सदाशिव**—

शिवशक्ति के आन्तर निमेप को 'सदाशिव' तथा बाह्य उन्मेष को 'ईश्वर' कहते है।

ईश्वरो बहिरुन्मेषो निमेषोऽन्तः सदाशिवः।

—**ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा कारिका**, ३,१,३

सदाशिव अचल रूप परमेश्वर मे किंचित् चलनात्मक रूप स्फुरण होता है। प्रभा का अहमंश इदमंश को अच्छादित कर विद्यमान रहता है। अतः जगत् का अव्यक्त रूप से भान होता है ('अहन्ताच्छादितमस्फुटेदन्तामयं यादृश परावर-रूपं विश्वं ग्राह्यम्'।—**प्रत्यभिज्ञाहृदय**, दिल्ली, १९६९, पृष्ठ ७८)।

'सत्ता' का आरम्भ यही से होता है। इसी से इसका नाम 'सदाख्य' तत्त्व है ('सदाख्याया भवं 'सादाख्य' यतः प्रभृति सदिति प्रख्या—**ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिणी**, पृष्ठ २१७-२१८ तथा *Abhinavagupta* pp. 364. 365।

[१०] **ईश्वर**—

ईश्वरतत्त्व सदाशिव का बाह्य-रूप है। यहाँ 'अहं' इद स्पष्ट से किन्तु एक आत्मा के अंशरूप में आत्मा के अभिन्न रूप में अनुभव करता है।

—*Abhinavagupta*, pp. 365-366.

[११] **शुद्ध-विद्या**—

ज्ञान की इस दशा में 'अह' तथा 'इद' का पूर्ण समानाधिकरण्य रहता है। समानाधिकरण्यं च सद्विद्याऽहमिदंधियोः।

—**ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, कारिका**, ३, १, ३ तथा *Abhinavagupta*, pp. 366-368.

[१२] **माया**—

माया शक्ति वह है जो 'अहं' और 'इदं' को पृथक्-पृथक् कर देती है। अहमंश पुरुष हो जाता है और इदमश प्रकृति हो जाती है। शिव को पुरुष रूप में आने के लिए यह (माया) पाँच उपाधियों—कला, विद्या, राग, काल, नियति—की सृष्टि करती है। —*Abhinavagupta*, pp. 370-372.

[१३] **काल**—

नित्यत्व को संकुचित करने वाला तत्त्व 'काल' कहलाता है जिसके कारण देहादिकों से सम्बद्ध होकर जीव अपने को अनित्य मानने लगता है। —*Abhinavagupta*, pp. 375.

[१४] **नियति**—

जीव की स्वातन्त्र्य-शक्ति का तिरस्कार करने वाला तत्त्व 'नियति' कहलाता है जिसके कारण वह (जीव) नियमित कार्यों के करने में प्रवृत्त होता है। —*Abhinavagupta*, pp. 375.

[१५] **पुरुष**—

मायाजनित कला, विद्या, राग, काल तथा नियति को जीवस्वरूप के आवरण करने के कारण 'कञ्चुक' कहते है। इन्ही कञ्चुकों के द्वारा आवृत्त-शक्ति जीव 'पुरुष' कहलाता है। —*Abhinavagupta*, pp. 375-377.

[१६] यहाँ 'अन्नप्रवेशकृत' अर्थात् 'अन्न का प्रवेश करना'—पाठ ठीक रहेगा (द्रष्टव्य—वाग्भट रचित **अष्टांगहृदय**, सं० शिव शर्मा आयुर्वेदाचार्य, बम्बई, १९२९, सूत्रस्थान, १२, ५)।

[१७] यहाँ 'हृदिस्थः' अर्थात् 'हृदय में स्थित'—पाठ ठीक रहेगा (द्रष्टव्य—**अष्टांगहृदय**, सूत्रस्थान, १२, ६)।

[१८] तुलना—**अष्टांगहृदय**, सूत्रस्थान, १२, ४-६।

[१९] तुलना—**अष्टांगहृदय**, शारीरस्थान, ३, १३।

[२०] **ओज**—

रसादीनां शुक्रान्तानां धातूनां यत्परं तेजस्तत् खल्वोजस्तदेव बलमित्युच्यते ॥

—**सुश्रुत-संहिता**, सूत्रस्थान, १५-१९, बम्वई, १९३८।

रस से शुक्रपर्यन्त सात धातुओं में, दूध में घी के समान उनमें व्याप्त तथा उनके परम सारभूत स्नेहों को औज कहते हैं। यह वल का परम कारण होने से इसे 'बल' भी कहा जाता है।

[२१] तुलना—**अष्टांगहृदय**, शारीरस्थान, ३, १८-२१।

[२२] **नाद**—

'न' कार प्राण कहलाता है और 'द' कार अग्नि। इस प्रकार प्राण और अग्नि के संयोग से उत्पन्न 'नाद' कहलाता है।

नकारं प्राणनामानं दकारमनलं विदुः।
जातः प्राणाग्निसंयोगात्तेन नादोऽभिधीयते ॥

—**संगीत-रत्नाकर**, स्वरगताध्याय, ३, ६

[२३] **कला**—

आवाप आदि क्रिया से जो काल परिमित किया जाता है, उसे 'कला'

कहते है ('कालः परिच्छिद्यते आवापादिक्रियया सा कला'—**अभिनवभारती**, जी. ओ. एस., खण्ड ४, पृष्ठ १५१)।

[२४] **वर्ण**—

गान-क्रिया को 'वर्ण' कहते है ('गानक्रियोच्यते वर्णः'—**संगीतरत्नाकर**, स्वरगताध्याय, ६, १)।

[२५] **श्रुति**—

श्रवण-योग्य होने से 'श्रुति' कहलाती है ('श्रवणात् श्रुतयो मता'—**संगीतरत्नाकर**, १,३,८)। यदि श्रुति तथा स्वर दोनों में श्रवण-योग्यत्व का गुण है, तो इन दोनों में भिन्नत्व क्या हुआ ? इसका उत्तर कल्लिनाथ ने यह दिया है कि प्रथमघात-रूप क्षणिक-ध्वनि का नाम 'श्रुति' है, उसके पश्चात् पैदा होने वाली अनुरणनात्मक (गूँजने वाली) दीर्घ ध्वनि स्वर कहलाती है, यही दोनों की भिन्नता है। (**संगीतरत्नाकर की कलानिधि टीका**, पृष्ठ ६७)।

[२६] **स्वर**—

श्रुति के पश्चात् पैदा होने वाली स्निग्ध तथा अनुरणनात्मक (गूँजने वाली) जो दीर्घ ध्वनि स्वतः श्रोता के चित्त को अनुरक्त करती है, उसे 'स्वर' कहते है।

श्रुत्यन्तरभावी यः स्निग्धोऽनुरणनात्मकः।
स्वतो रञ्जयति श्रोतृ-चित्तं स स्वर उच्यते ॥

—**संगीतरत्नाकर**, १,३, २४-२५

[२७] **षड्ज**—

नासा कण्ठ उरस्तालु जिह्वा दन्तास्तथैव च।
षड्भिः संजायते यस्मात्तस्मात्षड्ज इति स्मृतः ॥

—**संगीतरत्नाकर की सुधाकरी टीका**, खण्ड १, पृष्ठ ८४

जो स्वर नासिका, कण्ठ, उर, तालु, जिह्वा तथा दाँत—इन छै स्थानों से उत्पन्न होता है, उसे 'षड्ज' कहते हैं।

[२८] **ऋषभ**—

नाभेः समुत्थितो वायुः कण्ठशीर्षसमाहतः।
नदत्यृषभवद्यस्मात्तस्मादृषभ ईरितः ॥ —**सुधाकरी**, पृष्ठ ८४

नाभि से उठी वायु कण्ठ और शीर्ष से आहत हो ऋषभ (सांड) की भाँति ध्वनि करती है तो उसे 'ऋषभ' कहते है।

[२९] **गान्धार**—

नाभेः समुत्थितो वायुः कण्ठशीर्षसमाहतः।
गन्धर्वसुखहेतुः स्याद्गांधारस्तेन हेतुना ॥ —**सुधाकरी**, पृष्ठ ८४

नाभि से उठी हुई वायु कण्ठ और शीर्ष से आहत हो गन्धर्वो के सुख का हेतु होती है तो उसे 'गान्धार' कहते है।

[३०] **मध्यम**—

वायुः समुत्थितो नाभेर्हृदये च समाहतः।
मध्यस्थानोद्भवत्वात्तु मध्यमत्वेन कीर्तितः ॥

—**सुधाकरी**, पृष्ठ ८४

नाभि से उठी हुई वायु हृदय मे आहत हो मध्य स्थान मे उत्पन्न हो तो उसे 'मध्यम' कहते है।

[३१] **पञ्चम**—

वायु· समुत्थितो नाभेरोष्ठकण्ठशिरोहृदि ।
पञ्चस्थानसमुद्भूतः पञ्चमस्तेन कीर्तितः ॥ —**सुधाकरी**, पृष्ठ ८४

नाभि से उठी हुई वायु उर, ओष्ठ, कण्ठ, शिर तथा हृदय—इन पाँच स्थानो से उत्पन्न होती है, उसे 'पंचम' कहते है।

[३२] **धैवत**—

नाभेः समुत्थितो वायुः कण्ठतालुशिरोहृदि ।
तत्तत्स्थानधृतो यस्मात्ततोऽसौ धैवतो मत ।

—**सुधाकरी**, पृष्ठ ८४

नाभि से उठी हुई वायु कण्ठ, ताल, शिर तथा हृदय—उस उस स्थान को धारणा करती है, उसे 'धैवत' कहते हैं।

[३३] **निषाद**—

नाभे· समुत्थिते वायौ कण्ठतालुशिरोहते ।
निषीदन्ति स्वरा· सर्वे निषादस्तेन कथ्यते ॥

—**सुधाकरी**, पृष्ठ ८४

नाभि से उठी हुई वायु के कण्ठ, तालु और शिर से आहत होने पर सभी स्वर बैठ जाते है, तो उसे 'निषाद' कहते है।

[३४] सप्त-धातुओं से स्वरों की उत्पत्ति के विषय में ग्रन्थकार की यह एकमात्र नवीन कल्पना है। यह अन्यत्र प्राप्त नही होती।

[३५] **सात धातु**—

रसासृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जशुक्राणि धातवः ।

—**अष्टांगहृदय**, सूत्रस्थान, १, १३

रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र इन सात को धातु कहते है।

[३६] **सात अग्नि**—

धातु सात है। प्रत्येक का अपना-अपना अग्नि होता है। इस प्रकार धातुगत अग्नि कुल सात है—रसाग्नि, रक्ताग्नि, मांसाग्नि, मेदोऽग्नि, अस्थ्याग्नि, मज्जाग्नि और पुरुषों मे शुक्राग्नि तथा स्त्रियो मे आर्तवाग्नि (द्रष्टव्य—**अष्टांग-हृदय,** सूत्रस्थान, ११, ३४)।

[३७] यहाँ शारदातनय ने रस के स्थान पर त्वचा को धातु स्वीकार किया है। जबकि आयुर्वेदशास्त्र मे 'त्वचा' उपधातु स्वीकार की गयी है। स्तन्य, आर्तव, कण्डरा, सिरा, वसा, त्वचा और स्नायु—ये सात उपधातु है। रसादि से शरीर का धारण तथा अन्य धातुओं का पोषण, उभय कार्य होते हैं, अतः उन्हें धातु कहा जाता है। उपधातु शरीर का धारण तो करते हैं, परन्तु अन्य धातु का पोषण नही करते। धातुओं के साथ इस आंशिक समता के कारण इन्हें उपधातु कहते हैं (द्रष्टव्य—**चरकसंहिता**, चिकित्सास्थान, १५, १७, बम्बई, १९३५)।

[३८] तुलना—**संगीतरत्नाकर,** खण्ड १, पृष्ठ ४५ ।

[३९] यहाँ प्रकरण विशेष मे 'नाभि' शब्द से हृदय का ग्रहण करना चाहिए । नाभि का स्वरूप चारों ओर निकलती धमनियों के कारण अरों से आवृत्त रथ के पहिये की नाभि के सदृश बताया गया है । हृदय और उससे निकलने वाली धमनियो को सामने, नीचे या ऊपर किसी भी ओर से देखें तो अनायास चक्र (पहिये) का स्वरूप दिखाई पड़ता है । जिसमें हृदय नाभि है और उसके चतुर्दिक् स्थित धमनियाँ अरें ।

[४०] तुलना—**अष्टांगहृदय,** शारीरस्थान, ३, ३९ ।

[४१] (क) यहाँ 'अस्त्योजो' पाठ ठीक रहेगा ।

(ख) ओज भी आठवाँ धातु है—उसके द्वारा भी शरीर धारण किया जाता है; जैसे—'तत्र रसादीनां शुक्रान्ताना धातूना यत् पर तेजस्तत् खलु ओज., तदेव बलमित्युच्यते—स्वशास्त्रसिद्धान्तात् ।' (सुश्रुतसंहिता, सूत्रस्थान, १५, १९) एवं 'पुष्यन्ति त्वाहाररसात् रसरुधिरमांसमेदोस्थिमज्जशुक्रोजांसि' । (**चरक-संहिता,** सूत्रस्थान, २८, ४) शरीर का धारक होने पर भी उसको जो धातु नहीं कहा उसका मुख्य कारण यही है कि उसके नष्ट होने से शरीर की इतिश्री हो जाती है; जैसे—

हृदि तिष्ठति यच्छुद्धरक्तमीषत्सपीतकम् ।
ओजः शरीरे संख्यातं तन्नाशान्ना विनश्यति ।।'

—**चरक-संहिता,** सूत्रस्थान, १७, ७४

इसलिए इसको यहाँ नही गिना । साथ ही इससे आगे कुछ उत्पन्न नहीं होता है, यह तो अन्तिम धातु है, इसीलिए सुश्रुत ने इसको 'बल' शब्द से कहा है; जैसे—'तत्र बलेन स्थिरोपचितमांसता सर्व चेष्टास्वप्रतिघात., स्वरवर्णप्रसादो, बाह्यानामाभ्यन्तराणां च करणानामात्मकार्यप्रतिपत्तिर्भवति।' (सुश्रुतसहिता, सूत्रस्थान, १५, २०) । दूसरी बात यह है कि रसादि सातों धातु दृश्य है, परन्तु ओज अदृश्य वस्तु है, उसका क्षय, विस्रंस और व्यापत् होता है; परन्तु मल और रसादि की तरह क्षय या वृद्धि नहीं होती । ओज के क्षय का अर्थ ही मृत्यु है । जैसे—'मूर्च्छा मासक्षयो मोहः प्रलापो मरणमिति च क्षये । मूर्च्छा मांसक्षयो मोहः प्रलापोऽज्ञानमेवं च । पूर्वोक्तानि च लिङ्गानि मरणं च बलक्षये ॥ (**सुश्रुत-संहिता,** सूत्रस्थान, १५, २१) । इस दृष्टि से शरीर का धारक होने पर भी ओज को यहाँ आठवाँ धातु नहीं माना ।

'ओज' हृदय में रहता है, उसका तीन प्रकार का स्वरूप होता है—शुक्ल, पीत तथा रक्त ('हृदि तिष्ठति यच्छुद्धरक्तमीषत्सपीतकम्'—**चरक-संहिता,** सूत्रस्थान, १७, ७४) ।

[४२] **उदात्त—**

तालु आदि स्थानों के ऊर्ध्व भाग से उच्चारित जो 'अच्' वह 'उदात्त' कहलाता है । —**उच्चैरुदात्तः** (अष्टा० १, २, २९) ।

[४३] **अनुदात्त—**

तालु आदि स्थानों के अधो भाग से उच्चारित जो 'अच्' वह 'अनुदात्त' कहलाता है । —**नीचैरनुदात्तः** (अष्टा० १, २, ३०) ।

[४४] **स्वरित**—

उदात्त और अनुदात्त जिस स्वर में सम्मिलित हों उसे 'स्वरित' कहते है। —**समाहारः स्वरितः** (अष्टा० १, २, ३१)।

[४५] **प्रचय**—

उदात्त, अनुदात्त, स्वरित—इन तीनों स्वरों के अतिरिक्त 'प्रचय' नामक एक चौथा स्वर होता है, जिसे 'एक-श्रुति' भी कहा जाता है।

साहित्यिक संस्कृत में इन स्वरों का प्रयोग नही होता है। वैदिक-साहित्य मे इन स्वरो का प्रयोग होता है। उदात्त स्वर पर कोई चिह्न नही लगाया जाता है, अनुदात्त स्वर पर नीचे पड़ी हुई लकीर दी जाती है और स्वरित स्वर पर ऊपर खड़ी लकीर लगायी जाती है। स्वरित के बाद आने वाला अचिह्नित वर्ण, चाहे एक हो या अनेक हो, 'प्रचय' होता है।

[४६] **ग्राम**—

ग्राम शब्द समूहवाची है, जिस प्रकार कुटुम्ब में लोग मिलजुल कर मर्यादा की रक्षा करते हुए इकट्ठे रहते है, उसी प्रकार संवादी स्वरो का वह समूह ग्राम है, जिसमे श्रुतियाँ व्यवस्थित रूप में विद्यमान हों और जो मूर्च्छना, तान, वर्ण, क्रम, अलंकार आदि का आश्रय हों ('समूहवाचिनौ ग्रामौ स्वरश्रुत्यादिसंयुतौ। यथा कुटुम्बिनः सर्वे एकीभूय वसन्ति हि। सर्वेलोकेषु सु ग्रामो यत्र नित्य व्यवस्थितः। षड्जमध्यमसंज्ञौ तु द्वौ ग्रामो विश्रुतौ किल'—**भरतकोष**, पृष्ठ १८६, तिरुपति संस्करण)।

[४७] **राग**—

रञ्जन के कारण ही राग की सज्ञा 'राग' है, यही राग की व्युत्पत्ति है ('रञ्जनाञ्जायते रागे व्युत्पत्तिः समुदाहृता'—**सुधाकरी**, खण्ड २, राग-विवेकाध्याय, पृष्ठ ३)। वह ध्वनि विशेष जो स्वर, वर्ण से विभूषित हो और जब चित्त को अनुरक्त करे उसे 'राग' कहते है। (योऽसौ ध्वनिविशेषस्तु स्वरवर्णविभूषितः। रञ्जको जनचित्तानां स रागः कथितो बुधैः'—**सुधाकरी**, पृष्ठ ३)। 'राग' शब्द 'अश्वकर्ण, जैसे शब्दो के समान रूढ़, 'मन्थ' इत्यादि शब्दों के समान यौगिक अथवा 'पंकज' शब्द के समान योगरूढ है ('अश्वकर्णादिवद्रूढ़ो यौगिको वापि मन्थवत्। योगरूढोऽथवा रागो ज्ञेयः पङ्कजशब्दवत्॥ —**कलानिधि**, खण्ड २, पृष्ठ २)।

[४८] **मूर्च्छना**—

क्रमयुक्त होने पर सात स्वर मूर्च्छना कहे जाते हैं ('क्रमयुक्ता स्वराः सप्त मूर्च्छनास्त्वभिसंज्ञिताः।'—**नाट्यशास्त्र**, जी. ओ. एस., खण्ड ६, पृष्ठ २५)। 'मूर्च्छना' शब्द 'मूर्च्छं' धातु से बना है, जिसका अर्थ 'मोह' और 'समुच्छ्राय' (उत्सेध, उभार, चमकना, व्यक्त होना) है (मोहोच्छ्रायाभिधायी यो मूर्च्छधातुस्ततो ल्युटि। करणार्थे मूर्च्छनेति पदमत्र समुच्छ्रये॥'—**भरतकोश**, पृष्ठ ५०१)। आचार्य शार्ङ्गदेव सात स्वरों के क्रमपूर्वक आरोह और अवरोह को 'मूर्च्छना' मानते है (क्रमात्स्वराणां सप्तानामारोहश्चावरोहणम्। मूर्च्छनेत्युच्यते...............॥

—**संगीतरत्नाकर**, खण्ड १, स्वरगताध्याय, पृष्ठ १०३-१०४।

[४९] **तान**—

षाडव, औडव, सम्पूर्ण—इन मूर्च्छनाओं के संयोग को ही 'तान' कहते है। षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत तथा निषाद—ये सप्त स्वर जब परस्पर विस्तार को प्राप्त होते है तो उसे 'तान' कहते है। 'तान' शब्द 'तनु' धातु से बना है, जिसका अर्थ विस्तार है।

'षाडवौडव—पूर्णानां संयोगश्चैव कथ्यते ।
षड्जर्षभ-गान्धार-मध्यम-पञ्चम-धैवत-निषादाः ॥
परस्परेण तन्यन्त इति तान-संज्ञा लभन्ते ।
तनु विस्तार इत्यस्माद्धातोः कर्मणि तत्र तान-सिद्धिः ॥

—**नान्यभूपालप्रणीत भरतभाष्य**, प्रथम खण्ड, खेरागढ, १९६१, अध्याय ४, ६४-६६ ।

भरतादि के वचनों से स्पष्ट होता है कि षाडव-औडव मूर्च्छनाओं का ही दूसरा नाम 'तान' था। निम्नोद्धृत ग्रन्थ-वचन इसके प्रमाण है—

'तत्र मूर्च्छना-सश्रितास्तानाश्चतुरशीति ।
प्रयोक्तुःश्रोतुः सुखार्थं तान-मूर्च्छना-तत्त्वम् ।
मूर्च्छना-प्रयोजनमपि स्थान-प्राप्त्यर्थम् ।'

—**नाट्यशास्त्र**, खण्ड ४, पृष्ठ २७

'तानाः स्यूर्मूर्च्छना शुद्धाः षाडवौडुवितीकृताः ।'

—**संगीतरत्नाकर**, खण्ड १, १.४ २७

'प्रसङ्गात्क्रमानुक्त्वा मूर्च्छनैक-देश-रूपत्वेन मूर्च्छनाऽनन्तरमुद्दिष्टाशुद्ध-तानाल्लँक्षयति'। —**संगीतरत्नाकर की कलानिधि टीका**, खण्ड १, पृष्ठ ११५।

मूर्च्छना और तान में वस्तुत. कोई अन्तर नही है, इस प्रकार का नारद-भरत-पूर्व ग्रन्थकार विशाखिल का मत मतंग ने उद्धृत किया है—

'ननु मूर्च्छना-तानयोः को भेद ? उच्यते मूर्च्छना-तानयोर्नार्थान्तरत्वमिति विशाखिलः ।'

—**संगीतरत्नाकर की सुधाकरी टीका**, खण्ड १, पृष्ठ ११४।

लेकिन मतंग ने विशाखिल के मत का खण्डन किया है कि 'मूर्च्छना' आरोह एवं अवरोह के क्रम से युक्त होती है, तो 'तान' अवरोह-क्रम से होती है, यही दोनों का भेद है ("एतन्न संगतम्, संग्रहश्लोके मूर्च्छनातानयोर्भेदस्य प्रतिपादित्वात् । ननु कथं मूर्च्छनातानयोभेद ? ब्रूमः—आरोहावरोहक्रमयुक्तः स्वरसमुदायो मूर्च्छनेत्युच्यते; तानस्त्वारोहणक्रमेण भवतीति भेदः इति ।"

—**सुधाकरी**, पृष्ठ ११४

[५०] **शुद्ध राग**—

जो राग अन्य जातियो की अपेक्षा न करके अपनी जाति का अनुवर्तन करते है और उसी के उद्योतक होते है, वे 'शुद्ध' कहलाते है।

अनपेक्ष्यान्यजातीर्ये स्वजातिमनुवर्तकाः ।
स्वजात्युद्योतकाश्चैव ते शुद्धाः परिकीर्तिताः ॥

—**संगीतरत्नाकर की कलानिधि टीका**, पृष्ठ २५

[५१] **गौड राग**—

जिन रागों में गाढ़ गमको और ओहाटीललित स्वरों के कारण गीति अखण्डित रूप से त्रिस्थानव्यापिनी रहती है, वे 'गौड' कहलाते है ।

गाढैस्त्रिस्थानगमकै रोहाटीललितैः स्वरैः ।
अखिण्डतस्थितिः स्थानत्रये गौडी मता सताम् ॥

—**संगीतरत्नाकर**, रागविवेकाध्याय, १, ४

[५२] **वेसर राग**—

जिन रागों मे स्वरो का वेगपूर्वक सञ्चार होता है, वे 'वेसर' कहलाते हैं ।

'स्वरा. सरन्ति यद्वेगात्तस्माद् वेसरकाः स्मृता. ।'

—**कलानिधि**, पृष्ठ २५

[५३] **भिन्न राग**—

श्रुतिभिन्न, जातिभिन्न, शुद्धभिन्न तथा स्वरभिन्न—इन चार भेदों से 'भिन्न' राग कहा जाता है ।

श्रुतिभिन्नो जातिभिन्नः शुद्धभिन्नः स्वरस्तथा ।
चतुर्भिर्भिद्यते यस्मात्तस्माद् भिन्नक उच्यते ॥

—**कलानिधि**, पृष्ठ २५

[५४] **साधारण राग**—

जिन रागो में शुद्ध, भिन्न, गौड तथा वेसर—चारों प्रकार के रागो की विशेषताएँ समन्वित हों, वे 'साधारण' कहलाते है ।

शुद्धा भिन्नाश्च गौडाश्च तथा वेगस्वराः परे ।
कलित यत्र तान् वक्ष्ये सप्त साधारणास्तत. ॥

—**कलानिधि**, पृष्ठ २६

[५५] **जाति**—

रञ्जन और अदृष्ट अभ्युदय को जन्म देते हुए विशिष्ट स्वर ही विशेष प्रकार के सन्निवेश से युक्त होने पर 'जाति' कहे जाते है । दस लक्षणो से युक्त विशिष्ट-स्वर-सन्निवेश 'जाति' कहलाता है ('तत्र केय जातिर्नाम ? उच्यते-स्वरा एवं विशिष्ट-सन्निवेशमाजो रक्तिमदृष्टाभ्युदय च जनयन्तो जातिरित्युक्ताः । कोऽसौ सन्निवेश इति चेत्, जातिलक्षणेन दशकेन भवति सन्निवेशः') ।

—**अभिनवभारती**, खण्ड ४, जी. ओ. एस., पृष्ठ ४३

[५६] तुलना—**नाट्यशास्त्र**, २८, ६६ ।

[५७] तुलना—**सगीतरत्नाकर**, तालाध्याय, पृष्ठ २६ ।

[५८] तुलना—**नाट्यशास्त्र**, ५, ६-७ ।

[५९] तुलना—**नाटक-लक्षणरत्नकोश**, पृष्ठ ११२ ।

[६०] **बहिर्गीत**—

जिनमें सार्थक शब्दों के स्थान पर निरर्थक 'शुष्काक्षरों' या 'स्तोभाक्षरों' का प्रयोग हो, वे 'निर्गीत' या 'बहिर्गीत' कहलाते हैं ।

निर्गीतं गीयते यस्मादपदं वर्णयोजनात् ।

—**नाट्यशास्त्र**, ५, ४३

वर्णा झण्टुमादयःस्थाय्यादयश्च ।

—**अभिनवभारती**, जी. ओ. एस., खण्ड १, पृष्ठ २२३

'निर्गीत' का अर्थ निरर्थक गीत है। इस निर्गीत के आविष्कारक नारद हैं।

नारदाद्यैस्तु गन्धर्वै. सभायां देवदानवाः ।
निर्गीतं श्राविताः सम्यग्लयतालसमन्वितम् ।।

—**नाट्यशास्त्र**, ५, ३२

इसको विशेषतः असुरों ने अपनाया अतः देवताओं ने इसे 'बहिर्गीत' कहना आरम्भ कर दिया ।

एवं निर्गीतमेतत्तु दैत्यानां स्पर्धया द्विजाः ।
देवानां बहुमानेन बहिर्गीतमिति स्मृतम् ।।

—**नाट्यशास्त्र**, पृ. ४१

[६१] तुलना—**नाट्यशास्त्र**, ५, ६-३० ।
[६२] तुलना—**दशरूपक**, ३, २-३ ।
[६३] तुलना—**दशरूपक**, १, ११ ।
[६४] तुलना—**दशरूपक**, १, १३ ।
[६५] यह 'उदात्तराघव' नामक नाटक का द्वितीय अंक है ।
[६६] तुलना—**नाट्यशास्त्र**, २२, ३० ।
[६७] तुलना—**नाट्यशास्त्र**, २१, ३१-३४ ।
[६८] उद्दामोत्कलिकां विपाण्डुररुचं प्रारेब्धजृम्भां क्षणा-
दायासं श्वसनोद्गमैरविरतैरातन्वतीमात्मनः ।
आद्योद्यानलतामिमां समदनां गौरीमिवान्यां ध्रुवं
पश्यन्कोपविपाटलद्युति मुखं देव्याः करिष्याम्यहम् ।।

—**रत्नावली**, २, ४

कलिकाओं से लदी, श्वेत कान्ति वाली, जिसकी कलियाँ खिलने लगी है ऐसी तथा वायु के झौको से कष्ट का अनुभव करने वाली तथा मदनवृक्ष से लिपटी इस उद्यानलता को देखता हुआ मै आज वासवदत्ता के मुख को कोप से आरक्त बना दूँगा जैसे मै किसी उत्कण्ठा वाली, पाण्डुवर्ण, अंगडाइयॉ लेती हुई, विश्वास से खेद प्रकट करने वाली तथा सकामललना को देखता होऊँ।

[६९] तुलना—**दशरूपक**, १, १५ ।
[७०] तुलना—**दशरूपक**, १, १६ ।
[७१] सत्पक्षा मधुरगिर. प्रसाधिताशा मदोद्धतारम्भाः ।
निपतन्ति धार्तराष्ट्राः कालवशान्मेदिनीपृष्ठे ।।

—**वेणीसंहार**, १, ६

सुन्दरपक्ष सम्पन्न, मधुरालापी तथा हर्ष के कारण शीघ्रगामी राजहंस दिशाओं को सुशोभित करते हुए समय पाकर भूतल पर उतर रहे हैं अथवा अच्छे-अच्छे प्रभावशाली राजाओं की सहायता से सम्पन्न, वाणीमात्र से मधुर-भाषी, सभी दिशाओं पर अधिकार जमाने वाले तथा पागल की भाँति कार्य

करने वाले अर्थात् उच्छृंखल स्वभाव के धृतराष्ट्र-पुत्र (कौरव) मृत्यु के वश होकर पृथ्वी पर गिर रहे है।

[७२] लाक्षागृहानलविषान्नसभाप्रवेशैः
प्राणेषु वित्तनिचयेषु च न. प्रहृत्य।
आकृष्टपाण्डववधूपरिधानकेशाः
स्वस्था भवन्तु मयि जीवति धार्तराष्ट्राः ॥

—**वेणीसंहार**, १, ८

[७३] हा वत्साः खरदूषणप्रभृतयो वध्याः स्थ पापस्य मे
हा हा वत्स विभीषण त्वमपि मे कार्येण हेयः स्थित.।
हा मद्वत्सल वत्स रावण महत्पश्यापि ते सङ्कट
वत्से केकसि हा हताऽसि न चिरात्रीन् पुत्रकान् द्रक्ष्यसि ॥

—**महावीरचरित**, ४, ११

हा वत्स खरदूषण आदि ! मैं पापी तुम्हारे मरण की ही बात सोचा करता हूँ, हा वत्स विभीषण ! कार्यवश तुम्हें भी छोड़ देना पड रहा है। हा मेरे स्नेही रावण ! तुम्हारे ऊपर बहुत बडा सकट देख रहा हूँ। हा बेटी केकसि ! तुम थोड़े ही दिनों में अपने तीन पुत्रों से हाथ धो बैठोगी।

[७४] तुलना—**नाट्यशास्त्र**, २१, ६-१४।

[७५] असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा यदार्यमस्यामभिलाषि मे मन।
सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्त.करणप्रवृत्तयः ॥

—**अभिज्ञानशाकुन्तल**, १, १६

यह (शकुन्तला) नि.सन्देह क्षत्रिय के ग्रहण के योग्य है, क्योंकि मेरा साधु मन इसमे साभिलाष है। किसी सन्दिग्ध वस्तु के प्रति सज्जनों के अन्तःकरण की प्रवृत्तियाँ ही प्रमाण होती है। तो भी मैं इसे यथार्थतया जान ही लूँगा।

[७६] यन्मां विधेयविषये स भवान्नियुङ्क्ते
स्नेहस्य तत्फलमसौ प्रणयस्य सार॰।
प्राणैस्तपोभिरथवाऽभिमतं मदीयैः
कृत्यं घटेत सुहृदो यदि तत्कृतं स्यात् ॥

—**मालतीमाधव**, १, १०

भूरिवसु मुझे मालती और माधव के विवाहरूप कर्तव्य कार्य मे जो नियुक्त करते है, वह स्नेह का फल है और प्रणय का सार है। मेरे प्राणों से अथवा तपस्याओं से मित्र का अभीष्ट कार्य सम्पन्न हो तो यह श्रेष्ठ कार्य सम्पन्न होगा।

[७७] प्रीते विधातरि पुरा परिभूय मर्त्या-
न्वव्रेऽन्यतो यदभय स भवानहंयुः।
तन्मर्मणि स्पृशति मामतिमात्रमद्य
हा वत्स शान्तमथवा दशकन्धरोऽसि ॥

—**अनर्घराघव**, ४, ६

ब्रह्मा के प्रसन्न होने पर मर्त्यो के प्रति आस्था नही रखने वाले उस

अहंकारी रावण ने जो मर्त्येतर जन से अभय याचना की वह बात आज हमारे हृदय में चुभ रही है, अथवा जाने दो इस बात को, तुम रावण हो।

[७८] भव हृदय साभिलाषं संप्रति सन्देहनिर्णयो जातः।
आशंकसे यदग्निं तदिदं स्पर्शक्षमं रत्नम्॥

—**अभिज्ञानशाकुन्तल**, १, २४

हे हृदय! तुम साभिलाष बनो, अब सन्देह का भी निर्णय हो गया है जिसे तू अग्नि समझता था, वह तो स्पर्श करने योग्य रत्न है।

[७९] तुलना—**दशरूपक**, १, २२-२३।

[८०] तुलना—**दशरूपक**, १, २३।

[८१] अंहो अअं सौ राआ उदअणौणाम जस्स अह तादेण दिण्णा। (दीर्घनिश्वस्य) ता परप्पेसणदूसिदं वि मै सरीरं दाणिं बहुमदं संवुत्तम्॥ (**रत्नावली**, प्रथम अक)

तो क्या ये वे ही उदयन है जिनके लिए मैं पिताजी द्वारा दी गई (लम्बी सांस लेकर) यद्यपि में इस समय दासी हूँ, दूसरे का आदेश मानते रहने से हमारा जीवन दूषित हो रहा है, फिर भी इनके दर्शन हो जाने से मुझे उस जीवन का लोभ हो आया है।

[८२] तुलना—**दशरूपक**, १, २५-२९।

[८३] तुलना—**दशरूपक**, १, ३०-३५।

[८४] शरीरं क्षामं स्यादसति दयितालिङ्गनसुखे,
भवेत्सास्रं चक्षुः क्षणमपि न सा दृश्यत इति।
तया सारङ्गाक्ष्या त्वमसि न कदाचिद्विरहितं
प्रसक्ते निर्वाणे हृदय परितापं व्रजसि किम्॥

—**मालविकाग्निमित्र**, ३, १

प्रिया का आलिगन न करने से मेरे शरीर का सूखना भी ठीक है और उसे क्षणभर भी देख न पाने की चिन्ता में आँखों का डबडबाये रहना भी ठीक है, पर मेरे हृदय! यह तो बताओ कि उस मृगनयनी और मेरा जी ठण्डा करने वाली प्रिया के सदा पास रहते हुए भी तुम क्यों इस प्रकार गले जा रहे हो।

[८५] तुलना—**दशरूपक**, १, ३६-४२।

[८६] तीर्णे भीष्ममहार्णवे कथमपि द्रोणानले निर्वृते,
कर्णाशीविषभोगिनि प्रशमिते शल्ये च याते दिवम्
भीमेन प्रियसाहसेन रभसादल्पावशिष्टे जये,
सर्वे जीवितसशयं वयममी वाचा समारोपिताः॥

—**वेणीसंहार** ६, १

भीष्म-पितामह रूपी समुद्र पार कर गए। द्रोणाचार्य रूपी आग बुझ गई। कर्णरूपी उल्वणविषयुक्त महासर्प शान्त हो चुका। शल्य भी स्वर्लोक का अतिथि बन गया। अतएव विजय लाभ अत्यन्त सन्निकट रह गया है (तो भी) साहस-प्रेमी भीमसेन ने प्रतिज्ञा से हम सब लोगो के जीवन को संकटापन्न कर दिया है।

[८७] तुलना—**दशरूपक**, १, ४३-४८।

[८८] तुलना—**दशरूपक**, १, ४८-५४ ।

[८९] चौसठ सन्ध्यङ्ग ।

| सन्धि-नाम | अंग नाम | | | |
|---|---|---|---|---|
| १. मुख : | १. उपक्षेप | २. परिकर | ३. परिन्यास | |
| | ४. विलोभन | ५. युक्ति | ६. प्राप्ति | |
| | ७. समाधान | ८. विधान | ९. परिभावन | |
| | १०. उद्भेद | ११. करण | १२. भेद | =१२ |
| २. प्रतिमुख : | १३. विलास | १४. परिसर्प | १५. विधूत | |
| | १६. शम | १७. नर्म | १८. नर्मद्युति | |
| | १९. प्रगमन | २०. निरोध | २१. पर्युपासन | |
| | २२. पुष्प | २३. वज्र | २४. उपन्यास | |
| | २५. वर्णसंहार | | | =१३ |
| ३. गर्भ : | २६. अभूताहरण | २७. मार्ग | २८. रूप | |
| | २९. उदाहरण | ३०. क्रम | ३१. सग्रह | |
| | ३२. अनुमान | ३३. तोटक | ३४. अधिबल | |
| | ३५. उद्वेग | ३६. संभ्रम | ३७. आक्षेप | =१२ |
| ४. अवमर्श : | ३८. अपवाद | ३९. संफेट | ४०. विद्रव | |
| | ४१. द्रव | ४२. शक्ति | ४३. द्युति | |
| | ४४. प्रसंग | ४५. छलन | ४६. व्यवसाय | |
| | ४७. विरोधन | ४८. प्ररोचना | ४९. विचलन | |
| | ५०. आदान | | | =१३ |
| ५. निर्वहण : | ५१. सन्धि | ५२. विबोध | ५३. ग्रथन | |
| | ५४. निर्णय | ५५. परिभाषण | ५६. प्रसाद | |
| | ५७. आनन्द | ५८. समय | ५९. कृति | |
| | ६०. भाषा | ६१. उपगूहन | ६२. पूर्वभाग | |
| | ६३. उपसंहार | ६४. प्रशस्ति | | =१४ |
| | | | | महायोग=६४ |

[९०] तुलना—**दशरूपक**, १, ५४ ।

[९१] तुलना—**शृंगार-प्रकाश**, १२वाँ प्रकाश, पृष्ठ ५०४ तथा **नाट्यशास्त्र**, २२, ५२-५७ ।

[९२] तुलना—**नाट्यशास्त्र**, २१, ४८-५१ ।

[९३] तुलना—**दशरूपक**, १, ५६-५७ ।

[९४] तुलना—**दशरूपक**, १, ५७-५८ ।

[९५] तुलना—**दशरूपक**, १, ५९ ।

[९६] तुलना—**शृंगार-प्रकाश**, ११वाँ प्रकाश, पृष्ठ ४६३ तथा **नाट्यशास्त्र**, २०, ३७ ।

[९७] तुलना—**नाटकलक्षणरत्नकोश**, पृष्ठ ३८ ।

[९८] तुलना—**शृंगार-प्रकाश**, पृष्ठ ४६२ तथा **नाट्यशास्त्र**, २०, २८, ३०, ३२ ।

[९९] तुलना—**शृंगार-प्रकाश**, पृष्ठ ४६२ तथा **नाट्यशास्त्र**, २०, ३३ ।

[१००] तुलना—**नाट्यशास्त्र**, २०, २७, ३४ तथा **शृंगार-प्रकाश**, पृष्ठ ४६२।
[१०१] तुलना—**नाट्यशास्त्र**, २०, ३५, ३४ तथा **शृंगार-प्रकाश**, पृष्ठ ४६२।
[१०२] तुलना—**नाट्यशास्त्र**, २०, २०, ३८ तथा **शृंगार-प्रकाश**, पृष्ठ ४६२।
[१०३] यहाँ 'सिन्धुराजस्य' पाठ ठीक रहेगा।
[१०४] तुलना—अन्तर्जवनिकासंस्थैश्चूलिकार्थस्य सूचना। —**दशरूपक**, १, ६१
[१०५] तुलना—**नाट्यशास्त्र**, २१, १०६ तथा **नाटकलक्षणरत्नकोश**, पृष्ठ ४३।
[१०६] एकैकानि शिरांसि राक्षसचमूचक्रस्य हुत्वा निजे
तेजोऽग्नौ दशकण्ठमूर्धभिरथो निर्माय पूर्णाहुतिम्।
अद्य स्वस्त्ययनं समाप्य जगतो लङ्केन्द्रबन्दीवृतां
सीतामप्यवलोक्य शोकरभसव्रीडाजडो राघवः॥

—**अनर्घराघव**, ७, २

राम ने राक्षसों की सेना के मस्तकों द्वारा एक-एक करके प्रतापाग्नि में होम किया, जिसमें रावण के दशमस्तकों की पूर्णाहुति पडी, आज उसका स्वस्त्ययन समाप्त हुआ, जिससे जगत् का कल्याण होगा, राम ने इस प्रकार सभी कार्य सम्पन्न करके रावण द्वारा बन्दी बनाई गई सीता को भी देखा, इस समय उनके हृदय मे शोक, आनन्द और लज्जा की भावना से जड़ता सी पैदा हो रही है।

[१०७] तुलना—अङ्कान्तपात्रैरङ्कास्यं छिन्नाङ्कस्यार्थसूचनात्।

—**दशरूपक**, १, ६२

[१०८] **अवलोकिता**—भअवदि, सा दाणि सौदामिनी समासादिअअच्चरि-अमन्तसिद्धि-प्पहवा सिरिपव्वदे कावालिअव्वदं धरिदि।

**कामन्दकी**—कुतः पुनरिय वार्ता?

**अवलोकिता**—'अत्थि एत्थ णअरीए महामसाणप्पदेसे कराला नाम चामुण्डा।' ····· इत्यादि। —**मालतीमाधव**, प्रथम अंक

**अवलोकिता**—भगवति! इस समय आश्चर्यजनक मन्त्रसिद्धि के प्रभाव को प्राप्त करने वाली वे सौदामिनी श्रीपर्वत मे कापालिक व्रत का अवलम्बन कर रही है।

**कामन्दकी**—कहाँ से यह खबर मिली है?

**अवलोकिता**—इस शहर में महाश्मशान के स्थान में कराला नाम की चामुण्डा (देवी) है।' ········इत्यादि।

[१०९] तुलना—**दशरूपक**, १, ६२।
[११०] तुलना—**दशरूपक**, १, ६३।
[१११] तुलना—**शृंगार-प्रकाश**, पृष्ठ ४६३।
[११२] तुलना—**दशरूपक**, १, ६४-६८।

## अष्टम अधिकार

[१] तुलना—**दशरूपक**, ३, १।
[२] तुलना—**नाटकलक्षणरत्नकोश**, पृष्ठ १८१।

[३] तुलना—**नाट्यशास्त्र**, १, ११६, २१, ११८ तथा **नाटकलक्षणरत्नकोश**, पृष्ठ ४।

[४] तुलना—**नाटकलक्षणरत्नकोश**, पृष्ठ ४।

[५] तुलना—**नाट्यशास्त्र**, २०, १२।

[६] यहाँ 'वञ्चनात्' पाठ ठीक रहेगा।

[७] भोज ने श्रृंगार-प्रकाश में लक्षणों की दो तालिकाएँ प्रस्तुत की है तथा इनकी चौसठ (६४) कुल सख्या बताई है जिनमें नाट्यालंकार भी विद्यमान है (**श्रृंगार-प्रकाश**, पृष्ठ ५३०-५४६; २२वाँ प्रकाश, पृष्ठ ७८१)। वस्तुस्थिति यह है कि शारदातनय ने भी भोज का अनुकरण किया है और नाट्यालंकारों में लक्षणों का समावेश किया है तथा इनकी चौसठ (६४) कुल संख्या बतलाई है, लेकिन उन्होंने इन (६४) में से केवल ५४ का नामोल्लेख किया है साथ ही ५४ के ही लक्षण प्रस्तुत किए है अतः बात अस्पष्ट ही रहती है। सागरनन्दी ने तैंतीस नाट्यालकार स्वतन्त्र रूप से स्वीकार किए है (**नाटक-लक्षणरत्नकोश**, पृष्ठ १७२-१८१)। इसी प्रकार विश्वनाथ ने भी तैंतीस नाट्यालंकार स्वतन्त्र रूप से स्वीकार किए है (**साहित्यदर्पण**, पृष्ठ ३४४-३५२)।

[८] विधायापूर्वपूर्णेन्दुमस्या मुखमभूत् ध्रुवम्।
धाता निजासनाम्भोजविनिमीलनदुःस्थितः॥

—**रत्नावली**, २, १०

विधाता इस नायिका के अद्भुत पूर्ण चन्द्ररूप मुख का निर्माण करके निश्चित रूप से अपने आश्रयभूत कमल के संकुचित हो जाने से उलझन मे पड़ गये होंगे।

[९] शुश्रूषस्व गुरुन् कुरु प्रियसखीवृत्ति सपत्नीजने,
भर्तुर्विप्रकृतापि रोषणतया मास्म प्रतीप गमः।
भूयिष्ठ भव दक्षिणा परिजने भाग्येष्वनुत्सेकिनी,
यान्त्येवं गृहिणीपद युवतयो वामाः कुलस्याधयः॥

—**अभिज्ञानशाकुन्तल**, ४, १७

गुरुजनों की सेवा करना, पति द्वारा उपेक्षित होने पर भी क्रोध से उसके विपरीत कार्य न करना, अपनी सौतो के साथ प्रिय सखी के समान व्यवहार करना, अपने सौभाग्य के समय गर्वित न होना, परिचारिका-वर्ग के प्रति अत्यन्त उदार रहना इस प्रकार की युवतियाँ गृहिणी-पद को प्राप्त करती हैं, और इसके विपरीत प्रकार की युवतियाँ अपने कुल के व्यक्तियों के लिए मानसिक पीड़ा उत्पन्न करने वाली होती हैं।

[१०] साधु अङ्गराज, साधु। कथमन्यथा—
दत्त्वाऽमय सोऽतिरथो वध्यमानं किरीटिना।
सिन्धुराजमुपेक्षेत नैवं चैत्कथमन्यथा॥ —**वेणीसंहार**, ३, २८

'द्रोण अश्वत्थामा को राजा बनाना चाहते हैं'—ऐसा कहते हुए कर्ण के प्रति दुर्योधन की उक्ति है कि साधुअङ्गराज! साधु अन्यथा कैसे हो सकता है—अतिरथ उन्होंने अर्जुन के द्वारा वध किए जाते हुए जयद्रथ को अभयदान देकर उपेक्षा की। यदि यह बात न होती तो फिर ऐसा क्यो किया?

[११] **वासवदत्ता**—कचनमाले त तहा चलणपडिदमय्यउत्तमवधीरिअ आअच्छंतीए मए अदिणिठ्ठुरं एन्नमए किद इति ।' —**रत्नावली**, तृतीय अंक

**वासवदत्ता**—कंचनमाले, मै पैरों पर पडे हुए आर्यपुत्र की अवज्ञा करके चली आई, यह मेरी बड़ी निर्दयता हुई ।

[१२] उत्पत्तिर्जमदग्नितः स भगवान्देवः पिनाकी गुरुः
वीर्यं यत्तु न तद्गिरां पथि ननु व्यक्तं हि तत्कर्मभिः ।
त्यागस्सप्त समुद्रमुद्रितमहीनिर्व्याजदानावधि—
र्ब्रह्मक्षत्रतपोनिधेर्भगवतः किं वा न लोकोत्तरम् ॥

—**महावीरचरित** २, ३६

जमदग्नि आपके जन्मदाता है, महादेव गुरु है, आपका जो पराक्रम है वह वचनों से नही कहा जा सकता है, सप्त-समुद्र-वेष्टित इस पृथ्वी का निर्व्याज दान आपका त्याग है, क्षात्र और ब्रह्म तेज के निधानभूत आपका सब कुछ लोकोत्तर ही है ।

[१३] **पक्ष**—

जिसमे साध्य का सन्देह हो वह 'पक्ष' है ('सन्दिग्धसाध्यवान पक्षः' —**तर्क-संग्रह**, पृष्ठ ४३) । जैसे—'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' यहाँ पर्वत में साध्य का सन्देह हुआ अतः 'पर्वत' पक्ष है । जिसका सन्देह हो वह साध्य कहलाता है, इसलिए 'वह्नि' साध्य है । जिससे साध्य का निश्चय किया जाय वह 'हेतु' कहलाता है । इसलिए 'धूम' हेतु है ।

[१४] **चेटी**—अइ जण्णसेणि पञ्च गामा पथीअन्ति त्ति सुणीअदि कीस दाणी वि दे कैसाणसंजभीअन्ति' ।

—**वेणीसंहार**, प्रथम अंक

**चेटी**—अये महारानी द्रौपदी, सुना जाता है पाँच गाँव लेकर सन्धि की बातचीत की गई है, अब भी आपने अपने केशपाशों का संयमन नहीं किया है ।

[१५] **वसुभूतिः**—(सागरिकां निर्वर्ण्य) सुसदृशीयं राजपुत्र्याः ।
**बाभ्रव्यः**—'ममाप्येतदेव मनसि वर्तते ।' —**रत्नावली**, चतुर्थ अंक
**वसुभूति**—(सागरिका को देखकर) यह राजकुमारी सी दीखती है ।
**बाभ्रव्य**—मै भी ऐसा ही समझता हूँ ।

[१६] वृद्धास्ते न विचारणीय चरितास्तिष्ठन्तु हुँ वर्तते,
सुन्दस्त्रीमथनेऽप्यकुण्ठयशसो लोके महान्तो हि ते ।
यानि त्रीणि कुतोमुखान्यपि पदान्यासन्खरायोधने,
यद्वा कौशलमिन्द्रसूनुनिधने तत्राप्यभिज्ञो जनः ॥

—**उत्तररामचरित,** ५, ३४

वे वयोवृद्ध है, अतः उनके चरित्र पर टीका-टिप्पणी करना उचित नहीं । 'सुन्द' की स्त्री (ताड़का) को मारने पर भी उनका यश कुण्ठित नहीं हुआ, वे आज भी महान् ही है । 'खर' के साथ युद्ध करते समय वे जो तीन पग पीछे हटे थे अथवा इन्द्र-पुत्र (वाली) को मारने में उन्होंने जो कौशल किया था, उससे भी संसार परिचित है ।

[१७] **कञ्चुकी**—(साक्रन्दम्) हा देव पाण्डो, तव सुतानामजातशत्रुभीमार्जुननकुलसहदेवानामयं दारुणः परिणामः। हा देवि कुन्ति भोजराजभवनपताके।

—**वेणीसंहार,** षष्ठ अंक

**कञ्चुकी**—(रोकर) हाय महाराज पाण्डु ! आपके पुत्र युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव की यह दयनीय दशा। हाय महारानी कुन्ती भोजराज के महल की ध्वजा।

[१८] प्राणानामनिलेन वृत्तिरुचिता सत्कल्पवृक्षे वने
तोये काञ्चनपद्मरेणुकपिशे धर्माभिषेकक्रिया।
ध्यानं रत्नशिलातलेषु विबुधस्त्रीसन्निधौ सयमो,
यत्काङ्क्षन्ति तपोभिरन्यमुनयस्तस्मिस्तपस्यन्त्यमी॥

—**अभिज्ञानशाकुन्तल,** ७, १२

कल्पवृक्ष-वन में रहते हुए भी ऋषि उतनी ही वायु का सेवन करते हैं जितनी जीवन-धारण के लिए पर्याप्त है। सुनहरे कमल के पराग से कुछ-कुछ पीत जल मे धर्म की दृष्टि से आवश्यक स्नान करते है (जलक्रीडा नही)। रत्नशिलाओ पर बैठकर समाधि लगा रहे है, अप्सराओं के सामीप्य में इन्द्रियनिगृह का अभ्यास कर रहे है। अन्य मुनिजन जिसे तपस्या से प्राप्त करना चाहते है, उनके बीच मे रहकर ये तपस्या करते है।

[१९] **सुसंगता**—सहि ! जस्स किदे तुमं आगदा सो अअ ते पुरदो चिट्ठादि।
**सागरिका**—(सासूयम्) सुसंगदे कस्स किदे अहं एत्थ आगदा।
**सुसंगता**—(विहस्य) अइ अण्णसंङ्किदेणं चित्तफल अस्स। ता गेण्ह एदम्।'

—**रत्नावली,** द्वितीय अंक

**सुसंगता**—सखि, जिसके लिए तू आयी थी वह तो तुम्हारे सामने ही है।
**सागरिका**—(भौहें टेढ़ी करके) सुसगता, मै किसके लिए यहाँ आयी थी ?
**सुसंगता**—(हँसकर) तुम्हे तो सब जगह दूसरी ही शंका रहती है। चित्रफलक के लिए आई थी, ले लो वह।

[२०] विधाता भद्रं नो वितरतु मनोज्ञाय विधये,
विधेयासुर्देवाः परमरमणीया परिणतिम्।
कृतार्था भूयासं प्रियसुहृदपत्योपनयतः
प्रयत्नः कृत्स्नोऽय फलतु, शिवतातिश्च भवतु॥

—**मालतीमाधव,** ६, ७

ब्रह्मा मनोहर विधान के लिए हम लोगों को कल्याण वितरण करें। देवतागण अतिशय सुन्दर परिणाम को प्रकट करें। प्रिय मित्रों की सन्तानों के विवाह से मैं कृतकृत्य हो जाऊँ। यह सम्पूर्ण प्रयत्न फलित और कल्याणकारी हो।

[२१] कुवलयदलस्निग्धश्यामः शिखण्डकमण्डनो
वटुपरिपदं पुण्यश्रीकः श्रियैव सभाजयन्।
पुनरपि शिशुर्भूतो वत्सः स मे रघुनन्दनो,
झटिति कुरुते दृष्टः कोऽयं दृशोरमृताञ्जनम् ?

—**उत्तररामचरित,** ४, १९

नीलकमल-दल के समान मसृण और श्याम, काक पक्षों से सुशोभित, अलौकिक शोभा से सम्पन्न शरीर की क्रान्ति से ही ब्रह्मचारियों की मण्डली को अलंकृत करने वाला यह कौन है ? जो कि देखने पर फिर से शिशु-रूप-धारी राम की भाँति मेरी आँखों में अमृतमय अञ्जन को लेप सा कर रहा है ?

[२२] **दुष्यन्त**—सूत ! विनीतवेषेण प्रवेष्टव्यानि तपोवनानि नाम ।

—**अभिज्ञानशाकुन्तल**, प्रथम अंक

**दुष्यन्त**—सूत ! तपोवन विनीत वेश से प्रवेश करने योग्य होते है ।

[२३] (प्रविश्य मृण्मयूरहस्ता)

**तापसी**—(सव्वदमण ! सउंदलावण्ण पेक्ख । (सर्वदमन, शकुन्तलावण्यं प्रेक्षस्व)

**बालः**—(सदृष्टिक्षेपम्) कहिं वामे अञ्जू ?

**उभे**—णाम सारिस्सेण वंचिदो माऽवच्छलो ।

**राजा**—(आत्मगतम्) कि वा शकुन्तलेत्यस्य मातुराख्या ।

—**अभिज्ञानशाकुन्तल**, सप्तम अंक

(हाथ में मिट्टी का खिलौना लिए आकर)

**तापसी**—सर्वदमन । शकुन्तल-लावण्य (पक्षी का सौन्दर्य) तो देखो ।

**बालक**—(इधर-उधर देखते हुए) मेरी माता कहाँ है ?

**दोनों**—माँ का लाडला नाम के सादृश्य से ठगा गया ।

**राजा**—क्या शकुन्तला इसकी माता का नाम है ।

[२४] **राजा**—(अञ्जलिबध्वा) प्रिय वासवदत्ते प्रसीदप्रसीद ।

**वासवदत्ता**—अञ्जउत्त मा एव्वं भण । अण्णगदाइं इमाइं अक्खराइं ।

**विदूषकः**—भोदि महाणुभावा क्खु तुमम् । ताक्खमी अदु दाव एक्को अवराहो पिअवअस्सस्स ।

**वासवदत्ता**—अज्ज वसन्तअणं बढ़मसंगमे विग्धं करन्तीए मए एव्व सदस्य अपरद्धम् ।'

—**रत्नावली**, तृतीय अंक

**राजा**—(हाथ जोड़कर) प्रिये वासवदत्ते, प्रसन्न हो जाओ ।

**वासवदत्ता**—आर्यपुत्र, ऐसा मत कहो, यह अक्षर किसी और के लिए है ।

**विदूषक**—देवि, आप बड़ी उदार हृदया है, मेरे मित्र का यह पहला अपराध क्षमा करें ।

**वासवदत्ता**—आर्य वसन्तक, अपराध तो मैंने ही किया कि इनके प्रथम संगम मे विघ्न डाल दिया ।

[२५] अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं कररुहै—
रनाविद्धं रत्नं मधुनवमनास्वादितरसम् ।
अखण्डं पुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनघं
न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यति विधिः ॥

—**अभिज्ञानशाकुन्तल**, २, १०

उसका अनिन्द्य सौन्दर्य, न सूँघे हुए पुष्प, नखों से न काटे हुए पल्लव, बिना छिदे रत्न, जिसके रस का स्वाद नही लिया गया ऐसे नूतन मधु तथा

बिना भोगे हुए अक्षय पुण्य-फल के समान है। न जाने विधाता इसका उपभोक्ता किसे बनायेगा ?

[२६] **लवः**—(स्वगतम्) ईदृशो मां प्रत्यभीषामकारणस्नेहः। मया पुनरेभ्य एवाभिद्रोग्धुमज्ञेनायुधपरिग्रह कृत्तः। (प्रकाशम्) मृष्यन्तां त्विदानी लवस्य बालिशतां तातपादाः।

**रामः**—किमपराद्धं वत्सेन ?

**चन्द्रकेतुः**—अश्वानुयात्रिकेभ्यस्तातप्रतापाविष्करणमुपश्रुत्य वीरायितमनेन।

**रामः**—नन्वयमलंकारः क्षत्रियस्य। —**उत्तररामचरित,** षष्ठ अंक

**लव**—(स्वयं ही) इनका मुझ पर ऐसा अहेतुक स्नेह है। परन्तु मन्दमति मैंने इनसे ही द्रोह करने के लिए शस्त्र-ग्रहण कर लिया था। (प्रकाश मे) श्रद्धेय पिताजी ! अब आप लव की मूर्खता को क्षमा कर दीजिए।

**राम**—वत्स ने (तुमने) क्या अपराध कर दिया ?

**चन्द्रकेतु**—'अश्व' के पीछे चलने वाले रक्षकों से आपके प्रताप की महिमा सुनकर इन्होंने वीरों के योग्य आचरण किया है।

**राम**—अरे ! यह तो क्षत्रिय का आभूषण है।

[२७] तुलना—**नाट्यशास्त्र,** २७, ५०-५३।

[२८] तुलना—**नाट्यशास्त्र,** २७, ६३-६८।

[२९] तुलना—**नाट्यशास्त्र,** २७, ५८-६१, ५५।

[३०] तुलना—**दशरूपक,** ३, ३।

[३१] प्रीतिर्नाम सदस्यानां प्रिया रङ्गोपजीविनः।
जित्वा तदपहर्तारमेष प्रत्याहरामि ताम्॥

—**अनर्घराघव,** १, ३

[३२] सत्पक्षा मधुरगिर. प्रसाधिताशा मदोद्धतारभाः।
निपतन्ति धार्तराष्ट्राः कालवशान्मेदिनी पृष्ठे॥ —**वेणीसंहार,** १, ६

[३३] द्वीपादन्यस्मादपि मध्यादपि जलनिधेर्दिशोऽप्यन्तात्।
आनीय झटिति घटयति विधिरभिमतमभिमुखीभूतः॥

—**रत्नावली,** १, ६

[३४] तवास्मि गीतरागेण हारिणा प्रसभं हृतः।
एष राजेव दुष्यन्तः सारङ्गेणातिरहसा॥

—**अभिज्ञानशाकुन्तल,** १, ५

[३५] तुलना—**दशरूपक,** ३, ४।

[३६] तुलना—**दशरूपक,** ३, ५।

[३७] तुलना—**नाट्यशास्त्र,** २२, २५।

[३८] तुलना—उन्मुखीकरणं तत्र प्रशसातः प्ररोचना। —**दशरूपक,** ३, ६

[३९] श्रीहर्षो निपुण. कविः परिषदप्येषा गुणग्राहिणी
लोके हारि च वत्सराजचरितं नाट्ये च दक्षा वयम्।
वस्त्वेकैकमपीह वाञ्छितफलप्राप्तेः पदं किं पुन—
र्मद्भाग्योपचयादयं समुदितः सर्वो गुणानां गणः॥

—**रत्नावली,** १, ५

श्री हर्ष एक निपुण कवि हैं, यह सभा भी गुणज्ञ है, उदयन का चरित्र हृदयग्राही है, और हम लोग अभिनय के पारदर्शी हैं। इस तरह इसमें एक भी गुण का होना अभीष्ट सिद्धि का कारण हो सकता है, किन्तु हमारे भाग्य से तो यहाँ समस्त गुण एकत्र रूप में प्राप्त हो रहे हैं।

[४०] मद्वर्ग्या रसपाठगीतिगतिषु प्रत्येकमुत्कर्षिणौ
मौद्गल्यस्य कवेर्गभीरमधुरोद्गारा गिरां व्यूतयः।
वीरोदात्तगुणोत्तरो रघुपतिः काव्यार्थबीजं मुनि—
र्वाल्मीकिः फलति स्म यस्य चरितस्तोत्राय दिव्या गिरः॥

—**अनर्घराघव**, १, ८

मेरे सहकर्मी रससृष्टि, पदपाठ, गीति-कला, सभी नाट्यांगों में एक से एक बढकर सिद्धहस्त है, मौद्गल्य कवि मुरारि की कविता गम्भीर मधुर उद्गारशालिनी है, वाक्य के नायक वीर तथा उदात्तगुण-मण्डित राम ही है, जिनके चरित्र की प्रशंसा में वाल्मीकि ने दिव्य वाणी का प्रयोग सफल किया है।

[४१] तुलना—**दशरूपक** ३, ७-८।

[४२] तुलना—**नाट्यशास्त्र,** २२, २८ २९ तथा **नाटकलक्षणरत्नकोश**, पृष्ठ ११९।

[४३] तुलना—**दशरूपक** ३, ९।

[४४] क्रूरग्रहः सकेतुश्चन्द्रं संपूर्णमण्डलमिदानीम्।
अभिभवितुमिच्छति बलात्
(नेपथ्ये)
आः क एष मयि स्थिते चन्द्रमभिभवितुमिच्छति ?
रक्षत्येनं तु बुधयोगः॥ —**मुद्राराक्षस**, १, ६

[४५] तुलना—**दशरूपक**, ३, ११।

[४६] तवस्मि गीतरागेण हारिणा प्रसभं हृतः।
एष राजेव दुष्यन्तः सारङ्गेणातिरंहसा॥ —**अभिज्ञानशाकुन्तल,** १, ५

तुम्हारे मनोहारी गीतराग ने मेरा मन बलपूर्वक वैसे ही हरण कर लिया है, जैसे राजा दुष्यन्त को यह अति तीव्रगामी हरिण दूर ले आया है।

[४७] तुलना—**दशरूपक**, ३, १३-१४।

[४८] **विदूषकः**—भो वअस्स को एसो कामो जेण तुमं पि दूभिज्जसे किं पुरीसो आदु इत्थिअत्ति।

**राजा**—सखे !
मनोजातिरनाधीना सुखेष्वेव प्रवर्तते।
स्नेहस्य ललितो मार्गः काम इत्यमिधीयते॥

**विदूषकः**—एवं पि ण जाणे।

**राजा**—वयस्य इच्छाप्रभवः सः।

**विदूषकः**—किं जो ज इच्छदि सो तं कामेदित्ति।

**राजा**—अथ किम्।

—**विक्रमोर्वशीय** (?) द्रष्टव्य—**दशरूपक,** ३, १४

[४९] तुलना—**दशरूपक**, ३, १४-१५।

[५०] कार्या सैकतलीनहंसमिथुना स्रोतोवहा मालिनी
पादास्तामभितो निषण्णहरिणा गौरीगुरोः पावनाः ।
शाखालम्बितवल्कलस्य च तरोर्निर्मातुमिच्छाम्यधः,
शृंगे कृष्णमृगस्य वामनयन कण्डूयमानां मृगीम् ॥

—**अभिज्ञानशाकुन्तल**, ६. १७

[५१] तुलना—**दशरूपक**, ३, १५ ।

[५२] तुलना—**दशरूपक**, ३, १६ ।

[५३] तुलना—**दशरूपक**, ३, १७ ।

[५४] तुलना—**दशरूपक**, ३, १७ ।

[५५] त्वं जीवित त्वमसि मे हृदयं द्वितीय
त्वं कौमुदी नयनयोरमृतं त्वमङ्गे ।
इत्यादिभि· प्रियशतैरनुरुध्य मुग्धां
तामेव शान्तमथवा किमतः परेण ॥

—**उत्तररामचरित**, ३, ३६

[५६] तुलना—**दशरूपक**, ३, १८ ।

[५७] तुलना—**दशरूपक**, ३, १८ ।

[५८] तुलना—रसोक्तस्यान्यथा व्याख्या तत्रावस्यन्दित हि तत् ।

—**दशरूपक**, ३, १९

[५९] तुलना—**दशरूपक**, ३, १९।

[६०] **चरः**—हंहो ब्राह्मण, मा कुप्प । किं पि तुह उअज्झाओ जाणादि कि पि अह्मारिसा जणा जाणन्ति ।

**शिष्यः**—किमस्मदुपाध्यायस्य सर्वज्ञत्वमपहर्तुमिच्छसि ।

**चरः**—यदि दे उवज्झाओ सव्वं जाणादि ता जाणादु दाव कस्स चन्दौ अणभिप्पेदो त्ति ।

**शिष्यः**—किमनेन ज्ञातेन भवति ।

\+ \+ \+

**चाणक्यः**—चन्द्रगुप्तादपरक्तान्पुरुषाज्जनाभि ।

—**मुद्राराक्षस**, प्रथम अंक

[६१] तुलना—असम्बद्धकथाप्रायोऽसत्प्रलापो यथोत्तरः । —**दशरूपक**, ३, २०

[६२] तुलना—**दशरूपक**, ३, २० ।

[६३] (मालविका निर्गन्तुमिच्छति)

**विदूषकः**—मा दाव उवएससुद्धा गमिस्ससि ।

**गणदासः**—(विदूषकं प्रति) आर्य उच्यतां यस्त्वया क्रमभेदो लक्षितः ।

**विदूषकः**—पठय पच्चूसे ब्रह्मणस्स पूआ भोदि साइए लङ्घिदा ।
(मालविका स्मयते)

—**मालविकाग्निमित्र**, द्वितीय अंक

[६४] तुलना—**दशरूपक**, ३, २१ ।

[६५] कस्मैचित्कपटाय कैटभरिपूरः पीठदीर्घालयां
देवि त्वामभिवाद्य कुप्यसि न चेत्तत्किंचिदाचक्ष्महे ।

यत्ते मन्दिरमम्बुजन्म किमिदं विद्यागृह् यच्चते,
नीचान्नीचतरोपसर्पणमपामेतत्किमाचार्यकम् ॥

—**अनर्घराघव**, ७, ४३

[६६] मेदश्छेदकृशोदरं लघु भवत्युत्थानयोग्यं वपु.
सत्त्वानामपि लक्ष्यते विकृतिमच्चितं भयक्रोधयोः ।
उत्कर्षः स च धन्विनां यदिषवः सिध्यन्ति लक्ष्ये चले
मिथ्यैव व्यसनं वदन्ति मृगयामीदृग्विनोदः कुत. ?

—**अभिज्ञानशाकुन्तल**, २, ५

[६७] तुलना—**दशरूपक**, ३, २१-२५ ।

[६८] तुलना—**दशरूपक** , ३, २८-३० ।

[६९] तुलना—**दशरूपक**, ३, ३०-३१ ।

[७०] तुलना—**नाट्यशास्त्र**, २०, १८ ।

[७१] तुलना—**नाट्यशास्त्र**, २०, १४ ।

[७२] तुलना—**नाट्यशास्त्र**, २०, १६ ।

[७३] तुलना—**दशरूपक**, ३, ३१-३२ ।

[७४] तुलना—**दशरूपक**, ३, ३२-३३ ।

[७५] तुलना—**दशरूपक**, ३, ३४-३६ ।

[७६] तुलना—पताकास्थानकान्यत्र बिन्दुरन्ते च बीजवत् ।

—**दशरूपक**, ३, ३७

[७७] तुलना—नाटकलक्षणरत्नकोश, पृष्ठ ३ ।

[७८] (क) यह नखकुट्ट का मत प्रतीत होता है ।
(ख) तुलना—नखकुट्टस्त्वाह—
'दिव्यमानुषसंयोगस्तोटकं नाटकार्थम् इति ।

—**नाटकलक्षणरत्नकोश**, पृष्ठ २६२

[७९] तुलना—**दशरूपक**, ३, ३९-४० ।

[८०] तुलना—**दशरूपक**, ५, ४१-४२ ।

[८१] तुलना—**नाट्यशास्त्र**, २०, ४८ ।

[८२] तुलना—**नाट्यशास्त्र**, २०, ५३ ।

[८३] तुलना—**शृंगारप्रकाश**, ११वाँ प्रकाश, पृष्ठ ४६३ ।

[८४] तुलना—**नाट्यशास्त्र**, २०, ५२ ।

[८५] तुलना—**दशरूपक**, ३, ४३ ।

[८६] तुलना—**दशरूपक**, ३, ४९-५१ ।

[८७] तुलना—**शृंगारप्रकाश**, ११वाँ प्रकाश, पृष्ठ ४६५ ।

[८८] तुलना—**नाट्यशास्त्र**, २०, १४२ ।

[८९] तुलना—**दशरूपकावलोक**, पृष्ठ १७७ ।

[९०] तुलना—**दशरूपक**, ३, ६५ ।

[९१] भरत ने मुहूर्त्त के अर्द्धांश को एक 'नाडिका' कहा है ।
ज्ञेयं तु नाडिकाख्यं मानं कालस्य यन्मुहूर्तार्धम् ।

—**नाट्यशास्त्र**, २०, ६६

जबकि शारदातनय मुहूर्त के चतुर्थांश अर्थात् दो घड़ी को एक 'नाडिका' कहते है। एक नाडिका २४ मिनट की होती है।

[९२] तुलना—**दशरूपक**, ३, ६६।

[९३] तुलना—**नाट्यशास्त्र**, २०, ७०।

[९४] तुलना—**नाट्यशास्त्र**, २०, ७६।

[९५] तुलना—**नाट्यशास्त्र**, २०, ९७-९८।

[९६] तुलना—**नाट्यशास्त्र**, २०, ९८-१००।

[९७] तुलना—**दशरूपक**, ३, ७६।

## नवम अधिकार

[१] तुलना—गोष्ठे यत्तु विहरतश्चेष्टितमिह कैटभद्विषः किञ्चित्।
रिष्टासुरप्रमथनप्रभृति तदिच्छन्ति गोष्ठीति॥
—**शृंगारप्रकाश**, ११वाँ प्रकाश, पृष्ठ ४६८

[२] तुलना—**नाटकलक्षणरत्नकोश**, पृष्ठ २८८।

[३] विश्वनाथ ने शारदातनय के द्वारा कहे गये 'डोम्बी' के लक्षण एव उदाहरण को 'भाणिका' नामक उपरूपक में उद्धृत किया है। (द्रष्टव्य—**साहित्यदर्पण**, पृष्ठ ३७०)।

[४] विश्वनाथ ने 'श्रीगदित' के दो भेद किये है, जिनमे पहले भेद का लक्षण अन्यत्र कही नही प्राप्त होता अपितु दूसरे भेद का लक्षण शृगारप्रकाश में मिलता है। तुलना—

तत्र श्रीरिव दानवशत्रोर्यस्मिन्कुलाँगनापत्युः।
वर्णयति शौर्यधैर्यप्रभृतिगुणानग्रतस्सख्याः॥
पत्या च विप्रलब्धा गातव्ये ता. क्रमादुपलभन्ते।
श्रीगदितमिति मनीषिभिरुदाहृतोऽसौ पदाभिनयः॥
—**शृंगारप्रकाश**, ११वाँ प्रकाश, पृष्ठ ४६६

शारदातनय ने एक ही भेद स्वीकार किया है और उसमे उपरोक्त दोनो भेदो के लक्षणों को समाविष्ट कर दिया है। (तुलना—**साहित्यदर्पण**, पृष्ठ ३६८)।

[५] तुलना—**शृंगारप्रकाश**, ११वाँ प्रकाश, पृष्ठ ४६६-४६७ तथा **नाट्यदर्पण**, ४, ६६।

[६] तुलना—**शृंगारप्रकाश**, ११वाँ प्रकाश, पृष्ठ ४६७ तथा **नाट्यदर्पण**, ४, ६६-६७।

[७] तुलना—**शृंगारप्रकाश**, पृष्ठ ४६७।

[८] तुलना—**शृंगारप्रकाश**, पृष्ठ ४६७ तथा **नाट्यदर्पण**, ४, ६७।

[९] तुलना—**शृंगारप्रकाश**, पृष्ठ ४६७-४६८।

[१०] तुलना—**साहित्यदर्पण**, पृष्ठ ३६६ तथा **नाटकलक्षणरत्नकोश**, पृष्ठ २९८।

[११] छलिक—

छान्दोग्य उपनिषद् मे सामवेद की गायन विधि को 'छालिक्य' नाम

नाम से कहा गया है। **हरिवंशपुराण** (२, ८६, ८३-८४) मे उल्लेख है कि छालिक्य का सर्वप्रथम प्रचलन देव, गन्धर्व तथा ऋषियों ने किया। श्रीकृष्ण तथा प्रद्युम्न ने इसे भूलोक में प्रचलित किया। भूलोक मे छालिक्य के प्रति अगाध-रुचि देखकर नाटककारों ने इसे अपनी कृतियों का विषय बनाया।

कालिदास ने इसे 'छलिक' नाम से कहा है। मालविकाग्निमित्र में इस 'छलिक' के विषय में खूब चर्चा की गई है। बकुलकलिका कहती है—

'आणत्तम्हि देवीए धारणीए। अइरप्पउत्तोवदेसं छलिअं णाम णहअ अन्दरेण कीरिसी मालविअत्ति णट्टाअरिअ अज्जगणदास पुच्छिदुं। ता दाव संगीत साल गच्छम्हि। —**मालविकाग्निमित्र**, प्रथम अंक

'महारानी धारिणी ने मुझे आज्ञा दी है कि जाकर नाट्याचार्य आर्य गणदास से पूछो कि मालविका ने जो बहुत दिनो से 'छलिक' नाम का नाट्य सीखना आरम्भ किया था उसे वह कहाँ तक सीख पाई है तो अब संगीतशाला को चलूँ।'

इसी नाटक से यह भी ज्ञात होता है कि 'छलिक' को शर्मिष्ठा ने बनाया था, जो चौपदी होता है और उसका अभिनय बहुत कठिन होता है—

'शर्मिष्ठायाः कृतिं चतुष्पादोत्थ छलिक दुस्प्रयोज्यमुदाहरन्ति।'

—**मालविकाग्निमित्र**, प्रथम अंक

पुनः कालिदास ने 'छलिक' के स्वरूप का निरूपण करते हुए कहा है—

अंगरन्तर्निहितवचनैः सूचितः सम्यगर्थः
पादन्यासो लयमनुगतस्तन्मयत्वं रसेषु।
शाखायोनिमृदुरभिनयस्तद्विकल्पानुवृत्तौ
भावो भावं नुदति विषयाद्रागबंधः स एव॥

—**मालविकाग्निमित्र**, २, ८

परिव्राजिका कहती है कि मैने तो जो देखा उसमें कहीं दोष दिखाई ही नही दिया। क्योकि गीत की सब बातों का ठीक-ठाक अर्थ अंगों के अभिनय से भलीभाँति दिखा दिया गया है। इनके पैर भी लय से साथ-साथ चल रहे थे। फिर गीत के रस मे भी ये तन्मय हो गई थी और इनके नृत्य ने भी हमे प्रेम मे मग्न कर दिया क्योंकि ताल के साथ होने वाले अभिनय में अनेक प्रकार से अग चलाकर जो भाव दिखाये जा रहे थे वे ऐसे आकर्षक थे कि मन किसी ओर जाने ही नही पाता था।

इस प्रकार हरिवंश का छालिक्य गान्धर्व सगीत-वाद्य-ताल प्रधान है और उसके उद्गाता स्वयं श्रीकृष्ण है। जबकि कालिदास विरचित मालविकाग्निमित्र नाटक का 'छलिक' विशुद्ध अभिनय प्रधान है इसकी अधिष्ठातृ शर्मिष्ठा है। इसमें ताल-लय-गीत का समावेश है तथा अग-सचालन द्वारा भाव की अभिव्यंजना कही गई है (द्रष्टव्य—**अभिनयदर्पण**, भूमिका, पृष्ठ १४०-१४१)।

[१२] (क) भोज ने 'प्रेक्षणक' के दो भेद किये है—प्रेक्षणक और नर्त्तनक।

यस्य पदार्थाभिनय ललितलयं सदसि नर्तकी कुरुते।
तन्नर्तनकं शम्यालास्यञ्छलिकद्विपद्यादि॥

रथ्यासमाजचत्वरसुरालयादौ प्रवर्त्यते बहुभि· ।
पात्रविशेषैर्यत्तत्प्रेक्षणकं कामदहनादि ।।

—**शृंगारप्रकाश**, ११वाँ प्रकाश, पृष्ठ ४६८

लेकिन शारदातनय के अनुसार ये दोनों एक ही है। इन्होंने शीर्षक में 'प्रेक्षणक' और लक्षण मे 'नर्तनक' शब्द का प्रयोग किया है ।

(ख) तुलना—**नाट्यदर्पण,** ४, ६१ ।

(ग) विश्वनाथ 'प्रेक्षणक' को 'प्रेंखण' कहते है (द्रष्टव्य—**साहित्यदर्पण,** पृष्ठ ३६७) ।

[१३] अन्य के मत मे जहाँ आठ, सोलह या बत्तीस व्यक्ति मण्डल बनाकर 'पिण्डीबंध' के अनुसार नृत्य करते है, उसे 'रासक' कहा जाता है ।

अष्टौ षोडश द्वात्रिंशद्यत्र नृत्यन्ति नायकाः ।
पिण्डीबन्धानुसारेण तन्नृत्तं रासक स्मृतम् ।।

—(श्री रासपञ्चाध्यायी—**सांस्कृतिक अध्ययन,** श्री रसिकविहारी जोशी, भूमिका, पृष्ठ १)

जबकि शारदातनय रास में सोलह, बारह या आठ नृत्यपरायण नायिकायें स्वीकार करते है ।

[१४] तुलना—**नाट्यदर्पण,** ४, ६३ ।

[१५] तुलना—**नाट्यदर्पण,** ४, ६४ ।

[१६] तुलना—**शृंगारप्रकाश**, ११वाँ प्रकाश, पृष्ठ ४६८-४६९ ।

[१७] तुलना—**नाट्यदर्पण**, ४, ५८ ।

[१८] तुलना—**नाट्यदर्पण**, ४, ६५ ।

[१९] तुलना—**शृंगारप्रकाश**, पृष्ठ ४६६ ।

[२०] तुलना—मण्डलेन तु यत्स्त्रीणा नृत्तं हल्लीसकं तु तत् ।
तत्र नेता भवेदेको गोपस्त्रीणां यथा हरिः ।।

—**सरस्वतीकण्ठाभरण**, २, १६०, **शृंगारप्रकाश**, पृष्ठ ४६८ तथा **नाट्यदर्पण**, ४, ६० ।

[२१] (क) **हल्लीसक**—

हरिवंश-पुराण मे 'हल्लीसक' शब्द का प्रयोग रास के हेतु प्राप्त होता है। नीलकण्ठ ने अपनी टीका में हल्लीसक का अर्थ रास किया है ।

'हल्लीसकक्रीडनं एकस्यैव पुसः बहुभिः स्त्रीभिः क्रीडनं सैव रासक्रीडा ।'

—**हरिवंशपुराण** २, २०, ३५ नीलकण्ठ ।

एक पुरुष की अनेक स्त्रियों के साथ क्रीडा ही रासक्रीडा कही जाती है ।

भोज के अनुसार मण्डलाकार रूप में जिस नृत्य का आयोजन होता है, उसे 'हल्लीसक' कहते हैं। उसमें एक नेता होता है, जैसे कि गोपिकाओ में श्रीकृष्ण ।

मण्डलेन तु यत्स्त्रीणां नृत्त हल्लीसकं तु तत् ।
तत्र नेता भवेदेकोगोपस्त्रीणा यथा हरिः ।।

—**सरस्वतीकण्ठाभरण**, २, १६०

(श्रीरामपञ्चाध्यायी—**सांस्कृतिक अध्ययन**, श्रीरसिकविहारी जोशी, भूमिका, पृष्ठ १) ।

शारदातनय ने भोज के 'हल्लीसक' के लक्षण को 'रासक' के लक्षण में उद्धृत किया है। इससे प्रतीत होता है कि शारदातनय 'हल्लीसक' और 'रास' मे प्राचीन परम्परा के अनुसार कोई अन्तर नही करते हैं। जो भी हो, यहाँ शारदातनय ने 'हल्लीसक' को 'रास' से भिन्न ही स्वीकार किया है।

(ख) तुलना—**साहित्यदर्पण**, पृष्ठ ३७० तथा **नाटकलक्षणरत्नकोश**, पृष्ठ २९९।

[२२] (क) तुलना—**नाटकलक्षणरत्नकोश**, पृष्ठ ३०३ तथा **साहित्यदर्पण**, पृष्ठ ३६९।

(ख) नाटकलक्षणरत्नकोश मे द्वितीय अंक मे दो नाडिकाएँ मानी गई हैं। तीसरे-अंक में नाटकलक्षणरत्नकोश में दस नाडिकाएँ तथा साहित्यदर्पण में ६ नाडिकाएँ मानी गई है।

[२३] तुलना—**शृंगारप्रकाश**, पृष्ठ ४६६ तथा **नाट्यदर्पण**, ४, ५७।

[२४] तुलना—**शृंगारप्रकाश**, पृष्ठ ४६९।

[२५] तुलना—**शृंगारप्रकाश**, पृष्ठ ४६९।

[२६] तुलना—**नाट्यशास्त्र**, १८, ३१-६०।

[२७] तुलना—**नाट्यशास्त्र**, १९, ३-२९।

[२८] संभूयेव सुखानि चेतसि परं भूमानमातन्वते
यत्रालोकपथावतारिणि रतिं प्रस्तौति नेत्रोत्सवः।
यद्बालेन्दुकलोच्चयादुपचितः सारैरिवोत्पादितं
तत्पश्येमनङ्गमङ्गलगृहं भूयोऽपि तस्या मुखम्॥

—**मालतीमाधव**, ५, ९

जिस दृष्टिमार्ग में जाने पर समस्त आनन्द इकट्ठे होने के सदृश्य अतिशय बाहुल्य का विस्तार करते है, जिसके दर्शन से उत्पन्न नेत्रोत्सव प्रिया में अभिलाषा रूप चित्तवृत्ति को उत्पन्न करता है, जो बालचन्द्र के कला-समूह से संग्रहीत स्थिर अशों से उत्पादित के सदृश है, कामदेव का मंगलगृह-स्वरूप प्रिया का वह मुख फिर भी देखलूँ।

[२९] यत्पाणिर्न निवारितो निवसनग्रंथिं समुद्ग्रन्थयन्
भ्रूभेदो न कृतो मनागपि मुहुर्यत्खण्डचमानेऽधरे।
यन्नि.शङ्कमिहार्पितं वपुरहो पत्युः समालिङ्गने।
मानिन्या कथितोऽनुकूलविधिना तेनैव मन्युर्महान्॥

—**काव्यानुशासन**, पृष्ठ ३०४

[३०] कास्विदवगुण्ठनवती नातिपरिस्फुटशरीरलावण्या।
मध्ये तपोधनाना किसलयमिव पाण्डुपत्राणाम्॥

—**अभिज्ञानशाकुन्तल**, ५, १३

पीले पत्तों के मध्य नवीन किसलय के समान तपस्वियों के बीच यह घूँघट वाली, अतएव जिसके शरीर का सौन्दर्य बहुत अधिक नही प्रकट हो रहा है, ऐसी महिला कौन है?

[३१] 'हा हतोऽस्मि हा दग्धोऽस्मि हा वञ्चितोऽस्मि हा किमिदमापतितम्।
इत्येतानि वान्यानि च विलपन्तं कपिञ्जलमश्रौषम्॥'

—**कादम्बरी**, पूर्व भाग

'हाय मै मारा गया ! हाय, मै जला दिया गया ! हाय, मैं ठगा गया। हाय, यह क्या आपड़ा !—इस प्रकार तथा अन्य विलाप करते हुए कपिञ्जल को मैंने सुना।'

[३२] स्रगियं यदि जीवितापहा हृदये किं निहिता न हन्ति माम्।
विषमप्यमृतं क्वचिद्भवेदमृतं वा विषमीश्वरेच्छया।।

—**रघुवंश**, ८, ४६

[३३] परिमृदितमृणालीम्लानभङ्गं प्रवृत्तिः
कथमपि परिवारप्रार्थनाभिः क्रियासु।
कलयति च हिमांशोनिष्कलङ्कस्य लक्ष्मी—
मभिनवकरिदन्तच्छेदकान्त· कपोल.।।

—**मालतीमाधव**, १, २३

(उसके) हस्तपाद आदि अवयव परिमर्दित छोटी कमल की डडी के समान मलिन है। भोजन आदि क्रियाओं मे परिजनों की प्रार्थनाओं से कष्ट से उसकी प्रवृत्ति है और तत्क्षण काटे गए हाथी दाँत के समान उसका सुन्दर कपोल कलङ्क से रहित चन्द्रमा की शोभा को धारण करता है।

[३४] दोर्दण्डाः क्व धृताङ्गदाः क्व नु शिरानद्धौ भुजौ द्वाविमौ,
वक्त्राणि क्व नु कान्तिमन्ति वालिमत्क्वेदंममैकं मुखम्।
वाचस्ताः क्व जितार्णवध्यनिधनाः क्वायं वचः संयमो,
हेलाकम्पितभूधर क्वः चरणन्यासः क्व मन्दा गति।।

—**सरस्वतीकण्ठाभरण**, पृष्ठ १२६

कहाँ तो बाजूबन्द धारण किए हुए वे भुजदण्ड और कहाँ उभरी हुई नसों से युक्त ये दोनो भुजाएँ, कहाँ वे कान्तिमान मुखमण्डल और कहाँ झुर्रियों से भरा हुआ मेरा यह एक मुख, कहाँ तो अपनी गर्जना से समुद्र की मन्द ध्वनियों को परास्त करने वाली शब्दावलियाँ और कहाँ यह वाक्-संयम्। कहाँ उनके कौतूहलवश रखने से पृथ्वी को कम्पित कर देने वाले पदनिक्षेप और कहाँ यह मन्द गति।

[३५] यन्मां विधेयविषये स भवान्नियुङ्क्ते
स्नेहस्य तत्फलमसौ प्रणयस्य सारः।
प्राणैस्तपोभिरथवाऽभिमतं मदीयैः।
कृत्यं घटेत सुहृदो यदि तत्कृतं स्यात्।।

—**मालतीमाधव**, १, १०

[३६] प्रीतिर्नाम सदस्यानां प्रिया रङ्गोपजीविनः।
जिन्वा तदपहर्तारमेष प्रत्याहरामि ताम्।।

—**अनर्घराघव**, १, ३

[३७] राहोश्चन्द्रकलामिवाननचरीं देवात्समसाद्य मे
दस्योरस्य कृपाणपातविषयादाच्छिन्दतः प्रेयसीम्।
आतंकाद्विकलं द्रुतं करुणया विक्षोभितं विस्मया—
त्क्रोधेन ज्वलितं मुद्रा विकसितं चेतः कथं वर्तताम्।।

—**मालतीमाधव**, ५, २८

भाग्यवश इस श्मशान में प्राप्त होकर राहु के मुख में प्राप्त चन्द्रकला के समान प्रियतमा (मालती) को दस्यु इस कापालिक खड्ग-प्रहार के विषय से छीनने वाला मेरा चित्त तापशंका से विह्वल, करुणा से विलीन, आश्चर्य से विचलित, क्रोध से उद्दीपित और हर्ष से विकसित न जाने कैसे हो रहा है।

[३८] परिच्छेदातीतः सकलवचनानामविषयः
पुनर्जन्मन्यस्मिन्ननुभवपथं यो न गतवान्।
विवेकप्रध्वंसादुपचितमहामोहगहनो
विकारः कोऽप्यन्तर्जडयति च तापं च तनुते॥

—**मालतीमाधव**, १, ३२

[३९] रामोऽयं भुवनेषु विक्रमगुणैः प्राप्तः प्रसिद्धिं परा—
मस्मद्भाग्यविपर्ययाद्यदि परं देवो न जानाति त्वम्।
वन्दीवैष यशांसि गायति मरुद्यस्यैकबाणाहति—
श्रेणीभूतविशालतालविवरोद्गीर्णैः स्वरैः सप्तभिः॥

—**महानाटक**, ६, ४० (?)

[४०] अर्घ्यमर्घ्यमिति वादिनं नृप सोऽनवेक्ष्य भरताग्रजो यतः।
क्षत्रकोपदहनार्चिषं ततः सन्दधे दृशमुदग्रतारकम्॥

—**रघुवंश**, ११, ६९

[४१] आन्त्रैः कल्पितमंगलप्रतिसराः स्त्रीहस्तरक्तोत्पल—
व्यक्तोत्तंसभृतः पिनह्य सहसा हृत्पुण्डरीकस्रजः।
एताः शोणितपंककुंकुमजुषः संभूय कान्तैः पिब—
न्त्यस्थिस्नेहसुराः कपालचषकैः प्रीताः पिशाचांगनाः॥

—**मालतीमाधव**, ५, १८

[४२] उत्पत्तिदेवयजनाद्ब्रह्मवादी नृपः पिता।
सुप्रसन्नोज्ज्वला मूर्त्तिरस्याः स्नेहं करोति मे॥

—**अनर्घराघव**, १, २१

सुन्दरमूर्त्ति, ब्रह्मज्ञानी राजा पिता, यज्ञभूमि से उत्पत्ति, यह सब मुझे इस पर स्नेह करने को प्रेरित कर रहा है।

[४३] भव हृदय साभिलाषं सप्रति सन्देहनिर्णयो जातः।
आशकसे यदग्नि तदिदं स्पर्शक्षमं रत्नम्॥

—**अभिज्ञानशाकुन्तल**, १, २४

[४४] व्याहृता प्रतिवचो न सन्दधे गन्तुमैच्छदवलम्बितांशुका।
सेवते स्म शयनं पराङ्मुखी सा तथापि रतये पिनाकिनः॥

—**कुमारसम्भव**, ८, २

पार्वती इतनी शर्माती थी कि शिव के कुछ पूछने पर बोलती नही थी, यदि वह उनका आंचल पकड लेते तो वह उठकर चलने लगती थीं और साथ सोते समय भी वह दूसरी ओर मुँह करके ही सोती थीं।

[४५] धन्या केयं स्थिरता ते शिरसि शशिकला किन्नु नामैतदस्याः
नामैवास्याः तदेतत्परिचितमपि ते विस्मृतं कस्य हेतोः।

नारी पृच्छामि नेन्दु कथयतु विजया न प्रमाण यदीन्दु—
देव्या निह्नोतुमिच्छोरिति सुरसरितं शाठ्यमव्याद्विभोव: ।।

—**मुद्राराक्षस**, १, १

[४६-४८] तुलना—**शृंगारप्रकाश**, ११वाँ प्रकाश पृष्ठ ४७० ।

## दशम अधिकार

[१] नाट्योत्पत्ति-सम्बन्धी यह गाथा ग्रन्थकार की नवीन कल्पना है। यह अन्यत्र उपलब्ध नही होती ।

[२] **मागधी**—

प्रथम पादभाग (कला) मे विलम्बित लय से युक्त पद को गाकर, दूसरे पादभाग में कुछ और शब्दो को सम्मिलित करने के पश्चात, मध्यलय मे गाने के अनन्तर तीसरे पादभाग में कुछ और शब्दों को सम्मिलित करके द्रुतलय में जाना 'मागधी' गीति है ।

गीत्वा कलायामाद्यायां विलंबितलय पदम् ।
द्वितीयायां मध्यलयं तत्पदान्तरसयुतम् ।।
सतृतीयपदे ते च तृतीयस्यां द्रुते लये ।
इति त्रिरावृत्तपदां मागधीं जगदुर्बुधाः ।।

—**संगीतरत्नाकर**, स्वराध्याय, पृष्ठ २८०, खण्ड १

[३] तुलना—**नाट्यशास्त्र**, २, १४ ।

[४] भरत ने चित्र, वार्तिक, दक्षिण—ये तीन मार्ग बताये है ।

—**नाट्यशास्त्र**, ३१, ३-४

[५] **वृन्द**—

गायक तथा वादक के सिद्धान्त को 'वृन्द' कहते है ।

—**संगीतरत्नाकर**, प्रकीर्णाध्याय, खण्ड २, पृष्ठ १९८

[६] तुलना—**संगीतरत्नाकर**, प्रकीर्णाध्याय, पृष्ठ १९८ ।

[७] **अतीतग्रह**—

गीत, वाद्य, नृत्य के पश्चात होने वाला ताल का आरम्भ 'अतीतग्रह' कहलाता है ('सोऽवपाणिरतीतः स्याद्यो गीतादौ प्रवर्तत्ते'—**संगीतरत्नाकर**, तालाध्याय, पृष्ठ २८) ।

[८] **समग्रह**—

गीत, वाद्य, नृत्य के साथ होने वाला ताल का आरम्भ 'समग्रह' कहलाता है ('गीतादिसमकालस्तु समपाणिः समग्रहः' —**संगीतरत्नाकर**, तालाध्याय, पृष्ठ २७) ।

[९] **अनागतग्रह**—

गीत, वाद्य, नृत्य से पूर्व होने वाला ताल का आरम्भ 'अनागत-ग्रह' कहलाता है (अनागतः प्राक् प्रवृत्तग्रहस्तूपरिपाणिकः—**संगीतरत्नाकर**, तालाध्याय, पृष्ठ २८) ।

[१०] **भ्रमरी-आकाशचारी**

अतिक्रान्ताङ्घ्रिमारच्य त्र्यस्रं चेत्परिवर्त्तयेत् ।
ऊरुजानुत्रिकमधोऽपराङ्घ्रितलतस्तनुः ।
भ्राम्यते सकला यत्र सा चारी भ्रमरी तदा ॥

—**नृत्याध्याय**, १००१

यदि अतिक्रान्ता चारी से युक्त चरण की रचना करके ऊरु, जानु और कटिदेश को त्र्यस्र स्थानक मे परिवर्तित कर दिया जाय, तत्पश्चात दूसरे पैर के तलबे से शरीर को घुमा लिया जाय तो उसे 'भ्रमरी' आकाशचारी कहते हैं।

[११] भूमिचारी के सोलह भेद होते है : समपादा, अड्डिता, बद्धा, स्पन्दिता, विच्यवा, जनिता, उत्सन्दिता, चाषगति, अध्यार्धिका, एलकाक्रीडिता, शकटास्या, ऊरुद्वृत्ता, स्थितावर्ता, अपस्पन्दिता, समोत्सरितमत्तल्ली तथा मत्तल्ली।

[१२] **ध्रुवा**—

गीति का आधारभूत नियत पदसमूह 'ध्रुवा' कहलाता है (ध्रुवा गीत्याधारो नियतः पदसमूह.'—**अभिनवभारती**, जी.ओ.एस., खण्ड १, पृष्ठ २७०)। नारद इत्यादि द्विजों ने अनेक प्रकार से जिन गीताङ्गों का विनियोग किया है, उन सबकी संज्ञा 'ध्रुवा' है (ध्रुवासंज्ञानि तानि स्युर्नारदप्रमुखैर्द्विजैः । गीताङ्गानीह सर्वाणि विनियुक्तान्यनेकशः ।।'—**नाट्यशास्त्र**, खण्ड ४, जी. ओ. एस., पृष्ठ २८८) । जो ऋचाएँ, पाणिका एवं गाथाएँ है, जो सप्त रूप के अंग और प्रमाण हैं उन सबकी सज्ञा 'ध्रुवा' है (या ऋचः पाणिका गाथास्सप्तरूपाङ्गमेव च । सप्तरूपप्रमाणं च तद् ध्रुवेत्यभिसज्ञितम् ।।'—**नाट्यशास्त्र**, खण्ड ४, पृष्ठ २८८) । वाक्य, वर्ण, यति, पाणि और लय के अविचल रूप से सम्बद्ध रहने के कारण 'ध्रुवा' कहा गया है (वाक्यवर्णा ह्यलंकारा यतयः पाणयो लयाः । ध्रुवमन्योन्यसंबद्धा यस्मात्तस्माद् ध्रुवाः स्मृताः ।'—**नाट्यशास्त्र**, खण्ड ४, पृष्ठ २९२) ।

[१३] गीति के चार प्रकार—मागधी, अर्धमागधी, सम्भाविता और पृथुला है ।

वर्णाद्यलङ्कृता गानक्रिया पदलयान्विता ।
गीतिरित्युच्यते सा च बुधैरुक्ता चतुर्विधा ॥
मागधी प्रथमा ज्ञेया द्वितीया चार्धमागधी ।
सम्भाविता च पृथुला········ · ······· ···· ।।

—**संगीतरत्नाकर**, स्वराध्याय, पृष्ठ २८०

[१४] **लय**—

तालक्रिया के अनन्तर किया जाने वाला विश्राम 'लय' कहलाता है। शीघ्रतम लय 'द्रुत', उससे द्विगुण 'मध्य' तथा उससे द्विगुण 'विलम्बित' कहलाती है । चित्र, वार्तिक एवं दक्षिण मार्ग में विश्रान्ति काल के परिमाण में भेद होने कारण, क्रमशः लय में क्षिप्रभाव, मध्यभाव और चिरभाव के कारण लय के अनेक भेद हो जाते हैं ।

क्रियानंतरविश्रान्तिर्लयः स त्रिविधो मतः ।
द्रुतो मध्यो विलम्बश्च द्रुतः शीघ्रतमो मतः ।।

द्विगुणद्विगुणौ ज्ञेयौ तस्मान्मध्यविलम्बितौ ।
मार्गभेदाच्चिरक्षिप्रमध्यभावैरनेकधा ॥

—**संगीतरत्नाकर**, तालाध्याय, पृष्ठ २४

[१५] तुलना—**नाट्यशास्त्र**, ३२, ८ ।

[१६] तुलना—**नाट्यशास्त्र**, ३२, ३०७ ।

[१७] तुलना—**नाट्यशास्त्र**, ३२, ३०८ ।

[१८] तुलना—**नाट्यशास्त्र**, ३२, ३१० ।

[१९] तुलना—**नाट्यशास्त्र**, ३२, ३०८-३०९ ।

[२०] प्रयच्छतोच्चैः कुसुमानि मानिनी विपक्षगोत्रं दयितेन लम्भिता ।
न किञ्चिदूचे चरणेन केवलं लिलेख वाष्पाकुललोचना भुवम् ॥

—**किरातार्जुनीय**, ८, १४

[२१] गमनमलस शून्या दृष्टिः शरीरमसौष्ठव
श्वसितमधिक किन्त्वेतत्स्यात्किमन्यदितोऽथवा ।
भ्रमति भुवने कन्दर्पाज्ञा विकारि च यौवन
ललितमधुरास्ते ते भावाः क्षिपन्ति च धीरताम् ॥

—**मालतीमाधव**, १, १८

[२२] पाणिपीडनविधेरनन्तर शैलराजतनया हरं प्रति ।
भावसाध्वसपरिग्रहादभूत्कामदोहदमनोहरं वपु ॥

—**कुमारसम्भव**, ८, १

[२३] गगनं गगनाकारं सागरः सागरोपमः ।
रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव ॥

—**वाल्मीकि-रामायण**, युद्धकाण्ड, ५१६-२४

[२४] अधरः किसलयरागः कोमलविटपानुकारिणौ बाहू ।
कुसुममिव लोभनीयं यौवनमङ्गेषु सन्नद्धम् ॥

—**अभिज्ञानशाकुन्तल**, १, १८

[२५] तन्वी श्यामा शिखरवशना पक्वबिम्बाधरोष्ठी
मध्येक्षामा चकितहरिणीप्रेक्षणा निम्ननाभिः ।
श्रोणीभारादलसगमना स्तोकनम्रा स्तनाभ्यां
या तत्र स्याद्युवतिविषये सृष्टिराद्येव धातुः ॥

—**मेघदूत**, उत्तरमेघ, १५

[२६] यान्त्या मुहुर्वलितकन्धरमाननं त—
दावृत्तवृन्तशतपत्रनिभं वहन्त्या ।
दिग्धोऽमृतेन च विषेण च पक्ष्मलाक्ष्या,
गाढ निखात इव मे हृदये कटाक्षः ॥

—**मालतीमाधव**, १, ३०

# चित्र-सूची

[ १०८ नृत्तकरणों की मुद्राएँ ]

तलपुष्पपुट



वर्तित



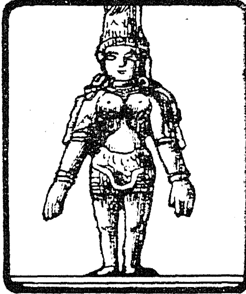
वलितोरुक



अपविद्ध



समनख



लीन



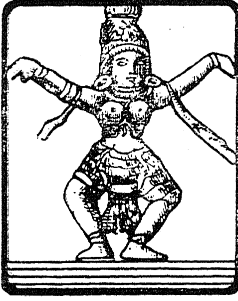
स्वस्तिकरेचित



मण्डलस्वस्तिक



कटिच्छिन्न



अर्द्धरेचित



वक्षःस्वस्तिक



उन्मत्तक



स्वस्तिक



पृष्ठस्वस्तिक



दिक्स्वस्तिक



अलातक



कटीसम



आक्षिप्तरेचित



विक्षिप्ताक्षिप्तक



अर्धस्वस्तिक



अञ्चित



भुजङ्गत्रासित



ऊर्ध्वजानु



निकुञ्चित



मत्तल्लि



अर्धमत्तल्लि



रेचितनिकुट्टित



पादापविद्धक



वलित



घूर्णित



ललित



दण्डपक्ष



भुजङ्गत्रस्तरेचित



नूपुर



वैशाखरेचित



भ्रमरक



चतुर



भुजंगाञ्चितक



दण्डकरेचित



वृश्चिककुट्टित



कटिभ्रान्त



लतावृश्चिक



छिन्न



वृश्चिकरेचित



वृश्चिक



व्यंसित



पार्श्वनिकुट्टक



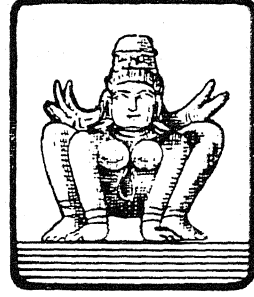
ललाटतिलक



क्रान्तक



चक्रमण्डल



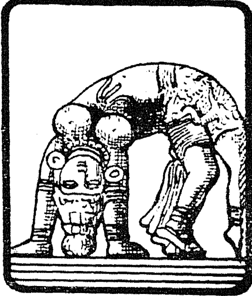
आक्षिप्त



तलविलासित



अर्गल



विक्षिप्त



आवर्त



दोलापाद



विवृत्त



पार्श्वक्रान्त



विद्युद्भ्रान्त



अतिक्रान्त



विवर्तितक



गजक्रीडितक



तलसंस्फोटित



गण्डसूची



पार्श्वजानु



गृध्रावलीनक



सन्नत



सूची



अर्धसूची



सूचीविद्ध



अपक्रान्त



मयूरललित



सर्पित



हरिणप्लुत



प्रेङ्खोलित



नितम्ब



करिहस्त



सिंहाकर्षितक



उद्वृत्त



उपसृतक



अवहित्थक



एलकाक्रीडित



ऊरूद्वृत्त



मदस्खलितक



विष्णुक्रान्त



विष्कम्भ



उद्घट्टित



वृषभक्रीडित



लोलित



नागापसर्पित



शकटास्य



गंगावतरण



निकुट्टक



अर्धनिकुट्टक



कुञ्चित



विनिवृत्त



निशुम्भित



उरोमण्डल



गरुडप्लुत



दण्डपाद



परिवृत्त



स्खलित



जनित



निवेश



तलसंघट्टित



संभ्रान्त



सिंहविक्रीडित



प्रसर्पित



# सहायक ग्रन्थ-सूची


• अन्नभट्ट : **तर्कसंग्रह**, सं. बोड़ास और ऐथले, पूना, १९६३ ।

• अभिनवगुप्त : **ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी**, स. डॉ. कान्तिचन्द्र पाण्डे, इलाहाबाद, १९५० ।

• अमृतानन्दयोगिन् : **अलंकारसंग्रह**, अड्यार लाइब्रेरी, १९४९ ।

• अशोकमल्ल · **नृत्याध्याय**, गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज न. १४१, बड़ौदा, १९६३ ।

• आनन्दवर्धन . **ध्वन्यालोक**, लोचन, कौमुदी तथा उपलोचन टीका सहित, स. एस. कुप्पूस्वामी शास्त्री, मद्रास, १९४४ ।

• ईश्वरकृष्ण : **सांख्यकारिका**, सं. टी. जी. मयङ्कर, पूना, १९६४ ।

• उत्पलाचार्य : **ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका**, स. डॉ कान्तिचन्द्र पाण्डे इलाहाबाद, १९५० ।

• कालिदास : **अभिज्ञानशाकुन्तलम्**, सं. शारदारञ्जन रे, कलकत्ता, १९७२ ।

• कालिदास . **अभिज्ञानशाकुन्तलम्**, राघवभट्टकृत टीका सहित, स. एम. आर. काले, दिल्ली, १९६९ ।

• कालिदास : **कुमारसम्भव**, संजीविनी टीका सहित, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९१९ ।

• कालिदास · **मालविकाग्निमित्रम्**, आंग्लटीकयासमेतम्, कर्नाटक पब्लिशिग हाउस, बम्बई ।

• कालिदास : **मेघदूत**, स. शारदारञ्जन रे, कलकत्ता, १९४६ ।

• कालिदास : **रघुवंश**, सजीविनी टीका सहित, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, १९६१ ।

• कालिदास : **विक्रमोर्वशीयम्**, रङ्गनाथकृत व्याख्या सहित, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १८८५ ।

• कुन्तक : **वक्रोक्ति-जीवित**, हिन्दी व्याख्या सहित, व्याख्याकार श्री राधेश्याम मिश्र, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, १९६७ ।

• क्षेमराज : **प्रत्यभिज्ञाहृदय**, सं. विशालप्रसाद त्रिपाठी, नेशनल पब्लिशिग हाउस, दिल्ली, १९६९ ।

• क्षेमेन्द्र : **सुवृत्ततिलक**, काव्यमाला संस्कृत सीरीज नं. २, बम्बई ।

• **चरकसंहिता**, स. शिव शर्मा आयुर्वेदाचार्य, बम्बई, १९३५ ।

• जोशी, रसिकविहारी : **श्री रासपञ्चाध्यायी—सांस्कृतिक अध्ययन**, दिल्ली, १९६१ ।

• जोशी, रसिकविहारी : **स्फोटसमाम्नायः**, सागरिका, वर्ष १, अङ्क १, वि. २०१९ ।

• Joshi, Rasik Vihari : *The Three Qualities of Sankhya System,* Kaviraj Abhinandan Granth, Lucknow, 1967.

• Dr. S. K. : *History of Sanskrit Poetics,* Calcutta, 1960.

• दिङ्नाग : **कुन्दमाला**, संस्कृत कॉलेज, कलकत्ता, १९६४ ।

• धनंजय : **दशरूपक**, धनिक की अवलोक टीका व हिन्दी व्याख्या सहित, व्याख्याकार डॉ. भोलाशंकर व्यास, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, १९६२ ।

- नन्दिकेश्वर : **अभिनयदर्पण**, सं. वाचस्पति गैरोला, इलाहाबाद, १९६७ ।
- Nandikesvara : *Abhinayadarpanam*; A Manual of Gesture and Posture used in Hindu Dance and Drama, Ed. with English translation by Man Mohan Ghosh. Calcutta Sanskrit Series No. 5, Calcutta, 1934.
- Nandikesvara : *Bharatarnavah*, with English and Tamil translations, Ed by K. Vasudeva Sastri, Tanjore Sarsvati Mahal Library, 1957.
- नान्यभूपाल : **भरतभाष्य**, प्रथम खण्ड, खेरागढ़, १९६१ ।
- नारद . **संगीतमकरन्द**, गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज, बड़ौदा ।
- **न्यायकोश**, महामहोपाध्याय भीमाचार्य झलकीकर, पूना, १९२८ ।
- **न्यायसूत्र**, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, १९६६ ।
- पण्डितराज जगन्नाथ · **रसगंगाधर**, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९४७ ।
- Pandey, Dr. K. C. : *Abhinavagupta—An Historical and Philosophical Study*, Chowkhamba Sanskrit Series Office, Varanasi, 1963.
- पूर्णसरस्वती : **विद्युल्लता**, मेघसन्देश की समालोचना, श्री वाणी-विलास सस्कृत सीरीज न. १५, श्रीरङ्गम् ।
- भवभूति · **उत्तररामचरितम्**, स. विधुभूषण गोस्वामी, कलकत्ता, १९२२ ।
- भवभूति : **महावीरचरितम्**, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, १९६६ ।
- भवभूति : **मालतीमाधव**, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, १९५४ ।
- भट्टनारायण · **वेणीसंहार**, जगद्धरकृत टीका सहित, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९१५ ।
- भट्ट, बाण : **कादम्बरी**, सं. एम. आर. काले, दिल्ली, १९६८ ।
- भट्ट, मुकुल : **अभिधावृत्तमातृका**, सं. डॉ. रेवाप्रसाद द्विवेदी, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, १९७३ ।
- **भरतकोष** : सं. रामकृष्ण कवि, पूना तथा तिरुपति सस्करण ।
- भरतमुनि : **नाट्यशास्त्र**, अभिनवभारती—टीका सहित, भाग १-४, गायकवाड ओरियण्टल सीरिज, बड़ौदा, १९३४-१९५४ ।
- Bharatamuni : *Natyasastra*, Ed. with English translation by Man Mohan Ghosh, Vol. I, Calcutta, 1967.
- भानुदत्त : **रसतरंगिणी**, हिन्दी साहित्य कुटीर, वाराणसी, वि. २०२५ ।
- भारवि : **किरातार्जुनीय**, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १८८५ ।
- भास : **स्वप्नवासवदत्तम्**, स. कुमुदरञ्जन रे, कलकत्ता, १९७१ ।
- भोज : **शृंगारप्रकाश**, जोश्यार सम्पादित, खण्ड १-४, मैसूर, १९५५-७३ ।
- भोज : **सरस्वतीकण्ठाभरण**, सं. ए. बरुआ, पब्लिकेशन बोर्ड आसाम, गोहाटी, १९६९ ।
- मम्मट : **काव्यप्रकाश**, बालबोधिनी टीका सहित, पूना, १९६५ ।
- मम्मट : **काव्यप्रकाश**, संकेत, प्रदीप, काव्यादर्श टीका सहित ।
- Mammata : *Kavyaprakasa*, with English translation by Dr. H. D. Sharma, Poona.
- मम्मट : **काव्यप्रकाश**, भट्टगोपालकृत टीका सहित, प्रकाशन—त्रिवेन्द्रम् संस्कृत सीरिज ।

- मम्मट : **शब्दव्यापारविचार**, सं. डॉ. रेवाप्रसाद द्विवेदी, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, १९७४ ।
- मिश्र, केशव . **तर्कभाषा**, हिन्दी व्याख्या सहित, व्याख्याकार आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, १९६३ ।
- मिश्र, वाचस्पति . **तत्त्वकौमुदी**, सं. गंगानाथ झा, पूना, १९६५ ।
- माघ, **शिशुपालबध**, स. पण्डित तारानाथ तर्कवाचस्पति, कलकत्ता, १८६७ ।
- मुरारि : **अनर्घराघव**, रुचिपत्तुपाध्यायकृत टीका सहित, बम्बई ।
- Raghavan, Dr. V. : *Bhoja's Srngara Prakasa*, Madras, 1963.
- राजशेखर : **कर्पूरमंजरी**, वासुदेवकृत टीका सहित, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९०० ।
- राजशेखर **काव्यमीमांसा**, गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज न. १, बड़ौदा, १९१६ ।
- राजशेखर : **बालरामायण**, सं. जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता, १८८४ ।
- रामचन्द्र गुणचन्द्र . **नाट्यदर्पण**, गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज, बड़ौदा, १९२९ ।
- रुद्रट **काव्यालंकार**, हिन्दी व्याख्या सहित, व्याख्याकार डॉ. सत्यदेव चौधरी, दिल्ली, १९६५ ।
- रुय्यक : **अलकारसर्वस्व**, स डॉ. रेवाप्रसाद द्विवेदी, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, १९७१ ।
- वत्सराज : **रूपकाष्टक**, गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज न. ८, बड़ौदा ।
- Vallabhadeva : *Subhasıtavali*, Ed. by Petr Petrson, Poona, 1961.
- वाग्भट : **अष्टांगहृदय**, सं. शिवराम शर्मा आयुर्वेदाचार्य, बम्बई, १९२९ ।
- वामन : **काव्यालंकारसूत्र**, गोपेन्द्रतिथभूपालकृत कामधेनु टीका सहित, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, १९७१ ।
- विद्यानाथ : **प्रतापरुद्रीय**, कुमार स्वामी कृत रत्नायण टीका सहित, मद्रास, १९१४ ।
- विशाखदत्त : **मुद्राराक्षसम्**, सं. शारदारञ्जन रे, कलकत्ता, १९५६ ।
- विश्वनाथ कविराज · **चन्द्रकला नाटिका**, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, १९६७ ।
- विश्वनाथ कविराज : **साहित्यदर्पण**, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९२२ ।
- Sankaran, A. : *Some Aspcets of Literary Criticism in Sanskrıt*, Delhi, 1973.
- शारदातनय : **भावप्रकाशन**, गायकवाड़ ओरियण्टल, सीरीज नं० ४५, बड़ौदा, १९६८ ।
- शार्ङ्गदेव : **संगीतरत्नाकर**, कल्लिनाथकृत कलानिधि तथा सिंहभूपालकृत सुधाकरी टीका सहित, खण्ड १-४, अड्यार संस्करण, १९४३-५३ ।
- शूद्रक : **मृच्छकटिकम्**, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, १९६६ ।
- सागरनन्दी : **नाटकलक्षणरत्नकोश**, हिन्दी व्याख्या सहित, व्याख्याकार श्री बाबूलाल शुक्ल शास्त्री, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, १९७२ ।
- सिंहभूपाल : **रसार्णव सुधाकर**, स. डॉ. रेवाप्रसाद द्विवेदी, सागरिका, अष्टम वर्ष, वि. २०२६ ।
- **सुश्रुत-संहिता** : सं. शिवराम शर्मा आयुर्वेदाचार्य, बम्बई, १९३८ ।
- सोमेश्वर : **कीर्तिकौमुदी**, भारतीय विद्याभवन, बम्बई, १९६१ ।
- सोमेश्वर : **मानसोल्लास**, गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज न. २८, बड़ौदा ।
- सोमेश्वर : **सुरथोत्सव**, काव्यमाला संस्कृत, सीरीज नं. ७३, बम्बई, १९०२ ।

• हर्ष : **नागानन्दम्**, सं. आशा तोरस्कर और एन. ए. देशपाण्डे, बम्बई, १९५३ ।
• हर्ष : **प्रियदर्शिका**, सं. आर. वी. कृष्णमाचारी, श्रीरङ्गम्, १९०६ ।
• हर्ष : **रत्नावली** (नाटिका), चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, १९६६ ।
• हाल   **गाथासप्तशती**, काव्यमाला सस्कृत सीरीज न. २१, बम्बई, १८८९ ।
• हेमचन्द्र : **काव्यानुशासन**, निर्णयसागर प्रेस, १९०१ ।

---

# विशिष्टपदसूची

# श्लोकानुक्रमणी

## आ

## ई



## उ

## द